भा तीय दर्शन क इतिहास

(artiya ars an a lti as)

भाग–२

लेखक

डॉ० एस० एन० दासगुप्त

अनुवादक

श्री एम० पी० व्यास

रा स । हि ी ग्र कादमी, पुर–

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित ।

प्रथम संस्करण–१९७३

मूल्य–२०.००

प्रकाशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
ए–२६/२, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर–४

स्तावना

भारत की स्वतन्त्रता के बाद इसकी राष्ट्रभाषा को विश्वविद्यालय शिक्षा के माध्यम के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख था। किन्तु हिन्दी मे इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित उपयुक्त पाठ्य पुस्तकें उपलब्ध नही होने से यह माध्यम-परिवर्तन नही किया जा सकता था। परिणामतः भारत सरकार ने इस न्यूनता के निवारण के लिए 'वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली आयोग' की स्थापना की थी। इसी योजना के अन्तर्गत १९६९ मे पाच हिन्दी भाषी प्रदेशो मे ग्रन्थ अकादमियो की स्थापना की गयी।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी मे विश्वविद्यालय स्तर के उत्कृष्ट ग्रन्थ-निर्माण मे राजस्थान के प्रतिष्ठित विद्वानो तथा अध्यापको का सहयोग प्राप्त कर रही है और मानविकी तथा विज्ञान के प्राय सभी क्षेत्रो मे उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रन्थो का निर्माण करवा रही है। अकादमी चतुर्थ पचवर्षीय योजना के अन्त तक तीन सौ से अधिक ग्रन्थ प्रकाशित कर सकेगी, ऐसी हम आशा करते है।

प्रस्तुत पुस्तक इसी क्रम मे तैयार करवायी गयी है। हमे आशा है कि यह अपने विषय मे उत्कृष्ट योगदान करेगी। इस पुस्तक की परिवीक्षा के लिए अकादमी डॉ. नारायण शास्त्री द्रविड अध्यक्ष, दर्शन विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर के प्रति आभारी है।

चंदनमल वैद
अध्यक्ष

गौरीशकर सत्येन्द्र
निदेशक

विषय-सूची

अध्याय–१

शांकर वेदान्त सम्प्रदाय (क्र :)

अध्याय–२

योग वाशिष्ठ दर्शन

अध्याय–३

चिकित्सा शाखाओ का विवेचन

अध्याय–४

भगवद्‌गीता दर्शन

अध्याय १

शांकर वेदान्त सम्प्रदाय (क्रमशः)

शाकर-वेदान्त के सम्प्रदाय का वर्णन पूर्वाध्याय मे साधारण हेतुओ के लिए पर्याप्त माना जा सकता है। परन्तु इस मत की प्रतिष्ठा होने तथा अत्यधिक लोगो की इसमे रुचि होने के कारण मुझे बताया गया कि इसका कुछ अधिक विस्तृत अध्ययन अभीष्ट होगा। ऐसे सुझाव के लिए अतिरिक्त औचित्य इस शोचनीय तथ्य मे मिलता है कि यद्यपि इस देश एव यूरोप मे कई मौलिक एव अधकचरे ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं फिर भी यूरोप अथवा एशिया की किसी भी आधुनिक भाषा मे इस दर्शन का कोई व्यवस्थित अध्ययन नही मिलता जो इस मत के महान् विचारको द्वारा प्रणीत ग्रन्थो पर आधारित है और जिसने शकर का अनुसरण करते हुए विद्वत्तापूर्वक अपने मत का विकास किया। भारतीय दर्शन के इतिहास के इस अध्याय के अपेक्षाकृत छोटे क्षेत्र मे इस प्रकार की माग को पर्याप्त मात्रा मे पूर्ण करने की आशा नही की जा सकती, परन्तु फिर भी कुछ विस्तृत अध्ययन-सामग्री क्षम्य होगी यद्यपि इससे ग्रन्थ की सामान्य रूपरेखा मे किंचिन्मात्र विघ्न पडेगा।

जगत्-प्रतीति

उपनिषदो मे, अर्थात् वेदान्त मे, ईश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद, आत्मा की परम सत्ता, सृष्टि-रचना आदि के सबध मे विभिन्न विचारधाराओ का समावेश है। जिन टीकाकारो ने शकर के पूर्ववर्ती उपनिषद्-भाष्य लिखे एव उनमे एकरूप व्यवस्थित रुढिवादी दर्शन के अस्तित्व मे विश्वास के आधार पर उनका भाष्य करने का प्रयत्न किया, उनके वे ग्रन्थ आजकल लुप्तप्राय है और उनके विषय मे जो कुछ भी हम जान पाते है वह उपलब्ध अल्प उल्लेखो से ही प्राप्त है। उदाहरणार्थ, भर्तृप्रपच को ले, जिन्होने ब्रह्म से जगत् एव जीवात्माओ की वास्तविक उत्पत्ति मानकर 'बृहदारण्यक' उपनिषद् की यथार्थवादी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है।[1]

[1] प्रो० हिरियन्ना ने शकर एव उनके टीकाकार आनन्दज्ञान तथा सुरेश्वर-रचित वार्त्तिक के लेखो मे से भर्तृप्रपच के अश १९२४ मे मद्रास मे तृतीय प्राच्य परिषद् मे पठित एक लेख के अतर्गत एकत्रित किए थे, जो १९२५ मे मद्रास मे छपे।

शकर ने अपने चिन्तको से इस मत को उत्तराधिकार मे प्राप्त किया था कि उपनिषद् हमे एक सगत तथा व्यवस्थित दर्शन का उपदेश देते हैं परन्तु गौडपाद के प्रभाव मे होने के कारण उनका इस दर्शन के स्वरूप के बारे मे इन लोगो से मतैक्य नही था। इस दर्शन का उन्होने उपनिषद् एव ब्रह्मसूत्रो पर अपने सम्पूर्ण भाष्यो मे विस्तृत रूप से प्रतिपादन किया है।

जैसाकि पूर्वाध्याय मे कहा जा चुका है कि शकर का मुख्य प्रतिपादित विषय यह है कि केवल ब्रह्म ही एक परम सत्ता है एव अन्य सब मिथ्या है। वह इस बात को सिद्ध करना चाहते थे कि इस दर्शन की शिक्षा उपनिषदो मे दी गई है, परन्तु उपनिषदो मे कई ऐसे स्थल है जिनका मुख्य विषय स्पष्टतया द्वैतात्मक एव ईश्वरवादी है, एव किसी भी भाषा-चातुर्य द्वारा विश्वासप्रद रूप से यह नही सिद्ध किया जा सकता कि इनके अर्थ शकर के शास्त्रीय मत की पुष्टि करते हैं। अत शकर व्यावहारिक दृष्टि एव पारमार्थिक दृष्टि मे भेद प्रस्तुत करते हैं एव उपनिषदो की व्याख्या इस कल्पना पर करते है कि उनमे कई अश ऐसे है जो शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से ही वस्तुओ का वर्णन करते है जबकि अन्य कई ऐसे अश भी हैं जो वस्तुओं का वास्तविक जगत्, वास्तविक जीवात्मा एव वास्तविक सृष्टिकर्त्ता के रूप मे ईश्वर का केवल व्यावहारिक द्वैतात्मक दृष्टि से ही उल्लेख करते हैं। व्याख्या की यह पद्धति शकर ने न केवल उपनिषदो पर लिखे अपने भाष्य मे, अपितु ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य मे भी अपनाई है। केवल सूत्रो की परीक्षा करने पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मसूत्र भी शकर के दार्शनिक सिद्धान्त की पुष्टि नही करते हैं अपितु कुछ सूत्र ऐसे भी है जिनकी व्याख्या स्वय शकर ने द्वैतात्मक ढग से की है। उन्हे कभी भी वस्तुगत व्याख्या मे फँस जाने का डर नही था, क्योकि उनके लिए इस कठिनाई से यह कहकर बाहर निकलना अत्यत सुगम था कि सूत्रो अथवा उपनिषद्-स्थलो मे उपलब्ध वस्तुगत विचार वस्तु-जगत् का व्यावहारिक दृष्टि से अनुमान मात्र है। यद्यपि स्वय शकर के कथनो के आधार पर एव उनके उत्तर टीकाकारो तथा उनके अन्य मतानुयायियो के आधार पर शाकर-दर्शन के अर्थ तथा प्रभाव के बारे मे कोई सशय नहीं हो सकता फिर भी कम से कम एक भारतीय लेखक ने शाकर-दर्शन को यथार्थवादी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[1] कट्टर बौद्ध विज्ञानवादियो अथवा तथाकथित शून्यवादियो की आलोचना करते समय स्वय उनकी स्वीकृति से यह सिद्ध होता है कि उनके दर्शन मे कुछ वस्तुवाद की मात्रा है। सामान्य रूप से मैं इस बात की पहले ही विवेचना कर चुका हूँ कि शकर के परवर्ती अनुयायियो द्वारा व्याख्यात शाकर-वेदान्त की दृष्टि से वेदान्त के अनुसार

---

[1] कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रेस द्वारा १९२४ मे मुद्रित क० विद्यारत्न द्वारा लिखित अद्वैत-दर्शन।

किस अर्थ मे जगत् माया है। परन्तु वर्तमान विभाग मे मैं स्वय शकर के एव उनके कुछेक महत्वपूर्ण अनुयायियो के माया के स्वरूप के विषय मे विवेचन करना चाहता हूँ। यह शाकर-दर्शन का अत्यत महत्वपूर्ण विषय है और इसकी विस्तृत विवेचना करने की आवश्यकता है।

परन्तु उपरोक्त विषय की विवेचना करने के पूर्व मेरा ध्यान स्वभावत बौद्ध विज्ञानवाद एव तथाकथित बौद्ध-शून्यवाद के मत की ओर जाता है एव यह उचित प्रतीत होता है कि शकर के माया-सिद्धान्त का विवेचन उनके पूर्व के बौद्ध-दर्शन के भ्राति के सिद्धान्त के सदर्भ मे किया जाए। यदि नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति के शून्यवाद को लें तो हमे ज्ञात होगा कि उन्होने भी सवृति-सत्य और परम सत्य मे विभेद किया है। इस प्रकार नागार्जुन माध्यमिक सूत्रो मे कहते हैं कि बौद्ध अपने दर्शन की शिक्षा दो प्रकार के सत्य अर्थात् सवृति सत्य (अविद्या से आच्छन्न और सर्व-साधारण की पूर्व कल्पनाओ एव निर्णयो पर आधारित सत्य) एव परमार्थ सत्य (निर्विशेष और परमसत्य) के आधार पर देते है।[1] 'सवृति' शब्द का शाब्दिक अर्थ 'सीमित' है। चन्द्रकीर्ति सवृति का अर्थ 'सब ओर से बन्द' बताकर कहते है कि यहाँ 'सवृति' शब्द का अर्थ अज्ञान ही है क्योकि वह सम्पूर्ण वस्तुओ के सत्य को ढक लेता है।[2] इस अर्थ मे कार्य-कारणात्मक हमारे अनुभवो का सम्पूर्ण जगत् जिसका हम प्रत्यक्षीकरण करते है एव जिसके बारे मे हम बोलते है वह अज्ञान द्वारा आच्छादित प्रतीति को हमारे समक्ष उपस्थित करता है। इस जगत् का लौकिक अनुभव मे बाध नही होता परन्तु चूँकि इस जगत् की प्रत्येक सत्ता अन्य वस्तुओ अथवा सत्ताओ से उत्पन्न होती है एव वे पुन किन्ही अन्य सत्ताओ द्वारा उत्पन्न होती हैं तथा चूँकि उनमे से प्रत्येक की प्रकृति को उन्हे उत्पन्न करने वाली अथवा जिनसे वे उद्भूत हुई है उन अन्य सत्ताओ के बिना और इन सत्ताओ के अन्य कारणो को जाने बिना निर्धारित नही कर सकते, अत वर्तमान रूप मे स्थित किसी वस्तु के स्वभाव के बारे मे निश्चित तौर पर कुछ भी कहना सम्भव नही है। वस्तुएँ हमे कई सत्ताओ के मिश्रण के फल

[1] द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धाना धर्मदेशना। लोक सवृति सत्य च, सत्य च परमार्थत ।
—माध्यमिक सूत्र २४ ८ पेज ४९२, बी० बी० सस्करण।

[2] अज्ञान हि समवात् सर्व पदार्थ तत्वावच्छादनात् सवृतिरित्युच्यते। वही पर चन्द्रकीर्ति 'सवृति' शब्द के दो अन्य अर्थ बताते है जो उसकी व्युत्पत्ति से सबधित प्रतीत नही होते। सवृति का प्रथम अर्थ 'प्रतीत्य समुत्पाद' है तथा द्वितीय अर्थ लौकिक जगत् से है जो वाणी एव भाषा द्वारा सबोधित होता है तथा जिसमे ज्ञाता एव ज्ञेय के भेद निहित हैं—सवृति सकेतो लोकव्यवहार, स च अभिधानाभिधेय-ज्ञान-ज्ञेयादिलक्षण।

जगत् शून्यमात्र नही है। इस प्रकार परमार्थ के साथ-साथ सापेक्ष लोक सवृति-सत्य भी है। इसके अतिरिक्त सवेदनात्मक भ्रम, विभ्रम आदि भी होते है जिनका सामान्य अनुभवो मे बाध (अलोक-सवृत अथवा मिथ्या-सवृत) होता है तथा जो शश-शृ ग की तरह विद्यमान मात्र है। जगत्-प्रतीति मे अन्तर्भूत विपर्यास चार प्रकार के माने जाते है, यथा, क्षणिक को स्थाई समझना, दु:खद को सुखद समझना, अपवित्र को पवित्र समझना तथा आत्मरहित को सात्म समझना।[1] यह विपर्यास अविद्या के कारण होता है। चन्द्रकीर्ति के द्वारा आर्य-दृढाशय-परिपृच्छा से उद्धृत अश मे यह कहा है कि जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने को स्वप्न मे राजा की वधू के साथ रात्रि व्यतीत करता हुआ देखता है एव एकाएक यह अनुभव करके कि लोगो ने उसको देख लिया है, अपनी जान की रक्षा-हेतु दौडता है (इस प्रकार किसी स्त्री की अनुपस्थिति मे भी उसका प्रत्यक्षीकरण करना) उसी प्रकार हम भी किसी जगत्-प्रतीति के न होते हुए भी उसके नानारूपो के प्रत्यक्ष होने की घोषणा करने के विपर्यास मे सदा गिरते चले जा रहे है।[2]

विपर्यास की ऐसी उपमाएँ स्वभावत इस कल्पना को जन्म देती है कि कोई ऐसा सत् अवश्य होना चाहिए जिसे किसी अन्य वस्तु के रूप मे ग्रहण करने की भूल होती है, परन्तु जैसाकि पहले कहा जा चुका है, बौद्धो ने इस तथ्य पर बल दिया है कि स्वप्न मे भ्रमात्मक प्रतीतियाँ हमारे द्वारा पूर्वानुभूत वस्तुगत दृश्यो के रूप मे निस्सन्देह वस्तुगतरूप से ज्ञात थीं, ये ऐसे अनुभव हैं जिनकी हमे प्रतीति होती है यद्यपि वस्तुतः कोई ऐसा सत् नही होता जिस पर उन प्रतीतियो का अध्यास अथवा आरोपण हो। इस बात पर ही शकर का उनसे मतभेद था। इस प्रकार ब्रह्मसूत्र पर लिखे गए अपने भाष्य की प्रस्तावना मे वह कहते है कि सम्पूर्ण भ्रान्त प्रत्यक्ष का सार यह है कि एक विषय के स्थान पर दूसरे विषय को ग्रहण करने की इसमे भूल होती है एव एक विषय के गुण, लक्षण और विशेषताएँ दूसरे विषय के गुण, लक्षण और विशेषताएँ समझे जाते है। स्मृत बिम्ब के सदृश किसी वस्तु की किसी विषय मे मिथ्या प्रतीति के रूप मे भ्रम की परिभाषा की गई है। कुछ लोगो ने इसे 'एक वस्तु के सबध मे दूसरे वस्तु के लक्षणो को मिथ्या-स्वीकृति कहकर समझाया है। अन्य लोग (स्मरण के लोप के

[1] इह चत्वारो विपर्यासा उच्यन्ते, तद्यथा प्रतिक्षणविनाशिनि स्कधपचके यो नित्य इति ग्राह स विपर्यास ·· दुखात्मकेस्कधपचके य सुख इति विपरीतो ग्राह सोऽपरो विपर्यास', ··· शरीर अशुचि-स्वभाव तत्र यो शुचित्वेन ग्राह स विपर्यास· ···पच स्कध निरात्मक तस्मिन् य आत्मग्राह अनात्मनि आत्माभिनिवेश स विपर्यास। उसी स्थान पर चन्द्रकीर्ति की टीका २३ १३ इसकी तुलना योग-सूत्र २ ५।

[2] माध्यमिक-सूत्र २३ १३ पर चन्द्रकीर्ति की टीका।

कारण) दो विषयो के (प्रत्यक्ष ज्ञान एव पूर्वकाल मे प्रत्यक्ष हुए विषय की स्मृति) विवेकाग्रह (अर्थात् भेद के ज्ञान के अभाव) को अध्यास कहते है। दूसरे लोगो के विचार मे जब एक विषय मे दूसरे विषय का मिथ्या-बोध होता है तो प्रथम वस्तु के विजातीय धर्मो से युक्त होने (विपरीतधर्मता) की कल्पना ही भ्रम है। परन्तु विश्लेषण के इन सब विभिन्न प्रकारो मे भ्रम मूलत एक विषय की अन्य विषयो के लक्षणो से युक्त मिथ्या प्रतीति के अतिरिक्त कुछ नही है। इसी प्रकार शुक्ति मे रजत का भान होता है अथवा एक चन्द्रमा मे दो चन्द्रमा दिखाई देते है।[1] आगे चलकर शकर कहते है कि हमारी 'अह' वृत्ति के कारण प्रत्यगात्मा का अनुभव होता है एव वह अपरोक्षानुभूति है अत उसकी अनुभूति पूर्णत अविषयानुभव नही है जिसके फलस्वरूप सभवतः अनात्मा एव उसके लक्षणो का प्रत्यगात्मा पर भ्रमात्मक रूप से अध्यास होता है। प्रत्यात्मा पर अनात्मा एव उसके लक्षणों के इस भ्रमात्मक अध्यास को अविद्या कहते है।

गौडपाद-कारिका १ १७ के अपने भाष्य मे शकर कहते है कि जब रज्जु मे सर्प का भ्रम हो जाता है तो वह सत्ता नही बल्कि मिथ्या अध्यास अथवा आभास मात्र है। रज्जु मे सर्प की कल्पना से सर्प विद्यमान नहीं हो जाता, जो बाद मे विवेक की प्राप्ति से अविद्यमान हो जाता है।[2] गौडपाद-कारिका पर लिखे हुए अपने भाष्य मे शकर गौडपाद के मत को स्वीकार करते हुए कहते है कि व्यावहारिक जगत् स्वप्नवत् भ्रमात्मक है। स्वप्न मिथ्या होते है क्योकि स्वप्न मे मनुष्य को दूरस्थ स्थानो पर जाने का अनुभव भले ही हो परन्तु जाग्रत होने पर वह देखता है कि केवल कुछ क्षणो के लिए ही वह सोया था तथा वह अपने बिस्तर से एक कदम भी आगे नही चला है। अत स्वप्नानुभव मिथ्या होते है क्योकि जग्रदानुभव द्वारा उनका बाध होता है। परन्तु जाग्रदानुभव भी स्वप्नानुभव के सदृश होने के कारण मिथ्या है। दोनो प्रकार के अनुभवो मे ज्ञाता एव ज्ञेय का द्वैत विद्यमान होने के कारण दोनो मौलिक रूप से एक ही हैं, अत दोनो मे से यदि एक मिथ्या है तो अन्य भी मिथ्या होगा। सासारिक अनुभव भ्रम के अन्य सुविख्यात उदाहरणो—जैसे मृगतृष्णा के समान है। न आदि मे इसकी विद्यमानता थी और न अन्त मे इसकी विद्यमानता होगी अत मध्य मे भी इसकी विद्यमानता नही हो सकती। यह आक्षेप अग्राह्य है कि हमारे जाग्रद अवस्था के अनुभव व्यावहारिक हेतुओ की पूर्ति करते है अत स्वप्नानुभव मे अनुपलब्ध सत्य की

---

[1] ब्रह्मसूत्र पर शकर का अध्यास-भाष्य निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९०४।

[2] रज्ज्वा सर्पेव कल्पितत्वात् न तु स विद्यते न हि रज्ज्वा भ्रान्तिबुद्ध्या कल्पित सर्पो विद्यमान सन् विवेकतो निवृत्त, तथेद—प्रपचाख्य मायामात्र। गौडपादकारिका १ १७ आनन्दाश्रम सिरीज।

व्यवहारवादी कसौटी उनसे सवद्ध है क्योकि जग्रदानुभव की व्यवहारवादी कसौटियो का स्वप्नानुभव द्वारा वाघ हो सकता है, जैसे कोई मनुष्य अत्युत्तम दावत के वाद भी यह स्वप्न देख सकता है कि वह कई दिनो से क्षुधातुर है । इस प्रकार हमारे मनस् का अन्तर्जगत् एव उसके अनुभव तथा वाह्य वास्तविक जगत् मिथ्या सृष्टि है ।[1] परन्तु गौडपाद एव शकर का शून्यवादी वौद्धो से इस वात मे मतभेद है कि उनके विचार मे मिथ्या सृष्टि का भी सत्य मे कुछ आधार होता है । यदि रज्जु मे सर्प का भान होता है तो सर्प की मिथ्या सृष्टि का रज्जु की सत्यता मे कुछ आधार होता है । मिथ्या सृष्टि एव मिथ्या भान (जैसे रज्जु मे सर्प का भान एव शुक्ति मे रजत का भान अथवा मृगतृष्णा) की उपलब्धि निरास्पद नही होती ।[2] स्मरणीय है कि अन्योन्याश्रय होने के कारण एव स्वय का कोई स्वभाव नही होने के कारण नागार्जुन ने समस्त प्रतीतियो के मिथ्यात्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । तर्क-विद्या के समस्त प्रतीतियो पर लागू होने के कारण कोई भी ऐसा विपय शेप नही रहता जो सापेक्ष और परस्पर आश्रित न हो अथवा जो स्वभावत स्वत प्रमाण हो तथा जो किसी अन्य विपय की अपेक्षा किए विना स्वत ही बुद्धिगम्य हो । समस्त प्रतीतियो की इस सापेक्षता एव पारस्परिक आश्रितता को ही नागार्जुन ने 'शून्यता' की सज्ञा दी है । अन्य किसी विपय के प्रसग के विना स्वतत्र रूप से किसी विपय को स्वीकार नही किया जा सकता, अत किसी स्वयसारभून विपय की कल्पना नही की जा सकती । अत समस्त प्रतीतियाँ केवल परस्पर आश्रित काल्पनिक सृष्टि ही है एव यही पारस्परिक आश्रितता ही उनके स्वभाव की सारहीनता को सिद्ध करती है । सत्य का कही भी कोई आधार नही है । प्रत्येक विपय सारहीन है । परन्तु न तो शकर एव न गौडपाद ने ही यह वताने का प्रयत्न किया है कि विचार, सवेग, ऐच्छिक क्रियाओ तथा वाह्य वस्तु-जगत् को भ्रमात्मक प्रतीति क्यो माना जाय ? उनकी मुख्य वात उनकी इस दृढोक्ति मे निहित है कि स्वप्नानुभव की तरह समस्त प्रतीतियाँ अथवा अनुभव मिथ्या है । जग्रदानुभव के अपूर्ण सादृश्य का तर्क दिया गया है एव सम्पूर्ण विविध प्रतीतियो को मिथ्या वताया गया है । परन्तु इसके साथ ही इस वात को भी दृढतापूर्वक कहा गया है कि इस मिथ्या सृष्टि का कोई सत्य आधार होना चाहिए । विकारशील प्रतीतियो का कोई अविकारी आधार होना चाहिए जिस पर उनका अध्यास हो और यह आधार आत्मा अथवा व्रह्म है जो एकमात्र नित्य, अविकारी एव सत् है । यह आत्मा विशुद्ध विज्ञप्ति-मात्र सत्ताढय रूप मे स्थित है ।[3] जिस प्रकार 'सर्प' की मिथ्या सृष्टि

---

[1] गौडपादकारिका २ १–१२ पर शकर भाष्य ।

[2] नहि निरास्पदा रज्जु-सर्प-मृगतृष्णादय क्वचित् उपलभ्यन्ते ।
उसी स्थान पर १–६ ।

[3] गौडपादकारिका २ १७ ।

रज्जु के अर्थ मे प्रतीत होती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण ऐसे निर्णय 'मैं सुखी हूँ' 'मै दुखी हूँ', 'मैं अज्ञानी हूँ', 'मैं जन्म लेता हूँ', 'मैं वृद्ध हू', 'मै शरीर धारी हू', 'मै प्रत्यक्षीकरण करता हू' आदि आत्मा से सबधित मिथ्या विशेषण है, वे सब मिथ्या, विकारशील एव भ्रमात्मक विशेषण है एव केवल आत्मा ही उपरोक्त सब प्रकार के निर्णयो मे शाश्वत रहता है। ऐसे विशेषणो से आत्मा पूर्णतया भिन्न है, वह स्वयप्रकाश एव स्वयज्योति है जो स्वय स्वय स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित होता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद अर्थात् वस्तुओ की परस्पर निर्भरता की युक्ति का सहारा लेते हुए नागार्जुन ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जगत् मे ऐसी कोई भी वस्तु नही है जिसे अपनी वर्तमान अवस्था मे किसी वस्तु का सार कहा जा सके, परन्तु वह मिथ्या काल्पनिक वस्तुओ की सृष्टि की प्रतीति के स्रोत की व्याख्या नही कर सके। सार-रहित परस्पर आश्रित घटनाओ की जगत्-प्रतीति किस प्रकार प्रकट हुई? शकर ने तीक्ष्ण तर्क द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न नही किया कि जगत्-प्रतीति मिथ्या है। चूँकि उपनिषदो ने ब्रह्म को परम तत्व घोषित किया है अत उन्होने जगत् के मिथ्यात्व को सहजभाव से स्वीकार कर लिया। परन्तु प्रतीत्यात्मक जगत् किस प्रकार स्वय को प्रकट करता है? ऐसा लगता है कि शकर ने इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार नही किया एव केवल यही कहकर वे आगे बढ गए कि जगत्-प्रतीति अविद्या के कारण है। इसे न तो सत् और न असत् ही कहा जा सकता है, वह तो शुक्ति-रजत की तरह भ्रम है। परन्तु ब्रह्म-सूत्रो के प्रथम चार सूत्रो पर लिखे गए शकर-भाष्य पर पचपादिका नामक टीका के लेखक पद्मपाद कहते हैं कि ब्रह्मसूत्रो पर लिखी गई अपनी टीका की भूमिका मे शकर कहते हैं कि 'मिथ्या ज्ञान' का ठीक अर्थ यह है कि जगत् मे एक जडात्मिका अविद्या शक्ति है एव वही शक्ति जगत् प्रतीति के उपादान मे रूपान्तरित हो जाती है।[1] इस सदर्भ मे यह ज्ञातव्य है कि शाकर-दर्शन के अनुसार प्रतीत्यात्मक जगत् न केवल वस्तु जगत् से ही अपितु आत्मा से सबद्ध होने योग्य सभी अनुभूतियो एव विशेषणो से निर्मित है। इस प्रकार जब कोई कहता है 'अहम्' तब इस अहभाव का विश्लेषण दो भागो से निर्मित अर्थ मे किया जाता है—एक तो शुद्ध चैतन्य एव द्वितीय अस्मत्-प्रत्यय जो उस शुद्ध चैतन्य द्वारा प्रकाशित होता है एव जिसके साथ उसका मिथ्या सबध होता है। अस्मत्-प्रत्यय का अर्थ यहाँ जडात्मिका अविद्या शक्ति से है जो शुद्ध चैतन्य की शक्ति के कारण प्रकट होती है एव जिसके कारण मनुष्य कहता है 'अहमस्मि' अथवा 'मनुष्योऽह'।[2] यह अविद्या शक्ति शुद्ध

---

[1] पचपादिका पृ० ४, विजयनगरम्, सस्कृत सिरीज, १८९१।

[2] अस्मत्प्रत्यये योऽनिदमशश्चिदेकरस तस्मिस्तद्बलनिर्भासिततया लक्षणतो युष्मदर्थस्य मनुष्याभिमानस्य सभेदैवावभास स एव अध्यास'—पचपादिका पृ० ३।

आत्मन् मे आश्रित है एव एक ओर तो उसके (आत्मन के) यथार्थ ब्रह्म-स्वरूप अवभासित होने (प्रदर्शन) मे बाधक होती है तथा दूसरी ओर हमारे सामान्य अनुभव के मनोवैज्ञानिक व आत्मा से सबधित विविध प्रत्ययो मे अपने आपको रूपान्तरित करती है।[1] चिन्तन, अनुभूति, इच्छा इत्यादि मनोवैज्ञानिक गुणो का सबध प्रत्यक्-चित्ति के साथ होने के कारण भ्रम होता है। ये मनोवैज्ञानिक निर्धारणाएँ परस्पर एक दूसरे से सबधित हैं। इस प्रकार सुखो के उपभोग के लिए प्रथमत कर्म विशेष अभिष्ट है, क्रिया के लिए आसक्ति, द्वद्व एव इच्छाएँ आवश्यक है, तथा सुख-दु ख का अनुभव कर लेने के बाद ही उनमे आसक्ति एव इच्छाएँ उत्पन्न होती है—अत यह मनोवैज्ञानिक निर्धारणाएँ अनादि चक्र के रूप मे स्वभावत स्वय प्रकाश्च प्रत्यक् चिति से सबधित है।[2]

पद्मपाद अथवा प्रकाशात्मन् की व्याख्या के अनुसार उपरोक्त विचार से स्पष्ट है कि अज्ञान अपरिभाप्य है जिसमे परिवर्तन होने के कारण आत्मगत मनोवैज्ञानिक अनुभव एव नानाविपयात्मक जगत् का आविर्भाव हुआ है। यह अज्ञान बौद्धो का अज्ञान अर्थात् मिथ्या बुद्धि नही है एव न यह अध्यास नागार्जुन का विपर्यय ही है, क्योकि यहाँ यह एक भावात्मिका शक्ति है। इस प्रकार प्रकाशात्मन् के अनुसार समस्त कार्यो के पीछे कोई कारण अवश्य होते है जो उनके उपादान होते है। जगत्प्रतीति भी एक कार्य है अत इसका भी कोई उपादान अवश्य होगा जिससे इसका विकास अथवा निर्माण हुआ। उस प्रत्यक्-चिति मे भिन्न शक्ति के रूप मे निहित अज्ञान का एक उपादान कारण है।[3] प्रत्यक्-चिति मे इस अविद्या शक्ति का स्वरूप भावरूप है। यह भावरूप अज्ञान कई क्षणिक प्रत्यक्षो मे अपरोक्ष रूप से गोचर होता है, जैसे 'मैं अपने-आपको अथवा दूसरो को नही जानता' एव उपलक्ष्य मे भी इसका अनुमान अथवा बोध होता है।[4] अविद्या अथवा अज्ञान को प्रत्यक्-चिति मे अन्तर्निहित शक्ति मानने का तात्पर्य यह है कि वह (अविद्या) उस पर आश्रित है। अविद्या कोई शक्ति नही है बल्कि एक द्रव्य अथवा इकाई सत्ता है जिसमे कई शक्तियाँ

[1] अत सा प्रत्यक्-चिति ब्रह्मस्वरूपावभास प्रतिबन्धाति अहकाराद्या तद्रूप-प्रतिभास निमित्ता च भवति। —पचपादिका पृ० ५।

[2] प्रकाशात्मन् द्वारा लिखित पचपादिका विवरण, पृ० १०, विजयनगरम् सस्कृत सिरीज १८९२।

[3] सर्वं च कार्यं सोपादान भावकार्यत्वात् घटादित्यनुमानात् तस्मान् मिथ्यार्थ तज्ज्ञानात्मक मिथ्या भूत अध्यासमुपादानकारणसापेक्षमिथ्याज्ञानमेवाध्यामोपादानम्। —पचपादिका विवरण, पृ० ११–१२।

[4] पचपादिका विवरण, पृ० १३।

निहित हैं जिनके द्वारा वह नाना विषयात्मक जगत् की अस्मद् एव युष्मद् की प्रतीतियो मे अपना रूपान्तर करती है, फिर भी इसे प्रत्यक्चिति पर आश्रित होने के कारण शक्ति कहा गया है। एव अविद्या तथा उसके रूपान्तरो के आत्मा पर इस पूर्ण आश्रितत्व के हेतु ही आत्मा को वाह्य जगत् एव मनस् के विश्वजनीन प्रतीति रूप समस्त कार्यों का कारण माना गया है।[1] अत आत्मा मे अज्ञान केवल परतन्त्रता का ही कार्य नही करता बल्कि स्वप्रकाश होते हुए भी विचित्र शक्तिभावरूप अविद्या द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसका आवरण भी होता है एव वही इस अज्ञानरूपात्मक नाना विषयक जगत् का आधार है।[2]

अप्पय दीक्षित अपने 'सिद्धान्त लेश' नामक ग्रन्थ मे पदार्थ-तत्व के लेखक के मत को निम्न प्रकार से सक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत करते है।[3] ब्रह्म एव माया दोनो उपादान कारण है (उभयमुपादानम्) अत जगत् प्रपच मे दो विभिन्न लक्षण है ब्रह्म से सत्ता एव माया से जडता। माया के अविकारी अधिष्ठान के रूप मे ब्रह्मन् कारण हैं किन्तु माया उस उपादान के रूप मे कारण है जो वस्तुत. परिवर्तित होता है। वाचस्पति मिश्र भी अविद्या सहित ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानते हैं (अविद्यासहितब्रह्मोपादानम्)।[4] अपने ग्रन्थ भामती के प्रारभ मे मगलाचरण मे उन्होने सम्पूर्ण विषयात्मक जगत् के अविकारी कारण, अनिर्वाच्य अविद्या को ब्रह्म के सचिव के रूप मे माना है।[5] सर्वज्ञात्म मुनि नाना विषयात्मक जगत् की रचना मे माया को ब्रह्म के समान सहायक नही मानते एव ब्रह्म को माया की नैमित्तिकता द्वारा जगत् का यथार्थ उपादान कारण मानते है क्योकि ब्रह्म निरपेक्ष अविकारी होने के कारण उसे अपने-आपमे कारण नही माना जा सकता, जब ब्रह्म को कारण कहा

---

[1] शक्तिरित्यात्मपरतन्त्रतया आत्मन सर्वकार्योपादानस्य निर्बोधृत्वम्। पचपादिका विवरण, पृ० १३। आत्मकारणत्वनिर्बोधृत्वादात्मपरतन्त्रत्वाच्च शक्तिमत्यामपि शक्ति शब्द उपचरित। अखडानद मुनि द्वारा लिखित 'तत्व दीपन' पृ० ६५, चौखवा सस्कृत वुक डिपो, बनारस।

[2] अत स्वप्रकाशेऽपि आत्मनि विचित्रशक्तिभावरूपाविद्याप्रयुक्तमावरण दुरपहृणवम्। रामानन्द सरस्वती द्वारा लिखित विवरणोपन्यास, पृ० १–६, चौखम्बा सस्कृत वुक डिपो, बनारस, १९०१।

[3] सिद्धान्तलेश, पृ० १२, वी० एस० सिरीज, १८९०।

[4] शाकर भाष्य पर भामती, १–१–२ निर्णय सागर प्रेस १९०४।

[5] अनिर्वाच्याविद्याद्वितय-सचिवस्य प्रभवतो विवर्तायस्यैते-वियदनिल-तेजाब्अवनय.।
—शाकर भाष्य पर भामती पृ०, १।

जाय तव ऐसा माया की नैमित्तिकता द्वारा उपलक्षणार्थ मे ही होगा।[1] अप्पय दीक्षित ने 'सिद्धान्त-मुक्तावली' के लेखक का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उनके मतानुसार केवल माया ही जगत्-प्रतीति का उपादान कारण है, ब्रह्म किसी भी प्रकार से जगत् का उपादान कारण नही है परन्तु वह (ब्रह्म) केवल माया का आश्रय मात्र है एव इसी दृष्टि से इसे उपादान कारण कहा गया है।[2]

यह स्पष्ट है कि नाना विपयात्मक जगत् की रचना के सवध मे माया एव आत्मा अथवा ब्रह्म के सवध के स्वरूप के वारे मे उपरोक्त मतभेद केवल शव्द अथवा वाग्जाल मात्र है जिसका दार्शनिक महत्व कुछ भी नही है। जैसाकि कहा जा चुका है, उपरोक्त प्रश्न शकर के मस्तिष्क मे उत्पन्न हुए प्रतीत नही होते। उन्होने अविद्या एव ब्रह्म के सवव तथा जगत् के उपादान कारण के रूप मे इस सवध के योगदान की कोई निश्चित व्याख्या करना उपयुक्त नही समझा। जगत् भ्रम है एव ब्रह्म उस सत्य का आधार है जिस पर भ्रम की प्रतीति होती है, क्योकि नानात्व अर्थात् भ्रम को भी किसी अधिष्ठान की आवश्यकता रहती ही है। उन्होने कभी भी अपने सिद्धान्त से स्वाभाविक रूप से सवधित कठिनाइयो का पूर्ण रूप से सामना नही किया अतः इस भ्रमपूर्ण जगत् की रचना के विषय मे माया एव ब्रह्म के निश्चित सवध की व्याख्या करना आवश्यक नही समझा। इस प्रकार के मतो के विरुद्ध स्वाभाविक आपत्ति यह है कि अविद्या (जो निषेधात्मक उपसर्ग 'अ' एव विद्या' के समास से वना है) का अर्थ या तो विद्या का अभाव हो सकता है या मिथ्या ज्ञान हो सकता है। उपरोक्त दोनो ही अर्थों मे यह किसी वस्तु का उपादान कारण अथवा द्रव्यभूत नही हो सकता, क्योकि मिथ्या ज्ञान किसी भी प्रकार का द्रव्य नही हो सकता जिसमे से अन्य वस्तुओ का आविर्भाव हो सकता हो।[3] ऐसे आपत्ति का समाधान कराते हुए आनन्द भट्टारक कहते है कि यह अविद्या मनोवैज्ञानिक अज्ञान नही है अपितु यह एक विशिष्ट पारिभाषिक वस्तु है जो अनादि एव अनिर्वाच्य है (अनाद्यनिर्वाच्याविद्याश्रयणात्)। ऐसी वस्तु को स्वीकार करना एक ऐसी परिकल्पना है जिसको सत्य मानना उचित है क्योकि यह तथ्यो की व्याख्या करती है। कार्यो का कारण होना आवश्यक है एव केवल निमित्त कारण कार्य के अधिष्ठान की उत्पत्ति की व्याख्या नही कर सकता, पुन अयथार्थ कार्यो का उपादान कारण न तो यथार्थ हो सकता है एव न निरपेक्षरूप

---

[1] सक्षेप-शारीरिक, १,३३३,३३४ भाऊ शास्त्री का सस्करण।

[2] सिद्धान्त लेश, पृ० १३, वी० एस० सिरीज़, १८९०।

[3] अविद्या हि विद्याभावो मिथ्या ज्ञान वा न चोभयम् कस्यचित् समवायिकारण अद्रव्यत्वात्। आनन्दवोध कृत न्याय मकरद पृ० १२२, चौखभा सस्कृत वुक डिपो, वनारस १९०१।

से असत् ही उनका उपादान कारण हो सकता है। अतः चूंकि जगत् का उपादान कारण न तो सत् हो सकता है और न निरपेक्षरूप से असत् ही हो सकता है अत॰ वेदान्तियो के लिए यह परिकल्पना करना आवश्यक हो जाता है कि इस मिथ्या जगत्-प्रतीति का उपादान कारण एक ऐसी इकाई है जो न तो सत् है एव न असत् ही है।[1] आनन्दबोध अपनी 'प्रमाणमाला' मे वाचस्पति की 'ब्रह्म-तत्व-समीक्षा' से उद्धरण देते हुए लिखते हैं कि अविद्या को अविद्या इसीलिए कहा गया है कि यह न तो सत् है और न असत् ही, अत अनिर्वचनीय है, अविद्या के अविद्यात्व का बोध इसी पद से होता है।[2] आनन्दबोध के मत मे अविद्या को स्वीकार करना प्रतीत्यात्मक जगत् के सभावित कारण को बताने का तार्किक परिणाम मात्र है—अर्थात् जगत्-प्रतीति के यथागत स्वरूप को दृष्टि मे रखें तो उसका कारण कोई ऐसी प्रतीत होगी जो न तो सत् और न असत् ही हो सकती है, परन्तु ऐसी वस्तु प्रत्यय से हम क्या अभिप्राय लेते है कह नही सकते। स्पष्टतया यह अगम्य है, ऐसे प्रत्यय की तार्किक आवश्यकता केवल यही सकेत करती है कि जो इस मिथ्या जगत् का उपादान कारण है उसे न तो सत् अथवा न असत् ही माना जा सकता है, परन्तु इस प्रकार के निरूपण से यह प्रत्यय-सगत एव बोधगम्य नही हो जाता।[3] अत॰ अविद्या का प्रत्यय स्पष्टरूप से अबोध एव असगत है।

बौद्ध दर्शन एवं वेदान्त में विचार तथा उसका विषय

वेदान्त के अनुसार दो प्रकार से वस्तुओ पर विचार किया जा सकता है, प्रथम एव द्वितीय दृष्टिकोण क्रमश परम तत्व तथा भ्रमात्मक जगत् के प्रसग मे है। यह परम तत्व विशुद्ध चित्स्वरूप है जिसका विशुद्ध आनन्द एव सत् स्वरूप के साथ तादात्म्य है। अविकारी होने के कारण इसे परम तत्व कहा जाता है। विशुद्ध चित्स्वरूपता से वेदान्त का तात्पर्य साधारण ज्ञानात्मक अवस्थाओ से नही है क्योकि उनमे उनसे भिन्न वस्तुगत एव आत्मगत सामग्री है। उस विशुद्ध चैतन्य का अनुभव तत्क्षण होता है जो हमारी सपूर्ण चैतन्यावस्थाओ मे अनुस्यूत दैवी प्रकाशन के अनुरूप है। हमारे विषय-बोध कुछ अर्थो मे ऐसी घटना है जिसमे अस्यत्व-आत्मत्त्व और युष्मत्व। वस्तुत्त्व

---

[1] आनन्दबोध कृत न्यायमकरन्द, पृ० १२२-१२४।

[2] सदसदुभयानुभयादि-प्रकार अनिर्वचनीयत्वमेव हि अविद्याना अविद्यात्वम्। 'ब्रह्मतत्व समीक्षा' जैसाकि 'प्रमाण माला' मे उद्धृत है। पृ० १०, चौखबा सस्कृत बुक डिपो, बनारस, १९०७।

[3] वैलक्षण्य-वाचो-युक्तिर्हि प्रतियोगि-निरूपणाद् यौक्तिकत्व-प्रकटनफला न तु एव-रूपतया सामजस्य सपादनाय इत्यवोचाम। —प्रमाण माला, पृ० १०।

दोनो का समावेश है, परन्तु प्रत्येक अवस्था मे उसका विशिष्ट लक्षण प्रकाशित, अन्तर्मुखता अथवा तात्क्षणिकता है जो अविकारी तथा कालातीत है। हमारे देखने, श्रवण करने, अनुभव करने, स्पर्श करने, विचार करने एव स्मरण करने के तथ्य यह वताते है कि जगत् मे विविध ज्ञान है। परन्तु इस ज्ञान का स्वरूप क्या है ? यह कोई क्रिया है अथवा तथ्य है ? जव मैं नील-वर्ण देखता हूँ उस अवस्था मे एक नील विपय विद्यमान होता है, नीले रूप मे प्रतीति का एक विशिष्ट प्रकाशन विद्यमान होता है एव द्रष्टा के रूप मे 'अह' का प्रकाशन होता है। यह एक ऐसा प्रकाशन है जिसमे 'नीलवर्ण' के रूप मे लक्षण-विशेप और नीली वस्तु के रूप मे उस वस्तु-विशेप दोनो का ही प्रकाशन होता है। प्रत्यक्षीकरण मे जो अभिव्यक्ति होती है वह एक होती है और वह विपय एव उसकी प्रतीति को लक्षणविशेप मे एक प्रकार से नीलवर्ण के रूप मे अभिव्यक्त करती है। यह अभिव्यक्ति लक्षण-प्रतीति एव विषय के वीच रहने वाले किसी सबध की उत्पत्ति मात्र नही है। क्योकि नील के रूप मे लक्षण-प्रतीति एव विपय दोनो प्रकाशन मे विद्यमान है। अनुभूति स्वयसिद्ध है एव अद्वितीय है। मेरे देखने मे, श्रवण मे, अनुभव करने मे, तथा परिवर्तन मे यह सत्य है कि एक प्रकार का चैतन्य शाश्वत रूप से रहता है जिसमे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता। चैतन्य स्वय ही सदा वर्तमान रहता है एव उसकी सामग्री के सदृश उसमे कोई विकार नही होता। मुझे स्मरण है कि मैंने पाँच मिनट पूर्व एक नील विपय देखा था, परन्तु ऐसा करने मे मुझे अभिव्यक्त अथवा उत्पन्न होने वाले देश-कालिक सवधविशेष से युक्त नील विपय के विम्व का ही प्रत्यक्ष होता है परन्तु स्वय अभिव्यक्ति की पुन अभिव्यक्ति वही हो सकती। मैं चेतन हो सकता हूँ परन्तु चैतन्य का चेतन नही हो सकता क्योकि चैतन्य के लक्षण उपस्थित रहने पर भी वह स्वत. किसी अन्य चैतन्य का विपय नही वन सकती। वोध का वोव अथवा ज्ञान के ज्ञान का ज्ञान जैसी कोई वस्तु नही हो सकती, यद्यपि हम अपनी इच्छानुसार भापा मे ऐसे शब्द समुदायो को वढा सकते है। जव मुझे स्मरण होता है कि आज प्रात मैं ट्रिनिटी कालेज हो आया हूँ, तो उसका अर्थ केवल यही है कि चर्च स्ट्रीट एव ट्रिनिटी स्ट्रीट मे आने वाले 'कामन्स' के रास्ते की कल्पना मेरे मस्तिष्क मे है, उनसे होकर मेरा जाना कालिक रूप से पीछे धकेल दिया गया है। परन्तु यह सव वर्तमान समय मे विम्ब-रूप मे अभिव्यक्ति है, भूत की अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति नही। मैं यह नही कह सकता कि यह वर्तमान विम्व वर्तमान प्रकाशन के विपय के रूप मे उस विम्व विशेप का किसी भी प्रकार से प्रकाशन करता है। परन्तु पूर्ववर्ती प्रकाशन वर्तमान प्रकाशन से भिन्न नही समझा जा सकता, क्योकि भेद सर्दैव सामग्री पर आधारित रहता है प्रकाशन पर नही। अभिव्यक्ति स्वत एकरूपा होती है एव ऐसा होने के कारण एक अभिव्यक्ति दूसरी का विपय नही हो सकती। ऐसा कहना अशुद्ध है कि 'अ अ है' का तात्पर्य यह है कि एक 'अ' पुन स्वय 'अ' होता है। व्याकरण सवधी शब्दावली की सीमा

मे वद्ध होने के कारण एकरूपता का वर्णन इस प्रकार किया जाता है। इस प्रकार एकरूपता का अर्थ सबध के अर्थ मे किए गए एकरूपता के अर्थ से भिन्न है। एकरूपता को सबध के रूप मे समझने का अर्थ उसमे भेद अथवा अन्यत्व समझना है एव इस प्रकार वह स्वय मे परिपूर्ण नही होती। स्वय मे परिपूर्ण नही होने के कारण ही इसे सबध कहा जा सकता है। जब यह कहा जाता है कि 'अ अ के अनुरूप है' तो इसका अर्थ यह है कि विभिन्न अवसरो एव अर्थों मे जहाँ कही भी 'अ' प्रकट हुआ वहाँ उसका एक ही वस्तु से अर्थ है, उसकी वही आकृति है अथवा वह हिन्दी की वर्णमाला का वही प्रथम अक्षर है। इस अर्थ मे एकरूपता विचार का एक कार्य है जिसका अस्तित्व विरोध अथवा अन्यत्व के अर्थ से सबद्ध है, न कि उसका कोई स्वतत्र अस्तित्व है। परन्तु अभिव्यक्ति मे कोई अन्यत्व नही होता, वह निरपेक्ष रूप से एक ही प्रकार सर्वव्यापी होती है। परन्तु जिस एकरूपता की अभिव्यक्ति का हम वर्णन कर रहे है उसका अर्थ यह नही है कि अभिव्यक्ति विभिन्न उपादानो के बीच एक ही वस्तु व्यक्त करे। यह तो केवल साररूप से अपने स्वय मे एकरूप है, जो सख्या सूचक अथवा अन्य प्रकार के भेद से रहित है। यह पूर्ण रूप से 'अब' एव 'तब', 'यहाँ' एव 'वहाँ' 'ऐसा' अथवा 'ऐसा नही' और 'यह' एव 'वह' से मुक्त है। स्वय-ज्योति आत्मा का चैतन्य इस अर्थ मे विषय-प्रपच से सबद्ध नही माना जा सकता बल्कि यह आत्मा की अभिव्यक्ति अथवा सत्ता का तथ्य है। यदि हम अभिव्यक्ति को इस दृष्टि से ग्रहण करें तो अभिव्यक्ति का वर्तमानकाल की अभिव्यक्ति अथवा भूतकाल की अभिव्यक्ति के रूप मे भेद करना भूल है। क्योकि जैसे विषयो की अभिव्यक्ति होती है वैसे ही काल की भी अभिव्यक्ति होती है, वे अभिव्यक्ति का निर्माण नही करते अथवा उसका कोई भाग नही है। यह अभिव्यक्ति स्वय ज्योति आत्मा से एकरूप है जिसके साथ अन्य सब वस्तुओ का सबध स्थापित करना आवश्यक है ताकि उनके बारे मे ज्ञान प्राप्त किया जा सके।

"बोध एक प्रकार की क्रिया है अथवा यथार्थता ?" इसका उत्तर देने के पूर्व बोध के अर्थ को स्पष्ट करना आवश्यक होगा। यदि हम अभिव्यक्ति के रूप की ओर ध्यान न दें एव काल अथवा गुण सबधी लाक्षणिक परिवर्तन की दृष्टि से ध्यान दिए जाने वाले मानसिक अवस्थाओ की बात करें तो हमे उन्हे कोई कृति अथवा घटना समझना चाहिए। यदि हम किसी मानसिक अवस्था को कुछ लक्षणो से युक्त एव अपने विषयो से सबधित समझें तो हमे उन रूपो को बताना पडेगा। परन्तु, यदि हम बोध का अर्थ उसके परम सत्य एव सत्ता की दृष्टि से अभिव्यक्ति के रूप मे ले तो हम उसे न तो कृति और न यथार्थता ही कह सकते है, क्योकि अभिव्यक्ति होने के कारण यह स्वय मे अद्वितीय एव अविकार्य है। उसमे सपूर्ण लक्षणो एव सबधो का प्रकाशन होता है—वह स्वयसिद्ध है एव वह एक ही क्षण मे उन सबमे है तथा उनसे परे

भी है। हमारी स्वप्नावस्था अथवा जाग्रतावस्था मे, भ्रम अथवा सत्य के अनुभव की अवस्था मे, अभिव्यक्ति सदैव विद्यमान रहती है। जब हम अपनी मानसिक अवस्थाओ की ओर ध्यान देते है तो हम उन्हे सदैव परिवर्तनशील अवस्था मे देखते है परन्तु यह तो सामग्री के सबध मे ही ठीक है। इसके अतिरिक्त हमारे चैतन्य जीवन मे एक अविच्छिन्नता है। इस अविच्छिन्नता से वेदान्त का तात्पर्य अनुभूति की नित्यता से है, विचारो की सबद्धता से नही। यह पूछा जा सकता है कि मानसिक अवस्थाओ के निकल जाने पर अनुभूति मे क्या अवशिष्ट रहता है ? यह प्रश्न अग्राह्य है, क्योकि मानसिक अवस्थाए अनुभूति का भाग नही है, अनुभूति से सबद्ध होने के बाद ही उनमे चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है। यह पद परम तत्व है। यहाँ आत्मा अथवा अह साधारण अर्थ मे प्रयुक्त नही हुआ है। क्योकि साधारण अर्थ मे जिसे 'अह' समझा जाता है वह विषयगत सामग्री के समान ही तत्क्षण के प्रत्यक्षीकरण की सामग्री है। किसी विशिष्ट विषयगत सामग्री का किसी विशिष्ट समय मे उसके अनुरूप 'मैं प्रत्यक्षीकरण करता हूँ' ऐसे अनुभव के स्पष्टतया उसी समय व्यक्त हुए बिना अभिव्यक्त होना असभव नही है। 'अह' का प्रत्यय किसी नित्य स्थाई स्वतत्र आत्मा अथवा पुरुष से सबद्ध नही है, क्योकि किसी अन्य विषयगत सामग्री के समान यह भी परिवर्तनशील है। विद्यमान सत्ता से सबद्ध रूप मे 'अह' की कोई निश्चित यथार्थ सामग्री नही है परन्तु यह मस्तिष्क की एक विशिष्ट अवस्था है जो मस्तिष्क की अन्य विकारशील सामग्रियो के साथ आपेक्षिक रूप से स्थाई सामग्री के रूप मे प्राय सबधित रहती है। इस प्रकार किसी भी अन्य विषय की तरह यह भी परिवर्तनशील है। 'मैं यह जानता हूँ' का तात्पर्य केवल यही है कि यह एक प्रकार की अभिव्यक्ति है जो युगपत् भाव से 'मैं' एव 'यह' को व्यक्त करती है। 'यह' एव 'मैं' को अभिव्यक्त करने की अवस्था मे अभिव्यक्ति अन्य एक से ही चैतन्य-केन्द्रो से भिन्न विशिष्ट चैतन्य-केन्द्र की आत्मगत मानसिक अवस्था में प्रकट होती है। वस्तुत अभिव्यक्ति को अलग-अलग नही किया जा सकता अत 'मैं' अथवा 'मेरा', 'तुम' अथवा 'तुम्हारा' के सबध मे कही गई बात उसके क्षेत्र के बाहर की बात है। वे सब ऐसी सामग्रियाँ है जिनका अपना स्वय का अनिश्चित अस्तित्व है तथा जो अभिव्यक्ति के इस सिद्धान्त द्वारा कुछ अवस्थाओ मे अभिव्यक्त होती है। किसी अन्य विषय के अस्तित्व को निर्दिष्ट करने के लिए प्रयुक्त अर्थ से एक बिल्कुल भिन्न अर्थ मे ही इस अभिव्यक्ति के सिद्धान्त की यथार्थता है। सपूर्ण अन्य विषय अपने प्रकाशन के लिए अभिव्यक्ति के इस सिद्धान्त पर आधारित है एव उनके स्वरूप अथवा तत्व का इसके साथ सबध के कारण न तो परिभाषा दी जा सकती है और न उनका वर्णन ही किया जा सकता है। वे स्वयसिद्ध नही है परन्तु इस मूलभूत तत्व के साथ किसी प्रकार का सबध स्थापित होने पर ही उन्हे व्यक्त किया जा सकता है। यह हम जान ही चुके हैं कि यह तत्व आत्मगत अथवा वस्तुगत नही हो सकता। क्योकि विषय एव विषयिन् के सपूर्ण विचार इस क्षेत्र के बाहर की

बाते हैं और किसी भी प्रकार से उसके विशेषण नही है अपितु वे उसके द्वारा अभिव्यक्त होते है। इस प्रकार दो तत्व है, अभिव्यक्ति का तत्व एव उसके द्वारा अभिव्यक्त वस्तु का तत्व। अभिव्यक्ति का तत्व एक है, क्योकि उसके सदृश कोई तत्व नही है, केवल यही परम एव यथार्थतम अर्थ मे सत्य है। यह निरपेक्ष इस अर्थ मे ही है कि यह अजर, अमर और अविकारी तथा स्वय के पूर्ण होने के कारण 'परम' है। यह अनन्त इस अर्थ मे है कि समस्त सीमित वस्तुओ के इसके द्वारा अभिव्यक्त होने पर भी वे इसका अवयव नही बन सकती। यह विभु इस अर्थ मे है कि काल अथवा दिक् की सीमाए इसके द्वारा अभिव्यक्त होने पर भी इसमे विकार पदा नही कर सकती। यह न तो मेरे मस्तिष्क मे है, न मेरे-शरीर मे है और न मेरे समक्ष दिक् मे है, परन्तु फिर भी ऐसा कोई स्थान नही है जहाँ यह न हो। इसको कभी-कभी 'आत्मन्' कहकर सर्वोपरि सत्ता सर्वातीत सबोधित किया जाता है, परन्तु ऐसा केवल उस परम तत्व ब्रह्मन् के वास्तविक स्वरूप को बताने के लिए ही किया गया है।

इस अभिव्यक्ति के तत्व के अतिरिक्त अन्य सब कुछ माया सज्ञक द्रव्यरहित अनिर्वचनीय उपादान से बना हुआ है। शाकर वेदान्त की कतिपय शाखाओ की मान्यता है कि जगत् केवल मिथ्या है, एव जब तक हम विषयो का प्रत्यक्ष करते हैं तब तक ही उनका अस्तित्व है तथा ज्योही हमे उनका प्रत्यक्ष होना बद हो जाता है त्योही वे शून्य मे चली जाती है। इस मत को 'दृष्टि-सृष्टि' मत कहा गया है। इस मत की सक्षिप्त व्याख्या इस ग्रथ के दशम अध्याय मे की गई है।[1] इस मत का अत्यत महत्वपूर्ण ग्रथ प्रकाशानद द्वारा लिखित 'सिद्धान्त मुक्तावली'।[2] ऐसा प्रतीत

---

[1] भारतीय दर्शन का इतिहास भाग १, पृ० ४७७-४७८ ले० एस० एन० दास गुप्ता, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा मुद्रित १९२२।

[2] प्रकाशानन्द प्रकाशात्मन् (१२०० ई० प०) की 'पचपादिका विवरण' एव सर्वज्ञात्म मुनि (९०० ई० प०) के 'सक्षेप-शारीरिक' के तर्कों का प्रमाण देते हुए 'नैष्कर्म्य सिद्धि' के लेखक सुरेश्वर का अनुमोदन करते हैं। अप्पय दीक्षित (१६२० ई० प०) अपने 'सिद्धान्त लेश' (पृ० १३,७२) मे प्रकाशानद का उल्लेख करते है। प्रकाशानन्द के मतानुगामी 'सिद्धान्त दीपिका' के लेखक नाना दीक्षित ने 'सिद्धान्त मुक्तावली' पर टीका करते हुए वेदान्त के आचार्यो की सूची दी है। इस सूची मे प्रकाशानुभवानद, नृसिह एव राघवेन्द्र यति के नाम भी लिखे गए है। वेनिस के मत मे (देखिए पडित १८९० पृ० ४८७-४९०) प्रकाशानुभव एव प्रकाशात्मन् तथा नृसिह एव नृसिहाश्रम मुनि मे कोई अन्तर नही है जिन्होने अप्पय दीक्षित को शाकर वेदान्त मे परिवर्तित किया था। उनके मत मे प्रकाशानद, नृसिह एव अप्पय दीक्षित के बीच मे सोलहवी शताब्दी के अतिम चतुर्थांश मे रहे। यद्यपि उनका

होता है कि प्रकाशानद का प्रेरणा-स्रोत 'योगवासिष्ठ' था और उन्होने विपयो के अप्रत्यक्ष होने की अवस्था मे उनकी सत्ता (अज्ञातसत्वानभ्युपगम) को अस्वीकार किया है। उन्होने यह प्रदर्शित करने का यत्न किया हे कि बाह्य विषयो के प्रत्यक्ष न होने पर भी उनकी सत्ता को अथवा बाह्य विपयो की प्रत्यक्ष निरपेक्ष सत्ता को मानने का कोई कारण नही है। प्रत्यक्ष और उसके विपय के वीच के इस विभेद को स्थापित करने के प्रत्यक्ष के सामर्थ्य की परीक्षा करते हुए उन्होने युक्ति दी है कि ज्ञान एव ज्ञान के विपय का भेद ज्ञान का गुण मात्र होने के कारण स्वय इस विपयगत धर्म को ग्रहण करने मे समर्थ नही है क्योकि यह ज्ञान एव ज्ञेय के भेद मे निहित सश्लिष्ट का एक उपादान है। इसके विपरीत अर्थ को प्रस्तुत करने का अर्थ है आत्माश्रयत्व दोप। यदि अनुभून भेद मिश्रित हो यथा 'प्रतीति एव उसके विपय मे भेद' एव यदि इस मिश्रण विपय मे विद्यमान कोई अनुभूत धर्म हो तो यह मानना पडेगा कि प्रतीति के स्वरूप को समझने एव प्रमाणित करने के लिए 'प्रतीति एव उसके विपय मे भेद' मिश्रण के अग के रूप मे यह प्रतीति तत्क्षण तथा अपरोक्ष रूप से स्वय पर ही आधारित होनी चाहिए। इसका अर्थ वही हुआ कि प्रतीति को अपनी प्रतीति स्वय की प्रतीति कर लेने पर होती है, ऐसा असम्भव है तथा इसे आत्माश्रयत्व का दोप कहते है।[1] यदि यह कहा जाय कि मिश्रित धर्म (प्रतीति का विपय से भेद) अपरोक्ष रूप से इन्द्रियो द्वारा विपयो मे प्रत्यक्ष होता है तो यह मानना पडेगा कि विपय मे उपरोक्त मिश्रण-धर्म की सत्ता प्रतीति के उत्पन्न होने के पूर्व भी थी। इस अर्थ मे यह असम्भव कल्पना होगी कि प्रतीति जिस मिश्रण-धर्म का अग है वह धर्म इस प्रकार की प्रतीति के अस्तित्व मे आने के पूर्व भी विद्यमान था। यदि प्रत्यक्षीकरण अथवा अपरोक्ष ज्ञान द्वारा प्रतीति एव उसके विपय के भेद को सिद्ध नही किया जा सकता तो कोई भी अनुमान उसे प्रमाणित नही कर सकता। क्योकि इस प्रकार के अनुमान का निम्न आकार होगा—"विपय स्वय अपनी प्रतीति से भिन्न है क्योकि वह पूर्ण रूप से विरुद्ध लक्षणो एव धर्मो से सबद्ध है।"[2] परन्तु यह किस प्रकार विदित हुआ कि

काल निश्चित रूप से ठीक ठीक तय करना कठिन होगा फिर भी यह मानना अनुचित नही होगा कि वह सोलहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे रहे। प्रकाशानद का दृष्टि-सृष्टि का मत पूर्ववर्ती वेदान्त ग्रथो को अज्ञात है एव सोलहवी शताब्दी के प्रारभिक काव्यग्रन्थ 'वेदान्त परिभाषा' को भी वह अज्ञात है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका पूर्वनम नाम सोलहवी एव सतरहवी शताब्दियो मे रहने वाले केवल अप्पय ने लिया। अत प्रकाशानद का जीवन काल सोलहवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

[1] सिद्धात मुक्तावली, १८८९ पृ० २४७-२४९।

[2] विमतो विपय स्वविपयज्ञानाद्भिद्यते तद्विरुद्धधर्माश्रयत्वात्।

—सिद्धान्त मुक्तावली, पृ० २५२।

विषय के धर्म का स्वरूप प्रतीति के धर्म से पूर्णतया भिन्न है क्योकि प्रतीति एव उसके विषय के भेद विवादास्पद है एव प्रत्यक्षीकरण अथवा किन्ही अन्य साधनो द्वारा उन्हे प्रमाणित नही किया गया। आगे चलकर प्रकाशानन्द कहते है कि अर्थापत्ति का यह तर्क असगत है कि प्रतीति मे प्रतीति से भिन्न शक्ति की स्वीकृति (जिसके द्वारा प्रतीति की स्थापना होती है) अन्तर्निहित है क्योकि अनुरूप विषय के विना किसी भी प्रकार की प्रतीति नही हो सकती। "ज्ञान अनिवार्यत विषय को अर्थापतित करता है" इस धारणा की अयुक्तता दिखाने के लिए प्रकाशानन्द यह प्रश्न उठाते हैं कि विषय द्वारा ज्ञान के निर्धारण सम्बन्धी अर्थापत्ति ज्ञान की उत्पत्ति की ओर सकेत करती है या उसकी स्थिति की ओर निर्देश करती है या कि उसकी गौण सज्ञा (सेकड्री कोग्नीशन) का अभिधान करती है ? प्रथम विकल्प के सवध मे प्रकाशानन्द कहते है कि वेदान्त के अनुसार चैतन्य नित्यसत्तारूप है, उसकी कदापि उत्पत्ति नही होती एव यदि उसकी उत्पत्ति को मान भी लिया जाय तो स्वय ज्ञान की प्रक्रिया को उसकी उत्पत्ति के लिए पर्याप्त हेतु माना जा सकता है। सम्पूर्ण अवस्थाओ मे ज्ञान की उत्पत्ति के लिए बाह्य विषय को आवश्यक कदापि नही कहा जा सकता, क्योकि यद्यपि यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि प्रत्यक्षीकरण मे विषय की उपस्थिति आवश्यक है तो भी अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान की उत्पत्ति के लिए कोई भी व्यक्ति बाह्य विषय को आवश्यक नही मानेगा—यही तथ्य इस बात को सिद्ध करता है कि ज्ञान की उत्पत्ति के लिए बाह्य विषय की उपस्थिति अनिवार्य नही है। ज्ञान की स्थिति के सवध मे यो कहा जाता है कि अपने आश्रय के लिए ज्ञान का कोई विषय ऐसा नही होता कि ज्ञान के अतिरिक्त विषय की अनुपस्थिति ज्ञान की स्थिति को असभव वना दे, और यदि ज्ञान की स्थिति को किसी मे स्थित मान लिया जाय तो ऐसी स्थिति मे वह एक ज्ञात विषय न होकर स्वय ज्ञाता ही होगा—जैसाकि न्याय दर्शन मे दृष्टिगोचर होता है, जहाँ ज्ञान को आत्मा का गुण माना गया है एव आत्मा को ज्ञान का आश्रय माना गया है। पुन ज्ञान एव उसके विषय के एक ही काल एव दिक् मे विद्यमान नही होने के कारण (यह हमारे भूत अथवा भविष्य के विषय-ज्ञान की सभावना से सिद्ध है) दोनो मे ऐसा समवाय नही हो सकता कि आत्मगत ज्ञान अथवा वोध के कारण विपय के वाह्य अस्तित्व के वारे मे किसी व्यक्ति द्वारा अनुमान करना सही होगा। अत वह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि ज्ञान एव ज्ञात विषय को भिन्न समझने का कोई प्रमाण नही है।

प्रकाशानद के मत के उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि वह अपने इस प्रतिपाद्य विपय की पुष्टि मे कोई प्रवल प्रमाण देने का प्रयत्न नही करते कि जगत् प्रपच एव उसमे निहित सपूर्ण अप्रत्यक्षीकृत विपयो की कोई सत्ता नही है अथवा समस्त विपयो का सत् उनके प्रत्यक्षीकरण मे है। वह केवल यही सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि

तार्किक दृष्टि से यह स्थापित नही किया जा सकता कि नीले की प्रतीति एव नीलापन दो विभिन्न विषय है, दूसरे शब्दो मे, यह सिद्ध नही किया जा सकता कि ज्ञात विषय एव उसका ज्ञान दोनो भिन्न है। प्रतीति को प्रत्येतव्य से भिन्न नही समझा जा सकता। सपूर्ण प्रत्यक्षीकृत जगत् ऐसे ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नही है जिसके अनुरूप कोई विषय न हो। जैसे स्वप्न विना किसी यथार्थ विषय के केवल प्रतीति मात्र है जिनका ज्ञान एव ज्ञेय के अभेद से भान होता है उसी प्रकार जगत् जाग्रत विज्ञान मात्र है।[1] इस प्रकार जगत् का कोई स्वतत्र अधिष्ठान नही है बल्कि वह केवल विज्ञान मात्र अथवा भाव मात्र है।

वेदान्त दर्शन की इस पद्धति का आश्चर्यजनक सादृश्य वसुबधु (२८०-३६० ई० प०) के उस विज्ञानवाद से है जिसका प्रतिपादन उन्होने स्वय के द्वारा रचित सक्षिप्त भाष्य सहित 'विंशतिका' एव स्थिरमति[2] के भाष्य सहित 'त्रिंशिका' मे किया है। वसुबन्धु के इस विज्ञानवाद के अनुसार अखिल प्रपच अपनी अन्तर्निहित गतिशीलता के कारण चैतन्य के मूल तत्व के विकार है एव हमारे कोई भी ज्ञान के विषय ऐसे किसी वाह्य विषय द्वारा उत्पाद्य नही है जिनका अस्तित्व हमसे वाह्य प्रतीत होकर हमारे विचारो की उत्पत्ति का कारण हो। जिस प्रकार स्वप्न मे वाह्य विषय के अभाव मे स्वप्नद्रष्टा विभिन्न स्थानो एव देशो मे विभिन्न विषयो का अनुभव करता है अथवा जिस प्रकार स्वप्न मे कई लोग इकट्ठा होकर कई प्रकार के कार्य किया करते हैं उसी प्रकार जो तथ्यात्मक एव वाह्य विषयात्मक वास्तविक जगत् प्रतीत होता है वह विना किसी विषयात्मक आधार के चैतन्य के तत्व की सृष्टि मात्र है। जो कुछ हम वस्तुपरक अथवा आत्मपरक के रूप मे जानते है वह केवल विज्ञप्ति मात्र है एव उसके अनुरूप कोई स्वतत्र सत्ता नही है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि सतो द्वारा अनुभूत शुद्ध अनिर्देश्य विज्ञान भी मिथ्या है।[3] सम्भवत एक पदार्थ की प्रतीति किसी

---

[1] प्रत्येतव्य-प्रतीत्योश्चभेद प्रामाणिक कुत
प्रतीतिमात्रमेवैतद् भाति विश्व चराचरम्।
ज्ञानज्ञेय प्रभेदेन यथा स्वप्न प्रतीयते
विज्ञानमात्रमेवैतत्तथा जाग्रच्चराचरम्॥

[2] विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, जिसमे विंशतिका एव त्रिंशिका नामक दो ग्रथो का समावेशहै। वसुबधु का काल इसी ग्रथ के प्रथम भाग मे मैंने ४२०-५०० ई० प० माना है जो सम्भवत सही नही प्रतीत होता। उसका काल २८०-३६० ई० प० है। व० भट्टाचार्य द्वारा लिखित तत्वसग्रह का प्राक्कथन देखें।

[3] यो वालै धर्माणा स्वभावो ग्राह्य-ग्राहकादि परिकल्पित, तेन कल्पितेन आत्मा तेषा नैरात्म्य न तु अनभिलप्येन आत्मना यो वुद्धाना विषय इति।
—विंशतिका भाष्य, पृ० ६।

अन्य पदार्थ की प्रतीति का कारण हो एव वह आगे चलकर पुन किसी अन्य का कारण हो, परन्तु ऐसी सब अवस्थाओ मे जहाँ प्रतीतिया अर्थवती होती हैं वहाँ उनके द्वारा सत्ता का प्रतिनिधित्व नही होता, परन्तु इसका अर्थ स्वय शुद्ध ज्ञान अथवा चैतन्य के अभाव के रूप मे नही लिया जाना चाहिए। आगे चलकर वसुबन्धु यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं कि वस्तुपरक जगत् के अस्तित्व का प्रत्यक्षात्मक अनुभव पर विश्वास नही किया जा सकता। वह कहते हैं कि दृष्टिजन्य प्रत्यक्षीकरण के उदाहरण को लेकर हम अपने आपसे पूछें कि क्या दृष्टिजन्य प्रत्यक्षीकरण के विषय पूर्ण इकाई के रूप मे एक हैं अथवा परमाणुओ के रूप मे अनेक है ? वे केवल पूर्ण इकाइया मात्र नही हो सकते क्योकि पूर्ण इकाइयो मे अवयव अन्तर्निहित हैं, उनका स्वरूप अणु के सदृश भी नही हो सकता क्योकि इस प्रकार के परमाणु का पृथक् प्रत्यक्षीकरण नही हो सकता, उनका स्वरूप परमाणु सहति के रूप मे भी नही है क्योकि परमाणुओ का अस्तित्व सिद्ध नही हो सकता।[1] क्योकि यदि छः परमाणुओ का समुच्चय छ· ओर से हो तो उसका अर्थ है कि परमाणुओ के खड है, अब यदि छ परमाणु एक दूसरे से एक ही बिन्दु पर सहत होते हैं तो इसका अर्थ यह होगा कि सहत समूह का आकार एक परमाणु के आकार से बडा नही होगा अत वह अदृश्य होगा। पुन यदि प्रत्येतव्य एव प्रत्यक्षीकरण के विषय केवल पूर्ण ही होते तो अनुक्रम एव तारतम्य अवर्णनीय होता तथा पृथक् एव असम्बद्ध पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण दुर्ज्ञेय रहता। अत प्रत्यक्षीकरण द्वारा उनकी वस्तुपरक सत्ता का विश्वास दिलाने पर भी उनका वास्तविक विषयात्मक अस्तित्व नही है।

लोग वितथ विकल्पाभ्यास-वासना रूपी निद्रा द्वारा प्रपचात्मक जगत् के स्वप्न का अनुभव कर रहे हैं एव अपने स्वप्न मे ही वे विषयात्मक जगत् की सृष्टि करते हैं, जब वे लोकोत्तर निर्विकल्प ज्ञान के लाभ से प्रबुद्ध होते है तभी उन्हे जगत्-रचना नानारूपात्मक प्रतीतियो की स्वप्न-सृष्टि की तरह मिथ्या लगती है। इस प्रकार के मत मे विषयात्मक जड जगत् का कोई अस्तित्व नही है एव हमारे ज्ञान वाह्य विषयो द्वारा प्रभावित नही होते, तब हमारे मन शुभ उपदेशो एव सम्पर्क से कैसे प्रभावित होते हैं,[2] एव किसी भी वास्तविक भौतिक शरीर की अनुपस्थिति में किस प्रकार एक व्यक्ति दूसरे को हत्या कर सकता है ? वसुबन्धु इसकी व्याख्या इस सिद्धान्त द्वारा करते है कि एक व्यक्ति की विचार तरगें कभी-कभी दूसरे व्यक्ति की विचार-तरगो को निर्धारित करती

---

[1] नापि ते महता विषयीभवन्ति, यस्मात् परमाणुरेकम् द्रव्य न सिद्धयति।
—विंशतिका पर टीका, पृ० ७।

[2] पर-विज्ञप्ति-विशेषाधिपत्यात् परेषा जीवतेन्द्रिय-विरोधिनी का चित् विक्रिया उत्पद्यते यया सभाग-सतति-विच्छेदाख्य मरण भवति। —विंशति पर टीका, पृ० १०।

है। अत आघातविशेप की विज्ञप्ति दूसरे की जीवितेन्द्रिय के विरोध द्वारा ऐसा विकार उत्पन्न कर सकती है कि उससे विचार-प्रक्रिया का सातत्य विच्छिन्न हो जाय, इसे ही मरण कहते है। इसी प्रकार एक व्यक्ति के शुभ विचार दूसरे व्यक्ति के विचारो को शुभ कार्य के लिए प्रभावित करते है।

वसुबन्धु की त्रिंशिका एव स्थिरमति द्वारा लिखित उसकी टीका मे इस विज्ञानवाद को अधिक स्पष्टता से समझाया गया है। कहा गया है कि आत्मा (अथवा ज्ञाता) एव आत्मपरक विचारो के रूप मे अथवा बाह्य जगत् मे विद्यमान विपयो के रूप मे इसके ज्ञेय पदार्थ विज्ञान-परिणाम मात्र हैं। विज्ञान-परिणाम का अर्थ कारण-क्षण के निरोध के साथ-साथ कारण-क्षण से विलक्षण कार्य का आत्मलाभ है।[1] विज्ञान मे न तो बाह्यत्व है और न आत्मत्व, अपितु ये धर्म और आत्मपरकता तो उसमे परिकल्पित है। समस्त दोपपूर्ण परिकल्पनाओ मे एक ऐसी सत्ता का अस्तित्व आवश्यक है जिसमे किसी अन्य वस्तु का भ्रम हो। केवल निराधार शून्य मे दोष-पूर्ण परिकल्पना असम्भव है, अत यह मानना ही पडेगा कि ये आत्मा इत्यादि विविध प्रकार के धर्म दोपपूर्ण परिकल्पनाए विज्ञान पर आधारित है।[2] वसुबन्धु एव स्थिरमति दोनो ही उन अति-विज्ञानवादियो के मत का खडन करते हैं जो सवृति के आधार पर विज्ञान की सत्ता को भी अस्वीकार करते हैं।[3] वसुबन्धु के मन मे विज्ञप्ति-मात्रता ही परम सत्य है। यह विज्ञप्तिमात्रता स्थाई सत्ता है जो अपनी स्वाभाविक शक्ति द्वारा अनिर्णय आतरिक विपाक के रूप मे तीन प्रकार के परिणामो मे परिणत होती है जो आगे चलकर पुन मनन एव विषय-विज्ञप्ति के रूप मे परिणत होती है। द्रष्टा-दृश्य के द्वैत मे ज्ञाता एव ज्ञेय के रूप मे समस्त प्रपचो अथवा धर्मो का ज्ञान विपाक, मनन एव विपय-विज्ञप्ति, इन तीनो परिणामो के कारण होता है। इन सब विकारो के वशीभूत यह विज्ञप्ति-मात्र अपने विकृत परिणामो मे 'आलय-विज्ञान' कहलाता है क्योकि यह सम्पूर्ण अनुभवो का भण्डार है। विज्ञप्ति का चरम

[1] कारण-क्षण-निरोध-सम-काल कारण-क्षण-विलक्षण-कार्यस्य आत्मलाभ परिणाम।
—त्रिंशिका पर स्थिरमति की टीका, पृ० १६।

[2] उपचारस्य च निराधारस्यासम्भवादवश्य विज्ञान-परिणामो वस्तुतोऽस्त्युपगन्तव्यो यत्र आत्म धर्मोऽपचार प्रवतते। त्रिशिका पर स्थिरमति की टीका, पृ० १६, शकर द्वारा लिखित गौडपाद-कारिका-टीका से तुलना कीजिए, 'न हि निरास्पदा मृगतृष्णिकादय।

[3] इस प्रकार बौद्ध विज्ञानवाद पर अत्यत महत्वपूर्ण ग्रथ 'लकावतार' आलय विज्ञान के वास्तविक परिणाम का निषेध करता है। १९२३ मे ओटनी विश्वविद्यालय प्रेस क्योटो द्वारा मुद्रित 'लकावतार', पृ० ४६ देखिए।

तत्व अक्षय एव नित्यत्व के कारण नित्य माना जाता है जिसका फल सुख है, क्योकि जो अनित्य है, वह दु ख है एव यह नित्य होने के कारण सुख है।[1] जब बुद्ध का मन इस विज्ञप्ति मात्र मे प्रतिष्ठित हो जाता है तब ग्राह्य-ग्राहकानुराय के द्वैत की प्रवृत्ति का निरोध हो जाता है तथा शुद्ध निर्विकल्प एव लोकोत्तर विज्ञप्ति का उदय होता है। यह वह स्थिति है जहाँ परम विज्ञप्ति-मात्रता अपने परिणामो से लौट आती है एव स्वय मे स्थित रहती है। यह सम्पूर्ण क्लेश अथवा दुष्प्रवृत्तियो के स्पर्श से मुक्त हो जाती है अत इसे अनास्रव कहते हैं। यह अविचार्य एव अनिर्देश्य है क्योकि एक ओर यह आवरण-रहित होने के कारण प्रत्यात्म-वेद्य एव सर्वज्ञाता है तथा दूसरी ओर यह स्वय मे अलौकिक है।[2] यह विज्ञप्ति-मात्रता सर्व-बीज का धारक कहलाती है एव जब इसके प्रथम निर्विकल्प तथा अनिर्वचनीय परिणाम मानस-प्रक्रियाए एव उसके परिणामस्वरूप इन्द्रिय प्रत्यक्षीकरण को उत्पन्न करते है तब ये एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया एव प्रतिक्रिया करते है तथा इस प्रकार शृ खलाए बार-बार उत्पन्न होती है और एक दूसरे का निर्धारण करती है। ये परिणाम सागर के उन तरगो के समान है जहाँ एक तरग दूसरी तरगो का कारण और फल दोनो ही है।[3]

इस मत के अनुसार विज्ञान को सत् द्रव्य समझा जाता है एव उसके परिणामो को भी सत् ही माना गया है, ये परिणाम ही आत्मा और धर्मोपचार के रूप मे प्रकाशित होते हैं।[4] एक प्रकार से विपाक सज्ञक प्रथम प्रकार के परिणाम अन्य उन दो परिणामो के अधिष्ठान हैं जिनमे निर्विकल्प द्रव्य वर्तमान है और जिसके द्वारा अन्य दो परिणाम प्रकाशित होते हैं, परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उपरोक्त तीन प्रकार के परिणाम पुन परस्पर एक दूसरे का निर्धारण करते है, विपाक परिणामो मे ज्ञाताओ के रूप मे आत्माओ के विकल्प-वासनाओ के रूप, शब्द इत्यादि विकल्प-वासनाओ के, इन द्विविध विकल्प-वासनाओ के मूल आश्रय के तथा स्थान विज्ञप्ति

---

[1] ध्रुवो नित्यत्वादक्षयतया, सुखो नित्यत्वादेव यदनित्यम् तद्दु ख अय च नित्य इति अस्मात् सुख ।
—त्रिशिका पर स्थिरमति की टीका, पृ० ४४।

[2] आलय-विज्ञान इस परम विज्ञप्ति मात्रता की अवस्था मे सम्पूर्ण गुणो का धातु कहलाता है एव अपने सम्पूर्ण आवरणो से मुक्त धर्मों का परम स्थान होने के कारण यह बुद्ध का धर्मकाय कहलाता है (महा-मुनि. भूमि-पारमितादिभावनया क्लेश-ज्ञेयावरण-प्रहाणात् सर्वधर्म-विमुत्व-लाभतश्चधर्म-काय इत्युच्यते)।
—त्रिशिका पर स्थिरमति की टीका, पृ० ४४।

[3] सच्च वर्त्तते स्रोतसौघवत्। —त्रिशिका पर स्थिरमति की टीका, पृ० २१।

[4] अन्यस्य विज्ञानपरिणामो वस्तुतोऽस्ति, उपगन्तव्योयत्रात्मधर्मोपचार प्रवर्त्तते।
—त्रिशिका पर स्थिरमति की टीका।

अथवा भाजन-लोक-सन्निवेश-विज्ञप्ति के बीज होते है। वे एक अन्य प्रकार से इन्द्रिय विकारो से भी सबद्ध हैं जिनमे इन्द्रिय, विपय और ज्ञान का त्रिक (पुन. इन त्रिको मे से प्रत्येक त्रिक अन्य दो सघटको के प्रभावी रूप के अनुरूप एक विशिष्ट क्रियात्मक रूप से व्यक्तिश आनुरूप्य सबध से सबद्ध है) मनस्कार, सज्ञा, चेतना और वेदना होते है।[1] विपाक परिणाम अपरिच्छिन्नालम्बनाकार है और इनमे राग द्वेप इत्यादि की कार्यरूपा सवेगात्मक अवस्थाए नही होती हैं जो वास्तविक सुखमय अथवा दु खमय वेदनाओ से युक्त हैं। अत विपाक परिणामो से हम अविकल्प ग्राह्य-ग्राहकता की चेतना एव उनकी प्रक्रियाओ की समस्त सभाव्यताओ सहित मन एव उसके मुख्य कार्यों की मूलभूत धारणाओ को प्राप्त करते है। इनमे ही द्रष्टा के रूप मे आत्माओ की सृजनात्मक प्रवृत्तिया, शब्दरूप आदि की विपयगत सृजनात्मक प्रवृत्तिया इन्द्रिय सामर्थ्य इत्यादि, मनस्कार, वेदना, सज्ञा, चेतना और इन्द्रिय-व्यापार है। परन्तु इनमे किसी का भी निश्चित एव वास्तविक आकार नही है। मनन सज्ञक द्वितीय प्रकार के परिणाम नैतिक और अनैतिक सवेगो के वास्तविक विकास को प्रस्तुत करते हैं। इन्ही परिणामो मे मानसिक तत्वो के अविद्यापूर्ण सदर्भो के द्वारा मन आत्मा के रूप मे गतिशील होता है और आत्मा के विपय मे इस अज्ञता के कारण आत्म-स्नेह और आत्ममान का उदय होता है। पुन ये सदर्भ इन्द्रिय-व्यापार, वेदना, मनस्कार, चेतना एव सज्ञा की विश्वजनीन पचविध जातियो से सम्बद्ध हैं। तत्पश्चात् परिणामो की तीसरी श्रेणी आती है जो ठोस इन्द्रिय प्रत्यक्षो की विशेप वृत्तियो एव विभिन्न प्रकार की बौद्धिक (चैतन्य) अवस्थाओ तथा नैतिक और अनैतिक मानसिक अवस्थाओ, यथा विभिन्न प्रकार के इन्द्रिय-अनुभवो की इच्छा (छद) प्रत्यक्ष एव तर्क आदि द्वारा दृढता से स्थापित निष्कर्पो मे अधिमोक्ष, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, श्रद्धा ही आदि के साथ-साथ पचविध विश्वजनीन जातियो से सम्बद्ध है। इन तीनो प्रकार के परिणामो को 'आलयविज्ञान' की सज्ञा दी गई है, परन्तु इनके नीचे ग्राहक आधार के रूप मे शाश्वत और अविकारी विज्ञप्तिमात्रता विद्यमान है।

---

[1] यहा वेदना को दु खमय, सुखमय तथा ऐसी मूल इकाई के रूप मे माना गया है जो न तो दु खमय है और न सुखमय ही, अपितु स्वय एक वेदना है (वेदना अनुभवस्वभावा सा पुनर्विपयस्य आह्लादक परितापक तदुभयकर विविक्त-स्वरूप-साक्षात्करणभेदात्)। स्वय इस वेदना का दु ख और सुख की अन्य दो वेदनाओ के साथ विद्यमान अदु ख सुख की वेदना मे भेद करना होगा। यहा विपाक परिणामो को वेदना की मूलभूत सत्ता का कारण माना गया है और इसीलिए इसको सुख अथवा दु ख से अभिन्न माना गया है तथा उसे उपेक्षा और अव्याकृत वेदना की सज्ञा दी गई है। शुभाशुभ को धर्माधर्म के सम्भाव्य एव वास्तविक निर्धारको के रूप मे नैतिक और अनैतिक से पृथक् समझना चाहिए।

यहाँ यह उल्लेख करना उचित होगा कि इस सम्प्रदाय के अनुसार शाश्वत और अविकारी विज्ञप्तिमात्रता अपनी आन्तरिक गतिशीलता के कारण ऊपरी स्तर के तीन भिन्न प्रकार के परिवर्तनो को प्राप्त होती है जिनकी तुलना सतत परिवर्तमान धाराओ और तरगो से की गई है। इनमे से प्रथम से मूलभूत विकार होता है जो ग्राह्य-ग्राहक की समस्त सभावनाओ का निर्धारण करता है, दूसरा अनात्म-तत्वो, आत्म-स्नेह एव आत्ममान मे आत्मत्व के मिथ्या अध्यारोप एव मूल अविद्या के कारण बौद्धिक प्रक्रियाओ को जन्म देता है और तीसरे मे समस्त मानसिक एव मानसेतर मूर्त-रूप तथ्य होते है। मन, मानसिक प्रक्रियाओ और मानसेतर सम्बधो को सभव करने वाली मूल जातियो का प्रादुर्भाव परिणामो की प्रथमावस्था मे होता है, ये परिणामो की अन्यत्र दो अवस्थाओ मे विद्यमान रहकर अन्य परिणामो की जातियो के साथ अपने सम्पर्क के दौरान अधिकाधिक जटिल एव मूर्त हो जाती हैं। प्रतीति अवस्था का विश्लेषण करते हुए वसुबन्धु इस मत से सहमत नही हैं कि हमारी 'नीलवर्ण' की प्रतीति का विकारमात्र नही है अपितु उनके मत मे किसी भी प्रतीति मे सदा दो सबध निहित होते है, कर्ता अथवा ज्ञाता के साथ सबध (ग्राहक-ग्रह) और ज्ञान विषय से सबध (ग्राह्य-ग्रह)। नीलवर्ण की प्रतीति को सभव करने के लिए विषय रूप मे 'नीलवर्ण का होना अत्यावश्यक है, क्योकि प्रतीति नीलवर्ण न होकर हमे नीलवर्ण की प्रतीति होती है। परन्तु वसुबन्धु का तर्क है कि यह मनोवैज्ञानिक आवश्यकता अविकल्प विचार के आवश्यक कार्य के रूप मे वस्तुपरकता का प्रस्तार मात्र है और इससे यह कदापि निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि इसका अर्थ इससे बाह्य-विद्यमान और बाह्य कारको के रूप मे प्रतीति को उत्पन्न करने वाले सत्तामय बाह्य विषय है। मनोवैज्ञानिक वस्तुपरकता का अर्थ सत्तामूलक वस्तुपरकता नही है। ऐसा तर्क किया जाता है कि यदि इन्द्रिय-ज्ञान के उत्पादन मे वस्तुपरक सत्ताओ को स्वीकार कर लिया जाय तो किसी भी अवस्था मे इन्द्रिय ज्ञान को वस्तुपरक सत्ताओ के कार्य के बिना ही उत्पन्न नही माना जा सके। परन्तु स्वप्नो और भ्रान्तियो मे सदा-सर्वत्र इस प्रकार का इन्द्रिय-ज्ञान इस प्रकार की वस्तुपरक सत्ताओ की कारणभूत क्रिया के बिना उत्पन्न माना जाता है, अतः इन्द्रिय ज्ञान के फलित होने के लिए वस्तुपरक सत्ताओ की किसी भी कारणभूत सत्ता को स्वीकार नही किया जा सकता।

ब्रह्मसूत्र II, II २८ के अपने भाष्य मे बौद्ध विज्ञानवाद का खडन करने का प्रयत्न करते हुए शकर विज्ञानवाद की उस शाखा का उल्लेख करते हुए प्रतीत होते हैं जिसका शान्त रक्षित ने 'तत्व सग्रह' मे वर्णन किया है तथा कमलशील ने जिस पर टीका की है परन्तु जो त्रिंशिका मे दिए हुए वसुबन्धु के वर्णन से अत्यधिक भिन्न है। अवयव रहित अणुओ द्वारा निर्मित बाह्य-जगत् की असम्भावना के विरुद्ध विध्यात्मक युक्तियाँ एक सी हैं।[1] परन्तु विज्ञानवादियो की ओर से पुन यह युक्ति दी जाती है

---

[1] ब्रह्मसूत्र II, II २८ पर भामती टीका मे नई वाचस्पति कुछ नई बातो का उल्लेख

कि स्तम्भ, भित्ति अथवा घट या वस्त्र के प्रतीति-ज्ञान का तात्पर्य यह है कि ये व्यक्तिगत प्रतीतियाँ स्वरूपत परस्पर एक दूसरे से भिन्न है, जिसके परिणामस्वरूप विषयो का स्वरूप उन्ही विशिष्ट प्रत्ययो का होता है, जिनके द्वारा हमे उनका ज्ञान होता है एव ऐसी अवस्था मे वाह्य विपयात्मक जगत् की कल्पना अनावश्यक हो जाती है। इसके अतिरिक्त विपय एव विषय प्रत्यय को एक ही क्षरण मे ग्रहरण करने का तथ्य यह सिद्ध करता है कि विषय एव प्रत्यय दोनो उसी प्रकार एकरूप होते है, जैसे चन्द्रमा के साथ उसी समय मे प्रत्यक्षीकृत द्वितीय मिथ्या चद्र एक रूप हो।[1]

उन दोनो मे से एक का प्रत्यक्षीकरण न होने की अवस्था मे दूसरे का भी प्रत्यक्षीकरण नही होता। यदि वे स्वरूपत अलग-अलग एव भिन्न है तो उन दोनो मे इस प्रकार के एक से एव अपरिवर्तनीय सवध होने का क्या कारण है ? हमारे प्रत्यय-वैविध्य का कारण उन बाह्य विपयो की विविधता नही है जिन्हे साधारणतया उनका उत्पादक माना जाता है वल्कि उनका कारण मूल प्रवृत्यात्मक अवचेतन आधारो (वासना) की अनादि अनेकता है जो निद्रा के समय स्वप्नो की उत्पत्ति के समान ही जाग्रतावस्था मे हमारे सब प्रत्ययो को उत्पन्न करती है, जिस प्रकार स्वप्न को उत्पन्न करने के लिए वाह्य विपयो की अपेक्षा नही है, उसी प्रकार विना किसी वाह्य वास्तविक विषय के सव प्रत्यय उत्पन्न होते हैं क्योकि प्रत्ययो के रूप मे स्वप्न प्रत्यय एव जाग्रत प्रत्यय मे कोई भेद नही है। परन्तु दोनो अवस्थाओ मे वासना रहती है जिसके विना जाग्रतावस्था अथवा स्वप्नावस्था मे प्रत्यय उत्पन्न नही हो सकते, अत प्रत्ययो के उत्पन्न होने की ये सव अवस्थाएँ उनके सर्वदा उपस्थित होने के कारण सव प्रत्ययो के कारण है।[2]

करते हैं उनके अनुसार रूप-प्रत्यक्षो मे अनुभूत देशीय-प्रस्तार अवयव रहित अणुओ के प्रत्यक्षीकरण के कारण नही है। न यह कहा जा सकता है कि देशीय-प्रस्तार मे उत्पन्न वर्ण व्यक्तिगत अणु मे देशीय-प्रस्तार का प्रत्यय उत्पन्न करते है।

[1] यह उपमा वाचस्पति द्वारा सभवत दिङ्नाग के उद्धरण से दी गई है—सहोपलम्भ-नियमादभेदो नील-तद्धयो भेदश्च भ्रान्ति विज्ञानै दृश्येतेन्दाविवाद्वये। एक ही समय मे होने वाले नील एव नील के ज्ञान मे कोई भेद नही है, क्योकि एक साथ घटित होने वाली कोई दो घटनाए एकरूप होती है। जैसे भ्रम-ज्ञान मे एक चन्द्र दो प्रतीत होते है उसी प्रकार प्रत्यय एव विपय के ज्ञान का भेद भी भ्रमात्मक होता है। सहोपलम्भ नियम का यह तर्क वसुवन्धु की विंशतिका एव त्रिंशिका मे अनुपस्थित है।

[2] इस सम्बन्ध मे वाचस्पति वाह्य विपयात्मक जगत् के अस्तित्व एव उसके अनुरूप प्रत्ययो के कारणभूत सौत्रान्तिको के अनुमान का सक्षेप करते है। सौत्रान्तिको द्वारा दिया गया तर्क निम्न है

उपरोक्त स्थिति का खडन करते हुए शकर कहते हैं कि इस प्रकार का मत अमान्य है क्योकि यह विषय एव विषयी को विज्ञान से भिन्न बताने वाले हमारे अनुभव का विरोध करता है। हमे प्रत्यक्षीकृत बाह्य विषयो के इन्द्रियो के साथ सन्निकर्ष की अपरोक्ष अवगति होती है तथा अवगति एव ज्ञान-विषय अभिन्न नही हैं। हमारा ज्ञान स्वय यह बताता है कि वह ज्ञेय से भिन्न है। स्तम्भ-ज्ञान और स्तम्भ एक नही है बल्कि स्तम्भ तो केवल स्तम्भ ज्ञान का विषय है। बाह्य विषयो के निषेध मे बौद्ध अध्यात्मवादियो का कथन है कि जो केवल अन्तर्ज्ञेय है उसका बहिर्वद् अवभास होता है।[1] शकर इस पर इस प्रकार की युक्ति देते हैं।

यदि बाह्यत्व निरपेक्ष रूप से असत् है तो किस प्रकार कोई इन्द्रिय-ज्ञान बाह्यरूप मे भासित हो सकता है ? विष्णुमित्र वध्यापुत्र नही हो सकता। पुन प्रत्यय एव उसके विषय का एक ही आकार होने के तथ्य का अर्थ यह नही है कि विषय की कोई सत्ता ही नही, बल्कि यदि विषय का अस्तित्व नही होता तो प्रत्यय का आकार तदनुरूप विषय का ही कैसे होता ? पुन, यह उक्ति मिथ्या है कि कोई दो वस्तुए एकरूप होती है, क्योकि यदि विषय एव उसके ज्ञान को युगपत्-ग्रहण किया जाय तो एक का ग्रहण दूसरे के साथ-साथ होने का तथ्य ही यह बताता है कि दोनो एकरूप नही हो सकते। इसके अतिरिक्त हमारे नील, पीत, घट अथवा भित्ति के समस्त ज्ञान मे ज्ञेय विषयो के विशेषक अथवा निरूपक तत्वो मे भेद होता है, ज्ञान स्वय तो एकसा ही रहता है।

जब जब पूर्वकरण के अविकारी रहते हुए कोई नया कार्य फलित हो तो उस नए कार्य का कोई नया कारण अवश्य होगा। अब, यद्यपि यह स्वीकार्य है कि आन्तरिक चेतना के प्रवहमान क्रम मे प्रत्येक क्षण अगले क्षण को उत्पन्न करता है और इस उत्पादक शक्ति को वासना कहते हैं। (तत्प्रवृत्तिविज्ञानजननशक्तिर्वासना) एव स्वय को कार्यरूप मे फलित करने की उसकी प्रवृत्ति को 'परिपाक' कहते हैं। फिर भी यह समझना कठिन है कि प्रत्येक क्षण मे अन्य क्षणो से सर्वथा भिन्न शक्ति कैसे हो सकती है ? क्योकि क्षणो के स्वरूप मे विकार लाने वाली अन्य कोई वस्तु नही होने के कारण प्रत्येक क्षण ठीक उसी प्रकार से एक क्षण है, जिस प्रकार कोई अन्य क्षण।

[1] शकर का कथन है–यदन्तर-ज्ञेय-रूप तद् बहिर्वदवभासते। यह दिङ्नाग से उद्धृत किया प्रतीत होता है। दिङ्नाग का श्लोक जैसाकि कमल शील ने तत्व सग्रह पर लिखे गए अपने भाष्य मे उद्धृत किया है (२०८२-२०८४) इस प्रकार है–

यदन्तर ज्ञेयरूप तु बहिर्वदवभासते,
सोऽर्थो विज्ञानरूपत्वात् तत् प्रत्ययतयापि च।

उपरोक्त श्लोक से स्पष्ट है कि जिस समय शकर ने बौद्ध विज्ञानवाद का खडन करने का प्रयत्न किया उस समय उनके मनस् मे दिङ्नाग थे।

जिस प्रकार शुभ्रत्व एव कृष्णत्व किसी गाय का गुण हो सकता है ठीक उसी प्रकार ज्ञेय के विषय भी ज्ञान मे आरोपित वाह्य गुणो के सदृश होते हैं, अतः किसी व्यक्ति के नील, रक्त अथवा पीत को देखने का यह अर्थ है कि प्रत्यक्षीकरण का भेद विषय-भेद के कारण होता है–स्वय विज्ञान के कारण कोई भेद नही। अत ज्ञान होने के कारण स्वभावत. विषयो से भिन्न हैं जो अनेक है, विषयो की अनेकता के कारण वे उस ज्ञान से भिन्न हैं जो एक है। विज्ञान एक है एव वह विषयो से भिन्न है जो अनेक है।[1] इसके अतिरिक्त जगत् प्रपच की स्वप्न के साम्य से व्याख्या करने का तर्क भी अयुक्त है, क्योकि सासारिक विषयो एव स्वप्न के हमारे ज्ञान मे महान् भेद है–जाग्रत अनुभव द्वारा स्वप्नानुभवो का वाघ होता है परन्तु जाग्रत अनुभवो का कदापि वाघ नही होता।

स्वय शकर के कथनो मे यहाँ परस्पर विरोधी वातो का सकेत मिलता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि उन्होने गौडपाद-कारिका पर लिखे गए अपने भाष्य मे स्वप्नानुभव के विषयो की अविद्यमानता के सादृश्य पर जागदानुभव के विषयो के अनस्तित्व पर अत्यत शक्तिशाली प्रमाण दिया था। शान्तरक्षित (७०५ ई० प०) एव कमलशील (७२८ ई० पू०) शाकर मत के समान ही इस सिद्धान्त अर्थात् चैतन्य एक एव अविकारी है तथा सब विषय परिवर्तनशील है, परन्तु विषय-परिवर्तन का अर्थ स्वय चैतन्य मे किसी प्रकार का विकार नही होता–का खडन करते हुए यह प्रमाण देते हैं कि यदि ऐसा होता तो विषयो को प्रकट करने वाले चैतन्य के स्थाई एव अविकारी होने के कारण वर्ण, ध्वनि इत्यादि विभिन्न प्रकार के इन्द्रिय-गम्य विषयो का ज्ञान एक ही तथा उसी समय होता।[2] अतः कमलशील के मतानुसार चैतन्य अविकारी एव एक नही है, अपितु इन्द्रियगम्य विषयो के केवल विकारी प्रत्यय होते हैं एव प्रत्येक प्रत्यय दूसरे प्रत्यय से भिन्न होता है जो उसका यथासमय अनुसरण करता है। चैतन्य को एक वताने तथा केवल विषयो की ही अनेकता वताने का शाकर-मत स्वच्छद अपकर्षण के कारण पार्थक्य पर आधारित है। यदि गौडपाद-कारिका पर लिखे गए भाष्य को शकर की कृति माना जाय तो यह कहा जा सकता है कि जव शकर ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिख रहे थे तव उनके मत मे कुछ परिवर्तन हो चुका था, क्योकि गौडपाद-कारिका के भाष्य मे वह वार-वार इस दृष्टिकोण पर वल देते हुए

---

[1] द्वाभ्या च भेद एकस्य सिद्धो भवति एकस्माच्च द्वयो, तस्मादर्थज्ञानयोर्भेद ।
शाकर-भाष्य २-२-२६ निर्णयसागर प्रेस वम्वई, १९०४।

[2] तद्यदि नित्यैक-ज्ञान-प्रतिभासात्मिका अमी शब्दादय.।

–तत्व सग्रह श्लोक ३३१ पर कमलशील का भाष्य।

(Gaekwal's Oriental Series 1926)

प्रतीत होते हैं कि जाग्रतावस्था के प्रत्यक्षीकृत विषय स्वप्नानुभव के विषयो के सदृश असत् एव मिथ्या हैं। उनका यथार्थवाद इसी निश्चयात्मक कथन मे है कि जगत् यथार्थ ब्रह्म पर मिथ्या भ्रमात्मक आरोपण का परिणाम है क्योकि मृगतृष्णा आदि भ्रमो के लिए किसी अधिष्ठान की आवश्यकता होनी चाहिए जिन पर वे आरोपित किए जाए। परन्तु ब्रह्मसूत्र पर लिखे गए भाष्य मे इन्द्रिय-विषयात्मक जगत् का एक ऐसे प्रकार का अस्तित्व है जो व्यक्ति के विचार के परे है। वाचस्पति ने अपनी भामती टीका मे शाकर सिद्धान्त को बौद्ध विज्ञानवाद से भिन्न बताते हुए कहा है कि वेदान्त के मतानुसार 'नील' नील के आकार का प्रत्यय नही है किन्तु 'नील' केवल अनिर्वचनीय एव अवर्णनीय विषय है।[1]

विंशतिका एव त्रिंशिका में प्रतिपादित वसुबधु के दृष्टिकोण की विवेचना करते हुए यह बताया जा चुका है कि वसुबधु ने प्रत्येतव्य विषयो की विषयता का खडन करने का प्रयत्न नही किया परन्तु उसने इस धारणा का खडन किया कि प्रत्येतव्य विषयो का अस्तित्व प्रत्यय के बाहर है एव प्रतीति के विभिन्न प्रकारो का उत्पादक है। उसका तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय-विषय का निर्माण विचार-सामग्री द्वारा होता है एव यद्यपि वे प्रतीति के मनोवैज्ञानिक विषय हैं तथापि उनका अस्तित्व विचार के बाहर नही है तथा वे उनके बारे मे हमारे विचारो को निश्चित नही करते है। परन्तु इन्द्रिय विषय एव प्रत्यय, दोनो विचार के किसी ऐसे आतरिक नियम द्वारा निश्चित किए जाते है जो मनोविकृति के उत्पत्ति एव विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया के स्वरूप एव विधियो को निश्चित करता है एव जो उसकी ज्ञानात्मक स्थिति को ही नही बल्कि उसकी नैतिक एव भावात्मक स्थिति को भी निश्चित करता है। शकर की उन युक्तियो का वसुबधु के विरुद्ध कोई प्रभाव नही पडता जिनमे वह विज्ञान के मनोवैज्ञानिक द्वैत एव उसके विषय पर अधिक बल देते हैं क्योकि वसुबन्धु स्वय उन्हे स्वीकार करते है एव कहते है कि नील के प्रत्यय से नील भिन्न है, नील आलम्बन है एव नील का प्रत्यय प्रतीति है। उनके अनुसार विचार स्वय विषयी एव विषय मे अपने-आपको विभक्त करता है, अत प्रत्यय अपने आपको विषयी-विषय विज्ञान मे अभिव्यक्त करता है। स्वय प्रत्यय की ही तरह विषयी एव विषय विचार की ही उत्पत्ति है, नील को विचार मानने से उसका तात्पर्य यह नही है कि वह नील की विषयता का निषेध करते हैं अथवा यह कि नील का एकमेव अस्तित्व नील प्रत्यय ही है। नील के प्रत्यय के पूर्व प्रत्यक्ष रूप मे नील वस्तुपरक रूप से ठीक वैसे ही वर्तमान रहता है जैसे उसका प्रत्यक्षीकरण करने वाला कोई विषयिन् विद्यमान हो। परन्तु इस विषयता का तात्पर्य यह नही है कि नील कही विचार के बाहर किसी बाह्य स्थान मे अवस्थित है, क्योकि

---

[1] नहि ब्रह्मवादिनो नीलाद्याकारा वृत्तिम् अभ्युपगच्छन्ति, किन्तु अनिर्वचनीय नीलादीति। भामती, २-२-२८।

स्थान-निर्धारण भी विचार-फल ही है, अतः दृश्यमान इन्द्रिय विषयों को बाह्य जगत् का गुण कहने मे कोई अर्थ नही है। इन्द्रिय-विषय ज्ञान के विषय है। परन्तु वे उससे सम्बद्ध ज्ञान के उद्दीपक नहीं है। शकर इस प्रकार के मत के खडन मे कुछ भी कहते हुए प्रतीत नही होते। गौडपाद-कारिका पर लिखे गए अपने भाष्य मे शाकर की स्थिति वही है जो दिडनाग की है तथा जिसका उन्होंने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य मे खडन करने का इतना प्रयत्न किया है। इस प्रकार वह नागार्जुन के उस मत के विरुद्ध हैं जिनके अनुसार कोई ऐसी सारभूत सत्ता होनी चाहिए जिस पर भ्रमात्मक आरोपण हो सके। परन्तु ब्रह्मसूत्र भाष्य मे उन्होने हमारी चेतना को भासित होने वाले प्रपचात्मक जगत् को वस्तुपरक एव स्वतत्र रूप से उस चेतना के आगे विद्यमान माना है तथा केवल उसके पारमार्थिक स्वरूप को अनिर्वचनीय माना है। शाकर शाखा के अधिकाश उत्तरकालीन वेदान्ताचार्यो ने विज्ञान से विषयो की भिन्नता एव उनकी स्वतत्र सत्ता तथा क्रियाशीलता को स्वीकार किया है एव यह सुविदित है कि इन्द्रिय प्रत्यक्षीकरण मे विशिष्ट इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्षीकरण के विषय के साथ मनस्-सन्निकर्ष आवश्यक माना जाता है।[1]

अपने पचपादिकाविवरण मे प्रकाशात्मन् (१२०० ई० पू०) इस विषय को प्रस्तुत करते हुए कहते है कि महायानियो एव वेदान्तियो मे यही महान् अतर है कि महायानियो के अनुसार क्षणिक प्रत्ययों से भिन्न विषयो की न तो कोई अलग सत्ता है और न कोई पूर्ण करने के लिए स्वतत्र हेतु अथवा क्रिया ही है जबकि वेदान्तियो के अनुसार यद्यपि तात्विक रूप से विषयों का अद्वितीय शुद्ध चैतन्य से अभेद है फिर भी वे स्वतत्र रूप से अपनी अर्थक्रिया मे समर्थ है एव उनकी स्वतत्र स्थाई तथा अबाधित सत्ता है। पद्मपाद एव प्रकाशात्मन् दोनो ही यह तर्क प्रस्तुत करते है कि विषयो के निरतर विकार मे विज्ञान एक सा रहने के कारण अनुवृत्त एव व्यावृत्त मे अभेद नही माना जा सकता। अत विषय को प्रत्यय के विकार के रूप मे नही लिया जा सकता।[2] यह सुझाव दिया जाता है कि बौद्ध विज्ञानवादियो के अनुसार यदि विषय (जैसे नील) ज्ञान से भिन्न है तो उसकी अभिव्यक्ति उसमे (विज्ञान मे) सभव नही एव यदि नील की अभिव्यक्ति विज्ञान मे हो सकती हो तो उस समय जगत् की अन्य सभी वस्तुए भी अभिव्यक्त हो जाएगी। क्योकि नील के साथ ऐसा कोई विशिष्ट सम्बन्ध नही है कि उस समय केवल नील ही चैतन्य मे प्रकट हो। यदि यह कहा जाय कि नील के ज्ञान का उत्पादक नील है तो फिर दृश्येन्द्रिय का कार्य क्या होगा ? अत बौद्धो के अनुसार प्रत्यय एव विषय के स्वाभाविक एव असाधारण अभेद सम्बन्ध

[1] द्रष्टव्य वेदान्त परिभाषा, अध्याय १, श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९११।

[2] अनुवृत्तस्य व्यावृत्तान्न भेदोऽनुवृत्तत्वादाकाश घटादिवत्।

—पचपादिका विवरण, पृ० ७३।

को स्वीकार कर लेना श्रेयस्कर है।[1] वेदान्तिम् इस पर आपत्ति उठाते हुए कहते हैं कि इस प्रकार की उपकल्पना सत्य नही हो सकती क्योकि हम देखते है कि विषय, विषयिन् एव प्रत्यय एक ही नही है। बौद्ध इस आपत्ति का प्रत्युत्तर इस प्रकार दे सकते है कि ये तीनो किसी सश्लिष्ट इकाई का निर्माण नही करते बल्कि काल के तीन अनुक्रमिक क्षणो मे उत्पन्न होते हैं और तब उनकी शक्ति के कारण तीनो के सश्लिष्ट रूप का अवभास होता है, अत इस सश्लिष्ट रूप को तीन भिन्न-भिन्न सत्ताओ मे परस्पर सबध स्थापित करने के कारण नही मानना चाहिए। इस प्रकार 'मैं नील देखता हूँ' की व्याख्या 'मैं' 'नील' एव विज्ञान के चेतन सम्बन्ध के रूप मे नही की जाकर एक विशिष्ट समय मे उसके अन्दर आविर्भूत इन तीनो अगो से मुक्त प्रत्यय के रूप मे की जानी चाहिए। इस प्रकार की कल्पना आवश्यक है क्योकि सब प्रतिभास क्षणिक हैं और उनके सम्बन्ध के परिचालन के लिए कुछ समय बीते बिना तीन स्वतत्र सत्ताओ के रूप मे इन तीनो का सम्बन्ध जोडना अवश्य ही असम्भव होगा। क्षणिकवाद का सिद्धान्त हमे स्वाभाविक रूप से उपरोक्त उपकल्पना की ओर ले जाता है कि सम्बन्ध के रूप मे जो कुछ अवभास होता है वह एक क्षणिक स्फुरण मात्र है जिसके उपरोक्त तीनो अश सारभूत अश तत्व है, अत बौद्धो की मान्यता है कि मनोवैज्ञानिक रूप से विज्ञान एव उसके विषय मे भेद प्रतीत होता है परन्तु इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक अवभास को अधिक से अधिक मानसिक भ्रम अथवा कपोल-कल्पना ही माना जा सकता है, क्योकि तार्किक दृष्टि से बौद्ध यह स्वीकार नही कर सकते कि क्षणिक अवभास पर्याप्त समय तक आत्मा एव विज्ञान के सम्बन्ध की सम्भावना को लेकर टिक नही सकता, जैसे कि इस वाक्य मे कि 'मैं नील को जानता हूँ' एव यदि नील का विज्ञान से अभेद नही माना जाय तो विज्ञान मे नील के अवभास की सम्भावना की व्याख्या किसी प्रकार नही हो सकेगी।

पद्मपाद का कथन है कि बौद्धो का मुख्य विषय अर्थक्रियाकारित्व का सिद्धान्त यह उक्ति है कि केवल उसी का अस्तित्व है जो अपने अस्तित्व को किसी हेतु

---

[1] तस्मात् स्वाभाविका साधारणाभेदसम्बन्धात् एव विज्ञाने नीलावभासते। पचपादिका विवरण, पृ० ७४। ऐसे ही दृष्टिकोण के आधार पर प्रमाण देते हुए शान्तरक्षित एव कमलशील का कथन है कि यदि विषय का विज्ञान के साथ अभेद सम्बन्ध न हो तो कोई ऐसा अटल नियम अवश्य होना चाहिए कि उनका एक साथ अवभास क्यो होता है। बौद्धो के अनुसार यह नियम या तो तादात्म्य का या तदुत्पत्ति के अविकार्य रूप कारणत्व का हो सकता है। बौद्धो का प्रथम विकल्प वेदान्तियो के विरुद्ध है। यहाँ कारणत्व का नियम नही हो सकता क्योकि कारणता के नियम तो अन्विता एक साथ घटने वाले दो तत्वो के उत्पादन के बीच नही हो सकती।
—तत्व सग्रह एव पजिका, २०३०-२०३१।

अथवा क्रिया के सपादन द्वारा सिद्ध कर सके। बौद्धो का यह भी मत है कि यदि सब सत्ताए एव वस्तुए क्षणिक हो तब ही केवल अस्तित्व के इस मापदड को पूरा किया जा सकता है। ज्ञान एव विषय का अभेद ही एकमात्र युक्तियुक्त स्वीकार्य मीमासा सबधी दृष्टिकोण है। केवल क्षणिक सत्ता ही अर्थक्रियाकारित्व के मापदडो को क्यो पूरा कर सकती है ? इसका मुख्य कारण यह है कि यदि विद्यमान को क्षणिक नहीं माना जाय तो वे किसी भी हेतु अथवा क्रिया के उत्पादक नही हो सकते।[1] इसका खडन करते हुए पद्मपाद का कथन है कि यदि अर्थक्रियाकारित्व का अर्थ स्वविषय-ज्ञान का उत्पन्न होना है तो ज्ञान अथवा प्रत्यय का कोई अस्तित्व नही है, क्योकि यह अपने स्वय के किसी अन्य ज्ञान का जनक नही है (सविदास्वविषयज्ञानाजननादसल्लक्षणत्वम्) एव किसी व्यक्ति के ज्ञान को अन्य व्यक्तियो द्वारा अनुमान के अतिरिक्त नही जाना जा सकता, जो पुन अपरोक्ष ज्ञान नही होगा।[2] यदि अर्थक्रियाकारित्व का तात्पर्य अन्य क्षण की उत्पत्ति है तो अन्तिम क्षण किसी अन्य क्षण का उत्पादक नही होने के कारण स्वय असत् हो जाएगा और यदि अन्तिम क्षण को असत् समझ लिया जाय तो क्रमश. अन्य सब क्षण असत् हो जाएँगे। सत्ता वस्तुओ का स्वरूप है और जब कोई वस्तु कार्य करने के पश्चात् भी मूक रहती है तो भी वह उस कारण से असत् नही हो जाता। इसी आधार पर प्रकाशात्मन् का कथन है कि 'अहम्' 'ज्ञान' एव 'विषय' की तीन कल्पित धारणाएँ वस्तुत अपने सादृश्य के कारण एकरूप से भासमान तीन भिन्न-भिन्न धारणाएँ नही हैं परन्तु तीनो एक विषय-विषयी ज्ञान मे परस्पर जुडे हुए है जिनमे बौद्धो द्वारा कल्पित तीन क्रमिक अवस्थाओ का समावेश नही होता। यह अभेद इस तथ्य से सिद्ध होता है कि उनका इस प्रकार का होना प्रत्यभिज्ञात है। पुनश्च, हम सब अपने स्वय की एकात्मकता के प्रति जागरूक है कि चेतना की सब परिवर्तनशील अवस्थाओ मे हम स्थिर रहते है एव यद्यपि हमारे प्रत्यय परिवर्तनशील विषयो के साथ परिवर्तित रहे है, फिर भी हम अपरिवर्तित ही रहते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि शुद्ध ज्ञान के रूप मे हम स्वय को जानते हुए भी परिवर्तनशील विषयो के साथ क्रमिक रूप मे सम्बन्धित हैं। परन्तु यह प्रश्न उठता है कि जिस एकात्मकता का प्रत्यय पूर्व अस्तित्व के साथ (स्मृति के अवचेतन सस्कारो द्वारा)

[1] इसी ग्रथ का प्रथम खड देखिए, पृ० १६३-१६४ जहाँ सक्षिप्त रूप मे इसी सिद्धान्त के औचित्य के कारणो का योग है।

[2] पद्मपाद का यह कथन कि विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करना सभव है, युक्ति सगत नही प्रतीत होता। उनके विचार मे, प्रकाश स्वरूप होने के कारण विज्ञान को स्वय को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नही है। न च सवित् सविदो विषय सविद् आत्मना भेदाभावात् प्रदीपस्येव प्रदीपान्तरम्।

—पञ्चपादिका पृ० २७।

वर्तमान अस्तित्व का सम्बन्ध जोडने से ही केवल उत्पन्न किया जा सकता है उस एकात्मकता का किसे विश्वास दिलाया जाय। तथा यह उस वेदान्तीय आत्मा द्वारा नही किया जा सकता जो शुद्ध आत्म-ज्योति रूप चैतन्य है और जिसे किसी अन्य चेतन अवस्था का विषय नही बनाया जा सकता, क्योकि वह अविकारी एव अविनाशी है और उसमे स्मृति के अवचेतन सस्कारो द्वारा पूर्वानुभव एव वर्तमान अनुभव मे सम्बन्ध होने की चेतना सम्भव नही है।[1] एक ही चैतन्य की स्थिरता मात्र अभेद की प्रत्यभिज्ञा नही है, क्योकि अभेद की प्रत्यभिज्ञा एक ऐसा सम्बन्ध होगा जो भूत को भूत के रूप मे और वर्तमान को वर्तमान के रूप मे जोड दें, चूँकि अभेद सम्बन्ध का प्रत्यक्षीकरण करने वाला कोई नही है अत अभेद का अवभास मिथ्या है। इस प्रकार के आक्षेप का उत्तर वेदान्त के अनुसार यह है कि यद्यपि शुद्ध चैतन्य एक व्यक्ति की तरह व्यवहार करने मे असमर्थ है, फिर भी मन से सबद्ध वही चैतन्य (अन्त करण-विशिष्ट) एक ऐसे व्यक्ति के समान भी व्यवहार कर सकता है जो अपने एव दूसरे लोगो के अभेद की प्रत्यभिज्ञा मे समर्थ है। भूतकाल से सम्बन्धित आत्मानुभव के कारण मनस् अह-वृत्ति के अवचेतन सस्कारो के साथ सम्बन्धित है, वर्तमान काल से सम्बन्धित आत्मानुभव के लिए उत्तरदायी होने के कारण यह भूत एव वर्तमान मे अटल रहने वाले आत्मा के अभेद की धारणा को उत्पन्न करता है। इस प्रकार की व्याख्या के विरुद्ध स्वाभाविक आक्षेप यह है कि चूँकि वेदान्त एक ज्ञान को अन्य ज्ञान का विषय स्वीकार नही करता अत भूतकाल के ज्ञान का पुनरुद्दीपन असम्भव है जिसके बिना अभेद की प्रत्यभिज्ञा असम्भव होगी। वेदान्ती का उत्तर यह है कि जिस प्रकार किसी विचार की स्मृति अपने अवचेतन सस्कारो द्वारा होती है उसी प्रकार यद्यपि पूर्ववर्ती क्षण मे अभेद की प्रत्यभिज्ञा अनुपस्थित थी, फिर भी यह प्रत्यभिज्ञा परवर्ती क्षण मे अवचेतन सस्कारो की सक्रिया द्वारा जाग्रत हो सकी।[2] वेदान्त के अनुसार शुद्ध चैतन्य ही एकमात्र अविकारी अन्तर्निहित द्रव्य है, यही चैतन्ययुक्त मनस् (अन्त करण) ज्ञाता अथवा विषयी के रूप मे व्यवहार करता है एव पूर्व तथा परवर्ती काल मे सबद्ध वही चैतन्य वस्तुपरक आत्मा के रूप मे प्रकट होता है, इसी आत्मा के साथ अभेदता का अनुभव होता है एव इसी का ज्ञाता के साथ तादात्म्य अन्त-करण-मन सबद्ध चैतन्य माना जाता है। आत्म-तादात्म्य के विचार हम सबके अदर हैं तथा 'मैं वही हूँ' का अनुभव हम सब करते है एव इसकी एकमात्र व्याख्या इस तथ्य के

---

[1] पूर्वानुभवसस्कारसहिताद् इदानींतन-वस्तु-प्रमिति-कारणाज्जात एकस्य कालद्वय-सम्बन्ध-विषयक प्रत्यक्ष-ज्ञान प्रत्यभिज्ञा इति चेत् न तर्हि आत्मनि सा सम्भवति · सविज्ञान स्वभावस्य ह्यात्मन ज्ञानान्तरागम्यत्वात्।

—पञ्चपादिका विवरण, पृ० ७५।

आधार पर की जा सकती है कि चैतन्य के अद्वितीय एव सामान्य प्रत्यय होते हुए भी अपने उन सम्बन्धो के स्वरूप-वैभिन्य के कारण नानाविध क्रिआए करने वाला माना जा सकता है जिसके द्वारा यह ज्ञाता एव स्वय को ज्ञात सहस्त्रो प्रकार के सवधो तथा विपयो के रूप मे स्वय को परिणत करता हुआ प्रतीत होता है। आत्मा के इस अभेद-अनुभव के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य मुख्य वात यह है कि पूर्वानुभव एव स्मृति इस वात को सिद्ध करते है कि भूतकाल मे आत्मा का अस्तित्व था, परन्तु हम यह सिद्ध कैसे करें कि जो विद्यमान था वह अव भी विद्यमान है। आत्मा के अभेद का ज्ञान आत्मा के भूत एव वर्तमान काल के अनुभव से भिन्न है। परन्तु प्रक्रिया यह है कि दोनो अनुभव आत्मा को उन दोनो अनुभवो मे विद्यमान एक ही इकाई के रूप मे प्रकट करते है एव इस नूतन अनुभव मे ही हम आत्मा के पूर्वोक्त अभेद-सम्वन्ध का परिज्ञान करते हैं। पुनश्च, जव मैं भूत काल के अनुभव का स्मरण करता हूँ तो उस अनुभव से सवद्ध आत्मा का ही स्मरण होता है, अत आत्मा के अभेद के अनुभव मे विभिन्न काल-सम्वन्धो से युक्त आत्मा का ही वोध होता है।

इन सब विवेचनो से जो एक वात स्पष्ट हो जाती है वह यह है कि पद्मपाद एव उसके अनुयायियो की विवरण शाखा द्वारा व्याख्यात शाकर-वेदान्त के अनुसार इन्द्रिय-सामग्री एव विपयो का अस्तित्व उनके प्रत्यक्षीकरण से स्वतत्र है एव एक अन्त करण नामक मनस् भी है जो इतरेतर विपय के ज्ञान के लिए अपने ही ढग से क्रिया करता रहता है। क्या विपय पहले से ही विद्यमान है एव मनस् द्वारा शुद्ध चैतन्य के समक्ष प्रस्तुत किए जाते है ? परन्तु विपय क्या है ? और शकर का उत्तर यह है कि वे स्वय मे अनिर्वाच्य एव वर्णनातीत है। एक ओर दिङ्नाग अथवा लकावतार के वौद्ध विज्ञानवाद से और दूसरी ओर वसुवन्धु की त्रिशिका से इस प्रकार के दृष्टिकोण का अन्तर सरलता से देखा जा सकता है। क्योकि अन्तिम दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्यक्षीकरण से स्वतत्र विपयो की सत्ता नही है एव पहले दृष्टिकोणो के अनुसार विपय एक विचार-तत्व के परिणाम है तथा इस प्रकार ज्ञाता विपयी के विपय भूत है। विपय एव विपयी दोनो एक उच्चतर एव श्रेष्ठतर तत्व-विचारतत्व मे प्रतिष्ठित है। इस प्रतिष्ठापना का अर्थ यह है कि उपादान और आकार की दृष्टि से यह विचार-तत्व एव उसके परिणाम विपय एव विपयी दोनो के लिए उत्तरदायी भी हैं। शाकर वेदान्त के अनुसार प्रपचात्मक जगत्, मनस्, इन्द्रियाँ एव उनकी सम्पूर्ण क्रियाए, कार्यशीलता इत्यादि सव उस माया के विकार हैं जो स्वय अनिर्वाच्य है परन्तु जो सदा शुद्ध-चैतन्य से अपने आधारभूत तत्व के रूप मे सम्वन्वित है एव जो जड विपयो के रूप मे आँखो से ओझल रहती है तथा जिसे शुद्ध-चैतन्य के अन्तर्निहित तत्व की प्रकाशिका ज्योति द्वारा वौद्धिक अवस्थाओ अथवा प्रत्ययो के रूप मे अपने आकार मे आत्म-चैतन्य प्राप्त होता है। जैसाकि कहा जा चुका है कि

शून्यवादियो ने भी समस्त वस्तुओ एव अवभासो के वस्तुपरक अस्तित्व को स्वीकार किया है, परन्तु चूंकि वे आलोचनात्मक परीक्षा के सामने टिक नही सके अत उन्होने इन्हे नि स्वभाव माना। नि:स्वभावता के इस सिद्धान्त एव शाकर मत के अनिर्वाच्यता के सिद्धान्त मे एकमात्र अन्तर यही है कि यह 'अनिर्वाच्य' अभी तक किसी अनिर्वाच्य वस्तु के रूप मे माना जाता है, एक ऐसे द्रव्य के रूप मे जो विकृति को प्राप्त होता है एव जिसने अपने को जगत् के सम्पूर्ण विषयो के रूप मे परिणत कर दिया है। शाकर वेदान्त का विज्ञानवाद बौद्ध-विज्ञानवाद के उस सहोपलम्भ नियम मे विश्वास नही करता जिसके अनुसार अस्तित्व का अर्थ प्रत्यक्षीकरण करना है। किसी व्यक्ति विशेष द्वारा प्रत्यक्षीकृत नही होने पर भी जगत् का अस्तित्व तो रहता ही है, इसकी वस्तुपरक सत्ता मेरी सम्वेदनाओ एव प्रत्ययो से पूर्ण स्वतत्र है, परन्तु मेरे प्रत्ययो अथवा सम्वेदनाओ से स्वतत्र होने पर भी यह चैतन्य से स्वतत्र नही है जिसके साथ इसका सम्बन्ध है एव जिस पर वह आश्रित है। यह चैतन्य साधारण मनोवैज्ञानिक विचार नही है परन्तु यह वह तत्व है जो सम्पूर्ण चैतन्य विचार का आधार है। यह शुद्ध विचार स्वतत्र एव स्वय ज्योति है क्योकि सम्पूर्ण चैतन्य-विचार मे चैतन्य स्वय प्रकाशित होता है, अन्य सब की प्रवृत्ति इसी चैतन्य द्वारा होती है एव इससे पृथक् करके इसे देखा जाए तो यह निरर्थक तथा अविचार्य हो जाता है। स्वतत्र एव अबाधित स्वय-प्रकाशता ही इसकी सत्ता है (अबाधितस्वयप्रकाशतैव अस्य सत्ता)।[1] सम्पूर्ण सत्ता शुद्ध चैतन्य है एव सम्पूर्ण अवभासित जगत् इसी पर आश्रित है मानो कोई वस्तु इसके सन्दर्भ मे ही व्यक्त की गई हो तथा इससे पृथक् इसकी कोई ग्राह्य स्थिति अथवा अर्थ न हो। यह केवल प्रमाण मीमासा अथवा तार्किक दृष्टि से ही नही है बल्कि सत्तामूलक दृष्टि से भी होता है। जगत् के विषयभूत आकार माया की अनिर्वाच्य सामग्री के परिणाम रूप है, जो 'सत्ता' नही है अपितु 'सत्ता पर आधारित है, परन्तु उनकी अभिव्यक्ति उसी समय हो सकती है जब वे मानसिक अवस्थाओ मे प्रतिबिम्बित हो एव प्रत्ययो के रूप मे प्रस्तुत किए जाएं। स्वप्न के विषय अथवा भ्रम के साथ सादृश्य माया के सामान्य प्रत्यय को जन-साधारण के लिए बुद्धिगम्य बनाने के लिए केवल प्रचलित उदाहरण के रूप मे ही लिए जा सकते है एव यह वेदान्तीय विज्ञानवाद को एक अद्वितीय स्थान प्रदान करता है।

शंकर द्वारा वेदान्त का पक्षपोषण, बादरायण एवं भर्तृप्रपंच का दर्शन

शकर की रक्षात्मक युक्तियां उन आक्षेपो के खण्डन मे निहित थी जो जगत् सम्बन्धी वेदान्तीय सामान्य प्रत्यय के विरुद्ध किए जा सकते हैं। प्रथम पूर्वानुभूत आक्षेप

---

[1] वाचस्पति मिश्र द्वारा लिखित भामती, पृ० १३ निर्णय सागर सस्करण, १९०४।

सांख्य-दर्शन के अनुयायियो का है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कार्य एव कारण का स्वरूप अधिकाश मे एक सा ही होना चाहिए। चेतन एव शुद्ध माना जाने वाला ब्रह्म जड तथा अचेतन एव अशुद्ध जगत् का कारण नही हो सकता। जगत् स्वभावत चेतन आत्माओ से इतना भिन्न होने के कारण ही उनके लिए उपयोगी हो सकता है। अपने स्वभाव मे अभिन्न दो पदार्थो के लिए एक दूसरे के लिए उपयोगी होना दुष्कर है–दो दीपक एक दूसरे को प्रकाशित नही कर सकते। अत चैतन्य आत्माओ से भिन्न होकर ही जगत् उनकी अधिकतम सेवा कर सकता है एव उनके लिए विद्यमान हो सकता है। इस आक्षेप का शकर ने उत्तर इस प्रकार दिया है कि यह सत्य नही है कि कार्य को कारण से प्रत्येक प्रकार से एक सा होना चाहिए–चेतन प्राणियो से जड केश तथा नाखून एव गोबर जैसे जड विषयो से जीवित कीडे-मकोडे उत्पन्न होने के उदाहरण मिलते हैं। न इस बात को अस्वीकार किया जा सकता है कि ब्रह्म एव जगत् मे कम से कम इस बात मे कुछ सादृश्य है कि दोनो की सत्ता है। यह नही कहा जा सकता कि चूँकि ब्रह्म चैतन्य है अत जगत् भी चैतन्य होना चाहिए, क्योकि इस प्रकार की आशा का कोई कारण नही है। इसका विपर्यय भी सत्य नही है–ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य स्रोत द्वारा प्रकृति (जड) को उत्पन्न हुआ नही देखा गया है।[1] इस तर्क का सम्पूर्ण विषय इस तथ्य मे निहित प्रतीत होता है कि उपनिषदो ने दृढतापूर्वक ब्रह्म को जगत् का कारण बताया है अत चैतन्य एव शुद्ध ब्रह्म द्वारा अशुद्ध और जड (प्रकृति) की उत्पत्ति के प्रतीयमान विरोध को समझना पडेगा या क्योकि इस प्रकार के परम सत्यो का अन्वेषण तर्क द्वारा नही अपितु उपनिषदो के आप्तवचन द्वारा ही हो सकता है। सांख्यो द्वारा वेदान्त के विरुद्ध अन्य आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि प्रलय के समय कार्यरूप जगत् जब कारण ब्रह्म मे पुन विलीन हो जाएगा तब सासारिक अवस्था की अशुद्धिया ब्रह्मत्व की कारण अवस्था को भी अशुद्ध बना सकती हैं। शकर उदाहरणो की दो श्रेणियो की ओर सकेत करते हुए इसका खडन करते हैं जिनमे कारणावस्था मे प्रलय के समय कार्य कारणावस्था को प्रभावित नही करते। इनमे एक उदाहरण की श्रेणी उन दशाओ मे पाई जाती है जहाँ सुवर्ण, रजत इत्यादि के पदार्थ अपने मौलिक द्रव्य की अवस्थाओ मे आकारहीन सुवर्ण एव रजत के रूप मे पुन द्रवीभूत हो जाते हैं तथा आकृति युक्त पदार्थो के रूप मे अपनी विशिष्ट विलक्षणताओ द्वारा उन्हे प्रभावित करते हुए प्रतीत नही होते। अन्य उदाहरण जादूगर द्वारा व्यक्त जादू मे पाया जाता है। बाजीगर मायावी सृष्टि को अपने नियत्रण मे रखता है तथा इस प्रकार वह तिरोहित होने पर स्वय बाजीगर

---

[1] किं हि यच्चैतन्येनानन्वित तद्ब्रह्म-प्रकृतिक दृष्टमिति
ब्रह्मवादिन प्रत्युदाहृियेत्त समस्तस्य वस्तुजातस्य ब्रह्म प्रकृतित्वाभ्युपगमात्।
–शाकर भाष्य, २१, १, ६७।

को किसी भी प्रकार से भ्रम मे नही डाल सकता, क्योकि जादू सृष्टि सत्य नही है। उसी प्रकार जागृत होने पर स्वप्न द्रष्टा अपने स्वप्नो से प्रभावित नही होता। अतः सत् वह है जो विकारशील अवस्थाओ मे पूर्णरूप से अस्पृष्ट रहे। सब विकासशील अवस्थाओ मे इस सत् का आभास सर्प के रूप मे रज्जु के अवभास की तरह माया मात्र है। पुनश्च, जिस प्रकार सुषुप्ति का अनुभव करने वाला व्यक्ति एक ऐसी स्थिति मे पहुँच जाता है जहाँ उसके सासारिक अनुभव का किंचित् मात्र भी चिह्न नही हो, फिर भी जाग्रत होने पर वह अपने जीवन के सामान्य व्यवसाय मे पुन प्रकृत हो जाता है, इसी प्रकार जगत् के अपनी कारणावस्था मे लीन हो जाने पर पुन. प्रलय के पूर्व की अवस्था की उसी प्रकार की सृष्टि हो सकती है। अत इस प्रकार की आपत्ति को कोई स्थान नही है कि अशुद्ध कार्यों का जगत् प्रलय के समय ब्रह्म की शुद्ध स्थिति को प्रभावित करेगा अथवा प्रलय के अनन्तर सृष्टि नही हो सकेगी।

अशुद्ध एव अचेतन कार्य रूपी जगत् के शुद्ध एव चेतन ब्रह्म द्वारा उत्पन्न न हो सकने की सभावित आपत्ति के प्रत्युत्तर मे शकर की ये उपरोक्त युक्तियाँ दुर्बल ही नही अपितु अनावश्यक है। यदि कार्य रूपी जगत् माया एव जादू मात्र है तथा उसका कोई वस्तुत्व नही है तो उनके लिए सर्वोत्तम मार्ग यही होता कि कार्यों की उनके कारणो से महान् विषमता प्रदर्शित करने के लिए कारण की कार्य मे वास्तविक परिणति को बताने वाले परिणामवाद को स्वीकार करने की अपेक्षा वह कार्य के वस्तुत्वहीन होने के अपने सिद्धान्त पर सीधा आ जाते। यदि वह प्रारम्भ मे यही उत्तर देते कि कार्य की वास्तविक सत्ता नही है एव वह तो जादू की सृष्टि मात्र तथा मिथ्या प्रपच है तो यह आपत्ति तत्काल असफल हो जाती है कि अशुद्ध जगत् शुद्ध ब्रह्म द्वारा उत्पन्न नही हो सकता क्योकि इस प्रकार की आपत्ति कार्य की किंचित मात्र भी सत्यता मे विश्वास नही करने वाले दार्शनिक शकर के लिए नही बल्कि उन लोगो के लिए उचित होती जो कारण से कार्य के वास्तविक परिणाम मे विश्वास रखते है, न कि शकर जैसे दार्शनिक के लिए जिनका कार्य की सत्यता मे बिल्कुल विश्वास नही था। ऐसा करने के स्थान पर उन्होने यह प्रदर्शित किया कि कार्य के विशिष्ट दोष अथवा अन्य लक्षण कारण की शुद्धता को प्रभावित नही कर सकते तथा इसके लिए स्वर्ण के आभूषणो का स्वर्ण मे वास्तविक लय होने का उदाहरण देना प्रारम्भ किया। इसके साथ-साथ वह एक अन्य उदाहरण भी देते हैं कि बाजीगर के स्वभाव को अज्ञानित किए बिना जादुई सृष्टि किस प्रकार तिरोहित हो सकती है यह उदाहरण सन्दर्भ के साथ बिल्कुल मेल नही खाता एव आश्चर्य की बात है कि यह शकर के ध्यान मे कभी नही आई कि यथार्थ परिणामवाद के उनके उदाहरण यदि खरे उतर सकें तो जादू या बाजीगर के उनके उदाहरण बिल्कुल अनुपयुक्त होगे।

यदि कारणता के परिणामवादी सिद्धान्त को मान लिया जाय तो विवर्तवाद को

छोडना पडेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि शकर को अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य मे कार्य के मिथ्यात्व के विवर्त दृष्टिकोण के उदाहरण का प्रच्छन्न रूप से समावेश करके विवादो की इस प्रकार की उलझन का आश्रय लेना पडा जिसकी केवल यथार्थवादी व्याख्या ही हो सकती थी। यहाँ सूत्र इतने विश्वासोत्पादक रूप से यथार्थवादी प्रतीत होते हैं कि अपने कारण के असदृश कार्य की उत्पत्ति के प्रस्तावित असगति का अन्तिम उत्तर इस तथ्य मे प्राप्त होता है कि उपनिषदो के अनुसार यह अशुद्ध एव अचेतन जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, चूँकि उपनिषद् इसे घोषित करते है अत. तर्क के आधार पर इसके विरुद्ध कोई आपत्ति नही उठाई जा सकती।

अगले विभाग मे कारण के यथार्थवादी परिणाम का सिद्धान्त उस सूत्र द्वारा और आगे स्पष्ट किया गया है जिसके अनुसार कार्यों का उनके कारण के साथ अभेद होने पर भी उनके अनेकत्व अथवा नानात्व की व्याख्या कई प्रचलित उदाहरणो के सादृश्य से भी की जा सकती है। अतः यद्यपि तरगो का समुद्र के साथ अभेद है फिर भी अपने नानात्व एव वैभिन्य मे उनकी सत्ता है। यहाँ भी शंकर को अपनी व्याख्या मे सूत्र के भावार्थ का अनुसरण करना पडा है। सूत्र पर अपने भाष्य का उपसहार करते हुए शकर कहते हैं कि जगत् ब्रह्म के परिणाम का कोई कार्यरूप फल नही है केवल ब्रह्म की ही सत्ता है परन्तु फिर भी जब सृष्टिकर्ता के रूप मे ब्रह्म सोपधिक होता है तब प्रतीयमान नानात्व एव वैभिन्य हो सकता है। यहाँ यह बताना ठीक होगा कि इस प्रकार की अनुपूरक व्याख्या सूत्र के उस सामान्य अर्थ से पूर्णत असगत है, जो निश्चित रूप से यथार्थवादी परिणामवाद के पक्ष मे है। यह दुर्भाग्य है कि यहाँ भी शकर अपने इस अनुपूरक कथन के लिए कोई कारण नही देते जो सूत्र एव उनके द्वारा दिए गए भाष्य के सामान्य अभिप्राय के अनुरूप नहीं है।

आगे के अध्याय मे शकर सूत्र "कार्य की सभावना, कारण की सत्ता, कार्य की कारण मे सत्ता, कारण के विस्तरण हेतुओ के कारण एव उपनिषदो के आप्त वचन के कारण", कारण एव कार्य के अभेद को स्पष्ट रूप से स्थापित करते हुए प्रतीत होते हैं। इस प्रकार का अर्थ पूर्वाव्यायो के सामान्य अर्थ के अनुरूप है। शकर, सूत्र की व्याख्या इस प्रकार करते है कि केवल एकमात्र कारण ब्रह्म ही सत्य है। अत: कार्य मे कारण का यथार्थ परिणाम नही हो सकता। इस प्रकार ब्रह्म की सर्वज्ञता एव उसका जगत् कर्त्तव्य केवल सीमित रूप मे ही उचित है, क्योकि वे जगत् की आपेक्षिक सत्यता पर आधारित है। अत पारमार्थिक दृष्टि से ऐसा कोई ईश्वर नही है जो जगत् का सर्वज्ञ उत्पत्तिकर्ता हो।[1] शकर कुछ उपनिषदो के प्रमाण के

---

[1] कूटस्थ ब्रह्मात्मवादिन· एकत्वैकान्त्यात् ईशित्रीशितव्याभाव ईश्वर कारण-प्रतिज्ञा-विरोध इति चेत्, न, अविद्यात्मक-नाम-रूप-बीज व्याकरणापेक्षत्वात् सर्वज्ञत्वस्य।

को किसी भी प्रकार से भ्रम मे नही डाल सकता, क्योंकि जादू सृष्टि सत्य नहीं है। इसी प्रकार जागृत होने पर स्वप्न द्रष्टा अपने स्वप्नों से प्रभावित नही होता। अत सत् वह है जो विकारशील अवस्थाओ मे पूर्णरूप से अस्पृष्ट रहे। मत्र विकासशील अवस्थाओ मे इस सत् का आभास सर्प के रूप मे रज्जु के अवभास की तरह माया मात्र है। पुनश्च, जिस प्रकार सुषुप्ति का अनुभव करने वाला व्यक्ति एक ऐसी स्थिति मे पहुँच जाता है जहाँ उसके सासारिक अनुभव का किंचित् मात्र भी चिह्न नहीं हो, फिर भी जाग्रत होने पर वह अपने जीवन के सामान्य व्यवसाय मे पुन प्रवृत्त हो जाता है, इसी प्रकार जगत् के अपनी कारणावस्था मे लीन हो जाने पर पुन प्रलय के पूर्व की अवस्था की उसी प्रकार की सृष्टि हो सकती है। अत इस प्रकार की आपत्ति को कोई स्थान नही है कि अशुद्ध कार्यों का जगत् प्रलय के समय ब्रह्म की शुद्ध स्थिति को प्रभावित करेगा अथवा प्रलय के अनन्तर सृष्टि नही हो सकेगी।

अशुद्ध एव अचेतन कार्य रूपी जगत् के शुद्ध एव चेतन ब्रह्म द्वारा उत्पन्न न हो सकने की समावित आपत्ति के प्रत्युत्तर मे शकर की ये उपरोक्त युक्तियाँ दुर्बल ही नही अपितु अनावश्यक हैं। यदि कार्य रूपी जगत् माया एव जादू मात्र है तथा उसका कोई वस्तुत्व नही है तो उनके लिए सर्वोत्तम मार्ग यही होता कि कार्यों की उनके कारणो से महान् विपमता प्रदर्शित करने के लिए कारण की कार्य मे वास्तविक परिणति को बताने वाले परिणामवाद को स्वीकार करने की अपेक्षा वह कार्य के वस्तुत्वहीन होने के अपने सिद्धान्त पर सीधा आ जाते। यदि वह प्रारम्भ मे यही उत्तर देते कि कार्य की वास्तविक सत्ता नही है एव वह तो जादू की सृष्टि मात्र तथा मिथ्या प्रपच है तो यह आपत्ति तत्काल असफल हो जाती है कि अशुद्ध जगत् शुद्ध ब्रह्म द्वारा उत्पन्न नही हो सकता क्योकि इस प्रकार की आपत्ति कार्य की किंचित मात्र भी सत्यता मे विश्वास नही करने वाले दार्शनिक शकर के लिए नही बल्कि उन लोगो के लिए उचित होती जो कारण से कार्य के वास्तविक परिणाम मे विश्वास रखते है, न कि शकर जैसे दार्शनिक के लिए जिनका कार्य की सत्यता मे बिल्कुल विश्वास नही था। ऐसा करने के स्थान पर उन्होने यह प्रदर्शित किया कि कार्य के विशिष्ट दोष अथवा अन्य लक्षण कारण की शुद्धता को प्रभावित नही कर सकते तथा इसके लिए स्वर्ण के आभूषणो का स्वर्ण मे वास्तविक लय होने का उदाहरण देना प्रारम्भ किया। इसके साथ-साथ वह एक अन्य उदाहरण भी देते हैं कि बाजीगर के स्वभाव को प्रभावित किए बिना जादुई सृष्टि किस प्रकार तिरोहित हो सकती है यह उदाहरण सन्दर्भ के साथ बिल्कुल मेल नही खाता एव आश्चर्य की बात है कि यह शकर के ध्यान मे कैसे नही आई कि यथार्थ परिणामवाद के उनके उदाहरण यदि खरे उतर सकें तो जादू एव बाजीगर के उनके उदाहरण बिल्कुल अनुपयुक्त होगे।

यदि कारणता के परिणामवादी सिद्धान्त को मान लिया जाय तो विवर्तवाद को

छोडना पडेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि शकर को अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य मे कार्य के मिथ्यात्व के विवर्त दृष्टिकोण के उदाहरण का प्रच्छन्न रूप से समावेश करके विवादो की इस प्रकार की उलझन का आश्रय लेना पडा जिसकी केवल यथार्थवादी व्याख्या ही हो सकती थी। यहाँ सूत्र इतने विश्वासोत्पादक रूप से यथार्थवादी प्रतीत होते हैं कि अपने कारण के असदृश कार्य की उत्पत्ति के प्रस्तावित असगति का अन्तिम उत्तर इस तथ्य मे प्राप्त होता है कि उपनिषदो के अनुसार यह अशुद्ध एव अचेतन जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, चूँकि उपनिषद् इसे घोषित करते है अत तर्क के आधार पर इसके विरुद्ध कोई आपत्ति नही उठाई जा सकती।

अगले विभाग मे कारण के यथार्थवादी परिणाम का सिद्धान्त उस सूत्र द्वारा और आगे स्पष्ट किया गया है जिसके अनुसार कार्यो का उनके कारण के साथ अभेद होने पर भी उनके अनेकत्व अथवा नानात्व की व्याख्या कई प्रचलित उदाहरणो के सादृश्य से भी की जा सकती है। अत· यद्यपि तरगो का समुद्र के साथ अभेद है फिर भी अपने नानात्व एव वैभिन्य मे उनकी सत्ता है। यहाँ भी शकर को अपनी व्याख्या मे सूत्र के भावार्थ का अनुसरण करना पडा है। सूत्र पर अपने भाष्य का उपसहार करते हुए शकर कहते हैं कि जगत् ब्रह्म के परिणाम का कोई कार्यरूप फल नही है केवल ब्रह्म की ही सत्ता है परन्तु फिर भी जब सृष्टिकर्ता के रूप मे ब्रह्म सोपधिक होता है तब प्रतीयमान नानात्व एव वैभिन्य हो सकता है। यहाँ यह बताना ठीक होगा कि इस प्रकार की अनुपूरक व्याख्या सूत्र के उस सामान्य अर्थ से पूर्णत असगत है, जो निश्चित रूप से यथार्थवादी परिणामवाद के पक्ष मे है। यह दुर्भाग्य है कि यहाँ भी शकर अपने इस अनुपूरक कथन के लिए कोई कारण नही देते जो सूत्र एव उनके द्वारा दिए गए भाष्य के सामान्य अभिप्राय के अनुरूप नही है।

आगे के अध्याय मे शकर सूत्र "कार्य की सभावना, कारण की सत्ता, कार्य की कारण मे सत्ता, कारण के विस्तरण हेतुओ के कारण एव उपनिपदो के आप्त वचन के कारण", कारण एव कार्य के अभेद को स्पष्ट रूप से स्थापित करते हुए प्रतीत होते है। इस प्रकार का अर्थ पूर्वव्यायो के सामान्य अर्थ के अनुरूप है। शकर, सूत्र की व्यारया इस प्रकार करते हैं कि केवल एकमात्र कारण ब्रह्म ही सत्य है। अत· कार्य मे कारण का यथार्थ परिणाम नही हो सकता। इस प्रकार ब्रह्म की सर्वज्ञता एव उसका जगत् कर्त्तव्य केवल सीमित रूप से ही उचित हैं, क्योकि वे जगत् की आपेक्षिक सत्यता पर आधारित हैं। अत पारमार्थिक दृष्टि से ऐसा कोई ईश्वर नही है जो जगत् का सर्वज्ञ उत्पत्तिकर्ता हो।[1] शकर कुछ उपनिपदो के प्रमाण के

[1] कूटस्थ ब्रह्मात्मवादिन एकत्वैकान्त्यात् ईशित्रीशितव्यभाव ईश्वर कारण-प्रतिज्ञा-विरोध इति चेत्, न, अविद्यात्मक-नाम-रूप-बीज व्याकरणापेक्षत्वात् सर्वज्ञत्वस्य।

दोहराना होगा जो इन भागो के लिए अन्य अवयवो की एव उन दूसरे भागो को जोड़ने के अवयवो की आवश्यकता होगी, तथा इस प्रकार अनवस्था प्रसग का दोष होगा। यदि एक ही समय में समग्र पूर्णरूप से प्रत्येक अवयव मे व्याप्त हो तो समग्रो की सख्या अनेक हो जाएगी। यदि यह अनुक्रम रूप से प्रत्येक भाग मे व्याप्त हो तो एक समय मे समग्र केवल एक ही भाग मे व्याप्त होगा, अत उस समय समग्र के कार्य अन्य अवयवो मे अनुपस्थित होगे। यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार वर्ग-प्रत्यय के (जैसे गाय) प्रत्येक व्यक्ति मे पूर्णरूप से विद्यमान रहते हुए भी वह अनेक नही है उसी प्रकार प्रत्येक अवयव मे समग्र भी पूर्णरूप से विद्यमान हो सकता है तो प्रत्युत्तर मे कहा जा सकता है कि समग्रो का अनुभव वर्ग-प्रत्ययो के अनुभव के सदृश नही होता। गाय का वर्ग-प्रत्यय प्रत्येक गाय मे उपलब्ध है, परन्तु प्रत्येक अवयव मे समग्र की प्राप्ति नही होती। पुन यदि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व अविद्यमान हो तो उत्पत्ति के एक प्रक्रिया होने के कारण ऐसे कार्य का कोई भी कर्त्ता नहीं होगा, यह असम्भव है क्योकि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व अविद्यमान होने के कारण अपना उत्पत्ति-कर्त्ता नहीं हो सकता एव अविद्यमान होने के कारण यह उत्पत्ति या तो स्वय अविद्यमान होगी या बिना किसी कर्त्ता के होगी। यदि उत्पत्ति की क्रिया के रूप मे परिभाषा न करके उसे स्वकारण-सत्ता समवाय के रूप मे माना जाय तो भी यह आपत्ति की जा सकती है कि दो सम्बन्धित पदो के बीच ही सम्बन्ध सम्भव है एव चूंकि कार्य अभी तक अविद्यमान है अत उसका सम्बन्ध अपने कारण से नही हो सकता। परन्तु यदि कार्य पहले से ही विद्यमान है तो फिर कारक-व्यापार की आवश्यकता ही क्या है ? इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर उसी मत मे पाया जाता है कि कार्य तो कारण का अपने कार्य मे विस्तरण मात्र है। जिस प्रकार एक मनुष्य अपने अवयवो को समेट कर अथवा फैलाकर बैठने पर भी वही मनुष्य माना जाएगा, उसी प्रकार कार्य को भी कारण का विस्तरण मानना चाहिए और इसी हेतु कारण और कार्य मे अभेद भी मानना चाहिए। इस प्रकार कार्य केवल कारण की रूपान्तरित अवस्था है अत इस रूपान्तरण को घटित करने के लिए कारक-व्यापार अनावश्यक है, परन्तु ऐसा रूपान्तरण होते हुए भी कार्य-कारण मे अपनी शक्ति के रूप मे पहले से ही विद्यमान नही है।

सात अन्य लघुतर अध्याय है। उनमे से प्रथम मे इस आपत्ति का कि यदि जगत् चैतन्य ब्रह्म की अपरोक्ष उत्पत्ति है तो फिर ऐसी चैतन सत्ता ने इस दु ख से परिपूर्ण जगत् की रचना ही क्यो कि जो स्वय उसके लिए कारागृह है, उत्तर इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करके बडी आसानी से दिया है कि जगदतीत सृष्टिकर्त्ता इस जगत् के कारागृह मे दु ख का अनुभव करने वाली सासारिक जीवात्माओ से अत्यत परे है। यहाँ भी शकर एक पूरक व्याख्या के रूप मे यह निरूपण सम्मिलित करते हैं कि सृष्टि

शक्ति एव सामर्थ्य का फल है। ईश्वर स्वय इस प्रकार के परिणाम द्वारा समाप्त नही हुआ है तथा सदा अधिपति सृष्टा रहा है जिसने अपनी लीला द्वारा सृष्टि की रचना की एव जो विना किसी वाह्य सहायता के अपनी शक्ति द्वारा इसका सृजन कर सका। इस प्रकार जगत् ईश्वर की शक्तियो का यथार्थ परिणाम है। जबकि वह स्वय अपनी शक्तियो द्वारा विश्वानुगत होते हुए भी विश्वातीत भी है तथा इसका नियत्रक है। वह सृष्ट सासारिक जीवात्माओ के लिए उनके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार पुरस्कार अथवा दड का विधान करता है।

वहुत से पुराणो का मुख्य मत होने के कारण भेदाभेदवाद का सिद्धान्त निश्चित रूप से शकर के पूर्व का है। सभवत ऐसा भी प्रतीत होता है कि भर्तृप्रपच ने रामानुज द्वारा वृत्तिकार के रूप मे एव शकर द्वारा उपवर्ष तथा वृत्तिकार के रूप मे उल्लिखित वोधायन का एव शकर तथा रामानुज द्वारा उल्लिखित द्रमिडाचार्य का उल्लेख किया है, सवने भेदाभेदवाद के किसी न किसी रूप को माना है। शकर ने वृहदारण्यकोपनिषद् पर लिखे अपने भाष्य मे भर्तृप्रपच का उल्लेख किया है और आनन्दज्ञान ने शकर-भाष्य पर लिखी अपनी टीका मे वृहदारण्यक उपनिषद् पर लिखे गए भर्तृप्रपच के भाष्य से कई उद्धरण दिए है। प्रो० एम० हिरियन्ना ने एक लेख मे इन अशो को इकट्ठा किया जो उन्होने १९२४ मे तृतीय ओरियटल काग्रेस (मद्रास १९२४) के समय पढे थे एव वहाँ उन्होने भर्तृप्रपच के दर्शन का निम्न प्रकार से वर्णन किया है—भर्तृप्रपच का सिद्धान्त भेदाभेद के प्रकार का अद्वैत का सिद्धान्त है। ब्रह्म एव जगत् के सम्बन्ध की तरह ब्रह्म एव जीव का सवध भी भेदाभेद का है। इस मत का एक तात्पर्य यह है कि जीव एव भौतिक जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई, अत इसे ब्रह्मपरिणामवाद का सिद्धान्त कहा जा सकता है। आध्यात्मिक यक्ष मे ब्रह्म को अन्तर्यामिन् और जीव मे परिणत कर दिया गया है, भौतिक पक्ष मे अव्यक्त, सूत्र, विराट् और देवता मे परिणत कर दिया गया है जो सव•• है, तथा जाति और पिण्ड जो नहीं है। ये ब्रह्म की अवस्थाएँ है और आठ वर्गो का प्रतिनिधित्व करती है जिसमे नानात्मक जगत् विभक्त हो सकता है। उनका पुन तीन राशियो मे वर्गीकरण होता है यथा परमात्म राशि, जीव राशि, और मूर्त्तामूर्त्त-राशि जो धर्म एव दर्शन के त्रिकोणात्मक विपय के अनुरूप है यथा ईश्वर, जीवात्मा, प्रकृति। भर्तृप्रपच ने प्रमाण-समुच्चय को मान्यता दी है जिसका अर्थ यह है कि सर्वसाधारण अनुभव का प्रमाण भी उतना ही सही है जितना कि वेदो का। प्रथम, नानात्व की सत्यता को तथा द्वितीय एकरूपता को (जैसा कि उपनिषदो मे अववोधित है) प्रमाणित करता है। अत परमतत्व द्वैताद्वैत है। मोक्ष अथवा जीवन का लक्ष्य दो अवस्थाओ मे प्राप्त किया जाता है—प्रथम, अपवर्ग की ओर ले जाती है जहा रागद्वेष को वशीभूत करके ससार को अभिभूत किया जाता है, तथा द्वितीय अविद्यानाश द्वारा ब्रह्मत्व की ओर ले जाती है। उपरोक्त दोनो अवस्थाओ मे से किसी भी एक अवस्था तक पहुँचने का

कारण है। सर्वज्ञात्ममुनि का यह विश्वास है कि केवल ब्रह्म ही विवर्त कारण है तथा माया उस हेतु के लिए केवल निमित्त मात्र है।[1] वादरायण के अनेक सूत्र कारणता के परिणामवादो सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है—इस कठिनाई का अनुभव सर्वज्ञात्म मुनि ने कर लिया था जिन्होने उसे यह सकेत देकर उडा दिया कि परिणाम के सिद्धान्त का विवेचन सूत्रो मे समर्थन रूप मे केवल इसीलिए किया गया है कि यह सिद्धान्त विवर्त के अत्यत निकट आता है तथा लोगो को परिणामवाद के सिद्धान्त मे दीक्षित करने से उन्हे विवर्त सिद्धान्त की ओर ले जाना अधिक सुलभ होगा, जैसा कि सूत्र २ १ १४ मे सकेत किया गया है।[2] यदि सूत्रो का विन्यास ऐसा होता कि उससे इस मत का समर्थन हो कि परिणामवाद का आरम्भ केवल पाठक के मनस् को विवर्त्त दृष्टिकोण की ओर ले जाना था, जो अन्ततोगत्वा निश्चित रूप से एक यथार्थ दृष्टिकोण के रूप मे स्वीकार किया गया है, तो इस व्याख्या की किंचित् सभावना होती, परन्तु यह स्पष्ट कर दिया गया है कि २ १ के प्राय सभी सूत्र सगतिपूर्वक परिणामवादी दृष्टिकोण का समर्थन करते है तथा सूत्र २ १ १४ की भी कारणत्व के विवर्तवादी दृष्टिकोण को सही बताने के रूप मे व्याख्या नही की जा सकती क्योकि शकर ने उसी खड के अन्य सूत्रो की व्याख्या परिणामवाद के अनुसार की है, और यदि विषय सामग्री पर विचार किया जाय तो इस सूत्र की भी व्याख्या भेदाभेद प्रकार के परिणामवाद के दृष्टिकोण के अनुसार करनी पडेगी।

वेदान्ताचार्य एवं शिष्य

उपनिषद् एव ब्रह्मसूत्र के शाकर दर्शन का प्रधान आग्रह सत्, चित्, आनन्द के स्वत प्राकाश्य अभेद ब्रह्म पर है जिसकी अनुभूति के लिए नित्य नैमित्तिक वैदिक कर्मों

तत्व बिन्दु पर तत्व-वैशारदी, (योग), तत्वसमीक्षा, ब्रह्मसिद्धि-टीका, विधि-विवेक पर न्यायकणिका, न्यायतत्वालोक, न्यायरत्नटीका, न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, ब्रह्म-तत्व सहितोद्दीपनी, युक्तिदीपिका, (साख्य) साख्यतत्व कौमुदी, वेदान्त-तत्व-कौमुदी।

[1] वह ९०० ई० प० के आसपास मनुकलादित्य राजा के शासनकाल मे रहे तथा देवेश्वर के शिष्य थे।

[2] विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिर्वेदान्तवादे परिणामवाद
व्यवस्थितेऽस्मिन् परिणामवादे, स्वय समायाति विवर्तवाद।

—सक्षेप शारीरक २ ६१।

प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। अप्पय दीक्षित ने अपने सिद्धान्त-लेश के प्रारम्भ मे प्रदर्शित किया है कि प्राचीन लोगो का ध्यान जीवनात्मा एव ब्रह्म के स्वरूप की मूलभूत समस्या की ओर अधिक केन्द्रित था तथा उन्होंने गोचरीय अवभास के क्रम की व्याख्या की ओर ध्यान नही दिया है, और इसलिए इस विषय पर कई पृथक् मत उद्भूत हो गए हैं। इस प्रकार शंकर की मृत्यु के थोडे समय बाद ही चार मुख्य आचार्य सुरेश्वर और उनके शिष्य सर्वज्ञात्म मुनि, पद्मपाद और वाचस्पति मिश्र हमारे सामने आते हैं जो वेदान्त की अद्वैत व्याख्या की तीन स्पष्ट प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सुरेश्वर एव उनके शिष्य सर्वज्ञात्म मुनि के मत मे माया एक द्वार है जिसके द्वारा एक ब्रह्म का अनेक रूपों मे अवभास होता है एव उनके यथार्थ स्वरूप का जीवात्माओं की दृष्टि से आवरण हो जाता है। इस दृष्टिकोण ने माया को भावरूप मानते हुए भी इसे द्रव्य नही समझा गया, तथा ब्रह्म को माया का विषय एव आश्रय दोनो ही माना गया। शुद्ध ब्रह्म ही सम्पूर्ण प्रतीतियों का मूल कारण है तथा माया इन पर भ्रम के पर्दे के समान आश्रित है जिसके कारण यह एक (ब्रह्म) अनेक मिथ्या प्रपचों के रूप में अवभासित होता है। यह आसानी से देखा जा सकता है कि यह दृष्टिकोण गोचरीय अवभास की दार्शनिक व्याख्या देने के महत्व की पूर्णतया उपेक्षा करता है एव इसी दृष्टिकोण पर बल देने में व्यस्त है कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। वाचस्पति का दृष्टिकोण इस अर्थ मे माया को किंचित् अधिक यथार्थता देता है कि माया का ब्रह्म के साथ सहकारी के रूप मे सह-अस्तित्व है जिसकी क्रियाशीलता द्वारा प्रपचात्मक जगत् की रचना सम्भव है, माया ब्रह्म को अपने विषय के रूप मे छिपा देती है परन्तु इसका आश्रय जीवात्माएँ हैं जो पुन. माया पर आश्रित हैं और माया उन पर ऐसे अनादि चक्र मे आश्रित है। जगत् अवभास केवल वस्तुपरक प्रत्यय अथवा सवेदनाएँ मात्र नही हैं अपितु इसका विषयपरक अस्तित्व भी है, यद्यपि इसके अस्तित्व का स्वरूप ऐसा है जिसकी व्याख्या नहीं हो सकती और न जिसका वर्णन किया जा सकता है तथा प्रलय के समत्र इसका सूक्ष्म एव स्थूल उपादान कारण अविद्या मे छिपा रहेगा जो कल्प के आदि में अर्थात् सृष्टि-रचना के समय पुनरुज्जीवित होगा। तृतीय दृष्टिकोण पद्मपाद का है जो माया को कुछ और अधिक यथार्थता प्रदान करता है। उनके अनुसार माया वह उपादान है जिसका व्यापार द्विविध है—एक ज्ञानात्मक क्रिया शक्ति, द्वितीय स्पन्दनात्मक क्रिया-शक्ति, एक मनोव्यापार सम्बन्धी प्रक्रिया को निर्धारित करती है तथा दूसरी स्थूलप्रक्रिया को निश्चित करती है, तथा मायायुक्त ब्रह्म उपरोक्त दो शक्तियो सहित ईश्वर के रूप मे जगत् का मूल कारण है। परन्तु स्वय शंकर की रचनाओ मे भी विषयपरक विज्ञानवाद की जड़ें पाई जाती हैं। अत. बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य मे वह कहते हैं कि अवच्छेद एव प्रतिबिम्ब के सिद्धान्तो को छोड़कर यह कहा जा सकता है कि जैसे कुन्ती-पुत्र और राधेय एक ही है उसी प्रकार ब्रह्म भी अनादि अविद्या के कारण जीवात्माओं के रूप मे भासित होता है, इस प्रकार

ग्रन्थ की एक प्रतिलिपि टेक्का मठ मे उपलब्ध है, परन्तु इस पुस्तक के लेखक को अद्यार पुस्तकालयस्थ एक पाडुलिपि से इसका अध्ययन करने का सौभाग्य मिला तथा उसके दार्शनिक विचारो का निम्न सक्षिप्त विवरण भिन्न खड मे दिया जाता है। अप्पय दीक्षित कृत 'सिद्धान्त लेश' मे प्रकटार्थ विवरण नामक टीका का पता चलता है। यद्यपि आनन्दज्ञान ने अपना 'तत्वालोक' 'प्रकटार्थ' के अनुसार लिखा फिर भी आनन्द ज्ञान के सामान्य सिद्धान्त उसके (प्रकटार्थ) लेखक के अनुरूप नही थे, आनन्द-ज्ञान की स्थिति प्राय सर्वज्ञात्ममुनि जैसी ही थी तथा न तो उन्होने कई अज्ञानो को स्वीकार किया था और न उन्होने माया एव अविद्या मे कोई भेद माना। परन्तु जहाँ तक 'सिद्धान्त लेश' मे प्रकटार्थ के लेखक के बारे मे आए उल्लेखो के विवरणो से पता चलता है, 'प्रकटार्थ' के लेखक ने व्यक्तियो के अन्त करणो को पृथक् स्थान प्रदान किया है और सोचा कि जिस प्रकार जीव अन्त करण की अवस्थाओ मे शुद्ध चैतन्य के प्रतिविम्ब द्वारा ज्ञाता रूप हो सकता है उसी प्रकार ईश्वर भी माया विकार के द्वारा सब कुछ जान लेने के कारण सर्वज्ञ है। विधि के स्वरुप के बारे मे 'प्रकटार्थ' के मु डक लेखक के विचार पहले ही बताए जा चुके हैं। परन्तु जिस ढग से आनन्दज्ञान ने मु डक पृ० ३२ एव केन पृ० २३ मे 'प्रकटार्थ' का उल्लेख किया है वह इस बात का द्योतक है कि या तो वह 'प्रकटार्थ' के लेखक थे और या उन्होने उस पर कोई टीका लिखी। परन्तु वह इस ग्रन्थ के लेखक नही हो सकते क्योंकि उन्होने इसे 'तत्वालोक' के लेखन मे आदर्शरूप मानने का उल्लेख किया है, अत यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि उन्होने उस पर भाष्य लिखा होगा, परन्तु यह आश्चर्यजनक है कि शकर के कई महत्वपूर्ण भाष्यो पर टीका लिखने वाले आनन्दज्ञान ने 'प्रकटार्थ' पर एक अन्य टीका लिखने का कष्ट किया जो स्वय शाकर-भाष्य पर एक टीका ही है। अत. यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसका इतना सम्मान करने के कोई विशिष्ट कारण थे और यह उसके किसी विख्यात आचार्य की अथवा उनकी पैतृक शृ खला मे किसी एक की कृति हो। फिर भी यह नितान्त असम्भव है कि यह ग्रन्थ द्वादश शतक के मध्य के अनन्तर मे लिखा गया हो।[1]

जैसा कि चित्सुख ने उल्लेख किया है, गगापुरी भट्टारक का काल भी सम्भवत: आनन्दबोध के पूर्व का ही हो। अत गगापुरी या तो दशम शतक के उत्तरार्द्ध मे या एकादश शतक के पूर्वार्द्ध मे रहे होगे। यह असम्भव नहीं है कि वह आनन्दबोध के वरिष्ठ समसामयिक रहे हों। उनके ग्रथ "पदार्थ-तत्व-निर्णय" पर आनन्द ज्ञान ने टीका की है। उनके मत मे माया एव ब्रह्म, दोनो को जगत् का कारण ही मानना चाहिए। जगत् के सब प्रकार के प्रत्यक्ष-ज्ञान-विषयो की सत्ता है। जीव उनके कारण होता है। जीव का कारण वे है तथा विद्यमान होने वाले पदार्थों के कोई भी

---

[1] त्रिपाठी द्वारा लिखित 'इट्रोडक्शन टू दी तर्क सग्रह' देखिए।

उत्साहपूर्वक चालू रखी गई। इस प्रकार त्रयोदश शतक के मध्य मे वाचस्पति कृत भामती पर अमलानन्द ने अपने "कल्पतरू" मे व्याख्या लिखी, एव इस "कल्पतरू" पर अप्पय दीक्षित ने सोलहवी शताब्दि के उत्तर भाग मे तथा सत्रहवी शताब्दी के प्रथम चतुर्थाश मे टीका की, और लक्ष्मी नृसिंह ने अपने आभोग मे सत्रहवी शताब्दी के अन्त मे अथवा अट्ठारहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे टीका की।[1]

पद्मपाद कृत पचपादिका पर प्रकाशात्मन् ने तेरहवी शताब्दी मे अपने पचपादिका विवरण मे टीका की, अखडानन्द ने चौदहवी शताब्दी मे अपने "तत्वदीपन" मे, विद्यारण्य ने उसी शताब्दी मे अपने विवरण-प्रमेय-सग्रह मे, आनन्दपूर्ण एव नृसिंह ने सोलहवी शताब्दी मे टीका लिखी। सुरेश्वर की श्रृ खला भी विद्यारण्य कृत सुरेश्वर के महावार्तिक के सार "वार्तिकसार" एव उस पर लिखी गई टीकाओ मे तथा भाष्यो मे तथा षोडश शतक के तथा उनके बाद 'सक्षेप शारीरक' पर लिखी टीकाओ मे भी चालू रही। सर्वज्ञात्म मुनि के न्यूनाधिक सदृश दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियो द्वारा भी कई स्वतत्र ग्र थ लिखे गए।[2]

सम्भवत मडन द्वारा प्रतिपादित दृष्टि-सृष्टिवादी वेदान्त दर्शन के भी निस्सन्देह कुछ अनुयायी थे परन्तु इस विचारधारा के कोई विशिष्ट लेखक हमे सोलहवी शताब्दी के प्रकाशानन्द एव उनके शिष्य नाना दीक्षित के अतिरिक्त कोई नही मिलते। 'वेदान्त कौमुदी' एक महत्वपूर्ण ग्र थ है जिसका उल्लेख अप्पय दीक्षित ने अपने 'सिद्धान्त लेश' मे किया है। इस ग्र थ मे ब्रह्म की सर्वज्ञता को इस तथ्य मे निहित माना है कि ब्रह्म के रूप मे शुद्ध चैतन्य माया मे विद्यमान उन सब कार्यों को प्रकट करता है जो या तो वास्तव मे निवृत्ति को प्राप्त होती है, अथवा भविष्य के रूप मे—सभाव्य विकृति को प्राप्त होते है अथवा भूत के रूप मे परोक्ष विकृति को प्राप्त हो चुके है, और परमेश्वर ही जीवात्माओ मे अपनेआपको अतेस्थ साक्षी के रूप मे प्रकट करता है जो उनके अज्ञान के विकारो तथा स्वप्नहीन निद्रा मे उनके गूढ अज्ञान को प्रकट करता है। इस पुस्तक मे मौलिक प्रकृति के कई महत्वपूर्ण वेदान्ती मत व्यक्त किए गए है। रामाद्वय

---

[1] त्रिविक्रमाचार्य के पुत्र अल्लाल सूरि ने भामती पर भामती-तिलक नामक टीका लिखी।

[2] सक्षेप शारीरक पर मुद्रित दो भाष्यो के अतिरिक्त वेदाध्यक्ष भगवत्पूज्यपाद के शिष्य वेदानन्द कृत 'सक्षेप शारीरक-सम्बन्धोक्ति' नामक अन्य ग्र थ है जिसमे लेखक उसके श्लोको के पारस्परिक सम्बन्ध को सगत अर्थ देने के रूप मे बताने का प्रयत्न करता है। नृसिंहाश्रम ने भी तत्वबोधिनी नामक एक टीका 'सक्षेप शारीरक' पर लिखी। सर्वज्ञात्म भगवत ने 'पचप्रकिया' नामक एक छोटा सा वेदान्त ग्र थ लिखा परन्तु यह सम्भव नही कि वह वही सर्वज्ञात्म मुनि है।

वारा को अपने ग्रथो के अगीकार करने मे कोई आनाकानी नही की। नृसिहाश्रम के एक शिष्य धर्मराजाध्वरीन्द्र थे जिन्होने वेदान्त-परिभाषा, गगेश-कृत तत्व-चितामणि पर तत्व-चूडामणि नामक टीका एव शशधर आचार्य कृत न्याय-सिद्धान्त पर भी टीका एव पद्मपाद कृत पच-पादिका पर टीका लिखी। उनके पुत्र एव शिष्य रामकृष्ण दीक्षित ने वेदान्त परिभाषा पर वेदान्त-शिखामणि नामक एक टीका लिखी, और ब्रह्म विज्ञान के शिष्य अमरदास ने रामकृष्ण कृत इस शिखामणि पर एक अन्य टीका लिखी।[1] रामकृष्ण ने रुचिदत्त कृत 'तत्व-चितामणि-प्रकाश' पर 'न्याय शिखामणि' नामक टीका एव 'वेदान्त-सार' पर भी एक टीका लिखी। अन्य लेखक यथा काशीनाथ शास्त्री एव ब्रह्मेन्द्र सरस्वती ने भी सत्रहवी शताब्दी मे धर्मराज कृत वेदान्त-परिभाषा के अनुसार वेदान्त परिभाषा नामक अलग-अलग ग्रथ लिखे। नृसिंह के प्रभाव क्षेत्र मे परन्तु रगराज अध्वरी के शैव एव मीमासक कुल मे अप्पय दीक्षित का जन्म हुआ जो सोलहवी एव सत्रहवी शताब्दियो के विख्यात आचार्यो मे एक थे। उनके सब ग्रथो का उल्लेख उन्हे समर्पित किए गए खड मे हैं। पुनश्च, वह भट्टो जी दीक्षित के आचार्य थे जिन्होने व्याकरण एव स्मृति पर कई ग्रथो के अतिरिक्त 'तत्व-कौसतुम' तथा 'वेदान्त-तत्व-दीपन-व्याख्या' नामक वेदान्त पर दो महत्वपूर्ण ग्रथ लिखे। वेदान्त-तत्व-दीपन-व्याख्या नारायणाश्रम (नृसिहाश्रम के शिष्य) कृत वेदान्त तत्व विवेक पर लिखे तत्व-दीपन-भाष्य पर टीका है।

इन नारायणाश्रम ने भी नृसिहाश्रम-कृत भेद-धिक्कार पर भेद-धिक्कार-सत्क्रिया नामक एक अन्य टीका भी लिखी थी और आगे चलकर अट्ठारहवी शताब्दि मे राम भद्राश्रम एव नागेश्वर के शिष्य नरसिंह भट्ट ने नृसिंह-कृत 'भेद-धिक्कार' पर 'अद्वैत चन्द्रिका' नामक टीका लिखी। भट्टो जी दीक्षित के पुत्र भानु जी दीक्षित ने अमरकोष की टीका (व्याख्यासुधा अथवा सुबोधिनी) की। भट्टो जी केवल 'अप्पय' के ही नही बल्कि नृसिहाश्रम मुनि के भी शिष्य थे। भट्टो जी के कनिष्ठ भ्राता एव शिष्य रगोजी भट्ट ने अद्वैत चिन्तामणि एव अद्वैत-शास्त्र-सारोद्धार नामक दो ग्रथ न्यूनाधिक रूप से उन्ही दिशाओ मे लिखे जिनमे निम्न विषयो का समावेश था वैशेषिक पदार्थो का खडन, आत्मा के स्वरूप का निर्धारण, प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त एव अज्ञान के स्वरूप का निर्धारण, जगत् अवभास के मिथ्यात्व के प्रमाण, तथा ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण तथा ब्रह्मानन्द की उपलब्धि कैसे हो। उनके पुत्र कोंड भट्ट मुख्य रूप से व्याकरणाचार्य थे जिन्होने वैशेषिक पर भी कुछ लिखा। पुनश्च, विश्वेश्वर सरस्वती के (सर्वज्ञ विश्वेश एव गोविन्द सरस्वती के शिष्य के शिष्य) शिष्य मधुसूदन सरस्वती

[1] नारायण दीक्षित के पुत्र पेद्दा दीक्षित ने भी वेदान्त परिभाषा पर 'वेदान्त परिभाषा-प्रकाशिका' नामक टीका लिखी।

रामभद्रानन्द के आचार्य रामानन्द सरस्वती थे जिन्होने 'सिद्धात-चन्द्रिका' नामक ग्रथ लिखा और जिस पर 'साम्राज्य सिद्धि' एव उसकी टीका कैवल्य कल्पद्रुम के लेखक, सर्वज्ञ सरस्वती के शिष्य के शिष्य तथा रामचन्द्र सरस्वती के शिष्य गगाधरेन्द्र सरस्वती (१८२६ ई० प०) ने लिखी। प्रकाशानन्द शाकर-शारीरिक भाष्य पर लिखी गई 'ब्रह्म विद्याभरण'' नामक टीका के लेखक अद्वैतानद के शिष्य थे। अद्वैतानद 'अन्वय प्रकाशिका' (सर्वज्ञात्म मुनि-कृत सक्षेप शारीरिक पर टीका) के लेखक रामतीर्थ के शिष्य थे तथा नृसिहाश्रम के आचार्य जगन्नाथाश्रम के समकालीन कृष्णतीर्थ के शिष्य थे। रामतीर्थ कृत 'अन्वय प्रकाशिका' मे मधुसूदन कृत 'अद्वैत-सिद्धि' का ज्ञान होने का पता चलता है और इस प्रकार उनकी काल गणना सत्रहवी शताब्दि के मध्य मे की जा सकती है। पुन स्वयप्रकाशानन्द के शिष्य 'अद्वैत-चिंता-कौस्तुम' अथवा 'तत्वानुसधान' के लेखक महादेवानन्द अथवा महादेव वेदान्ती थे। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सत्रहवी एव पूर्व अट्ठारहवी शती के ये लेखक वेदान्ती विचारधारा के विभिन्न मण्डलो मे समृद्ध हुए जहाँ वेदान्त की विवरण शाखा के लेखको की अपेक्षा वाचस्पति, सुरेश्वर और सर्वज्ञात्म मुनि का अधिक प्रभाव था। अद्वैत ब्रह्म सिद्धि के लेखक सदानद काश्मीरक एक अन्य सहृतिवादी वेदात लेखक थे। जिनका काल अट्ठारहवी शती का पूर्व भाग है। 'अद्वैत ब्रह्म सिद्धि' अद्वैताचार्यों की विभिन्न शाखाओ मे वर्णित वेदान्त-सिद्धान्तो की मुख्य-मुख्य बातो की व्याख्या करने वाला एव सुलभ शैली मे लिखित सम्पूर्ण महत्वपूर्ण वेदान्त-सिद्धान्तो का एक उत्कृष्ट सार ग्र थ है। नरहरि कृत 'बोध सार' अट्ठारहवी शती के अत की महत्वपूर्ण कृतियो मे से एक मानी जा सकती है।[1]

---

[1] सत्रहवी से उन्नीसवी शताब्दियो मे लिखित कई अन्य महत्वपूर्ण वेदान्त ग्र थ भी गिनाए जा सकते हैं—इस प्रकार नृसिहाश्रम के पौत्र तथा सर्वज्ञनारायण के पुत्र लोकनाथ ने द्वैतवादियो के दृष्टिकोण का खडन करने के लिए तीन अध्यायो मे अद्वैत मुक्तासार नामक एक छद ग्र थ तथा उस पर कान्ति नामक टीका की रचना की। ब्रह्मानद सरस्वती ने अद्वैत-सिद्धान्त-विद्योतन लिखा। योगानन्द के शिष्य गोपालानद सरस्वती ने 'अखडात्मक प्रकाशिका' लिखी, विश्वेश्वराश्रम के शिष्य, शिवराम के शिष्य हरिहर परमहस ने 'अनुभव-विलास' लिखा, और उन्नीसवी शती के प्रारम्भ के ब्रह्मानद के शिष्य सामिन ने बारह अध्याय मे 'ब्रह्मानन्द-विलास' नामक एक महान् ग्र थ लिखा। इस सम्बन्ध मे कतिपय वेदान्त तर्क विद्या के उन महत्वपूर्ण ग्र थो का उल्लेख करना असगत नही होगा जो अन्य दार्शनिक-दृष्टिकोणो का खडन करते हुए न्यूनाधिक उन तार्किक लेखो के आधार पर लिखे गए हैं जिनका प्रस्तुत ग्र थ मे सकेत है। इस प्रकार श्रीहर्ष-कृत खडन-खड-खाद्य के टीकाकार आनन्दपूर्ण (१६०० ई० प०) ने न्याय, मीमासा और वैशेपिक मतो का खडन

विशिष्ट क्षेत्रो मे आचार्य एव शिष्यो के सम्बन्ध के बारे मे जो सकेत किया गया है वह पूर्वतरलेखको के सम्बन्ध मे भी ठीक उतरता है यद्यपि पूर्वतर पुस्तको की अनुपलब्धि के कारण एव प्राचीनतर परम्पराओ के पद चिह्न अधिकाधिक क्षीण पडने के कारण इनका पता लगाना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि चौदहवी शती मे विद्यारण्य अमलानन्द के समकालीन थे क्योकि वे दोनो क्रमशः शकरानन्द एव अनुभवानद के शिष्य थे, और ये दोनो आनन्दात्मन् के शिष्य थे। शकरानद 'गीता-तात्पर्य-बोधिनी' एव विभिन्न उपनिषदो तथा 'उपनिषद्रत्न' नामक उपनिषद् सार के भी लेखक थे। लेकिन अमलानन्द के न केवल अनुभवानन्द ही अपितु सुखप्रकाश मुनि भी आचार्य थे जो चित्सुख के शिष्य थे जो स्वय गौडेश्वर आचार्य के शिष्य थे। (जिनका नाम ज्ञानोत्तम भी था)।

वेदान्त का आत्म-विचार एवं बौद्ध अनात्मवाद का सिद्धान्त

शकर द्वारा बौद्ध दर्शन की आलोचना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय विभिन्न मनोवैज्ञानिक अगो को एकीकृत करने वाले अथवा अनुभवो के भोक्ता एव सपूर्ण विचारो तथा क्रियाओ के नियन्त्रक के रूप मे व्यवहार करने वाले चिरस्थायी आत्मा के निषेध के विरुद्ध नियोजित है। बौद्ध कथित युक्ति के अनुसार इन्द्रिय ज्ञानोत्पत्ति के लिए रूप अथवा शब्द के ज्ञान की तरह रूप के इन्द्रिय प्रदत्त विषय के अतिरिक्त उसके अनुरूप इन्द्रिय शक्ति आवश्यक होती है जबकि इस कार्य-सम्पादन के लिए आत्मा का

करते हुए चार प्रकरणो मे 'न्याय चन्द्रिका' लिखी, सभवत उसी शती वाले नारायण ज्योतिष के शिष्य आनन्दानुभव ने 'पदार्थ-तत्व-निर्णय' नामक उसी प्रकार का ग्रथ लिखा, सम्भवत तेरहवी शती मे रहने वाले ज्ञानघन ने 'तत्व-शुद्धि' नामक सैंतीस प्रकरणो वाला विशद तार्किक ग्रथ लिखा, सम्भवत सोलहवी शती मे रहने वाले श्रीनिवास यज्वन् ने विशिष्टाद्वैत एव द्वैत दृष्टिकोणो का खण्डन करते हुए छब्बीस प्रकरणो मे 'वादावली' नामक ग्रथ लिखा, भवानीशकर ने भी इसी प्रकार का 'सिद्धान्त-दीपिका' नामक तार्किक ग्रथ लिखा, सहतिवादी अर्थ लोकप्रिय वेदान्ती ग्रथो के निम्न उदाहरण दिए जा सकते हैं यथा —

वसुदेवेन्द्र कृत 'तत्व-बोध,' स्वयप्रकाश योगीन्द्र कृत 'गुणत्रय विवेक,' रामचन्द्रयोगी कृत 'जगत्-मिथ्यात्व दीपिका,' शिवानन्दयती कृत 'आनन्द दीप,' (जिस पर रामनाथ ने 'आनन्द-दीप टीका' लिखी थी) योगीश्वर कृत 'स्वात्म योग प्रदीप' (जिस पर अमरानन्द ने टीका लिखी थी) तथा वेदपडित कृत 'वेदान्त-हृदय' (गौडपाद एव योगे वाशिष्ट के आधार पर)।

अस्तित्व आवश्यक है।[1] वसुवन्धु के विचारानुसार इन्द्रिय-प्रदत्त एव समूहीकृत विपय में उन मनोवैज्ञानिक तत्वो का अनुभव होता है जिन्हे स्कन्ध कहते है। जिसे आत्मा कहा जाता है वह वस्तुतः मनोवैज्ञानिक तत्वो के समुदाय प्रज्ञप्ति-सत् मात्र के अतिरिक्त और कुछ नही है। वह यथार्थ-तत्व मनोवैज्ञानिक तत्वो का समुदाय है। यदि प्रतीयमान आत्मा एव मनोवैज्ञानिक तत्व मे रूप और शब्द के समान भावान्तर होता तो उसे पुद्गल माना जाता, परन्तु यदि इन मनोवैज्ञानिक तत्वो से इसका भेद वैसा ही होता जैसाकि क्षीर के सघटको का क्षीर की प्रतीति से भेद है तो आत्मा को केवल प्रज्ञप्ति-सत् वाला ही माना जाएगा।[2]

वस्तुत आत्मा की मनोवैज्ञानिक तत्वो से भिन्नता केवल प्रज्ञप्ति सत् ही है, जिस प्रकार यद्यपि क्षीर अपने सारभूत अग तत्वो के समुदाय से भिन्न अस्तित्व वाला प्रतीत होता है फिर भी वह अपने सारभूत-अश तत्वो के निश्चित प्रकार के समुदाय के अतिरिक्त वस्तुत कुछ भी नही है। उसी प्रकार भिन्न स्वतन्त्र सत्ता के रूप मे भासित होने पर भी आत्मा स्कन्ध-समुदाय के अतिरिक्त कुछ नही है। तथापि वात्सीपुत्रियो के विचार मे लक्षण-वैभिन्य के कारण स्कन्धो की पुद्गल से कुछ भिन्नता है। वात्सीपुत्रीय शाश्वत आत्मा का निपेघ करते है परन्तु उनका स्कन्धो के भिन्न एव स्वतन्त्र पदार्थ के रूप मे क्षणिक पुद्गल मे विश्वास है। जिस प्रकार वह्नि उपाधि-युक्त ईंधन से भिन्न होता है उसी प्रकार पुद्गल उसे कहते हैं जो प्रज्ञप्ति-सत् मे एक निर्दिष्ट समय मे स्कन्धो द्वारा उपाधि युक्त होता है।[3] फिर भी वसुवन्धु ऐसे पुद्गल के विरुद्ध युक्ति देते हुए कहते हैं कि इस प्रकार के पुद्गल को स्वीकार करना निष्प्रयोजन है। केवल शून्य मे वर्षा एव धूप निष्प्रभावशाली होते हैं, उनका उपयोग तो केवल चर्म को ही है, यदि पुद्गल चर्म की तरह अनुभव के मूल्य को निर्धारित करता है तो इसे वाह्य अग के रूप मे स्वीकार करना होगा, यदि वह शून्य देश की तरह है तो

---

[1] यहाँ अभिधर्म कोष मे दी गई वसुवन्धु की उन युक्तियो का अनुसरण किया गया है जो 'पुद्गल विनिश्चय' नामक प्रो० शेरवात्स्की कृत उस ग्रथ के आठवें प्रकरण के परिशिष्ट के अनुवाद एव विश्वभारती, वगला मे ली गई यशोमित्र कृत उसकी टीका की नेपाली पांडुलिपि पर आधारित है।

[2] यदि यथा रूपादि शब्दादेर्भिन्नम् अभिप्रेयते पुद्गल इति अभ्युपगतो भवति भिन्न लक्षण हि रूप शब्दादीत्यादि क्षीरादिवत् समुदायश्चेत् प्रज्ञप्ति । अभिधर्म-कोष व्याख्या, विश्व भारती, पांडुलिपि पृष्ठ ३३७

[3] Stcherbatsky कृत पुद्गल-विनिश्चय का अनुवाद Bulletin de l Academie des Science de Russia पृ० ८३०.
तिब्बती भाषा मे अनूदित वसुवन्धु का यही पाठ निम्न है :
अतीत-अनागत-प्रत्युत्पन्न-[illegible] पुद्गल-प्रज्ञप्ति । वही, पृष्ठ ८४३

इसे स्वीकार करने मे किसी भी हेतु की पूर्ति नही होगी ।[1] कुछ भी हो, वात्सीपुत्रियो ने सोचा कि जिस प्रकार ईधन अग्नि को उपाधियुक्त करता है उसी प्रकार पुद्गल को उपाधियुक्त करने वाला स्कन्ध है । इस उपाधिकरण से वात्सीपुत्रियो का तात्पर्य यह है कि पुद्गल एक प्रकार से आश्रयभूत और सहभूत हैं ।[2] पुद्गल का व्यक्तिगत तत्वो द्वारा उपाधियुक्त होने का तात्पर्य यह है कि स्कन्धो की उपस्थिति मे पुद्गल की उपस्थिति है ।[3] परन्तु वसुबन्धु का आग्रह है कि व्यक्ति के प्रज्ञप्ति सन् को प्रतिष्ठित करने मे इस प्रकार की उपाधि मात्र पर्याप्त नही है, क्योकि रूप भी दृष्टि, प्रकाश एव अवधान द्वारा इस प्रकार उपाधियुक्त होता है कि इनकी उपस्थिति मे भी प्रकाश का प्रत्यक्षीकरण होता है, परन्तु क्या कोई इस आधार पर रूप के अस्तित्व को प्रज्ञप्ति सत् मान सकता है ? और क्या प्रज्ञप्ति तत्वो को अलग पदार्थ माना जा सकता है ? पुनश्च, यह पूछा जा सकता है कि यदि ऐसे किसी व्यक्ति का अस्तित्व हो तो उसका अनुभव कैसे होता है क्योकि यदि इसका अनुभव किसी एक इन्द्रिय द्वारा होता है तो यह इन्द्रिय प्रदत्त विषय होगा, क्योकि इन्द्रियाँ केवल अपने इन्द्रिय प्रदत्त विषयो को ही समझ सकती हैं एव पुद्गल इन्द्रिय-प्रदत्त विषय नही है । अत यथा क्षीर, रूप, रस इत्यादि समुदित इन्द्रिय-प्रदत्त विषयो के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं उसी प्रकार तथाकथित पुद्गल स्कन्धो के अतिरिक्त कुछ नही है ।[4] वात्सीपुत्रीय यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि चूँकि स्कन्ध, इन्द्रिय प्रदत्त विषय आदि पुद्गल के अनुभव के कारण है अत पुद्गल का इन कारण-तत्वो से तादात्म्य नही हो सकता जो अनुभव के कारण है, यदि ऐसा होगा तो अपने इन्द्रिय-प्रदत्त विषयो के अनुभव के कारण प्रकाश, नेत्र, अवधान इत्यादि भी पुद्गल से अभिन्न समझे जाएगे ।[5] परन्तु यह मान्य नही है, ध्वनि के प्रदत्त विषय एव वर्ण सदा पुद्गल से भिन्न समझे जाते हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति सदैव पुद्गल से इन्द्रिय प्रदत्त विषयो की भिन्नता प्रदर्शित करता

---

[1] वात्सीपुत्रीयाणा तीर्थिक दृष्टि प्रसज्यते निष्प्रयोजनत्वच ।
वर्षातपाभ्या किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयो फलम ।
चर्मोपमश्चेत् स नित्य खतुल्यश्चेदसत्फल ।। यशोमित्र कृत भाष्य का पृष्ठ ३३८ ।

[2] आश्रय भूतो सहभूतश्च । वही

[3] रूपस्यापि प्रज्ञप्ति वक्ता चक्षुरादिषु सत्सुतस्योपलम्भात्,
तानि चक्षुरादीनि उपादाय रूप प्रज्ञाप्यते । वही

[4] यथा रूपादिन्येव समस्तानि समुदितानि क्षीर मिति उदक इति वा प्रज्ञाप्यते, तथा स्कन्धाश्च समस्ता पुद्गल इति प्रज्ञाप्यते, इति सिद्धम् । यशोमित्र कृत भाष्य २५, पृष्ठ ३३६ अ ।

[5] यथा रूप पुद्गलोपलब्धे, कारण भवति स चैतेभ्योऽन्यो न वक्तव्य आलोक चक्षुर्मनस्कारा अपि रूपोपलब्धु, कारण भवति तदपि तद् अभिन्न-स्वभाव पुद्गल प्राप्नोति । वही ।।

है और कहता है—'यह ध्वनि है' 'यह वर्ण है' 'यह व्यक्ति है' ।[1] परतु जैसे रूप ध्वनि से भिन्न है वैसे पुद्गल एव स्कन्धो के वैभिन्य का अनुभव नही होता। वैभिन्य का सिद्धान्त क्षणो के वैभिन्य के सिद्धान्त मे निहित है, रूप का शब्द से पृथक्त्व का कारण इसका पृथक् क्षण मे अनुभव है जबकि पुद्गल एव स्कन्ध पृथक क्षणो मे अनुभूत नहीं होते ।[2] परन्तु प्रत्युत्तर मे यह तर्क दिया जाता है कि इन्द्रिय-प्रदत्त विषय एव पुद्गल न तो भिन्न है और न अभिन्न है । अत अनुभव मे उनकी प्रज्ञप्ति भी न तो भिन्न है और न अभिन्न ।[3] परन्तु वसुबन्धु का कथन है कि यदि इस सिद्धान्त मे यह दृष्टिकोण अपनाया जाय तो जहां कहीं भी समुदाय होगा उन सब सिद्धान्तो मे इसी सिद्धान्त को अपनाना पडेगा ।[4] इसके अतिरिक्त विभिन्न इन्द्रियो के विशिष्ट क्षेत्र है और उनके साथ क्रिया करने वाले मनस् का क्षेत्र भी उनके द्वारा दिए गए विषयों तक ही सीमित है, अतः ऐसी कोई विधि नही है जिसमे तथाकथित पुद्गल का अनुभव हो सकता है । अजित-उपदेश मे बुद्ध ने कहा बताते है, 'दृष्टि-चैतन्य दर्शनेन्द्रिय एव दृष्ट-विषय पर आधारित है । जब ये तीनो (विषय, इन्द्रिय एव चैतन्य) सयुक्त होते है तब सवेदना उत्पन्न होती है । इसके साथ भाव, प्रतिबिम्ब (यह सिद्धान्त कि इन्द्रियो द्वारा अनुभूत जगत् मे प्रथम अनुभूत विषय चेतनातीत विषय को प्रतिबिम्बित करता है) तथा सकल्प आते है । जब हम किसी प्राणी के सम्बन्ध मे कुछ कहते हैं तो उसका तात्पर्य इतना ही होता है । उनको (पच तत्व को) विभिन्न नाम दिए गए है यथा चेतन प्राणी, मनुष्य, मनु की सतान, मानव, बालक, व्यक्ति, जीवन, आत्मा । यदि उनके सबध मे यह कहा जाए कि 'वह स्वय अपने नेत्रो से देखता है' तो यह मिथ्यारोपण होगा (क्योकि वस्तुत कोई ऐसा प्राणी नही है जिसके स्वय के अपने नेत्र हो) । सामान्य जीवन मे उनके बारे मे ऐसे कथन प्रचलित हैं यथा इन माननीय पुरुष का उक्त नाम है, यह अमुक जाति तथा अमुक परिवार के है, वे अमुक भोजन करते है, यह उन्हे अच्छा लगता है, उनकी अमुक उम्र हो गई है, वह अमुक वर्षो तक जीवित रहा है, वह अमुक आयु मे मर गया है । बन्धुओ ! अतः ये शब्द मात्र है, प्रचलित पद-सज्ञाए है ।

वे शब्दावलिय है, (पन्तु सत्य नही) ।
यथार्थ तत्व काल–बद्ध नही होते,

---

[1] वही पृष्ठ ३३९ बी०

[2] स्वलक्षणादपि क्षणान्तरमन्यदिति उदाहार्यम् । वही

[3] यथा रूप-पुद्गलयोरन्यानन्यत्व अवक्तव्य एव तदुपलब्ध्यो अपि अन्यानन्यत्वम् अवक्तव्यम् । वही ॥

[4] योऽयम् सिद्धान्त पुद्गल एव वक्तव्य सोऽयम् भिद्यते सस्कृतमपि अवक्तव्यम् इति कृत्वा । वही ॥

जब मन विषयक तत्व से संयुक्त होकर प्रकट होता है) तब हम कहते है कि उसे विषय का बोध होता है और इसी ढग से भौतिक तत्वो के अस्तित्व की बात करते है। हम कहते है कि 'जड पदार्थ' उत्पन्न होता है, इसका अस्तित्व है, परन्तु सत्ता एव सत्तावान मे कोई भेद नही है तो यही बात चेतनत्व के सम्बन्ध मे सत्य है (यहाँ स्वय चेतनत्व के गतिशील क्रिया के अतिरिक्त ऐसा कुछ भी नही है जो ज्ञाता हो)।[1]

यह ज्ञात करना सुलभ है कि शाकर-वेदान्त दर्शन द्वारा प्रस्तुत चेतनत्व का विश्लेषण इससे पूर्णतया भिन्न है। वेदान्त के मत मे चेतनत्व का तथ्य अन्य सब मतो से सर्वथा भिन्न है। जबतक किसी ज्ञान को, यथा प्रकाश की विद्यमानता, इन्द्रिय विषय सन्निकर्ष इत्यादि को, पूर्ववर्ती भौतिक अथवा दैहिक अवस्थाओ का समुदाय तैयार किया जाता है तबतक ज्ञान नही होता, एव किसी विशिष्ट क्षण मे ही विषय-ज्ञान उद्भूत होता है। यह ज्ञान अवस्थाओ के तथाकथित समुदाय को सगठित करने वाले प्रत्येक तत्व और सब तत्वो से अत्यन्त भिन्न होता है कि यह किसी भी अर्थ मे अवस्थाओ के समुदाय का परिणाम नही कहा जा सकता। अत चेतनत्व किसी वस्तु का परिणाम न होने व किन्ही सघटको मे विश्लेष्य न होने के कारण क्षणिक स्फुरण भी नही माना जा सकता। अहेतुक, अनिर्मित एव अनुत्पादित, यह नित्य, अनन्त तथा असीम है। चेतनत्व का अन्य सब वस्तुओ से वैभिन्य का मुख्य विषय उसके स्वय ज्योति का तथ्य है। चेतनत्व मे कोई जटिलता नही है। यह अतीव सरल है एव इसका एकमात्र सार-बल अथवा लक्षण शुद्ध स्वत प्राकाश्य है। चेतनत्व का तथाकथित क्षणिक स्फुरण इस तथ्य के कारण नही है कि यह क्षणिक है एव इसका अस्तित्व होता है और पश्चात् क्षण मे ही नष्ट हो जाता है अपितु इस तथ्य के कारण है कि इसके द्वारा अभिव्यक्त विषय समय समय पर इसी के द्वारा प्रतिबिम्बित होते है। परन्तु चेतनत्व सदैव स्वय मे स्थिर एव अविकार्य है। इस चेतनत्व का अपरोक्षत्व इस तथ्य से सिद्ध होता है कि यद्यपि अन्य सब कुछ इसके सम्पर्क द्वारा ही प्रकट होता है जबकि यह स्वय अनुमान अथवा किसी अन्य विधि द्वारा कदापि वर्णित, सूचित अथवा अभिव्यक्त नही होता, बल्कि यह सदैव स्वत अभिव्यक्त एव प्राकाश्य है। ज्योही समस्त विषय इसके सन्निकर्ष मे आते है त्योही वे अपरोक्ष रूप मे प्रकट हो जाते हैं। सम्विद् अद्वितीय है। यह न तो अपने विषयो से भिन्न है और न चेतनत्व और उनके समुदाय मे सारभूत-अश के तत्व के रूप मे उनके समान स्तर पर ही है। चेतनत्व के विषय अथवा चेतनत्व मे अभिव्यक्त सब कुछ सम्विद् के सन्निकर्प मे आते हैं और स्वय सम्विद् की तरह प्रतीत होते हैं। यह प्रतीति ऐसी है कि जब वे सम्विद् के सन्निकर्ष मे आते है तब वे स्वय चैतन्य की तरह प्रकाशित होते हैं यद्यपि वह अर्थ-क्रिया चैतन्य के प्रकाश मे उससे एकरूपता दिखाते हुए अचेतन विषय

---

[1] Bulletin de l Academic des Science de Russie पृष्ठ ६३८-६३९

एव मानसिक अवस्थाओं की मिथ्या प्रतीति के अतिरिक्त कुछ नही है। परन्तु चैतन्य एव उसके विषयो मे सहज अन्तर यह है कि चैतन्य प्रत्यक् एव अनावृत है जबकि विषय अप्रत्यक् एव आवृत्त है। पुस्तक, मेज इत्यादि का विज्ञान इसलिए भिन्न प्रतीत नही होता कि ये ज्ञान के विभिन्न स्फुरण है बल्कि इसका कारण चैतन्य का इन विषयो के साथ परिवर्तनशील साहचर्य है। विषय अपने विज्ञान के स्फुरण के साथ ही अस्तित्व मे नही आते बल्कि उनका अस्तित्व एव अर्थक्रिया का क्षेत्र भिन्न है।[1] संवित् अद्वितीय एव अविकार्य है, विषयो का इसके साथ सम्बन्ध होने के कारण ही वे संवित् मे एव इसके साथ अभिन्न रूप मे इस प्रकार प्रतीत होते है कि चैतन्य मे विषय का स्फुरण स्वय चैतन्य का स्फुरण प्रतीत होता है। माया के कारण ही चैतन्य का विषय एव चैतन्य इस प्रकार के तमस पूर्ण मे भासित होते है कि उनके पारस्परिक अन्तर की ओर हमारा ध्यान नही जाता और चैतन्य पर प्रयुक्त बाह्य वर्णों की तरह चैतन्य का विषय भिन्न अथवा उसके बाहर प्रतीत नही होता बल्कि स्वय चैतन्य के विशिष्ट प्रकार की तरह प्रतीत होता है। इस प्रकार पुस्तक-ज्ञान, मेज-ज्ञान के रूप मे प्रतीत होने वाली विभिन्न विज्ञप्तिया वस्तुत विभिन्न विज्ञप्तिया नही है बल्कि एक अविकार्य चैतन्य है जो सदा परिवर्तनशील विषयो से क्रमिक रूप मे सम्बद्ध है और ये विषय चैतन्य से मिथ्या रूप मे एकीभूत प्रतीत होते है तथा प्रतीति का कारण है कि चैतन्य के गुण रूप मे विभिन्न प्रकार से क्षण-क्षण पर स्फुरित होते है। चैतन्य को क्षणिक नही माना जा सकता। क्योकि ऐसा होता तो यह प्रत्येक विभिन्न क्षण भिन्न प्रतीत होता। यदि यह कहा जाय कि यद्यपि भिन्न-भिन्न सवित्तिया प्रत्येक भिन्न क्षण मे उत्पन्न होती हैं तो भी आत्यतिक सादृश्य के कारण यह ध्यान मे नही आता, तब यह उत्तर दिया जा सकता है कि यदि दो यथाक्रम क्षणो की दो सवित्तियो मे भेद है तो ऐसा विभेद या तो किसी अन्य चैतन्य द्वारा या उसी चैतन्य द्वारा अवश्य ग्राह्य होना चाहिए। प्रथम विकल्प मे–प्रथम दो विज्ञप्तियो तथा उनके विभेद का बोध करने वाली तृतीय विज्ञप्ति या तो उनके साथ एकरूप होनी चाहिए और उस अवस्था मे तीनो विज्ञप्तियो मे कोई विभेद नही रह जाएगा, या वह उनसे भिन्न हो सकती है और उस अवस्था मे यदि उनके विभेद को ग्रहण करने के लिए किसी अन्य विज्ञप्ति की आवश्यकता हो और फिर उसे किसी अन्य की आवश्यकता हो तो इस प्रकार अनवस्था प्रसग का दोष होगा। यदि वह भेद सवृत-स्वरूपभूत हो एव यदि इस भेद को ग्रहण करने के लिए कुछ भी न हो तो भेद की अविद्यमानता मे स्वय सवित्

---

[1] तत्व-दर्शी तु नित्यम् द्वितीय विज्ञान विषयाश्च तत्राध्यस्ता पृथगर्थ-क्रिया-समर्थास्तेषा चाबाधित स्थायित्वमस्तीति वदति।
विवरण-प्रमेय-सग्रह पृष्ठ ७४
विजयनगर सस्कृत सिरीज, वाराणसी, १८९३।

की अविद्यमानता निहित है, क्योंकि उपकल्पना द्वारा भेद को सवित्-भूत माना गया है।

इस प्रकार एक क्षण की विज्ञप्ति का अन्य क्षण की विज्ञप्ति से भेद न तो तार्किक दृष्टि से सिद्ध किया जा सकता है और न अनुभव मे ही इसका बोध होता है जो सदैव उसकी प्रतीतियो के समस्त क्षणो मे विज्ञप्ति की एकरूपता को प्रमाणित करता है। यह कहा जा सकता है कि अद्वैत-एकात्मकता का अवभास भ्रान्तिपूर्ण है और इस प्रकार यह मान कर चलता है कि विज्ञप्तियो मे सादृश्य है, क्योंकि इस प्रकार के सादृश्य के बिना अद्वैत का भ्रान्तिपूर्ण अवभास नही हो सकता था। परन्तु जबतक विज्ञप्तियो के भेद और सादृश्य पहले सिद्ध नही किए जाते तबतक कोई चीज ऐसी नही है जो इतना सा सकेत दे सके कि अद्वैत का अवभास भ्रान्तिपूर्ण है।[1] यह आग्रह नही किया जा सकता कि दो विभिन्न क्षणो की विज्ञप्तियो मे भेद एव सादृश्य के अस्तित्व को मिथ्या सिद्ध किए जाने की अवस्था में ही एकरूपता के अवभास को सत्य सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि अद्वैत का अवभास प्राथमिक है एव अनुभव द्वारा प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध होता है। विज्ञप्तियो के भेद एव सादृश्य के अस्तित्व को अन्यथा सिद्ध करने की अवस्था मे ही इनके साक्ष्य को चुनौती दी जा सकती है। विज्ञप्ति की अद्वैतता विज्ञप्ति के तादात्म्य की प्रत्यभिज्ञा है जो स्वय-सिद्ध है।

यह भी बताया जा चुका है कि बौद्ध प्रत्यभिज्ञा के तथ्य का विभिन्न विश्लेषण देते हैं। उनके मत मे प्रत्यक्षीकरण के समय प्रत्यक्षीकरण वस्तुओ के अस्तित्व को प्रदर्शित करना है जबकि प्रत्यभिज्ञा मे भूतकाल के द्वारा उनके अस्तित्व की कल्पना अन्तर्निहित है और यह प्रत्यक्षीकरण द्वारा गम्य नही है क्योंकि प्रत्यक्षीकरण केवल वर्तमान क्षण तक ही सीमित है। यदि यह कहा जाय कि प्रत्यभिज्ञा का कारण पूर्वानुभव के सस्कारो के साथ सबद्ध वर्तमान प्रत्यक्षीकरण है तो इस प्रकार के तादात्म्य की प्रत्यभिज्ञा 'सोऽहम्' के रूप मे आत्मा के तादात्म्य को सिद्ध नही करेगी— क्योंकि स्वय ज्योति आत्मा मे कोई सस्कार नही हो सकते। स्फुरण के रूप मे चैतन्य मात्र किसी प्रकार के तादात्म्य को सिद्ध नही कर सकता, क्योंकि वह तो वर्तमान क्षण तक ही सीमित है एव वह भूत-काल के अनुभव के प्रसग मे वर्तमान-काल के अनुभव के साथ नही जोडा जा सकता। बौद्ध अपने पक्ष मे तादात्म्य के प्रत्यक्षीकरण की अभेदता के रूप मे प्रत्यभिज्ञा के अस्तित्व का निषेध करता है और मानता है कि वस्तुत वे एक नही दो प्रत्यय हैं— 'अहम्' और 'तत्' — काल मे अटल रहते हुए इस आत्मा की अभेदता के पृथक् अनुभव हैं। इस पर वेदान्तियो का उत्तर यह है कि यद्यपि जन्य ज्ञान के रूप मे सस्कार असम्भव है फिर भी अन्त करण से सम्बद्ध होने के

---

[1] विवरण-प्रमेय-सग्रह, पृष्ठ ७६।

कारण आत्मा मे सस्कार हो सकते हैं और इसलिए प्रत्यभिज्ञा सम्भव है।[1] परन्तु इस पर यह आपत्ति की जा सकती है कि आत्मा एव अन्त करण का सयोग ज्ञाना एव ज्ञेय का द्वैत-कार्य-सम्पादन करेगा, क्योंकि सस्कार युक्त अन्त करण एव आत्मा ही प्रत्याभिज्ञाता का कार्य सपादित करते है और ठीक वही सस्कार आत्मा मे सयुक्त होकर प्रत्याभिज्ञाता की भी सामग्री का निर्माण करते है— अत इस दृष्टिकोण से विषयी एव विषय एक माने जाते है , परन्तु इसके उत्तर मे विद्यारण्य मुनि कहते हैं कि दर्शन के सब सिद्धान्त आत्मा के अस्तित्व का शरीर से भिन्न रूप मे अनुमान करते है, और इस प्रकार आत्मा द्वारा ही अनुमान किया जाता है एव इस प्रकार आत्मा को ही कर्त्ता तथा इस प्रकार अनुमानो का विषय कहा गया है। विद्यारण्य का कथन है कि यह पुन कहा जा सकता है कि प्रत्यभिक् भिज्ञाता अन्त करण की विशिष्टता से आत्मा द्वारा सविहित होता है जबकि प्रत्यभिज्ञेयत्व पूर्वापरकाल द्वारा आत्मा द्वारा गठित होता है।[2] अत आत्मा के तादात्म्य की प्रत्यभिज्ञा का अर्थ यह नही कि वस्तुत. ज्ञाता और ज्ञेय एक ही हैं। यदि यह कहा जाय कि चूँकि आत्म-तादात्म्य की प्रत्यभिज्ञा मे दो प्रत्यय निहित हैं–अत उसमे दो काल भी निहित है तो सम्पूर्णज्ञान को क्षणिक बताने वाले कथनो मे भी दो प्रत्यय निहित है क्योंकि क्षणिकत्व का ज्ञान के साथ तादात्म्य स्थापित नही किया जा सकता। प्रत्यय की जटिलता का अर्थ यह नही होता कि वह एक नही बल्कि दो विभिन्न कालो मे घटित होने वाले दो भिन्न प्रत्यय है। यदि इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाय तो सम्पूर्ण ज्ञान को क्षणिक बताने वाले सिद्धान्त को एक प्रत्यय नही माना जाकर दो क्षणो मे घटित होने वाले दो प्रत्यय मानना होगा और इसलिए क्षणिकत्व को ज्ञान पर आरोपित नही किया जा सकता जैसाकि बौद्धो ने किया है, और न ही प्रभाकर के दृष्टिकोण के अनुसार यह माना जा सकता है कि चिरस्थायी 'इस आत्मा' का अस्तित्व केवल 'आत्म-तादात्म्य' के प्रत्यय की प्रत्यभिज्ञा के आधार पर ही स्वीकार किया गया है, क्योंकि भूत-काल मे सतत विद्यमान रहने वाला एव वर्तमान-काल मे विद्यमान आत्मा 'आत्म-तादात्म्य' की प्रत्यभिज्ञा के क्षणिक प्रत्यय पर आधारित नही हो सकता। 'आत्म-तादात्म्य' का प्रत्यय एक क्षणिक प्रत्यय है जो केवल वर्तमान काल तक ही ठहरता है, अत यथार्थ एव चिरन्तन आत्मा की यथार्थता की सत्ता क्षण के मनोवैज्ञानिक प्रत्यय मात्र के कारण नही हो सकती।

पुन यदि वह युक्ति दी जाती है कि यह स्मृति कि 'मुझे पुस्तक की विज्ञप्ति थी' इस बात को प्रदर्शित करती है कि भूतकाल मे जब पुस्तक का प्रत्यक्षीकरण किया गया

---

[1] केवले चिदात्मनि जन्म-ज्ञान-तत्-सस्कारयोरसम्भवेऽप्यन्त करणविशिष्टे तत् सम्भवादुक्त-प्रत्यभिज्ञा किं न स्यात्। वही पृष्ठ ७६

[2] अन्त करणविशिष्टतयैवात्मन प्रत्यभिज्ञातृत्व पूर्वापरकाल-विशिष्टतया च प्रत्यभिज्ञेयत्वम्। विवरण-प्रमेय-सग्रह–पृष्ठ ७७

ने अपने 'विवरण प्रमेय सग्रह' मे जिस मुख्य बात पर बल दिया है वह यह है कि प्रत्यभिज्ञा अथवा आत्म-तादात्म्य का तथ्य भूतकालीन ज्ञान अथवा ज्ञाता और वर्तमान विज्ञप्ति जैसे दो पृथक् प्रत्ययो की किसी कल्पना द्वारा समझाया नही जा सकता। हम सब यह अनुभव करते है कि हमारी आत्माए समय के अन्तर मे शाश्वत है और कल के सुखो के भोक्ता 'अह' तथा आज के नए सुखो के भोक्ता 'अह' दोनो मे तादात्म्य है, और केवल जिस सिद्धान्त द्वारा आत्म-शाश्वतता अथवा आत्म-तादात्म्य के प्रत्यय की व्याख्या की जा सकती है वह है आत्मा की सत्ता एव कालक्रम मे उसकी शाश्वतता। जैसाकि पहले ही दर्शाया जा चुका है, इस प्रकार के आत्म-तादात्म्य की दो पृथक् प्रत्ययो के कार्य की परिकल्पना द्वारा व्याख्या करने के बौद्ध प्रयत्न पूर्णत अपर्याप्त हैं। अत· आत्मतादात्म्य का प्रत्यक्ष केवल चिरन्तन शाश्वत आत्मा के आधार पर ही स्पष्ट किया जा सकता है।

पुन केवल इस अनुमान मात्र के द्वारा ही आत्मा की सत्ता के विषय मे तर्क नही दिए जा सकते कि बोध, इच्छा और भावो के लिए किसी ऐसी इकाई की पूर्वविक्षा है जिसके वे आश्रित अग हो और इस इस इकाई की ही सज्ञा आत्मा हो, क्योकि यदि ऐसा होता तो कोई भी अपनी आत्मा का दूसरो की आत्माओ से विभेद नही कर सकता। क्योकि यदि आत्मा, ज्ञान, इच्छा आदि के धारक के रूप मे पूर्वापेक्षित एक इकाई ही होती तो कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के विषय-बोध से अपने विषय-बोध की प्रत्यभिज्ञा को पृथक् कैसे कर पाता। वह कौनसी वस्तु है जो मेरे अनुभव मे और दूसरो के अनुभव मे अन्तर करती है। मेरी आत्मा मुझको सद्य प्रत्यक्ष होनी चाहिए ताकि मैं किसी भी अनुभूति को अपने से सबद्ध कर सकू। अत सब अनुभूतियो मे आत्मा को स्वय प्रकाश्य मानना पडेगा, आत्मा को सब अनुभूतियो मे स्वय प्रकाश्य माने बिना यह अन्तर नही समझा जा सकता कि यह मेरा अपना अनुभव है और यह दूसरो का। कुछ लोग यह आपत्ति उठा सकते है कि आत्मा स्वय मे स्वय-प्रकाश्य नही है, अपितु स्वय चैतन्य आत्म-चैतन्य मे सवित्कर्म का विपय होने के कारण ही स्वय प्रकाश्य है। परन्तु यह युक्तिसगत नही है, क्योकि आत्मा न केवल आत्म-चैतन्य का ही अपितु स्वय मे सब सवित् कर्मो का भी विषय है। आत्मा को भावो अथवा प्रत्ययो द्वारा व्यक्त भी नही माना जा सकता है। यह सत्य नही है कि आत्मा का बोध पुस्तक के बोध अथवा उससे पृथक् किसी अन्य समय के बाद होता हैं क्योकि यह सत्य है कि आत्मा एव पुस्तक का बोध एक ही काल मे होते हैं, क्योकि एक ही विज्ञप्ति दो भिन्न-भिन्न प्रकार के विपयो को एक ही काल मे ग्रहण नही कर सकती। यदि ऐसा भिन्न-भिन्न कालो मे होता तो, 'मैने यह जान लिया है' इस प्रकार का हमारा अनुभव उस विज्ञप्ति के द्वारा स्पष्ट नही होता क्योकि इस प्रकार के अन्यय मे ज्ञाता और ज्ञेय के बीच मे सबध अपेक्षित है, और, यदि ज्ञाता व ज्ञेय का ज्ञान दो पृथक् कालो मे होता तो कोई चीज उन दोनो को एक ही ज्ञान क्रिया मे नही

मिला सकती। यह कहना भी अनुचित है कि आत्मा भावो के धारक के रूप मे ही प्रकट होता है, क्योकि आत्मा स्वय ज्ञान-क्रिया मे व्यक्त होता है। अत. क्योकि आत्मा को भावो अथवा उनके विषयो का धारक अथवा ज्ञाता नही माना जा सकता इसलिए इसको केवल एक ही प्रकार से स्वप्रकाश माना जा सकता है। आत्मा का अपरोक्षत्व इस प्रकार इसकी स्वप्रकाश्य प्रकृति है। इस प्रकार आत्मा की सत्ता आत्मा की स्वयप्रकाश्य प्रकृति द्वारा सिद्ध होती है। आत्मा इसी अर्थ मे विषयो का ज्ञाता है कि मानसिक क्रिया की कुछ निश्चित अवस्थाओ मे एक विशिष्ट इन्द्रिय द्वारा मनस् · विषय सम्पर्क होता है और इसके परिणामस्वरूप एक विचित्र भ्रांति द्वारा इन विषयों की चैतन्य मे प्रतीति होती है। इसी प्रकार मनोभाव, प्रत्यय, इच्छाए और सवेदनाए चैतन्य मे आभासित होती है और चेतन-अवस्थाओ के रूप मे उनकी प्रतीति होती है मानो कि चैतन्य उनका सहज एव सामान्य स्वभाव हो यद्यपि वास्तव मे चैतन्य 'स्वयप्रकाश्य आत्मा' पर उनका केवल मिथ्यारोपण ही होता है।

विद्यारण्य ने अपने तर्क आनन्दबोध भट्टारकाचार्य से उद्धृत किए हैं। आनन्दबोध का कथन है कि आत्मा की स्व-प्रकाश्यता इसलिए माननी पडती है कि इसको किसी अन्य चीज द्वारा प्रकट हुआ नही मान सकते। आत्मा को मानस् प्रत्यक्ष द्वारा गोचर नही माना जा सकता, क्योकि ऐसा करने मे यह मानना पडेगा कि आत्मा स्वय अपनी क्रिया का ही विषय है, क्योकि सवित् अन्ततः आत्मा का ही व्यापार है। आत्मा के सवित् सम्बन्धी व्यापार स्वय आत्मा मे विकार नही उत्पन्न कर सकते।[1] वेदान्त को प्रभाकर मत के विरुद्ध भी सघर्ष करना पडा इसके अनुसार सवित् अपने साथ-साथ विषय एव आत्मा को प्रकट करती है, तथा वेदान्त को स्वय अपने इस दृष्टिकोण के विरुद्ध भी सघर्ष करना पडा कि आत्मा ही स्वयप्रकाश्य है और उससे ही ज्ञान का तादात्म्य है। अत आनदबोध प्रभाकर के मत पर यह आपत्ति उठाते हैं कि विषय सविन् ही आत्मा एव अनात्म दोनो को व्यक्त करते हैं और उनका मत है कि आत्मा को विज्ञप्ति का विषय नही माना जा सकता। आनन्दबोध यह प्रदर्शित करते है कि यह माना जा सकता है कि सद्वृति द्वारा प्रकट वस्तु सद्वृति का विषय होना चाहिए और इसी हेतु आत्मा सद्वृति का विषय नहीं है तो यह सद्वृति द्वारा प्रकट नही हो सकता।[2] अत आत्मा अथवा सवेदिता सविद् द्वारा प्रकट नही होता, क्योकि सविद् के समान ही यह स्वप्रकाश एव अपरोक्ष है, तथा जो सविन् का विषय नहीं है।[3]

[1] तथा सति व्यापार विनानवृत्तिव्याप्यत्वादात्मन कर्मत्वे स्वान्तःनि वृत्तिविनाशादिति क्रम ॥ न्यायमकरन्द पृ० १३१

[2] न्यायमकरन्द, पृ० १३४-१३५

[3] सवेदिता न सविदधीनप्रकाश सवित्कर्मतामन्तरेण अपरोक्षत्वात् सवेदनवत्। न्याय-मकरन्द पृ १३५। विद्यारण्य ने अपने 'विवरण प्रमेय सग्रह' पृ ८५ पर इस तर्क को यथावत उद्धृत किया है।

आनन्दबोध ने सवेदन के स्वप्रकाशत्व मे तर्क दिए हैं। उनका कथन है कि यदि यह माना जाय कि सवेदन अपने विषयो को प्रकट करके भी अपने-आपको प्रकट नही करता है तो यह उत्तर दिया जा सकता है कि ऐसी स्थिति मे जब विषय की सवित्ति होती है तो सवेदिता को सशय हो जाएगा कि उसने उस काल मे कोई सवेदन प्राप्त किया या नही। यदि किसी से पूछा जाय कि तुमने अमुक व्यक्ति को देखा या नही, तो वह अपने ज्ञान के बारे मे निश्चित होता है कि उसने अमुक आदमी को देखा है और इस विषय मे उसे सदेह नही है। इसीलिए यह निश्चित है कि जब एक विषय किसी सवेदन के द्वारा प्रकाशित होता है तो सवेदन भी अपनेआप प्रकाशित होता है। यदि यह तर्क दिया जाय कि इस प्रकार का सवेदन किसी अन्य सवेदन द्वारा प्रकाशित होता है, तो उसके प्रकाशन के लिए अन्य सवेदन की, उसको किसी अन्य की इत्यादि अनन्त आवश्यकता होगी, और इस प्रकार अनवस्था दोष होगा और न यह माना जा सकता है कि कोई ऐसा अन्य मन सवेदन है (जो किसी विषय की विज्ञप्ति का युगपत् कालीन हो अथवा पर कालीन हो) जिसके द्वारा किसी विषय की विज्ञप्ति की सवित्ति हो। क्योकि एक ही मन सन्निकर्ष से उपर्युक्त प्रकार की दो पृथक् विज्ञप्तिया नही हो सकती तो फिर, यदि किसी परकाल मे मन-क्रिया, एक मन सन्निकर्ष का विराम और पुन दूसरी मन-क्रिया और अन्य मन सन्निकर्ष का उद्‌भव होता है, तो उसके लिए अनेको अन्तरिम कालो की अपेक्षा होगी और इस प्रकार जिस सवेदन से किसी विषय की विज्ञप्ति की सवित्ति की कल्पना की जाती है, वह सवेदन बहुत काल बाद में होगा जबकि जिस विज्ञप्ति से उस सवेदन का प्रकाशन होता है वह पहले ही अतीत हो जाएगी। अत यह मानना पडेगा कि सवेदन स्वय स्वयप्रकाश है और अन्य विषयो के प्रकाशन के साथ-साथ अपना प्रकाशन भी करता है। आपत्ति मे यह कहा गया है कि आत्मा अथवा सवेदन अपनी वृत्ति के कारण विकार को प्राप्त नही होते, इसका उत्तर यह है कि सवेदन प्रकाश के समान है और उसकी कोई व्यवधायिका क्रिया नही है जिसके कारण वह स्वय मे अथवा अपने विषयो मे विकार उत्पन्न करें। जिस प्रकार प्रकाश अन्धकार हटाकर दर्शन-क्रिया मे सहायक होता है तथा विषयो को प्रकाशित करके किसी अन्य प्रकाश की व्यवधायिका क्रिया के बिना ही एक ही क्षण मे अपने-आपको प्रकाशित करता है, ठीक उसी प्रकार सवेदन भी अपने विषयो एव स्वय को एक ही स्फुरण मे प्रकाशित करता है और इसकी कोई ऐसी वृत्ति नही होती जिससे इसमे स्वय मे विकार पैदा हो। यह सवेदन इस कारण स्फुरणमात्र नही कहा जा सकता कि नील वर्ण की विज्ञप्ति के समय पीत वर्ण की विज्ञप्ति नही होती, क्योकि नील विज्ञप्ति, पीत विज्ञप्ति अथवा श्वेत विज्ञप्ति के अतिरिक्त भी एक ऐसी सहज विज्ञप्ति अथवा चैतन्य है जिसको अस्वीकार नही किया जा सकता। ऐसा कहना अनुचित होगा कि केवल विशिष्ट विज्ञप्तिया क्षण-क्षण में प्रकट एव लुप्त होती रहती है, क्योकि यदि विशिष्ट विज्ञप्तियो की एक शृ खला

मात्र ही होती तो उनके भेद को बतलाने वाली कोई चीज नही होती। शृ खला की प्रत्येक विज्ञप्ति का एक विशिष्ट एव निश्चित गुण होता, और अपने गुजरने के साथ-साथ अन्य विज्ञप्ति को स्थान देती, और वह अन्य दूसरी को, ताकि एक विज्ञप्ति से दूसरी विज्ञप्ति का निर्धारण करने का कोई उपाय नही रह जाता, क्योकि चर्चित सिद्धान्त के अनुसार व्यतीयमान विज्ञप्तियो के अतिरिक्त अन्य चैतन्य नही है, और इस प्रकार उनका भेद किसी प्रकार भी जाना नही जा सकता, क्योकि चाहे विज्ञप्ति के विषय, यथा नील और पीत, अपने मे पृथक् क्यो न हो, फिर भी वह यह स्पष्ट नही कर सकता कि नील-विज्ञप्ति एव पीत-विज्ञप्ति के भेद का ग्रहण कैसे होता है। अत यही सर्वोत्तम है कि आत्मा को शुद्ध चैतन्य-स्वरूप मान लिया जाए।

उपर्युक्त चर्चा से यह प्रकट होगा कि वेदान्त को आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने एव उसके शाश्वत न कि क्षणिक होने के अपने सिद्धान्त के स्थापन के लिए तीन विरोधियो का खण्डन करना पडा। प्रथम विरोधी बौद्ध थे, जिनका न तो किसी आत्मा की सत्ता और न उसके शुद्ध शाश्वत चैतन्य स्वरूप मे ही विश्वास था। किसी शाश्वत आत्मा के न होने की बौद्ध आपत्ति का वेदान्तियो ने आत्म-तादात्म्य के हमारे प्रत्यय के निर्णय का आश्रय लेकर भली प्रकार निराकरण कर दिया जिसकी भूतकाल की 'वह आत्मा' और वर्तमान के 'मैं हूँ' के दो पृथक् प्रत्ययो की परिकल्पना के बौद्ध तरीको द्वारा व्याख्या नही की जा सकी और न चैतन्य को अतीयमान भावो अथवा विशिष्ट विज्ञप्तियो की शृ खला के अतिरिक्त अन्य कुछ नही माना जा सकता, क्योकि ऐसे सिद्धान्त मे यह बताना असभव होगा कि हम उसकी मानसिक अवस्थाओ के प्रति प्रतिक्रिया कैसे करते है और कैसे उनका भेद ज्ञात कर सकते हैं। अत चैतन्य को शाश्वत मानना पडेगा। दूसरे विरोधी, नैयायिको के विरुद्ध वेदान्तियो का कहना है कि आत्मा अनुमानगम्य विषय नहीं है जिसके विज्ञप्तिया, इच्छाए अथवा भाव धर्म है, अपितु उसका अपरोक्ष एव सद्य रूप मे मनस्कार होता है क्योकि यदि ऐसा नही होता तो कोई व्यक्ति अपने अनुभवो को अपने और दूसरो के अनुभवो से मिला हुआ कैसे जान सकता। मेरे अपने अनुभवो की आन्तरिकता यह प्रकट करती है कि उनका मेरे अपने अनुभवो के रूप मे अपरोक्षत मनस्कार होता है और उनको केवल किसी ऐसी अन्य आत्मा नही माना जाता, जो उसके अनुभवो का स्वामी है क्योकि अनुमान किसी सवेदना अथवा भाव की आन्तरिकता को प्रकाशित नही कर सकता। तीसरे विरोधी, मीमासको के विरुद्ध वेदान्त का कथन है कि आत्मा का स्वरूप स्वयप्रकाश्य है एव आत्मा का विज्ञान के साथ तादात्म्य है—जबकि मीमासको के मत मे विज्ञान स्वयप्रकाश्य के रूप मे आत्मा एव विषयो को अपने से पृथक् प्रकाशित करता है। आत्मा एव विज्ञान का तादात्म्य एव इसका स्वयप्रकाश्य स्वरूप भी प्रतिपादित किया गया है, और अनेको भिन्न-भिन्न तार्किक हेतुओ द्वारा यह प्रदर्शित किया गया है कि इस प्रकार की कल्पना ही हमारे पास एकमात्र विकल्प रह गया है।

तन्मात्राओं से पचभूत महा भूतो के निर्माण की प्रक्रिया को पारिभाषिक अर्थ मे पचीकरण कहा गया है। इस विधि मे प्रत्येक मूल तत्व प्रत्येक अन्य मूल तत्व के ⅛ भाग से मिश्रित होता है। इस प्रकार के सयोग की प्रक्रिया द्वारा ही प्रत्येक तत्व मे अन्य तत्वो के कुछ गुण विद्यमान रहते है। सम्पूर्ण विश्व मे सात ऊर्ध्व जगत् (भू, भुव, स्व, मह, जन, तप, सत्यम्) तथा सात निम्न जगत् है-(अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल एव पाताल) है एव समस्त सजीव प्राणियो के समस्त स्थूल शरीर है। सब प्राणियो के स्थूल शरीरो का अध्यक्ष विश्वव्यापी देवता है और इसको विराट् कहते है। व्यक्ति भी है जो प्रत्येक शरीर का अध्यक्ष है और इस दृष्टि से उसे विश्व कहते है।

बुद्धि एव मनस् की क्रिया करने वाले अन्त करण के सघटक के रूप मे अज्ञान सदैव आत्मा से सबद्ध होता है, इन अन्त करणो के वैभिन्य के कारण ही एक आत्मा अनेक जीवात्माओ के रूप मे दिखाई देता है, और इन अन्त करणो की अवस्थाओ के कारण ही आत्मा एव विषयो पर से आवरण दूर होकर परिणामत विषय-ज्ञान सम्भव होता है। अन्त करण शरीर मे स्थित है जिसमे यह पूर्ण रूप से व्याप्त है। यह पच मूल तत्वो के सत्व भागो द्वारा निर्मित है और आत्यतिक पारदर्शकता के कारण विशिष्ट इन्द्रियो द्वारा इन्द्रिय विषयो के सन्निकर्ष मे आता है एव उनका रूप ग्रहण कर लेता है। इसके भौतिक उपादान होने के कारण एक भाग शरीर के अदर रहता है, दूसरे भाग का इन्द्रिय विषयो के साथ सन्निकर्ष होता है तथा तृतीय भाग दोनो के बीच और एक सम्पूर्ण के रूप मे उन दोनो से सबद्ध होता है। अन्त करण का आतरिक भाग अह अथवा कर्ता है। मध्यस्थ भाग का कर्म ज्ञान है जिसे वृत्ति-ज्ञान भी कहते है। ज्ञान के समय इन्द्रिय विषयो के आकार मे परिणत होने वाले तृतीय भाग का कार्य उन्हे ज्ञान मे अपने विषय के रूप मे प्रकाशित करना है। तीनो भागो के अन्त करण के पारदर्शक होने के कारण शुद्ध चैतन्य भी उसमे अच्छी प्रकार से प्रकट हो सकता है। शुद्ध चैतन्य के एक होने पर भी वह अन्त.करण के तीन विभिन्न भागो को ज्ञाता (प्रमातृ), ज्ञान-क्रिया (प्रमाण) एव ज्ञान अथवा प्रमिति-इन तीन विभिन्न प्रकारो से प्रकट करता है। क्योकि वह अन्त करण के तीन विभिन्न विकारो द्वारा स्वय अपने-आपको व्यक्त करती है। अत तीनो मे से प्रत्येक अवस्था मे परम सत्ता शुद्ध चैतन्य का भाग है। इन्द्रिय विषय आवरणयुक्त शुद्ध चैतन्य ब्रह्म, माया ही है जो उनका सारभूत अश है। जीव-चैतन्य एव ब्रह्म चैतन्य मे अन्तर यही है कि प्रथम अन्त करण द्वारा उपाधियुक्त अथवा उसके माध्यम से प्रतिबिम्बित शुद्ध चैतन्य को प्रस्तुत करता है जबकि ब्रह्म चैतन्य मुक्त, अनन्त 'चैतन्य' जिसके आधार पर माया की समस्त ब्रह्माण्ड-सृष्टि का निर्माण होता है। जिस अविद्या के आवरण को दूर करने के लिए अन्त करण की प्रक्रिया आवश्यक समझी गई है, यह दो प्रकार की है, आत्मपर[1]

१ जब मैं कहता हूँ कि मुझे पुस्तक का

ज्ञान नहीं है, तो इसमें 'मुझे ज्ञान नहीं है' के अर्थ में आत्मपरक अविद्या निहित है एवं पुस्तक के सबंध के रूप में वस्तुपरक अविद्या है। प्रथम का निराकरण प्रत्यक्ष अथवा अनुमति, सब प्रकार के ज्ञान की पहली शर्त है जबकि द्वितीय का निराकरण केवल प्रत्यक्ष ज्ञान से ही होता है। इन्द्रिय-विषयों के आकार एवं सामग्री के अनुसार यह विविध प्रकार की होती है, एवं प्रत्येक प्रत्यक्ष का ज्ञान केवल उस विशिष्ट अविद्या का ही निराकरण करता है जिसके द्वारा उस विशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति होती है।[1]

शंकर एवं उनके सम्प्रदाय

यह ठीक ठीक कहना कठिन है कि स्वयं शंकर ने कितने ग्रंथ लिखे। इसमें कोई संदेह नहीं कि शंकर द्वारा लिखित बताई गई कई पुस्तकें उन्होंने नहीं लिखी। यद्यपि निःसंदेह रूप से निश्चित होना अत्यधिक कठिन है फिर भी मैं उन पुस्तकों की सूची प्रस्तुत करता हूँ जो मुझे उनके मौलिक ग्रंथ प्रतीत होते हैं। मैंने केवल उन्हीं ग्रंथों को चुना है जिन पर अन्य लेखकों ने टीकाएं लिखी हैं क्योंकि इससे यह स्पष्ट है कि उनकी मौलिकता का समर्थन करने के लिए उनके पास परम्परा का बल है। शंकर की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ दस उपनिषदों, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छांदोग्य, बृहदारण्यक, पर उनके भाष्य एवं शारीरिक-मीमांसा-भाष्य हैं। उनके द्वारा सम्भवतः नहीं लिखे गए कई ग्रंथों को उनके द्वारा लिखित बताने के दो मुख्य कारण हैं, प्रथम, यह कि इसी नाम अर्थात् शंकराचार्य के अन्य लेखक थे और दूसरा यह कि भारतीय लेखकों की यह प्रवृत्ति रही है कि बाद के ग्रंथों को अतीत के महान् लेखकों द्वारा लिखित बताकर उनकी प्रतिष्ठा को बढ़ाया जाए। व्यास को समस्त पुराणों का लेखक बताना इस बात को अत्यंत स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है। ईशोपनिषद् के शाङ्कर-भाष्य पर 'आनंदज्ञान ने एक टीका लिखी है और एक अन्य दीपिका दूसरे शंकर-आचार्य ने लिखी है। उनके केनोपनिषद्-भाष्य पर दो टीकाएं लिखी गई हैं, केनोपनिषद्-भाष्य-विवरण एवं आनंदज्ञान कृत एक टीका। आनन्दज्ञान और बालगोपाल योगीन्द्र ने कठोपनिषद्-भाष्य पर दो टीकाएं लिखी हैं। प्रश्नोपनिषद्-भाष्य पर दो टीकाएं हैं एक आनंदज्ञान कृत तथा दूसरी नारायणेन्द्र सरस्वती कृत आनंदज्ञान और अभिनव नारायणेन्द्र सरस्वती ने मुण्डकोपनिषद् पर दो टीकाएं लिखी हैं। आनंदज्ञान एवं मथुरानाथ शुक्ल ने माण्डूक्योपनिषद् पर दो टीकाएं एवं राघवानंद ने माण्डूक्योपनिषद् भाष्यार्थ-संग्रह नामक सार ग्रन्थ लिखा है। आनंदज्ञान, अभिनव नारायण, नृसिंह आचार्य, बालकृष्णदास, ज्ञानामृत-

---

[1] मधुसूदन सरस्वती-कृत सिद्धान्त बिन्दु, देखिए पृ० १३०-१५०, एवं ब्रह्मानन्द सरस्वती-कृत न्याय रत्नावली, देखिए पृष्ठ १३०-१५०, श्री विद्या प्रेस, कुम्भकोणम्, १८९३।

यति और विश्वेश्वर तीर्थ कृत ऐतरोयोपनिषद् भाष्य पर छ टीकाए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तैत्तिरियोपनिषद्-भाष्य पर केवल एक ही टीका आनदज्ञान ने लिखी है। छादाग्योपनिषद्-भाष्य पर भाष्य-टिप्पण नामक एव आनदज्ञान कृत टीकाए हैं। बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य पर आनदज्ञान ने टीका लिखी है और सुरेश्वर ने उस पर बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य-वार्तिक अथवा केवलवार्तिक नामक एक महान् स्वतत्र ग्र थ लिखा है, जिस पर भी कई टीकाए हैं, सुरेश्वर के बारे मे लिखे गए अध्याय मे ये बातें बताई गई है। उनके 'अपरोक्षानुभव' पर शकर आचार्य बालगोपाल, चण्डेश्वर वर्मन् (अनुभव दीपिका) एव विद्यारण्य ने चार टीकाए लिखी हैं। गौडपादकृत माण्डूक्य-कारिका पर उनके गौडपादीय-भाष्य अथवा 'आगम-शास्त्र-विवरण' पर शुद्धानद एव आनन्दज्ञान ने एक-एक टीका लिखी है। आनन्दज्ञान एव पूर्णानन्द तीर्थ ने उनके आत्म-ज्ञानोपदेश पर दो टीकाए लिखी हैं, 'एक-श्लोक' पर स्वयप्रकाशयति ने 'तत्व-दीपन' नामक भाष्य लिखा है, किन्तु 'विवेक-चूडामणि' पर कोई भाष्य नही लिखा गया जो शकर का मौलिक ग्र थ प्रतीत होता है, अद्वयानद, भासुरानद, बोधेन्द्र, (भाव प्रकाशिका) मधुसूदन सरस्वती एव रामानन्द तीर्थ ने आत्म-बोध पर कम से कम पाच टीकाए लिखी, पद्मपुराण, पूर्णानद तीर्थ, सायण और स्वयप्रकाशयति ने 'आत्मानात्मा-विवेक' पर कम से कम चार भाष्य लिखे। आनन्दज्ञान ने 'आत्मोपदेश-विधि' पर टीका लिखी बताते हैं। अप्पय दीक्षित, कविराज, कृष्ण आचार्य (मजु-भाषिणी) केशव भट्ट, कैवल्याश्रम (सौभाग्य वर्धिनी) गगाहरि (तत्वदीपिका) गगाधर, गोपीराम, गोपीकान्त सार्वभौम (आनन्द-लहरी-ताहरी,) जगदीश, जगन्नाथ, पचानन, नरसिंह, ब्रह्मानन्द, (भावार्थ-दीपिका), मल्ल भट्ट, महादेव, विद्यावागीश, महादेव वैद्य, रामचन्द्र, रामभद्र, रामानन्द तीर्थ, लक्ष्मीधर देशिक, विश्वम्भर और श्रीकण्ठ भट्ट एव अन्य विद्वन्मनोरमा नामक ने 'आनन्द-लहरी' पर करीब चौबीस टीकाए लिखी। उपदेश-साहस्त्री पर आनन्दज्ञान, रामतीर्थ (पदयोजनिका), विद्याधामन् के एक शिष्य बोधनिधि, और शकराचार्य ने कम से कम चार टीकाए लिखी। उनके चिदानन्द-स्तव-राज पर भी जो 'चिदानन्द-दश-श्लोकी' अथवा केवल 'दश-श्लोकी' भी कहलाता है, कई टीकाए एव उपटीकाए लिखी गई, जैसे मधुसूदन सरस्वती कृत 'सिद्धान्त-तत्व-बिन्दु' मधुसूदन-कृत भाष्य पर कई लोगो ने टीकाए लिखी, यथा नारायणयति (लघु-टीका) पुरुषोत्तम सरस्वती (सिद्धान्त-बिन्दु-सदीपन), पूर्णानन्द सरस्वती (तत्व-विवेक), गौड ब्रह्मानन्द सरस्वती (सिद्धान्त-बिन्दु-न्याय-रत्नावली), सच्चिदानन्द और शिवलाल शर्मा। गौड ब्रह्मानन्द कृत टीका सिद्धान्त-बिन्दु-न्याय-रत्नावली पर कृष्णकान्त ने (सिद्धान्त-न्याय-रत्न-प्रदीपिका) एक और टीका लिखी। शाकर 'दृग् दृश्य-प्रकरण' पर रामचन्द्र तीर्थ ने टीका लिखी, उनकी पचीकरण-प्रक्रिया पर पुन कई टीकाए लिखी गयी—सुरेश्वर ने पचीकरण-वार्तिक लिखा जिस पर भी

पचीकरण-वार्तिकाभरण नामक टीका ज्ञानेन्द्र सरस्वती के शिष्य अभिनव नारायणेन्द्र सरस्वती द्वारा लिखी गयी। पचीकरण-प्रक्रिया पर अन्य टीकाए निम्न है'—

पचीकरण-भाव-प्रकाशिका, पचीकरण-टीका तत्व-चन्द्रिका, पचीकरण-तात्पर्य-चन्द्रिका, आनन्दज्ञान कृत पचीकरण-विवरण, स्वयप्रकाशयति एव अज्ञानानन्द द्वारा पचीकरण-विवरण एव तत्त्व चन्द्रिका नामक उप टीका। शकर ने भगवद्गीता पर भी भाष्य लिखा, इस भाष्य की परीक्षा इसी ग्रन्थ मे भगवद्गीता पर लिखे गए अध्याय मे की गई है। उनके 'लघु वाक्य' वृत्ति पर 'पुष्पाञ्जलि' नामक टीका एव रामानन्द सरस्वती कृत 'लघुवाक्य-वृत्ति-प्रकाशिका' नामक अन्य टीका है, उनके 'वाक्यवृत्ति' पर आनन्दज्ञान ने टीका की एव विश्वेश्वर पडित ने वाक्य-वृत्ति-प्रकाशिका नामक टीका लिखी। उन्होने अपनी वाक्य-वृत्ति' का प्रारम्भ उसी प्रकार किया है जैसे ईश्वर कृष्ण ने अपनी साख्यकारिका का प्रारम्भ यह कह कर किया है कि जीवन के त्रिविधतापो से दु खी होकर उनसे मुक्ति प्राप्त करने के साधन के बारे मे शिक्षा प्राप्त करने के लिए शिष्य योग्य आचार्य के पास जाता है। सुरेश्वर भी अपने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' नामक ग्रन्थ को उसी प्रकार आरम्भ करते हैं और इस प्रकार दर्शन के अध्ययन को ऐसा क्रियात्मक रूप देते है जिसका विधान ब्रह्मसूत्र भाष्य मे नही पाया जाता। निस्सदेह कई अन्य स्थलो पर दिया गया उत्तर ही यहाँ पर दिया गया है कि ब्रह्म एव जीव की एकरूपता प्रतिपादित करने वाले उपनिषद् वाक्यो की सम्यक् अनुभूति के अनन्तर ही मोक्ष-प्राप्ति सम्भव है। वे आगे चल कर बताते हैं कि समस्त बाह्य वस्तुएँ तथा मनस् अथवा मानसिक अथवा लिंग शरीर शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा के लिए विजातीय है, वे यहाँ यह भी कहते है कि मानव के कर्म फलों का निबटारा मीमासको द्वारा स्वीकृत अपूर्व की रहस्यमयी शक्ति द्वारा नही बल्कि ब्रह्म के श्रेष्ठतर भ्रमात्मक स्वरूप ईश्वर, द्वारा होता है। तिरेपन श्लोको के इस लघु ग्रन्थ के अन्त मे वे इस तथ्य पर बल देते है कि यद्यपि उपनिषदो की अद्वैत श्रुति यथा 'तत् (ब्रह्मन्) त्वम् असि' एक द्वैतार्थक शाब्दिक रचना हो सकती है फिर भी उनका मुख्य बल तादात्म्य के सम्बन्ध द्वारा ग्राह्य बौद्धिक प्रज्ञा के बिना विशुद्ध आत्मा की अपरोक्ष एव सद्य अनुभूति पर है। इस प्रकार वाक्य-वृत्ति को वहाँ अपरोक्षानुभूति से भिन्न ग्रहण किया है जहाँ आसन एव प्राणायाम की योग-प्रक्रियाओ को आत्मा के यथार्थ स्वरूप की अनुभूति मे सहायक बताया गया है। इसमे अपरोक्षानुभूति के वास्तविक लेखकत्व के सम्बन्ध मे सशय उत्पन्न हो सकता है यद्यपि स्वय शकर के मस्तिष्क के विकास की विभिन्न अवस्थाओ को इसका कारण बताया जा सकता है, उनके गौडपादकारिका-भाष्य मे वर्णित विज्ञानवाद में भी विभिन्न प्रवृत्तियो के दर्शन होते हैं। वहाँ जाग्रतावस्था को स्वप्नावस्था के पूर्ण समरूप माना गया है एव बाह्य विषयो का कोई भी अस्तित्व नही माना गया है क्योंकि वाचस्पति-मीमासा-भाष्य मे वर्णित स्वप्न सर्गो मे अतीव भिन्न अनिर्वचनीय अस्तित्व वाले बाह्य विषयो की तुलना मे ये निर्विकल्प रूप मे स्वप्न

प्रत्यक्ष सम है। उन्नीस अध्याय तथा छ सौ पचहत्तर श्लोक युक्त उपदेश साहस्री का वाक्य-वृत्ति के साथ अधिक साम्य है। इसमे यद्यपि सुविज्ञात समस्त वेदान्त विषयो पर किंचित् प्रकाश ही डाला गया है फिर भी ब्रह्मत्व प्राप्ति के साधन रूप 'तत्त्वमसि' जैसे वेदान्ती अद्वैत श्रुतियो की सम्यक् अनुभूति पर अधिक बल दिया गया है। कई ऐसे लघु श्लोक एव मन्त्र भी है जिनके लेखक शकराचार्य बताए जाते है यथा अद्वैतानुभूति, आत्मबोध, तत्त्वोपदेश, प्रौढानुभूति इत्यादि। उनमे से निस्सदेह कुछ की रचना तो उन्होने की जबकि बहुत से ऐसे भी हो सकते है जिनके रचयिता वे नही हो, परन्तु इस सम्बन्ध मे कोई अन्य प्रमाण नही होने के कारण किसी निश्चयात्मक निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है।[1] इन मन्त्रो मे कोई और अधिक दार्शनिक सामग्री नही है परन्तु इनका उद्देश्य अद्वैती-सम्प्रदाय के पक्ष मे धार्मिक श्रद्धा एव उत्साह को जाग्रत करता है। तथापि उनमे से कुछ मे टीकाकारो ने ऐसे वेदान्ती सिद्धान्तो को निकालने का बहाना प्राप्त कर लिया है जो स्पष्टत उनमे से उद्भूत नही कहे जा सकते। उदाहरणस्वरूप यह बताया जा सकता है कि शकर के दस श्लोको से ही मधुसूदन ने एक महान् भाष्य लिख डाला एव ब्रह्मानन्द सरस्वती ने मधुसूदन के इस भाष्य पर एक अन्य महान् भाष्य लिखा तथा वेदान्त सम्बन्धी कई जटिल समस्याओ का विस्तृत विवेचन किया जिनका स्वय श्लोको से कोई सीधा सम्बन्ध नही है। परन्तु शकर का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र-भाष्य है, जिस पर वाचस्पति मिश्र ने नवम् शतक मे, आनन्दज्ञान ने तेरहवे शतक मे और गोविन्दानन्द ने चौदहवे शतक मे टीकाए लिखी। वाचस्पति-कृत भाष्य की टीकाए वाचस्पति मिश्र के बारे मे लिखित अध्याय मे देखी जा सकती है। सुब्रह्मण्य ने भाष्यार्थ-न्याय-माला नामक शाकर भाष्य का छन्दोबद्धसार लिखा है, और भारतीतीर्थ ने वैयासिक-न्याय-माला लिखी जिसमे उन्होने शाकर-भाष्य के आधार पर ब्रह्मसूत्र की सामान्य युक्तियो का विवेचन करने का प्रयत्न किया है। कई अन्य व्यक्तियो के यथा वैद्यनाथ दीक्षित, देवराम भट्ट इत्यादि ने भी शाकर-भाष्य लिखित ब्रह्मसूत्र की सामान्य युक्तियो मे से मुख्य विषयानुसार सार ग्रंथ लिखे जिन्हे न्याय-माला अथवा अधिकरण-माला कहते हैं। परन्तु कई अन्य व्यक्तियो को शाकर-भाष्य से (अथवा वाचस्पति मिश्र कृत एव शाकर धारा के अन्य महान् लेखको द्वारा टीकाओ से) प्रेरणा मिली और ब्रह्मसूत्र पर स्वतन्त्र भाष्यो के नाम पर उन्होने इन भाष्यो मे लिखित सामग्री की केवल पुनरुक्ति ही की। इस प्रकार अमलानन्द ने शाकर-भाष्य पर वाचस्पति कृत टीका की मुख्य बातो का अनुकरण करते हुए अपना 'शास्त्र-दर्पण' लिखा, और स्वयप्रकाश ने भी अपना 'वेदान्त-नय-भूषण' लिखा जिसमे अधिकतर उन्होने भामती टीका मे नीति के विचारो को सक्षेप मे प्रस्तुत किया। ब्रह्मसूत्र की स्वतन्त्र व्याख्याओ के रूप मे हरिदीक्षित ने अपना 'ब्रह्म-सूत्र-वृत्ति', शकरानन्द ने ब्रह्म सूत्र-दीपिका' और ब्रह्मानन्द

---

[1] पद्मपाद ने अपने आत्म-बोध-व्याख्यान मे, जिसे वेदान्त-सार भी कहते है, आत्म-बोध पर टीका की है।

ने 'वेदात-सूत्र-मुक्तावली' लिखे परन्तु ये सब मुख्यतया स्वय शाकर-भाष्य के अनुसार लिखे गए है। जिन ग्रन्थो ने शकर के परवर्ती काल मे उनकी शाखा के दार्शनिको एव शाकर-भाष्य के व्याख्याताओ द्वारा विकसित अन्य वेदान्ती विचारो को जोड कर शाकर भाष्य के पूरक का कार्य किया उनमे से कुछेक निम्न है—विश्वेश्वरानन्द के शिष्य ब्रह्मानन्दयति कृत 'ब्रह्मसूत्र भाष्यार्थ-सग्रह', गौरी एव शिव के पुत्र वैकट कृत 'ब्रह्मसूत्रार्थ दीपिका', अन्नम् भट्ट कृत 'ब्रह्म-सूत्र-वृत्ति' (जिसे मिताक्षरा भी कहा गया है), ज्ञानघन के शिष्य ज्ञानोत्तम भट्टारक-कृत 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य-व्याख्या' (जिसे विद्याश्री भी कहा गया है।) इस अतिम ग्रथ की विशेषता यह है कि एकजीववाद पद्धति पर लिखी यह केवल एक ही ऐसी टीका है जो वर्तमान लेखक को उपलब्ध हो सकी। इनके अतिरिक्त कुछ और टीकाओ का उल्लेख किया जा सकता है; यथा मुकुन्दाश्रम के शिष्य के शिष्य एव रामचन्द्रार्य के शिष्य धर्मभट्ट कृत 'ब्रह्म-सूत्र-वृत्ति' ब्रह्मानन्द के शिष्य के शिष्य एव रामानन्द के शिष्य अद्वैतानन्द कृत 'सूत्र-भाष्य-व्याख्यान' (जिसे ब्रह्मविद्या-भरण भी कहा गया है), अप्पय दीक्षित कृत 'ब्रह्म-सूत्र-भाष्य-व्याख्या', (जिसे न्याय रक्षा मणि भी कहते है) सदाशिवेन्द्र सरस्वती कृत 'ब्रह्मतत्व-प्रकाशिका' (जो पूर्वतर ग्रन्थ ब्रह्मप्रकाशिका से भिन्न है), रामानन्द के शिष्य रामेश्वर भारती कृत 'ब्रह्मसूत्रोपन्यास', सुब्रह्मण्य अग्निचित् मखीन्द्र कृत शारीरक 'मीमासा-सूत्र-सिद्धान्त-कौमुदी', सीताराम कृत 'वेदान्त-कौस्तुभ', जिनमे से कोई भी सोलहवें शतक के पूर्व की नही प्रतीत होती। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकाशात्मन् १२०० ई० प० के आचार्य अनन्यानुभव ने शारीरक-न्याय-मणिमाला नामक एक अन्य भाष्य लिखा। प्रकाशात्मन् ने स्वय भी शाकरभाष्य की मुख्य सामग्री को छदोवद्ध साररूप मे लिखा जिसका नाम 'शारीरक मीमासा न्याय सग्रह' है और उनके बहुत बाद कृष्णानुभूति ने 'शारीरक मीमासा सग्रह' नामक उसी प्रकार छन्दोवद्ध सारग्रन्थ की रचना की।

मंडन, सुरेश्वर एवं विश्वरूप

सामान्य परम्परानुसार मडन, सुरेश्वर एव विश्वरूप को सदा एक ही माना गया है, और ऐसा प्रतीत होता है कि कर्नल जी० ए० जैकब अपने 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' के द्वितीय सस्करण के प्राक्कथन मे इस परम्परा को मानते है। यह परम्परा सम्भवतः विद्यारण्य-कृत शकर-दिग्विजय से प्रारम्भ हुई जिसमे मण्डन का उल्लेख ही नही वरन् विश्वरूप नाम मे भी सम्बोधित किया गया है (८६३)। आगे चलकर वे उसी ग्रन्थ के १०४ मे कहते हैं कि जब मडन शकर के शिष्य हुए तब उन्होने उन्हें सुरेश्वर नाम दिया। परन्तु 'शकर-दिग्विजय' एक पौराणिक जीवन-चरित है और जब तक किसी विश्वसनीय साक्ष्य मे उसके कथन पुष्ट नही हो जाए तबतक उनमे विश्वास

करना भयावह है। इसमे कोई सन्देह नही कि सुरेश्वर 'शांकर-बृहदारण्यक उपनिषद् वार्त्तिक' अथवा पद्यात्मक टीकाओ के लेखक थे जिसका सक्षेपण विद्यारण्य द्वारा भी वार्त्तिक नामक ग्रन्थ में किया गया जिसकी टीका बाद मे महेश्वर तीर्थ द्वारा अपनी 'लघु सग्रह' नामक टीका मे की गई। सुरेश्वर कृत वार्त्तिक पर टीका कम से कम दो टीकाकारो ने, आनन्दगिरी ने 'शास्त्र-प्रकाशिका' मे और आननेदपूर्ण ने अपने 'न्याय-कल्प-लतिका' मे की। बिब्लियोथेका इडिका पुस्तकमाला (पृ० ५१) मे मुद्रित पाराशर-स्मृति टीका मे इस वार्त्तिक से उद्भुत एक उद्धरण को विश्वरूप द्वारा कथित बताया गया है, परन्तु यह टीका बाद का ग्रन्थ है और अधिक सम्भावना इस बात की है कि इसने विद्यारण्य के इस आप्तवचन मे विश्वास कर लिया कि विश्वरूप एव सुरेश्वर एक ही व्यक्ति है। विद्यारण्य भी अपने विवरण-प्रमेय-सग्रह (पृष्ठ ९३) मे सुरेश्वर कृत वार्त्तिक (४८) मे से एक गद्यांश उद्घृत करके उसे विश्वरूप द्वारा लिखित बताते है। परन्तु विवरण-प्रमेय-सग्रह (पृष्ठ २२४) के एक अन्य स्थल मे वे एक वेदान्त-सिद्धान्त का उल्लेख करते है और उसे ब्रह्म-सिद्धि के लेखक द्वारा प्रतिपादित बताते है। परन्तु यह ग्रन्थ प्रकाशित नही हुआ है और उसकी पाण्डुलिपियाँ बडी दुर्लभ हैं, वर्तमान लेखक को सौभाग्यवश एक उपलब्ध हो गई। इस ग्रथ के दर्शन का विस्तृत विवेचन अलग विभाग मे किया जाएगा। 'ब्रह्म-सिद्धि' एक महत्वपूर्ण ग्रथ है और इस पर वाचस्पति ने अपनी तत्व-समीक्षा मे आनदपूर्ण ने अपनी ब्रह्म-सिद्धि व्याख्या-रत्न मे शखपाणि ने अपनी ब्रह्म-सिद्धिटीका मे और चित्सुख ने अपनी अभिप्राय-प्रकाशिका मे टीका की है। परन्तु केवल अन्तिम दो ग्रन्थो की ही पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध है। किन्तु कई महत्वपूर्ण ग्रथ ब्रह्मसिद्धि का एव सामान्यतया ब्रह्मसिद्धि के लेखक (ब्रह्मसिद्धिकार) द्वारा प्रतिपादित उस ग्रन्थ के विचारो का उल्लेख करते है। परन्तु जहाँ तक वर्तमान लेखक को विदित है, इनमे से किसी भी उल्लेख मे ब्रह्मसिद्धिकार को सुरेश्वर नही बताया गया है। 'ब्रह्म-सिद्धि' पद्य एव गद्य मे लिखा गया था क्योकि चित्सुख-कृत 'तत्व-प्रदीपिका' मे (पृष्ठ ३८१ निर्णय-सागर-प्रेस) और न्याय-कणिका (पृष्ठ ८०) मे इसके दो उद्धरण पद्य मे है जबकि 'तत्व-प्रदीपिका' (पृष्ठ ८०) के अन्य स्थलो पर अन्य उद्धरण गद्य मे हैं। फिर भी इसमे कोई सदेह नही कि मण्डन अथवा मण्डनमिश्र ने 'ब्रह्म-सिद्धि' लिखा, क्योकि श्रीधर ने अपनी 'न्याय कन्दली' (पृष्ठ २१८) मे और चित्सुख ने अपनी 'तत्व-प्रदीपिका' (पृष्ठ १४०) मे मण्डन को ब्रह्मसिद्धि का लेखक बताया है। वस्तुत इस सम्बन्ध मे दशम् शतक के मध्य मे रहने वाले श्रीधर के साक्ष्य को विश्वसनीय समझना चाहिए क्योकि मडन की मृत्यु के सौ वर्षों के बीच मे वह रहे, चाहे मडन कोई भी हो, परन्तु चूँकि वह शकर (८२० ई०प०) के परकालीन थे अत नवम् शतक के मध्य से पूर्वतर नही रहे होगे। अत यह निश्चित् रूप से ज्ञात है कि सुरेश्वर ने 'नैष्कर्म्य सिद्धि' और 'वार्त्तिक' लिखे और मडन ने 'ब्रह्मसिद्धि' लिखा। यदि ब्रह्मसिद्धि के सिद्धान्त अथवा दृष्टिकोण की तुलना नैष्कर्म्य सिद्धि अथवा

वार्त्तिक के साथ की जाय तो इन दोनो व्यक्तियो के एक ही होने का प्रश्न हल किया जा सकता है। इसका उल्लेख करने वाले विभिन्न लेखको की रचनाओ में प्राप्त कुछेक उद्धरणो से कुछ निश्चयात्मक निष्कर्ष निकाले जा सकते है।[1]

समस्त उद्धरणो मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण वह उद्धरण है जो विवरण-प्रमेय-सग्रह (पृष्ठ २२४) मे ब्रह्म-सिद्धि से उद्धृत है। वहाँ कहा गया है कि ब्रह्म-सिद्धि के लेखक अनुसार जीव ही स्वय अपनी अविद्या द्वारा अपने लिए अविकारी ब्रह्म पर मिथ्या जगत् अवभास की रचना करते हैं। ब्रह्म न तो स्वय अपने मे, न मायायुक्त अथवा माया मे प्रतिबिम्बित होकर जगत् का कारण है (ब्रह्म न जगत् कारणम्)। अवभास केवल जीव के अविद्या की ही सृष्टि है, अत जीव के सासारिक मिथ्या प्रत्ययो का कोई वस्तुपरक आधार नही है। व्यक्तिगत प्रत्ययो मे साम्य का कारण एक ही प्रकार की अविद्या के मिथ्या प्रभाव से पीडित विभिन्न व्यक्तियो मे भ्रम सादृश्य है, इस प्रकार इसका सादृश्य कई व्यक्तियो के द्विचन्द्र के मिथ्या प्रत्यय से किया जा सकता है। सारे व्यक्ति एक ही जगत् का प्रत्यय नही करते, उनके मिथ्या प्रत्यय मे सादृश्य है परतु प्रत्यय के वस्तुपरक आधार मे कोई सादृश्य नही है। (सवादस्तु बहु-पुरुषावगत-द्वितीय-चद्रवत् सादृश्याद् उपपद्यते)। यदि यह मान लिया जाय कि यह वृत्तान्त सही है तो बाद के समय मे प्रकाशानन्द द्वारा इतने बलपूर्वक प्रतिपादित दृष्टि-सृष्टिवाद के वेदान्ती सिद्धान्त का मूल-प्रतिपादक मडन मिश्र को माना जा सकता है। पुन प्रकाशात्मन् कृत पचपादिका-विवरण मे (पृष्ठ ३२) यह माना गया है कि ब्रह्मसिद्धि के लेखक के अनुसार अविद्या एव माया, दोनो मिथ्या प्रत्यय के अतिरिक्त कुछ नही (अविद्या माया मिथ्याप्रत्यय इति) ज्ञान के सशयनाशक कार्य के बारे मे उनका यह विचार है (जैसा कि न्याय-कदली, पृष्ठ २१८ मे वर्णित है) कि ज्ञात की सत्यता के बारे मे सशय का छेदन स्वय ज्ञान द्वारा ही होता है। न्याय-कणिका मे (पृष्ठ ८०) यह कहा गया है कि मडन के अनुसार परम सत्ता स्वय अपने-आपको एकत्व अथवा विश्वरूपत्व के अनन्त प्रत्ययो मे प्रकट करती है जबकि सीमित प्रत्यय के फलस्वरूप ही भेद का अवभास होता है। पुनः लघु-चन्द्रिका मे (पृष्ठ ११२ कुम्भकोणम् सस्करण) अविद्या के नाश के स्वरूप एव ब्रह्मज्ञान के साथ उनके सबध के बारे मे विचार-विमर्श करते

---

[1] उपरोक्त विभाग लिखने के बाद मैंने ब्रह्मसिद्धि की एव उसकी टीका की पाँडुलिपि की एक प्रतिलिपि का आधार राजकीय सस्कृत पाँडुलिपि सग्रहालय व ग्रथालय मे अवलोकन किया था एव मुझे यह लिखने मे प्रसन्नता का अनुभव होता है कि इसकी सामग्री की पूर्ण परीक्षा द्वारा उपरोक्त अनुमान की पुष्टि होती है। प्रो० कुप्पुस्वामी निकट भविष्य मे ही ब्रह्मसिद्धि को मुद्रित करवा रहे हैं और मैंने दिसम्बर १९२८ में मद्रास मे प्रो० कुप्पुस्वामी शास्त्री के सौजन्य से उसके तर्कपाद का अवलोकन किया। मडन कृत ब्रह्मसिद्धि का दर्शन अलग विभाग मे वर्णित है।

समय मडन का परिचय प्राप्त होता है। शकर के अनुसार, जैसाकि सुरेश्वर तथा उनके कई अनुयायियो ने व्याख्या की है, अभाव की भिन्न सत्ता नही होने के कारण अविद्यानिवृत्ति अभाव नही है। अत अविद्या-निवृत्ति का अर्थ केवल ब्रह्म है। परन्तु मडन के अनुसार अविद्या-निवृत्ति के रूप मे इस प्रकार के अभाव के अस्तित्व को स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही है, क्योकि ब्रह्म के एकत्व का अर्थ यह है कि केवल एक ही असन्दिग्ध सत्ता है। अभाव से इसका कोई सम्बन्ध नही अर्थात् द्वैत के अभाव का अर्थ केवल यही है कि ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त विभ्रात्मक सत्ताओ का अभाव होता है (भावाद्वैत)। अविद्या की निवृत्ति के रूप मे इस प्रकार के अभाव का अस्तित्व अद्वैती सिद्धान्त को हानि नही पहुँचाता। पुन अपने सक्षेप-शारीरक (२ १७४) मे सर्वज्ञात्म मुनि कहते है कि अविद्या का आश्रय शुद्ध चैतन्य है (चिन्मात्राश्रित-विषयम् अज्ञानम्) और जहाँ भी शाकर भाष्य के प्रसग से ऐसा प्रतीत हो कि मानो वे जीव को ही अज्ञान का आश्रय मानते हो, वहाँ भी उसकी इसी अर्थ मे व्याख्या करनी चाहिए। अत ऐसे दृष्टिकोण के प्रति यथा अविद्या का आश्रय जीव है, मडन की आपत्तियो की ओर कोई ध्यान नही देना चाहिए, क्योकि मडन के विचार सर्वथा अन्यथा निष्कर्षो को ही प्राप्त कराते है (परिहृत्य मडन-वाच तद्व्यन्यथा प्रस्थितम्)।[1] 'सक्षेप-शारीरक' के टीकाकार रामतीर्थ स्वामी भी उक्त स्थल पर टीका करते हुए मडन के उपरोक्त दृष्टिकोण का सुरेश्वर से वैषम्य प्रदर्शित करते है। सुरेश्वर को उन्होने सक्षेप-शारीरक ग्रन्थाशो मे बहुश्रुत कहा है और उनका मडन के विचारो के विरुद्ध सर्वज्ञात्म मुनि के विचारो से साम्य बताया है। अब जैसाकि मडन के सम्बन्ध मे कही गई निम्न बातो से प्रतीत होगा मडन के इन कई विचारो से सुरेश्वर सहमत नही है। अत यह प्रतीत नही होता कि मडन मिश्र और सुरेश्वर एक ही व्यक्ति थे। परन्तु यदि मडन के विचारो को इतना अधिक जानने वाले विद्यारण्य उन दोनो को शकर-दिग्विजय मे एक ही बताते हैं तो यह विचारणीय है। अब श्री हिरीयन्न ने जर्नल आफ रोयल एशियाटिक सोसाइटी १९२४ मे अपने सक्षिप्त नोट द्वारा इस कठिनाई को दूर कर दिया है जिसमे उन्होने बताया है कि विद्यारण्य अपने वार्तिक सार मे ब्रह्म-सिद्धि के लेखक को वार्तिक के लेखक, अर्थात् सुरेश्वर से भिन्न बताते है। अब, यदि वार्तिक-सार के लेखक विद्यारण्य को यह पता होता कि ब्रह्म-सिद्धि के लेखक मडन और सुरेश्वर एक ही व्यक्ति नही है तो वे शकर-दिग्विजय मे उन्हे एक ही व्यक्ति नही बताते। इससे स्वभावत यह सशय उत्पन्न होता है कि विवरण-प्रमेय-सग्रह एव वार्तिक सार के लेखक विद्यारण्य और

---

[1] जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी १९२३ मे श्री हिरीयन्न इस बात का तथा अविद्या निवृत्ति के सम्बन्ध मे मडन के दृष्टिकोण का अभाव की स्वीकृति के रूप मे उल्लेख करते हैं।

शकर-दिग्विजय लेखक विद्यारण्य एक ही व्यक्ति नही थे। एक अन्य दृष्टि से भी यह विचार उत्पन्न होता है कि विद्यारण्य (विवरण-प्रमेह-सग्रह) शाकर-दिग्विजय के खक नही हो सकते थे। आनन्दातमा के दो शिष्य अनुभावानन्द और शकरानन्द थे। अनुभवानन्द के अमलानन्द और शकरानन्द के विद्यारण्य शिष्य थे। अत. अमलानन्द के आचार्य सुखप्रकाश थे जिसके आचार्य चित्सुख थे। इस प्रकार चित्सुख विद्यारण्य के परम-गुरू आनन्दातमा के समकालीन माने जा सकते है। यदि ऐसा होता तो वह अपने शकर-दिग्विजय (१३.५) मे यह नही लिख सकते थे कि पद्मपाद के कई शतक वाद रहने वाले चित्सुख पद्मपाद के शिष्य थे। अत यह वेखटके कहा जा सकता है कि शकर-दिग्विजय के लेखक विवरण-प्रमेय-सग्रह के लेखक नही थे। अब, यदि ऐसा है तो विवरण-प्रमेय-सग्रह के लेखक पर हमारा विश्वास सदेहास्पद एव असुरक्षित नही कहा जा सकता। परन्तु विवरण-प्रमेय-सग्रह के पृष्ठ ९२ पर सुरेश्वर-कृत वार्तिक का एक गद्याश (४८) विश्वरूप आचार्य का वताया गया है। अत जबतक हम यह नही मान लेते कि मडन केवल मीमासा लेखक ही नही वल्कि एक महान् सम्मानित वेदान्त लेखक भी थे और शकर द्वारा उनके मत परिवर्तन का अर्थ केवल यही था कि उन्होने अपने कुछ वेदान्ती-विचारो मे परिवर्तन किया और शकर की विचारधारा को अगीकार किया और इसी अवस्था मे वह सुरेश्वर कहलाए तब-तब यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता है कि ब्रह्म-सिद्धि के लेखक मडन और सुरेश्वर एक ही व्यक्ति थे। इस सिद्धान्त के अनुसार उनकी ब्रह्म-सिद्धि सम्भवत. उनके शाकर मत ग्रहण करने के पूर्व लिखा गया। यह सम्भव है कि यह सिद्धान्त ठीक हो और यह कि विधि-विवेक के लेखक ही ब्रह्म-सिद्धि के लेखक हो, क्योकि वाचस्पति ने अपनी न्याय-कणिका मे ब्रह्म-सिद्धि का एक अश इस ढग से उद्धृत किया है कि जिससे ऐसा सकेत होता है कि सम्मवत विधि-विवेक के लेखक के ब्रह्म-सिद्धि के भी लेखक होने की ही सभावना है। यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विश्वरूप और सुरेश्वर दोनो के एक होने की ही सम्भावना है, यद्यपि इस विषय पर वर्तमान लेखक को विवरण-प्रमेय-मग्रह के लेखक द्वारा प्रदत्त विवरणो के अतिरिक्त अन्य कोई महत्वपूर्ण विवरण उपलब्ध नही है।

मंडन (८०० ई० प०)

मडन मिश्र कृत ब्रह्म-सिद्धि एव उस पर शखपाणि कृत टीका की पाडुलिपियां उपलब्ध हैं, मद्रास के महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री शीघ्र ही इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का आलोचनात्मक सस्करण निकालने वाले है। महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री के सौजन्य से वर्तमान लेखक को ब्रह्म-सिद्धि का प्रूफ पढने का अवसर प्राप्त हुआ था एव अद्यार पुस्तकालय के अवैतनिक सचालक श्री सी० कुन्हनराजा के सौजन्य

से शखपारिण-कृत टीका की पाडुलिपियो का भी उपयोग कर सका।[1] ब्रह्म-सिद्धि-कारिका एव वृत्ति रूप मे ब्रह्मसिद्धि के ब्रह्म-काड, तर्क-काड, नियोग-काड और सिद्धि-काड, चार अध्याय हैं। मडन के शकर का समकालीन होना इस तथ्य से सिद्ध होता है कि वे शकर के किसी भी परकालीन लेखक के बारे मे कदापि नहीं लिखते यद्यपि उन्होने कई ऐसे लेखको के उद्धरण प्रस्तुत किए हैं जो शकर के पूर्वकालीन थे यथा शबर, कुमारिल अथवा योग-सूत्र भाष्य के लेखक व्यास एव उपनिषद् वाक्यो का प्रचुर उल्लेख करते हैं।[2] मडन-कृत ब्रह्मसिद्धि पर वाचस्पति ने भी 'तत्व-समीक्षा' नामक टीका लिखी, परन्तु जहाँ तक कि वर्तमान लेखक को ज्ञात है, दुर्भाग्यवश मूल पाठ का अभी तक पता नही चल सका है। ब्रह्म-काड अध्याय मे मडन ब्रह्म के स्वरूप की विवेचना करते हैं, तर्क-काड मे वह यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि हमे प्रत्यक्ष द्वारा 'भेद' गोचर नही हो सकता, अत किसी को भी उपनिषद् ग्रथो की द्वैतवादी विचारधारा की इस आधार पर व्याख्या करने का विचार नही करना चाहिए कि प्रत्यक्ष भेद अभिव्यक्त करता है। नियोग-काड नामक तृतीय अध्याय मे वे इस मीमासा विचारधारा का खडन करते हैं कि उपनिषद् वाक्यो की व्याख्या इस मीमासा सिद्धान्त के अनुसार की जाए कि समस्त वैदिक ग्रथ हमे किसी प्रकार का कर्म करने अथवा न करने का आदेश देते हैं। यह पुस्तक का सबसे लम्बा अध्याय है चौथा अध्याय सिद्धि काड सबसे छोटा है मडन यहाँ कहते हैं कि उपनिषद् ग्रन्थ यह बताते हैं कि नाना प्रपचात्मक जगत् की कोई सत्ता ही नही है तथा इसका प्रतीयमान अस्तित्व जीव की अविद्या के कारण है।

ब्रह्म काड मे मडन ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण वेदान्ती-विचारो की व्याख्या अपने दृष्टिकोण के अनुसार की है। वे प्रथमत. द्रष्टा एव दृश्य की समस्या को प्रस्तुत करते

[1] ज्ञानोत्तम के शिष्य चित्सुख ने भी इस पर अभिप्राय-प्रकाशिका नामक एक टीका लिखी जिसके प्रारम्भिक कुछ हिस्सो के अतिरिक्त करीब २ पूरा भाग राजकीय प्राच्य पाडुलिपि ग्रन्थालय, आर० न० ३८५३ में उपलब्ध है। आनन्दपूर्ण ने भी ब्रह्म-सिद्धि पर भाव-शुद्धि नामक एक टीका लिखी।

[2] मडन के अन्य ग्रन्थ भावना विवेक, विधि-विवेक, भ्रम-विवेक और स्फोट-सिद्धि है। इनमे से विधि-विवेक पर वाचस्पति मिश्र ने अपनी न्याय-कणिका मे टीका की, एव स्फोट-सिद्धि पर भक्तदास के पुत्र ने टीका लिखी, जिन्होने वाचस्पति कृत तत्व-बिन्दु पर तत्व-विभावना नामक टीका भी लिखी। स्फोट-सिद्धि पर टीका का नाम गोपालिका है। मडन कृत विभ्रम-विवेक एक छोटा सा ग्रन्थ है जो भ्रम के चार सिद्धान्तो (ख्याति) यथा आत्म-ख्याति, असत्-ख्याति, अन्यथा-ख्याति एव अख्याति की विवेचना करता है। अब तक उनके केवल भावना-विवेक एव विधि-विवेक ही प्रकाशित हुए।

हैं और कहते हैं कि द्रष्टा एवं दृश्य के प्रतीयमान द्वैत को हटा कर के ही अनुभव की व्याख्या की जा सकती है। क्योंकि, यदि द्रष्टा एवं दृश्य का कोई वास्तविक द्वैत हो, तो उस द्वैत को हटाया नहीं जा सकता एवं दोनों के मध्य किसी प्रकार का भी संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता, दूसरी ओर यदि केवल द्रष्टा की ही सत्ता हो तो प्रत्यक्षीकृत समस्त वस्तुओं की व्याख्या एकमात्र परम सत्ता आत्मा पर आरोपित भ्रमात्मक रचनाओं के रूप में की जा सकती है।[1] इसी युक्ति के साथ अग्रसर होते हुए वे कहते हैं कि इस द्रष्टा-दृश्य संबंध को स्थापित करने के लिए मध्यस्थ अन्तःकरण की क्रिया के सिद्धान्त द्वारा प्रयत्न किए हैं, परन्तु इस माध्यम का कैसा ही स्वरूप क्यों न हो, शुद्ध अविकारी चिदात्मा अथवा द्रष्टा विभिन्न दृश्यों के साथ अपने सम्बन्ध के अनुसार अपने परिवर्तनशील विकारों के साथ विकृत नहीं हो सकता, यदि यह कहा जाए कि आत्मा अविकारी है एवं अन्तःकरण में उसके प्रतिबिम्ब द्वारा विकार की प्रतीति मात्र होती है तो यह स्पष्टतया स्वीकार करना पड़ेगा कि विषयों का वस्तुतः प्रत्यक्षीकरण न होकर प्रत्यक्षीकरण का अवभास मात्र होता है। यदि विषयों का यथार्थ प्रत्यक्षीकरण नहीं होता तो उनकी सत्ता को आत्मा से स्वतंत्र एवं पृथक् मानना दोष युक्त है।[2] जिस प्रकार दर्पण में देखी गई स्वयं अपनी आकृति को कोई

[1] एकत्वे एवायं द्रष्टृ दृश्य-भावोऽवकल्पते, द्रष्टुरेव चिदात्मनः तथा विपरिणामाद् विवर्त्तनाद्वा, नानात्वेतु विविक्तस्वभावयो असंसृष्ट परस्परस्वरूपयो असम्बद्धयोः कीदृशो द्रष्टृ दृश्य-भाव ।

कुप्पुस्वामी शास्त्री कृत ब्रह्म-सिद्धि संस्करण, पृष्ठ ७ (मुद्रणालय में)

[2] एकान्त करण-संक्रान्तावस्त्येव सम्बन्ध इति चेत्, न चितेः शुद्धत्वाद् अपरिणामाद् अप्रति-संक्रामाच्च, दृश्याबुद्धि : चिति-सन्निवेशच्छायया विवर्तत इति चेत् अथ केयम् तच्छायता ? अ-तद्-आत्मन तदवभास , न तर्हि परमार्थतो दृश्य दृश्यते, परमार्थतश्च दृश्यमाण द्रष्टृ व्यतिरिक्तमस्ति इति दुर्मणम्। वही। इस पर टिप्पणी करते हुए शंखपाणि इस विचार-धारा को अग्राह्य करते हैं कि दृश्य पदार्थ इन्द्रिय प्रणाली द्वारा आते जाते हैं और अन्तःकरण पर आरोपित होते हैं तथा उसके द्वारा आत्मा के शुद्ध चैतन्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं और उनका विषमीकरण हो जाता है न तु स्फटिकोपमे चेतसि इन्द्रिय प्रणाली संक्रातानाम् अर्थाना तत्रैव संक्रान्तेन आत्मचैतन्येन सम्बद्धानो तद् दृश्यत्व घटिष्यते। अड्यार-पाण्डुलिपि, पृष्ठ ७५। इस सम्बन्ध में यह बताना असंगत नहीं होगा कि धर्मराजाध्वरीन्द्र द्वारा बाद में सम्बन्धित पद्मपाद प्रकाशात्मन् का सिद्धान्त सम्भवत. प्रत्यक्षीकरण में चिच्छायापत्ति के सांख्य सिद्धान्त से अपनाया गया था जिसके अनुसार प्रत्यक्षीकरण में अन्तःकरण का आरोपण बाह्य विषयों पर होता है। यह सिद्धान्त किसी प्रकार शंकर के अस्पष्ट प्रमाण मीमांसा सम्बन्धी सिद्धान्तों के ऊपर लादा गया

व्यक्ति अपने से भिन्न मानता है और उसे अपने से पृथक् सत्ता वाला मानता है उसी प्रकार एक ही आत्मा का अपने से भिन्न नाना विषयो के रूप मे अवभास होता है। यह सोचना कठिन है कि किस प्रकार कोई व्यक्ति शुद्ध चैतन्य से पृथक् बाह्य विषयो की सत्ता को स्वीकार करता है, क्योकि उस स्थिति मे दोनो मे सबध स्थापित करना असम्भव होगा।[1]

मडन के अनुसार अविद्या को माया अथवा मिथ्या-प्रतीति कहा गया है क्योकि न तो यह ब्रह्म का स्वभाव है और न यह उससे भिन्न, न सत् और न असत्। यदि यह किसी का स्वभाव होती तो, उससे एकरूप अथवा उससे भिन्न होने पर भी यह यथार्थ होती और उसे अविद्या नही कहा जा सकता, यदि यह निर्विकल्प रूप से असत् होती तो आकाश-कुसुम के समान उसका अनुभव से कोई व्यावहारिक सम्बन्ध नही होता जैसा अविद्या का है, इस प्रकार यह स्वीकार करना पडेगा कि अविद्या अनिर्वचनीय है।[2]

मडन के अनुसार अविद्या का अधिष्ठान जीव हैं। वे स्वीकार करते हैं कि इस दृष्टिकोण मे असगति है, परन्तु उनके विचार मे स्वय अविद्या के असगत पदार्थ होने के कारण इसमे कोई आश्चर्य नही कि जीव के साथ इसका सम्बन्ध भी असगत एव अनिर्वचनीय हो। जीवो के साथ अविद्या के सम्बन्ध की असगति निम्न प्रकार से उत्पन्न होती है—

जीवो का आवश्यक रूप से ब्रह्म के साथ तादात्म्य है, एव जीवो के नानात्व का कारण कल्पना है, परन्तु ब्रह्म के कल्पनाशून्य होने के कारण यह कल्पना ब्रह्म की नही हो सकती (तस्याविद्यात्मन कल्पना शून्यत्वात्), यह कल्पना जीवो की भी

था एव व्यवस्थित प्रमाणमीमासा-सिद्धान्त के रूप मे काम करने लगा। मडन द्वारा इस प्रमाण-मीमासक सिद्धान्त की अग्राह्यता एक ओर यह बताती है कि उन्होने इस सिद्धान्त की शकर की व्याख्या को सही नही माना और शायद दूसरी ओर इसे पद्मपाद की व्याख्या की आलोचना माना जा सकता है। परन्तु उस शाखा का उत्तर सम्भवत यह होगा कि यद्यपि जीव के अतिरिक्त विषयो की सत्ता मे उनका विश्वास था फिर भी वे शुद्ध चैतन्य के बाह्य किन्ही विषयो की सत्ता को स्वीकार नही करते।

[1] तथा हि दर्पण तल-स्थम् आत्मानविभक्तम् इवात्मन प्रत्येति, चितेस्तु विभक्तम् अमनुष्टतया चैत्यत इति दुरवगम्यम्। ब्रह्म-सिद्धि।

[2] वही। पृष्ठ ९। यहाँ यह बताना अनुपयुक्त नही होगा कि न्याय-मकरन्द मे अविद्या के अनिर्वचनीय स्वरूप (जो इस अध्याय के बाद के विभाग मे वर्णित है) के बारे मे आनन्दबोध द्वारा दी गई युक्ति मडन की इस युक्ति पर आधारित है।

नही हो सकती क्योकि जीव तो स्वय कल्पना के ही आश्रित हैं।[1] इस कठिनाई के दो हल प्रस्तुत किए जा सकते है, प्रथम, माया शब्द का अर्थ ही असगत पदार्थ है, यदि यह सगत एव वचनीय प्रत्यय होता तो यह यथार्थ होता, माया नही।[2] द्वितीय, यह कहा जा सकता है कि जीव अविद्या पर एव अविद्या जीवो पर आश्रित है, और यह चक्र अनादि है तथा इसलिए जीवो का अथवा अविद्या का प्रथम, आदि नही है।[3] यह मत उन लोगो का है जो अविद्या को जगत् का उपादान कारण नही मानते है, पारिभाषिक शब्दावलि मे ये अविद्योपादान-भेद-वादी कहलाते है। इसी अविद्या के द्वारा जीव आवागमन के चक्र मे पडते हैं और यह अविद्या जीवो मे नैसर्गिक है क्योकि स्वय जीव अविद्या के उत्पाद्य हैं।[4] एव वेदान्ती-वचनो के श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि से यथार्थ ज्ञान का उदय होता है एव अविद्या का नाश होता है, इसी अविद्या के कारण ही ब्रह्म से जीव विभक्त हुआ, उसकी निवृत्ति अथवा नाश से ही वे ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त होते है।[5]

ब्रह्म के स्वरूप की शुद्ध आनन्द के रूप मे परिभाषा देते हुए टीकाकार शखपाणि कुछेक अत्यत रुचिकर विचार-विमर्श करते हैं। वे प्रारम्भ मे दु ख-निवृत्ति के रूप मे अथवा इस प्रकार की अभावात्मक स्थिति द्वारा विशिष्ट विद्यात्मक आत्मोपलब्धि के रूप मे सुख की अभावात्मक परिभाषा की आलोचना करते हैं।[6] वे कहते है कि सचमुच कई अभावात्मक सुख हैं जिनका अभावात्मक सुखो के रूप मे अनुभव किया जाता है (यथा शीतल-जल मे डुबकी लगाना दुखदायक उष्णता से बचना है), परन्तु उनके मत मे कई ऐसी अवस्थाए हैं जहाँ सुख और दुख का अनुभव एकसाथ होता है, न कि एक-दूसरे के निषेध रूप मे। किसी मनुष्य को अपने शरीर के ऊपरी भाग मे दुखदायक उष्णता का अनुभव हो सकता है और उसके शरीर के निचले भाग मे आनन्ददायक शीतलता का अनुभव हो सकता है और इस प्रकार सुख दु ख युगपत् उत्पन्न हो सकते हैं (सुख-दु खे युगपज्जन्येते)। पुन शास्त्रो के अनुसार नरक मे असश्लिष्ट दुख है और इससे स्पष्ट है कि दु ख आवश्यक रूप से सापेक्ष नही होता।

---

[1] इतरेतराश्रय प्रसगात् कल्पनाधीनोहि जीवविभाग , जीवाश्रया कल्पना। वही, पृष्ठ १०

[2] अनुपपद्यमानार्थैव हि माया, उपपद्यमानार्थत्वे यथार्थभावान्न माया स्यात्। वही।

[3] अनादित्वान्नेतरेतराश्रयत्व-दोष । ब्रह्मसिद्धि।

[4] न हि जीवेषुनिसर्गजा विद्यास्ति, अविद्यैव हि नैसर्गिकी, आगन्तुक्या अविद्याया प्रविलय । वही। पृष्ठ ११-१२

[5] अविद्ययैव ब्रह्मणो जीवो विभक्त, तन्निवृत्तौब्रह्म-स्वरूपमेव भवति, यथा घटादि-भेदे तदाकाश परिशुद्ध परमाकाशमेव भवति। वही।

[6] दु ख निवृत्तिर्वा तद्-विशिष्टात्मोपलब्धिर्वा सुखमस्तु सर्वथा सुख नाम न धर्मान्तर-मस्ति। शखपाणि-कृत टीका। अद्यार पाडुलिपि, पृष्ठ १८

पुनः, ऐसे उदाहरणो की कमी नही है (यथा, कपूर की आनन्ददायक गध को सूघना) जहाँ हमे आत्मोपलब्धि का अनुभव होता है।[१] शखपाणि विषय-प्राप्ति के बिना काम ही को दुख और उससे निवृत्ति को ही सुख (विषय प्राप्तिम् बिना काम एव दुखमत तन्निवृत्तिरेव सुखमविष्यति) मानने वाले सिद्धान्त का खडन यह बताकर करते हैं कि सुख की आत्मोपलब्धि किसी व्यक्ति के सुख की कामना किये बिना भी सम्भव है।[२] इस पर आपत्ति यह है कि सुख की आत्मोपलब्धि सहज परन्तु अस्थाई रूप से निष्क्रिय कामनाओ को अवचेतन अथवा प्रच्छन्न अवस्था मे तृप्त करती है।[३] पुन, कुछ उपलब्धियो द्वारा कुछ विषयो मे अन्यो की अपेक्षा अधिक सुख का आविर्भाव होता है और इसका स्पष्ट कारण यह है कि एक को दूसरे की अपेक्षा अधिक प्रसुप्त कामनाए तृप्त करनी होती हैं। इन आपत्तियो के उत्तर मे शखपाणि बताते हैं कि किसी विषय की अधिक कामना होने पर भी यदि वह अधिक कष्ट के बाद उपलब्ध होता है तो यह मनुष्य को इतना अधिक तृप्त नही करता जितना सुलभ-प्राप्य सुख कर सकता है। यदि सुख की परिभाषा काम-निवृत्ति के रूप मे की जाए तो सुखानुभव के पूर्व अथवा अनन्तर आनन्द का अनुभव होना चाहिए जब कामनाओ की पूर्ण रूप से निवृत्ति हो जाती है, न कि सुखानुभव का आनन्द लेते समय, क्योकि उस समय पूर्णरूपेण काम निवृत्ति नही होती। सर्वाधिक प्रबल कामनाओ की तृप्ति का आनद लेते समय भी किसी को दुख का अनुभव हो सकता है। यह मानना होगा कि सुख ऐसा सापेक्ष प्रत्यय नही है जो काम निवृत्ति का फल हो, अपितु यह एक विध्यात्मक प्रत्यय है जिसका अस्तित्व काम निवृत्ति के पूर्व होता है।[४] यदि काम-निवृत्ति को सुख की परिभाषा माना जाए तो भोजन के प्रति श्लेषमज अरुचि को भी सुख ही कहना पडेगा।[५] अत यह स्वीकार करना पडेगा कि प्रथमत विध्यात्मक सुखो का अनुभव होता है और उसके बाद उनकी कामना होती हैं। यह सिद्धान्त मिथ्या है कि सुख दुख सापेक्ष हैं एव दुख के अभाव मे सुख का अनुभव नही होता और सुख के अभाव मे दुख का अनुभव नही होता और परिणामत वेदान्ती दृष्टिकोण यह है कि ब्रह्म के रूप मे मोक्ष की अवस्था को विध्यात्मक शुद्ध आनन्द का अनुभव कहा जा सकता है।

ब्रह्मसूत्र एव कुछ उपनिषदो के भाष्य तथा माडूक्य-कारिका मे शकर ने तार्किक-आलोचना के कुछ तत्वो का प्रयोग किया था जिनके सिद्धान्त बहुत समय पूर्व ही

---

१ वही, पृष्ठ २०–२१
२ वही, पृष्ठ २२
३ सहजोहि राग सर्वपु मामस्ति स तु विषय-विशेषेण आविर्भवति, वही, पृष्ठ २३-
४ अत काम-निवृत्ते प्रागभाविसुख-वस्तु-भूत एष्टव्यम्, वही, पृष्ठ २७
५ वही पृष्ठ २५

बौद्धो द्वारा सुविकसित रूप मे प्रचलित किए गए थे। शाकर-शाखा के तीन महान् तार्किको श्रीहर्ष, आनन्दज्ञान एव चित्सुख के नाम सुविज्ञात हैं और इस अध्याय मे उनका सम्यक् ध्यान रखा गया है। परन्तु शकर के शिष्यो मे मडन ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होने तार्किक युक्ति प्रणाली का प्रारम्भ किया, और जो तार्किक शक्तियो मे अद्वितीय थे और जिन्होने शाकर शाखा के अन्य सब तर्क शास्त्रियो यथा आनन्द बोध, श्रीहर्ष, आनन्दज्ञान, चित्सुख, नृसिहाश्रम एव अन्यो को प्रभावित किया। मडन की महान् तार्किक उपलब्धि ब्रह्मसिद्धि के तर्क-काड-अध्याय मे भेद के प्रत्यक्षीकरण का खडन करने मे पाई जाती है। युक्ति निम्न प्रकार से दी गई है– भेद-पदार्थ की अभिव्यक्ति प्रत्यक्षीकरण मे होती है और यदि यह सत्य है तो भेद की वास्तविकता का निषेध नही किया जा सकता और इसलिए वचन की व्याख्या इस प्रकार नही करनी चाहिए कि भेद की वास्तविकता ही समाप्त हो जाए। इस प्रकार के दृष्टिकोण के विरुद्ध मडन यह सिद्ध करते हैं कि भेद का अनुभव प्रत्यक्ष द्वारा नही होता चाहे वह वस्तुधर्म के रूप मे हो, चाहे इकाई के रूप मे हो।[1] वे प्रारम्भ मे यह कहते है कि प्रत्यक्ष हमे तीन सम्भव विकल्प देता है यथा–(१) वस्तु स्वरूप सिद्धि (२) अन्य वस्तुओ से इसका व्यवच्छेद (३) दोनो।[2] तृतीय विकल्प भी पुन त्रिविध हो सकते हैं, यथा– (१) युगपद् भाव (२) व्यवच्छेद-पूर्वक विधि (३) विधिपूर्वक व्यवच्छेद।[3] यदि प्रत्यक्ष द्वारा अन्य विषयो से व्यवच्छेद का अनुभव होता है अथवा यदि यह दोनो वस्तुस्वरूप एव उसके व्यवच्छेद को प्रकट करता तो यह स्वीकार करना पडेगा कि 'भेद' प्रत्यक्ष प्रस्तुत होता है, परन्तु यदि यह सिद्ध किया जा सके कि किसी व्यवच्छेदपूर्वक विधि से असम्बद्ध प्रत्यय मे ही केवल वस्तुस्वरूप प्रस्तुत किया जाता है तो यह स्वीकार करना पडेगा कि भेद का प्रत्यय हमे प्रत्यक्ष द्वारा नही मिलता और उस अवस्था मे उपनिषदो के उस निर्णय का प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा बाध नही होता कि सत् एक है और नानात्व सत् नही हो सकते। अब प्रमाण दिए जाते हैं।

प्रत्यक्ष न तो केवल भेद को ही प्रकट नही करता, न यह प्रथम भेद प्रकट करके तदनन्तर वस्तुस्वरूप को और न ही दोनो एकसाथ प्रकट करता है, क्योकि किसी भेद के प्रकट होने के पूर्व वस्तुस्वरूप का प्रकट होना आवश्यक है। भेद का

---

[1] यह विवेचना ब्रह्मसिद्धि (मुद्रणालय मे) के पृष्ठ ४४ मे द्वितीय अध्याय के अन्त तक की गई है।

[2] तत्र प्रत्यक्षे त्रय कल्पा वस्तुस्वरूप सिद्धि, वस्त्वन्तरस्य व्यवच्छेद उभयथा, ब्रह्मसिद्धि, ॥

[3] उभयस्मिन्नपि त्रैविध्यमयौगपद्यम्, व्यवच्छेद पूर्वको विधि, विधि-पूर्वको व्यवच्छेद। वही

सम्बन्ध केवल दो वस्तुस्वरूपो के सम्बन्ध मे ही होना चाहिए यथा गाय घोडे से भिन्न है अथवा यहाँ कोई घट नही है। जिस वस्तु का अभाव है, अथवा जिस वस्तु मे उसका अभाव है, इनके बिना भेद के प्रत्यय मे अन्तर्निहित अभाव का कोई अर्थ नही और ये दोनो ही धारणाए वास्तविक हैं। किसी काल्पनिक सत्ता (यथा आकाश-पद्म) के अभाव की व्याख्या उसके अगो के मिथ्या सम्बन्ध के अभाव से ही की जानी चाहिए जो स्वय अपने मे सत् है, (यथा पद्म और आकाश दोनो सत् हैं, असामजस्यता उनके सम्बन्ध के कारण है और इन दो सत् तत्वो के बीच इसी सम्बन्ध का निषेध किया गया है) अथवा, इस प्रकार के तत्वो की बाह्य सत्ता का निषेध करना है जो केवल बुद्धि के प्रत्यय के रूप मे प्राप्य हैं।[1] यदि भेद-पदार्थ दो विषयो का एक-दूसरे से अन्तर प्रकट करता है तो प्रथमत उन विषयो का ज्ञान होना आवश्यक है जिनका भेद प्रकट किया जाता है। पुन यह नही माना जा सकता कि वस्तुस्वरूप को प्रकट करके प्रत्यक्ष अन्य विषयो से अपने भेद को भी प्रकट करता है, क्योकि प्रत्यक्ष एक अद्वितीय ज्ञान-प्रक्रिया है और इसमे कोई दो ऐसे क्षण नही हैं कि प्रथमत उसे उस विषय को अभिव्यक्त करना चाहिए जो वर्तमान मे इन्द्रिय सन्निकर्ष और तदनन्तर उन विषयो को प्रकट करे जो उस समय इन्द्रिय सन्निकर्ष मे नही हो और कि दोनो के भेद फिर भी हैं।[2] स्वय अपने भ्रम का ज्ञान होने पर यथा 'यह रजत नही बल्कि शुक्ति है' केवल उत्तरवर्ती ज्ञान मे ही प्रत्यक्ष परक होता है एव यह ज्ञात-विषय को रजत के रूप मे पूर्ववर्ती ज्ञान का निषेध होने पर ज्ञान उससे सम्बन्धित होता है तथा उसका निषेध करता है। जब केवल प्रस्तुत विषय का प्रत्यक्ष 'पूर्वेदम्' के रूप मे किया गया है तब ही पूर्वावभासित रजत का निषेध हुआ है और जब उसका निषेध हुआ है तब ही शुक्ति का प्रत्यक्ष हुआ है। बिना किसी भावात्मक प्रत्यय के अभावात्मक प्रत्यय नही होता, परन्तु इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि भावात्मक प्रत्यय के पूर्व अभावात्मक प्रत्यय नही हो सकता।[3] अत वह ऐसी अवस्था नही है जिसके एक अलौकिक प्रत्यक्ष मे दो क्षण हो परन्तु इस अवस्था मे यहाँ विभिन्न ज्ञानात्मक अनुभव होते है।[4]

---

[1] कुतश्चिन्निमित्तादबुद्धौ लब्ध-रूपाणाम् बहिर्निषेध क्रियते। ब्रह्मसिद्धि ॥

[2] क्रम सगच्छते युक्त्या नैक विज्ञान कर्मणो न सन्निहित-ज न च तदन्यामर्पी जायते। वही ॥ कारिका ३

[3] पूर्व-विज्ञान-विति रजतादौ 'इदम्' इति च सन्निहितार्थ-सामान्ये निषेधा विधि पूर्व एव, शुक्तिका-सिद्धिस्तु विरोधी-निषेध-पूर्वउच्यते, विधि-पूर्वता च नियमेन निषेधस्योच्यते, न विधेर्निषेध-पूर्वकता निषिध्यते। ब्रह्मसिद्धि ॥ कारिका ३

[4] न च तत्र एक ज्ञानस्य क्रम वद्-व्यापारता उभय-रूस्य उत्पन्ने। वही।

पुन एक मत (बौद्ध) यह है कि किसी भी विषय के अनिर्वाच्य निर्विकल्प ज्ञान की सामर्थ्य द्वारा विध्यात्मक सविकल्प ज्ञान एव उसका अन्य से भेद, दोनो उत्पन्न होते है। यद्यपि भावात्मक एव अभावात्मक दो ज्ञान हैं फिर भी दोनो निर्विकल्प ज्ञान से प्रादुर्भूत होने के कारण यह ठीक ही कहा जा सकता है कि एक के विध्यात्मक प्रत्यय द्वारा हम अन्य के साथ इसका व्यवच्छेद प्रकट कर सकते हैं (एक विधिरेव अन्य व्यवच्छेद·)।[1] इस विचारधारा के विरुद्ध मडन आग्रह करते है कि एक विध्यात्मक अनुभव अन्य सब प्रकार के समव तथा असभव विषयो से व्यवच्छेद को प्रकट नही कर सकता। एक विशिष्ट समय एव विशिष्ट स्थान पर प्रत्यक्षीकृत रूप उसी विशिष्ट समय एव विशिष्ट स्थान पर प्रत्यक्ष अन्य रूप का निषेध कर सकता है, परन्तु वह उसी विशिष्ट स्थान एव समय पर के रस, गुण की उपस्थिति का निषेध नही कर सकता, परन्तु केवल रूप ही का प्रत्यक्ष रूप से अन्य उन सब वस्तुओ का इतना निषेध करे, तो उन रस धर्मो का भी निषेध हो जाएगा और चूंकि यह समव नही है अत· यह स्वीकार करना पडेगा कि किसी विध्यात्मक तत्व के प्रत्यक्ष मे उसी प्रक्रिया के फलस्वरूप समस्त अन्य तत्वो का निषेध होना आवश्यक नही है।

पुन एक दृष्टिकोण यह भी है कि वस्तुए प्रकृति से ही भिन्न स्वरूप होती हैं (प्रकृत्यैव भिन्नाभाव) और इस प्रकार जब प्रत्यक्ष द्वारा कोई विषयानुभव होता है तब उसी प्रक्रिया द्वारा उस विषय की अन्य विषयो से भिन्नता का भी ग्रहण होता है। इस आपत्ति के उत्तर मे मडन कहते है कि वस्तुए भेद-स्वरूप नही होतीं, क्योकि प्रथमत उस अवस्था मे समस्त विषय भेद-स्वरूप वाले होगे, और इसलिए उनमे कोई भेद नही रहेगा। द्वितीय, चूंकि भेद का कोई रूप नही होता अत स्वय विषय भी अरूप होगे, तृतीय, भेद के तत्वत रूप से अभाव स्वरूप होने के कारण स्वय विषय भी अभावस्वरूप होगे, चतुर्थ, भेद के प्रत्यय मे द्वैत अथवा बहुत्व निहित होने के कारण किसी भी विषय को एक नही माना जा सकता, कोई भी वस्तु दोनो एक और अनेक नही मानी जा सकती है।[2] इसका उत्तर देते हुए विपक्षी कहते है— वस्तु का भेद स्वभावत परापेक्षी होता है, आत्मापेक्षी नही (परापेक्ष वस्तुनोभेद-स्वभाव नात्मापेक्ष) इसके उत्तर मे मडन का कथन है कि सम्पूर्ण सबध मानसिक

[1] नीलस्य निर्विकल्प-दर्शनस्य यत् सामर्थ्यं नियतैक-कारणत्व तेन अनादि वासना-वशात् प्रतिभासित जनित इद नेद इति विकल्पो भावाभाव व्यहार प्रवर्तयति सत्य, ज्ञान-द्रव्य इद सविकल्पक तु निर्विकल्पक तयोर्मूलभूत तत्प्रत्यक्ष तत्र च एकविधि एव अन्य व्यवच्छेद इति ब्रूम इति। शखपाणि कृत वही।

[2] न भेदो वस्तुनो रूपम् तद् अभाव प्रसगत अरूपेण च भिन्नत्व वस्तुनो नावकल्पते। ब्रह्मसिद्धि ॥ ५

होने के कारण उन लोगो पर आश्रित है जो वस्तुओ के बारे मे विचार करते हैं, अत अपेक्षा नामक कोई वस्तुधर्म नही है।

यदि अन्य वस्तु की अपेक्षा ही तत्वत वस्तुधर्म है तो प्रत्येक वस्तु को दूसरो की अपेक्षा होगी उनको अपने अस्तित्व के लिए एक-दूसरे के आश्रय की अपेक्षा होगी (इतरेत्तर-आश्रय-प्रसगात्)। इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक विरोधी पद के अनुरूप भेद अलग-अलग हैं और प्रत्येक विषय का विभिन्न अन्य विषयो के अनुसार एक विभिन्न स्वरूप है जिसके साथ उसका विरोधी सम्बन्ध हो परन्तु, यदि ऐसा हो तो विषयो की उत्पत्ति केवल स्वय अपने कारणो द्वारा ही नही होती है, क्योकि यदि भेद उनका स्वरूप माना जाता है तो ये स्वरूप ऐसे प्रत्येक विषय के अनुसार भिन्न-भिन्न होने चाहिए जिसके साथ उसका विरोध हो। इसके उत्तर मे विपक्षी द्वारा यह आग्रह किया जाता है कि यद्यपि विषय स्वहेतुक है फिर भी भेद रूप मे उसको उन अन्य विषयो की अपेक्षा होती है जिसके साथ इसका विरोध हो। मडन यह प्रत्युत्तर देते है कि इस प्रकार के दृष्टिकोण पर इस विरोधी अपेक्षा का अर्थ एव कार्य समझना कठिन होगा, क्योकि यह स्वयहेतु के विषय का उदय नही करता और इसकी कोई नैमित्तिक सामर्थ्य नही है तथा अन्य विषयो के साथ सम्बन्धो से इसका अनुभव भी नही होता (नानापेक्ष—प्रतियोगिना भेद प्रतीयते)। भेद भी तत्वत विरोध्यपेक्षा नही माना जा सकता, पहले से ही अनुभूत के बीच विरोधात्मक अपेक्षा होने पर ही भेद अपने आपको प्रकट करता है। सम्बन्ध आन्तरिक होते हैं एव उनकी अनुभूति प्रत्यक्षकर्ता एव ग्राहक के अन्त करण मे होती है।[1] परन्तु आगे चलकर इस पर आपत्ति की जाती है कि पिता एव पुत्र के प्रत्यय दोनों सापेक्ष है और स्पष्टतया वाह्य हैं। इस पर मडन उत्तर देते है कि ये दोनो प्रत्यय अपेक्षा पर आश्रित नही होकर उत्पत्ति के प्रत्यय पर आश्रित है, जो उत्पन्न करता है वह पिता है एव जिसकी उत्पत्ति होती है वह पुत्र है। इसी प्रकार दीर्घ एव लघु के प्रत्यय भी नापने के समय न्यून अथवा अधिक क्षेत्र मे व्याप्त होने पर आश्रित हैं, न कि अपेक्षा मे ही उनका स्वरूप होने के कारण।

इसके उत्तर मे पूर्व पक्ष का कथन है कि यदि सम्बन्धो को परम नही माना जाए और यदि वे विभिन्न प्रकार के कार्यों द्वारा प्रादुर्भूत होते हो तो उसी आधार पर भेदो के अस्तित्व को भी स्वीकार किया जा सकता है। यदि विभिन्न प्रकार की वस्तुए नहीं हो तो विभिन्न प्रकार के कार्यों की व्याख्या करना कठिन होगा। परन्तु मडन का उत्तर यह है कि तथाकथित भेद केवल नाम मात्र के ही भेद हैं, एक ही अग्नि की ज्वलन क्रिया को कभी दाहक और कभी पाचक कहा जाता है। वेदान्त के मतानुसार तथाकथित समस्त विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ एक ही विषय ब्रह्म मे

---

[1] पौरुषेयीमपेक्षा न वस्त्वनुवर्तते, अतो न वस्तु स्वभाव.। वही

भासित होती है, अतः यह आपत्ति न्याय सगत नही है कि विभिन्न प्रकार की क्रियाओ के लिए उनके उत्पादक कर्त्ताओ मे भेद होना आवश्यक है। पुन , बौद्धो की कठिनाई स्वय उनकी विचारधारा मे नही है, क्योकि उनके अनुसार सब प्रतीतियाँ क्षणिक हैं और यदि ऐसा होता तो दृश्यमाण कार्यो के सादृश्य की व्याख्या वे किस प्रकार करते है। उनके अनुसार यह केवल कारणो के साम्य के भ्रमात्मक प्रत्यय पर ही आधारित किया जा सकता है, अत यदि बौद्ध हमारे सादृश्य के अनुभव की व्याख्या कारणो के साम्य की मिथ्या प्रतीति के आधार पर करते हैं तो वेदान्ती भी अपने पक्ष मे नानात्व की प्रतीतियो की व्याख्या भेद के भ्रमात्मक प्रत्यय द्वारा कर सकता है। अत हमारे भेद के अनुभूत प्रत्यय की व्याख्या करने के लिए भेदो की यथार्थता को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नही है।[1] दूसरो का तर्क है कि जगत् वैभिन्ययुक्त होना चाहिए क्योकि हमारे अनुभवगत विभिन्न विषय हमारे विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति करते हैं और एक ही वस्तु द्वारा विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति असम्भव है। परन्तु यह आपत्ति युक्तिसगत नही है, एक ही अग्नि दाहक, प्रकाशक और पाचक हो सकती है। एक ही वस्तु के कई अविच्छिन्न गुण अथवा धर्मो के होने मे कोई आपत्ति नही हो सकती। कभी-कभी यह कहा जाता है कि वस्तुए अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियो के कारण एक-दूसरे से भिन्न होती हैं (यथा दूध, आँवले से भिन्न है क्योकि दही, दूध से उत्पन्न होता है न कि आँवले से,) परन्तु शक्ति-वैभिन्य गुण-वैभिन्य के समान है और जिस प्रकार एक ही अग्नि की दो भिन्न शक्तियाँ अथवा उसके दो भिन्न-भिन्न धर्म, अर्थात् दहन एव पाचन, हो सकते हैं, इसी प्रकार एक ही इकाई मे भिन्न-भिन्न क्षणो मे कोई शक्ति हो भी सकती है और नही भी हो सकती है, और कम से कम इसका यह तात्पर्य कि किसी वस्तु की विविधता अथवा विभिन्नता है। यह बडा रहस्य है कि एक ही वस्तु मे इस प्रकार का सामर्थ्यातिशय हो कि वह अनेको विविध प्रतीतियो का अधिष्ठान हो। क्योकि एक वस्तु को अनेक भिन्न-भिन्न शक्तियो वाला माना जाता है, अत उसी सिद्धान्त के अनुसार एक ही वस्तु को विभिन्न प्रतीतियो का कारण भी माना जा सकता है।

पुन , कुछ लोगो का मत है कि एक वस्तु मे दूसरी वस्तु के निषेध मे ही 'भेद' विद्यमान है। प्रत्युत्तर मे यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के निषेध स्वभावतः निर्विकल्प नही हो सकते, क्योकि इस अवस्था में सब वस्तुओ का सब देशो मे निषेध उन वस्तुओ को निरर्थक बना देंगे। फिर भी यदि सविकल्प वस्तुओ के प्रसग मे निषेध-विशेषो मे ही तात्पर्य हो तो एक-दूसरे से भिन्न इन वस्तुओ के स्वभाव के इन निहित निषेधो पर आश्रित होने के कारण एव इन निहित निषेधो के भिन्न वस्तुओ

---

[1] अथ निरन्वय-विनाशानामपि कल्पना विषयाद भेदात् कार्यस्य तुल्यता हन्त तर्हि भेदादेव कल्पना-विषयात् कार्यभेद सिद्धे मूढा कारण-भेद-कल्पना। वही।

के विद्यमान होने पर ही कार्य कर सकने के कारण, वे दोनो परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित (इतरेतराश्रय) हैं और स्वतन्त्र रूप से विद्यमान नही रह सकते। पुनश्च यह नही कहा जा सकता कि 'भेद' के प्रत्यय की उत्पत्ति सविकल्प प्रत्यक्ष जैसी प्रत्यक्ष-प्रक्रियाओ के कार्य (प्रत्यक्ष-प्रक्रिया को चरम सीमा के रूप मे घटित होने वाले) द्वारा नही होती है, क्योंकि परस्पर निषेध की अवस्था के अतिरिक्त ऐसा कोई प्रमाण नही है जिसमे निषेध को निश्चितरूपेण अनुभव किया जा सके। पुन॰ यदि सत् रूप मे सब वस्तुओ का अद्वैत अनुभवगम्य नही होता तो किसी को भी वस्तुओ के तद्भाव की प्रत्यभिज्ञा कैसे होती। वस्तुओ का यह तद्भाव अथवा अद्वैत सबसे महत्वपूर्ण आधारभूत अनुभव है और यह उस निर्विकल्प अनुभव के रूप मे प्रथम प्रकाशित होता है जिसकी बाद मे भेद के विभिन्न प्रत्ययो मे परिणति हो जाती है।[1] इस सम्बन्ध मे वस्तुओ के द्विविध स्वभाव, अद्वैत तथा भेद के अपने-अपने प्रकार से सत् होने के जैन मत का भी खडन करने का मडन को कठिन प्रयास करना पडा। परन्तु इन विशदताओ को छेडने की आवश्यकता नही है। उनके भेद-प्रकरण (पदार्थ के खडन) की मुख्य बात यह है कि वह यह प्रदर्शित करते हैं कि प्रत्यक्ष द्वारा भेद पदार्थ का अनुभव हो सकने की कल्पना करना प्रत्यय के लिए अगम्य एव तार्किक दृष्टि से भयावह है और वस्तुत प्रत्यक्ष मे अनुभूत अद्वैत एव भेद के अगणित साम्य होने की कल्पना की अपेक्षा यह कल्पना दार्शनिक दृष्टि से अधिक समीचीन होगी कि एक वस्तु ही अविद्या के कारण भेद के विभिन्न प्रत्ययो को उत्पन्न करती है।[2]

ब्रह्मसिद्धि के न्याय काण्ड नामक तृतीय अध्याय मे मडन मीमासको के इस मत का खडन करते हैं कि वेदान्त वाक्यो की मीमासक-व्याख्या-पद्धति के अनुसार ही व्याख्या की जानी चाहिए अर्थात् वैदिक वचनो का अर्थ आदेश है या निषेध है। परन्तु, क्योंकि उस परिचर्चा का अधिक दार्शनिक महत्व नही है अत इसमे पडना वाछनीय नही है। सिद्धि-काण्ड नामक चतुर्थ अध्याय मे मडन इस मत का पुन॰ समर्थन करते हैं कि उपनिषद् ग्रन्थो का मुख्य विषय यह प्रदर्शित करता है कि

---

[1] प्रत्येकमनुविद्धत्वादभेदन मृषामत। भेदो यथा तरगाणा भेदाद्भेद कलस्वत ब्रह्मसिद्धि-२ अध्याय, ३१ कारिका।

[2] एकस्यैवास्तु महिमा यन्नानेव प्रकाशते,
नाघवान्नन्तु भिन्नाना यच्चकाशत्यभिन्नवत्।
ब्रह्मसिद्धि, द्वितीयाध्याय की ३२ वी कारिका।

नानाप्रपचात्मक जगत् असद् है एव उसका प्रकाशन जीवो की अविद्या के कारण होता । जिस प्रकार के परमार्थ का उल्लेख उपनिषदो मे है वह हमारे चारो ओर दृश्यमाण यथार्थ से बिल्कुल भिन्न है, और साधारण अनुभव द्वारा अगम्य । इसी सत्य को प्रतिपादित करने के हेतु ही उपनिषदो को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र स्रोत माना गया है ।

दूसरे लोग पुनः यह युक्ति देते हैं कि यह जगत् अवश्य ही नानात्मक है क्योकि हमारे अनुभूत विविध विषय विविध उद्देश्यों की पूर्ति करते है और इस एक ही वस्तु के लिए विविध उद्देश्यो की पूर्ति असम्भव है । परन्तु यह आपत्ति न्याय सगत नही है क्योकि ठीक वही वस्तु भी विविध उद्देश्यो की पूर्ति कर सकती है, वही अग्नि जला सकती है, प्रकाशित कर सकती है और पका सकती है। एक ही वस्तु मे विविध अवच्छिन्न गुणो के होने मे कोई आपत्ति नही है । कभी-कभी यह आग्रह किया जाता है कि वस्तुओ के पारस्परिक वैभिन्य का कारण उनकी विविध शक्तियाँ हैं (यथा दूध तिल से भिन्न इसलिए है कि दूध से दही उत्पन्न होता है तिल से नही) परन्तु शक्ति वैभिन्य गुण वैभिन्य के समान है, और, जैसे एक ही आग की दो विविध शक्तियाँ अथवा गुण यथा जलाना अथवा पकाना, हो सकती है, उसी प्रकार एक ही तत्व विभिन्न कालो मे शक्तियुक्त अथवा शक्तिसयुक्त हो सकता है और इसमे किंचित् मात्र भी तत्व वैभिन्य का अर्थ निहित नही है । यह एक महान् रहस्य है कि एक ही वस्तु का ऐसा अतिशय सामर्थ्य हो कि वह असख्य विविध प्रतीतियो का आधार बन सकता हो । जैसे कि एक ही तत्व मे कई विविध शक्तियां रहती है उसी प्रकार ठीक वही तत्व उसी आधार पर विविध प्रतीतियो का कारण माना जा सकता है ।

पुन कुछ लोगो की यह मान्यता है कि एक तत्व का दूसरे मे अभाव होने मे 'भेद' निहित है । इस पर यह प्रत्युत्तर दिया जा सकता है कि ऐसे अभाव अपने स्वरूप मे अनिश्चित नही हो सकते, क्योकि तब सब स्थानो पर समस्त वस्तुओ का अभाव उन्हे रिक्त बना देगा । तथापि, यदि विशिष्ट अभाव निश्चित तत्वो के सम्बन्ध मे निहित है, तो चूंकि इन तत्वो के एक-दूसरे से भिन्न रूप मे इन तत्वो के स्वरूप निहित अभावो पर आश्रित हैं और चूंकि इन विभिन्न तत्वो के होने पर ही निहित अभाव क्रियाशील हो सकते है, अत. इतरेतर आश्रित है, अत स्वय डटे नही रह सकते । पुन यह नही कहा जा सकता कि 'भेद' का प्रत्यय, प्रत्यक्ष प्रक्रियाएँ यथा सविकल्पक प्रत्यक्ष की क्रियाशीलता द्वारा उत्पन्न होता है (प्रत्यक्ष प्रक्रिया की चरमावस्था के रूप मे घटित होते हुए), क्योकि ऐसा कुछ भी प्रमाण नही है कि पारस्परिक अभाव के अतिरिक्त भेद का निश्चित रूप से अनुभव किया

जा सकता है। वस्तु एक ही है, जो अज्ञान द्वारा भेद के विविध प्रत्यय देती है। पुन. यदि सत् के रूप मे समस्त वस्तुओ के एकत्व का अनुभवगम्य नही किया जाए तो यह समझना कठिन होगा कि किस प्रकार वस्तुओ की एकरूपता को पहचाना जा सकता है। वस्तुओ की यह एकरूपता सर्वाधिक मूलभूत अनुभव है एव यह प्रथमतः निर्विम्ल्पक अनुभव के रूप मे प्रकट होता है जो बाद मे अपनेआपको भेद के विविध प्रत्ययो मे परिवर्तित करता है।[1] इस सम्बन्ध मे मडन वस्तुओ के स्वरूप को द्विविध अर्थात् दोनो भेद एव अभेद बताने वाली विचारधारा का तथा भेद एव अभेद को स्वय अपने मे निजी तरीको मे सत्य बताने वाली जैन विचारधारा का खडन करते हैं परन्तु यहाँ इनका विस्तृत विवरण देना आवश्यक नही है। भेद पदार्थ का खडन करने मे मुख्य बात उन्होने यह कही है और यह सिद्ध किया है कि भेद-पदार्थ को प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत समझना और यह समझना कि दार्शनिक दृष्टि से इस बात को मानने से कि वस्तुत भेद और अभेद असख्य है जैसाकि उनका प्रत्यक्षीकरण होता है, यह मानना सरल है कि वस्तु एक ही है जो अज्ञान द्वारा भेद के विविध प्रत्यय देती है।

ब्रह्मसिद्धि के नियोग काड नामक तृतीय अध्याय मे मडन मीमासा-दर्शन का खण्डन करते हैं कि वेदान्ती अशो की व्याख्या व्याख्या के मीमासा-नियमो के अनुसार की जानी चाहिए अर्थात् वैदिक अशो मे या तो विधि अथवा निषेध निहित है, परन्तु इस चर्चा का अधिक दार्शनिक महत्व नही होने के कारण इसमे पडना वाछनीय नही है। सिद्धि काड नामक चोथे अध्याय मे मडन इस दृष्टिकोण को पुन दोहराते हैं कि उपनिषद् अशो की मुख्य शिक्षा यह प्रदर्शित करने मे है कि प्रतीतियो के नानारूपात्मक जगत् का कोई अस्तित्व नही है और जीवो की अविद्या के कारण इसकी अभिव्यक्ति होती है। उपनिषद् ग्रन्थो मे वर्णित परम सत्ता उससे पूर्णतया भिन्न है जो हम अपने चारो ओर देखते हैं और मानो साधारण अनुभव द्वारा एक महान् सत्य को अज्ञात करना ही होगा। हो सकता है उपनिषदो को ब्रह्मज्ञान प्राप्ति का एकमात्र स्रोत माना गया है।

सुरेश्वर (८०० ई० प०)

सुरेश्वर के मुख्य ग्रन्थ नैष्कर्म्य-सिद्धि एव वृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य-वार्तिक हैं। नैष्कर्म्य सिद्धि पर कम से कम पाँच भाष्य लिखे गए हैं यथा चित्सुख कृत भाव तत्त्व-प्रकाशिका जो ज्ञानोत्तम कृत चन्द्रिका पर आधारित है। इस प्रकार यह

---

[1] प्रत्येन मनुविद्धत्वाद भेदन मृषामत
भेदो यथा तरङ्गाना भेदादभेद कलावन·
ब्रह्मसिद्धि। कारिका ३१।

चन्द्रिका नैष्कर्म्य-सिद्धि पर प्राचीनतम भाष्य है। ज्ञानोत्तम का काल निर्धारित करना कठिन है। इस भाष्य के अन्तिम श्लोको मे सत्यबोध और ज्ञानोत्तम नाम मिलते हैं, और श्री हिरियन्ना नैष्कर्म्यसिद्धि की अपनी भूमिका मे यह सकेत करते है कि ये दो नाम कजीवरम् सजीव-पीठ मे भी मिलते है। जहाँ वे आचार्य एव शिष्य के रूप मे रहे और उसके मठाचार्यों की सूची के अनुसार ज्ञानोत्तम शकर से चतुर्थ थे। इससे ज्ञानोत्तम का काल अत्यन्त प्राचीन माना जाएगा, फिर भी यदि अतिम श्लोक उनके नही होकर किसी अन्य द्वारा प्रक्षिप्त हो तो निस्सदेह इसके सिवाय कोई सकेत नही मिलता कि वे चित्सुख के पूर्व रहे होगे क्योकि चित्सुख कृत भाष्य ज्ञानोत्तम कृत भाष्य चन्द्रिका पर आधारित है। एक अन्य भाष्य उत्तमामृत के शिष्य ज्ञानामृत कृत विद्या सुरभि है, एक अन्य टीका दशरथ प्रिय के शिष्य अखिलात्मन् कृत नैष्कर्म्यसिद्धि विवरण है, और रामदत्त कृत सारार्थ एक-दूसरा भाष्य है जो आपेक्षिक रूप से निकटवर्ती काल का है।

सुरेश्वर कृत नैष्कर्म्यसिद्धि चार अध्यायो मे विभाजित है। प्रथम अध्याय मे वेदान्ती ज्ञान प्राप्त करने के लिए वैदिक कर्मों के सम्बन्ध के वारे मे विवेचना की गई है। यहाँ अविद्या की परिभाषा अपने अनुभव मे आत्मा के परम एकत्व के अप्रत्यक्षीकरण के रूप मे दी गई है, इसके कारण पुनर्जन्म होता है और इस अविद्या का नाश ही आत्मा की मुक्ति है। मीमासको के विचार मे यदि कोई व्यक्ति काम्य-कर्म एव निषिद्ध-कर्मो का त्याग कर दे तो फल-प्राप्ति के वाद समय पर उन सचित कर्मो का स्वभावत नाश हो जाएगा और इसलिए नित्य नैमित्तिक कर्मो द्वारा नए कर्म अनुत्पन्न होने के कारण अन्य नए कर्म सचित नही होगे अत वह व्यक्ति स्वभावत कर्म से मुक्ति प्राप्त कर लेगा। किन्तु यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए वेदो मे विधि निषेध का उल्लेख नही है। अत केवल वैदिक कर्मों के सम्पादन द्वारा ही मनुष्य को मुक्ति प्राप्त करना चाहिए। इस मीमासा-दर्शन के विरुद्ध सुरेश्वर की मान्यता है कि मुक्ति का कर्म सम्पादन से कोई सरोकार नही। वैदिक कर्मों के सम्पादन द्वारा चित्त-शुद्धि के रूप मे कोई परोक्ष एव दूरगामी परिणाम निकल सकता है, परन्तु निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्ति पर इसका कोई अपरोक्ष प्रभाव नही पडता। सुरेश्वर विद्या सुरभि-भाष्य मे वर्णित ब्रह्मदत्त की विचारधारा का इस रूप मे कथन करते हैं कि निरन्तर लम्वे समय तक ब्रह्मोपासना अथवा ब्रह्म ध्यान द्वारा ही, न कि केवल आत्मा एव ब्रह्म के तादात्म्य ज्ञान द्वारा अविद्या का नाश होता है जैसाकि वेदान्त ग्रन्थो मे प्रतिपादित है। अत ब्रह्म जीव के तादात्म्य के सम्वन्ध मे उपनिषदीय अशो का यथार्थ ज्ञान तत्काल मुक्ति उत्पन्न नही करता, तादात्म्य के ऐसे विचारो पर जिज्ञासु को दीर्घ समय तक ध्यान करना पडता है, और प्रत्येक समय सब नित्य-नैमित्तिक कर्मो को करना पडता है क्योकि यदि कोई उनका त्याग कर दे तो यह कर्तव्योल्लघन होगा और स्वभावत पापो की उत्पत्ति होगी, तथा

व्यक्ति के लिए मोक्ष प्राप्त करना सम्भव नही होगा। अत. ज्ञान कर्म-समुच्चय आवश्यक है जिसका शकर ने घोर विरोध किया है। एक अन्य दृष्टिकोण भी वार्त्तिक मे उल्लिखित है और जिसको भास्कर आनन्द ज्ञान ने मडन द्वारा प्रतिपादित बताया है– वह यह है कि वेदान्ती-ग्रन्थो द्वारा प्राप्त ज्ञान मौखिक एव प्रत्यात्मक होने के कारण अपनेआप ब्रह्मज्ञान की ओर नही ले जाता, परन्तु जब ये अश निरन्तर दोहराए जाते है, तो अन्य वैदिक कर्मो के अथवा यज्ञ, दान आदि कर्मों द्वारा विचित्र प्रभाव उत्पन्न करने वाली प्रक्रिया की तरह विचित्र प्रभाव के रूप मे ब्रह्म ज्ञान उत्पन्न करते हैं। वार्त्तिक मे ज्ञान-कर्म-समुच्चय के समर्थको के विविध सम्प्रदायो का वर्णन है, कुछ लोग ज्ञान को अधिक महत्व देते हैं, अन्य कर्म को अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं, और कई ऐसे हैं जिनकी दृष्टि मे ज्ञान-कर्म दोनो समान रूप से महत्वपूर्ण हैं, इस प्रकार ज्ञान-कर्म-समुच्चय के तीन सम्प्रदाय उद्भूत होते है। सुरेश्वर इन तीनो विचारधाराओ का खडन करते हुए कहते है कि यथार्थ-ज्ञान एव मुक्ति एक ही वस्तु है और इसमे किंचित् मात्र भी वैदिक कर्मों के सम्पादन की अपेक्षा नही है। सुरेश्वर ज्ञान-कर्म समुच्चय के सिद्धान्त का भी खडन भर्तृप्रपच जैसे अपरिवर्तित द्वैतवादियो की तरह करते हैं जिनके अनुसार परम सत्ता भेदाभेद है जिससे भेद का सिद्धान्त उतना ही सत्य है जितना अभेद का, एव मुक्ति की अवस्था मे भी कर्म सम्पादन आवश्यक है क्योकि भेदो के भी सत्य होने के कारण विकास की किसी भी अवस्था मे, और मोक्ष की अवस्था मे भी, कर्मों की आवश्यकता की उपेक्षा नही की जा सकती। यद्यपि अभेद के सत्य का अनुभव करने के लिए यथार्थ ज्ञान भी है। सुरेश्वर द्वारा इस दृष्टिकोण का खडन दो तथ्यो पर आधारित है तथा परम सत्ता का भेदाभेद प्रत्यय परस्पर विरोधी है और जब यथार्थ ज्ञान द्वारा एकत्व का अनुभव होता है तथा परत्व का भाव और नानात्व दूर हो जाता है तब यह सम्भव नही है कि उस अवस्था मे कोई कर्म किए जा सकते है, क्योंकि कर्मों के पालन मे द्वैत एव भेद के अनुभव की आवश्यकता निहित है।[1]

नैष्कर्म्यसिद्धि के द्वितीय अध्याय मे योग्य आचार्य द्वारा की गई उपनिषदो के एकत्व सम्बन्धी अशो की व्याख्या द्वारा अपरोक्षानुभूति के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। एकत्व के यथार्थ आत्म-ज्ञान के उदय के साथ ही अह भाव तथा उससे सम्बद्ध राग-द्वेष इत्यादि के अनुभवो का नाश हो जाता है। अह-प्रत्यय विकारी एव बाह्य तत्व है अत शुद्ध चैतन्य-तत्व के बाहर है। द्वैत के समस्त व्यक्त स्वरूप अन्त करण के भ्रान्त परिणामो के कारण हैं। जब यथार्थ ज्ञान का उदय होता है तब ज्ञान मे विषय रूप आत्मा का लोप हो जाता है। समस्त भ्रमात्मक प्रतीतियाँ शुद्ध आत्मा पर अज्ञान के आरोपण के कारण हैं, किन्तु जो

---

[1] डा० हिरियन्ना-कृत नैष्कर्म्यसिद्धि के अपने संस्करण मे देखिए।

इस शुद्ध आत्मा के अविकल एकत्व को विचलित क्षुब्ध नही कर सकते। इन ज्ञानात्मक प्रक्रियाओ मे अन्त करण विकार ग्रसित होता है, अन्तर्निहित शुद्ध चैतन्य पूर्णरूप से अविचलित रहता है। फिर भी, मनस्, बुद्धि, एव उसके विषय के रूप मे प्रतीत होने वाला अनात्मा साख्य प्रकृति के समान अनाश्रित तत्व नही है, क्योकि उसकी प्रतीति केवल अविद्या एव भ्रम के कारण है। यह जगत् प्रपच अज्ञान अथवा मिथ्या और अनिर्वचनीय आत्म भ्रम की ही उत्पत्ति है तथा साख्य-सिद्धान्त के समान किसी यथार्थ द्रव्य की यथार्थ उत्पत्ति नही है। इस प्रकार ज्योही परम सत्य की अनुभूति होती है त्योही शुक्ति मे भ्रमात्मक शुक्ति की तरह जगत्-प्रपच का नाश हो जाता है।

तृतीय अध्याय मे सुरेश्वर अज्ञान के स्वरूप, आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध एव उसकी प्रलय-विधि की विवेचना करते है। तत्व दो हैं, आत्मा एव अनात्मा। अब स्वय अज्ञान (माया अथवा अविद्या) की उत्पत्ति होने के कारण अनात्मा उसका आश्रय नही कहा जा सकता, अत अज्ञान का आश्रय शुद्ध आत्मा अथवा ब्रह्म है, आत्मा का अज्ञान भी स्वय अपने बारे मे ही है चूंकि विषयात्मक प्रपच के सम्पूर्ण क्षेत्र को स्वय अज्ञान की उत्पत्ति के रूप मे समझने के कारण आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अज्ञान अपनेआपको सम्पूर्ण आत्म-परक एव वस्तु-परक बुद्धि एव उसके विषय मे विकृत करता है। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि वाचस्पति मिश्र एव मडन के विपरीत सुरेश्वर के मतानुसार अविद्या जीव पर आधारित नही होकर स्वय शुद्ध चैतन्य पर आधारित है। यह अविद्या ही है जो शुद्ध आत्मा से सम्बन्धित तथा उस पर आधारित होने के कारण जीवो की प्रतीतियाँ एव उनके आत्म परक तथा विषयपरक अनुभवो को उत्पन्न करती है। इस अज्ञान का अनुभव अविद्या मात्र के रूप मे, सुषुप्ति मे होता है जब उसके समस्त परिणाम एव प्रतीतियाँ उसके अन्दर ही सकुचित हो जाती है और उसकी अनुभूति स्वय मे शुद्ध अविद्या के रूप मे होती है जो पुन जागृतावस्था मे अनुभवो की समस्त शृ खलाओ मे अपनेआपको प्रकट करता है। यह देखना आसान है कि शुद्ध चैतन्य के साथ अज्ञान के सम्बन्ध का यह दृष्टिकोण मडन द्वारा उपदिष्ट विज्ञानवाद से भिन्न है जैसाकि पूर्व विभाग मे बताया गया है। यह आपत्ति उठाई जाती है कि यदि अह भी तथाकथित बाह्य विषयो के समान अज्ञान की बाह्य उत्पत्ति है तो अह की प्रतीति अन्य बाह्य अथवा (आन्तरिक विषयो के समान (यथा सुख, दु ख आदि) ज्ञाता के रूप मे नही बल्कि ज्ञेय के रूप मे होनी चाहिए। सुरेश्वर इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि जब अन्त करण अथवा मनस् बाह्य विषयो के आकार मे विकृत होते है तब उमे आत्मपरकत्व देने के लिए वस्तुपरक अनुभवो को आत्मपरक विशिष्ट केन्द्रो के साथ सम्बद्ध करने के लिए अहकार का तत्व उत्पन्न होता है। अहकार के तत्व के शुद्ध चैतन्य के साथ अपरोक्ष और घनिष्ट रूप से सम्बन्धित होने के कारण स्वयं

ज्ञाता के रूप मे वह अवभासित होता है और अहकार की विषयात्मकता का भास नही होता जिस प्रकार जलती हुई लकडी मे आग एव जलने वाले विषय को अलग नही किया जा सकता। अहकार के तत्व अज्ञानोत्पत्ति द्वारा जब शुद्ध चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है केवल तब ही आत्मपरकता का प्रत्यय इस पर लागू होता है और इसके साथ जो कुछ सम्बद्ध होता है वह 'यह' विषय के रूप मे अनुभूत होता है, यद्यपि वस्तुत अहकार भी उतना ही विषय है जितने स्वय विषय हैं। तथापि सम्पूर्ण मिथ्यानुभव ब्रह्मानुभूति मे नष्ट होता है जब एकत्व के वेदान्ती अशो की अनुभूति होती है। नैष्कर्म्यसिद्धि के तृतीय अध्याय मे अन्य तीन अध्यायो के मुख्य विचारो की सक्षेपावृत्ति की गई है। वार्तिक मे सुरेश्वर और अधिक विस्तृत विधि मे उन्ही समस्याओ की विवेचना करते हैं, परन्तु इन विस्तृत विवरणो मे पडना हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए उपयोगी नही है।

पद्मपाद (८२० ई० प०)

सब लोग पद्मपाद को शकराचार्य का प्रत्यक्ष शिष्य मानते हैं और चूंकि शकराचार्य को अभिवादन करने का स्वय उनका तरीका इस परम्परा को परिपुष्ट करता है तथा ऐसे कोई तथ्य ज्ञात नही हैं जो इस प्रकार के दृष्टिकोण का प्रतिवाद कर सकते है अत यह निस्सदेह माना जा सकता है कि वे शकराचार्य के कनिष्ठतर समकालीन थे। उनके सम्बन्ध मे और शकराचार्य के साथ उनके सम्बन्धो के बारे मे कई पारम्परिक कथाए हैं, परन्तु चूंकि उनके सत्य का प्रमाणीकरण किसी विश्वसनीय साक्ष्य द्वारा नही किया जा सकता अत उन पर निर्णय देना सम्भव नही है। उनके ग्रन्थ केवल दो हैं यथा पचपादिका जो ब्रह्म सूत्र के प्रथम चार सूत्रो पर शाकर-भाष्य पर भाष्य हैं और अध्यास तथा सम्भावना भाष्य नामक शाकर भाष्य की भूमिका और आत्म-बोध-व्याख्यान जिसे वेदान्त सार कहते हैं। यह पचपादिका हमे ज्ञात वेदान्ती ग्रन्थो मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। प्रकाशात्मन् ने (१२०० ई० प०) अपने पच-पादिका-विवरण मे इस पर टीका।[1] आनन्दगिरि के शिष्य अखडानन्द (१३५० ई० प०) ने अपने तत्वदीपन मे पचपादिका-विवरण पर एक और भाष्य लिखा। श्रीहर्ष कृत खण्डन खण्ड खाद्य पर विद्या-सागरी नामक भाष्य लिखा तथा लेखक आनन्दपूर्ण (१६०० ई० प०) ने पचपादिका पर भाष्य लिखा।[2] नृसिंहाश्रम

ने भी पच-पादिका विवरण प्रकाशिका नामक पचपादिका विवरण पर एक भाष्य लिखा एव श्री कृष्ण ने भी पचपादिका विवरण लिखा। औफ्रैच्ट अमलानन्द के एक अन्य भाष्य पच-पादिका-शास्त्र-दर्पण का उल्लेख करते हैं, परन्तु उसके शास्त्र दर्पण के लिए वह नि सन्देह भ्रान्तियुक्त है। अमलानन्द वाचस्पति के सिद्धान्त के अनुगामी थे। पद्मपाद एव प्रकाशात्मन् के नही। शाकर भाष्य पर रत्ना प्रभा टीका के लेखक गोविन्दानन्द के शिष्य रामानन्द सरस्वती ने शाकर भाष्य पर टीका के रूप मे अपना विवरणोपन्यास (विवरण के मुख्य सिद्धान्त का सक्षेपण) लिखा, परन्तु यह सर्वथा पचपादिका-विवरण के सिद्धान्त पर था यद्यपि यह उस पर प्रत्यक्ष भाष्य नही था। विद्यारण्य ने भी विवरण प्रमेय सग्रह नामक एक अलग निवन्ध लिखा जिसमे उन्होने वेदान्ती विचार-धारा की व्याख्या पचपादिका-विवरण के सिद्धान्त पर की। इन सब मे से रामानन्द सरस्वती कृत विवरणोपन्यास सम्भवत विवरण सिद्धान्त पर अन्तिम महत्वपूर्ण ग्रन्थ था, क्योकि शिवराम के शिष्यानुशिष्य गोपाल सरस्वती के शिष्य रामानन्द के आचार्य गोविन्दानन् अपनी रत्न प्रभा टीका मे जगन्नाथाश्रम-कृत भाष्य-दीपिका नामक शाकर भाष्य पर टीका का एव आनन्दगिरि कृत भाष्य का भी 'वृद्धा', पृष्ठ ५ (निर्णय सागर प्रेस १९०४) इस उल्लेख के रूप मे प्रसग देते है। जगन्नाथाश्रम नृसिंहाश्रम के आचार्य थे, अत गोविन्दानन्द सोलहवें शतक के अन्त तक रहे होगे। अत रामानन्द सत्रहवें शतक के पूर्व भाग मे रह सकते हैं। स्वय गोविन्दानन्द ने भी अपनी रत्न प्रभा टीका मे विवरण व्याख्या सिद्धान्त का अनुसरण किया और वे प्रकाशात्मन् का महान् आदर के साथ प्रकाशात्म श्री-चरणै के रूप मे सकेत करते है (रत्न प्रभा, पृष्ठ ३।)

पद्मपाद कृत निरूपण विधि, जैसीकि प्रकाशात्मन् ने व्याख्या की है, वेदान्त की विवेचना के निर्देशक के रूप मे वर्तमान ग्रन्थ के प्रथम एव द्वितीय खण्ड मे ली गई हैं। अत इन दो महान् आचार्यो की वेदान्ती विचारधाराओ के बारे मे अलग विभागो मे और अधिक कहना आवश्यक नही है। परन्तु फिर भी पद्मपाद दर्शन के बारे मे दो शब्द अलग कहना लाभदायक ही होगा। पद्मपाद की मान्यता है कि माया, अव्याकृत, प्रकृति, अग्रहण, अव्यक्त, तम, कारण, लय, शक्ति, महासुप्ति, निद्रा, क्षर और आकाश के पद हैं जो अविद्या के पर्यायवाची शब्दो के रूप मे प्राचीन साहित्य मे प्रयुक्त किए गए हैं। यह वह तत्व है जो शुद्ध और स्वतन्त्र स्वत प्रकाश्य ब्रह्म के स्वरूप मे बाधा डालता है और इस प्रकार अविद्या, कर्म एव पूर्व-प्रज्ञा सस्कारो की चित्र-भित्ति के रूप मे खडे हुए जीवत्वापादिका को उत्पन्न करते है। ईश्वर के साथ आश्रय के रूप मे अपने विशिष्ट परिणामो को भोगते हुए वह विज्ञान एव क्रिया की दो आश्रय शक्तियो के रूप मे अपनेआपको प्रकट करती है और सर्व-कर्म-कर्ता तथा सर्वानुभवभोक्ता के रूप मे कार्य करती है। शुद्ध, अविकारी,

ब्रह्मप्रकाश से सम्बद्ध वह इन परिणामो की ग्रथि है जो ग्रहकार के रूप मे प्रतीत होता है। इसी ग्रहकार के साथ सम्बन्ध द्वारा आत्मा मिथ्या रूप से अनुभवो का भोक्ता समझा जाता है। यह परिणाम अपनी ज्ञानात्मा क्रिया के अर्थ मे अन्त करण, मनस्, बुद्धि और ग्रहकार अथवा ग्रह-प्रत्यायन् कहलाता है जबकि स्पन्द-शक्ति के अर्थ मे यह प्राण कहलाती है। ग्रहकार का शुद्ध आत्मा के साथ सम्बन्ध जपापुष्प की रक्तता का शीशे के साथ सम्बन्ध की तरह एक ग्रथि है जो अविद्या-उपादान क्रिया के दो लक्षणो को तथा शुद्ध आत्मा के चैतन्य को प्रकट करती है।

इस प्रश्न पर कि अविद्या का आश्रय एव विषय ब्रह्म है या नही, स्वय पद्मपाद का विचार अधिक स्पष्ट प्रतीत नही होता। वे केवल यही कहते हैं कि अविद्या स्वत प्रकाश्य रूप ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप मे बाधा डालकर अपने आपके जीव मे प्रकट करती है और ब्रह्म अपने अवच्छेद से अनादि अविद्या द्वारा अनन्त जीवो के अवभास का कारण है। परन्तु प्रकाशात्मन् एक लम्बे विवाद का प्रारम्भ कहते हैं और यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि ब्रह्म अविद्या का आश्रय एव विषय दोनो है। यह सिद्धान्त वाचस्पति मिश्र के उस दृष्टिकोण के विरुद्ध है जहाँ उन्होने अविद्या का विषय ब्रह्म को एव आश्रय जीव को माना है। इस प्रकार विवरण पक्ष की व्याख्या और वाचस्पति पक्ष की व्याख्या मे मूलभूत अन्तर इसी बात पर है। इस बात पर प्रकाशात्मन् का सुरेश्वर एव उनके शिष्य सर्वज्ञात्मन् से मतक्य है यद्यपि जैसा कि विचारणीय है, सर्वज्ञात्मन् कई ग्रच्छे विभेन बताते हैं जिनका सुरेश्वर को पता नही है।

पद्मपाद मिथ्या के दो अर्थों मे भेद स्थापित करते हैं यथा अपह्नव-वचन और अनिर्वचनीयता-वचन। सम्भवत समस्त भाष्कारो मे ये प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होने अज्ञान अथवा अविद्या का जडात्मिका तथा अजडात्मिका-अविद्या-शक्ति कहकर वर्णन किया और शकर की मुहावरेदार उक्ति मिथ्या-ज्ञान-निमित्त की व्याख्या इस अर्थ में की कि यह वही अज्ञान की जडात्मिका शक्ति है जो जगत् प्रपच के उपादान कारण का सारभूत अग है। फिर भी, प्रकाशात्मन् अविद्या को भाव रूप मानने के मत के पक्ष मे प्रमाण देने का प्रयत्न करते हैं तथा उसकी विस्तृत विवेचना करते हैं। ये प्रमाण बार-बार कई अन्य परवर्ती लेखको ने दिए हैं तथा वर्तमान ग्रन्थ के प्रथम

जिनके साथ उसका सम्बन्ध है, जिसके परिणामस्वरूप उसमे कई परिवर्तन होते है और ये वे ही परिवर्तन है जो ज्ञान के ज्ञाता-ज्ञेय-सम्बन्ध का निर्माण करते हैं। अन्त करण शुद्ध चैतन्य की सीमित अभिव्यक्ति का पथ प्रदर्शन उसी सीमा तक कर सकता है जितना उस विषय के साथ उसका सम्बन्ध है। विषयो के अपरोक्ष प्रत्यक्ष अनुभव का अर्थ अन्त करण की परिवर्तनशील अवस्थाओ द्वारा शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार अहकार अपने अन्तर्निहित चैतन्य के साथ सम्बन्ध द्वारा प्रमाता बनता है। किन्तु प्रकाशात्मन् यह मानकर इसका विस्तृत निरूपण करते हैं कि अन्त करण बाहर विषयात्मक शून्य स्थान की ओर जाता है और प्रत्यक्षीकृत विषय के स्थान सम्बन्धी आकार को ग्रहण करता है। अत पद्मपाद ने जिसे अन्त करण का विषयो के साथ परिवर्तनशील सम्बन्ध द्वारा अन्त करण की अवस्थाओ में विकार माना था उसकी व्याख्या अन्त करण की विषयो पर स्थान सम्बन्धी अध्यारोपण के रूप मे निश्चित अर्थ देते हुए की है तथापि अनुमान मे अपरोक्ष ज्ञान नही होता क्योकि यह लिंग सम्बन्ध द्वारा मध्यस्थित होता है। ज्ञान का अर्थ परोक्ष एव अपरोक्ष दोनो है, क्योकि अर्थ प्रकाश के रूप मे इसकी परिभाषा दी गई है।

ब्रह्म के कारणत्व के विषय पर पद्मपाद कहते है कि जिस ब्रह्म पर जगत् प्रपच की अभिव्यक्ति होती है वह जगत् का कारण है। इस विषय पर प्रकाशात्मन् तीन विकल्प प्रस्तुत करते हैं, यथा (१) रज्जु मे गुथे हुए दो धागो की तरह माया एव ब्रह्म सयुक्त रूप से जगत् के कारण हैं (२) माया जिसकी शक्ति के रूप मे है वह कारण है। (३) माया का आश्रय ब्रह्म जगत् का कारण है, परन्तु उपरोक्त सब मे परम कारण तो ब्रह्म को ही माना गया है क्योकि माया उस पर आधारित है। ब्रह्म सर्वज्ञ इस अर्थ मे है कि जो कुछ इससे सम्बन्धित है उसको वह प्रकट करता है और वह ब्रह्म ही है जो माया के द्वारा दृश्य जगत् के रूप मे प्रतीत होता है। वर्तमान ग्रन्थ के प्रथम खण्ड मे विवेचित अवच्छेदवाद और प्रतिविम्बवाद के सिद्धान्त कम से कम पद्मपाद कृत पचपादिका के समान प्राचीन है और पद्मपाद तथा प्रकाशात्मन् जीव को ब्रह्म का केवल प्रतिबिम्बित आकार मानने वाले प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए प्रतीत होते है।[1]

---

[1] प्रथम खण्ड पृष्ठ ४७५, ४७६ देखिए। ये दोनो सिद्धान्त सभवत नवम् शतक मे बीज रूप मे वर्तमान थे। परन्तु शनै शनै इनकी ओर अधिकाधिक ध्यान दिया गया। अप्पय दीक्षित इन दोनो के सिद्धान्तो का सक्षेपण परिमल पृष्ठ ३३५-३४३ श्री वाणी-विलास प्रेस, श्री रगम्, इनमे से एक भी मत को न तो स्वय इन्होंने और न वाचस्पति ने स्वीकार किया है।

वाचस्पति मिश्र (८४० ई० प०)

शाकर-भाष्य पर भामती नामक टीका के यशस्वी लेखक वाचस्पति मिश्र, मडन-कृत ब्रह्म-सिद्धि पर तत्व समीक्षा नामक भाष्य के लेखक हैं, उन्होने साख्य-कारिका, विधि-विवेक, न्याय-वार्तिक के भी भाष्य लिखे एव वे कई अन्य ग्रन्थो के लेखक थे। आपने न्याय-सूची निबन्ध मे वह अपना काल ८९८ (वस्वक वस्तु वत्सरे) सूचित करते है जो अवश्य ही विक्रम सम्वत् के रूप मे समझा जाना चाहिए जिसके परिणामस्वरूप उनका काल ८४२ ई० प० आसानी से माना जा सकता है। अपने भामती-भाष्य मे वे मार्तण्ड-तिलक-स्वामी का अभिवादन करते है जो उनके आचार्य की ओर सकेत माना जाता है। परन्तु अमलानन्द उस पर टीका करते हुए ठीक ही सकेत करते हैं कि यह शब्द किसी के कर्मफल के कारण पूजित एव देवो के दो नाम-मार्तण्ड एव तिलक स्वामिन का सयोग है। तिलक स्वामिन का उल्लेख याज्ञवल्क्य १ २९४ मे देवता के रूप मे किया गया है एव मिताक्षरा देव कार्त्तिकेय अथवा स्कन्द के नाम के रूप मे व्याख्या करते हैं। तथापि उदयन वाचस्पति-कृत तात्पर्य-टीका पर अपनी न्याय-वार्त्तिक-तात्पर्य-परिशुद्धि (पृष्ठ ९) मे वाचस्पति के आचार्य के रूप मे त्रिलोचन का उल्लेख करते है एव वर्धमान अपनी न्याय-निबन्ध-प्रकाश नामक टीका मे इसकी पुष्टि करते हैं स्वय वाचस्पति भी त्रिलोचन गुरु का उल्लेख करते है जिनका उन्होने व्यवसाय (न्याय-सूत्र, १ १ ४) शब्द की व्याख्या सविकल्प ज्ञान के अर्थ मे करने मे अनुसरण किया।[1] फिर भी न्याय-कणिका (श्लोक ३) मे वे न्याय मजरी (सभवत जयन्त) के लेखक का अपने विद्यागुरु के रूप मे उल्लेख करते हैं।[2] वाचस्पति अपनी भामती-टीका के अन्त मे कहते हैं कि उन्होने उस ग्रन्थ को महान् नृप नृग के राज्य काल के समय लिखा। इस नृप का जैसाकि वर्तमान लेखक को ज्ञात है, ऐतिहासिक पता नही लगता। भामती वाचस्पति-कृत अन्तिम महान् कृति थी, क्योंकि पुष्पिका मे भामती के अन्त मे वे कहते हैं कि वे पहिले से ही अपनी न्याय-कणिका, तत्व-समीक्षा, तत्व बिन्दु एव न्याय, साख्य और योग पर लिख चुके थे।

वाचस्पति-कृत वेदान्ती ग्रन्थ भामती और तत्व समीक्षा (ब्रह्मसिद्धि) है। अन्तिम ग्रन्थ अभी तक मुद्रित नही हुआ है। उनके ग्रन्थ तत्व बिन्दु का उल्लेख करते हुए औफ्रेक्ट कहते हैं कि वह वेदान्त ग्रन्थ है। किन्तु यह ठीक नही है क्योंकि

---

[1] त्रिलोचन-गुरून्नीत मार्गानुगमनोन्मुखै
यथा मान यथा वस्तु व्याख्यातम् इदमीदृशम् ॥
—न्याय-वार्तिक-तात्पर्य-टीका—पृष्ठ ८७, बनारस १८९८

इस ग्रन्थ मे ध्वनि के स्फोट सिद्धान्त का वर्णन किया गया है एव इसका वेदान्त से कोई सरोकार नहीं। वाचस्पति-कृत तत्व-समीक्षा की अनुपस्थिति मे, जो अभी तक मुद्रित नहीं हुई है और जिसकी पाण्डुलिपियां अत्यन्त दुर्लभ हो गई हैं, वाचस्पति की वेदान्त विचार-धारा के विशिष्ट लक्षणों का पूर्णतया सन्तोषजनक वृत्तान्त देना कठिन है। परन्तु उनकी भामती-टीका एक महान् ग्रन्थ है और उससे उनकी विचार धाराओ के कुछ मुख्य लक्षण सकलित करना सभव है। जहाँ तक वाचस्पति-भाष्य की विधि का प्रश्न है वे सदैव अपनेआपको पृष्ठभूमि मे देख कर उसकी यथाशक्य यथातथ्य व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। वे ग्रथाश में से अपरोक्ष रूप से उत्पन्न होने वाली विषय सम्बन्धी महान् ज्ञान की उन समस्याओ के स्पष्टीकरण की ओर निर्देश करते हैं और मूल-पाठ में उल्लिखित अन्य विचार शाखाओ के विचार एव आक्षेप, विचार-सदर्भ एव प्रसग का स्पष्टीकरण करते हैं। शाकर-भाष्य पर भामती भाष्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इस पर कई महत्वपूर्ण उप-भाष्य थे। इनमे से सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव प्राचीनतम अमलानन्द कृत (१२४७-१२६० ई० प०) वेदान्त कल्प-तरु है जिस पर अप्पय दीक्षित (लगभग १६०० ई० प०) ने वेदान्त कल्प-तरु-परमिल नामक अन्य भाष्य लिखा।[1] तर्क-दीपिका के लेखक, कोंड भट्ट के पुत्र एव रगोजी भट्ट के प्रपौत्र लक्ष्मीनृसिंह ने सत्रहवें शतक के अन्त मे आभोग नामक भाष्य लिखा। आभोग-भाष्य अधिकतर वेदान्त कल्प-तरु-परमिल द्वारा प्रेरित है, यद्यपि बहुत सी अवस्थाओ मे उसका उससे मतभेद है तथा उसकी आलोचना करता है। इनके अतिरिक्त भामती पर कई अन्य भाष्य भी लिखे गए हैं यथा भामती-तिलक, भामती-विलास, श्री रगनाथ कृत भामती-व्याख्या तथा वैद्यनाथ पायगुन्ड-कृत वेदान्त कल्प-तरु-मजरी नामक वेदान्त-कल्प-तरू पर अन्य भाष्य।

वाचस्पति सत् एव परम् सत्ता की परिभाषा अपरोक्ष स्वप्रकाशता के रूप मे देते हैं जो कदापि अबाधित नहीं होती। इस अर्थ मे केवल शुद्ध आत्मा ही परम् सत्ता कही जा सकती है। इस प्रकार वह निश्चित रूप से नैयायिको को मान्य सत्

---

[1] अमलानन्द ने शास्त्र दर्पण नामक एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा जिसमे ब्रह्मसूत्रो के विभिन्न अधिकरणों को लेकर इस विषय पर विभिन्न सूत्रों की व्याख्या पर बिना अधिक वादविवाद के सम्पूर्ण विषय का सादा एव सरल सामान्य विवेचन करने का प्रयत्न किया तथापि ब्रह्मसूत्रों के अधिकरणों पर दिए गए इन सामान्य भाषणों द्वारा अमलानन्द की मौलिक विचारधारा व्यक्त नहीं होती थी, बल्कि वाचस्पति की व्याख्या पर आधारित थे जैसाकि स्वय अमलानन्द शास्त्र दर्पण के द्वितीय श्लोक मे स्वीकार करते हैं। (वाचस्पति-प्रतिबिम्बित आदर्श प्रारभ विमलम्) श्री वाणी विलास प्रेस, १९१२, श्री रगम्, मद्रास)।

के वर्ग प्रत्यय के भाग-ग्रहण के रूप मे परम सत्ता की परिभाषा का खडन करते हैं अथवा अर्थ-क्रिया-कारित्व का जोकि बौद्धो को है। वे दो प्रकार का अज्ञान मानते हैं, यथा मनोवैज्ञानिक एव मनस् के उपादान कारण के रूप मे तथा मानव के आन्तरिक स्वरूप अथवा भौतिक बाह्य जगत् के रूप मे। इस प्रकार शाकर भाष्य १ ३ ३० पर अपनी टीका मे वे कहते है कि महाप्रलय के समय अविद्या की समस्त उत्पत्तिया यथा अन्त करण स्वय अपनी क्रियाए करना बन्द कर देते हैं परन्तु उसके कारण उनका नाश नही होता, उस समय वे अपने मूल कारण अनिर्वचनीय अविद्या मे विलीन हो जाते है और भ्रम के मिथ्या सस्कारो एव मनोवैज्ञानिक वृत्तियो के साथ सूक्ष्म शक्ति रूप से उसमे रहते है। जब ईश्वर के सकल्प द्वारा चलित महा प्रलय की अवस्था का अन्त होता है तब वे कछुए के अगो की तरह बाहर निकल आते है अथवा मेढको के शरीर की तरह जो सम्पूर्ण वर्ष तक निर्जीव एव निश्चल अवस्था मे रहते हैं तथा वर्षा काल मे पुनर्जीवित हो जाते है और तब, अपनी युक्त वृत्तियो और सस्कारो के कारण महाप्रलय के पूर्व पुरातन रूप मे विशिष्ट नाम रूप धारण कर लेते है। यद्यपि सम्पूर्ण सृष्टि की रचना ईश्वर के सकल्प द्वारा ही होती है फिर भी ईश्वर का सकल्प भी उसके द्वारा उत्पन्न सस्कार एव कर्म की अवस्थाओ द्वारा निश्चित होता है। यह कथन सिद्ध करता है कि उनका अनिर्वाच्य स्वरूप-वस्तुपरक तत्व के रूप मे अविद्या मे विश्वास था जिसमे सम्पूर्ण जगत् उत्पत्तिया महाप्रलय के समय विलीन हो जाती हैं एव जिसके अन्दर से अन्त मे वे पुन प्रकट होती हैं और मनोवैज्ञानिक अविद्या एव मिथ्या सस्कारो से सम्बद्ध होती है जो महा-प्रलय के काल मे उसके अन्दर विलीन हो गए थे। इस प्रकार वर्णित अविद्या का योग की प्रकृति से अधिक सादृश्य है जिसके अन्दर पचविध अविद्या तथा उनके सस्कारो के साथ महाप्रलय के काल मे सम्पूर्ण जगत्-उत्पत्तियाँ विलीन हो जाती हैं जो सृष्टि के समय स्वय अपनी युक्त बुद्धि से सयुक्त होती हैं। भामती के अध्यास-भाष्य मे ही वाचस्पति अविद्या को द्वितीय बताते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण दृश्य जगत् की उत्पत्ति द्वितीय अविद्या के सहकारी कारण से सयुक्त ब्रह्म से होती है। इस गद्यांश की व्याख्या करते हुए अमलानन्द बताते हैं कि यह दो अविद्याओं से सम्बंधित है– एक अनादि भावरूपतत्व और अन्य पूर्वापूर्व अनादि भ्रम सस्कार। इस प्रकार अविद्या का एक रूप तो वह है जो प्रतीतियों का उपादान कारण है, परन्तु प्रतीतियां वास्तव मे प्रतीतियां नही होती यदि भ्रमात्मक रूप से उनका तादात्म्य अपरोक्ष चित्स्व-प्रकाशता के साथ नही होता। प्रत्येक जीव अपने इस समस्त मानसिक अनुभवों को स्वय अपने मे चित् के रूप मे सम्भ्रमित एव निरन्तर ग्रहण करता है और इसी प्रकार की भ्रमात्मक अव्यवस्था द्वारा ही ये मानसिक संस्कार प्रतीतियों के रूप मे सार्थक बनती हैं, क्योंकि उसके बिना उन प्रतीतियों की व्याख्या नहीं की जा सकती थी। परन्तु व्यक्ति का आगमन किस प्रकार

होता है जबकि व्यक्ति का प्रत्यय स्वय उसी परि भ्रान्ति की पूर्व धारणा करता है ? वाचस्पति इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि व्यक्तित्व की प्रतीति पूर्व मिथ्या सम्भ्रान्ति के कारण होती है और वह अन्य पूर्व मिथ्या सम्भ्रान्ति के कारण होती है (तुलना कीजिए, मडन)। अत प्रत्येक मिथ्या परिभ्रान्ति का कारण कोई पूर्व मिथ्या सम्भ्रान्ति होती है और उस पूर्व की कोई अन्य मिथ्या भ्रान्ति और इस प्रकार एक अनादि शृ खला है। केवल परिभ्रान्ति की इस अनादि शृ खला के द्वारा ही सम्पूर्ण बाद मे आने वाली सम्भ्रान्ति की अवस्थाओ की व्याख्या की जानी चाहिए। इस प्रकार, एक ओर अविद्या जीव मे उसके आश्रय के रूप मे क्रिया उत्पन्न करती है और दूसरी ओर ब्रह्म अथवा शुद्ध स्वत प्रकाश्य चिदात्मा उसका विषय रूप है जिसको वह आच्छादित कर देता है और जिसके द्वारा वह अपनी मिथ्या प्रतीतियो को प्रकट करके उन्हे सत्ता का मिथ्या रूप देता है जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् प्रतीतियाँ परम सत्ता का स्वरूप भासित होती हैं।[1] यह देखना सुलभ है कि यह दृष्टिकोण सर्वज्ञात्ममुनि के सक्षेप शारीरक के दृष्टिकोण से किस प्रकार भिन्न है, क्योंकि सर्वज्ञात्ममुनि के मत मे ब्रह्म अज्ञान का आश्रय एव विषय है जिसका अर्थ यह होता है कि भ्रम जीव मे नही रहता परन्तु उसकी स्थिति विषयातीत है। वह जीव इस प्रकार नही है, परन्तु प्रत्यक् चित् है जो उस प्रत्येक जीव द्वारा प्रकाशित होता है जिस पर आवरण आया हुआ है और विश्वातीत रूप से नाना-रूपात्मक प्रतीतियो मे भिन्न-भिन्न लगता है। तथापि वाचस्पति के मत मे भ्रम मनोवैज्ञानिक है जिसके लिए जीव उत्तरदायी है और उसका कारण भ्रम अथवा परिभ्रान्ति की अनादि शृ खला है। जहाँ प्रत्येक अनुवर्त्ती भ्रमात्मक अनुभव की व्याख्या पूर्ववर्त्ती भ्रमात्मक अनुभव के प्रकार द्वारा होती है और वह पुन किसी अन्य द्वारा एव इससे ऊपर भ्रमात्मक अनुभव की सामग्री भी अनिर्वाच्य माया से व्युत्पन्न हुई है जो परम सत्य स्वत प्रकाश्य सत् ब्रह्म के साथ अपने भ्रमात्मक प्रागभाव के कारण सत्य के रूप मे भासित की जाती है। भ्रमात्मक प्रतीतियाँ, अपने इस रूप मे, न तो सत् और न असत् ही कही जा सकती है, क्योंकि यद्यपि उनका व्यक्तिगत अस्तित्व प्रतीत होता है, फिर भी उनका अन्य अस्तित्वो द्वारा सदैव अभाव होता है और उनमे से किसी एक की भी उस प्रकार की सत्ता नही है जो सपूर्ण अभाव एव पारस्परिक विरोध अथवा बोध की उपेक्षा करती है, और वह केवल इस प्रकार का अबाधित स्वत प्रकाश्य है जिसे परम सत् कहा जा सकता है। जगत्-प्रतीतियो का मिथ्यात्व इस तथ्य मे है कि उसका अभाव एव बाध होता है, और फिर भी वे निरपेक्ष रूप से शश-शृ ग की तरह असत् नही है क्योंकि यदि वे ऐसा होती तो

[1] ऊपरी दृष्टिकोण मे ही वाचस्पति का मडन मे मतभेद है जिनकी ब्रह्मसिद्धि पर उन्होने अपनी तत्त्व समीक्षा लिखी।

उनका किंचित् मात्र भी अनुभव नहीं होता। अत प्रतीतियो के अविद्या द्वारा उत्पन्न होने पर भी, जहाँ तक उनकी विकृत सत्ता को मानने का प्रश्न है, उनका अन्तर्निहित आधार ब्रह्म है और इसी कारण ब्रह्म को जगत् का परम कारण माना जाएगा। ज्योही इस ब्रह्म की अनुभूति होती है, प्रतीतिया नष्ट हो जाती हैं, क्योकि सम्पूर्ण प्रतीतियो का मूल उनकी परम सत्ता ब्रह्म के साथ भ्रमात्मक परिभ्रान्ति है। शाकर-भाष्य २ २ २८ पर भामती भाष्य मे वाचस्पति यह बताते हैं कि शाकर वेदान्त के अनुसार ज्ञान के विषय स्वय स्वरूपत अनिर्वचनीय है और न कि मानसिक प्रत्यय मात्र (न हि ब्रह्मवादिनो नीलाद्याकारा वृत्ति अभ्युपगच्छन्ति किन्तु अनिर्वचनीय नीलादि) अत बाह्य विषय पूर्वत प्रत्यक्षीकर्ता के बाहर विद्यमान है, केवल उनका स्वरूप और उपादान, अनिर्वचनीय और युक्तिहीन है। अतः हमारे प्रत्यक्षीकरणो का सम्बन्ध उनके ऐसे विषयो मे है जो उनके उत्तेजक अथवा उत्पादक हैं और उनका स्वरूप वाह्य विषयो की सहायता के बिना अन्दर से उत्पन्न शुद्ध सवेदनाए अथवा प्रत्यय नही हैं।

सर्वज्ञात्म मुनि (९०० ई० प०)

सर्वज्ञात्म मुनि शकर के शिष्य सुरेश्वराचार्य के शिष्य थे जिनका वे अपने ग्रन्थ सक्षेप-शारीरक के प्रारम्भ मे सुरेश्वर मे सुर शब्द का पर्यायवाची शब्द होने के कारण देवेश्वर नाम द्वारा अभिनन्दन करते है। देवेश्वर का सुरेश्वर के साथ ऐक्य सक्षेप शारीरक के भाष्यकार रामतीर्थ ने किया है और इस ऐक्य का मतभेद कोई ऐसी अन्य बात से नही है जो सर्वज्ञात्म मुनि के बारे में या तो उसके ग्रन्थाशो द्वारा अथवा उसके अन्य सामान्य उल्लेखो द्वारा ज्ञात होती है। यह कहा जाता है कि उसका अन्य नाम नित्यबोधाचार्य था। सुरेश्वर अथवा सर्वज्ञात्म का ठीक-ठीक काल निश्चित रूप से निर्धारित नही किया जा सकता। श्री पडित गौडवहो की अपनी भूमिका मे यह विचार व्यक्त करते है कि चूंकि भवभूति कुमारिल के शिष्य थे अत कुमारिल सप्तम् शतक के मध्य मे रहे होगे और चूंकि शकर कुमारिल के समकालिक थे (शकर-दिग्विजय के शब्द पर) अतः वह या तो सप्तम् शतक मे या अष्टम् शतक के पूर्वार्द्ध मे रहे होगे। वर्तमान ग्रन्थ के प्रथम खड मे शकर का काल ७८०–८२० ई० प० के मध्य माना गया। श्री पडित द्वारा दी गई युक्तियो मे कोई नई बात विचारणीय नही है। भवभूति को कुमारिल का शिष्य मानने का उसका सिद्धान्त दो पाडुलिपियो के साक्ष्य पर आधारित है। जहाँ मालती-माधव के अक के अन्त मे यह कहा जाता है कि वह ग्रन्थ कुमारिल के शिष्य द्वारा लिखा गया था, यह साक्ष्य, जैसाकि मैंने अन्यत्र कहा है, अनुचित है। शकर को कुमारिल का समकालीन मानने वाली परम्परा मे केवल शकर दिग्विजय के शब्द

पर आधारित होने के कारण गम्भीरतापूर्वक विश्वास नही किया जा सकता। जो कुछ कहा जा सकता है वह यह है कि सभवतः कुमारिल शकर के बहुत पूर्व नही रहे, यदि कोई इसका अनुमान इस तथ्य से लगाए कि शकर कुमारिल का कोई उल्लेख नही करते। अतः इस परम्परागत मान्य दृष्टिकोण को छोड देने मे कोई कारण प्रतीत नही होता कि शकर का जन्म सवत् ८४४ अथवा ई० प० ७८८ अथवा कलियुग ३८८९ मे हुआ।[1] शकर का मृत्यु काल लगभग ८२० ई० प० समझते हुए और इस बात की ओर ध्यान देते हुए कि सर्वज्ञात्मन् के आचार्य सुरेश्वर ने अपने उच्च धर्माध्यक्षीय पद को दीर्घ काल तक अधिकार मे रखा, यह धारणा कि सर्वज्ञात्मन ९०० ई० प० मे रहे, अधिक अनुचित नही। तथापि इसका इस तथ्य के साथ कोई सघर्ष नही है कि ८४२ ई० प० मे वाचस्पति ने न्याय-सूचि-निबन्ध नामक अपना पूर्वतर ग्रन्थ लिखा और मडन-कृत ब्रह्मसिद्धि पर भी अपना भाष्य लिखा जबकि सुरेश्वर धर्माध्यक्षीय पद को धारण किए हुए थे।

इस प्रकार, सर्वज्ञात्म मुनि सभवत वाचस्पति मिश्र के कनिष्ट समकालीन थे। अपने सक्षेप-शारीरक मे वे शकर द्वारा स्पष्टीकृत वेदान्त-दर्शन की मूलभूत समस्याओ का वर्णन करने का प्रयत्न करते है। यह एक ही उनका ग्रन्थ सभवत हमे ज्ञात है जो विभिन्न छन्दो के श्लोको मे लिखे गए चार अध्यायो मे विभाजित है। इसके प्रथम अध्याय मे ५६३ श्लोक, द्वितीय अध्याय मे २४८, तृतीय अध्याय मे २४८ और चतुर्थ अध्याय मे ६३ श्लोक है। ग्रन्थ के प्रथम अध्याय मे उनकी धारणा है कि शुद्ध ब्रह्म अज्ञान के द्वारा समस्त-वस्तुओ का परम कारण है। चिदात्मा पर आश्रित एव उसके विषय के रूप मे उस पर क्रिया करने वाला अज्ञान उसके यथार्थ स्वरूप को आच्छादित करके भ्रमात्मक प्रतीतियो का विक्षेप करता है तथा उसके द्वारा ईश्वर, जीव और जगत् की त्रिविध प्रतीतियाँ उत्पन्न करता है। अज्ञान की कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है और उसके प्रभाव केवल चिदात्मा के द्वारा ही उसके आश्रय एव विषय के रूप मे दिखाई देते हैं तथा उसकी सम्पूर्ण सृष्टि मिथ्या है। सुषुप्ति अवस्था मे चिदात्मा किचित् मात्र भी शोक अस्पष्ट तथा चिदानन्द और चित्सुख के स्वरूप मे अपरोक्ष रूप से प्रत्यक्षीकृत होता है और चिदानन्द की परिभाषा परम लक्ष्य एव किसी भी परिस्थिति मे किसी वस्तु के असाधन के रूप मे ही दी जा सकती है, चिदात्मा वही है जो किसी भी अन्य का साधन नही माना जा सकता, इसके अतिरिक्त यह सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को सदैव अपनी आत्म प्राप्ति के परम विषय के रूप मे अभीष्ट है जो उसे सर्वाधिक प्रिय है। ऐसा अनन्त प्रेय एव परम लक्ष्य सीमित आत्मा नही हो सकता जिसका हमारे साधारण कार्यो के कर्ता के रूप मे और जीवन की दैनिक क्रियाओ मे भोक्ता के रूप मे उल्लेख

---

[1] आर्य विद्या सुधाकर, देखिए पृष्ठ २२६–२२७।

है। उपनिषद् के द्रष्टाओ की अपरोक्षानुभूति भी अनन्त एव चिदानन्द के रूप मे आत्मा के सत्य की पुष्टि करती है। दूसरी ओर भ्रमात्मक अध्यास विषय एव विषयी की सीमित प्रतीतियाँ हैं जो केवल मिथ्या आरोपण की सम्भावना मे योगदान करते है अत वे वास्तविक नही हो सकते। जव ब्रह्म अज्ञान से सवद्ध होता है तव दो मिथ्या तत्व होते हैं यथा अज्ञान एव अज्ञान से सवद्ध ब्रह्म, परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि इन समस्त मिथ्या सवघो मे अन्तर्निहित ब्रह्म स्वय मिथ्या है क्योकि इसके कारण इस आलोचना को समर्थन प्राप्त होगा कि बौद्धो की तरह सव कुछ मिथ्या होने के कारए परम सत्य जैसा कोई तत्व ही नही है। यहाँ आधार एव अधिष्ठान के बीच भेद का निर्देश किया गया है। समस्त प्रतीतियो में अन्तर्निहित चिदात्मा यथार्थ अधिष्ठान है जवकि मिथ्या अज्ञान द्वारा विकृत रूप मे ब्रह्म मिथ्या आधार अथवा मिथ्या विषय है जिसके साथ प्रतीतियाँ अपरोक्ष रूप मे सम्बन्धित हैं। समस्त भ्रमात्मक प्रतीतियो की अनुभूति इसी प्रकार होती है। इस प्रकार, इस अनुभव मे कि 'मैं यह रजत का टुकडा देखता हूँ' (शुक्ति की रजत के रूप मे मिथ्या प्रतीति होने की अवस्था मे) राजत लक्षण अथवा रजत की मिथ्या प्रतीति प्रत्यक्षीकर्त्ता के समक्ष 'यह' तत्व के साथ रजत सम्वन्धित है और 'यह' तत्व मिथ्या विषय के रूप मे अपनी पारी मे 'यह रजत' के रूप मे मिथ्या रजत से सवद्ध होता है। परन्तु, यद्यपि मिथ्या रजत की विषयपरकता प्रत्यक्षकर्त्ता के समक्ष 'यह' के रूप मे मिथ्या है, शुक्ति का वास्तविक विषय 'यह' मिथ्या नही है। यह उपरोक्त प्रकार का मिथ्या प्रतीति का विषय पर एव मिथ्या विषय का मिथ्या प्रतीति पर द्विविध आरोपण परस्पराध्यास कहलाता है। केवल मिथ्या विषय ही भ्रमात्मक प्रतीति मे प्रतीत होता है एव यथार्थ विषय अस्पष्ट रहता है। अन्त करण का परामासी स्थिति के कारण कुछ सीमा तक चिदात्मा के साथ सादृश्य है और इस सादृश्य के कारण प्राय इसे चिदात्मा समझा जाता है। यह कहा जा सकता है कि विना भ्रमात्मक आरोपण के अन्त करण नही हो सकता अत. यह स्वय भ्रम के स्वरूप की व्याख्या नही कर सकता। ऐसी आपत्ति का उत्तर यह है कि भ्रमात्मक आरोपण एव उसके परिणाम अनादि हैं और ऐसा कोई विशिष्ट काल केन्द्र नहीं है जिसे उसका प्रारम्भ कहा जा सकता है। अत यद्यपि वर्तमान भ्रम का प्रारम्भ अन्त करण के साथ हुआ है फिर भी स्वय अन्त करण पूर्वारोपण का परिणाम है और वह पूर्वान्त करण का तथा इस प्रकार अनादि है। जिस प्रकार यद्यपि शुक्ति रजत भ्रम मे शुक्ति के वस्तुत विद्यमान होते हुए भी उसे भिन्न नही देखा जाता और जो कुछ विद्यमान प्रत्यक्षीकृत होता है वह असत्य रजत है, अत यथार्थ ब्रह्म अधिष्ठान के रूप मे विद्यमान है, यद्यपि प्रतीति काल मे केवल जगत् का ही अस्तित्व प्रतीत होता है और ब्रह्म उससे अनुभूत नही होता। फिर भी यह इस अज्ञान का वास्तविक अस्तित्व नही है और अज्ञानियो के लिए ही यह

विद्यमान है। ब्रह्म के यथार्थ ज्ञान के उदय होने पर ही इसका (अज्ञान का) निराकरण हो सकता है और उपनिषदो के शब्दो द्वारा ही इस यथार्थ ज्ञान का उदय हो सकता है, क्योकि ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति करने का कोई अन्य साधन नहीं है। पुनः सत्य की परिभाषा प्रमाण द्वारा परीक्षणीय के रूप मे नही दी गई है बल्कि सत्य वह है जिसकी स्वतन्त्र एव अपरोक्षानुभूति हो सकती है। अज्ञान की परिभाषा भावरूप कह कर दी गई है और इसके चिदात्मा ब्रह्म पर आश्रित होने पर भी, नवनीत-वाह्नि सपर्क के समान, वह भी कुछ विशिष्ट अवस्थाओ मे स्पर्श होने पर द्रवीभूत हो जाता है। अज्ञान के भाव-रूप का मान जगत् के जडत्व मे तथा हमारे अन्दर अविद्या के रूप मे होता है। तथापि उपनिषदो के शब्द के अनुसार चिदात्मा वास्तविक अधिष्ठान कारण है और अज्ञान वह उपकरण अथवा साधन है जिसके द्वारा वह समस्त प्रतीतियो का कारण हो सकता है, परन्तु स्वय अज्ञान किसी भी प्रकार से जगत् का उपादान कारण नही होने से सर्वज्ञात्मन् की यह निश्चित धारणा है कि अज्ञान से सबद्ध ब्रह्म अथवा दोनो एकसाथ मिलकर जगत् का उपादान कारण नही कहे जा सकते। अज्ञान केवल गौण साधन है जिसके बिना प्रतीतियो का विकार सचमुच सम्भव नही है परन्तु उनसे अन्तर्निहित परम कारण मे जिसका कोई सम्भाग नही है वह निश्चित रूप से इसका निषेध करते हैं कि ब्रह्म किसी अनुमान द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है जिसके फलस्वरूप ब्रह्म जगत्, जन्म, स्थिति एव भग का कारण है क्योकि ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान केवल शास्त्रीय वचनो द्वारा ही हो सकता है। इस बात का प्रदर्शन करने के लिए कि किस प्रकार उपनिषदो द्वारा परमतत्व ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति सम्भव हो सकती है, वे लम्बे पर्यालोचन मे पडते हैं।

पुस्तक के द्वितीय अध्याय मे मुख्यतया इन्ही सिद्धान्तो की व्याख्या की गई है। उस अध्याय मे सर्वज्ञात्म मुनि वेदान्त दर्शन का बौद्ध दर्शन से भेद प्रदर्शित करते हैं जो मुख्यतया इसी तथ्य मे है कि भ्रम के सिद्धान्त के होते हुए भी वेदान्त ब्रह्म को ही परम सत्य मानता है जो बौद्धो को मान्य नही है। उनका यह भी कथन है कि किस प्रकार जाग्रतावस्था की तुलना स्वप्नो से की जा सकती है। तब वे यह बताने का प्रयत्न करते है कि जगत् प्रतीति की सत्यता न तो प्रत्यक्ष और न अन्य प्रमाणो द्वारा ही सिद्ध की जा सकती है और साख्य दर्शन न्याय तथा अन्य दर्शनो की आलोचना करते है। ब्रह्म-अज्ञान सबधी सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं अज्ञान का सबध एक चिदात्मा तथा जीवो से नही होकर ब्रह्म के चित्प्रकाश से है जो जीवो के आधार एव अधिष्ठान के रूप मे प्रकाशित होता है, क्योकि केवल इसी के सम्बन्ध मे अज्ञान की प्रतीति होती है और उनका प्रत्यक्ष होता है। जब यथार्थ ज्ञान का उदय होने पर चिदात्मा अद्वितीय ब्रह्म की अनुभूति होती है तब अज्ञान का अनुभव नही होता। जीवो मे अन्तर्निहित रूप मे केवल ब्रह्म के प्रसाग मे अज्ञान का प्रत्यक्ष होता है, जब कोई कहता है 'जो तुम कहते हो, वह मैं

नहीं जानता'; अत वह ब्रह्म न तो जीव है और न एक चित् है, परन्तु चित्प्रकाश है जैसा कि स्वय अपनेआपको प्रत्येक जीव द्वारा अभिव्यक्त करता है।[1] ब्रह्म का यथार्थ प्रज्ञान सदैव वहाँ है और मोक्ष का अर्थ अज्ञान के नाश के अतिरिक्त कुछ नहीं है। तृतीय अध्याय में सर्वज्ञात्म उन साधनों का वर्णन करते हैं जिनके द्वारा इस अज्ञान का नाश करना चाहिए और इस परिणाम तथा अन्तिम ब्रह्म ज्ञान के लिए अपनेआपको तैयार करना चाहिए। अन्तिम अध्याय में वे मोक्ष के स्वरूप एव ब्रह्मत्व की प्राप्ति का वर्णन करते हैं।

कई विख्यात लेखकों ने सक्षेप-शारीरक पर भाष्य लिखे जिनमें से कोई अति प्राचीन प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार नृसिंहाश्रम ने तत्व बोधिनी, नामक टीका, राघवानन्द ने विद्यामृत-वर्षिणी नामक अन्य टीका, विश्वदेव ने एक अन्य सिद्धान्तदीप नामक भाष्य लिखा जिस पर कृष्णतीर्थ के शिष्य रामतीर्थ ने अपने भाष्य अन्वयार्थ प्रकाशिका को आधार बनाया। मधुसूदन सरस्वती ने भी सक्षेप शारीरक सार सग्रह नामक एक अन्य भाष्य लिखा।

आनन्दबोध यति

शाकर वेदान्त के सम्प्रदाय मे आनन्द बोध एक महान् नाम है। सभवत. वे एकादश अथवा द्वादश शतक में रहे।[2] वाचस्पति कृत तत्व समीक्षा का वे उल्लेख करते हैं और चिदानन्द रूप मे आत्मा के स्वरूप की व्याख्या करने वाले सर्वज्ञात्मन् कृत दर्शन का उनका नाम लिए बिना उल्लेख है। उन्होंने शाकर वेदान्त पर कम से कम तीन ग्रन्थ लिखे यथा न्याय-मकरन्द, न्याय दीपावली एव प्रमाण माला, इनमें से चित्सुख एव उनके शिष्य सुखप्रकाश ने न्याय-मकरन्द पर न्याय-मकरन्द-टीका एव न्याय-मकरन्द-विवेचनी नामक भाष्य लिखे। सुखप्रकाश ने भी न्याय दीपावली पर न्याय-दीपावली-तात्पर्य-टीका नामक भाष्य लिखा। आनन्द ज्ञान के आचार्य अनुभूतिस्वरूप आचार्य (तेरहवें शतक के अन्त) ने भी आनन्द बोध के तीनों ग्रन्थों पर भाष्य लिखे। आनन्द बोध मौलिक योगदान का बहाना

---

[1] नानात्मां अद्वयसनाश्रय इष्ट एवम्
नाद्वैत-वस्तु-विषय निश्चितेक्षणानाम्
नानन्द-नित्य विषयाश्रयं इष्टमेतत्
प्रत्यक्त्व मात्र-विषयाश्रयतानुभूतै.। —सक्षेप-शारीरक, ॥ २११ = २।

[2] श्री त्रिपाठी आनन्द ज्ञान-कृत तर्कसंग्रह की भूमिका मे आनन्दबोध का काल १२०० ई प देते हैं।

नही करते एव कहते है कि उन्होने अपनी सामग्री अन्य ग्रन्थो से इकट्ठी की जो उनके काल मे विद्यमान थे।[1] वे अपना न्याय मकरन्द इसी प्रतिपाद्य विषय के साथ आरम्भ करते हैं कि विभिन्न जीवात्माओ का भासित भेद मिथ्या है क्योकि यह सिद्धान्त केवल उपनिषदो को ही मान्य नही है बल्कि यह तर्क के आधार पर भी बुद्धिगम्य है कि जीवात्माओ के प्रतीत होने वाले नानात्व की व्याख्या नानात्व के काल्पनिक पुरुष भेद के आधार पर की जा सकती है, यद्यपि वस्तुत आत्मा एक ही है। इस तथ्य पर तर्क करना कि काल्पनिक नानात्व की भ्रमात्मक मान्यता भी नानात्व की प्रतीतियो की व्याख्या कर सकती है, आनन्द बोध साख्य कारिका के तर्क का खडन करने का प्रयत्न करते है कि जीवात्माओ का नानात्व इस तथ्य से सिद्ध होता है कि कुछ लोगो के जन्म मृत्यु के साथ अन्य लोगो की जन्म मृत्यु नही होती। जीवात्माओ के नानात्व का अपने ही ढग से खडन करने के बाद वे विषयों के नानात्व का खडन करते हैं। उनकी धारणा है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा भेद का प्रत्यक्ष नही किया जा सकता क्योकि भेद का प्रत्यक्ष विषय एव उन सबसे भेद स्थापित करने वाली अन्य सब वस्तुओ के प्रत्यक्ष हुए बिना नही किया जा सकता। यह नही कहा जा सकता कि प्रथम विषय का प्रत्यक्ष होता है और तदनन्तर भेद। क्योकि विषय के ज्ञान के साथ प्रत्यक्ष की स्वभावत निवृत्ति हो जाएगी, और ऐसा कोई ढग नही है जिससे भेद की अवधारणा के लिए वह क्रिया कर सकता है, न यह माना जा सकता है कि भेद का बोध किसी भी प्रकार से इन्द्रिय प्रत्यक्ष के साथ होता है, न यह सभव है कि जब दो इन्द्रिय विषयो का प्रत्यक्ष दो विभिन्न कालो मे होता है तो कोई अन्य तरीका भी हो सकता है जिसके द्वारा उनके भेद का प्रत्यक्ष सभव हो, क्योकि दो इन्द्रिय-विषयो का प्रत्यक्ष एक ही काल मे नही हो सकता। पुन यह भी नही कहा जा सकता कि किसी भी इन्द्रिय विषय के प्रत्यक्ष के यथा नील के साथ समस्त अ-नील, पीत, श्वेत, रक्त इत्यादि अन्तर्निहित है क्योकि उस अवस्था मे किसी भी इन्द्रिय विषय के प्रत्यक्ष मे जगत् के अन्य सब विषय अन्तर्निहित हैं। किसी तत्व के भेद के निषेध का अर्थ उसकी वास्तविक विध्यात्मकता से कुछ भी अधिक नही है। परन्तु यह धारणा सही नही है कि समस्त विध्यात्मक तत्व भेद स्वरूप हैं' क्योकि यह सम्पूर्ण अनुभवो के विपरीत है। यदि भेद विध्यात्मक तत्वो के रूप मे प्रत्यक्षीकृत होते हैं तो उन्हे समझने के लिए अन्य भेदो की आवश्यकता होगी एव इस प्रकार अनवस्था प्रसग का दोष उत्पन्न होगा। इसके अतिरिक्त भेद अपने स्वरूप मे निषेधात्मक होने के कारण विध्यात्मक इन्द्रिय विषयो के रूप मे प्रत्यक्षीकृत नही हो सकते। उद्देश्य

---

[1] नाना निबन्ध कुसुम प्रभवावदात-
न्यायापदेश मकरन्द कदम्ब एव। न्याय मकरन्द–पृष्ठ–३५६।

अथवा विधेय के रूप मे चाहे 'घट का स्तम्भ से भेद' अथवा 'घट स्तम्भ से भिन्न है' के रूप मे दोनो अवस्थाओ मे दोनो विषयो के बीच पूर्वतर एव अधिक पुरातन भेद की अवधारणा है जिसके आधार पर भेद के तत्व की अनुभूति होती है।

तब आनन्द बोध न्याय मीमासा और बौद्ध दर्शन द्वारा प्रतिपादित ख्याति के विभिन्न सिद्धान्तो की विवेचना करते है और अनिर्वचनीय ख्याति का समर्थन करते है।[1] इस सबध मे वे अपने मत को प्रस्तुत करते है कि अविद्या को जगत् प्रतीति के कारण के रूप मे क्यो स्वीकार करना पडता है। वे बताते हैं कि जगत् प्रतीति की विविधता और नानात्व की उसके द्रव्यभूत कारण मे विश्वास किए बिना व्याख्या नही की जा सकती। चूंकि जगत्-प्रतीति मिथ्या है अत वह सत्य द्रव्य मे से उत्पन्न नही हो सकती और न इसकी उत्पत्ति निरपेक्ष रूप से असत् और असत्य मे से हो सकती है क्योकि ऐसी वस्तु स्पष्टतया किसी का भी कारण नही हो सकती, अत जगत् प्रतीति का कारण न तो सत् अथवा न असत् ही हो सकता है अत इसका कारण ऐसा होना चाहिए जो न तो सत्य है और न असत्य, और न सत् तथा न असत् तत्व अविद्या है।[2]

आगे चलकर वे इस सिद्धान्त की पुष्टि करते है कि आत्मा सविद् रूप है अर्थात् शुद्ध चैतन्य है। प्रथमत वे इसका प्रतिपादन इस प्रकार करते है कि विज्ञप्ति अपनेआपको प्रकट करने के साथ-साथ अपने विषयो को भी तत्काल प्रकट करती हैं और द्वितीय विज्ञप्ति विषय के विकारशील होते हुए भी एक अविकारी चैतन्य है जो विषय के नही होने पर भी वैसा ही स्थाई रहता है। यदि केवल विज्ञप्तियो की शृंखलाएं उत्पन्न एव समाप्त होती है और यदि प्रत्येक समय निरन्तर स्थाई रहने वाली विज्ञप्ति है तो किस प्रकार एक विज्ञप्ति तथा अन्य विज्ञप्ति मे, नीले और पीले मे भेद स्थापित किया जाय ? अविद्या के सन्दर्भ मे वे इसके ब्रह्माश्रित होने के मत की पुष्टि करते है क्योकि अविद्या का स्वरूप अनिर्वचनीय होने के कारण अर्थात् न अभाव और न भाव होने के कारण, इसे ब्रह्माश्रित मानने मे कोई आपत्ति नही हो सकती। इसके अतिरिक्त केवल अविद्या-युक्त ब्रह्म ही सर्वज्ञ माना जा सकता है क्योकि सब सापेक्ष वस्तुए अविद्या स्वरूप हैं और सापेक्ष वस्तुओ के ज्ञान के बिना कोई सर्वज्ञता नही हो सकी। अपने न्याय-दीपवली मे भ्रमात्मक रजत के मिथ्यात्व के दृष्टान्त पर जगत् प्रतीति के मिथ्यात्व का वे अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। उसके निरूपण की विधि न्यूनाधिक वही है जो निरूपण मधुसूदन सरस्वती कृत अद्वैत-सिद्धि मे अत्यत अपर काल मे है। उनकी प्रमाण माला मे देखा जाय तो कुछ भी नई बात नही है। प्रायोगिक पच्चीस पृष्ठ का

---

[1] वर्तमान ग्रन्थ का प्रथम खड अध्याय १०, पृष्ठ ४८५ देखिए।

[2] न्याय-मकरन्द पृष्ठ १२२, १२३।

यह एक छोटा-सा ग्रन्थ है और इसमे न्याय मकरन्द की युक्तियो को कुछ भिन्न रूप मे और भिन्न वल के साथ पहचाना जा सकता है। आनन्द वोध की सर्वाधिक युक्तियाँ वेदान्त सम्प्रदाय के वाद के लेखको ने अपनाईं। वेदान्त के मध्व सम्प्रदाय के व्यासतीर्थ ने खण्डन करने के लिए अपने न्यायामृत मे वहुत से वेदान्त प्रमाण आनद वोध एव प्रकाशात्मन् से इकट्ठे किए और उनका खडन मधुसूदन की महान् कृति अद्वैत-सिद्धि मे किया गया तथा फिर जिनका खडन रामतीर्थ कृत न्यायामृत-तरङ्गिणी मे किया गया। इस विवाद के इतिहास का वर्णन वर्तमान ग्रन्थ के तृतीय खड मे किया जाएगा।

महा-विद्या एवं तार्किक युक्ति संगतता का विकास

नागार्जुन काल से ही वौद्धो ने तार्किक वाद-विवाद की नैयामिक विधि का सूत्रपात कर लिया था। परन्तु यह किसी भी प्रकार से वौद्धो तक ही सीमित नही थी। नैयायिको ने भी इन विधियो को ग्रहण किया जैसा कि वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, उदयन एव अन्य लोगो के लेखो से सौदाहृत है। स्वय शकर ने वौद्ध, जैन, वैशेषिक एव भारतीय दर्शन के अन्य मतो का खण्डन करने के लिए इसी विधि का उपयोग किया था। परन्तु यद्यपि इन लेखको ने अधिकतर नागार्जुन के प्रमाणो की तार्किक विधि को अपनाया था फिर भी नागार्जुन के तार्किक प्रमाणो की विशुद्ध युक्तिसगतता का विकास करने के लिए उन्होने कुछ भी प्रयत्न नही किया। जैसे, पूर्णत निश्चित युक्ति सगत कठोरता सहित परिभाषाओ को सूत्र-वद्ध करने का प्रयत्न करना और युक्ति सगतता और तर्क युक्त सूक्ष्मता पर अधिक वल के साथ आलोचनाए करना जिनकी चरमावस्था उत्तरवर्ती न्याय लेखको मे जैसे रघुनाथ शिरोमणि, जगदीश भट्टाचार्य, मथुरानाथ भट्टाचार्य एव गदाधर भट्टाचार्य मे दिखायी थी। सामान्यतया यह विश्वास किया जाता है कि इस प्रकार के हानिकारक मानसिक परिश्रम करवाने वाली तार्किक युक्ति सगतता की विधियो को मिथिला के गगेश उपाध्याय ने पूर्व त्रयोदश शतक मे प्रथमत प्रारम्भ किया। परन्तु सत्य यह प्रतीत होता है कि तार्किक युक्ति सगतता की विधि कुछ लेखको मे दशम् एव एकादश शतको मे धीरे-धीरे विकसित हो रही थी। इसका एक प्रख्यात उदाहरण एकादश शतक मे कुलार्क पडित द्वारा अनुमान के महा-विद्या प्रकार का सूत्रीकरण है। श्री हर्ष (११८७—ई० प०) के पूर्व इस महाविद्या अनुमान का वस्तुत कोई उल्लेख नही मिलता।[1] इस अनुमान के उदाहरण चित्सुख आचार्य

[1] गये गन्धान्तर-प्रसजिका न च युक्तिरस्ति, तदस्तित्वेवाका नो हानि, तस्याऽपि अस्माभि खडनीयत्वात्। श्री हर्ष-कृत खडन-खड खाद्य पृष्ठ ११८१, चौखम्बा सस्करण।

(१२२० ई० प०) अमलानन्द, जिसे व्यासाश्रम भी कहते हैं, (१२४७ ई० प०), आनन्दज्ञान (१२७० ई० प०), वेंकट (१३६९ ई० प०), शेष शङ्ग'धर (१४५० ई० प०) एव अन्य लोगो के लेखो मे उपलब्ध हैं।[1]

महा-विद्या अनुमान का सम्भवत: एकादश शतक मे प्रारम्भ हुआ था और पन्द्रहवें शतक तक उनका उल्लेख अथवा खडन होता रहा, यद्यपि यह आश्चर्य है कि उनका उल्लेख गगेश अथवा उनके किसी भी समर्थक यथा रघुनाथ, जगदीश आदि ने केवलान्वयि अनुमान के स्वरूप के बारे मे विचार करते हुए नही किया है।

सम्भवत महाविद्या अनुमान का प्रारम्भ प्रथमत कुलार्क पडित ने अपने दशाश्लोकी महा-विद्या-सूत्र मे किया जिसमे सौलह विभिन्न प्रकार के महा-विद्या अनुमान की सौलह विभिन्न प्रकार की परिभाषायें उल्लिखित हैं। यदि यह मान लिया जाए कि महाविद्या अनुमान के सस्थापक कुलार्क पडित एकादश शतक मे रहे तो यह कहा जा सकता है कि वादीन्द्र के त्रयोदशक शतक के प्रथम चतुर्थांश मे इसका खडन करने के पूर्व इस विषय पर कई लेखको ने लिख डाला था। पूर्ववर्त्ती लेखको द्वारा महाविद्या के समर्थन और खडन मे अपने महाविद्या विडम्बन मे दी गई युक्तियो का उल्लेख केवल वादीन्द्र ने ही नही किया बल्कि भुवन सुन्दर सूरि ने भी महाविद्या विडम्बन पर लिखी अपनी टीका मे महाविद्या पर अन्य आलोचको का उल्लेख किया है। सम्प्रति महाविद्या पर पुरुषोत्तम वन एव पूर्णप्रज्ञ द्वारा लिखित दो विभिन्न भाष्यो का शोध हुआ है। वेंकेट अपनी न्याय-परिशुद्धि मे महाविद्या, मान-मनोहर एव प्रमाण-मजरी का उल्लेख करते हैं एव श्री निवास न्याय परिशुद्धि पर अपनी टीका न्याय सार मे वक्रानुमान का विवेचन करने वाले ग्रन्थो के रूप मे उनका वर्णन करते हैं।[2] इससे स्पष्ट है कि एकादश शतक से षोडश शतक के

---

[1] अथवा अय घट एतद् घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्य पदार्थत्वात् पटवद् इत्यादिमहाविद्या-प्रयोगैरपि वेद्यत्व-सिद्धिरपि ऊहनीया-चित्सुख आचार्य कृत तत्व-प्रदीपिका, पृष्ठ १३ एव पृष्ठ ३०४ भी। भाष्यकार प्रत्यगरूप भगवान् कुलार्क पडित का नाम से उल्लेख करते हैं एव सर्वा महाविद्यास्तच्छाया वान्ये प्रयोगा खडनीया इति अमलानन्द-कृत वेदान्त कल्पतरु-पृष्ठ ३०४ (बनारस, १८९५) सर्वास्वैव महाविद्यासु इत्यादि-आनन्दज्ञान-कृत तर्क सग्रह, पृष्ठ २२। वेंकट-कृत न्याय-परिशुद्धि भी, पृष्ठ १२५, १२६, २७३,-२७६ आदि। सर्वार्थ सिद्धि सहित तत्व मुक्ता कलाप पृष्ठ ४७८, ४८५, ४८६-४९१। श्री म र तैलग ने महाविद्या के समस्त उपरोक्त प्रसगो को महा-विद्या विडम्बन गायकवाड की ओरियटल सिरीज, बडौदा, १९२० पर लिखित अपनी भूमिका मे एकत्रित किया है।

[2] महा-विद्या-विडम्बन पर म. र तैलग द्वारा लिखित भूमिका देखिए।

मध्य चार अथवा पाँच शतकों तक विशिष्ट क्षेत्रों में महाविद्या अनुमान का समर्थन अथवा खंडन हुआ।

यह सुविदित है कि कुमारिल भट्ट एवं उनके अनुयायियों जैसे महान् मीमांसकों ने ध्वनियों की नित्यता के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की जबकि न्याय-वैशेषिक के अनुयायी योगाचार्य ध्वनि को अनित्य मानते थे। महा-विद्या अनुमान के विशिष्ट प्रकार थे जिनका आविष्कार सम्भवत कुलार्क पंडित ने मीमांसा द्वारा प्रस्तुत ध्वनियों की नित्यता सबधी युक्तियों का खंडन करने के लिए एवं ध्वनियों की अनित्यता को सिद्ध करने के लिए किया था। यदि वक्रानुमान के ये प्रकार प्रामाणिक माने जाएँ तो अन्य सिद्धान्तों को सिद्ध अथवा असिद्ध करने के लिए उनका अन्य प्रकार का प्रयोग होगा। महाविद्या अनुमानों का विशिष्ट लक्षण केवलान्वयी विधि द्वारा प्रतिपाद्य विषय को सिद्ध करने का प्रयत्न करना है। साधारणतया व्याप्ति का अर्थ साध्य सहित हेतु के अस्तित्व मे और साध्य के अभाव मे उसके अवृत्तित्व मे है (साध्याभावात् अवृत्तित्वम्) परन्तु नैयायिकों द्वारा स्वीकृत केवलान्वयी अनुमान उन दिशाओं पर लागू होता है जहाँ साध्य इतना सार्वलौकिक होता है कि ऐसी कोई दशा नहीं है जहाँ इसका अभाव है और जिसके फलस्वरूप इसका कोई ऐसा हेतु नहीं हो सकता जिसकी इसके साथ व्याप्ति उसकी उन सब दिशाओं के अभाव द्वारा निर्धारित साध्य के अभाव के साथ हो सकती है और साध्य के भाव के साथ उसके अस्तित्व का निर्धारण हो सकता है। इस प्रकार इस वाक्य मे 'प्रमेयत्व होने के कारण' यह अभिधेय है (इदम् अभिधेयम्), साध्य एव हेतु, दोनों इतने सार्वभौम हैं कि ऐसी कोई दशा नहीं है जहाँ अभावात्मक उदाहरणों द्वारा उनकी व्याप्ति की परीक्षा की जा सकती है। महाविद्या अनुमान इसी प्रकार के केवलान्वयी अनुमान के प्रकार थे और इसके सोलह विभिन्न प्रभेदों को उनके साथ सम्बन्ध होने का लाभ था। उनके अनुमान केवलान्वयी प्रकार के होने के कारण और उनकी अवस्था मे कोई अभावात्मक उदाहरण उपलब्ध नहीं होने के कारण, साध्य एव हेतु की व्याप्ति की भूलें अथवा दोष बताकर उनकी आलोचना करना सुलभ नहीं था। ध्वनि के अनित्यत्व की अभिपुष्टि करने के लिए केवलान्वयी अनुमान की प्रायोगिकता की सभावना के हेतु कुलार्क ने सोलह विभिन्न विधियों द्वारा वाक्यों को सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न किया ताकि केवलान्वयी को आधार मानकर इस प्रकार का अभिपुष्टी-करण किसी विषय के बारे मे किया जा सके जिसके फलस्वरूप अन्य सभावित विकल्पों को नियम विरुद्ध घोषित कर दिया जाए एव ध्वनि का अनित्यत्व आवश्यक रूप से एकमात्र परिणाम के रूप मे अनुगामी हो। अनुमान की यह परोक्ष उपगम्यता है जिसे महाविद्या के आलोचकों ने अनुमान के निकटवर्ती बताया है। इस प्रकार महाविद्या की परिभाषा अनुमान के उस प्रकार के रूप मे की गई है जिसके द्वारा

अन्वय-व्यतिरेक की सयुक्त विधि के द्वारा प्रमाणित किया जाने वाला अभीष्ट साध्य विशेष (अन्वय-व्यतिरेक-साध्य-विशेष वादी-अभिमत साधयति) और पक्षविशेष मे एक विशिष्ट साध्य के अस्तित्व को आवश्यक पर्यवसान द्वारा केवलान्वयी ढग पर पक्ष हेतु के भाव द्वारा प्रवर्तमान साध्यविशेष के रूप मे (केवलान्वयिनी व्यापके प्रवर्तमानो हेतु) सिद्ध किया जाता है (पक्षे व्यापक-प्रतीत्य-पर्यवसान-बलात्)। दूसरे शब्दो मे एक हेतु जो किसी पक्षमे अचूक एव अपृथक रूप से स्थित साध्य मे है, इस बात को सिद्ध करता है कि उस पक्ष मे एव उस ढग से इस साध्य का नित्य अस्तित्व केवल उपकल्पना के अधीन सभव है, अर्थात् एक अन्य पक्ष मे अन्य साध्य का अभिमत होना, जैसे, साध्य 'अनित्यत्व' 'शब्द' का ध्वनि पक्ष के साथ अभिमत जो, अन्वय एव व्यतिरेक की प्रत्यक्ष विधि द्वारा सामान्य रूप से सिद्ध किया जा सकता है। महाविद्या-अनुमान के अनुकरण द्वारा ही यह समझ मे आ सकता है। इस प्रकार यह कहा जाता है कि मेयत्व के कारण जैसे कि शब्द के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ के सपूर्ण नित्य एव अनित्य गुणो के सम्बन्धो से विच्छिन्न आत्मा अनित्यत्व से सवधित है (आत्मा शब्देतरानित्य-नित्य-व्यावृत्तित्वानोधिकरणनित्यवृत्ति-धर्मवान् मेयत्वाद् घटवत्)। 'जीव' की उपाधि के द्वारा आत्मा का सम्बन्ध सम्पूर्ण उन गुणो से विच्छिन्न हो जाता है, जो शब्द के अतिरिक्त सम्पूर्ण अन्य नित्य एव अनित्य विषयो के साथ समभोगी है, और जिसके फलस्वरूप शब्द के सम्बन्ध मे एक प्रकार का अनित्य गुण ही उसमे रह जाता है क्योकि उपाधि मे वह पहले से ही असम्मिलित था जिसके कल्पना क्षेत्र मे शब्द नही लिया गया था। चूंकि न्याय दर्शन के अनुसार कई सम्बन्ध भी गुण के रूप मे निरूपित हैं अत॰ ऐसा आत्मा का शब्द से अनित्य सम्बन्ध अन्योन्यभाव समझा जा सकता है। अत निर्विवाद रूप से नित्य स्वीकार की गई आत्मा का यदि ऐसा अनित्यगुण अथवा शब्द से सम्बन्ध हो तो यह केवल एक अभ्युपगम के कारण हो सकता है, जैसे शब्द अनित्य है, परन्तु सारे अन्य अनित्य सम्बन्ध जो आत्मा के अन्य अनित्य विषयो के साथ हो सकते हैं और सारे नित्य सम्बन्ध जो उसके अन्य नित्य वस्तुओ से हो सकते हैं, एव सारे अन्य ऐसे सम्बन्ध जो शब्द के अतिरिक्त सारे नित्य एव अनित्य विषयो से हो सकते हैं वे सब अविचारणीय समझे जा चुके है। उन अपृथक् एव अचूक अनित्य गुणो का सम्बन्ध शब्द से है जो आत्मा मे किन्ही निषेधात्मक उदाहरणो के अभाव मे हो सकते हैं, परन्तु यदि उसमे शब्द के सम्बन्ध का अनित्य गुण है तो वह केवल एक अभिमत के कारण ही हो सकता है, वैसे शब्द स्वय अनित्य है, क्योकि निर्विवाद रूप से आत्मा नित्य है। अनुमान के इस परोक्ष चक्रक ढग को ही महाविद्या कहते हैं। महाविद्या के अभिमतो के सोलह प्रकारो के उदाहरण देकर उसका विस्तार करना व्यर्थ है, क्योकि ये सम्पूर्ण अभिमत एक ही सिद्धान्त पर साधारण परिवर्तनो के साथ व्यक्त किए गए हैं।

वादीन्द्र ने अपने महा-विद्या-विडम्बन ग्रन्थ मे अनुमान के इन प्रकारो को मिथ्या बतलाकर खडन किया है और यह ज्ञात नही है कि किसी अन्य ने वादीन्द्र

की आलोचनाएं, का खंडन करके उन्हें पुनः प्रत्युज्जीवित करने का प्रयत्न किया है। वादीन्द्र अपने महा-विद्या-विडम्बन के प्रथम पाठ के अन्त में अपने को पुष्पिका में 'हर-किंकर-न्यायाचार्य-परम-पंडित-भट्ट-वादीन्द्र' कह कर सम्बोधित करते हैं, और अपने ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक में योगीश्वर का अपने गुरु के रूप में उल्लेख करते हैं। तथापि 'हर-किंकर-न्यायाचार्य' के अतिरिक्त वे उनका यथार्थ नाम नहीं बताते। महाविद्या-विडम्बन की अपनी भूमिका में श्री तैलंग का कथन है कि उनके शिष्य भट्ट राघव भासर्वज्ञ-कृत न्याय-सार पर न्याय-सार-विचार नामक भाष्य में उनका उल्लेख महादेव नाम द्वारा करते हैं। अतः वादीन्द्र का यथार्थ नाम महादेव था और शेष विशेषण उनकी उपाधियाँ थीं। भट्ट राघव का कथन है कि वादीन्द्र के पिता का नाम सारंग था। भट्ट राघव स्वयं अपना काल शक सम्वत् में देते हैं। परन्तु उस वाक्य की दो विभिन्न रचनाएँ हो सकती हैं जो हमें दो विभिन्न काल देती हैं यथा १२५२ ई०प० और १३५२ ई०प०। परन्तु इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कि वादीन्द्र देवगिरि के शासक राजा श्रीसिंह (जिन्हें सिंघन भी कहा जाता है) १२१०–१२४७ ई०प० के धार्मिक सलाहकार थे और यह कि सम्भवतः वह वेंकट (१२६७–१३६६ ई०प०) के पूर्व रहे जो उसके महा-विद्या-विडम्बन का उल्लेख करता है। श्री तैलग का कथन है कि भट्ट राघव का काल हमे १२५२ ई प मानना पड़ेगा, और वादीन्द्र के शिष्य होने के कारण उनके काल मे से लगभग २७ वर्ष घटाये जा सकते हैं और वादीन्द्र का काल १२२५ ई प निश्चित किया जा सकता है। श्री तैलग का कथन है कि इस प्रकार का काल उसके राजा श्रीसिंह के धार्मिक सलाहकार होने के मत मे मेल खाता है। वादीन्द्र उदयन (६८४ ई प) एव शिवादित्य मिश्र (६७५–१०२५ ई प) का उल्लेख करता है। श्री तैलग भी वादीन्द्र के दो अन्य ग्रन्थो यथा रस-सार और कणाद-सूत्र-निबन्ध का उल्लेख करते है और वादीन्द्र कृत महा-विद्या-विडम्बन मे सम्मिलित उदाहरणो द्वारा तर्क करते है कि उसने महा-विद्या का खडन करते हुए अन्य ग्रन्थ लिखे होगे। वादीन्द्र कृत महा-विद्या-विडम्बन के तीन अध्याय है। प्रथम अध्याय मे वह महा-विद्या-अनुमान की व्याख्या करता है, द्वितीय एव तृतीय अध्याय मे अनुमानो का खडन किया गया है। वादीन्द्र कृत महा-विद्या-विडम्बन के दो भाष्य हैं, एक का नाम आनन्द पूर्ण (१६०० ई०प०) द्वारा लिखित 'महा-विद्या-विडम्बन-व्याख्यान' एव दूसरे का नाम भुवन सुन्दर सूरि (१४०० ई०प०) द्वारा लिखित 'व्याख्यान दीपिका' है। इनके अतिरिक्त भुवन सुन्दर सूरि ने 'लघु-महा-विद्या-विडम्बन' नामक छोटा सा ग्रन्थ एव एक अज्ञात लेखक द्वारा लिखित महाविद्या-दशश्लोकी-विवरण पर महा-विद्या-विवरण-टिप्पण नामक भाष्य भी लिखे।

वादीन्द्र की आलोचना की मुख्य बातें सक्षेप मे निम्नलिखित हैं.—

वह कहते हैं कि केवलान्वयी हेतु अशक्य है। यह सिद्ध करना कठिन है कि किसी विशिष्ट गुण का अस्तित्व सर्वत्र होना चाहिए और कोई ऐसा उदाहरण

अथवा अवस्था नही होनी चाहिए जहाँ यह घटित नही होता है। तृतीय अध्याय मे यह कहा है कि केवलान्वयिहेतु अशक्य ही नही है बल्कि इस प्रकार के केवलान्वयिहेतु के आधार पर दिए गए प्रमाणो मे भी स्व-व्याघात के हेत्वाभास, एव अनेकान्तिकत्व इत्यादि के हेत्वाभास की सभावना अधिक होगी। वह यह भी स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार से ये सब हेत्वाभास कुलार्क पडित द्वारा आविष्कृत महाविद्या अनुमानो पर लागू होते हैं। हमारे वर्तमान हेतु के लिए वादीन्द्र के विस्तृत तार्किक विचार-विमर्श मे पडना अनावश्यक है, क्योकि महा-विद्या अनुमान पर वर्तमान विषयान्तरण यहाँ पर यही प्रदर्शित करने के लिए आरम्भ किया गया है कि अत्यन्त सूक्ष्म तर्क वेत्ता श्री हर्ष ने प्रथमत प्राक्कथन नही किया था बल्कि उनसे कुछ शतक पूर्व उनका निर्माण हो गया था। यद्यपि नि सदेह दर्शन मे अत्यत सूक्ष्म विधियो का प्रयोग करने वालो मे श्री हर्ष सर्वाधिक विख्यात थे।

इस प्रकार, यह स्पष्ट हो जाएगा कि दर्शन मे विधि के रूप मे तार्किक युक्तिसगतता पर बल देने की प्रणाली नैयायिको एव वेदान्तियो ने समान रूप से तृतीय एव चतुर्थ शतको मे नागार्जुन, आर्य देव इत्यादि तथा पचम, षष्ठ और सप्तम् शतको मे परवर्ती क्रमानुयायियो के समान बौद्धो द्वारा उत्तराधिकार मे प्राप्त की थी। परन्तु अष्टम नवम एव दशम शतको के समय इस ओर विख्यात न्याय लेखको के ग्रन्थ मे सुस्थिर विकास देखा जा सकता है, यथा वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयन और वेदान्ती लेखक जैसे महान् आचार्य शकराचार्य, वाचस्पति मिश्र और आनन्द बोधयति के ग्रन्थो मे परन्तु अमूर्त्त एव शुष्क शिष्टाचार वादिता का सम्प्रदाय ठीक-ठीक कुलार्क पडित अथवा एकादश शतक के परवर्ती भाग मे रहने वाले मान-मनोहर एव प्रमाण-मजरी से प्रारम्भ हुआ और तार्किक युक्तिसगतत्ता का कार्य कई अन्य लेखको के ग्रन्थो से प्रारम्भ हुआ। जब तक कि हम पूर्व त्रयोदश शतक के गगेश का उल्लेख नही करते जिसने अवच्छेदकता के नूतन प्रत्ययो का उल्लेख करके अपने तीक्ष्ण मनस् की सूक्ष्मताओ द्वारा उसे अनुप्राणित किया और जो व्याप्ति के बाद नया परिवर्तनस्थल माना जा सकता है। यह ग्रन्थ अत्यन्त विस्तार पूर्वक परवर्ती क्रमानुयायी नव्य-न्याय के महान् लेखक रघुनाथ शिरोमणि, जगदीश भट्टाचार्य, गदाधर भट्टाचार्य आदि द्वारा आगे जारी रखा गया। वेदान्त की दिशा मे यह तार्किक युक्तिसगतता श्री हर्ष (११८७ ई०प०) चित्सुख (लगभग १२२० ई०प०) (जिसके वादीन्द्र समकालीन थे) आनन्दज्ञान अथवा आनन्दगिरि (लगभग १२६० ई०प०) और कई द्वितीय श्रेणी के लेखको अर्थात् सप्तम शतक के नृसिहाश्रम और मधुसूदन सरस्वती द्वारा आगे चालू रखा गया। अनुमान लगाया जा सकता है कि श्री हर्ष की युक्ति सगत आलोचनायें सभवत नैयायिको मे नई जागृति का मुख्य कारण थी जिन्होने नए प्रदत्त के

समूहीकरण से अविचलित रह कर अपना सम्पूर्ण ध्यान दृढतापूर्वक अपनी परिभाषायें एव तर्कों को युक्तिसगत विशुद्धता एव सूक्ष्मता प्रदान करने की दिशा मे और नए अनुभव अथवा नई समस्याओ अथवा जिज्ञासा की नई दिशाओ की खोज मे पूर्णत्व प्रदान करने की ओर दिया, जो यथार्थ दर्शन के विकास मे अत्यत आवश्यक है। परन्तु जब एक बार उन्होने विशुद्ध तार्किक साधन-सामग्री को पूर्णत्व प्रदान करना प्रारम्भ किया और उन्हे सफलता पूर्वक वाद-विवादो मे प्रयोग करना प्रारम्भ किया तो वेदान्तियो के लिए भी अपने प्राचीन मतो की रक्षा के लिए दर्शन मे नए सृजनो की पूर्णत उपेक्षा करते हुए इस नई तार्किक युक्तिसगतता की विधि को अभिभूत करना आवश्यक हो गया। इस प्रकार, वेदान्त दर्शन मे तार्किक युक्तिसगतता के न्याय शास्त्र के विकास के इतिहास मे ऐसा लगता है कि अष्टम्, नवम्, दशम् और एकादश शतकों मे युक्तिसगता का तत्व निम्नतम अवस्था मे था एव वेदान्त के बौद्धो, मीमासको और नैयायिको के साथ मत वैभिन्य वेदान्ती दृष्टि से अनुभव के विश्लेषण पर एव दर्शन के प्रति इसकी सामान्य उपगम्यता पर अधिकतर आधारित है। परन्तु द्वादश एव त्रयोदश शतको मे विवाद अधिकतर न्याय एव वैशेषिक के साथ था और सर्वोपरि तार्किक युक्तिसगतता के निरूपण से अधिरोहित था। आलोचनाओ का तात्पर्य अधिकतर न्याय वैशेषिक की परिभाषाओ की आलोचनाओ से था। इन्ही शतकों मे इनके समानान्तर रामानुज एव उसके अनुयायियो के लेखो मे एक नई शक्ति धीरे-धीरे विकसित हो रही थी और अनुवर्त्ती शतको मे महान् वैष्णव लेखक मध्व के अनुयायियो ने वेदान्तियो की (शाकर सम्प्रदाय के) अत्यत बलपूर्वक आलोचना करना प्रारम्भ किया। अत यह लिखा गया है कि त्रयोदश अथवा चतुर्दश शतको से वेदान्ती आक्रमण अधिकतर रामानुज और मध्व के विरुद्ध नियोजित था। इस विवाद का इतिहास वर्तमान ग्रन्थ के तृतीय एव चतुर्थ भाग मे दिया जाएगा। परन्तु तार्किक युक्ति सगतता की विधि इस समय मे इतनी अधिक महत्वपूर्ण हो गई थी कि वैष्णवो द्वारा दर्शन मे कई नए मत मतान्तर लाने पर भी न्याय-शास्त्र के वाद-विवादो मे तार्किक युक्तिसगतता की विधि ने अपना उच्च स्थान कदापि नही खोया।

श्री हर्ष (ईसवी सन् ११५०) का वेदान्ती द्वन्द्ववाद

श्री हर्ष समवत बारहवी शताब्दी ईसवी के मध्य मे हुए थे। जैसा कि लक्षणावली की पुष्पिका से स्पष्ट है,[1] प्रसिद्ध नैयायिक उदयन दसवी शताब्दी के अन्त

[1] तर्काम्बराक (९०६) प्रमितेष्वतीतेषु शकान्तत ।
वर्षेसूदयनश्चक्रे सुबोधा लक्षणावलीम् ॥
लक्ष ी, पृ० ७२, सुरेन्द्रलाल गोस्वामी का सस्करण, बनारस, १९०० ।

मे हुए थे। श्री हर्ष प्राय उदयन की परिभाषाओ का प्रत्याख्यान करते हैं और अतएव उनका समय उदयन के बाद ही रखना होगा। पुन, मिथिला के प्रसिद्ध तर्क-शास्त्री गगेश ने श्री हर्ष का उल्लेख किया है तथा उनके विचारो का प्रत्याख्यान किया है, चू कि गगेश का समय बारहवी शताब्दी ईसवी मे है अत श्रीहर्ष को इस तिथि के पूर्व रखना होगा। इस प्रकार श्री हर्ष का समय उदयन के पश्चात् तथा गगेश के पूर्व—अर्थात् दसवीं तथा बारहवीं शताब्दी के बीच मे—निश्चित होता है। अपने ग्रन्थ के अन्त मे वे स्वय को कनौज के शासक (कान्यकुब्जेश्वर) द्वारा आदर प्राप्त करता हुआ बताते है। यह सभव है कि यह शासक कनौज का जयचन्द्र रहा हो जो ११९५ ईसवी मे सिंहासनच्युत हुआ था।[1] अपने काव्यग्रन्थ नैषधचरित के विविध अध्यायों के अन्त मे उन्होने स्वरचित् कई ग्रन्थो का उल्लेख किया है **अर्णववर्णन, गौडोर्वीशकुल-प्रशस्ति, नवसाहसाकचरित, विजयप्रशस्ति, शिवशक्तिसिद्धि, स्थैर्यविचारण, छन्द·प्रशस्ति,** तथा **ईश्वराभिसन्धि** एव **पाचनलीय काव्य**[2]। यह तथ्यविशेष कि उनका एक ग्रन्थ गौड-शासको के वश की प्रशस्ति मे लिखा गया है इस सभावना की ओर निर्देश करता है कि वह उन पाच ब्राह्मणो मे से रहे हो जिन्हे ग्यारहवी शताब्दी के प्रथम भाग मे बगाल के आदिशूर द्वारा कनौज से आने के लिए निमन्त्रित किया गया था—जिस दशा मे श्री हर्ष को उस समय रखना होगा तथा ११९५ ईसवी मे सिंहासनच्युत हुए जयचन्द्र के साथ उनका सबध स्थापित नही किया जा सकता। श्री हर्ष का सर्वाधिक महत्व-पूर्ण दार्शनिक योगदान **खण्डनखण्डखाद्य** (शब्दश 'प्रत्याखान के मिष्ठान्न') है जिसमे उन्होने न्यायमत द्वारा अनुभव की कोटियो की यथार्थता को सिद्ध करने के उद्देश्य से प्रस्तुत की गई सभी परिभाषाओ के प्रत्याख्यान का प्रयास किया है और यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की है कि जगत् तथा समस्त जागतिक अनुभव पूर्णतया इन्द्रियविषय है तथा उनके पीछे कोई वास्तविकता नही है। एकमात्र यथार्थ वस्तु सविद् का स्वत प्रकाशमान ब्रह्म है।[3] उनका शास्त्रार्थ न्याय के विरुद्ध है जिसकी यह मान्यता है कि प्रत्येक ज्ञात वस्तु का सुपरिमापित यथार्थ अस्तित्व होता है, तथा श्रीहर्ष का मुख्य प्रयोजन यह सिद्ध करना है कि जो कुछ भी ज्ञात है, वह अपरिभाषेय तथा अयथार्थ है

[1] खण्डनफक्किका नाम से खण्डनखण्डखाद्य के ऊपर लिखी गई अपनी टीका मे आनन्द-पूर्ण ने कान्यकुब्जेश्वर को काशीराज अर्थात् काशी अथवा बनारस के शासक के रूप मे व्याख्यायित किया है।

[2] किन्तु इनमे से कोई भी उपलब्ध नही है।

[3] अपनी पुस्तक के अन्त मे श्री हर्ष ने इसे जान बूझ कर यत्र तत्र जटिल बनाने की बात कही है ताकि कोई बिना गुरु की सहायता के इसकी कठिनाइयो को सरलता से न समझ सके। उन्होने लिखा है

क्योंकि प्रत्येक ज्ञात वस्तु इन्द्रियविषयगत स्वभाव की होती है तथा उसका अस्तित्व केवल आपेक्षिक है जो स्वीकृति, परम्पराओ एव प्रथाओ के व्यावहारिक प्रकारो पर आश्रित होता है। किन्तु, यद्यपि उनका प्रमुख विवाद-विषय न्याय के विरुद्ध है, तथापि नागार्जुन के समान उनकी सभी आलोचनाएँ ध्वसात्मक होने के कारण, कुछ सशोधनो के साथ, उनका उपयोग समानरूपेण किसी भी अन्य दर्शन के विरुद्ध किया जा सकता है। जो किन्ही विधानात्मक परिभाषाओ की स्थापना के उद्देश्य से आलोचना करते हैं वे अन्य दर्शनो की कुछ परिभाषाओं अथवा मतो के विरुद्ध ही आपत्ति करेंगे, किन्तु श्रीहर्ष तथा उच्छेदवादी दोनो की ही रुचि सभी परिभाषाओ के ही प्रत्याख्यान मे है एव इस कारण उनका न्याय अन्य दर्शनो के सभी मतो एव परिभाषाओ के विरोध मे तर्कसिद्ध ठहरेगा।'

वे इस प्रतिज्ञा से प्रारम्भ करते हैं कि हमारी किसी भी चेतना के लिए यह आवश्यक नही है कि उसे और अधिक जाना जाय अथवा यह कि वे ज्ञान की और आगे की क्रिया के विषय हो सकते हैं। वेदान्त तथा विज्ञानवादी बौद्धो के बीच अन्तर इसमे निहित है कि विज्ञानवादी बौद्ध यह मानते है कि सभी कुछ अयथार्थ तथा अनिर्वचनीय है और यहाँतक कि वे सज्ञानो को भी इसका अपवाद नही मानते,

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठितीमास्मिन् खल खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरु श्लथीकृतदृढग्रन्थि समासादयात्
त्वेतत्तर्करसोर्म्मिमज्जन सुखेष्वासजन सज्जन ॥

खण्डरवाद्य, पृ० १३४१, चौखम्बा सस्कृत बुक डिपो, बनारस, १९१४।

इस प्रसिद्ध ग्रन्थ के ऊपर कई टीकाए लिखी गई है, उदाहरणार्थ परमानन्द कृत खण्डनमण्डन, भवनाथ कृत खण्डनमण्डन, रघुनाथशिरोमणि कृत दीधति, वर्धमान कृत , विद्याभरण कृत विद्याभरणी, विद्यासागर कृत विद्यासागरी, पद्मनाभ पण्डित कृत खण्डन-टीका, शकर मिश्र कृत आनन्दवर्धन, शुभकर कृत श्रीदर्पण, चरित्रसिंह कृत खण्डनमहातर्क, प्रगल्भ मिश्र कृत खण्डन-खण्डन, पद्मनाभ कृत शिष्य-हितैषिणी, गोकुलनाथ उपाध्याय कृत खण्डन-कुठार। जैसाकि बगाल के एक परवर्ती वाचस्पति (ईसवी सन् १३५०) की कृति खण्डनोद्धार से प्रमाणित होता है, नैयायिको ने इसके प्रत्याख्यान का कम से कम एक प्रयास किया था।

' श्रीहर्ष ने स्वय ही अपनी तथा नागार्जुन की आलोचनाओ के बीच समानता स्वीकार की है, उन्होने लिखा है 'तथा हि यदि दर्शनेषु शून्यवादा-निर्वचनीयपक्षयोराश्रयण तद तावदमूषा निर्बाधैव सार्वपथीनता' इत्यादि। खण्डन वाद्य, पृ० २२९–२३०, चौखम्ब सस्कृत बुक डिपो, बनारस, १९१४।

जबकि वेदान्त सज्ञानो को अपवाद मानता है और यह मानता है कि, ज्ञान अथवा चेतना को छोडकर, समस्त विश्व सत् अथवा असत् दोनो ही रूपो मे अनिर्वचनीय है (सदसद्भ्याम् विलक्षणम्) और अयथार्थ है।[१] यह अनिर्वचनीयता ससार की सभी वस्तुओ तथा सभी अनुभवो के स्वभाव मे ही है (मेयस्वभावानुगामिन्याम् अनिर्वचनीयता) एव वैदग्ध्य तथा विद्वत्ता का कोई भी परिमाण किसी ऐसी वस्तु की परिभाषा मे सफल नही हो सकता जिसका परिभाषेय स्वरूप अथवा अस्तित्व नही है। श्रीहर्ष यह प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं कि स्वय नैयायिक द्वारा स्वीकृत तार्किक वाद-विवादो तथा परिभाषाओ के अनुसार भी न्याय लेखको द्वारा प्रस्तुत वस्तुओ की परिभाषाए तथा कोटिया निर्बल तथा त्रुटिपूर्ण ठहरती हैं, एव यदि कोई भी परिभाषा नही की जा सकती, तो इससे अनिवार्यत यह व्युत्पन्न होता है कि परिभाषाए की ही नही जा सकती अथवा, दूसरे शब्दो मे, यह कि इन्द्रिय गोचर जगत् की कोई परिभाषा सभव नही है तथा यह कि इन्द्रियगोचर जगत् तथा इससे सबद्ध हमारे समस्त तथाकथित अनुभव अनिर्वचनीय हैं। इस प्रकार, वेदान्ती यह कह सकता है कि जगत् की अयथार्थता सिद्ध होती है। किसी के लिए तर्कों का आश्रय लेकर यथार्थ वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा करना निरर्थक है, क्योकि तर्कों को स्वय उन्ही ग्रन्थो के आधार पर मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है जिन पर कि वे आधारित होते हैं। किन्तु, यदि कोई यह कहे कि श्रीहर्ष के तर्कों के प्रति यही आपत्ति उठाई जा सकती है तथा वे सत्य नही हैं तो इससे उन्ही के विचार का पोषण होता है। क्योकि श्रीहर्ष अपने तर्कों की यथार्थता मे विश्वास नही करते तथा उनकी यथार्थता अथवा अयथार्थता मे किसी पूर्वधारणा के बिना ही उनका व्यवहार करते हैं। यह कहा जा सकता है कि तर्कों की यथार्थता के स्वीकरण के बिना तर्क करना सभव नही है। किन्तु इस यथार्थता का प्रतिष्ठापन प्रमाणो का उपयोग किए बिना नही हो सकता, तथा प्रमाणो के उपयोग के लिए और तर्को की आवश्यकता होगी और पुन इनके लिए प्रमाणो का प्रतिष्ठापन करना होगा—इस प्रकार इस प्रक्रिया का कोई अन्त नही हो सकता। किन्तु, यदि उनकी परिभाषाओ के निरास के उद्देश्य से, प्रतिपक्षियो के शास्त्रो से सगत तर्कों को ही मिथ्या मान लिया जाय तो इसका यह अर्थ होगा कि प्रतिपक्षी स्वय अपने शास्त्रो का तिरस्कार करते हैं, एव परिणामतः उनकी स्थिति का प्रत्याख्यान करने वाले वेदान्ती तर्क प्रभावी होगे। यहाँ वेदान्त की रुचि केवल प्रतिपक्षियो की

[१] विज्ञानवादी बौद्धो से यहा श्रीहर्ष का अभिप्राय लकावतार के विज्ञानवाद से है जिसमे से वे निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं :

बुद्धयाविविच्यमानाना स्वभावो तावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निस्स्वभावाश्च देशिता

लंकावतारसूत्र, पृ० २८७, ओतानी यूनिवर्सिटी प्रेस, १६२३

परिभाषाओं तथा प्रतिज्ञाओं का ध्वंस करना है, और इस प्रकार जबतक कि प्रतिपक्षी वेदान्त के आक्रमणों के विरुद्ध अपनी प्रस्थापनाओं का औचित्य नहीं सिद्ध कर पाते, वेदान्त के मत का प्रत्याख्यान नही होगा। इस प्रकार हमारे अनुभव का विविधपक्षी जगत् अनिर्वचनीय है तथा एक ब्रह्म ही पूर्ण तथा परम सत्य है।

परम एकत्व के सबध मे प्रमाण की जो माग की जा सकती है उसके विषय मे श्रीहर्ष का कहना है कि यह माग ही यह सिद्ध करती है कि परम एकत्व की भावना पहले से ही विद्यमान है क्योंकि यदि इस भावना का ही अस्तित्व नही होता तो कोई इसके प्रमाण की माँग करने के विषय मे सोच ही नही सकता था। अब यह स्वीकार करने पर कि परम एकत्व की भावना अस्तित्व मे है (प्रतीत) यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह प्रतीति यथार्थ ज्ञान (प्रमा) है अथवा मिथ्या ज्ञान (अप्रमा)। यदि यह यथार्थ भावना है तो, इसका स्रोत चाहे जो हो, इस यथार्थ भावना को प्रमाण मानना होगा। यदि इस प्रकार की भावना मिथ्या है, तो वेदान्ती से मिथ्या वस्तु को प्रदर्शित करने के लिए प्रमाणो की माग करना उचित नही होगा। यह तर्क किया जा सकता है कि यद्यपि नैयायिक इसे मिथ्या मानते हैं किन्तु वेदान्ती द्वारा तो इसे सत्य माना जाता है और इस कारण वेदान्ती से यह सिद्ध करने के लिए कहा जा सकता है कि जिस उपाय से अथवा जिन प्रमाणों के माध्यम से उसे यह भावना मिली वह यथार्थ है। किन्तु, इसे वेदान्ती तुरन्त अस्वीकार कर देगा, क्योंकि यद्यपि परम एकत्व की भावना यथार्थ हो सकती है तथापि जिस उपाय विशेष से इस भावना की उपलब्धि हुई वह मिथ्या हो सकता है। पर्वत पर अग्नि हो सकती है, किन्तु फिर भी यदि इस अग्नि के अस्तित्व का अनुमान धूप के रूप मे दिखाई पडने वाले कुहासे के आधार पर किया गया है, तो इस प्रकार का अनुमान मिथ्या होगा, यद्यपि स्वय अग्नि की प्रतीति यथार्थ होगी। प्रतिपक्षियो द्वारा इस प्रकार की मागो की उपयुक्तता की चर्चा को छोडते हुए, वेदान्ती का यह कहना है कि उपनिषद्-ग्रन्थो मे परम सत्ता के परम एकत्व के सत्य को प्रदर्शित किया गया है।

उपनिषद्-ग्रन्थो मे उपदिष्ट सभी वस्तुओं के परम एकत्व का 'विविधता' के हमारे प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा निरास नही होता। क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष एक क्षणविशेष के पृथक् पृथक् वस्तुओ से सबद्ध होता है और इस कारण यह भूत, वर्तमान तथा भविष्य की सभी वस्तुओ पर लागू नही हो सकता और उनके परस्पर पृथक् होने के तथ्य का प्रतिष्ठापन नही कर सकता। प्रत्यक्ष केवल तात्कालिक वर्तमान के अनुभव से सबद्ध होता है और इस कारण उपनिषदो द्वारा उपदिष्ट सभी वस्तुओ के एकत्व के सार्वभौमिक सिद्धान्तवाक्य का प्रत्याख्यान करने मे समर्थ नही है। पुन, जैसाकि श्रीहर्ष कहते है, अनुभव की वस्तुओ के अपने प्रत्यक्ष मे हम प्रत्यक्ष-विषयो तथा अपने बीच स्थित विभेदो को जानते हैं। ज्ञान का आत्म-प्रकाशन भी जगत् की सभी विषयो से अपना विभेद नही प्रदर्शित कर पाता। पुन, दृष्ट विषयो का सभी अन्य वस्तुओ

से विभेद स्वरूप-भेद के रूप में स्वय दृष्ट विषयो के स्वभाव मे, अथवा विभेदित विषयो के स्वभावी के रूप मे, नही प्रकाशित होता—यदि ऐसा होता तो रजत का मिथ्या तथा दोषपूर्ण प्रत्यक्ष उस विषय से (शुक्तिका) से, जिस पर कि मिथ्या रजत का आरोपण होता है, अपने विभेद को तत्काल ही प्रकट कर देता। इस रूप मे श्रीहर्ष ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि वैदिक ग्रन्थो मे प्रतिपादित अद्वैत के आशय का किसी अन्य अधिक पुष्ट प्रमाण द्वारा प्रत्याख्यान नही होता। शाब्दिक स्वरूप वाले इनमे से अधिकांश तर्को को यहा छोड देना उपयुक्त होगा। मुख्य बल इस विचार पर प्रतीत होता है कि दृष्ट वस्तुओ मे स्थित तात्कालिक विभेद न्यूनतम मात्रा मे भी यह प्रस्तावित अथवा निर्दिष्ट नही करते कि वे, तत्वत अथवा अपनी समग्रता मे, वस्तुओ के हमारे प्रगतिशील तथा और विस्तीर्ण ज्ञान के परिणामस्वरूप, परस्पर अभिन्न सत्ता के रूप मे नही ग्रहण किए जा सकते (जैसाकि उपनिषदो मे कहा गया है)। यदि प्रत्यक्ष कुछ सिद्ध नही कर सकता तो केवल अनुमान से उपनिषदो मे उपदिष्ट अद्वैत का समर्थन अथवा प्रत्याख्यान नही हो सकता। इन्द्रियगोचर अनुभव के हमारे विश्व मे हमारे मन सदैव विभेद की अवधारणा से प्रभावित होते हैं, किन्तु श्रीहर्ष का कहना है कि किसी विचार का अस्तित्व मात्र उसकी यथार्थता को नही सिद्ध करता। शब्द सर्वथा अस्तित्वहीन वस्तुओ से सबद्ध विचारो को उत्पन्न कर सकते हैं।

पुन, 'विभेद' की अवधारणा की परिभाषा असभव सी है। यदि यह भिन्न होने वाली वस्तुओ के मूल स्वभाव मे ही स्थित है तो विभेद भिन्न होने वाली वस्तुओ के स्वभाव से अभिन्न होगा। यदि विभेद भिन्न होने वाली वस्तुओ से पृथक् है तो 'विभेद' तथा भिन्न होने वाली वस्तुओ के बीच के सबध को प्रतिष्ठित करने का कोई उपाय ढूँढना होगा, और इसके लिए किसी अन्य सबध की आवश्यकता हो सकती है, और उसके लिए किसी अन्य की, और इस प्रकार हमें एक असमाप्य शृंखला प्राप्त होगी। उनका कहना है कि 'विभेद' को कई सभव दृष्टिकोणो से देखा जा सकता। प्रथम, 'विभेद' को वस्तुओ के स्वभाव वाला माना जाता है। किन्तु, भिन्न होने वाली वस्तुओ के स्वभाव वाले 'विभेद' को सभी को एक मे सन्निविष्ट करना चाहिए, क्योकि जिन वस्तुओ से विभेद है, उनके उद्धरण के बिना कोई विभेद नही हो सकता। यदि 'पुस्तक' से हम मेज से इसका विभेद समझते हैं, तो मेज को पुस्तक के स्वभाव मे प्रविष्ट होना होगा एव इसका अर्थ होगा मेज तथा पुस्तक की अभिन्नता। विभेद को वस्तु के रूप में कहने का कोई अर्थ नही है जबकि इस प्रकार के विभेदो का अन्य वस्तुओ के उद्धरण द्वारा केवल निर्धारण हो सकता है। कोई वस्तु, उदाहरण के लिए पुस्तक, मेज से भिन्न के रूप मे ही समझी जाती है—यहा विभेद के स्वभाव का विवेचन 'मेज से भिन्न होने के गुण' के रूप मे किया जा सकता है, किन्तु 'भिन्न होने के गुण' का कोई अर्थ अथवा आधार नही होगा जबतक कि 'मेज' को भी इसके साथ न लिया जाय। यदि कोई यह कहे कि पुस्तक 'से भिन्न होने के गुण' से अभिन्न है तो यह सदैव पुस्तक के

स्वभाव मे 'मेज' को भी सन्निविष्ट करेगा क्योंकि 'मेज' 'से भिन्न होने' के जटिल गुण का एक घटक है जिसका अर्थ अनिवार्यतः 'मेज से भिन्न होना' होता है। इस प्रकार इस विचार के अनुसार भी 'मेज' तथा पुस्तक से पृथक् की जा सकने वाली अन्य सभी वस्तुएँ सभी वस्तुओं के स्वभाव मे ही निहित होती हैं—यह एक ऐसा निष्कर्ष है जो विभेद की अवधारणा का ही प्रत्याख्यान करता है। यह भी इंगित किया जा सकता है कि विभेद की अवधारणा वस्तुओं—जिस रूप में उन्हे देखा अथवा समझा जाता है—की अवधारणा के सर्वथा बाहर है। स्वयं 'विभेद' की अवधारणा पुस्तक तथा मेज—चाहे इन्हे साथ-साथ अथवा पृथक्-पृथक् लिया जाय—की अवधारणा से भिन्न है। पुस्तक तथा मेज का सम्मिलित विचार 'पुस्तक मेज मे भिन्न है' इस विचार से भिन्न है। पुस्तक का स्वभाव समझने के लिए यह आवश्यक नही है कि पहले मेज से इसका विभेद समझा जाय। अपरञ्च यदि विभेद के विचार को किसी अर्थ मे विशिष्ट वस्तुओं के वोध तक ले जाने वाला भी कहा जाय तो इस प्रकार की विशिष्ट वस्तुओं का वोध अपने साथ इस विचार को नही लेकर चलता कि इस प्रकार के विभेद के कारण ही विशिष्ट वस्तुएं देखी जाती हैं। दो वस्तुओं की समानता अथवा सदृशता के माध्यम से—उदाहरण के लिए, जगली गाय (गवय) तथा पालतू गाय (गो) मे—कोई व्यक्ति जगली गाय को पशु के रूप मे पहचान सकता है, तथापि, जब वह किसी पशु को जगली गाय समझता है तो वह सदैव इस पशु को गाय से सदृशता के कारण ही जगली गाय नही समझता। किसी पशु को गाय अथवा जगली गाय समझने का मानसिक निर्णय उसके उत्पादक कारण की प्रत्यक्ष सहभागिता के विना ही तुरन्त उत्पन्न होता है। इस प्रकार, विभिन्न विशिष्ट वस्तुओं के हमारे वोध के लिए विभेद के विचार को उत्तरदायी स्वीकार करने पर भी, किसी विशिष्ट वस्तु का वोध विभेद की किसी अवधारणा को एक घटक के रूप मे नही सन्निविष्ट करता। अतएव यह सोचना गलत है कि वस्तुएं विभेद के स्वभाव की होती है।

एक अन्य विचार मे, जिसमे विभेद की व्याख्या 'मानसिक प्रत्याख्यान' अथवा 'अनन्यता' (अन्योन्याभाव) के रूप मे की जाती है, इस अनन्यता (उदाहरणार्थ, पुस्तक की मेज से) को एक की दूसरे से एकात्मकता के प्रत्याख्यान के रूप मे व्याख्यायित किया जाता है। जब हम यह कहते हैं कि पुस्तक मेज से भिन्न है, तो इसका अर्थ पुस्तक की मेज से एकात्मकता का प्रत्याख्यान होता है। श्रीहर्ष यहाँ यह आपत्ति उठाते हैं कि यदि पुस्तक की मेज से एकात्मकता, शश-शृंग के समान, सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है, तो एकात्मकता का इस प्रकार का प्रत्याख्यान सर्वथा अर्थहीन होगा। पुनः, यह नही प्रस्तावित किया जा सकता कि इस मानसिक प्रत्याख्यान, अथवा अनन्यता के रूप मे प्रत्याख्यान का अर्थ किसी अन्य के प्रसग मे (उदाहरणार्थ, मेज पर रखी किसी पुस्तक का) एक जाति-प्रत्यय का प्रत्याख्यान होता है, क्योंकि इन जाति-प्रत्ययो मे कोई ऐसा विशेष धर्म नही होता जिनसे एक मे दूसरे का प्रत्याख्यान अथवा दूसरे से

विभेद किया जा सके, क्योकि नैयायिक, जिनके विरुद्ध श्रीहर्ष के तर्क उद्दिष्ट हैं, यह नही स्वीकार करते कि जाति-प्रत्ययो मे कोई विभेदक गुण होते हैं। इस प्रकार के विभेदक गुणो के अभाव मे उन्हे अभिन्न समझा जा सकता है किन्तु उस दशा मे एक जाति-प्रत्यय (उदाहरणार्थ मेज) का अस्वीकरण उस वस्तु के ही (उदाहरणार्थ, पुस्तक) जाति-प्रत्यय का प्रत्याख्यान सन्निविष्ट करेगा क्योकि कोई विभेदक गुण न रखने के कारण पुस्तक तथा मेज के जाति-प्रत्यय अभिन्न है, अपरच, मानसिक प्रत्याख्यान द्वारा पुस्तक तथा मेज दोनो ही पुस्तक तथा मेज के जाति-प्रत्ययो से विहीन होगे और इस प्रकार एक को दूसरे से, पुस्तक को मेज से, भिन्न कर सकने का कोई उपाय नही रह जाएगा। पुन, यदि विभेद को विरोधी गुणो (वैधर्म्य) का होना माना जाय तो भी यह पूछा जा सकता है कि क्या विरोधी गुणो मे पारस्परिक भिन्नता लाने के लिए और भी विरोधी गुण है तथा इनमे क्या और भी विरोधी गुण हैं, और इस प्रकार इस प्रक्रिया का कोई अन्त नही, यदि इन्हे किसी एक बिन्दु पर समाप्त हुआ मान लिया जाय तो, उन्हे पृथक् करने वाले और विरोधी गुणो के न होने से, उस अवस्था के अन्तिम गुण अभिन्न होगे, और इस प्रकार पीछे की ओर उन्मुख शृंखला मे सभी विरोधी गुण अर्थहीन ठहरेंगे और सभी वस्तुए अभिन्न होगी। यदि इसके विपरीत प्रथम अवस्था मे ही यह स्वीकार कर लिया जाय कि विरोधी अथवा पृथक् गुणो मे परस्पर पृथक्ता लाने वाले भिन्न गुण नही होते तो गुण अभिन्न होगे। पुन यह पूछा जा सकता है कि ये विभेदक गुण स्वय उनको धारण करने वाली वस्तुओ से भिन्न होते हैं अथवा नही। यदि वे भिन्न हैं तो पुन इस विभेद तक ले जाने वाले विरोधी गुणो के विषय मे और पुन इनके अन्य विरोधी गुणो के विषय मे पूछा जा सकता है और वह प्रक्रिया बढती जाएगी। इन अनन्त विरोधो की सत्यता तभी प्रतिष्ठित हो सकती है जबकि इनकी प्राप्ति अनन्त समय से कम मे न मानी जाय जबकि विषय समय मे सीमित होता है। यदि, पुन, ये सभी एक साथ आए तो इन अनन्त विरोधो का ऐसा अव्यवस्थित गोलमाल होगा कि उनके पृथक्-पृथक् आधारपदार्थो तथा एक दूसरे के ऊपर उनकी व्यवस्थापूर्ण अनुक्रमिक निर्भरता को निर्धारित करने का कोई उपाय नही रह जाएगा। तथा, चूँकि शृंखला के पूर्व पदो की प्रतिष्ठा विभेद की अपर पदो की प्रतिष्ठा द्वारा ही हो सकती है, विभेद के पूर्व पदो के समर्थन मे, विभेद के अपर पदो के खोज की अग्रगामी गति विभेद के इन पूर्व पदो को अनावश्यक बना देती हैं।[1]

[1] प्रथम भेदास्वीकारप्रयोजनस्य भेदव्यवहारादेर्द्वितीयभेदादेव सिद्धे प्रथमभेदो। व्यर्थ स्यादेव, द्वितीय भेदादिप्रयोजनस्य तृतीयभेदादिनैव सिद्धे सोऽपि व्यर्थ स्यात्।

खण्डनखण्डखाद्य पर विद्यासागरी, पृ० २०६। चौखम्बा सस्कृत बुक डिपो, बनारस, १९१४।

अतएव, यह नही कहा जा सकता कि विभेदो के हमारे प्रत्यक्ष मे कोई एसी अन्तर्भूत प्रामाणिकता है कि यह उपनिषदो मे उपदिष्ट एकात्मकता का प्रत्याख्यान कर सके। श्रीहर्ष यह नही अस्वीकार करते कि हम सभी वस्तुओ मे प्रतीत विभेदो को देखते हैं, किन्तु वह, उन्हे अविद्या से उत्पन्न मानने के कारण, उनकी अन्तिम प्रामाणिकता को अस्वीकरण करते हैं।[1]

श्रीहर्ष के द्वन्द्ववाद की प्रमुख विधा इस धारणा पर आधारित है कि परिभाषित की जाने वाली वस्तुओ की यथार्थता परिभाषाओ के दोषविहीन स्वभाव पर निर्भर करती है, किन्तु एक चक्र मे तर्क के मिथ्यात्व को सन्निविष्ट करने के कारण सभी परिभाषाए दोषपूर्ण होती है और इस कारण वस्तुओ के यथार्थ स्वभाव को प्रदर्शित अथवा परिभाषित करने का कोई उपाय नही है। हमारे अनुभव का जगत् ज्ञात तथा ज्ञान मे निहित होता है ज्ञाता के ज्ञान के स्वामी के रूप मे परिभाषित करने पर ज्ञान का बोध ज्ञाता के उद्धरण से ही सभव है, पुनः ज्ञात का बोध ज्ञान तथा ज्ञाता के उद्धरण से ही समव है, और इस प्रकार आपेक्षिकता का एक चक्र है जिसके कारण इनमे से किसी वस्तु की स्वतत्र परिभाषा प्रदान करने का प्रयास व्यर्थ हो जाता है। मुख्यत यह आपेक्षिकता ही विशिष्ट रूपो मे सभी कोटियो की परिभाषा के सभी प्रयास व्यर्थ कर देती है।

विभिन्न कोटियों तथा प्रत्ययों के प्रति द्वन्द्ववाद का व्यवहार

श्रीहर्ष अपनी आलोचना के लिए सर्वप्रथम सम्यक् सज्ञान की परिभाषाओ को लेते हैं। सम्यक् सज्ञान की परिभाषा को वस्तुओ के यथार्थ स्वभाव का प्रत्यक्ष बोध मानते हुए, वे सर्वप्रथम यह आग्रह करते हैं कि इस प्रकार की परिभाषा दोषपूर्ण है क्योकि यदि कोई आवरण के पीछे छिपी तथा अदृष्ट किन्ही वस्तुओ को सयोग से ठीक अनुमान कर लेता है अथवा दोषपूर्ण आधार-सामग्री के आधार पर अथवा दोषपूर्ण विधाओ के द्वारा सही अनुमान कर लेता है तो इसे सम्यक् सज्ञान नही कहा जा सकता।[2] यह आग्रह किया गया है कि प्रामाणिक होने के लिए सज्ञान का दोषविहीन

---

[1] न वय भेदस्य सर्वथैवासत्त्वम् अभ्युपगच्छामः किं नाम न पारमार्थिक सत्व, अविद्याविद्यमानत्व तु तदीयमिष्यत एव। खण्डनखण्डखाद्य, पृ० २१४।

[2] उदाहरण के लिए, जब कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की मुट्ठी मे छिपी कौडियो का सही सही अनुमान कर लेता है अथवा जब कुहासे को धुआ समझ कर कोई पर्वत पर अग्नि होने का गलत अनुमान करता है तथा सयोग से पर्वत पर अग्नि होती है—तक उसका निर्णय सही हो सकता है यद्यपि उसका अनुमान अशुद्ध हो सकता है।

उपकरणो द्वारा उत्पन्न होना आवश्यक है, किन्तु, यहा पर सयोगात्मक अनुमानो का दृष्टान्त है जो इन्द्रियो के दोषविहीन उपकरणो द्वारा उत्पन्न न होने पर भी कभी कभी ठीक हो सकते हैं। न ही बोध की अपने विषय के साथ सगति ही (यथार्थानुभव. प्रमा) सम्यक् सज्ञान की सही परिभाषा मानी जा सकती है। इस प्रकार की सगति को या तो इस अर्थ मे परिभाषित किया जा सकता है कि वह स्वय विषय की यथार्थता का प्रतिनिधित्व करती है अथवा इस अर्थ मे कि यह विषय की सदृशता का प्रतिनिधित्व करती है। किसी भी विषय का यथार्थ स्वभाव अनिर्वचनीय है, और इस कारण विषय के साथ ज्ञान की सगति को प्रथम की अपर के साथ सदृशता के रूप मे व्याख्यायित करना अधिक उपयुक्त होगा।

यदि इस सदृशता का यह अर्थ है कि ज्ञान मे विषय द्वारा अधिगत स्वभाव विद्यमान हो (ज्ञानविषयीकृतेन रूपेण सादृश्यम्), तो यह स्पष्टत असभव है, क्योकि विषय के गुण ज्ञान मे नही हो सकते–दो सफेद तथा कडी गोलियो का ज्ञान हो सकता है किन्तु ज्ञान न तो दो है, न सफेद और न कडा।[1] यह कहा जा सकता है कि सगति इसमे निहित होती है, कि सफेदपन इत्यादि विषय में इसके द्वारा अधिगत गुणो के रूप मे होते हैं जबकि ज्ञान मे ये इसके द्वारा प्रकाशित गुणो के रूप मे होते हैं।[2] किन्तु, यह शुक्तिका मे रजत के मिथ्या प्रत्यक्ष के दृष्यन्त मे ठीक नही बैठेगा। 'मेरे सामने रजत' के प्रत्यक्ष मे 'मेरे सामने' के ज्ञान को सम्यक् सज्ञान के रूप मे स्वीकार करना होगा। यदि इसे सम्यक् सज्ञान स्वीकार किया जाता है तो सम्यक् सज्ञान को यथार्थ आनुरूप्य के रूप मे व्याख्यायित करना अर्थहीन था, इसे केवल सज्ञान के रूप मे ही परिभाषित किया जा सकता था क्योकि सभी सज्ञान का कोई न कोई विषय होगा और जहातक केवल इसका सबध है सभी सज्ञान प्रामाणिक होगे। किन्तु, यदि विचार तथा विषय की सपूर्ण सगति का आग्रह किया जाय तब ऊपर के समान आशिक सगति को सतोषपूर्ण नही माना जा सकता। किन्तु यदि सपूर्ण सगति को अपरिहार्य माना जाय तब आशिक सगति की शुद्धता का ध्यान छोड देना होगा, जबकि नैयायिक यह स्वीकार करते हैं कि जहांतक किसी विषय के उद्धरण का प्रश्न है, सभी सज्ञान प्रामाणिक हैं, जब हम विषय के स्वभाव की सगति तथा विषय के ज्ञान द्वारा विशेपित स्वभाव पर विचार कर रहे हैं, उस समय केवल सज्ञान के स्वभाव के ऊपर विवाद हो सकता है कि यह शुद्ध है अथवा अशुद्ध। यदि विषय के साथ सपूर्ण सगति

[1] द्वौ घटौ शुक्लविरत्यत्र रूपसख्यादिसमवायित्व। न ज्ञानस्य गुणत्वाद् अत' प्रकाशमान-रूपेण अर्थसादृश्य ज्ञानस्य नास्ति-अस्ति च तस्य ज्ञानस्ये तत्र घटयो' प्रमात्वम्। खण्डन पर विद्यासागरी, पृ० ३९८।

[2] अर्थस्य हि यथा समवायाद् रूप विशेपणीभवति तथा विपयभावाज्ज्ञानस्यापि तद्वि-शेपणन् भवत्येव। खण्डन, पृ० ३९९।

नही सुनिश्चित होती तब, वाधक परिस्थितियो के कारण, अशुद्ध अथवा आशिक असगति के साथ किसी विषय के सज्ञान को मिथ्या मानकर तिरस्कृत कर देना होगा। पुन, चूँकि सगति सदैव वस्तु के स्वभाव, स्वरूप अथवा आविर्भाव का निर्देश करती है, उन विपयो—जिन्हे ये स्वभाव सवद्ध माने जाते हैं—के प्रसग मे हमारे सभी अभिवचन मिथ्या होंगे।

सम्यक् सज्ञान की उदयन की परिभाषा को 'सम्यक् परिच्छित्ति' अथवा उचित अववोध के रूप मे उल्लेख करते हुए, श्रीहर्ष कहते हैं कि 'सम्यक्' शब्द अर्थहीन है, क्योकि यदि सम्यक् का अर्थ सपूर्ण है तो परिभाषा का कोई प्रयोजन नही रहता क्योकि किसी वस्तु के सभी दृष्ट तथा अदृष्ट घटक अशो को देखना असभव है एव एक सर्वज्ञ के अतिरिक्त कोई भी किसी वस्तु को अपने सभी स्वभावो, तत्वो तथा गुणो के साथ नही देख सकता। यदि सम्यक् वोध का अर्थ किसी विपय का अपने सभी विभेदक विशेषताओ के साथ वोध है तो यह भी अवोधगम्य है, क्योकि अशुद्ध सज्ञान—उदाहरणार्थ, शुक्तिका को रजत समझना—देखने वाला शुक्तिका मे रजत के विभेदक गुणो को देखता है। सारी वात निर्णय की इस कठिनाई मे निहित है कि दृश्यमान विभेदक लक्षण यथार्थ हैं अथवा नही और इसे निश्चित करने का कोई उपाय नही है। पुन यदि विभेदक लक्षणो का उन विशेषताओ के रूप मे वर्णन किया जाय जिनके प्रत्यक्ष के विना निश्चित ज्ञान सभव ही नही है तथा जिनका प्रत्यक्ष सम्यक् सज्ञान को सुनिश्चित वनाता है, तव यह कहा जा सकता है कि किसी ऐसे सज्ञान, जिसकी शुद्धता के विषय मे कोई पूर्ण निश्चित हो सकता है, के किसी लक्षण की खोज असभव है। एक स्वप्न देखने वाला सभी प्रकार के स्वभावो तथा प्रकटनो मे भ्रान्तमति होता है तथा सभी को यथार्थ मानता है। यह आग्रह किया जा सकता है कि शुद्ध प्रत्यक्ष मे—जैसा कि रजत के शुद्ध प्रत्यक्ष मे—विपय को अपने विशेप विभेदक लक्षणो के साथ देखा जाता है जवकि शुक्तिका मे रजत के अशुद्ध प्रत्यक्ष मे इस प्रकार के विभेदक लक्षण नही देखे जाते। किन्तु, इस दृष्टान्त मे भी विभेदक लक्षणो के मूल स्वभाव को परिभाषित करना कठिन होगा, क्योकि यदि किसी प्रकार का विभेदक लक्षण पर्याप्त होता तो शुक्तिका मे रजत के मिथ्या प्रत्यक्ष के दृष्टान्त मे भी आँखो के सामने होने वाला विभेदक लक्षण शुक्तिका मे भी विद्यमान होता है। यदि सभी विशिष्ट विभेदक लक्षणो पर आग्रह किया जाय तो अनन्त विभेदक लक्षण होंगे एव कोई ऐसी परिभाषा बना सकना असम्भव होगा जो सबको समाविष्ट कर सके। किसी पूर्ववर्ती अशुद्ध सज्ञान का प्रत्याख्यान करने वाले सज्ञान की निश्चितता के प्रति वही आपत्ति उठायी जा सकती है जो कि स्वय अशुद्ध सज्ञान पर होती है क्योंकि इसकी प्रामाणिकता को प्रतिष्ठित कर सकने मे समर्थ, विशिष्ट विभेदक लक्षणो के स्वभाव का सम्यक् ज्ञान भी किसी परिभाषा द्वारा नहीं प्रतिष्ठित किया जा सकता।

सम्यक् सज्ञान की 'जो अशुद्ध अथवा त्रुटिपूर्ण नही है' ऐसा बोध (अव्यभिचारी अनुभव इस रूप मे की जाने वाली परिभाषा के विरुद्ध तर्क करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि 'जो अशुद्ध नही है' अथवा 'जो त्रुटिपूर्ण नही है' का यह अर्थ नही हो सकता कि सज्ञान का अस्तित्व उसी समय होगा जबकि विषय का अस्तित्व होगा, क्योकि तब अनुमानात्मक सज्ञान जो प्राय अतीत कालिक अथवा भावी वस्तुओ का निर्देश करता है, मिथ्या होगा। न ही इसका अर्थ हो सकता है कि सज्ञान का देश काल मे अपने विषयो के साथ सहास्तित्व होता है, न ही इसका यह अर्थ हो सकता हैं कि सम्यक् सज्ञान सभी रूपो मे अपने विषय के समान होता है क्योकि सज्ञान स्वभाव मे अपने विषय से इतना भिन्न होता है कि किसी ऐसे दृष्टान्त का होना सभव नही है जिसमे यह सभी रूपो मे उसके सदृश होगा। तथा, यदि ज्ञान तथा इसके विषय की एकात्मकता के विचार को स्वीकार किया जाय तब यह उन दृष्टान्तो पर भी लागू होगा जहाँ एक विषय कोई गलती से अन्य के रूप मे देखा जाता है, और इस कारण 'अव्यभिचारी शब्द सम्यक् ज्ञान को अशुद्ध सज्ञान से विभेदित करने के लिए पर्याप्त नही है।

'ऐसा बोध जो ज्ञात विषय से असगत नहीं है (अविसवादि)' के रूप मे सम्यक् सज्ञान की बौद्ध परिभाषा के विरुद्ध तर्क करते हुए, श्री हर्ष अशुद्ध ज्ञान का निर्धारण करने वाले विषय के साथ सज्ञान की असगतता के सभी सभावित अर्थों मे इस परिभाषा के प्रत्याख्यान का प्रयास करते हैं। यदि परिभाषा को सम्यक् सज्ञान को ऐसे सज्ञान में प्रतिबद्ध करने वाला माना जाता है जिसका ज्ञान अपने विषय के साथ सहमति रखने वाले के रूप मे एक अन्य सज्ञान द्वारा होता है, तब—बहुसख्यक क्षणो मे अनुक्रमिक रूपेण पुनरावृत्त तथा सभी अनुक्रमिक क्षणो मे, जबतक कि इसका प्रत्याख्यान नही होता, अपने विपय के साथ सम्मत रूप मे प्राप्त—एक अशुद्ध सज्ञान को भी सम्यक् मानना होगा क्योकि इस दृष्टान्त मे पूर्ववर्ती सज्ञान अनुवर्ती क्षणो के सज्ञान द्वारा प्रमाणित होता है। पुन , यदि सम्यक् सज्ञान को ऐसे सज्ञान के रूप मे परिभाषित किया जाय, अपने विषय के साथ जिसकी असगति का प्रत्यक्षीकरण किसी अन्य सज्ञान द्वारा नही होता, तव भी इसमे कई कठिनाइयाँ शेष रहती है। क्योकि अशुद्ध सज्ञान भी कुछ समय तक किसी अन्य सज्ञान द्वारा अखण्डित रह सकते हैं। अपरच,\ सामान्य दृष्टि द्वारा शुक्तिका का सफेद के रूप मे दर्शन के बाद मे किसी पाण्डुरोगग्रस्त दृष्टि के पीले के रूप मे दर्शन द्वारा खण्डन हो सकता है। यदि यह आग्रह किया जाता है कि खण्डन एक त्रुटिविहीन परवर्ती सज्ञान द्वारा होना चाहिए, तब यह कहा जा सकता है कि यदि त्रुटिविहीन सज्ञान को परिभापित करने का कोई उपाय होता तब सम्यक् सज्ञान की परिभापा वडी सरल होती। इसके विपरीत, सम्यक् सज्ञान की ठीक परिभापा के विना त्रुटिपूर्ण अथवा अशुद्ध सज्ञान की वात करने का कोई अर्थ नही है। यदि सम्यक् सज्ञान को कारणात्मक सामर्थ्य से सपन्न सज्ञान के रूप मे परिभापित किया जाय तो वस्तुत यह भी ठीक परिभापा नही है, क्योकि सर्प के अशुद्ध सज्ञान से भी

भय की उत्पत्ति तथा यहां तक कि मृत्यु भी हो सकती है। यदि यह आग्रह किया जाता है कि कारणात्मक सामर्थ्य का सपादन विषय द्वारा उसी रूप मे होना चाहिए जिस रूप मे यह देखा जाता है, तो इसे अभिनिश्चित करना अत्यन्त कठिन है, तथा कारणात्मक सामर्थ्य का भी मिथ्या सज्ञान हो सकता है, अतएव, कारणात्मक सामर्थ्य के आधार पर सम्यक् सज्ञान के स्वभाव को अभिनिश्चित करना अत्यन्त कठिन होगा। श्रीहर्ष पुन यह कहते हैं कि समानरूपेण विषय की प्राप्ति कराने वाले के रूप मे (अर्थ प्रापकत्व) सम्यक् सज्ञान की धर्म कीर्ति की परिभाषा भी अबोधगम्य है क्योकि यह निश्चित कर सकना कठिन है कि कौन सा विषय प्राप्य है तथा कौन सा नही, तथा यह विचार, कि वस्तु उस रूप मे प्राप्य है जिस रूप मे यह देखी जाती है, शुक्तिका मे रजत के मिथ्या प्रत्यक्ष के दृष्टान्त मे भी विद्यमान रह सकता है। यदि सम्यक् सज्ञान को ऐसे सज्ञान के रूप मे परिभाषित किया जाता है जिसका कि खण्डन नही होता तब यह पूछा जा सकता है कि क्या खण्डन का अभाव केवल प्रत्यक्ष के समय होता है जिस दशा मे शुक्तिका में रजत का मिथ्या प्रत्यक्ष भी सम्यक् सज्ञान होगा क्योकि यह कम से कम भ्रम की उत्पत्ति के समय खण्डित नहीं होता। यदि यह आग्रह किया जाता है कि सम्यक् सज्ञान ऐसा सज्ञान है जिसका कभी खडन नही होता तब हम किसी सज्ञान की शुद्धता के निश्चयात्मक कथन की स्थिति मे नही रहते, क्योकि इसका निश्चित होना असभव है कि कोई विशेष सज्ञान कभी भी किसी भी समय खण्डित नही होगा।

यह प्रदर्शित करने के बाद कि सम्यक् सज्ञान (प्रमा) को परिभाषित करना असभव है, श्रीहर्ष यह प्रदर्शित करने का प्रयास करते है कि सज्ञान के उपकरणो (प्रमाण) की अवधारणा मे सन्निविष्ट के रूप मे उपकरणो (करण) की अवधारणा अथवा उनके व्यापार को परिभाषित करना असभव है। श्रीहर्ष यह प्रदर्शित करने का प्रयास करते है कि कर्ता के रूप मे करणत्व को अपना स्वतत्र अस्तित्व रखने वाले के रूप मे पृथक् रूप से नही उपकल्पित किया जा सकता क्योकि इसके पृथक् अस्तित्व को निर्धारित करना कठिन है। श्रीहर्ष ने इस विवेचन को जिस रूप मे प्रस्तुत किया है उसकी सूक्ष्मताओ मे जाना एक लम्बी कथा होगी एव हमारे वर्तमान प्रयोजनो के लिए केवल यह जानना पर्याप्त है कि श्रीहर्ष ने एक पृथक् कर्त्ता के रूप मे 'करणत्व' के प्रत्यय का—इसके लोकप्रिय रुप तथा जिस रूप मे यह सस्कृत व्याकरण मे उपकल्पित हुआ है, दोनो मे—प्रत्याख्यान किया है। उन्होने 'करण' के प्रत्यय के प्रति सलग्न किए जा सकने वाले विभिन्न वैकल्पिक अर्थो की भी चर्चा की है और यह दिखाया है कि इनमे से किसी भी अर्थ का सतोषपूर्ण ढग से औचित्य-स्थापन नहीं किया जा सकता।[1]

[1] कई अन्य परिभाषाओ मे श्रीहर्ष ने उद्योतकर द्वारा दी गई 'करण' की परिभाषा का भी प्रत्याख्यान किया है—'यद्वानेव करोति तत् करणम्'। —खण्डन, पृ० ५०६।

प्रत्यक्ष की परिभाषा का प्रत्याख्यान करने मे वह प्रत्यक्ष की सम्यक् ज्ञान के उपादान के रूप मे परिभाषा करने की निरर्थकता का प्रदर्शन करने वाली एक विस्तृत चर्चा प्रस्तुत करते हैं। न्याय मे प्रत्यक्ष को एक ऐसे सज्ञान के रूप मे परिभाषित किया गया है जो किसी इन्द्रियविशेष के अपने विषय के साथ ससर्ग के कारण उत्पन्न होता है, किन्तु यह जानना असभव है कि क्या कोई सज्ञान इन्द्रिय-ससर्ग से उत्पन्न हुआ है क्योकि इन्द्रिय-ससर्ग से ज्ञान की उत्पत्ति का तथ्य किसी अन्य उपाय द्वारा नही देखा अथवा जाना जा सकता। चूँकि प्रत्यक्ष मे इन्द्रियाँ एक ओर आत्मा के ससर्ग मे और दूसरी ओर बाह्य विषयो के ससर्ग मे रहती हैं, श्रीहर्ष विविध तर्कों द्वारा यह आग्रह करते हैं कि जब तक कि प्रत्येक दृष्टान्त मे उस विषय विशेष, जिसके ससर्ग मे इन्द्रिय है, का उल्लेख नही किया जाता, प्रत्यक्ष की कोई ऐसी परिभाषा प्रदान कर सकना कठिन होगा कि यह केवल बाह्य विषय के प्रकाशन को ही उपलक्षित करे, आत्मा को नही जो कि इन्द्रिय के उतने ही ससर्ग मे है जितना कि विषय। पुन, प्रत्येक प्रत्यक्ष मे विषय का सविशेष उल्लेख उसे विशिष्ट बना देगा और इससे परिभाषा, जिसका कि केवल सम्बन्ध प्रत्ययो के प्रति व्यवहार होता है, के प्रयोजन का ही निरास होगा। तात्कालिकता के रूप मे प्रत्यक्ष की एक सभव परिभाषा के विरुद्ध तर्क करते हुए श्रीहर्ष यह उपकल्पित करते हैं कि यदि प्रत्यक्ष विषय के, इसके नित्य लक्षण के रूप मे, किसी विशेष गुण का प्रकाशन करता है तब, ताकि इस गुण का अभिज्ञान हो सके, वहाँ एक अन्य लक्षण की आवश्यकता होगी, और यह एक अन्य लक्षण को अग्रकल्पित करेगा, और इस प्रकार एक असमाप्य शृ खला चलेगी, और यदि इस असमाप्य शृ खला की किसी अवस्था मे यह मान लिया जाता है कि अब आगे किसी लक्षण की आवश्यकता नही है तब, जब तक कि प्रत्यक्ष की सभावना का भी निरास न कर दिया जाय, इसमे पूर्ववर्ती निर्धारक लक्षणो की उपेक्षा समाविष्ट होती है। यदि इस तात्कालिकता को इन्द्रियो के कारणत्व द्वारा उत्पादित सज्ञान के रूप मे परिभाषित किया जाय तो, पुन, यह अबोधगम्य है, क्योकि इन्द्रियो का करणत्व अबोध्य है। श्रीहर्ष प्रत्यक्ष के विभिन्न वैकल्पिक परिभाषाओ को लेते हैं एव सभी का न्यूनाधिक समान रूप मे —मुख्यत परिभाषाओ के निर्माण मे शाब्दिक त्रुटियो को प्रदर्शित करते हुए—खण्डन करने का प्रयास करते हैं।

श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य के टीकाकार चित्सुख आचार्य प्रत्यक्ष की परिभाषा का अपेक्षाकृत अत्यधिक सक्षिप्त रूप मे प्रत्याख्यान-प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि अक्षपाद द्वारा विषय के साथ इन्द्रिय-ससर्ग से उत्पन्न होने वाले अखण्डित सज्ञान के रूप मे प्रत्यक्ष की परिभाषा अबोध्य है। हम यह कैसे जान सकते हैं कि सज्ञान का खण्डन नहीं होगा ? इसे सस्थित परिस्थितियो की त्रुटिविहीनता के ज्ञान से नही जाना जा सकता क्योकि त्रुटिविहीनता को तभी जाना जा सकता है जब कि कोई असगति न हो और इस कारण त्रुटिविहीनता को पहले से अथवा स्वतत्रत नही जाना जा सकता,

तथा सस्थित परिस्थितिया मे वहुतेरे अदृश्य तत्व होगे। यह कहना भी असभव है कि कोई अनुभव सर्वदा के लिए अखण्डित रहेगा। न ही यह आग्रह किया जा सकता है कि सम्यक् सज्ञान वह है जो द्रष्टा द्वारा कोई प्रयास (प्रवृत्ति-सामर्थ्य) उत्पन्न कर सके, क्योकि भ्रामक ज्ञान भी, इसके द्वारा भ्रमित, व द्रष्टा मे एक प्रयास की उत्पत्ति कर सकता है। परिणाम की उपलब्धिमात्र सज्ञान की शुद्धता की कसौटी नही है, क्योकि कोई व्यक्ति मणि की प्रभा को देख सकता है और इसे मणि सोच सकता है और वस्तुतः मणि को पा सकता है, तथापि इसमे सदेह नही किया जा सकता कि मणि की किरण का मणि के रूप मे उसका बोध त्रुटिपूर्ण था।[1] तारको तथा ग्रहो के प्रत्यक्ष के दृष्टान्त मे इन वस्तुओ की किसी वास्तविक उपलब्धि की कोई सभावना नही होती, तथापि सज्ञानो की प्रामाणिकता के अस्वीकरण का कोई कारण नही है।

लिगपरामर्श अथवा 'पक्ष' (उदाहरण के लिए पर्वत) 'लिंग' (उदाहरण के लिए धूम), जो कि साध्य (उदाहरण के लिए अग्नि) के साथ सदैव सदास्तित्वमान होता है, के अस्तित्व की सिद्धि के रूप मे, अथवा लिंग के साध्य (उदारहणार्थ अग्नि) के साथ नित्य सहास्तित्व के रूप मे श्रीहर्ष के अनुमान की परिभाषाओ के प्रत्याख्यान मे प्रयुक्त न्यूनाधिक शाब्दिक तर्कों तथा इसके अन्य थोडे सशोधित प्रकारो पर ध्यान न देते हुए, मे उनकी सहास्तित्व (व्याप्ति) के स्वभाव की आलोचना पर आता हू जोकि अनुमान की अवधारणा का मूल है। यह आग्रह किया जाता है कि व्याप्ति मे अपेक्षित नित्य सहास्तित्व के सार्वभौमिक सबध को तब तक प्रतिष्ठित नही किया जा सकता जबतक कि किसी जाति मे सन्निविष्ठ सभी व्यष्टियो के नित्य सहास्तित्व को न जाना जाय, जोकि असभव है। नैयायिको का कहना है कि मन, सामान्य प्रत्यासत्ति सज्ञा वाले जाति-प्रत्ययो अथवा सामान्यो के साथ एक प्रकार के मानसिक ससर्ग द्वारा, वस्तुत उसके सभी व्यष्टियो के अनुभव के विना, किसी जाति के सभी व्यष्टियो का प्रतिज्ञान कर सकता है। वस्तुत इसी रूप मे वहुतेरे दृष्टान्तो मे धूम तथा अग्नि के नित्य सहास्तित्व को देख कर, हम दूरवर्ती पर्वत पर धूम-देख कर, 'धूम' के जाति-प्रत्यय के साथ एक प्रकार के मानसिक ससर्ग के अनुभव द्वारा अग्नि के साथ धूम के नित्य सहास्तित्व को समझते हैं। इस प्रकार की व्याख्या का प्रत्याख्यान करते हुए श्रीहर्ष तर्क करते हैं कि यदि सभी विशिष्ट धूमो को इस प्रकार जाति-प्रत्ययो के साथ मानसिक ससर्ग द्वारा जाना जा सके तब 'ज्ञेय' जाति-प्रत्यय के साथ मानसिक ससर्ग द्वारा हम सभी विशिष्ट ज्ञेया को जान सकेंगे और सर्वज्ञ हो जाएगे। कोई वस्तु, अपने विशिष्ट गुणो के साथ, एक व्यष्टि के रूप मे ही ज्ञेय होती है, और इस कारण

[1] दृश्यते हि मणिप्रभाया मणिवुद्धया प्रवर्तमानस्य मणिप्राप्ते प्रवृत्तिसामर्थ्यं न चाव्यभिचारित्वम्। तत्व-प्रदीपिका, पृ० २१८। निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१५।

किसी वस्तु को एक ज्ञेय के रूप मे जानना इस प्रकार के सभी विशिष्ट गुणो का ज्ञान सन्निविष्ट करेगा, क्योकि 'ज्ञेय' जाति-प्रत्यय उन सभी व्यष्टियो को सन्निविष्ट करेगा जिनका एक विशिष्ट ज्ञेय स्वभाव है। यह आग्रह किया जा सकता है कि ज्ञेयत्व एक ऐकान्तिक स्वभाव है, तथा यह कि वस्तुए अन्यथा पूर्ण भिन्न हो सकती है तथापि, जहा तक ज्ञेयता का सबध है, वे एक हो सकती है, और इस प्रकार वस्तुएँ, स्वभाव की भिन्नता मे, सपूर्णत· अज्ञात रह सकती हैं और फिर भी, जहा तक वे केवल ज्ञेय है, ज्ञात हो सकती हैं। इसके प्रति श्रीहर्ष का उत्तर यह है कि 'ज्ञेय' जाति-प्रत्यय सभी ज्ञातो को सन्निविष्ट करेगा और इस प्रकार 'ज्ञेय' शब्द के अर्थ मे स्वभावो की भिन्नता भी सन्निविष्ट होगी।

पुन , केवल तर्क के लिए यह स्वीकार करने पर भी कि व्यष्टियो के माध्यम से जाति-प्रत्यय के साथ मानसिक ससर्ग रखना सभव है, नित्य सहास्तित्व को कैसे देखा जा सकता है ? यदि हमारी इन्द्रिया बिना किसी अन्य सहायता के सहास्तित्व के इस प्रकार के सबधो को देख सकती है, तो इस प्रकार के सहास्तित्व के दर्शन मे त्रुटियो की कोई सभावना नही होगी। किन्तु, इस प्रकार की त्रुटिया होती है और परवर्ती अनुभव द्वारा उनकी शुद्धि होती है, एव इन्द्रिय-निर्णय मे त्रुटि की व्याख्या का कोई उपाय नही रह जाता। पुन यदि इस सहास्तित्व को अविनाभाव के रूप मे परि-भाषित किया जाय, जिसका अर्थ यह है कि एक का अभाव होने पर दूसरे का भी अभाव है, तो इस प्रकार की परिभाषा त्रुटिपूर्ण है, क्योकि वह उन दृष्टान्तो पर भी लागू हो सकता है जहा कोई वास्तविक नित्य सहास्तित्व नही है। इस प्रकार 'भूमि' तथा 'काटे जाने की सभावना' मे कोई नित्य सहास्तित्व नही है, तथापि आकाश मे भूमि का तथा 'काटे जाने की सभावना' का भी अभाव है। यदि यह आग्रह किया जाता है कि सहास्तित्व का निर्धारण किसी एक वस्तु के अभाव का किसी अन्य वस्तु के अभाव के साथ सगति के एकाकी दृष्टान्त द्वारा नही किया जा सकता, तो यह सिद्ध करना होगा कि सार्वत्रिक रूप मे किसी एक—उदाहरणार्थ, अग्नि—के अभाव के सभी दृष्टान्तो मे दूसरे—उदाहरणार्थ, धूम—का भी अभाव है, किन्तु इस प्रकार के सार्वत्रिक अभाव का निर्णय उतना ही कठिन है जितना कि सार्वत्रिक सहास्तित्व का। पुन, यदि इस सहास्तित्व को लिंग अथवा हेतु या साधन के अस्तित्व की असभाविता के रूप मे परिभाषित किया जाय, जहाकि साध्य का भी अभाव है, तब भी यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की असभाविता का, इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा अथवा किसी अन्य उपाय द्वारा, निर्धारण सभव नही है।

अब, सभावनाओ के निर्णय मे तर्क अथवा निरसनकारी विचार को नित्य सहा-स्तित्व का प्रतिष्ठापक नहीं माना जा सकता, क्योकि सभी तर्क नित्य सहास्तित्व पर आधारित होते हैं, और इस प्रकार की मान्यता असमाप्य अन्योन्याश्रिता को लाएगी।

प्रसिद्ध तर्कशास्त्री उदयन ने इस पर आपत्ति किया है और कहा है कि यदि धूम तथा अग्नि के नित्य सहास्तित्व का अस्वीकरण किया जाता है तो इस प्रकार के अस्वीकरण (वाधकस्तर्क) के विरुद्ध मवल तर्क हैं, अर्थात् यह कि यदि धूम को अग्नि के साथ सहास्तित्वमान नही माना जाता तव या तो धूम का अस्तित्व विना किसी कारण के होगा अथवा इसका अस्तित्व ही नही होगा, जो असभव है। किन्तु श्रीहर्ष का कहना है कि यहा एक वैकल्पिक प्रयत्ति के लिए स्थान है जिस पर उदयन का ध्यान नही गया है, अर्थात् यह कि धूम के अस्तित्व का कारण अग्नि के अतिरिक्त कुछ और है। यह हो सकता है कि ऐसे धूम हो जो अग्नि के कारण नही हैं। कोई इस विषय मे कैसे निश्चित हो सकता है कि सभी धूमो की उत्पत्ति अग्नि से होती है ? अग्नि की इन दो जातियो मे, जिन पर हमारा ध्यान नही गया है, भिन्नताए हो सकती हैं, और इस प्रकार इस उपकल्पना के लिए सदैव स्थान रहता है किसी विशेष धूम का अस्तित्व अग्नि के विना हो सकता है, और इस प्रकार की शकाए अनुमान को असभव वना देंगी। उदयन ने यह मान लिया था कि यदि हम किसी भावी दृष्टान्त के सवध मे शका रखते हैं–कि यह सभव है कि किसी दृष्टान्त विशेष मे सहास्तित्व को गलत पाया जाय–तव इस प्रकार की शका अनुमान द्वारा समर्थित होगी, और इस वात का स्वीकरण अनुमान का स्वीकरण सन्निविष्ट करेगा। यदि इस प्रकार की अतिशयोक्तिपूर्ण शका को अनुचित माना जाय तो अनुमान के मार्ग मे कोई वाधा नही रहती। शकाओ को तभी तक स्वीकार किया जा सकता है जवकि शकाए व्यावहारिक जीवन से असगत हो। प्रतिदिन हम पाते हैं कि भोजन से क्षुधा की शान्ति होती है और इस पर भी यदि हम यह शका करें कि किसी दिन विशेष पर क्षुधित होने पर हमे भोजन ग्रहण करना चाहिए अथवा नही तो जीवन असभव हो जाएगा।[1] किन्तु इस मत का उत्तर श्रीहर्ष उदयन की अपनी कारिका के शब्दो मे व्यावर्त्तन करते हुए देते है, जिसमे कि उन्होने कहा है कि जव तक शका है अनुमान अप्रामाणिक हैं, यदि शका नही है तो यह तभी हो सकता है जवकि अनुमान की अप्रामाणिकता को प्रकाशित कर दिया गया हो, और जव इस प्रकार की अप्रामाणिकता पाई जाएगी, शकाओ का अस्तित्व होगा। और इस कारण सभावनाओ का तर्क कभी भी शकाओ को नही

[1] शका चेद् अनुमास्त्येव
न चेच्छका ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशका
तर्क शकावधिर्मत ॥

कुसुमांजलि, ३ ७। चौखम्वा सस्कृत वुक डिपो, वनारस, १९१२।

हटा सकता ।[1]

श्रीहर्ष 'नित्य सहास्तित्व' का स्वाभाविक सबध (स्वाभाविक सम्बन्ध) के रूप मे परिभाषा के प्रति भी आपत्ति करते है। वे 'स्वाभाविक सबध' शब्द का प्रत्याख्यान करते हैं और कहते हैं कि नित्य सहास्तित्व अपने विविध सभव अर्थों मे से ये सभव अर्थ हैं (१) सम्बधी के स्वभाव पर निर्भरता (सम्बन्धिस्वभावश्रित), (२) सम्बन्धी के स्वभाव द्वारा उत्पन्न (सम्बन्धिस्वभावजन्य), (३) सम्बन्ध का निर्माण करने वाले स्वभाव से अभिन्नता—किसी मे भी तर्कसगत नही ठहरेगा क्योकि ये अत्यन्त व्यापक होगे जो नित्य सहास्तित्वमान नही हैं उन पर भी लागू होगे, उदाहरणार्थ, जो कुछ भी भूमि-निर्मित है, उसे लोहे की सुई से खुरचा जा सकता है। आगे वे नित्य सहास्तित्व की सोपाधिक स्थितियो (उपाधि) पर अनाश्रित सम्बन्ध के रूप मे परिभाषा का प्रत्याख्यान करते है। श्रीहर्ष के तर्क के विवरणो मे गए बिना, यह कहा जा सकता है कि यह अत्यन्त विस्तृत रूप मे इस विश्वास पर आधारित है कि सबधो की सोपाधिकता का नित्य सहास्तित्व के स्वभाव के ज्ञान बिना निर्धारण नही हो सकता तथा यह भी कि नित्य सहास्तित्व का निर्धारण नित्य सहास्तित्व की सोपाधिकता के पूर्वगामी निर्धारण के बिना सभव नही है।

श्रीहर्ष द्वारा सादृश्यता, विवक्षा तथा प्रमाण का प्रत्याख्यान तथा साथ ही अनुमान के विभिन्न तर्कदोषो की परिभाषाओ का प्रत्याख्यान दार्शनिक दृष्टिकोण से अधिक महत्व के नही हैं और यहा उनके विस्तृत विवेचन की आवश्यकता नही है।

श्रीहर्ष द्वारा न्याय की कोटियो के प्रत्याख्यान पर ध्यान देने पर हम पाते हैं कि वह 'सत्' अथवा 'भावत्व' के प्रत्याख्यान से प्रारभ करते हैं। उनका कहना है कि भाव को स्वय अस्तित्वमान के रूप मे नही परिभाषित किया जा सकता क्योकि अभाव भी स्वय अस्तित्वमान है, हम भाव को उतने ही अधिकारपूर्वक अस्तित्वमान कह सकते हैं जितना कि अभाव को अस्तित्वमान कह सकते हैं, अभाव तथा भाव दोनो 'अस्तित्वमान हैं' इस क्रिया के व्याकरणीय कर्तृकारक—बोधको के रूप मे प्रतिष्ठित होते हैं। पुन प्रत्येक अस्तित्वमान वस्तु के स्वय विलक्षण होने के कारण, 'अस्तित्व' अथवा 'भाव' के समान कोई ऐसा समान गुण नही है जो सब मे विद्यमान हो। पुन, 'भाव' उतना ही 'भाव' का निरसन है जितना कि 'अभाव' 'भाव' का, इस कारण 'भाव' को किसी ऐसी वस्तु के रूप मे परिभाषित नही किया जा सकता जोकि किसी वस्तु का निरसन नही हैं। निरसन वाणी का एक प्रकार है तथा भाव एव अभाव दोनो को निरसनकारी रूप मे अभिव्यक्त किया जा सकता है।

---

[1] व्याघातो यदि शकास्ति
न चेच्छका ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशका
तर्क. शकावधि कुत ॥ खण्डनखण्डखाद्य, पृ० ६९३।

अभाव की कोटि पर विचार करते हुए श्रीहर्ष कहते है कि यह किसी वस्तु के निरसन के रूप मे परिभाषित नही किया जा सकता, क्योकि जिस प्रकार अभाव को भाव का निरसन कहा जा सकता है, उसी प्रकार भाव को भी अभाव का निरस कहा जा सकता है (भावाभावयोर्द्वयोरपि परस्पर प्रतिक्षेपात्मकत्वात्) । न ही अभाव को भाव का विरोध करने वाले के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है, क्योकि सभी अभाव सभी भाव के विरोधी नही होते (उदाहरणार्थ, 'भूमि पर जलपात्र नही है' मे जलपात्र भूमि का विरोधी नही है, जिसके कि सदर्भ मे जलपात्र का निरास किया जाता है), यदि अभाव कुछ अस्तित्वमान वस्तुग्रा का विरोध करता है तो वह निरसन का भेद नही करता, क्योकि ऐसी कई अस्तित्वमान वस्तुए है जो परस्पर विरोधी है (उदाहरणार्थ अश्व तथा वृपभ) ।

न्याय की गुणो के आश्रय के रूप मे द्रव्य की परिभाषा का प्रत्याख्यान करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि गुण भी साख्यिक तथा अन्य गुणो से युक्त प्रतीत होते है (उदाहरणार्थ, हम दो या तीन रगो की, किसी रग के गहरा अथवा हल्का होने की, मिश्रित अथवा मौलिक होने की बात करते हैं—एव रग को गुण माना जाता है) । यदि यह आग्रह किया जाता है कि यह गलती है तब तथाकथित द्रव्यो के गुणो से युक्त के रूप मे प्रकटन को भी समानरूपेण त्रुटिपूर्ण मानना होगा । पुन, द्रव्य की गुणो के आश्रय के रूप मे परिभाषा का क्या अर्थ है ? चूँकि गुण गुणत्व के जाति-प्रत्यय मे अवस्थित रह सकते हैं, गुण के जाति-प्रत्यय को, परिभाषा के अनुसार, द्रव्य मानना चाहिए । यह आग्रह किया जा सकता है कि द्रव्य वह है जिसमे गुण अन्तर्भूत रहते है । किन्तु यहाँ 'मे' प्रत्यय का क्या अर्थ होगा ? हम सफेद शुक्तिका मे पाण्डुरोगी द्वारा देखे गए पीलेपन के मिथ्या दर्शन को सफेदपन के शुद्ध दर्शन से कैसे विभेदित करेंगे ? जब तक शुक्तिका मे पीलेपन के दर्शन के मिथ्यात्व का अभिज्ञान नही होता, दोनो दृष्टान्तो मे कोई भेद नही हो सकता । पुन, द्रव्य को अन्तर्भूत अथवा उपादान कारण (समवायिकारण) के रूप मे नही परिभाषित किया जा सकता, क्योकि यह जानना सभव नही है कि कौन सा अन्तर्भूत कारण है एव कौन सा नही, क्योकि सख्या को एक गुण गिना जाता है तथा रग को भी एक गुण गिना जाता है, और फिर भी हम रगो को एक, दो अथवा कई रगो से विशेषित करते है ।

अपरच, न्याय द्वारा गुण की ऐसी वस्तु के रूप मे परिभाषा, जिसकी एक जाति है तथा जो गुणो से विहीन है अबोध्य है, क्योकि यह परिभाषा गुण की अवधारणा को सन्निविष्ट करती है, जिसकी परिभाषा अपेक्षित है । अपरच, जैसा कि ऊपर कहा गया है, गुणो मे भी—जैसे कि रगो मे—साख्यिक गुण होते है, क्योकि हम एक, दो अथवा कई रगो की बात करते है । साख्यिक गुणो से युक्त, गुणो के इस प्रकटन को धारण करते हुए ही गुण की परिभाषा को प्रतिष्ठित किया जा सकता है, तथा गुण की परिभाषा के

आधार पर ही इस प्रकार के प्रकटनो को अशुद्ध मान कर निरास किया जा सकता है। यदि रगो को अन्य हेतुओ के विचार से गुणो के रूप मे जाना जाता है तो, साख्यिक गुणो से युक्त, ये केवल इसी कारण गुण नही कहे जा सकते, क्योकि, परिभाषा के अनुसार, गुण केवल द्रव्यो मे होते हैं। यहाँ तक कि सख्याएँ भी पृथक्ता के गुण से युक्त होती हैं। इस प्रकार कोई एक भी दृष्टान्त नही है जिसे नैयायिक गुण का उदाहरण वना सके।

सम्वन्धो की चर्चा करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि यदि सम्बन्ध को किसी वस्तु मे अवस्थित किसी वस्तु के रूप मे उपकल्पित किया जाय तो इसका अर्थ अबोध्य है। सम्वन्ध का 'मे' अथवा 'इसमे' अर्थ सर्वथा स्पष्ट नही है, क्योकि 'आधार' के रूप मे किसी वस्तु की अवधारणा 'मे' अथवा 'इसमे' के प्रत्यय की अवधारणा के ऊपर आश्रित होती है, तथा वह अवधारणा भी एक आधार की अवधारणा पर आश्रित होती है, एव ऐसी कोई अवधारणा नही है जो इनमे से किसी भी अवधारणा को स्वतत्ररूपेण व्याख्यापित कर सके। आधार को अन्तर्भूत कारण नही माना जा सकता, क्योकि उस दशा मे 'इस पात्र मे एक अगूर है' अथवा 'शश मे शृगो का अभाव' जैसे उदाहरण अव्याख्येय होगे। तत्पश्चात् वे कई सभावित अर्थों को लेते हैं जिन्हे आधार की अवधारणा के लिए दिया जा सकता है किन्तु, दार्शनिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण न होने के कारण उन्हे यहाँ छोड दिया जाता है। वह ज्ञान के विषय तथा विषयी के सवध (विषयविषयिभाव) की परिभाषा की असभाव्यता की भी चर्चा करते है।

कारण की परिभाषा का प्रत्याख्यान करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि कारण को तात्कालिक पूर्वगामिता के रूप मे नही परिभाषित किया जा सकता, क्योकि तात्कालिक पूर्वगामिता को केवल कारणात्मक व्यापार के प्रति आरोपित किया जा सकता है जो कि कारण तथा परिणाम के वीच सदैव अन्तराक्षेपक घटक होता है। यदि इस सिद्धान्त के आधार पर, कि जो (उदाहरणार्थ, कारणात्मक व्यापार) किसी वस्तु (उदाहरणार्थ, कारण) मे है उसे इसके (कारण) तथा इसके अनुवर्ती (परिणाम) का अन्त:स्थ घटक नही माना जा सकता, कारणात्मक व्यापार को पृथक् तथा स्वतत्र घटक नही माना जाय तो कारण के कारण को भी कारण से अभिन्न और अतएव कारण मानना होगा। किन्तु यदि यह आग्रह किया जाता है कि चूंकि कारण का कारण व्यापार नही है अत इसे कारण से अभिन्न नही माना जा सकता, तव कोई प्रतिपक्षी से व्यापार के अर्थ की परिभाषा करने को कह सकता है। यदि प्रतिपक्षी इसे ऐसे घटक के रूप मे परिभाषित करता है जिसके विना कारण परिणाम को उत्पन्न नही कर सकता तव प्राकृतिक नियम, देश-काल तथा इस प्रकार की सहयोगी परिस्थितियो एव सर्वसामान्य तथा नित्य अवस्थाओ को भी व्यापार मानना होगा, जो असभव है। अपरञ्च, 'व्यापार' को कारण द्वारा स्वय उत्पन्न के रूप मे नहीं विशेषित किया जा

सकता, क्योकि कारण के प्रत्यय के अर्थ की व्याख्या तथा परिभाषा अभी भी अपेक्षित है। पुन, यदि कारण को जो 'अ कारण' से भिन्न है उसकी पूर्वगामिता के रूप मे परिभाषित किया जाय तो यह भी दोषपूर्ण होगा, क्योकि कोई भी कारण के स्वभाव तथा इसके विपरीत को समझे बिना परिभाषा के 'अ-कारण' को नही समझ सकता। अपरच, स्थायी द्रव्य होने के कारण आकाश किसी भी वस्तु के 'अ-कारण' के रूप मे सदैव विद्यमान रहता है, और फिर भी ध्वनि का कारण माना जाता है। पुन, यदि कारण को ऐसी वस्तु के रूप मे परिभाषित किया जाय जो परिणाम के विद्यमान रहने पर विद्यमान एव परिणाम की अनुपस्थिति मे अनुपस्थित रहती है तो यह आकाश, जिसे कभी अनुपस्थित नही जाना जाता, के कारणत्व को नही व्याख्यायित करेगा। पुन यदि कारण को नित्य पूर्वगामिता के रूप मे परिभाषित किया जाय तो आकाश जैसे नित्य द्रव्यो को परिणामो के एकमात्र कारण के रूप मे स्वीकार करना होगा। किन्तु यदि नित्य पूर्वगामिता को निरुपाधि पूर्वगामिता के अर्थ मे समझा जाय तो एक जलाए जाने वाले मृण्पात्र के स्वाद तथा वर्ण जैसे सहास्तित्वमान सत्ताओ को अन्योन्याश्रित रूप मे जले हुए मृण्पात्र के वर्ण तथा स्वाद का कारण होना चाहिए, क्योकि न तो वर्ण स्वाद का निर्धारण करता है और न स्वाद वर्ण का। इसके अतिरिक्त, यदि केवल नित्य पूर्वगामियो को ही कारण माना जाता है, तो, उनकी नित्य पूर्वगामिता के कारण, किसी रोग के नित्यश पूर्वगामी लक्षणो को ही रोग का कारण मानना होगा। पुन, कारणत्व को किन्ही वस्तुओ का विशेष स्वभाव अथवा गुण नही माना जा सकता, जिस गुण को हमारे द्वारा प्रत्यक्षरूपेण वस्तुओ मे अस्तित्वमान के रूप मे देखा जा सकता हो। इस प्रकार, कुम्भकार के चक्र-दण्ड को हम इसके द्वारा उत्पादित विशेष पात्रो के कारण के रूप मे देख सकते है किन्तु कारणत्व को एक दण्ड अथवा किसी अन्य वस्तु के सामान्य गुण के रूप मे देखना सभव नही है। यदि कारणत्व सामान्य रूप मे वस्तुओ के सदर्भ मे ही अस्तित्वमान होता तो व्यष्टियो की उत्पत्ति की उपकल्पना असभव होती, और किसी के लिए यह जानना सभव नही होता कि कौन सा कारण विशेष परिणाम विशेष को उत्पन्न करेगा। इसके विपरीत, इन्द्रियो द्वारा यह देखना सम्भव नही है कि एक विशिष्ट वस्तु कई विशिष्ट परिणामो का कारण है, क्योकि जब तक ये विशिष्ट परिणाम वस्तुत उत्पन्न नही हो जाते, उनको देखना सभव नही है, क्योकि इन्द्रियस्पर्श प्रत्यक्ष की आवश्यक अपेक्षा है। हमारे वर्तमान प्रयोजनो के लिए कारण के उन सभी विभिन्न सभव प्रत्ययो की चर्चा आवश्यक नही है जिनके प्रत्याख्यान का प्रयास श्रीहर्ष ने किया है ऊपर की समीक्षा मे कार्य की कोटि के प्रत्याख्यान के लिए श्रीहर्ष द्वारा प्रयुक्त विधि के पर्याप्त व्यापक-अभिज्ञान की अपेक्षा की जाती है।

न ही प्रस्तुत पुस्तक के सीमित क्षेत्र के भीतर यह सभव है कि न्याय दर्शन मे स्वीकृत विभिन्न कोटियो के सभी विविध वैकल्पिक प्रतिवादो का अथवा उन उपायो का पूरा

विवरण दिया जा सके जिनकी सहायता से खण्डनखण्डखाद्य मे श्रीहर्ष ने इनका प्रत्याख्यान किया है। अतएव यहाँ मैंने उनके द्वन्द्ववादी तर्क के अधिक महत्वपूर्ण अशो के कुछ दृष्टान्तो को ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। श्रीहर्ष की आलोचनाओ का मुख्य दोष यह है कि वे प्राय: शाब्दिक कुतर्को का रूप ग्रहण करने लगती हैं तथा प्रतिपक्षी की परिभाषाओ की अभिव्यक्ति के दोषो पर बल देती हैं, तथा उसके सामान्य विचारो के प्रति सहानुभूतिपरक व्यवहार करने का न्याय नही करती। यह देखना सरल है कि किस प्रकार न्याय की शाब्दिक परिभाषाओ के इन प्रत्याख्यानो ने नैयायिको मे रक्षात्मक वृत्ति को उभारा और उन्होने अपनी परिभाषाओ को और सम्यक् ढग से प्रस्तुत किया जिनमे श्रीहर्ष तथा अन्य आलोचको के प्रत्याख्यानो के विषय बने दोषो को दूर करने का प्रयास किया गया। अतएव, एक अर्थ मे श्रीहर्ष तथा उनके कुछ अनुयायियो की आलोचनाओ ने न्याय चिन्तना के विकास मे बडी हानि पहुँचाई, क्योकि पूर्ववर्ती न्याय विचारको के विपरीत, गगेश, रघुनाथ तथा अन्य परवर्ती न्याय विचारक केवल ऐसे उपयुक्त अनुबन्धो तथा शब्दावलियो के अनुसधान मे प्रवृत्त रहे जिनके द्वारा वे अपनी कोटियो को वे इस प्रकार परिभाषित कर सकें कि, उनके प्रतिपक्षियो की आलोचनाओ द्वारा प्रदर्शित, उनकी परिभाषाओ के अवाछनीय प्रयोगो का परिहार हो सके। यदि ये आलोचनाएँ मुख्यत न्याय चिन्तन के दोषो की ओर उद्दिष्ट होती तो ये परवर्ती लेखक दार्शनिक गाभीर्य तथा कुशाग्रता के व्यय पर शाब्दिक अभिव्यक्तियो को विकसित करने का मार्ग ग्रहण करने को बाध्य नही हुए होते। अतएव, श्रीहर्ष को प्रथम महान् लेखक कहा जा सकता है जो अप्रत्यक्ष रूप से न्याय चिन्तना मे शाब्दिकता के विकास के लिए उत्तरदायी हैं।

श्रीहर्ष की आलोचनाओ का दूसरा दोष यह है कि वे मुख्यत स्वय को न्याय की कोटियो की परिभाषाओ की आलोचना तक सीमित करते है और विचार की इस प्रकार की कोटियो मे सन्निविष्ट सामान्य विचारो की इतने विस्तार से चर्चा नही करते। किन्तु श्रीहर्ष के साथ पूर्ण न्याय करते हुए यह अवश्य कहा जाना चाहिए कि यद्यपि उन्होने न्याय की परिभाषाओ को अपनी आलोचनाओ का मुख्य विषय बनाया तथापि इस प्रकार की परिभाषाओ के विभिन्न वैकल्पिक प्रकारो एव दृष्टिकोणो की चर्चा मे वे प्राय विवाद मे सन्निविष्ट समस्याओ का विस्तारपूर्ण विवेचन करते है। किन्तु बहुतेरे दृष्टान्तो मे उनकी चूकें अत्यन्त स्पष्ट हैं। उदाहरणार्थ, सबधो की चर्चा मे केवल आधार तथा अन्तर्विष्ट के रूप मे अन्तर्मूतता के रूप मे तथा सज्ञानो के विषयविषयी सबध के रूप मे सबध की परिभाषाओ का प्रत्याख्यान करने का प्रयास करते हैं, तथा सबध के बहुतेरे अन्य प्रकारो को छोड देते हैं जिनकी चर्चा की जा सकती थी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उनके प्रत्याख्यान की एक विशेषता यह है कि उनका दृष्टिकोण केवल ध्वसात्मक है तथा वे अपने दृष्टिकोण से किसी स्थिति की परिभाषा

करने का उत्तरदायित्व स्वीकार करने को तैयार नही है। वे यह प्रदर्शित करने मे प्रसन्न होते है कि कोई भी जागतिक आभास किसी भी प्रकार परिभाषित नही हो सकता और इस प्रकार, अनिर्वचनीय होने के कारण, वे सभी मिथ्या हैं। श्रीहर्ष ने यह नही—और न वे कर सकते थे—प्रदर्शित किया कि विभिन्न कोटियो की परिभाषा केवल उन्ही रूपो मे हो सकती है जिनके कि प्रत्याख्यान का उन्होने प्रयास किया है। सभवत उन्हे अन्य तथा अधिक सुन्दर रूपो मे परिभाषित किया जा सकता था, और यहाँ तक कि उन परिभाषाओ को भी, जिनका उन्होने प्रत्याख्यान किया, उपयुक्त शब्दावलियो के प्रयोग द्वारा और परिष्कार किया जा सकता था। उन्होने यह दिखाने का प्रयास नही किया कि कोटियो मे सन्निविष्ट प्रत्यय इस प्रकार के अन्तर्विरोधो से सयुक्त हैं कि उन्हे चाहे जिस रूप मे भी परिभाषित किया जाय उन आभ्यन्तर अन्तर्विरोधो, जो कि स्वय प्रत्ययो के स्वभाव मे ही अन्तर्भूत है, से नही बचा जा सकता। इसके स्थान पर उन्होने उन औपचारिक परिभाषाओ पर ध्यान केन्द्रित किया जो न्याय तथा कभी कभी प्रभाकर द्वारा प्रस्तुत की गई थी और उन परिभाषाओ की दोषमयता को प्रदर्शित करने का प्रयास किया। विशिष्ट परिभाषाओ की अशुद्धता प्रदर्शित करने से यह प्रदर्शित नही होता कि परिभाषित वस्तुएँ अशुद्ध है। यह निस्सदेह सत्य है कि कुछ परिभाषाओ का प्रत्याख्यान उन परिभाषाओ मे समाविष्ट प्रत्ययो का प्रत्याख्यान सन्निविष्ट करता है, किन्तु प्रत्यय को प्रस्तुत करने के विशिष्ट प्रकार के प्रत्याख्यान का यह अर्थ नही है कि स्वय प्रत्यय असभव है। इस दूसरी बात को प्रदर्शित करने के लिए, इसके अपने वृत्तो के आधार पर, इस प्रत्यय विशेष का विश्लेषण और इस प्रकार के विश्लेषण मे उपस्थित असगतियो का प्रदर्शन आवश्यक है।

शांकर वेदान्त के प्रत्ययों की चित्सुख द्वारा प्रस्तुत व्याख्याएँ

चित्सुख (लगभग १२०० ईस्वी), जो श्रीहर्ष के टीकाकार है, मे श्रीहर्ष के कुशाग्र द्वन्द्वात्मक चिन्तना की सभी शक्तियाँ थी किन्तु वे, श्रीहर्ष के समान न केवल न्याय की कोटियो का सक्षिप्त प्रत्याख्यान प्रस्तुत करते हैं अपितु अपनी तत्वप्रदीपिका मे, जिस पर प्रत्यग्भगवान् (ईसवी सन् १४००) ने अपनी नयनप्रसादिनी[1] मे टीका की

---

[1] गौडेश्वराचार्य, जिन्हे ज्ञानोत्तम नाम से भी जाना जाता है, के शिष्य चित्सुख ने आनन्दबोध भट्टारकाचार्य के न्यायमकरन्द पर तथा श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य पर भी टीका लिखी है, उन्होने तत्वप्रदीपिका अथवा चित्सुखी नामक एक स्वतत्र कृति की रचना भी की जिस पर कि वर्तमान भाग का अध्ययन आधारित है। इन ग्रन्थ मे उन्होने उदयन, उद्योतकर, कुमारिल, पद्मपाद, वल्लभ (लीलावती), शालिकनाथ, सुरेश्वर, शिवादित्य, कुलार्क पडित तथा श्रीधर (न्याय कन्दली) का उल्लेख किया

है, शाकर वेदान्त के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रत्ययो का तीक्ष्ण विश्लेषण तथा व्याख्या भी प्रस्तुत किया है। वे न केवल वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त के सरक्षक अपितु वेदान्ती प्रत्ययो के व्याख्याता भी है।[1] यह ग्रन्थ चार अध्यायो मे लिखा गया है। प्रथम अध्याय मे चित्सुख ने स्व-प्रकाश के वेदान्ती प्रत्ययो की व्याख्या, सविद के रूप मे आत्मा के स्वभाव (आत्मन सविद्-रूपत्व), अन्धकार के रूप मे अज्ञान के स्वभाव, मिथ्यात्व के स्वभाव, अविद्या के स्वभाव, सभी प्रत्ययो की सत्यता के स्वभाव (सर्व-प्रत्ययानाम् यथार्थत्वम्), भ्रान्तियो के स्वभाव इत्यादि की चर्चा की है। दूसरे अध्याय मे उन्होने न्याय की कोटियो, विभेद, पृथक्ता, गुण, कर्म, जाति-प्रत्यय, विशेष, समवाय, प्रत्यक्ष, शका, भ्रान्ति, स्मृति, अनुमान, व्याप्ति, व्याप्ति-ग्रह, पक्ष-धर्मता, हेतु, उपमान, निहितार्थ, भाव, अभाव, द्वैत, परिमाण, कारणत्व, काल, आकाश इत्यादि की चर्चा की है। तीसरे अध्याय मे, जो `क पुस्तक मे सबसे छोटा अध्याय है, उन्होने ब्रह्म के साक्षात्कार की सभावना तथा ज्ञान द्वारा मुक्ति के स्वभाव पर विचार किया है। चतुर्थ अध्याय मे, जो प्रथम दो की अपेक्षा बहुत छोटा है, उन्होने मुक्ति की अन्तिम अवस्था की चर्चा की है।

है। इन कृतियो के अतिरिक्त उन्होने शाकर के ब्रह्मसूत्र भाष्य पर **भाष्यभाव-प्रकाशिका** नामक टीका, आनन्दबोध की **प्रमाणमाला** पर **विवरण-तात्पर्य-दीपिका** नामक टीका, मण्डन की **ब्रह्मसिद्धि** पर **अभिप्राय प्रकाशिका** नामक टीका, ब्रह्मसूत्र के अधिकरणो के लिए **अधिकरण-मजरी** नामक'विषय सूची की भी रचना की। उनके गुरु ज्ञानोत्तम ने वेदान्त के ऊपर **न्यायसुधा** तथा **ज्ञानसिद्धि** नामक दो पुस्तकें लिखी, किन्तु वे उस ज्ञानोत्तम से भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं जिन्होने सुरेश्वर की **नैष्कर्म्यसिद्धि** पर टीका लिखी थी, क्योकि ये दूसरे ज्ञानोत्तम एक गृहस्थ थे (वे स्वय को 'मिश्र' की गृहस्थसूचक उपाधि से विशेषित करते हैं) एव चोल देश के मगल नामक गाँव के निवासी थे जबकि पहले ज्ञानोत्तम, जैसा कि चित्सुख ने अपनी **तत्वप्रदीपिका** की पुष्पिका मे बताया है, सन्यासी थे एव गौड-नरेश के गुरु थे। उन्हे **ब्रह्मस्तुति**, **विष्णुपुराण टीका**, **षड्दर्शन-सग्रह-वृत्ति**, **अधिकरणसगति** (ब्रह्मसूत्र के विषयो के अन्त सबधो की व्याख्या करने वाली कृति) एव **नैष्कर्म्यसिद्धि** पर **नैष्कर्म्यसिद्धि-टीका** अथवा **भाव-तत्वप्रकाशिका** नामक टीका का भी रचनाकार बताया जाता है। उनके शिष्य सुखप्रकाश ने ब्रह्मसूत्र के विषय पर **अधिकरण-रत्नमाला** नामक पुस्तक लिखी।

[1] इस प्रकार, पडित हरिनाथ शर्मा ने **तत्वप्रदीपिका** अथवा **चित्सुखी** की अपनी सस्कृत भूमिका मे इस कृति का 'अद्वैतसिद्धान्तरक्षकोऽप्यद्वैतसिद्धान्तप्रकाशको व्युत्पादकश्च' कह कर उल्लेख किया है।

चित्सुख वेदान्त के सर्वाधिक आधारभूत प्रत्यय, अर्थात् स्व-प्रकाश के प्रत्यय, की औपचारिक परिभाषा से प्रारम्भ करते है। पचपादिका तथा पचपादिका विवरण मे पद्मपाद तथा प्रकाशात्मन दोनो ने आत्मा को अहकार से स्व-प्रकाश (स्वयम्-प्रकाश) के रूप मे विभेदित किया था। इस प्रकार, प्रकाशात्मन का कहना है सविद् स्व-प्रकाशी है तथा इसका स्व-प्रकाश किसी अन्य स्व-प्रकाशी कारण से उत्पन्न नहीं है।[1] सविद् के इस स्वाभाविक स्व-प्रकाश के कारण ही इसके विषय स्व-प्रकाशी रूप मे प्रकट होते हैं।[2] यह कहते हुए कि आत्मा शुद्ध स्व-प्रकाशी सविद् के स्वभाव का है। पद्मपाद यही बात दुहराते हैं, जबकि सविद् अन्य विषयो के सबध मे प्रकट होता है तथा इन्हें प्रकाशित करता है, तब इसे अनुभव कहते हैं, तथा जब यह सर्वथा एकाकी होता है तब इसे आत्मन् कहते हैं।[3] किन्तु, चित्सुख सभवत प्रथम व्यक्ति हैं जिसने इस स्व-प्रकाश के स्वभाव की औपचारिक परिभाषा प्रदान की है।

चित्सुख ने इसे ऐसी वस्तु के रूप मे परिभाषित किया है जो तात्कालिक (अपरोक्ष-व्यवहार-योग्य) कहलाने की अधिकारी है, यद्यपि यह किसी सज्ञान अथवा किसी सज्ञानात्मक कर्म (अवेद्यत्वेऽपि) का विषय नही होती।[4] यह आपत्ति की जा सकती है कि इच्छाएं, अनुभूतियां इत्यादि भी किसी सज्ञान का विषय नहीं होती और फिर भी तात्कालिक कहलाने का अधिकारी होती हैं, और इस कारण यह परिभाषा उन पर भी लागू हो सकती है, क्योंकि सज्ञान के विषय का एक पृथक् वस्तुनिष्ठ अस्तित्व होता है, तथा एक मन-विषय-ससर्ग के द्वारा मन विषय के स्वरूप मे परिवर्तित हो जाता है और इसके द्वारा उस एक सविद् को जो प्रत्यक्षत दो रूपो—भौतिक पदार्थों के रूप मे प्रकट होने वाले विषय-सविद् के रूप मे तथा प्रज्ञाता के रूप में प्रकट होने वाली विषय-सविद् के रूप मे—में विभक्त है, विषय-रूप पर विषयी-रूप के अध्यारोपण द्वारा पुन. इसकी एकता मे प्रतिष्ठित किया जाता है एव विषय-रूप सविद् मे एक जलपात्र अथवा पुस्तक के रूप मे प्रकाशित होता है। किन्तु, हमारी इच्छा अथवा हमारी अनुभूतियो के अनुभव के दृष्टान्त मे इनका हमारे मन से पृथक् अस्तित्व नही होता और इस

---

[1] सवेदन तु स्वयप्रकाश एव न प्रकाशान्तरहेतु ।

—पचपादिका-विवरण, पृ० ५२।

[2] तस्माद् अनुभव सजातीय प्रकाशान्तर निरपेक्ष प्रकाशमान एव विषये प्रकाशादिव्यवहारनिमित्त भवितुम् अर्हति अव्यवधानेन विषये प्रकाशादि-व्यवहारनिमित्तत्वात्।

—वही।

[3] तस्मात् चित्स्वभाव एवात्मा तेन प्रमेयभेदेन उपधीयमानोऽनुभवाभिधानीयक लभते अविवेक्षितोपाधिरात्मादिशब्दैः। —पचपादिका, पृ० १०।

[4] अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व स्वयम्प्रकाशलक्षणम्। —चित्सुखी, पृ० ९।

किसी अन्य प्रक्रिया के अधीनस्थ रखना है, तो उसे भी किसी अन्य प्रक्रिया की अपेक्षा हो सकती है, और किसी अन्य की, और इस प्रकार एक असमाप्य शृखला बनेगी। इसके अतिरिक्त स्वय अनुभव के तथ्य से ही यह सिद्ध हो जाता है कि शुद्ध अनुभव स्व-प्रकाशी होता है, क्योकि कोई भी अपने अनुभव के प्रति शकालु नही होता और उसने अनुभव किया अथवा नही इस बात के लिए उसे किसी और समर्थन अथवा अनिश्चयन की आवश्यता नही होती। यह आपत्ति की जा सकती है कि वह सुविज्ञात है कि हम किसी वस्तु के अपने बोध से अभिज्ञ (अनु-व्यवसाय) रह सकते है, और इस प्रकार के दृष्टान्त मे स्व-प्रकाशी अवबोध का और भी सज्ञान हो सकता है। इसके उत्तर मे चित्सुख का कहना है कि जब कोई जलपात्र देखता है तब एक मानसिक कार्य व्यापार होता है, फिर उस कार्य व्यापार की समाप्ति होती है, और फिर नए कार्य व्यापार का पुन प्रारम्भ होता है और फिर यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि मैं जलपात्र को जानता हूँ, अथवा यह कि मै यह जानता हूँ कि मैं जलपात्र को जानता हूँ—और इस कारण इस प्रकार के सज्ञान को प्रत्यक्षत तथा तात्कालिकरूपेण प्रथम बोध, जो कि इतने अधिक क्षणो तक नही ठहर सकता, का सज्ञान करने वाला नही कहा जा सकता।[1] पुन चूंकि न तो इन्द्रियां और न बाह्य विषय स्वयमेव ज्ञान के स्व-प्रकाश को उत्पन्न नही कर सकते, यदि ज्ञान को स्व-प्रकाशी नही स्वीकार किया जाता तो सपूर्ण जगत् अन्धा होगा और स्व-प्रकाश का अस्तित्व सभव नही होगा। जब कोई यह जानता है कि वह जलपात्र अथवा पुस्तक को जानता है तब यह सज्ञान किया हुआ विषय है जिसे जाना जाता है, बोध को नही जाना जाता, बोध का कोई बोध नही हो सकता, बोध केवल सज्ञान किए हुए विषय का ही हो सकता है।[2] यदि पूर्ववर्ती बोध को अनुवर्ती बोध का विषय बनाया जा सके, तो इसका अर्थ होगा आत्मा द्वारा जाने जाने वाले आत्मा की सभावना का स्वीकरण (स्वस्यापिस्वेन वेद्यत्वापातात्) ऐसा सिद्धान्त जो वेदान्ती प्रत्ययवाद के साथ नही प्रत्युत् बौद्ध विज्ञानवाद को सगत होगा। यह नि सदेह सत्य है कि शुद्ध स्व-प्रकाशी सविद् स्वय को एक मानसिक स्थिति के अवसर पर ही प्रदर्शित करता है, किन्तु अन्य सज्ञानात्मक स्थितियो से इसका अन्तर इस तथ्य मे निहित होता है कि इसका कोई रूप अथवा विषय नही होता, और इस कारण यद्यपि इसे एक मानसिक स्थिति द्वारा सस्पष्ट किया जा सकता है तथापि यह इसके द्वारा प्रकाशित विषयो से भिन्न धरातल पर स्थित होता है।

---

[1] घटज्ञानोदयसमये मनसि क्रिया ततो विभागस्तत पूर्वसयोगविनाशस्तत् उत्तरसयोगोत्पत्तिस्ततो ज्ञानान्तरम् इति अनेकक्षणविलम्बेन उत्पद्यमानस्य ज्ञानस्य अपरोक्षतया पूर्वज्ञानग्राहकत्वानुपपत्ते । —चित्सुखी, पृ० १७।

[2] विदितो घट इत्यत्र अनुव्यवसायेन घटस्यैव विदितत्वम् अवसीयते न तु वित्ते । —वही, पृ० १८।

है ज्ञान मे विपयी तथा विपय के सबध (विपयविपयिभाव) की उपयुक्त व्याख्या की असभावना के ज्ञवध मे तर्क करते हुए चित्सुख कहते है कि यह नही माना जा सकता कि विपयी तथा विपय के सबध का यह अर्थ है कि ज्ञान विपय मे कोई परिवर्तन उत्पन्न करता है तथा यह कि ज्ञाता यह परिवर्तन लाता है। क्योकि इस प्रकार के परिवर्तन का क्या स्वभाव हो सकता है ? यदि इसे ज्ञातता अथवा ज्ञात होने का स्वभाव कहा जाय, तो मेरे ज्ञान द्वारा वर्तमान क्षण मे उस प्रकार के स्वभाव को कैसे उस वस्तु विशेप मे एक निश्चित गुण के रूप मे उत्पन्न किया जा सकता है तो ऐसा कोई निश्चित नियम नही होगा जिसके अनुसार इस प्रकार के गुणो की उत्पत्ति हो। न ही इस प्रकार के सबध को, एक व्यावहारिक आधार पर, हमारे द्वारा ज्ञात विषयो अथवा वस्तुओ के हमारे ज्ञान से सबद्ध आभ्यन्तर सकल्पो अथवा सवेदनाओ के प्रसग मे, वास्तविक शारीरिक व्यवहारिक कार्य के उल्लेख द्वारा व्याख्यायित किया जा सकता है। क्योकि अपने सामने दिखाई पडने वाले रजत-खड को उठाते हुए हम अनजान मे इसके साथ रजत मे स्थित मैल खीच सकते है, और इस कारण केवल इस आधार पर मैल के शारीरिक आहरण का तथ्य इसे हमारे ज्ञान का विषय नही बनाता, और इस कारण ज्ञान के विषयी-विपय-सबध को केवल सज्ञान के अनुगामी शारीरिक कर्म के रूप मे नही परिभाषित किया जा सकता। सकल्प की आभ्यन्तर मानसिक स्थितियाँ तथा ज्ञान से सलग्न मनोभाव ज्ञाता से सबद्ध होते हैं एव ज्ञान के विषय के साथ उनका कोई सम्बन्ध नही होता। यदि यह आग्रह किया जाता है कि वस्तुनिष्ठता इस तथ्य मे निहित होती है कि कोई भी ज्ञात वस्तु सविद् मे प्रकट होती है, तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सविद् मे इस प्रकटन का क्या अर्थ है ? इसका यह अर्थ नही हो सकता कि सविद् आधार है तथा विषय इसमे अन्तर्विष्ट है, क्योकि सविद् के आभ्यन्तर तथा विपय के बाह्य होने के कारण, विषय इसमे अन्तर्विष्ट नही हो सकता। यह केवल अव्याख्यायित सम्बद्धता नही हो सकती, क्योकि उस दशा मे विषय को समानरूपेण विपयी माना जा सकता है और विषयी को विषय। यदि वस्तुनिष्ठता को ज्ञान को उभाडने मे समर्थ वस्तु के रूप मे परिभाषित किया जाता है तो इन्द्रियो, प्रकाश तथा ज्ञान की उत्पत्ति मे सहायक अन्य उपादानो को भी समानरूपेण विषय मानना होगा। विषय को ऐसी वस्तु के रूप मे नही परिभाषित किया जा सकता जिसके कारण कि ज्ञान का अपना विशिष्ट स्वरूप हैं, क्योकि ज्ञान का अपने स्वरूप से अभिन्नता के कारण, ज्ञान की उत्पत्ति मे सहायक सभी वस्तुओ इन्द्रियाँ, प्रकाश इत्यादि —को समानरूपेण विषय माना जा सकता है। इस प्रकार, विपयी-विषय-सम्बन्ध के स्वभाव को चाहे जिस रूप मे उपकल्पित किया जाय, निराशा ही हाथ लगेगी।

चित्सुख अज्ञान के विपय मे इस परम्परागत विचार का अनुसरण करते है कि यह एक अनादि सकारात्मक सत्ता है जो यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति के साथ विलुप्त हो

जाता है।[1] अज्ञान सकारात्मकता तथा नकारात्मक दोनो से भिन्न है, तथापि इस तथ्यविशेष, कि यह नकारात्मक नही है, के कारण इसे केवल सकारात्मक कहा जाता है।[2] अज्ञान को एक सकारात्मक स्थिति के रूप मे कहा जाता है, इसे केवल ज्ञान का निरास नहीं कहा जाता, और इस प्रकार यह कहा जाता है कि किसी व्यक्ति मे किसी विषय के शुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति उस विषय के प्रसग में अज्ञान की सकारात्मक सत्ता को विनष्ट कर देती है तथा यह कि यह अज्ञान शुद्ध ज्ञान के निरास से कोई व्यक्ति जो समझेगा उससे भिन्न वस्तु है।[3] चित्सुख का कहना है कि अज्ञान का सकारात्मक स्वरूप उस समय स्पष्ट हो जाता है जब हम यह कहते हैं कि हम नहीं जानते कि तुम जो कह रहे हो वह सत्य है।[4] यहाँ इस तथ्य विशेष का शुद्ध ज्ञान है कि जो कहा गया है वह ज्ञात है, किन्तु यह नही ज्ञात है कि जो कहा गया है वह सत्य है।[4] यहाँ भी तथ्य के अज्ञान का सकारात्मक ज्ञान है, जो कि केवल ज्ञान का अभाव नहीं है। किन्तु, इस प्रकार का अज्ञान इन्द्रिय ससर्ग अथवा इन्द्रिय-प्रक्रिया के माध्यम से नहीं अपितु सीधे स्व-प्रकाशी सविद्-साक्षिन् द्वारा अनुभूत होता है। किसी विषय के बारे मे शुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति के ठीक पूर्व अज्ञान रहता है, तथा, इस प्रकार के अज्ञान द्वारा विशेषित के रूप मे विषय का अज्ञात के रूप मे अनुभव किया जाता है। सभी वस्तुएँ ज्ञात अथवा अज्ञात के रूप मे आन्तरिक स्थिर आशुज्ञानीय सविद् की विषय होती हैं।[5] ऐसी अवस्था जिसमे हमे कुछ नहीं ज्ञात हुआ (न किंचिदवेदिषम्) के रूप मे गभीर स्वप्नविहीन निद्रा के हमारे अभिकथन को भी स्वप्न-विहीन अवस्था में अज्ञान के सकारात्मक अनुभव के रूप मे उल्लिखित किया जाता है।

---

[1] अनादिभावरूप यद्विज्ञानेन विलीयते तद् अज्ञानमिति प्रज्ञालक्षणम् सप्रचक्षते अनादित्वे सति भावरूप विज्ञाननिरास्यम् अज्ञानमिति लक्षण इह विवक्षितम्।

—चित्सुखी, पृ० ५७।

[2] भावाभावविलक्षणस्य अज्ञानस्य अभावविलक्षणत्वमात्रेण भावत्वोपचारात्।

—वही।

[3] विगीत देवदत्तनिष्ठप्रमाणज्ञान देवदत्तनिष्ठप्रमाभावातिरिक्तानादेर्निवर्तकं प्रमाणत्वाद् यज्ञदत्तादिगतप्रमाणज्ञानवदित्यनुमानम्।

—वही, पृ० ५८।

[4] त्वदुक्तेऽर्थे प्रमाणज्ञान मम नास्ति इत्यस्य विशिष्टविषयज्ञानस्य प्रमात्वात्।

—चित्सुखी, पृ० ५९।

[5] अस्मन्मते अज्ञानस्य साक्षिसिद्धतया प्रमाणाबोध्यत्वात्, प्रमाणज्ञानोदयात् प्राक्काले अज्ञान तद्विशेषितोऽर्थः साक्षिसिद्ध अज्ञात इत्यनुवाद गोचर ·· सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषयः।

—वही, पृ० ६०।

वेदान्त ज्ञान मीमासा का एक प्रमुख सिद्धान्त इस मान्यता मे निहित है कि मिथ्या का प्रस्तुतीकरण अनुभव का एक तथ्य है। इससे विपरीत यह मत प्रभाकर का है कि मिथ्या का कभी भी अनुभव मे प्रस्तुतीकरण नही होता तथा मिथ्यात्व मन द्वारा अनुभव के ऊपर आरोपित त्रुटिपूर्ण रचनावृत्ति मे निहित होता है, जो, मिथ्या-रूपेण एक के रूप मे सलग्न, दो वस्तुओ के बीच मे सम्बन्ध के वास्तविक अभाव को नही देख पाती।

वेदान्त ज्ञान-सिद्धान्त का एक मुख्य सिद्धान्त इस परिकल्पना मे है कि मिथ्या वस्तु की अभिव्यक्ति अनुभूत तथ्य मे आती है। प्रभाकर का इससे विपरीत मत है। उनके अनुसार मिथ्या का दर्शन अनुभव मे नही होता और दो वस्तुओ को मिथ्या रूप से एक मान कर उनके परस्पर सबध के वास्तविक अभाव को मन देख नही पाता है और इससे मन द्वारा अनुभव पर जो अयथार्थ कल्पना का अध्यास होता है उससे ही मिथ्यात्व होता है। इस मत के अनुसार सारी भ्रान्ति उन दो वस्तुओ के मिथ्या ससर्ग अथवा मिथ्या सबध के कारण होती है जो अनुभव मे सबद्ध नही दिखती। यह मिथ्या ससर्ग मानस के सक्रिय व्यापार के कारण नही होता अपितु इस कारण कि मन यह नही देख पाता कि ऐसा कोई ससर्ग अनुभव मे वस्तुत आया ही नही था (असससर्गाग्रह)। महान् मीमासाचार्य प्रभाकर के अनुमार मिथ्या का कभी अनुभव नही होता और मिथ्या अनुभव का कारण मन की असत् कल्पना की स्वच्छद भावपरक क्रिया ही नही अपितु अनुभव मे प्रस्तुत कुछ भेदो को कवल देख पाना भी है। इसे न देख पाने के कारण ही पृथक् विषयो को पृथक् रूप मे नही देखा जाता और इसीलिए जो वस्तुएँ पृथक् एव भिन्न हैं उन्हे मिथ्या रूप से एक ही समझा जाता है तथा शुक्ति को रजत माना जाता है। परन्तु इसमे अनुभव मे वही मिथ्या दर्शन नही है। जो ज्ञात है वह सत्य है और मिथ्यात्व ज्ञान की त्रुटियो एव भेदो को न देख पाने के कारण होता है।

चित्सुख इस मत के प्रति आपत्ति उठाते हैं और कहते हैं मिथ्या ज्ञान की समस्त अवस्थाओ का इससे स्पष्टीकरण नही होता। उदाहरणार्थ इस वाक्य को लें—'मिथ्याज्ञान एव मिथ्या दर्शन होते हैं', यदि इस वाक्य को सत्य स्वीकार किया जाय तो प्रभाकर का कथन असत्य हो जायगा, यदि इसको असत्य माना जाय तो यह वाक्य मिथ्या हो जायगा, जिसके मिथ्यात्व का कारण अतर को न देख पाना नही है। यदि यह कहा जाय कि समस्त प्रतिज्ञाओ के मिथ्यात्व का कारण अतर का न देख पाना है तो किसी एक भी सत्यप्रतिज्ञा अथवा सत्य अनुभव को ढूंढ पाना कठिन होगा। सदा परिवर्तनशील दीपशिखा को एक ही मानने के हमारे मिथ्या अनुभव की उपमा के आधार पर समस्त सत्य प्रत्यभिज्ञाओ को भी मिथ्या माना जा सकता है और इस हेतु सारे अनुमान शकास्पद हो जायेंगे। समस्त यथार्थ एव सत्य ससर्गों या होना भेदो

को न देख पाने के कारण बताया जा सकता है। ऐसा कोई भी ससर्ग नही जिसमे कोई यह निश्चय कर सके कि वह वास्तविक ससर्ग का ही प्रयोग कर रहा है न कि केवल ससर्ग के अभाव की अग्राह्यता को (असससर्गाग्रह)। अत चित्सुख का तर्क है कि सारे मिथ्या ज्ञान का कारण भेदो की अग्राह्यता है, ऐसी व्याख्या कर सकना आवश्यकता से अधिक आशा करना है क्योकि यह मानना बिल्कुल युक्ति युक्त है कि मिथ्या ज्ञान दोषयुक्त इन्द्रियो के द्वारा उत्पन्न होता है क्योकि वे यथार्थ ज्ञान के उदय मे बाधक होकर निश्चित रूप से अयथार्थ ज्ञान की जनक होती है।[1] अत शुक्ति मे रजत के मिथ्या प्रत्यक्ष होने मे शुक्ति ही रजत का टुकडा प्रतीत होती है। परन्तु जो मिथ्याप्रत्यक्ष के आलम्बन को प्रस्तुत करता है उसका स्वरूप क्या है? वह पूर्णत असत् नही माना जा सकता क्योकि जो पूर्णत असत् है वह अयथार्थज्ञान का आलवन भी नही हो सकता। इसके उपरान्त यह ऐसे ज्ञान (यथा, केवल शुक्ति के अयथार्थ ज्ञान वश उसको रजत मान कर उठाने की प्रवृत्ति) द्वारा द्रष्टा मे भी भौतिक क्रिया व्यापार प्रवृत्त नही कर सकता। न वह सत् ही माना जा सकता है क्योकि परवर्ती अनुभव से पूर्व के अयथार्थ ज्ञान का बाध होता है और वह यह कहता है कि रजत का टुकडा इस क्षण मे नही है और भूतकाल मे भी रजत का टुकडा नही था केवल शुक्ति ही रजतवत् प्रतीत होती थी। अतएव मिथ्यादर्शन को वास्तविक प्रतीत होते हुए भी सत् अथवा असत् नही कहा जा सकता और समस्त माया की अनिर्वचनीयता का ठीक वही लक्षण है।[2]

चित्सुख द्वारा वर्णित वेदान्त के अन्य सिद्धान्तो का विवेचन करना आवश्यक नही है क्योकि उनमे कोई नवीनता नही है और इस ग्रन्थ के प्रथम खड मे दशम अध्याय मे उसका वर्णन हो चुका है। अतएव न्याय पदार्थो की उसकी तात्विक आलोचना का वर्णन करना वाछनीय है। तथापि केवल कुछ आलोचनाओ का उल्लेख पर्याप्त होगा क्योकि अधिकाशत उनमे उन पदार्थो के खडन का उल्लेख है जिनकी चर्चा श्री हर्ष की महान् रचना 'खडन-खड-खाद्य' मे की गई है और एक ही प्रकार के पदार्थों का दो भिन्न-भिन्न लेखको द्वारा किया खडन दुरुह होगा, यद्यपि चित्सुख के बहुत से तर्क नवीन और श्री हर्ष द्वारा दिए हुए तर्को से भिन्न है। ऐसे खडनो मे चित्सुख का सामान्य क्रम श्री हर्ष के क्रम से कुछ भिन्न है। क्योकि श्री हर्ष के असदृश चित्सुख ने वेदान्त की मुख्य प्रतिज्ञाओ का विवेचन किया और उनके द्वारा

---

[1] तथा दोषानामपि यथार्थ ज्ञानप्रतिबाधकत्वम् अयथार्थज्ञानजनकत्व च किं न स्यात्।
—चित्सुख, पृ० ६६।

[2] प्रत्येक सदसद्भ्या विचारपदवी न यद्गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिन —
—चित्सुखी, पृ० ७९।

न्याय पदार्थो के खडनो का लक्ष्य उन पदार्थो की अनिर्वचनीयता अथवा अस्पष्टता प्रदर्शित करना उतना नही था जितना कि यह प्रदर्शित करना कि वे मिथ्या प्रतीतियाँ हैं और शुद्ध स्वप्रकाश ब्रह्म ही परम तत्व और परम सत् है ।

अतः काल के खडन मे चित्सुख लिखते है कि काल का प्रत्यय न तो चक्षु द्वारा और न त्वचा द्वारा ही हो सकता है और न यह मन द्वारा ही ग्राह्य है क्योकि मन का व्यापार केवल बाह्य इन्द्रियो के ससर्ग से ही सभव है । इसके अतिरिक्त किसी प्रत्यक्ष-गम्य सामग्री के अभाव मे इसका अनुमान भी नही हो सकता । पूर्व एव पश्चात्, क्रम एव युगपद्भाव, शीघ्रता एव अवधि, स्वत ही काल के इस स्वरूप को नही प्रदर्शित कर सकते जो स्वरूप स्वय काल का है । यह कहा जा सकता है कि क्योकि सूर्य के स्पदन मानव शरीर अथवा जगत् की वस्तुओ के सबध मे ही हो सकते है जिससे कि वे केवल किसी अन्य कर्तृत्व, यथा दिन, मास इत्यादि, के द्वारा ही युवा अथवा वृद्ध प्रतीत होते हैं, अत सूर्य के स्पन्दन को विश्व की वस्तुओ के साथ सबध करने वाला वह कर्तृत्व काल कहलाता है ।[1] इसका उत्तर चित्सुख यह देते हैं कि क्योकि घटनाओ और वस्तुओ के प्रकट होने की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ के अनुसार उन घटनाओ एव वस्तुओ मे काल के प्रकाशन का कारण स्वय आत्मा को माना जा सकता है इसलिए 'काल' सज्ञक किसी पदार्थ के अस्तित्व की कल्पना करना अनावश्यक है । पुन यह भी नही कहा जा सकता कि पूर्व एव पश्चात् की धारणा का उपादान कारण काल है क्योकि इन धारणाओ की यथार्थता वेदान्ती नही मानते । उनको सूर्य के परिस्पदन की अधिक अथवा कम मात्रा द्वारा उत्पन्न सस्कार ही माना जा सकता है । अत काल को पृथक् पदार्थ मानने की कोई आवश्यकता नही क्योकि उसके ज्ञान की व्याख्या हमारे अनुभव के ज्ञात तथ्यो के आधार पर ही की जा सकती है । कुछ तथ्यो के विचार से दिक् भी त्याज्य है क्योकि दिक् का प्रत्यक्ष इन्द्रियो के द्वारा नही हो सकता अथवा अनुभूत तथ्यो के न होने के कारण उसका अनुमान भी नही हो सकता । काल और दिक् दोनो का कारण अपेक्षा बुद्धि है और उस उपेक्षा बुद्धि के कारण शारीरिक स्पदन के हमारे अनुभव के ससर्ग मे मन दिक् की धारणा का निर्माण करता है । अत दिक् को पृथक् पदार्थ मानना आवश्यक है ।

[1] तरणिपरिस्पन्दविशेषाणा युवास्थविरशरीरादिपिण्डेषु मासादिविचित्रबुद्धिजनन द्वारेण तदुपहितेषु परत्वापरत्वादिबुद्धिजनकत्व न च तैरसम्बद्धाना तत्र बुद्धिजनकत्व न चसाक्षात् सम्बन्धोऽतेरविपरिस्पन्दन पिण्डैरस्ति अत तत्सम्बन्धकतया कश्चिदष्ट द्रव्यविलक्षणो द्रव्यविशेष सम्पर्तव्य , तस्य च काल इति सज्ञा । (काल के प्रति यह वल्लभ का दृष्टिकोण है) । चित्सुखी पर प्रत्यक्स्वरूप भागवत कृत 'नयन प्रसादिनी" टीका, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १६१५ ।

वैशेषियो के अणु सिद्धान्त का खडन करने के लिए चित्सुख कहते हैं कि–वैशेषिक अणुओ को स्वीकार करने का कोई आधार नही। यदि इन अणुओ को इस आधार पर स्वीकार किया जाय कि समस्त वस्तुओ को सूक्ष्म एव सूक्ष्मतर भागो मे विभक्त होने योग्य माना जाय तो वही बात स्वय अणुओ पर भी प्रयुक्त होगी। यदि यह कहा जाय कि कही तो रुकना ही पडेगा, अत अणु अन्तिम अवस्था समझी जानी चाहिए और वे समान आकार के एव अविभाज्य है तो खिडकियो मे दिखने वाले धूलिकणो को (जिन्हे त्रसरेणु कहा जाता है) भी सूर्य के प्रकाश के समय वैसी ही अन्तिम विभाज्य अवस्था मानना होगा। यदि यह आपत्ति उठाई जाय कि दृश्य होने के कारण वे सावयव है और इस हेतु से उनको अविभाज्य नही माना जा सकता, तो यह कहा जा सकता है कि योगियो द्वारा अणु के दर्शन की मभावना को न्याय लेखको द्वारा स्वीकार करने के कारण त्रसरेणुओ की दृश्यमानता को उनको अविभाज्य न मानने का कारण क्यो नही माना जा सकता। पुन अणुओ का बडे कणो के निर्माण मे और उनको वृहद् रूप प्रदान करने मे उनका सयुक्त होना आवश्यक नही क्योकि वस्त्र मे सूत्र के सदृश अनेक अणु के सयोग बिना ही भौतिक-प्रतीति को सभव कर सकते हैं। चित्सुख आगे अश एव अशी के प्रत्यय के शकर द्वारा किए गए खडन की इन शब्दो मे पुनरूक्ति करते है कि यदि अशी अश से भिन्न है तो या तो वे अश ही होने चाहिए या उनका अस्तित्व नही होगा। यदि वे अश नही है तो यह मानना कठिन होगा कि अशी का निर्माण अशो द्वारा हुआ है, यदि वे अश ही है तो उनका आशिक अथवा पूर्ण रूप से उनमे अस्तित्व होना चाहिए। यदि उनका अशो मे पूर्णत अस्तित्व है तो ऐसे अनेको अशी होगे अथवा प्रत्येक अश मे अशी दृष्टिगोचर होगा, और यदि वे अशो मे आशिक रूपेण विद्यमान है तो अश एव अशी की वही कठिनाई ज्यो की त्यो रहेगी।

पुनश्च प्रत्यय की भी व्याख्या नही की जा सकती। इसको दो परस्पर असयुक्त वस्तुओ की प्राप्ति भी नही माना जा सकता (अप्राप्तयो प्राप्ति सयोग) क्योकि जब तक कोई सयोग का अर्थ ही न समझे तब तक वह 'असयोग' का अर्थ नही समझ सकता। यदि इसकी परिभाषा दो परस्पर असबधित वस्तुओ की प्राप्ति की जाय तो सयोग मे समवाय सम्बन्ध भी सम्मिलित हो जाएगा जैसा कि सूत्र एव वस्त्र मे होता है। यदि उसको काल जनित अनित्य सम्बन्ध माना जाए (अनित्य सम्बन्ध जन्मत्व-विशेपितो वा) तो अनादि सयोग इनमे सम्मिलित नही हो सकेंगे और क्रीत वस्तुओ के स्वामित्व को भी सयोग मे सम्मिलित करना पडेगा क्योकि स्वामित्व का सम्बन्ध भी काल जनित है। 'स्वामित्व' के सम्बन्ध होने के विषय मे आपत्ति नही उठाई जा सकती क्योकि सबध के लिए यह आवश्यक है कि वह दो वस्तुओ के बीच हो। यदि आपत्ति उचित हो तो वस्तु एव गुण के बीच का सम्बन्ध सम्बन्ध नही रहेगा क्योकि वस्तु एव गुण का अस्वित्व एक साथ ही होता है और कोई दो पृथक् वस्तुएँ परस्पर सबधित नही हो सकती, यदि आपत्तिकर्त्ता का अर्थ यह हो कि सबध दो

पदो के मध्य हो तो स्वामित्व मे भी दो पद है, एक अधिगत वस्तु और दूसरा अधिगन्ता । इसके उपरात यदि सयोग की परिभाषा ऐसे सवध के रूप मे की जाय जो दो वस्तुओ का पूर्णरूपेण सयोग न करे (अव्याप्यवृत्तित्वविशेषतो) तो वह भी अनुचित ही होगा, क्योकि सयोग सवध अशभूत निरवयव तत्वो को सयुक्त नही कर सकता क्योकि उनके अश होते ही नही । चित्सुख 'विभाग' के प्रत्यय का भी इसी प्रकार मे खडन करते हैं और दो तीन चार आदि सख्या के खडन पर अग्रसर होते है ।

चित्सुख का कथन है कि दो तीन *इत्यादि को पृथक् सख्याएँ मानना आवश्यक नही क्योकि हमे केवल एक वस्तु का ही प्रत्यक्ष होता है और पुन अपेक्षा बुद्धि से हम उनको सम्बद्ध करते हैं और दो तीन इत्यादि का रूप देते है । इन सख्याओ की कोई पृथक् एव स्वतन्त्र सत्ता नही है अपितु वे एकाकी विषयो की अपेक्षा बुद्धि द्वारा काल्पनिक- सृष्टि मात्र ही है । अतएव यह मानना आवश्यक नही कि दो, तीन इत्यादि सख्याओ की सृष्टि यथार्थ है । हम अपने मानसिक ससर्ग के शक्ति के वल पर ही दो-तीन इत्यादि भावो का वर्णन करते हैं ।[1]

तत्पश्चात् चित्सुख 'जाति' का इस आधार पर खडन करते है कि इसको प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता। प्रश्न यह है कि जाति का वास्तविक अर्थ क्या है ? यदि यह कहा जाय कि एक पशु विशेष के प्रत्यक्ष से हमे गौ के भाव का ग्रहण हो और दूसरे ऐसे ही पशु विशेषो के प्रत्ययो मे भी गौ के भाव का ग्रहण हो तो वह जाति होती है, तो उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि इसका यह अर्थ लगाना आवश्यक नही कि गौ की पृथक् जाति को स्वीकार कर लिया गया है क्योकि जिस प्रकार एक प्राणी कुछ विशेषताओ के कारण 'गौ' सज्ञा धारण करने के योग्य हो जाता है, ठीक उसी प्रकार अन्य प्राणियो मे भी ऐसी विशेषताएँ है जिनसे वे भी गौ सज्ञा के योग्य हो जाते हैं । हम भिन्न-भिन्न स्थानो मे चन्द्र-बिम्ब देखते है और उसको चन्द्र ही कहते है । 'गौ' का भाव किन तत्वो से वना हुआ है ? गौओ का एक ही विश्व-व्यापी लक्षण निर्धारित करना कठिन है, यदि एक ऐसा लक्षण मिल जाय तो गौ की जाति को स्वीकार करने की आवश्यकता ही नही होगी, क्योकि उस स्थिति मे वह एक ही लक्षण होगा और प्रत्येक स्थान पर वह गौ के रूप मे ही जाना जाएगा और एक पृथक् जाति को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नही होगी । पुनश्च, जाति से पृथक् इस लक्षण को अथवा लक्षण से पृथक् जाति को प्राप्त करना कठिन होगा एव उनकी अन्योन्याश्रयता इनमे से एक

---

[1] आरोपित द्वित्वत्रित्वादिविशेषितैकत्वसमुच्चयालवना बुद्धिर्द्वित्वादिजन्तिकेति चेत् न तथाभूतया बुद्धेर्द्वित्वादिव्यवहारजनकत्वोपपत्तौ द्वित्वाद्युत्पादकत्वकल्पनावैयर्थ्यात्
—नयन प्रसादिनी—पृ० ३०० ।

की भी परिभाषा असभव बना देगी। जाति को स्वीकार कर भी लिया जाय तो यह प्रदर्शित करना ही पडेगा कि प्रत्येक अवस्था मे उसका तत्व क्या है, और यदि प्रत्येक अवस्था मे ऐसा तत्व ढूँढ निकालना आवश्यक ही हो तो गौ का गौ के रूप मे एव अश्व का अश्व के रूप मे ज्ञान प्राप्त करने के लिए ये तत्व के पर्याप्त प्रमाण होगे। तब फिर जाति को स्वीकार करने से क्या लाभ ? पुन यदि इस जाति को स्वीकार भी कर लिया जाय तो यह ज्ञात करना कठिन है कि प्राणियो के साथ इसके सम्बन्ध को कैसे ग्रहण किया जाए। यह ससर्ग, तादात्म्य, समवाय अथवा कहीं पर भी विद्यमान अन्य किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नही हो सकता। यदि समस्त जातियो का सर्वत्र अस्तित्व हो तो समस्त जातियो का एक साथ मिश्रण हो जायगा और समस्त वस्तुओ का सर्वत्र अस्तित्व होगा। पुनः यदि यह माना जाए कि 'गौ' जाति की सत्ता विद्यमान गौ मे ही है तो नवीन गौ के जन्म लेते समय इस जाति का उसमे कैसे समावेश हो जाता है और न जाति के कोई ऐसे अवयव हैं जिससे उसकी सत्ता आशिकरूपेण यहाँ हो और आशिक रूप मे वहा। यदि प्रत्येक पृथक् गौ मे इस प्रकार की जाति पूर्णत. विद्यमान हो तो अनेको जातियाँ हो जायेंगी और यदि इस प्रकार की जाति का विस्तार समस्त पृथक्-पृथक् गौओ तक कर दिया जाए तो समस्त गौओ को एकत्र किए बिना 'जाति' का भाव उपलब्ध नही हो सकेगा।

'कारण' के खडन का वर्णन करते हुए चित्सुख का कथन है कि उसकी परिभाषा केवल 'पूर्वकालभावित्व' नही की जा सकती क्योकि ऐसी स्थिति मे तो धोबी के घर मे सदा पाए जाने वाले धोबी के वस्त्रो को अपनी पीठ पर उठाने वाले गधे को धोबी के घर मे प्रज्ज्वलित धूम्रयुक्त अग्नि की कालपूर्वी वस्तु मानना पडेगा और इस प्रकार उसको अग्नि का कारण मानना होगा। यदि इस पूर्वकालभावित्व का यह गुण भी बताया जाए कि वह कार्य की विद्यमानता मे विद्यमान रहता है और उसके अभाव में अविद्यमान रहता है तो भी धोबी के घर की अग्नि के प्रसग मे धोवी का गधा इस प्रकार के पूर्वकालभावित्व की अवस्थाओ का प्रतिपादक माना जा सकता है। (जब धोबी गधा लेकर घर से बाहर होता है तो उसके घर मे अग्नि का अभाव होता है और उसके गधे को लेकर घर मे लौटते ही अग्नि पुन प्रज्ज्वलित हो जाती है)। यदि पूर्वकालभावित्व मे एक और विशेषण अनन्यथा-सिद्ध जोड दिया जाए तो भी गधा और दिक् आकाश इत्यादि अन्य सामान्य तत्व अग्नि के कारण माने जा सकते है। यदि यह तर्क दिया जाय कि गधे की विद्यमानता केवल अन्य उपाधियो की विद्यमानता के कारण ही है तो यही बात बीज, भूमि, जल इत्यादि के विपय मे भी कही जा सकती है जो अकुरो की उत्पत्ति के कारण माने जाते हैं। यदि आकाश के धुएं का कारण होने की सभावना मे इस आधार पर आपत्ति उठाई जाय कि वह सामन्य, व्यापी एवम् नित्य तत्व है तो उसी तर्क से

आत्मा को (जो एक सर्वव्यापी तत्व है) सुख दु ख का कारण मानने वाले न्याय दृष्टिकोण के विरुद्ध आपत्ति के रूप मे ग्रहण करना पडेगा। कारण की परिभाषा यह नही हो सकती कि उसके होने से कार्य होता है, क्योकि बीज अकुर का कारण नही हो सकता क्योकि पृथ्वी जल, आकाश प्रकाश, आदि सहायक तत्वो के बिना अकुर स्वयमेव उत्पन्न ही नही हो सकते। पुन कारण की परिभाषा यह भी नही हो सकती कि जिसके सहायक तत्वो अथवा सहकारी तत्वो के मध्य विद्यमान होने पर कार्य होता है क्योकि गधे जैसी एक अप्रासगिक वस्तु भी अनेको सहयोगी परिस्थितियो मे विद्यमान हो सकती हैं, परन्तु इससे किसी अप्रासगिक वस्तु को कारण बताना किसी के लिए उचित नही होगा। इसके अतिरिक्त यह परिभाषा उन अवस्थाओ मे प्रयुक्त नही होगी जिनमे कई सहयोगी तत्वो के सयुक्त व्यापार से कार्य उत्पन्न होता है। इससे भी अधिक जब तक कारण की परिभाषा ठीक प्रकार से न की जाए, तब तक सहयोगी तत्वो की परिभाषा किसी प्रकार से नही हो सकेगी और न कारण की यह परिभाषा ही हो सकती कि उसके विद्यमान होने पर कार्य होता है और उसके अभाव मे कार्य नही होता है (सतिभावोऽसत्यभावएव) क्योकि ऐसा सिद्धान्त कारणो की बहुलता के द्वारा अप्रमाणित हो जाता है (अग्नि लकडी के दो टुकडो के रगडने से, केवल कांच ताल से अथवा चकमक के जोर से टक्कर देने से उत्पन्न होती है)। यह कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न निमित्तो द्वारा उत्पन्न प्रत्येक प्रकार की अग्नि मे अन्तर है। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि यदि ऐसा कोई अन्तर हो भी तो भी वह निरीक्षण द्वारा अगम्य है और इस प्रकार के भेदो के गोचर होने पर भी ऐसे भेदो से यह अर्थ होना आवश्यक नही कि भिन्न-भिन्न कारणो से भिन्न-भिन्न कार्य भिन्न-भिन्न श्रेणी के हैं क्योकि भेद कई पश्चात् की घटनाओ से भी हो सकते हैं। पुन, कारण को वस्तुओ का एक स्थान पर एकत्र होना भी नही कहा जा सकता क्योकि ऐसा सह-अस्तित्व निरर्थक तत्वो का भी हो सकता है। 'कारण' को भिन्न-भिन्न कारणो का एकत्र होना भी नही कह सकते क्योकि 'कारण' का क्या अर्थ है इसकी परिभाषा करना ही अभी तक हमारे लिए सम्भव नही हुआ है। अत 'कारणो का एकत्र होना' यह वाक्याश निरर्थक होगा। इसके अतिरिक्त यह पूछा जा सकता है कि सामग्री कारणो से भिन्न है अथवा उनसे अभिन्न। यदि भिन्नता मानी जाए तो प्रत्येक कारण से भी कार्य उत्पन्न होगा और उस सामग्री से कार्य की उत्पत्ति की कल्पना करना अनावश्यक होगा। यदि सामग्री से कारण अभिन्न माना जाय तो प्रत्येक कारण सामग्री के कारण होने से और प्रत्येक मे उसकी विद्यमानता होने से सामग्री भी सदाविद्यमान रहती है तथा इसी हेतु कार्य भी सदा रहते है, और यह बात बिल्कुल मूर्खतता पूर्ण है। पुन यह प्रश्न उठता है कि सामग्री का अर्थ क्या है ? उसका अर्थ एक ही काल अथवा देश मे घटना नही हो सकता क्योकि देश सदा एक से ही न होने के कारण देश अथवा काल स्वय भी बिना कारण के ही होगा। पुन यह भी नही कहा जा सकता कि यदि कारण का अस्तित्व अस्वीकार किया जाय तो कारण ही

न होने के कारण वस्तुओ का अभाव हो जाएगा क्योकि न्याय की यह मान्यता है कि अणु, आत्माएँ इत्यादि नित्य वस्तुएँ हैं जिनका कोई कारण नही है।

कारण की परिभाषा न हो सकने के कारण कार्य की भी परिभाषा सतोषजनक रूप से नही हो सकती क्योकि कार्य की ग्राह्यता सदा कारण के भाव पर निर्भर करती है। द्रव्य के भाव के खडन मे चित्सुख का कथन है कि द्रव्य की परिभाषा केवल यह है कि उसमे गुण समवायी रूप से रहते हैं। परन्तु क्योकि गुणो मे भी गुण देखे जाते हैं और नैयायिको का विश्वास है कि उत्पत्ति के क्षण मे द्रव्य निर्गुण होता है, इसलिए ऐसी परिभाषा द्रव्य की विशेषता नही बताई जा सकती अथवा परिभाषा नही की जा सकती। यदि द्रव्य की परिभाषा गोल-मटोल ढग से इस प्रकार की जाए कि उसमे गुणो का अत्यन्ताभाव विद्यमान नही होता (गुणवत्वात्यन्ताभावानधिकरणता) तो भी इसमे यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि ऐसी परिभाषा भी हमे अभाव को भी गुण मानने के लिए बाध्य करेगी क्योकि स्वय गुणो का अभाव एक प्रकार अभाव होने के कारण अभाव मे स्थित नही रह सकता।[1] पुन॰ यह प्रश्न भी उठ सकता है कि गुणो के अभाव की अनुपस्थिति कई गुणो के अथवा सारे गुणो के प्रसग मे कही गई है, प्रत्येक अवस्था मे यह असत्य है। क्योकि प्रथम अवस्था मे ऐसे द्रव्य को द्रव्य नही कहा जा सकता जो कुछ गुणो का आश्रय हो और अन्यो का न हो और दूसरी अवस्था मे किसी ऐसी वस्तु को ज्ञात करना कठिन होगा जिसे द्रव्य नही कहा जा सके क्योकि ऐसा द्रव्य कौन सा है जिसमे सारे गुणो का अभाव हो। यह तथ्य फिर भी रह जाता है कि ऐसी गोल मटोल परिभाषा द्रव्य और गुण का भेद नही कर सकती क्योकि गुणो मे भी सख्या का एवम् पृथकत्व का गुण होता ही है।[2]

यदि यह तर्क दिया जाए कि गुणो मे और गुणो की विद्यमानता मानली जाए तो अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी, तो इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि इस पर अनवस्था दोष का आक्षेप नही किया जा सकता क्योकि यह नही कहा जा सकता कि सख्या एवम् पृथक्ता के अन्य और कोई गुण होते हैं। पुन द्रव्यो मे ऐसी कोई सामान्य वस्तु नही जिसके कारण उनको द्रव्य की जाति के अन्तर्गत माना जा सके।[3] सोना, मिट्टी एवम् वृक्ष सारे द्रव्य माने जाते हैं परन्तु उनमे कोई वस्तु सामान्य नही है जिसके कारण सोना और मिट्टी अथवा वृक्ष एक ही माना जा सके। अत यह स्वीकार नही किया जा सकता कि द्रव्यो मे कोई एक

[1] तत्रैवात्यन्ताभावेऽतिव्याप्ते, सोऽपि गुणवत्त्वात्यताभावस्तस्याधिकरण स्वस्य स्वस्मिन्नवृत्ते —
चित्सुखी—पृ० १७६।

[2] अस्मिन्नपि वक्रलक्षणे गुणादिपु अपि सख्यापृथक्त्वगुणयो॰ प्रतीते कथ नातिव्याप्ति —
चित्सुखी—पृ० १७७।

[3] तज्जातिव्यजक किंचिदवश्यमभ्युपेय न च तन्निरूपण सुशकम्
वही—पृ० १७८।

ऐसा धर्म पाया जाता है जो उन सब मे एकसा रह सके ।[1] गुणो का उल्लेख करते हुए चित्सुख प्रशस्तपाद कृत 'वैशेषिक भाष्य' मे दी गई गुण की परिभाषा का विवेचन करते हैं। उसमे प्रशस्तपाद गुण की यह परिभापा करते है कि गुण द्रव्याश्रयी, द्रव्य जाति से सम्बद्ध, निर्गुण और निष्क्रिय होता है।[2] परन्तु गुण की परिभाषा मे 'निर्गुण' पद का समावेश नही हो सकता क्योकि गुण की परिभापा तो अपेक्षित ही रह जाती है। पुन यदि गुण की उचित परिभाषा न की जाए तो क्रिया से उसका भेद नही जाना जा सकता। अत, 'निष्क्रिय' पद निरर्थक हो जाता है। पुनः 'गुण' जाति का निर्धारण करने के लिए यह आवश्यक है कि गुणो के सामान्य धर्म ज्ञात हो एव जाति का स्वरूप भी निर्धारित हो। अतः किसी भी दृष्टिकोण से इस प्रश्न को देखा जाए तो भी गुणो की परिभाषा करना असम्भव है।

चित्सुख द्वारा प्रस्तुत ऐसे खडनो के और अधिक उदाहरण देना अनावश्यक है। उपर्युक्त विवेचन से वह प्रगट होगा कि चित्सुख पदार्थ विशेष से सम्बन्धित अधिकाश प्रत्ययो के विस्तार मे जाकर उनकी स्वाभाविक असभवता को प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं। तथापि कही-कही वह अपने कार्य मे पूर्णत सफल नही हो सके और नैयायिको द्वारा दी हुई परिभाषाओ की आलोचना मात्र से ही सतुष्ट हो गए। परन्तु इस स्थल पर यह बता देना उचित होगा कि यद्यपि श्री हर्ष एवम् चित्सुख ने न्याय द्वारा प्रस्तुत भिन्न-भिन्न पदार्थों की परिभाषाओ की असभवता प्रदर्शित करने के लिए उन पदार्थो के एक आलोचक की विस्तृत योजना को क्रियान्वित किया है तो भी उनमे से कोई भी वेदान्त मे नई तार्किक रीति का नवीन प्रणेता नही माना जा सकता। स्वय शकर ने अपने वेदान्त सूत्र २२ मे न्याय एव अन्य दर्शनो के अपने खडन मे इसका प्रचलन कर दिया था।

नागार्जुन का तर्क एवं वेदान्त-तर्क विवेचन

श्री हर्ष का तर्क-विवेचन न्याय-वैशेपिक के यथार्थवादी परिभापाओ का विरोधी था, जिनके अनुसार समस्त ज्ञेय परिभाष्य हैं। इसका लक्ष्य यह था कि समस्त वस्तुओ का अस्तित्व एव स्वरूप मायामय होने के कारण उन सब के स्वरूप को

---

[1] द्रव्य द्रव्यमिति अनुगतप्रत्यय प्रमाण इति चेन्न सुवर्णमुपलभ्य मृत्तिकानुपलभ्यमानस्य लौकिकस्य तदेवेद द्रव्यमिति प्रत्ययाभावात्परीक्षकाणा चानुगतप्रत्यये विप्रतिपत्ते — चित्सुखी–पृ० १७९।

[2] रूपादीना गुणाना सर्वेपा गुणत्वाभिमवधो द्रव्याश्रितत्व निर्गुणत्व निष्क्रियत्व, प्रशस्तपाद भाष्य–पृ० ९४—विजयनगरम् सस्कृत सीरीज, बनारस, १८९५।

न होने के कारण वस्तुओ का अभाव हो जाएगा क्योकि न्याय की यह मान्यता है कि अणु, आत्माएँ इत्यादि नित्य वस्तुएँ हैं जिनका कोई कारण नही है।

कारण की परिभाषा न हो सकने के कारण कार्य की भी परिभाषा सतोषजनक रूप से नही हो सकती क्योकि कार्य की ग्राह्यता सदा कारण के भाव पर निर्भर करती है। द्रव्य के भाव के खडन मे चित्सुख का कथन है कि द्रव्य की परिभाषा केवल यह है कि उसमे गुण समवायी रूप से रहते हैं। परन्तु क्योकि गुणो मे भी गुण देखे जाते हैं और नैयायिको का विश्वास है कि उत्पत्ति के क्षण मे द्रव्य निर्गुण होता है, इसलिए ऐसी परिभाषा द्रव्य की विशेषता नही बताई जा सकती अथवा परिभाषा नही की जा सकती। यदि द्रव्य की परिभाषा गोल-मटोल ढग से इस प्रकार की जाए कि उसमे गुणो का अत्यन्ताभाव विद्यमान नही होता (गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणता) तो भी इसमे यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि ऐसी परिभाषा भी हमे अभाव को भी गुण मानने के लिए बाध्य करेगी क्योकि स्वय गुणो का अभाव एक प्रकार अभाव होने के कारण अभाव मे स्थित नही रह सकता।[1] पुन यह प्रश्न भी उठ सकता है कि गुणो के अभाव की अनुपस्थिति कई गुणो के अथवा सारे गुणो के प्रसग मे कही गई है, प्रत्येक अवस्था मे यह असत्य है। क्योकि प्रथम अवस्था मे ऐसे द्रव्य को द्रव्य नही कहा जा सकता जो कुछ गुणो का आश्रय हो और अन्यो का न हो और दूसरी अवस्था मे किसी ऐसी वस्तु को ज्ञात करना कठिन होगा जिसे द्रव्य नही कहा जा सके क्योकि ऐसा द्रव्य कौन सा है जिसमे सारे गुणो का अभाव हो। यह तथ्य फिर भी रह जाता है कि ऐसी गोल मटोल परिभाषा द्रव्य और गुण का भेद नही कर सकती क्योकि गुणो मे भी सख्या का एवम् पृथकत्व का गुण होता ही है।[2]

यदि यह तर्क दिया जाए कि गुणो मे और गुणो की विद्यमानता मानली जाए तो अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी, तो इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि इस पर अनवस्था दोष का आक्षेप नही किया जा सकता क्योकि यह नही कहा जा सकता कि सख्या एवम् पृथक्ता के अन्य और कोई गुण होते हैं। पुन द्रव्यो मे ऐसी कोई सामान्य वस्तु नही जिसके कारण उनको द्रव्य की जाति के अन्तर्गत माना जा सके।[3] सोना, मिट्टी एवम् वृक्ष सारे द्रव्य माने जाते हैं परन्तु उनमे कोई वस्तु सामान्य नही है जिसके कारण सोना और मिट्टी अथवा वृक्ष एक ही माना जा सके। अत यह स्वीकार नही किया जा सकता कि द्रव्यो मे कोई एक

[1] तत्रैवात्यन्ताभावेऽतिव्याप्ते, सोऽपि गुणवत्त्वात्यताभावस्तस्याधिकरण स्वस्य स्वस्मिन्नवृत्ते — चित्सुखी–पृ० १७६।

[2] अस्मिन्नपि वक्रलक्षणे गुणादिपु अपि सख्यापृथक्त्वगुणयो. प्रतीते कथ नातिव्याप्ति —

[3] जातिमभ्युपगच्छता तज्जातिव्यजक किंचिदवश्यमभ्युपेय न

ऐसा धर्म पाया जाता है जो उन सब मे एकसा रह सके ।[1] गुणो का उल्लेख करते हुए चित्सुख प्रशस्तपाद कृत 'वैशेषिक भाष्य' मे दी गई गुण की परिभाषा का विवेचन करते हैं। उसमे प्रशस्तपाद गुण की यह परिभाषा करते हैं कि गुण द्रव्याश्रयी, द्रव्य जाति से सम्बद्ध, निर्गुण और निष्क्रिय होता है।[2] परन्तु गुण की परिभाषा मे 'निर्गुण' पद का समावेश नही हो सकता क्योकि गुण की परिभापा तो अपेक्षित ही रह जाती है। पुन यदि गुण की उचित परिभाषा न की जाए तो क्रिया से उसका भेद नही जाना जा सकता। अत, 'निष्क्रिय' पद निरर्थक हो जाता है। पुनः 'गुण' जाति का निर्धारण करने के लिए यह आवश्यक है कि गुणो के सामान्य धर्म ज्ञात हो एव जाति का स्वरूप भी निर्धारित हो। अतः किसी भी दृष्टिकोण से इस प्रश्न को देखा जाए तो भी गुणो की परिभाषा करना असम्भव है।

चित्सुख द्वारा प्रस्तुत ऐसे खडनो के और अधिक उदाहरण देना अनावश्यक है। उपर्युक्त विवेचन से वह प्रगट होगा कि चित्सुख पदार्थ विशेष से सम्बन्धित अधिकाश प्रत्ययो के विस्तार मे जाकर उनकी स्वाभाविक असभवता को प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते है। तथापि कही-कही वह अपने कार्य मे पूर्णत सफल नही हो सके और नैयायिको द्वारा दी हुई परिभाषाओ की आलोचना मात्र से ही सतुष्ट हो गए। परन्तु इस स्थल पर यह बता देना उचित होगा कि यद्यपि श्री हर्ष एवम् चित्सुख ने न्याय द्वारा प्रस्तुत भिन्न-भिन्न पदार्थों की परिभाषाओ की असभवता प्रदर्शित करने के लिए उन पदार्थो के एक आलोचक की विस्तृत योजना को क्रियान्वित किया है तो भी उनमे से कोई भी वेदान्त मे नई तार्किक रीति का नवीन प्रणेता नही माना जा सकता। स्वय शकर ने अपने वेदान्त सूत्र २२ मे न्याय एव अन्य दर्शनो के अपने खडन मे इसका प्रचलन कर दिया था।

नागार्जुन का तर्क एवं वेदान्त-तर्क विवेचन

श्री हर्ष का तर्क-विवेचन न्याय-वैशेपिक के यथार्थवादी परिभापाओ का विरोधी था, जिनके अनुसार समस्त ज्ञेय परिभाष्य हैं। इसका लक्ष्य यह था कि समस्त वस्तुओ का अस्तित्व एव स्वरूप मायामय होने के कारण उन सब के स्वरूप को

---

[1] द्रव्य द्रव्यमिति अनुगतप्रत्यय प्रमाण. इति चेन्न सुवर्णमुपलभ्य मृत्तिकानुपलभ्यमानस्य लौकिकस्य तदेवेद द्रव्यमिति प्रत्ययाभावात्परीक्षकाणा चानुगतप्रत्यये विप्रतिपत्ते — चित्सुखी–पृ० १७६।

[2] रूपादीना गुणाना सर्वेषा गुणत्वाभिसम्बधो द्रव्याश्रितत्व निर्गुणत्व निष्क्रियत्व, प्रशस्तपाद भाष्य–पृ० ६४—विजयनगरम् सस्कृत सीरीज, बनारस, १८६५।

अपरिभाष्य सिद्ध करने के लिए उन परिभाषाओ का खडन किया जाए। ब्रह्म ही केवल सत्य है। समस्त परिभाषाओ मे छिन्द्रान्वेषण सरल है, इसकी शिक्षा नागार्जुन ने बहुत पहले ही दे दी थी, और उस अर्थ मे (न्याय परिभाषाओ मे शुद्ध शाब्दिक प्रकार के दोषो को खोजने की प्रवृत्ति को छोडकर) श्री हर्ष की पद्धति नागार्जुन-पद्धति को चालू रखना और न्याय वैशेषिक की वास्तविक परिभाषाओ पर उसका प्रयोग करना था। परन्तु नागार्जुन की पद्धति के मुख्यतम अश की श्री हर्ष और उसके अन्य अनुयायियो ने जानबूझ कर उपेक्षा कर दी। इन्होने नागार्जुन के निष्कर्षो के खडन का प्रयत्न नही किया। नागार्जुन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यह है कि सब वस्तुएँ सापेक्ष होने के कारण स्वय मे अपरिभाष्य हैं, अतः उनके तत्व किसी प्रकार भी नहीं ढूँढे जा सकते हैं तथा उनके तत्व न केवल अपरिभाष्य एव अनिर्वचनीय अपितु अगम्य भी होने के कारण ऐसा नही कहा जा सकता कि उनका स्वय का कोई तत्व है। नागार्जुन के अनुयायी आर्यदेव थे। उनका जन्म श्री लका मे हुआ था तथा उन्होने उसी विषय पर ४०० श्लोको का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा था। इसके लगभग दो शताब्दियो के पश्चात् तक नागार्जुन का सिद्धान्त उपेक्षित सा रहा जैसाकि इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि चतुर्थ शताब्दी ई० प० के बुद्धघोष उनका उल्लेख नही करते। पचम शती ई० प० मे गुप्त साम्राज्य काल मे असग और वसुबन्धु हुए। षष्ठ शताब्दी ई० प० मे सूरत जिलान्तर्गत वलभी के निवासी बुद्ध पालित एव उडीसा निवासी भव्य अथवा भावविवेक के हाथो सापेक्षवादी दर्शन पुन. पल्लवित हुआ। नागार्जुन के तर्को की भव्य के अपने विशिष्ट तर्कों द्वारा पूर्ति होने के कारण, उनकी शाखा को 'माध्यमिक सौत्रान्तिक' कहा जाता है। इस समय उत्तर मे महायान के विज्ञानवाद की योगाचार शाखा का विकास हो रहा था तथा इस शाखा का लक्ष्य यह प्रदर्शित करना था कि विज्ञान के यथार्थ ज्ञान के लिए समस्त तर्कशास्त्रीय तर्क निष्फल हैं। समस्त युक्तियुक्त तर्क अपनी असगति मात्र प्रदर्शित करते हैं।[1] यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि श्री हर्ष को योगाचार लेखको से और नागार्जुन से भव्य तक के उनके सापेक्षतावादी अन्य साथियो से तथा नागार्जुन कृत माध्यमिककारिका के सर्वोत्कृष्ट टीकाकार चन्द्रकीर्ति से प्रेरणा मिली हो। बुद्धपालित ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि 'विज्ञान' का ग्रहण एव उसकी सिद्धि युक्तिपूर्ण तर्को द्वारा नही हो सकती क्योकि समस्त तार्किक विवेचन निष्फल एव असगत होते हैं, जबकि भावविवेक ने 'विज्ञान' को युक्तियुक्त तर्कों द्वारा प्रतिपादित करने का यत्न किया। चन्द्रकीर्ति ने अन्तत 'भावविवेक' की व्यवस्था के विरुद्ध बुद्धपालित की व्यवस्था

[1] सोवियत सघ की विज्ञान अकादमी, लेनिनग्राद, द्वारा १९२७ मे प्रकाशित 'कन्सेप्शन ऑव् बुद्धिस्ट निर्वाण'— पृ० ६६-६७।

का समर्थन किया और समस्त युक्तियुक्त तर्कों की निष्प्रयोजनता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया। विज्ञान की सिद्धि के लिए अन्तत चन्द्रकीर्ति की माध्यमिक की व्यवस्था का ही तिब्बत एव मगोलिया मे प्रयोग किया गया।

सत् के विभिन्न पदार्थों के खडन मे नागार्जुन सृष्टि की परीक्षा से प्रारम्भ करते हैं। बौद्धेतर दर्शन कारण-प्रक्रिया को किसी नित्य चित् उपादान के आन्तरिक विकास द्वारा अथवा अनेक तत्वो की सामग्री द्वारा अथवा किसी अविकारी एव नित्य वस्तु पर क्रियमाण कुछ तत्वो द्वारा उत्पति मानते हैं। परन्तु नागार्जुन न केवल इस तथ्य को अस्वीकार ही करते हैं कि किसी वस्तु का कभी प्रादुर्भाव होता है अपितु यह भी कि उसका कभी उपर्युक्त किसी एक प्रकार से भी प्रादुर्भाव होता है। बुद्धपालित का मत है कि वस्तुए स्वयमेव ही उत्पन्न नही हो सकती, क्योकि यदि वे पूर्व ही विद्यमान हो तो उनके उत्पन्न होने का कोई अर्थ ही नही रहता है, यदि विद्यमान वस्तुओ को पुन उत्पन्न होने मे समर्थ माना जाय तो वस्तुए अन्तत उत्पन्न होतीं ही रहेगी। बुद्ध-पालित की आलोचना मे भाव विवेक का कथन है कि बुद्धपालित द्वारा प्रस्तुत खडन का हेतु और उदाहरणो द्वारा पुष्टि की अपेक्षा है और उसके खडन का आशय यह अवाछनीय सिद्धान्त होगा कि यदि वस्तुए स्वयमेव उत्पन्न नही होती हैं तो वे अन्य कारणो से उत्पन्न होनी चाहिएँ। परन्तु चन्द्रकीर्ति भावविवेक की आलोचना पर आपत्ति उठाते हुए कहते हैं कि कार्य एव कारण का तादात्म्य स्थापित करने का भार उस दृष्टिकोण को ग्रहण करने वाले उनके विपक्षियो, साख्य मतावलम्बियो, पर है। जो पूर्व से ही विद्यमान है उसके उत्पन्न होने का कोई अर्थ ही नही, और यदि पूर्व से विद्यमान वस्तु को पुन. उत्पन्न होना पडे और तत्पश्चात् पुन पुन· उत्पन्न होना पडे तो अनवस्था प्रसग की प्राप्ति होगी। साख्य सत्कार्यवाद दृष्टिकोण के खडन मे नवीन तर्क देना अनावश्यक है, साख्य दृष्टिकोण की असगति प्रदर्शित कर देना ही पर्याप्त है। आर्यदेव का कथन है कि माध्यमिक दृष्टिकोण के पास अपना कोई प्रतिपाद्य विषय नही है जिसको वह स्थापित करना चाहता है, इसका कारण यह है कि वह किसी वस्तु के सत् अथवा असत् अथवा सत् एव असत् के योग को नही मानता।[1] ठीक इसी दृष्टिकोण को श्री हर्ष ने ग्रहण किया। श्री हर्ष का कथन है कि वेदान्तियो का जड जगत् की वस्तुओ एव उनमें निहित विभिन्न पदार्थों के विषय मे अपना कोई दृष्टिकोण नही है। अत किसी प्रकार से भी वेदान्त-दृष्टिकोण पर आक्षेप नही लगाए जा सकते। तथापि, अन्य दृष्टिकोणो के छिन्द्रान्वेषण मे वेदान्त स्वतन्त्र है, और ऐसा हो जाने पर तथा अन्य मतो की सगतियो के प्रदर्शित किये जाने पर वेदान्त का कार्य समाप्त हो जाता है, क्योकि

---

[1] सदसच्चेति यस्य पक्षो न विद्यते।
उपालम्भश्चिरेणापि तस्य वक्तु न शक्यते॥ माध्यमिक वृत्ति पृ० १६।

अपरिभाष्य सिद्ध करने के लिए उन परिभाषाओ का खडन किया जाए। ब्रह्म ही केवल सत्य है। समस्त परिभाषाओ मे छिन्द्रान्वेषण सरल है, इसकी शिक्षा नागार्जुन ने बहुत पहले ही दे दी थी, और उस अर्थ मे (न्याय परिभाषाओ मे शुद्ध शाब्दिक प्रकार के दोषो को खोजने की प्रवृत्ति को छोडकर) श्री हर्ष की पद्धति नागार्जुन-पद्धति को चालू रखना और न्याय वैशेषिक की वास्तविक परिभाषाओ पर उसका प्रयोग करना था। परन्तु नागार्जुन की पद्धति के मुख्यतम अश की श्री हर्ष और उसके अन्य अनुयायियो ने जानबूझ कर उपेक्षा कर दी। इन्होने नागार्जुन के निष्कर्षो के खडन का प्रयत्न नही किया। नागार्जुन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यह है कि सब वस्तुएँ सापेक्ष होने के कारण स्वय मे अपरिभाष्य हैं, अतः उनके तत्व किसी प्रकार भी नही ढूँढे जा सकते हैं तथा उनके तत्व न केवल अपरिभाष्य एव अनिर्वचनीय अपितु अगम्य भी होने के कारण ऐसा नही कहा जा सकता कि उनका स्वय का कोई तत्व है। नागार्जुन के अनुयायी आर्यदेव थे। उनका जन्म श्री लका मे हुआ था तथा उन्होने उसी विषय पर ४०० श्लोको का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा था। इसके लगभग दो शताब्दियो के पश्चात् तक नागार्जुन का सिद्धान्त उपेक्षित सा रहा जैसाकि इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि चतुर्थ शताब्दी ई० प० के बुद्धघोष उनका उल्लेख नही करते। पचम शती ई० प० मे गुप्त साम्राज्य काल मे असग और वसुबन्धु हुए। षष्ठ शताब्दी ई० प० मे सूरत जिलान्तर्गत वलभी के निवासी बुद्ध पालित एव उडीसा निवासी भव्य अथवा भावविवेक के हाथो सापेक्षवादी दर्शन पुन. पल्लवित हुआ। नागार्जुन के तर्को की भव्य के अपने विशिष्ट तर्कों द्वारा पूर्ति होने के कारण, उनकी शाखा को 'माध्यमिक सोत्रान्तिक' कहा जाता है। इस समय उत्तर मे महायान के विज्ञानवाद की योगाचार शाखा का विकास हो रहा था तथा इस शाखा का लक्ष्य यह प्रदर्शित करना था कि विज्ञान के यथार्थ ज्ञान के लिए समस्त तर्कशास्त्रीय तर्क निष्फल हैं। समस्त युक्तियुक्त तर्क अपनी असगति मात्र प्रदर्शित करते हैं।[1] यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि श्री हर्ष को योगाचार लेखको से और नागार्जुन से भव्य तक के उनके सापेक्षतावादी अन्य साथियो से तथा नागार्जुन कृत माध्यमिककारिका के सर्वोत्कृष्ट टीकाकार चन्द्रकीर्ति से प्रेरणा मिली हो। बुद्धपालित ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि 'विज्ञान' का ग्रहण एव उसकी सिद्धि युक्तिपूर्ण तर्कों द्वारा नही हो सकती क्योकि समस्त तार्किक विवेचन निष्फल एव असगत होते हैं, जबकि भावविवेक ने 'विज्ञान' को युक्तियुक्त तर्कों द्वारा प्रतिपादित करने का यत्न किया। चन्द्रकीर्ति ने अन्तत 'भावविवेक' की व्यवस्था के विरुद्ध बुद्धपालित की व्यवस्था

---

[1] सोवियत सघ की विज्ञान अकादमी, लेनिनग्राद, द्वारा १९२७ मे प्रकाशित 'कान्सेप्शन ऑव् बुद्धिस्ट निर्वाण'— पृ० ६६-६७।

का समर्थन किया और समस्त युक्तियुक्त तर्कों की निष्प्रयोजनता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया। विज्ञान की सिद्धि के लिए अन्तत चन्द्रकीर्ति की माध्यमिक की व्यवस्था का ही तिब्बत एव मंगोलिया मे प्रयोग किया गया।

सत् के विभिन्न पदार्थों के खडन मे नागार्जुन सृष्टि की परीक्षा से प्रारम्भ करते हैं। बौद्धेतर दर्शन कारण-प्रक्रिया को किसी नित्य चित् उपादान के आन्तरिक विकास द्वारा अथवा अनेक तत्वो की सामग्री द्वारा अथवा किसी अविकारी एव नित्य वस्तु पर क्रियमाण कुछ तत्वो द्वारा उत्पति मानते हैं। परन्तु नागार्जुन न केवल इस तथ्य को अस्वीकार ही करते हैं कि किसी वस्तु का कभी प्रादुर्भाव होता है अपितु यह भी कि उसका कभी उपर्युक्त किसी एक प्रकार से भी प्रादुर्भाव होता है। बुद्धपालित का मत है कि वस्तुए स्वयमेव ही उत्पन्न नही हो सकती, क्योकि यदि वे पूर्व ही विद्यमान हो तो उनके उत्पन्न होने का कोई अर्थ ही नहीं रहता है, यदि विद्यमान वस्तुओ को पुन उत्पन्न होने मे समर्थ माना जाय तो वस्तुएं अन्ततः उत्पन्न होती ही रहेंगी। बुद्ध-पालित की आलोचना मे भाव विवेक का कथन है कि बुद्धपालित द्वारा प्रस्तुत खडन का हेतु और उदाहरणो द्वारा पुष्टि की अपेक्षा है और उसके खडन का आशय यह अवाछनीय सिद्धान्त होगा कि यदि वस्तुए स्वयमेव उत्पन्न नहीं होती हैं तो वे अन्य कारणो से उत्पन्न होनी चाहिएं। परन्तु चन्द्रकीर्ति भावविवेक की आलोचना पर आपत्ति उठाते हुए कहते हैं कि कार्य एव कारण का तादात्म्य स्थापित करने का भार उस दृष्टिकोण को ग्रहण करने वाले उनके विपक्षियो, साख्य मतावलम्बियो, पर है। जो पूर्व से ही विद्यमान है उसके उत्पन्न होने का कोई अर्थ ही नहीं, और यदि पूर्व से विद्यमान वस्तु को पुनः उत्पन्न होना पड़े और तत्पश्चात् पुन पुनः उत्पन्न होना पड़े तो अनवस्था प्रसग की प्राप्ति होगी। साख्य सत्कार्यवाद दृष्टिकोण के खडन में नवीन तर्क देना अनावश्यक है, साख्य दृष्टिकोण कर देना ही पर्याप्त है। आर्यदेव का कथन है कि माध्यमि अपना कोई प्रतिपाद्य विषय नहीं है जिसको वह स्थापित क कारण यह है कि वह किसी वस्तु के सत् अथवा असत् अथवा को नही मानता।[1] ठीक इसी दृष्टिकोण को श्री हर्ष ने का कथन है कि वेदान्तियो का जड जगत् की वस्तुओं एव पदार्थो के विषय मे अपना कोई दृष्टिकोण नहीं है। अतः वेदान्त-दृष्टिकोण पर आक्षेप नहीं लगाए जा सकते। अपि छिद्रान्वेषण मे वेदान्त स्वतन्त्र है, और किसी भी अर्थ का सगतियो के प्रदर्शित किये जाने पर वेदान्त का कोई सम्ब

---

[1] सदसच्चेति यस्य पक्षो न विद्यते।

वेदान्त को स्वय अपने दृष्टिकोण को स्थापित करने की आवश्यकता नही है। जब मुझे अपना कुछ प्रमाणित करना हो तो मुझ से किसी त्रुटि का होना सम्भव है, परन्तु मुझे कुछ भी प्रमाणित नही करना है। मुझ पर असगति का दोष नही लगाया जा सकता। यदि मुझे वस्तुत किसी पृथक् वस्तु का ज्ञान होता तो उस प्रत्यक्ष अथवा अनुमित वस्तु के आधार पर अपनी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति दे सकता। परन्तु मेरे लिए इस पृथक् वस्तु की कोई सत्ता ही नही है अत मुझ पर इस आधार पर कोई दोष नही लग सकता।[1]

अतः चद्रकीर्ति यह बल पूर्वक कहते है कि माध्यमिको को अपने स्वय के किसी दृष्टिकोण की पुष्टि नही करनी है अत उनके लिए किसी मत की आलोचना करते समय किसी नवीन तर्क अथवा दृष्टान्त को प्रस्तुत करना समव नही। वे अपनी स्वय की मान्यताओ को प्रमाणित नही कर सकते और यदि उनकी मान्यताओ मे कोई प्रतपाद्य विषय हो तो उनका स्वय का उससे भी विग्रह हो जाएगा। अत माध्यमिक आलोचना पद्धति समस्त प्रतिपाद्य विषयो का छिद्रान्वेषण करती है, चाहे वे विषय जो कुछ भी हो, तथा उसका लक्ष्य प्रतिपक्षी के प्रत्यारोपो का उसके प्रतिपाद्य विषयो एव विधियो मे यथासमव पाई जाने वाली असगतियो के आधार पर प्रत्युत्तर देना है न कि किसी नवीन तर्क अथवा किसी नवीन *अन्यथा प्रतिपाद्य विषय* को प्रस्तुत करना क्योकि माध्यमिको का अपना प्रतिपाद्य विषय तो कोई है ही नही। किसी तर्क मे कोई किसी के द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तो को केवल समझ सकता है, कोई भी केवल अपने प्रतिपक्षी द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तो के आधार पर प्रस्तुत किए तर्को द्वारा पराजित नही किया जा सकता।

वस्तुओ की विजातीय घटको अथवा कारणो के किसी समूह से उत्पत्ति नही होती, क्योकि यदि ऐसा होता तो ऐसी उत्पत्ति का कोई *नियम* नही होता और कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तु से उत्पन्न हो जाती यथा प्रकाश से अन्धकार।[2] और यदि कोई वस्तु स्वय से अथवा किसी अन्य वस्तु से उत्पन्न नही हो सकती, तो वह उन दोनो के सयोग से भी उत्पन्न नही हो सकती। पुन जगत् बिना किसी हेतु के (अहतुत) अस्तित्व मे नही आ सकता था।

---

[1] 'विग्रहव्यावर्तिनी' मे नागार्जुन इस प्रकार लिखते हैं

अन्यत्प्रतीत्य यदि नाम परोऽभविष्यत्, जायेत तर्हि बहुल शिखिनोऽन्धकार।
सर्वस्य जन्म च भवेत्खलु सर्वतश्च, तुल्यम् परत्वमखिलेऽजनकेऽपि यस्मात्॥

—माध्यमिक वृत्ति, पृ० ३६।

[2] माध्यमिक वृत्ति, पृ० ३६। श्चेर्वास्की कृत 'कन्सेप्शन ऑव् बुद्धिस्ट निर्वाण'। लेखक अनुवाद के अन्तिम दो पदच्छेदो की सामग्री के लिए उनका ऋणी है।

बौद्ध तार्किक इस मत का खडन यह प्रदर्शित करके करते है कि मत चाहे जो भी हो, वह उचित प्रमाण द्वारा प्रतिपादित होना चाहिए। अत समस्त सत्तावान् वस्तुओ के अनुत्पन्न होने के प्रतिपाद्य विषय को प्रमाणित करने के लिए माध्यमिको को कुछ प्रमाण देना आवश्यक है और इसके लिए ऐसे प्रमाणो के स्वरूप-निरूपण की ओर उनके द्वारा स्वीकृत सत्य प्रमाणो की सख्या के निर्धारण की आवश्यकता होगी। परन्तु यह सिद्धान्त की 'समस्त भाव असिद्ध हैं' एक कथन मात्र है और उसकी पुष्टि के लिए कोई प्रमाण न हो तो इसके विपरीत कथन भी यथेष्ट सख्या मे दिए जा सकते हैं और उनके लिए किसी प्रमाण को प्रदर्शित करने की आवश्यकता नही होगी, तथा यदि एक के लिए प्रमाणो की आवश्यकता नही है तो अन्य के लिए भी उनकी अपेक्षा नही की जा सकती। अत· उतनी ही सत्यता के साथ यह भी कहा जा सकता है कि समस्त विद्यमान वस्तुएँ सत्य हैं और कारणो से उत्पन्न होती है। इस आपत्ति का चन्द्रकीर्ति द्वारा प्रस्तुत माध्यमिक प्रत्युत्तर यह है कि माध्यमिको का अपना प्रतिपाद्य विषय कोई नही है, अत प्रतिपाद्य विषय के सत्य प्रमाणो द्वारा पुष्ट अथवा अन्यथा होने का प्रश्न उतना ही निरर्थक है, जितना कि अश्वतर के शृ गो की लघुता अथवा दीर्घता का प्रश्न। किसी प्रतिपाद्य विषय के न होने के कारण माध्यमिको को सत्य प्रमाण के स्वरूप अथवा सख्या के विषय मे कुछ भी नही कहना है। परन्तु यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि माध्यमिकों का कोई अपना प्रतिपाद्य विषय नही है तो उनको यह प्रतिज्ञा क्यो मान्य होनी चाहिए कि 'सर्वभाव अनुत्पन्न हैं' (सर्वभावा-अनुत्पन्ना) ? इसका प्रत्युत्तर माध्यमिक यह देते है कि ऐसी प्रतिज्ञाएँ केवल जन साधारण को ही निश्चित मत प्रतीत होती हैं, बुद्धिमानो को नही। बुद्धिमानो के लिए समुचित स्थिति शान्त रहना ही है। जो लोग उनको ध्यान से सुनना चाहते हैं उन्हे ही वे लौकिक दृष्टिकोण से शिक्षा देते है। उनके तर्क न तो उनके अपने होते है और न ऐसे होते हैं जिनमे उनकी श्रद्धा हो, अपितु ऐसे होते है जो उनके श्रोताओ को रुचिकर हो।

यहाँ यह बताना असगत नही होगा कि माध्यमिक दृश्य एव यथार्थ अथवा पारलौकिक दृष्टिकोण को बिलकुल पृथक् रखना चाहते हैं। दृश्य-दृष्टिकोण के अनुसार वस्तुओ को उनके प्रत्यक्ष होने के रूप मे ही स्वीकार किया जाता है, और उनके सबधो को भी यथार्थ ही माना जाता है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के स्वरूप के विषय मे दिङ्नाग के साथ चन्द्रकीर्ति के परिसवाद का उल्लेख करना रोचक होगा। जहाँ दिङ्नाग का कथन है कि वस्तु स्व-लक्षण है, वहाँ चन्द्रकीर्ति का मत है कि प्रत्यक्ष मे सम्बन्धो के सत्य होने के कारण वस्तुएँ सापेक्ष भी होती है। दृश्य जगत् मे द्रव्यो के साथ-साथ उनके गुणो की भी सत्ता है। दिङ्नाग की स्वलक्षण वस्तु भी उतनी ही सापेक्ष प्रत्यय है जितना कि वे सबध युक्त वस्तुएँ जिनका प्रत्यक्ष लौकिक रूप मे सत्य है। ऐसी अवस्था मे प्रत्यक्ष की केवल 'स्वलक्षण' वस्तु के रूप मे परिभाषा करना

निरर्थक है। अत चन्द्रकीर्ति के विचार मे नैयायिको के यथार्थवादी तर्कशास्त्र की आलोचना से कोई हित साधन नही होता क्योकि सामान्य प्रत्यक्ष अथवा धारणाओ का प्रश्न है, न्याय तर्कशास्त्र उनका विवेचन करने एव उनका विवरण देने मे बिलकुल समर्थ हैं। एक दृश्यमाण सत्य एव क्रम है, जो सामान्य जन के लिए सत्य है और जिन पर हमारी समस्त भाषाएँ एव अन्य प्रयोग आधारित हैं। प्रत्यक्ष की परिभाषा करते समय दिङ्नाग उसे एकमेव 'स्वलक्षण' वस्तु तक ही सीमित रखते हैं और उनके विचार मे सारे गुण-सपर्क एव सम्बन्ध प्रत्यक्ष के लिए विजातीय होने के कारण कल्पना अथवा अनुमान मे सम्मिलित किए जाने चाहिए। तथापि यह हमारे सामान्य अनुभव का बाधक है और उससे कोई उद्देश्य भी सिद्ध नही होता, क्योकि दिङ्नाग द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्ष की परिभाषा अलौकिक दृष्टिकोण से नही दी गई है। यदि ऐसा ही है तो न्याय-दर्शन की यथार्थवादी धारणाओ को ही क्यो न स्वीकार किया जाय, जो सामान्य जन के अनुभव से मेल खाती है ? यह हमे वेदान्तियो की स्थिति का स्मरण करा देता है, जो एक ओर तो जन सामान्य के अनुभव के दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं और सब वस्तुओ की एक यथार्थ वस्तुपरक सत्ता मानते हैं और दूसरी ओर परमार्थ के अलौकिक दृष्टिकोण से उनको मिथ्या एव असत्य मानते हैं। इस बात पर वेदान्तियो की स्थिति माध्यमिको की स्थिति से प्रत्यक्षत प्रेरित हुई प्रतीत होती हैं। न्याय की यथार्थवादी परिभाषाओ के खण्डन मे श्रीहर्ष के प्रयासो का आशय यह प्रदर्शित करना था कि न्याय की परिभाषाओ को परम एव सत्य नही माना जा सकता, जैसा कि नैयायिक सोचते हैं। परन्तु माध्यमिको का अपना कोई दृष्टि-कोण नही था जिसकी वे पुष्टि करते, अत जहाँ वे अनुभव के क्षेत्र को पूर्णत अविचल छोड सकते थे एव न्याय की यथार्थवादी परिभाषाओ को जन-सामान्य की अनुभूतियो की अपने इच्छित प्रकार से व्याख्या करने दे सकते थे वहाँ वेदान्त का अपना एक प्रतिपाद्य विषय है, अर्थात् स्वप्रकाश ब्रह्म एकमात्र सत्य है और इसी से अन्य सब वस्तुएँ प्रकाशित होती है। अत वेदान्त अनुभवो एव उनकी परिभाषाओ की न्याय द्वारा प्रस्तुत व्याख्याओ से सहमत नही हो सकता था, परन्तु क्योकि वेदान्त नानाविध जगत्प्रपच को यथार्थ मे कोई आधार प्रदान करने मे असमर्थ था, अत इसने उस जगत्-प्रपच को किसी प्रकार से स्वत विद्यमान माना एव प्रत्यक्ष के एक ऐसे सिद्धान्त का आविष्कार किया जिसके अनुसार इसको ब्रह्म के सम्पर्क मे आने के कारण प्रकाशित एव मायामय रूप से उस पर आरोपित माना जा सके।

उत्पत्ति के स्वरूप का विवेचन जारी रखते हुए नागार्जुन एव चन्द्रकीर्ति का मत है कि उत्पादक की सामग्री कार्य से भिन्न है और कार्य उत्पन्न नही कर सकती, जैसाकि हीनयानी बौद्धो का भी मत है, क्योकि उस कारणत्व मे कार्य के प्रत्यक्ष न होने के कारण उसकी उत्पत्ति निष्प्रयोजन हो जाती है। किन्ही विजातीय कारणो से किसी

वस्तु की उत्पत्ति का अर्थ है कि वह वस्तु उनसे सबद्ध है, और इस सम्बन्ध का यह अर्थ है कि उसका उनमे किसी न किसी प्रकार से भाव है। उत्पत्ति अथवा कारणत्व के प्रत्यय का विभिन्न प्रकारो से खण्डन करने के लिए नागार्जुन द्वारा प्रयुक्त मुख्य प्रकार यह है कि यदि किसी वस्तु का भाव है तो वह उत्पन्न नहीं हो सकती, और यदि उसका भाव नहीं है तो वह कदापि उत्पन्न हो ही नहीं सकती। जिस वस्तु का स्वय कोई भाव नहीं है वह किसी अन्य वस्तु द्वारा उत्पन्न नहीं हो सकती, तथा अपना कोई तत्व नहीं होने के कारण वह किसी अन्य वस्तु का कारण नहीं हो सकती।[1]

इसी प्रकार नागार्जुन आवागमन के प्रत्यय की परीक्षा करके कहते हैं कि गमन क्रिया पार किए देश में उपलब्ध नहीं होती और न उसकी उपलब्धि पार न किए देश में ही होती है, तथा पार किए हुए अथवा न किए हुए देश से भिन्न गमन क्रिया सभव नहीं। यदि यह कहा जाय कि गमन न तो पार किए अथवा न पार किए गए देश में निहित है, अपितु गमन का प्रयत्न करने वाले गमनशील व्यक्ति मे निहित है तो यह भी सत्य नहीं हो सकता। क्योंकि यदि गमन को गमनशील व्यक्ति से सबद्ध किया जाए तो उसको पारित देश से सबद्ध नहीं किया जा सकता। एक ही क्रिया दो से संबद्ध नहीं हो सकती और जब तक कुछ देश को पार नहीं किया जाय तब तक गन्ता नहीं हो सकता। यदि गमन गन्ता मात्र मे ही निहित हो तो गमन बिना भी कोई व्यक्ति गन्ता हो सकता है, ऐसा होना असभव है। यदि गन्ता एव गत देश दोनो को गमन से सबद्ध किया जाय तो दो क्रियाओ की, न कि एक की, अपेक्षा होगी, उसका अर्थ होगा कि कर्ता भी दो हो। ऐसा कहा जा सकता है कि गमन क्रिया गन्ता से सबद्ध होने के कारण गमन गन्ता मे निहित है, परन्तु यदि गन्ता के अभाव मे गमन एव गमन के अभाव मे गन्ता न हो तो गमन को गन्ता से सबद्ध ही कैसे किया जा सकता। पुन 'गन्ता जाता है' (गन्ता गच्छति) वाक्य मे गमन की केवल एक ही क्रिया है, जो क्रिया पद 'गच्छति' से पूर्ण होती है, पृथक् 'गमन' कौन सा है जिसके सबध के कारण 'गन्ता' को गन्ता कहा जा सके ? तथा गमन की दो पृथक् क्रियाओ के अभाव मे गन्ता का भाव असभव है। पुन. गमन की गति प्रारभ भी नहीं हो सकती, क्योंकि जब गमन की गति होती है उस समय आदि नहीं होता, और जब गमन की गति नहीं होती तो उस समय किसी प्रकार की आदि नहीं हो सकती। पुनश्च, यह नहीं कहा जा सकता कि 'गमन' की विपरीत अवस्था 'स्थिति' का भाव होने के कारण 'गमन' का भी भाव होना चाहिए, क्योंकि 'स्थिति' मे कौन है ? यदि गन्ता और गमन दोनो को एक ही माना जाय तो, न तो कर्ता होगा और न क्रिया ही। अत गमन में कोई यथार्थता नहीं है। यहां 'गमन' का अर्थ किसी प्रकार के निष्कर्षण अथवा हो जाने से

---

[1] माध्यमिक वृत्ति, पृ० ९०, १६।

है, और 'गमन' के खण्डन का अर्थ समस्त प्रकार के निष्कर्षणो का भी खण्डन है। यदि बीज अकुर हो जाते हैं, तो वे बीज होगे, न कि अकुर, अकुर न तो बीज हैं और न उनसे भिन्न ही हैं, तथापि वहाँ बीजो के होने के कारण अकुर हैं। एक मटर दूसरे मटर से होता है, फिर भी एक मटर दूसरा मटर नही हो जाता। एक मटर न तो अन्य मटर मे विद्यमान है और न उससे भिन्न ही है। यह तो ऐसा ही है जैसे कोई दर्पण मे स्त्री के सुन्दर मुख को देखकर उस पर आसक्ति का अनुभव करने लगे और उसके पीछे भागने लगे, यद्यपि मुख का दर्पण मे कभी निष्कर्षण नही हुआ और प्रतिबिम्वित विम्ब मे कोई मानव मुख नही आया। जिस प्रकार अज्ञो मे स्त्री के मुख का तत्वहीन प्रतिबिम्बित बिम्ब आसक्ति उत्पन्न कर सकता है ठीक उसी प्रकार जगत्प्रपच भी माया और आसक्ति के कारण हैं।

विभिन्न वौद्ध एव अन्य पदार्थों के खडन के लिए अपने तत्व-विवेचन को प्रयोग करने के नागार्जुन की पद्धति का विशद् विवरण देना एव उदाहरणो की सख्या बढाना यहाँ अनावश्यक है, परन्तु जो कुछ कहा जा चुका है उससे नागार्जुन एव श्रीहर्ष के तत्व-विवेचन की तुलना करना सभव है। न तो नागार्जुन और न श्रीहर्ष की ही जगत् प्रक्रिया की युक्ति सगत व्याख्या करने मे रुचि है, और न ही वे हमारे जगत् अनुभवो की वैज्ञानिक पुनर्रचना करने मे रुचि लेते हैं। वे जगदनुभवो की यथातथ रूप मे प्रामाणिकता को अस्वीकार करने मे एक मत है, परन्तु जहाँ नागार्जुन के पास स्थापित करने के लिए अपना कोई प्रतिपाद्य विषय नही था, वहाँ श्रीहर्ष ने 'ब्रह्म' की सत्यता एव परमार्थता स्थापित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता कि श्रीहर्ष ने कभी अपने तत्व-विवेचन का अपने प्रतिपाद्य विषय पर प्रयोग करने का उचित रूपेण प्रयत्न किया हो और यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया हो कि 'ब्रह्म' की परिभापा उनके अपने तत्व-विवेचन की आलोचना की कसौटी परखरी उतरती है। तथापि नागार्जुन एव श्रीहर्ष दोनो का ही इस वात पर मतैक्य था कि जगदवभास की पुनर्रचना का कोई ऐसा सिद्धान्त नही है जिसकी पुष्टि प्रामाणिक रूप मे की जा सके। परन्तु जहाँ श्रीहर्ष ने केवल न्याय परिभाषाओ पर आक्षेप किए, वहाँ नागार्जुन ने मुख्यत वौद्ध पदार्थों एव उनसे प्रत्यक्षत सबद्ध कुछ अन्य उपयुक्त पदार्थों पर ही आक्षेप किया। परन्तु श्रीहर्ष के सम्पूर्ण प्रयासो का लक्ष्य यह प्रदर्शित करना था कि न्याय-परिभापाएँ सदोप हैं और न्याय किसी भी प्रकार से पदार्थों की सम्यक् परिभापा नही कर सकता। पदार्थों की परिभापा करने मे न्याय की असमर्थता से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि वे वस्तुत अपरिभाष्य हैं और इसी हेतु उन पदार्थों के माध्यम से आका गया व जांचा गया जगत् अवभास भी मिथ्या ही है। नागार्जुन की पद्धति श्रीहर्ष से इस वात मे पर्याप्त भिन्न है कि नागार्जुन ने अपने आलोच्य प्रत्ययो को उन धारणाओ पर वस्तुत आधारित एव निर्मित प्रदर्शित किया जिनका अपना

स्वरूप कोई नही है, अपितु वे अन्यो के सम्बन्ध से ही ग्रहण किए जाते हैं। किसी प्रत्यय मे अपना स्वय का वास्तविक स्वरूप प्रकट नही होता, और किसी प्रत्यय का ग्रहण केवल अन्य प्रत्यय के द्वारा ही हो सकना है और वह भी किसी अन्य द्वारा, चाहे वह पूर्ववर्त्ती हो अथवा परवर्त्ती, इत्यादि। अत ममस्त जगदवभास सापेक्ष प्रत्ययों पर आधारित हो जाएगा और इस प्रकार मिथ्या होगा। तथापि, नागार्जुन की आलोचनाएँ अधिकाशत. कारण से कार्य सिद्धान्त के स्वरूप की हैं और प्रत्ययों का ठोस प्रकार से विवेचन नही करती हैं तथा हमारे मनोवैज्ञानिक मानसिक अनुभवों की साक्षी पर आधारित नही हैं। अतः जो विरोध प्रदर्शित किए गए हैं वे अधिकाशतः प्रायः अमूर्त रूप के हैं तथा कभी-कभी शब्दाडम्बर मात्र रह जाते हैं। परन्तु नियमित रूप मे वे हमारे अनुभवों के मूलभूत सापेक्ष स्वरूप पर आधारित हैं। वे श्रीहर्ष की आलोचनाओं की तुलना मे आधी मात्रा मे भी विशद नही हैं, परन्तु इसके साथ ही वे मूलभूत रूप मे श्रीहर्ष के तत्व-विवेचन की विशद गोलमटोल तार्किक सूक्ष्मताओ की अपेक्षा अधिक विश्वासप्रद एव प्रत्यक्ष हैं। यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि नागार्जुन बुद्धपालित एव चन्द्रकीर्ति की तत्व-विवेचन पद्धति पर आधारित होने के कारण श्रीहर्ष की आलोचनाएँ एक बिलकुल भिन्न योजना का अनुसरण करते हुए तार्किक सूक्ष्मता और चातुर्य का विलक्षण सामर्थ्य प्रदर्शित करती हैं, यद्यपि उसका सम्पूर्ण प्रभाव कठोर दार्शनिक दृष्टि से शायद ही उन्नत माना जा सके, जबकि इनकी कई आलोचनाओ का प्रायः वाग्जाल उनके सपूर्ण कार्य के लिए अशोभनीय ही है।

वेदान्त तत्व-विवेचन के अग्रणियों के रूप में शान्तरक्षित एवं कमलशील (७६० ई० प०) का तार्किक आलोचन

(क) सांख्य परिणामवाद की आलोचना :

वेदान्त विचारधारा के तार्किक प्रकारो के इतिहास को खोजते समय पूर्व विभागो मे यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि शकर एव श्रीहर्ष, चित्सुख आदि उनके कुछ अनुयायियो पर नागार्जुन एव चन्द्रकीर्ति का प्रभाव बहुत अधिक था। यह भी प्रदर्शित किया जा चुका है कि न केवक नागार्जुन एव चन्द्रकीर्ति ने ही अपितु अन्य कई बौद्ध लेखको ने भी विवेचन की आलोचनात्मक एव तार्किक विधियो को ग्रहण किया था। कमलशील की 'पजिका' टीका सहित शान्तरक्षित कृत 'तत्व सग्रह' में प्रस्तुत भारतीय विचारधारा की विभिन्न शाखाओ की आलोचना इस बात का प्रमुख उदाहरण है। शान्तरक्षित का काल अष्टम शताब्दी का पूर्वार्द्ध है और कमलशील सम्भवत. उनके अवर समकालीन थे। उन्होंने लोकायत शाखानुयायी कम्बलाश्वतर, बौद्ध वसुमित्र (१०० ई० प०), धर्मत्रात (१०० ई० प०), घोषक (१५० ई० प०),

वुद्ध देव (२०० ई०प०), नैयायिक वात्स्यायन (३०० ई०प०), मीमासक शबरस्वामी (३०० ई०प०), साख्य विंध्यस्वामी (३०० ई०प०), बौद्ध सघभद्र (३५० ई०प०) वसुबन्धु (३५० ई०प०), साख्य ईश्वरकृष्ण (३६० ई०प०), बौद्ध दिङ्नाग (४०० ई०प०), जैन आचार्यसूरि (४७८ ई०प०), साख्य माठराचार्य (५०० ई०प०), उद्योतकर (६०० ई०प०), छद शास्त्री भामह (६४० ई०प०), बौद्ध धर्मकीर्ति (६५० ई०प०), वैयाकरण-दार्शनिक भर्तृहरि (६५० ई०प०), मीमासक कुमारिल भट्ट (६८० ई०प०), जैन शुभगुप्त (७०० ई०प०), बौद्ध योगासन (७०० ई०प०), नैयायिक अविद्धकर्ण (७०० ई०प०), शकरस्वामी (७०० ई०प०), प्रशस्तमति (७०० ई०प०), भावविवेक (७०० ई०प०), जैन पात्रस्वामी (७०० ई०प०), आह्निक (७०० ई०प०), सुमति (७०० ई०प०)[1] एव मीमासक उम्बेक (७०० ई०प०) के मतो का खडन किया। शान्तरक्षित एव कमलशील द्वारा प्रस्तुत विभिन्न दार्शनिको की सारी आलोचनाओ के पूर्ण विश्लेषण को हाथ मे लेना यहाँ सम्भव नही है, तो भी इन आलोचनाओ के कुछ मुख्य-मुख्य विषयो पर ध्यान देना चाहिए जिससे कि यह प्रदर्शित हो सके कि जो आलोचनात्मक विचारधारा समस्त बौद्धो मे शकर से पूर्व व्याप्त थी और जिस विचारधारा से श्रीहर्ष, चित्सुख अथवा आनन्दज्ञान जैसे शकर के अनुयायियो के अत्यधिक प्रभावित होने की पूर्ण सम्भावना है, उस आलोचनात्मक विचारधारा के स्वरूप को भी प्रकट करने वाले उस कार्य का स्वरूप एव महत्व क्या है ?

साख्य दृष्टिकोण की आलोचना करते समय उनका कथन है कि यदि कार्य, प्रकृति, और कारण, प्रधान, दोनो मे एकात्मकता हो तो प्रकृति के प्रधान से उत्पन्न होने का कारण क्या है ? दोनो मे एकात्मकता होने की अवस्था मे स्वय प्रकृति को कारण अथवा प्रधान को कार्य माना जा सकता है। उत्पत्ति के निर्धारण का सामान्य प्रकार नित्य पूर्वकालभावित्व है। परिणाम के भाव का अर्थ है विविधता मे एकात्मकता, जो साख्यो की कारण योजना है, यह परिणाम का भावअस्वीकार्य है, क्योकि, यदि यह कहा जाय कि कोई तत्व अनेक रूपो मे विकृत हो जाता है, तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या कारण-तत्व का भी स्वभाव विकृत होता है या नही ? यदि वह विकार को प्राप्त नही होता है तो कारण एव कार्य अवस्थायें परकालीन परिणाम मे एक साथ रहनी चाहिए, यह असम्भव है। यदि यह विकार को प्राप्त होता है तो स्थायी कारण जैसी कोई वस्तु नही है क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि एक पूर्व की अवस्था का बाध होकर एक नवीन अवस्था का जन्म होता

---

[1] ये तिथियां डा० बी० भट्टाचार्य की तत्व सग्रह की भूमिका से सगृहीत हैं। यद्यपि इस ग्रन्थकार के मत मे इनमे से अधिकाश तिथियाँ प्राय ठीक हैं, फिर भी उनकी चर्चा के लिए स्थानाभाव के कारण उनकी सत्यता के लिए वह उत्तरदायी नही है।

है। यदि यह कहा जाय कि कारणगत परिणाम का अर्थ नए गुणो को धारण करना है तो यह प्रश्न हो सकता कि क्या ऐसे गुण कारणभूत द्रव्य से भिन्न हैं अथवा नही ? यदि वे भिन्न हैं तो नवीन गुणो का उत्पन्न होना इस मत को मानने का अधिकार नही देता कि कारणभूत द्रव्य परिणाम को प्राप्त होता है। यदि विकारी गुण एव कारणभूत द्रव्य दोनो मे तादात्म्य है तो तर्क का प्रथम भाग पुन प्रकट हो जाएगा। पुन, जो तर्क सत्कार्यवाद के पक्ष मे दिए जाते है वे ही उसके विरुद्ध भी दिए जा सकते हैं। अत, यदि दुग्ध के स्वभाव मे दधि आदि की अवस्था पहले से ही विद्यमान हो, तो उनके उससे उत्पन्न होने का क्या अर्थ है ? यदि उत्पत्ति का आशय नही है तो कारणत्व का कोई भाव ही नही रहता। यदि यह कहा जाय कि कार्य कारण में सभाव्य रूप से विद्यमान रहता है और कारण-व्यापार उनको केवल वास्तविक रूप ही प्रदान करता है, तो यह स्वीकार किया जाता है कि वस्तुत. कार्यो का कारण मे अभाव है और हमे कारण मे किसी विशेष धर्म को स्वीकार करना होगा जो उस कारण-व्यापार का परिणाम है, जिसके अभाव के कारण कार्य 'कारण' मे सभाव्य अवस्था मे रहे और जो कारण-व्यापार कार्यों को वास्तविक रूप प्रदान करते हैं वे कारण मे कुछ विशिष्ट निर्धारको को जन्म देते हैं जिनके परिणामस्वरूप जिस कार्य का पहले अभाव था वह वास्तविक रूप धारण करता है, इसका अर्थ यह होगा कि जिसका अभाव है वह उत्पन्न हो सकता है, यह बात सत्कार्यवाद सिद्धान्त के विपरीत होगी। सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार कारणगत परिणाम असभव होने के कारण उपर्युक्त आलोचना के प्रकाश मे 'सत्कार्यवाद' के पक्ष मे दिया हुआ यह साख्य तर्क भी अस्वीकार्य है कि केवल विशिष्ट प्रकार के कारणो से ही विशिष्ट प्रकार के कार्य उत्पन्न हो सकते हैं।

पुन साख्य के अनुसार किसी वस्तु का भी निश्चित रूप से कथन नही किया जा सकता, क्योकि सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि, मन अथवा चैतन्य इनमे से किसी एक के भी विकार के रूप मे शकाए एव त्रुटियाँ सदा विद्यमान रहती है। पुन समस्त साख्य तर्को का प्रयोग व्यर्थ माना जा सकता है, क्योकि समस्त तर्कों का लक्ष्य निश्चय की प्राप्ति है। तथापि यदि कहा जाय कि निश्चयो का भाव पहले नही था, अपितु वे तर्को के प्रयोग का फल हैं, तो जिसका भाव नही था उसकी उत्पत्ति हुई और इस प्रकार सत्कार्यवाद का सिद्धान्त असफल हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि यद्यपि निश्चय तार्किक प्रतिज्ञाओ के प्रयोग के पूर्व ही विद्यमान होता है फिर भी उसे इन प्रतिज्ञाओ के प्रयोग से अभिव्यक्त माना जा सकता है, तो साख्यो से यह प्रश्न किया जा सकता है कि उनका 'अभिव्यक्ति' से क्या तात्पर्य है ? इस अभिव्यक्ति का अर्थ कोई नवीन धर्म अथवा कोई ज्ञान अथवा वोध के किसी बाधा का निवारण हो सकता है। प्रथम विकल्प में, यह प्रश्न पुनः किया जा सकता है

कि क्या इन प्रतिज्ञाओ के प्रयोग से उत्पन्न नवीन स्वभावातिशय स्वय निश्चय से भिन्न है अथवा उसके समरूप है ? यदि यह समरूप है तो उसके समावेश की आवश्यकता नही है, यदि वह भिन्न है तो उन दोनो मे कोई सम्बन्ध स्वीकार्य नही होगा क्योकि दो असबद्ध तत्वो के मध्य सबध को स्थापित करने का कोई भी प्रयत्न हमे अनवस्था दोष मे डाल देगा। इसका अर्थ उस विषयविशेष के ज्ञान की उत्पत्ति भी नही हो सकता जिसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रतिज्ञाओ का प्रयोग होता है, क्योकि सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार, वह ज्ञान उसमे पहले से ही विद्यमान है। पुन, इसका अर्थ ज्ञान की बाधाओ का निवारण भी नही हो सकता क्योकि यदि कोई बाधा हो, तो वह भी सदा विद्यमान भी होगी। वस्तुत, यथार्थ ज्ञान के प्रति उद्दिष्ट साख्यदर्शन की समस्त शिक्षाओ सिद्धान्तो का मिथ्या होना अपेक्षित है क्योकि यथार्थ ज्ञान सदा सत् होता है, अत कोई सीमा अपेक्षित है, तथा इसी हेतु समस्त व्यक्ति सदा मुक्त ही रहेगे। पुन यदि कोई मिथ्या ज्ञान है तो उसका विनाश नही हो सकता, और इस हेतु से मुक्ति नही हो सकती।

तत्पश्चात् शान्तरक्षित एव कमलशील का कथन है कि यद्यपि उपर्युक्त खडन से स्वभावत असत्कार्यवाद (असत् का उत्पन्न होना) के सिद्धान्त को प्रमाणित होना चाहिए तथापि असत्कार्यवाद के साख्य खडन के प्रत्युत्तर मे कुछ शब्द कहे जा सकते हैं। अत. असत् के नैरूप्य के कारण अनुत्पाद्य होने का तर्क मिथ्या है, क्योकि उत्पादन क्रिया स्वय उत्पाद्य वस्तु के स्वभाव का प्रतिनिधित्व करती है। जिस प्रकार सत्कार्यवादियो का मत है कि कारणसामग्री के अनुसार गुणत्रयी से विभिन्न प्रकार के कार्य उत्पन्न हो सकते हैं, उसी प्रकार इस अवस्था मे भी कारणशक्तियो के विभिन्न प्रकारो के नियम (कारणशक्तिनियमात्) के अनुसार विभिन्न प्रकार के असत् कार्य भी सत्ता मे आ जाते हैं। यह मानना निरर्थक है कि कारण-शक्तियो का परिसीमन कार्यों की पूर्व विद्यमानता मे उपलब्ध है। क्योकि वस्तुत कारण-शक्तियो के विभिन्न सामर्थ्यों के कारण ही विभिन्न कार्य उत्पन्न होते हैं। विभिन्न कार्यों का उत्पादन उनकी उत्पादक कारणशक्तियो के विविध स्वभाव मात्र के ही कारण होता है। अत कारणशक्ति नियम ही परम मूलभूत नियम है। तथापि, 'असत्कार्यवाद' सज्ञा भ्रामक है, क्योकि निश्चय ही ऐसा कोई असत् तत्व नही है जो उत्पत्ति को प्राप्त होता है।[1] यथार्थ मे उत्पादन का अर्थ पूर्व और अपर क्षणो के समस्त सयोगो से रहित क्षणिक स्वभाव मात्र के अतिरिक्त कुछ नही है।[2]

---

[1] न ह्यसनाम किंचिदस्ति यदुत्पत्तिमाविशेत्, किन्तु काल्पनिकोऽय व्यवहारो यदसदुत्पद्यत इति यावत्—तत्वसग्रह पजिका-पृ० ३३।

[2] वस्तूना पूर्वापरकोटिशून्यक्षणमात्रावस्थायी स्वभाव एव उत्पाद इत्युच्यते—वही।

असत्कार्यवाद का अर्थ यह है कि एक कार्य-सज्ञक तत्व का एक कारण-व्यापार के तत्क्षण पश्चात् दशन होता है और निश्चय ही इसका द्वितीय क्षण के पूर्व अस्तित्व नही था, क्योकि यदि यह कारण-व्यापार के प्रथम क्षण मे विद्यमान होता तो उसका प्रत्यक्ष होता, अत यह कहा जाता है कि कार्य का पहले अस्तित्व नही था, परन्तु इसकी व्याख्या इस अर्थ मे नही करनी चाहिए कि बौद्ध कार्य के असत्-रूप-अस्तित्व को मानते थे, जो कारण-व्यापार के पश्चात् अकस्मात् उत्पन्न हो जाता है।

अन्य साख्य सिद्धान्तो के खडन करते समय शान्तरक्षित एव कमलशील यह प्रदर्शित करते हैं कि यदि किसी कार्य (यथा, दधि) को कारण (यथा दुग्ध) मे विद्यमान कहा जाय तो ऐसा कार्य के वास्तविक रूप मे नही हो सकता क्योकि उस अवस्था मे दुग्ध मे दधि का स्वाद आएगा। यदि यह कहा जाय कि यह एक विशेष शक्ति के रूप मे विद्यमान रहता है तो कारण मे कार्य के अस्तित्व का स्वभावत ही निषेध हो जाता है, क्योकि कार्य की शक्ति ही, न कि स्वय कार्य, कारण मे विद्यमान रहती है। पुन साख्यो की मान्यता है कि समस्त इन्द्रियगोचर वस्तुएँ सुख दु खात्मक होती है, यह स्पष्टत असमव है क्योकि चेतनावस्थाएं ही सुखमय अथवा दु खमय मानी जा सकती है। पुन, यदि वस्तुपरक जड वस्तुएँ स्वय सुखमय अथवा दु खमय हो तो एक ही वस्तु के एक व्यक्ति को सुखमय प्रतीत होने और अन्य को दु खमय प्रतीत होने के तथ्य को समझाया नही जा सकेगा। तथापि, यदि यह माना जाय कि किसी मनुष्य की मानसिक अवस्था विशेष या उसके दुर्भाग्य के कारण सुखमय विषय भी उसे दु खमय प्रतीत हो सकते है, तब विषय स्वय दु खमय अथवा सुखमय नही हो सकते। पुन यदि विषयो को गुणत्रयी द्वारा निर्मित माना जाय, तो एक शाश्वत प्रकृति को ही उन सबका स्रोत न मानने का कोई कारण नही। यदि कारण कार्यो के सदृश हैं तो विपय जगत् के अनेक अथवा सीमित अथवा अनित्य होने के तथ्य से यह मानना पडेगा कि विपयो के कारण भी अनेक, सीमित एव अनित्य होगे। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि जिस प्रकार सर्व मृद् भाण्ड एक मृत्तिका से ही उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार सारे विषय भी एक प्रकृति से ही उत्पन्न होते है, परन्तु यह तर्क भी हेत्वाभासमय है, क्योकि समस्त मृद्भाण्ड एक मृत्पिण्ड से नही अपितु भिन्न-भिन्न मृत्पिण्डो से उत्पन्न होते हैं। अत, यद्यपि यह अनुमान किया जा सकता है कि कार्य-जगत् के कारण अवश्य होगें, तो भी हम इससे यह अनुमान नही लगा सकते कि साख्यो की प्रकृति जैसा कोई एक ऐसा कारण है।

(ख) ईश्वर की आलोचना :

ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष मे नैयायिक आस्तिको का मुख्य तर्क इस तथ्य पर आधारित है कि विभिन्न सासारिक विषयो के रूप एव आकार विशेषो का स्पष्टीकरण किसी चैतन्य युक्त व्यवस्थाता अथवा निर्माता के विना नही हो सकता। इसके

प्रत्युत्तर मे शान्तरक्षित एव कमलशील का कथन है कि हमे केवल विभिन्न प्रकार के रूपवान् एव स्पर्शवान् विषयो का ही प्रत्यक्ष होता है और उनसे आगे रूपवान अवयवियो अथवा तथाकथित विषयो के प्रत्यक्ष की कल्पना ही नही कर सकते। यह सोचना निरर्थक है कि रूपवान् एव स्पर्शवान् भूतो से ही सम्पूर्ण विषय निर्मित होता है। यह कहना गलत है कि यह वही वर्णयुक्त विषय है जिसका दिन मे अवलोकन किया था और जिसका रात्रि मे न देख पाने पर स्पर्श किया था, क्योकि रूप-विषय स्पर्श-विषयो से पूर्णत भिन्न प्रकार के तत्व हैं, अत यह कहना निरर्थक है कि यह वही अवयवी अथवा विषय है जिसके रूप एव स्पर्श दोनो ही स्वभाव हैं। यदि दो रूप, यथा पीत एव नील, भिन्न हो तो रूप एव स्पर्श के विषय तो और भी अधिक भिन्न होगे। अत सत्तावान् विषय रूप एव स्पर्श के स्वभाव से युक्त अवयवी नहीं है अपितु रूप एव स्पर्श विपयो की तन्मात्राएँ मात्र हैं, उनका अवयवी मे सयोग मिथ्या कल्पना के मात्र के कारण ही होता है। किसी भी विषय का दो इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष नही हो सकता, किसी एक ही विपय के चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष होने एव स्पर्श होने का प्रमाण उपलब्ध नही है। अत केवल शिथिल एव अमूर्त इन्द्रियविषयो का ही अस्तित्व है। साकार अवयवी के अभाव मे आकार-प्रदाता एव व्यवस्थाता के रूप मे ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार्य है। कार्यो के अस्तित्व के तथ्य से यह अनुमान नही किया जा सकता कि एक चेतन स्रष्टा एव व्यवस्थाता का अस्तित्व है क्योकि किसी वर्णन के सादृश्य मात्र से कारण युक्त अनुमान नही किया जा सकता, अनन्यथासिद्ध एव अपरिवर्तनीय सवध (प्रतिवन्ध) का नियम होना आवश्यक है। यह तर्क अनुचित है कि घटादिक का निर्माण एक चेतन स्रष्टा से होने के कारण वृक्षादि का भी निर्माण किसी चेतन स्रष्टा के द्वारा हुआ होगा, क्योकि वृक्षादि का स्वभाव घटादि से इतना भिन्न है कि पूर्व से पर के विषय मे किसी कथन का करना अनुचित है। किसी शाश्वत तत्व के अस्तित्व के विरुद्ध बौद्धो के सामान्य तर्क किसी नित्य ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध भी प्रयुक्त होगे। यह तर्क गलत है कि समस्त दृश्य जगत् मे विराम की अवस्था से क्रिया अथवा सर्ग की अवस्था प्रस्फुटित होने के कारण कोई चेतन स्रष्टा अवश्य होगा, क्योकि प्रकृति मे विरामावस्था कोई नही हैं, सारी सासारिक वस्तुएँ क्षणिक हैं। पुन यदि वस्तुएँ कारणरूप कर्त्ता के व्यापार के द्वारा कालान्तर मे क्रम से घटित हो रही है तो ईश्वर को भी कालान्तर मे कार्य करना चाहिए, तथा स्वय विपक्षियो के तर्कों के द्वारा ही उसको अपने क्रियाव्यापार मे पथप्रदर्शन के लिए किसी अन्य सत्ता की अपेक्षा होगी, उसको किसी अन्य की, इस प्रकार अनवस्था दोप की प्राप्ति होगी। यदि ईश्वर स्रष्टा होता, तो सारी वस्तुएँ एक साथ ही अस्तित्व मे आ जाती। उसको सहकारी सहायता पर आश्रित नही होना पडता, क्योकि उसके इस प्रकार की सब सहकारी परिस्थितियों का स्रष्टा होने मे वे परिस्थितियाँ उसको अपने सर्ग मे कोई सहायता प्रदान नहीं कर सकती। यदि यह कहा जाय कि यह तर्क इसलिए स्थिर नही रह

सकता कि ईश्वर अपनी इच्छानुसार ही सृष्टि रचता है, तो प्रत्युत्तर मे यह कहा जा सकता है कि ईश्वर की इच्छा एक एव नित्य माने जाने के कारण युगपत् सृष्टि की पूर्व आपत्ति स्थिर रहती है। तथापि ईश्वर के नित्य होने के कारण एव उसकी इच्छा केवल उसी पर निर्भर रहने के कारण उसकी इच्छा क्षणिक नही हो सकती। अब यदि ईश्वर और उसकी इच्छा के नित्य होने पर भी किसी प्रपचविशेष की उत्पत्ति के समय अन्य सब प्रपचो की उत्पत्ति नही हो तो उन प्रपचो को ईश्वर अथवा उसकी इच्छा द्वारा सृष्ट नही माना जा सकता। पुनश्च, यदि तर्क मात्र के लिए भी यह स्वीकार कर लिया जाय कि सारे नैसर्गिक विषयो यथा, पर्वत, वृक्षादि, को चेतन स्रष्टा की पूर्व मे ही अपेक्षा है, तो भी ऐसी कल्पना के पक्ष मे कोई तर्क नही उपलब्ध होता है कि एक चेतन स्रष्टा ही विविध नैसर्गिक विषयो एव प्रपचो का कारक है। अत एक सर्वज्ञ स्रष्टा के अस्तित्व के पक्ष मे तर्क नही है।

ईश्वर एव प्रकृति के खडन मे प्रस्तुत तर्क ईश्वर एव प्रकृति के सयुक्त कारणत्व को स्वीकार करने वाले पातजल-साख्य के विरुद्ध भी प्रयुक्त होते है, क्योकि इसमे भी प्रकृति एव ईश्वर के नित्यकारण होने से समस्त कार्यो की युगपत् सृष्टि अपेक्षित है। यदि यह कहा जाता है कि ईश्वर के व्यापार के सदर्भ मे तीन गुण सहकारी कारण के रूप मे कार्य करते हैं, तो उस अवस्था मे भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि या सर्ग के समय प्रलय अथवा स्थिति का क्रिया-व्यापार भी अपेक्षित है ? अथवा क्या प्रलय के समय सर्ग-क्रिया भी हो सकती है ? यदि यह कहा जाय कि प्रकृति मे सब प्रकार की शक्तियो के विद्यमान होने पर भी केवल वे शक्तियाँ ही क्रियमाण होती है जो कार्य रूप ग्रहण करती है, तो यह आपत्ति की जा सकती है कि प्रकृनि की कुछ शक्तियो की निष्क्रियता की अवस्था मे अन्य शक्तियो को क्रियामाण बनाने के लिए किसी अन्य प्रकार के कारण को स्वीकार करना पडेगा, और इस अवस्था मे एक तीसरा तत्व और आ जाएगा, अत पुरुष और प्रकृति के सयुक्त कारणत्व का भी सुगमता पूर्वक खडन हो जाता है। पुन यह मत भी मिथ्या है कि ईश्वर अपने अनुग्रहवश जगत् की सृष्टि करता है, क्योकि ऐसी अवस्था मे जगत् इतना दु खमय नही होता। पुनश्च, सृष्टि से पूर्व किसी प्राणी के न होने के कारण ईश्वर असत् प्राणियो पर कृपा भाव नही रख सकता। यदि वह इतना कृपालु होता तो वह जगत् का प्रलय नही करता, यदि वह जगत् की सृष्टि एव प्रलय शुभाशुभ कर्मानुसार करता है, तो उस अवस्था मे वह स्वतन्त्र नही हो सकता। यदि वह स्वतत्र होता तो वह जगत् मे दु ख को उत्पन्न करने के लिए अपने आप को अशुभ कर्मों के फलो से प्रभावित नही होने देता। यदि उसने जगत् की सृष्टि लीलावृत्ति मात्र से ही की है तो ये लीलावृत्तियां उमसे वरीयान् होनी चाहिएं। यदि उसे अपनी सर्जक एव सहारक लीला से पर्याप्त आनन्द प्राप्त होता है तो यदि उसमे सामर्थ्य हो तो वह जगत् की उत्पत्ति एव सहार

युगपत् ही करता। यदि उसमे जगत् की युगपत् उत्पत्ति एव सहार की सामर्थ्य नही है, तो कालान्तर मे ऐसा करने की उसकी सामर्थ्य की कल्पना करने का कोई हेतु नही है। यदि यह कहा जाय कि जगत् की उत्पत्ति निसर्गत उसके स्वय के अस्तित्व के कारण हुई, तो युगपत् उत्पत्तिहोनी चाहिए। यदि यह आपत्ति की जाय कि जिस प्रकार मकडी अपने जाल की रचना करते हुए भी उस सारे की एकदम रचना नही करती, ठीक उसी प्रकार ईश्वर भी जगत् की सृष्टि एक साथ न करके क्रमश करता है, तो यह प्रदर्शित किया जा सकता है कि मकडी की उपमा मिथ्या है क्योकि मकडी जाल की रचना नैसर्गिक रूप से न करके कीटो के भक्षण के लोभवश करती है और ऐसे ही उद्देश्यो से उसके कार्यकलापो का निर्धारण होता है। तथापि ईश्वर एक ही है, अत उसका एक ही समरूप उद्देश्य हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि सर्ग ईश्वर से मानो अचेतन रूप मे ही प्रवाहित होता है, तो यह आपत्ति की जा सकती है कि इतने महान् विश्व को विना किसी चेतन आशय के उत्पन्न करने वाली सत्ता अवश्य ही अत्यन्त अचेतन होगी।

(ग) आत्मा के सिद्धान्त का खण्डन :

शान्तरक्षित एव कमलशील आत्मा के विषय मे न्याय के इस मत का खण्डन करते हैं कि हमारे विचारो का कोई ज्ञाता होना चाहिए, कि हमारी इच्छाओ एव अनुभूतियो का कोई आश्रयतत्व होना चाहिए, और वह तत्व आत्मा है तथा इसी आत्मा की सत्ता के द्वारा ही एक व्यक्ति की अनुभूति के रूप मे हमारी समस्त चैतन्य-अवस्थाओ की एकात्मकता का स्पष्टीकरण होता है। उनका मत है कि किसी विचार अथवा ज्ञान को अपने प्रकाश के लिए किसी अन्य ज्ञाता की अपेक्षा नही है, यदि ऐसा होता तो अनवस्था प्रसग की प्राप्ति हो जाती। पुन इच्छा, भाव आदि जड विषयो के समान नही है जिनको एक आधार की अपेक्षा हो जिनमे वे रह सकें। चैतन्य की तथाकथित एकता का कारण क्षणिक चैतन्यो को एक मानने की मिथ्या कल्पना है। यह सुविदित है कि विभिन्न तत्वो को एक ही प्रकार के कार्यों का सम्पादन करने के कारण सयुक्त माना जाता है। ज्ञान को अपने अहकार रूप मे ही आत्मा की सज्ञा दी जाती है, यद्यपि उसके अनुकूल कोई विषयपरक तत्व नही है। कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि आत्मा की सत्ता इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि जब तक मनुष्य के जीवन प्रवाह आत्मा से सबद्ध रहते हैं तब तक ही वह जीवित रहता है और जब वे उससे पृथक् हो जाते हैं वह मर जाता है, परन्तु यह मिथ्या है, क्योकि आत्मा की सत्ता प्रमाणित हुए विना जीवन के निर्धारण मे उसको जीवन प्रवाहो से सम्बद्ध करना अग्राह्य है। तथापि, कुछ का कथन है कि अनुभूतियो मे आत्मा का प्रत्यक्ष गोचर होता है। यदि उसका अभाव होता तो उसकी सत्ता के विषय मे इतने विविध मत नही होते। अहकार का नाव आत्मा का सकेतक नही माना जा सकता, क्योकि

अहकार का भाव नित्य नही है, जैसा कि उसे माना जाता है। इसके विपरीत कभी इसका सदर्भ हमारे शरीर से (यथा, जब मैं कहता हूँ कि 'मैं श्वेत हूँ') कभी इन्द्रियो से (यथा, जब मैं कहता हूँ कि मैं बहरा हूँ') और कभी बौद्धिक अवस्थाओ से होता है। यह नही कहा जा सकता कि इसका शरीर अथवा इन्द्रियो से सदर्भ केवल अप्रत्यक्ष ही है, क्योकि इसका स्वभाव अन्य किसी नित्य एव प्रत्यक्ष प्रकार से अनुभवगम्य नही है।

इच्छा, भाव आदि को भी प्रायः क्रम मे ही उत्पन्न होने के कारण किसी नित्य आत्मा मे आश्रित नही माना जा सकता। निष्कर्ष यह निकलता है कि समस्त जड विषयो के समान मानव प्राणी भी आत्महीन है। कल्पित नित्य आत्मा देह से इतना भिन्न है कि यह समझ पाना कठिन है कि एक दूसरे का कैसे सहायक हो सकता है अथवा उससे सबद्ध भी हो सकता है ? अत न्याय वैशेषिक आत्मा के सिद्धान्त का शायद ही कोई तर्क रहता हो।

(घ) मीमांसा के जीव-सिद्धान्त का खण्डन :

कुमारिल की आस्था थी कि यद्यपि शुद्धचैतन्य के रूप मे आत्मा का स्वभाव नित्य एव अविकारी है, तथापि वह अन्य भावशील एव सकल्पशील अवस्थाओ के विभिन्न विकारशील चरणो मे से विचरित होता है। आत्मा का शुद्ध चैतन्यस्वरूप होना इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि स्वय भूत एव वर्तमान कालो मे ज्ञाता के रूप मे प्रत्यक्ष होता है। अत अहवृत्ति द्वारा आत्मा की सत्ता प्रमाणित होती है। इसके प्रत्युत्तर मे शान्तरक्षित एव कमलशील का कथन है कि यदि आत्मा को एक नित्य चैतन्य मान लिया जाय तो उसी प्रकार ज्ञान अथवा बुद्धि को भी एक तथा नित्य मानना पडेगा। परन्तु प्रकटत कुमारिल बुद्धि को ऐसा नही मानते। यदि बुद्धि को एक तथा नित्य माना जावे तो रूपज्ञान, रस ज्ञान, आदि ज्ञान की विभिन्न अवस्थाओ की व्याख्या कैसे की जायगी। यदि यह कहा जाय कि बुद्धि के एक होने पर भी (यथा अग्नि मे सदा दहन-सामर्थ्य होने पर भी वह दाहक पदार्थों के समक्ष आने पर ही प्रज्वलित होती है) वह अपने समक्ष विभिन्न प्रकार के विषयो के प्रस्तुत होने के अनुसार ही विभिन्न प्रकार के प्रत्यक्षो मे से विचरित होती है, अथवा जिस प्रकार दर्पण मे प्रतिबिम्ब सामर्थ्यहोने पर भी वस्तुएँ उसके समक्ष प्रस्तुत होने पर ही उसमे प्रतिबिम्बित होती हैं ठीक उसी प्रकार आत्माएं नित्य चैतन्य होने पर भी अपने शरीरविशेषो के सबध मे ही व्यापारशील होते हैं और विभिन्न इन्द्रियविषयो को ग्रहण करते हैं तथा समस्त ज्ञान उससे (आत्मा से) निर्गत होते हैं। यदि ज्ञानविकार इन्द्रियो एव इन्द्रियविषयो के विक्रियमाण व्यापारो के कारण होता, तो ऐसी बुद्धि नित्य एव एक नही मानी जा सकती। यदि चैतन्य के सातत्य के अनुभव के कारण बुद्धि को नित्य माना जाय तो, ज्ञान वैभिन्य की किस प्रकार व्याख्या की जायगी ? यदि यह कहा जाय कि ज्ञान-वैभिन्य बुद्धि के द्वारा विषयो के विभिन्न रूपो को ग्रहण करने के कारण होता है, तो मतिभ्रम के समय ज्ञान

वैभिन्य की अनुभूति की किस प्रकार व्याख्या की जायगी, जबकि विषयो का अभाव होता है ? इसके अतिरिक्त मीमासको के मत मे बुद्धि ज्ञात विषयो का आकार नही ग्रहण करती है, अपितु उनका मत है कि ज्ञान विषयजगत् के विषयो को प्रकाशित करता है और बुद्धि स्वय निराकर है। ज्ञान का तत्सम्बन्धी यथार्थ विषयीपरक अभिव्यक्ति के अभाव मे भी होना यह सिद्ध करता है कि हमारा ज्ञान विषयपरक एव स्वप्रकाश्य है और वह विषयीपरक तत्वो को प्रकाशित नही करता है। यदि वह कहा जाय कि बुद्धि मे समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने की सदा सामर्थ्य होती है, तो शब्द-ज्ञान एव रूप-ज्ञान एक ही होगे। अग्नि की उपमा भी मिथ्या है, क्योकि एक ही अग्नि सतत नही रहती, प्रतिबिम्बकारी दर्पण की उपमा भी मिथ्या है, क्योकि वस्तुत दर्पण स्वय मे कोई प्रतिबिम्ब नही होता, कोई व्यक्ति दर्पण मे प्रतिबिम्ब एक विशेष कोण से ही देख सकता है, अत दर्पण मिथ्या ज्ञान उत्पन्न करने एक यन्त्र मात्र ही है। पुन बुद्धि की दर्पण से तुलना भ्रान्तिपूर्ण बिम्बो के उत्पादक यन्त्र के रूप मे नही की जा सकती, क्योकि उस अवस्था मे भ्रान्तिपूर्ण बिम्बो का प्रत्यक्ष करने के लिए एक अन्य बुद्धि की आवश्यकता होगी। पुन, यदि आत्मा को एक एव नित्य माना जाय तो वह परिवर्तनशील भावमय एव सकल्पमय अवस्थाओ के मध्य से विचरण नही कर सकती। यदि ये अवस्थाएँ आत्मा से पूर्णत भिन्न नही है तो उनके विकारो का अर्थ आत्मा का विकार होगा, और यदि वे आत्मा से पूर्णत भिन्न है तो उनके विकार का आत्मा पर क्या परिणाम होगा ? पुन॰, यदि ये सब अवस्थाएँ आत्मा की ही हैं और यह कहा जाय कि जीवात्मा के स्वभाव मे सुखी अवस्था के लीन हो जाने पर ही दु खी अवस्था उत्पन्न होती है, तो यह आपत्ति प्रदर्शित की जा सकती है कि यदि सुखी अवस्थाएँ आत्मा के साथ एकरूपता मे उसके स्वभाव मे लीन हो जाएँ, तो वे आत्मा के स्वभाव के साथ एकरूप होगी। यह कल्पना करना भी गलत है कि अहवृत्ति के भाव का सबध एक तत्सम्बन्धी यथार्थ मे विद्यमान तत्व से है। वस्तुत इसका कोई ऐसा विशिष्ट विषय नही है जिसे आत्मा कहा जा सके। अत यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि आत्मा की सत्ता आत्म चैतन्य द्वारा प्रमाणित नही होती।

(ङ) पुरुष-विषयक साख्य दृष्टिकोण का खण्डन :

आत्मसबंधी साख्य दृष्टिकोण के विरुद्ध यह प्रदर्शित किया गया है कि साख्य आत्मा को शुद्ध चैतन्य, एक तथा नित्य मानता है, और, ऐसी अवस्था मे, वह विविध अनुभूतियो का भोक्ता नही हो सकता। यदि यह माना जाय कि भोगादि सब बुद्धि के धर्म हैं और पुरुष तो बुद्धिगत बिम्ब मात्र का भोक्ता है तो यह आपत्ति की जा सकती है कि यदि बुद्धिगत प्रतिबिम्बो का पुरुष मे तादात्म्य है तो उनके विकारो के साथ पुरुष मे भी विकार होना चाहिए, और यदि वे भिन्न है तो पुरुष को उनका

भोक्ता नहीं माना जा सकता। पुन यदि प्रकृति अपने समस्त क्रियाकलापो को पुरुष के भोग के लिए केन्द्रित करती है तो उसे अचेतन कैसे माना जा सकता है? पुनश्च, यदि समस्त क्रियाकलाप बुद्धि के ही हो तथा बुद्धि पुरुष से भिन्न हो तो बुद्धिकृत कर्मो को पुरुष क्यो भोगे। तथापि पुन, यदि सुख एव दु ख की परिवर्तनशील अवस्थाओ का पुरुष के स्वभाव पर कोई प्रभाव नही होता है, तो वह भोक्ता नही माना जा सकता, और यदि वह प्रभावित हो सकता है तो वह स्वय विकारी हो जाएगा।

(च) आत्म-सम्बन्धी औपनिषद् दृष्टिकोण का खण्डन :

उपनिषद् विचारको का मत है कि एक ही नित्य चैतन्य भ्रमवश सर्व विषयो के रूप मे प्रतीत होता है, तथा वस्तुत न कोई ज्ञाता है और न कोई ज्ञेय, अपितु एक नित्य चैतन्य मात्र ही सत् है। इस दृष्टिकोण के विरुद्ध शान्तरक्षित एव कमलशील का कथन है कि रूप, रस आदि के पृथक् ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई किसी नित्य, अविकारी चैतन्य का अनुभव नही होता। यदि एक नित्य चैतन्य एक सत्य हो, तो प्रमा एव अप्रमा मे, बन्धन एव मोक्ष मे, अन्तर नही हो सकता। एक ही सत्य होने के कारण सत्यज्ञान की प्राप्ति आवश्यक नही।

(छ) सत् तत्वो के स्थायित्व के सिद्धान्त का खण्डन :

शान्तरक्षित एव कमलशील यह प्रदर्शित करते हैं कि नैयायिक सत् तत्वो को दो वर्गों मे विभक्त करते है—कृतक (उत्पन्न) एव अकृतक (अनुत्पन्न) तथा उनका मत है कि कृतक विनाशवान हैं। इसी प्रकार वात्सीपुत्रीय भी सत् तत्वो को क्षणिक (यथा विचार, शब्द, ज्वाला, इत्यादि) और अ-क्षणिक (यथा पृथ्वी आकाशादि) दो भागो मे विभाजित करते हैं। इस विषय पर शान्तरक्षित एव कमलशील का कथन है कि जो कृतक हैं वह क्षणिक हैं क्योकि क्षणिक वस्तुओ की विनश्वरता उनके कृतक होने के अतिरिक्त अन्य किसी बात पर आश्रित नही रहती, क्योकि यदि ऐसे तत्वो की विनश्वरता उनके कृतक होने के अतिरिक्त किसी अन्य हेतु अथवा अवस्था पर आश्रित होती तो यह प्रत्यय कि 'जो कृतक है वह विनश्वर है' मिथ्या होता। अत कृतको को अपने विनाश के लिए अन्य अवस्थाओ पर आश्रित मानने का नैयायिक मत असत्य है। यदि कृतक तत्व अपने विनाश के लिए कृतकत्व के अतिरिक्त किसी अन्य अवस्था अथवा हेतु पर आश्रित नही है तो उनको उत्पन्न होते क्षण ही नष्ट हो जाना चाहिए अथवा अन्य शब्दो मे वे क्षणिक हैं। इसके अतिरिक्त विनाश अभावात्मक होने के कारण [illegible] भावात्मक तत्व नही है और पूर्णत निरवयव है, तथा केवल भावात्मक तत्व ही अपने [illegible] के लिए अन्य हेतुओ अथवा अवस्थाओ पर निर्भर करते है। विनाश अभावात्मक होने के कारण भावात्मक तत्व के समान किसी कारण अथवा अवस्था पर निर्भर नही करता। अत विनाश किसी पृथक् कारण [illegible] के द्वारा उत्पन्न नही होता, अपितु जिन कारणो से किसी तत्व की उत्पत्ति होती है उन्हीं से [illegible] उसका विनाश भी होता [illegible]

का आवश्यक धर्म होने के कारण विनाश को किसी अन्य कारण के हस्तक्षेप की आवश्यकता नही। यह ऊपर कहा जा चुका है कि विनाश शुद्ध अभाव है और इसी हेतु उसके ऐसे कोई धर्म नहीं जिनकी कारणो अथवा अवस्थाओ के किसी भावात्मक समूह द्वारा उत्पत्ति आवश्यक है।[1]

कमलशील एव शान्तरक्षित का कथन है कि किसी उद्देश्य की पूर्ति मे समर्थ (अर्थक्रियासमर्था) तत्वो का ही केवल सत्त पुष्ट हो सकता है। उनका कथन है कि क्षणिक होने पर ही तत्व अर्थक्रियासमर्थ हो सकते हैं। स्थायी तत्वो के अर्थक्रियासमर्थ न होने के कारण उनका कोई अस्तित्व नही है। इस साध्य को प्रमाणित करने के लिए वे निम्न तर्क का आश्रय लेते हैं। यदि किसी अर्थ की पूर्ति आवश्यक है तो वह क्रमिक रूप से अथवा युगपत् भाव से हो सकती है क्योकि पूर्ण हेतु के विद्यमान रहने पर कार्यो को भी विद्यमान होना चाहिए, तथा कार्य के क्रमिक होने का कोई कारण नहीं है, परन्तु यह अनुभव सिद्ध है कि कार्य क्रमिक रूप से न कि युगपत् भाव से होते हैं। तथापि यह आपत्ति की जाए कि क्रमशील सहकारियो के साथ स्थायी तत्व के सयोग के कारण स्थायी तत्व भी क्रमिक क्रिया कर सकता है, तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि कार्य के उत्पादन मे स्थायी तत्व को क्रमशील सहकारियो द्वारा दी गई सहायता का स्वरूप क्या है ? क्या यह स्थायी कारण के विशेष विकार उत्पादन (अतिशयाधान) के कारण होता है अथवा स्थायी तत्व के उत्पादन क्रिया के साथ साम्य मे कार्य करने के कारण होता है ? प्रथम विकल्प की अवस्था मे अतिशयाधान स्थायी तत्व के स्वरूप के सदृश अथवा भिन्न हो सकता है, तथा ये दोनो विकल्प असम्भव हैं, क्योकि यदि यह सदृश है तो सहकारियो के अतिशयाधान के परिणामस्वरूप कार्य के होने के कारण अतिशयाधान के तत्व को ही न कि स्थायी

---

[1] शान्तरक्षित के मतानुसार 'क्षणिक' शब्द पारिभाषिक शब्द है। किसी तत्व मे उत्पत्ति के तत्क्षण पश्चात् नष्ट हो जाने के धर्म को पारिभाषिक रूप मे 'क्षण' कहते हैं, जिसमे भी यह गुण है वह क्षणिक है। उत्पादनान्तरविनाशिस्वभावो वस्तुन. क्षण उच्यते, स यस्यास्ति स क्षणिक इति-तत्वसग्रह-पृ० १४२, अत क्षण का अर्थ कालिक क्षण नही है। इसका अर्थ है उत्पादन के तत्क्षण पश्चात् विनष्ट हो जाना। अत उद्योतकर की यह आपत्ति अस्वीकार्य है कि एक कालिक क्षण की समाप्ति पर क्षणिक जैसा कुछ भी शेष न रहने के कारण एक काल में एक क्षणावस्थायी क्षणिक नही कहा जा सकता। तथापि, क्षणिक धर्म से पृथक् कोई तत्व नही है, और व्याकरण के अनुसार, 'क्षणिक' धर्म का अधिकरण एव क्षणिक धर्म का विभेद करने वाला 'क्षणिक' पद का कारण शाब्दिक प्रयोग की अनुमति मात्र है।

क्योकि कारण द्वारा एक बार कार्य उत्पन्न होने के पश्चात् कारण से कार्य की उत्पत्ति पुन पुन नही हो सकती, यदि ऐसा होता तो अनवस्था दोष की प्राप्ति होती। अत. यह स्वीकार करना होगा कि कारण का अर्थक्रियाकारित्व उत्पादन के तत्क्षण पश्चात् विरत हो जाता है।[1] कारण के साथ ही कार्य के होने (सहभूत कार्यम्) का मत अयुक्तियुक्त है, क्योकि स्वय कारण की उत्पत्ति हुए बिना कारण से कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती, पुन कारण स्वय उत्पन्न होने के पश्चात् उत्पादन नही कर सकता क्योकि उस अवस्था मे कार्य को भी कारणस्वभावी मानना होगा, परन्तु उसके साथ ही इसके अर्थक्रियाकारित्व के लिए भी कोई स्थान नही रहेगा। अत कार्य एव कारण सहभूत नही हो सकते। कारण व्यापार को कारण से भिन्न एव पृथक् स्वीकार करने की भी आवश्यकता नही है। तदन्तरभावित्व (नित्यपूर्वकालभावित्व) ही केवल उसका कारण है।[2] यदि कारण को कार्य से सम्बद्ध करने के लिए कारण-व्यापार को स्वीकार करना आवश्यक ही है, तो उसको अन्य व्यापार की आवश्यकता होगी, उसे किसी अन्य की, और इस प्रकार अनवस्था की प्राप्ति होगी। यदि कारण-व्यापार को स्वत स्वतत्र रूप से कार्य के उत्पादन मे समर्थ माना जाय तो कारण को भी कार्य के उत्पादन मे समर्थ माना जा सकता है। यह आपत्ति अयुक्तियुक्त है कि यदि पूर्वकालभावित्व मात्र को कारणत्व का निर्धारक माना जाय तो किसी वस्तु के दर्शन के पश्चात् उसकी गध ग्रहण करने के तथ्य से यह अनुमान भी किया जा सकता है कि रूप गध का कारण है, क्योकि रूप को गध का सहकारी कारण मानने के विषय मे बौद्धो को कोई आपत्ति नही है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बौद्ध पूर्वकालभावित्व मात्र को ही नही, अपितु अपरिवर्तनीय एव आवश्यक पूर्वकालभावित्व को कारण की परिभाषा मानते है।[3] पुन यदि विषयों को क्षणिक मान लिया जाय तो प्रत्यक्ष मे किसी कठिनाई का अनुभव नही होगा, क्योकि विज्ञप्तियो को विषयानुरूप आकार वाला अथवा निराकार परन्तु विषयप्रकाशी माना जा सकता है। प्रत्येक अवस्था मे विज्ञप्तियाँ अपने कारणो से उत्पन्न होता है, विषयो मे क्षणिकत्व अथवा स्थायित्व का उनके निर्धारण से कोई सबध नही। यथार्थ मे न तो कोई कारण है और न कोई भोक्ता, अपितु विचरमाण मानसिक घटनाओं की शृ खला मात्र ही है। कारणत्व पूर्व अवस्थाओ द्वारा पर अवस्थाओ के निर्धारण मे निहित है। उद्योतकर

---

[1] शान्तरक्षित के अनुसार वैभाषिको का मत है कि कार्य की उत्पत्ति तृतीय क्षण मे होती है, इस मत के अनुसार कार्य की उत्पत्ति नष्ट कारण से होती है।

[2] इदमेव हि कार्यस्य कारणापेक्षा यत् तदनन्तरभावित्वम्।

—तत्वसग्रह, पृ० १७७।

[3] न हि वयमानन्तर्यमात्र कार्यकारणभावाधिगतिनिबधन यस्यैवानन्तर यद्भवति तस्य कारणमिष्यते। —वही, पृ० १८०।

की यह आपत्ति अनुपयुक्त है कि यदि मन क्षणिक है तो स्मृति द्वारा वासनाएं नहीं हो सकती, बौद्धों के मत मे इसका कारण यह है कि वासना का अर्थ विशिष्ट स्वभाव की एक नवीन मानसिक अवस्था की उत्पत्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है। पुन कोई ऐसा स्थायी द्रष्टा नहीं जो स्मृति और प्रत्यभिज्ञा हो, किन्तु चेतन अवस्थाओं की एक विशिष्ट शृंखला मे किसी विशिष्ट प्रत्यक्ष के बल पर जब ऐसी वासनाएँ उत्पन्न होती हैं जिनको स्मृति के बीजो से युक्त माना जा सके तब ही स्मृति का होना सभव है। बौद्धों का यह मत नही है कि एक ही व्यक्ति बन्धन एव मोक्ष को भोगता है, उनका विचार है कि बन्धन अविद्या तथा अन्य कारणों के कारण दुःखमय अवस्थाओं की उत्पत्ति के अतिरिक्त कुछ नही है, और मोक्ष यथार्थ ज्ञान द्वारा अविद्या के विनाश के कारण मानस अवस्थाओ की शुद्धि के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

(झ) न्याय-वैशेषिक पदार्थों का खण्डन :

शान्तरक्षित एव कमलशील गुण, कर्म, सामान्य जाति, विशेष समवाय, शब्दार्थ, इन शाखाओं सहित द्रव्य के पदार्थों का खडन करने का प्रयास करते हैं। यह खडन सक्षेप मे यहा प्रस्तुत है।

अणुतत्वो का विरोध करते हुए उनका कथन है कि नित्य तत्वो मे विशेषातिशय उत्पन्न न होने के कारण किसी प्रकार की कोई अवस्थाएँ अथवा सामग्रियाँ परमाणु मे कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकती, अत परमाणुओ के सदा एक स्वभाव होने के कारण सारे विषय उनसे तो एक साथ उत्पन्न होने चाहिएँ अथवा उत्पन्न ही नही होने चाहिएँ। परमाणुओ के किसी भी कारण का ज्ञान न होना मात्र उनको कारणहीन मानने का आधार नही है। अवयवियो का जो खण्डन पहले ही किया जा चुका है, वह द्रव्यावयवियो को स्वीकार करने के विरुद्ध भी सत्य है, और इसी ने परमाणु रचित द्रव्यावयवी माने जाने वाले चार द्रव्यो पृथ्वी, जल, वायु एव आकाश का भी खण्डन हो जाता है। पुन स्वतन्त्र तथा पृथक् दिक् एव काल तत्वो का अस्तित्व सिद्ध करना भी सुकर नही है, क्योकि देशीय तथा कालिक निर्धारणाओ की व्याख्या भी अनुभूति के अन्य तथ्यो के समान ही अपने विशिष्ट कारणो के कारण उत्पन्न वासनाओ से की जा सकती है। बौद्ध ज्ञानेन्द्रियो से भिन्न कारण के रूप मे मन के अस्तित्व को स्वीकार तो करते हैं, परन्तु वे नित्य एव एक मात्र तत्व के रूप मे उसके अस्तित्व को स्वीकार नही करते।

द्रव्यो के खडन मे द्रव्याश्रयी माने जाने वाले गुणो का खडन भी निहित है। यदि द्रव्यो का अस्तित्व नही है तो जिस समवायि सबध से गुणो का द्रव्यो मे अस्तित्व माना जाता है वह समवायसबध भी नही रह सकता। पुन, जिन परमाणुओ मे रूपादिको का अस्तित्व माना जाता है, उनसे भिन्न इन रूपादिको के अस्तित्व को स्वीकार करने का भी कोई अर्थ नही। सख्याप्रत्यक्ष को भी विशिष्ट सवेदनाओ से

युक्त वासनाओ के कारण ही मानना चाहिए। सख्याओ को पृथक् गुण मानने का भी कोई कारण नही। कुछ इसी प्रकार से शातरक्षित एव कमलशील अन्य न्याय गुणो के खडन मे अग्रसर होते है।

कर्म के खडन की ओर अग्रसर होते हुए उनका कथन है कि यदि समस्त वस्तुओ को क्षणिक स्वीकार कर लिया जाय तो कर्म को उनका गुण नही बताया जा सकता, क्योकि कर्म मे अवयवो के क्रमिक पार्थक्य एव सधिस्थलो के सयोग की अपेक्षा होने के कारण उसके सम्पादन के लिए कई क्षणो की अपेक्षा है। यदि वस्तुओ को स्थायी अथवा नित्य माना जाय तो भी क्रिया की व्याख्या नही की जा सकती। यदि वस्तुओ को सदा क्रियाशील माना जाय तो वे क्रियारत ही रहेगी जबकि उनका प्रत्यक्ष निष्क्रिय रूप मे होता है, ऐसा होना असभव है। यदि वस्तुएँ स्वभावत निष्क्रिय है तो उनमे कोई स्पन्दनात्मक क्रिया नही हो सकती। गुणो एव कर्मो के खडन मे निहित मुख्य सिद्धान्त यह है कि बौद्ध गुणो तथा कर्मों को और विशिष्ट इन्द्रिय विषयोपलब्धियो को एक ही मानते है। उनके अनुसार इन्द्रियविषयो का पदार्थों के ऐसे द्रव्यो के रूप मे विश्लेषण करना गलत है जिनमे गुण और क्रिया का उनमे भिन्न पदार्थों के रूप मे समवाय है। कोई भी द्रव्य हो, उसका गुण भी वही होता है जिसके समवाय की उसमे कल्पना की जाती है और क्रिया भी वही होती है जिसका सम्पादन उससे अपेक्षित है।

जातियो के खडन के विषय मे बौद्ध तर्कों की मुख्य धारा इस प्रकार है कि जाति स्वभाव का प्रत्यक्ष किसी कारण के कारण होने की कल्पना होने पर भी एक जाति के समस्त विकारशील एव विविध पृथक् सदस्यो मे सतत् विद्यमान नित्य जातिस्वभाव के अस्तित्व की कल्पना करना गलत है। क्योकि किसी भी प्रकार से हम इसकी व्याख्या करने का प्रयत्न करें, तो भी यह जानना कठिन है कि जिन पृथक्-पृथक् अवयवो मे किसी वस्तु को विद्यमान माना जाता है उन सबके निरन्तर विकृत होते रहने पर भी वह वस्तु निरन्तर वही कैसे रह सकती है। यदि विशेष गुणो, यथा पाचक मे पाचकत्व, के कारण जाति सवभाव का समवाय माना जाता है, तो भी यह आपत्ति की जा सकती है कि प्रत्येक अवस्था मे पाचन कर्म भिन्न होने के कारण ऐसा कोई एक पाचन धर्म नही है जिसके कारण पाचक का जातिस्वभाव स्वीकार्य हो। इसके अतिरिक्त पाचक को पाचन कर्म न करने पर भी पाचक ही कहा जाता है। इस प्रकार के विचारो से कोई भी विचारशील व्यक्ति नित्य जातिस्वभाव के अस्तित्व को अस्वीकार करने लगेगा।

विशेष के खडन के विषय मे यह कहा जाता है कि यदि योगी परम-विशेष का एक दूसरे से भिन्न रूप मे प्रत्यक्ष कर सकते हैं तो वे उसी प्रकार परमाणुओ का एक दूसरे से भिन्न रूप मे प्रत्यक्ष कर सकते हैं, यदि कुछ अन्य गुणो के अतिरिक्त अन्य

किसी प्रकार से परमाणुओ का प्रत्यक्ष नही हो सकता तो यही बात स्वय विशेष गुणो को अपेक्षित है।

समवाय के खडन के विषय मे बौद्ध मुख्यत एक नित्य समवाय सबध को स्वीकार करने मे आपत्ति करते है, यद्यपि जिनमे इस सबध के अस्तित्व की कल्पना की जाती है वे सब वस्तुएँ विकारशील एव विनाशशील हैं। यह एक मिथ्या कल्पना है कि–जैसा कि नैयायिको की कल्पना है–समवाय सबध, यथा तन्तु मे वस्त्र का सबध, के होने की कभी अनुभूति होती हो, मानो कि एक (यथा वस्त्र) अन्य (तन्तु) मे विद्यमान हो।

शंकर एवं आनन्दज्ञान का तत्व विवेचन

यह सुविदित है कि शकाराचार्य ब्रह्म सूत्र २ २ ११–१७ पर अपने भाष्य मे वैशेषिक परमाणु सिद्धान्त की आलोचना करते है। उनका प्रथम प्रतिपाद्य विषय यह है कि कारण से भिन्न स्वभाव वाले कार्य की उत्पत्ति, यथा शुद्ध ब्रह्म से अशुद्ध जगत् की उत्पत्ति, वेदान्त के आलोचक वैशेषिको की उपमा के आधार पर भी न्ययोचित प्रदर्शित की जा सकती है। वैशेषिको का मत है कि परमाणु से द्वयणुक एव द्वयणुक से चतुरणुक के उत्पादन मे, परमाणु और द्वयणुक मे क्रमश विशेष होने वाले परिमाण्डल्य (विशिष्टपरमाण्विकमात्रा) और अणुह्रस्व (विशिष्टद्वयणुकमात्रा) के अतिरिक्त परमाणु और द्वयणुक के अन्य सब गुण क्रमश· द्वयणुक एव चतुरणुक मे स्थानान्तरित हो जाते हैं। अत, यद्यपि परमाणुओ के अन्य समस्त गुण उनके सयोगो द्वारा उत्पादित द्वयणुको मे चले जाते है, तथापि परमाणुओ का विशिष्ट परिमाण्डल्य परिमाण अणुह्रस्व परिमाण वाले द्वयणुको मे स्थानान्तरित नही होता। इसी प्रकार यद्यपि द्वयणुको के समस्त गुण द्वयणुको के सयोग से निर्मित चतुरणुको मे स्थान ग्रहण कर लेते हैं, तथापि उनका अणुह्रस्व परिमाण् द्वयणुको के परिमाण द्वारा अनुत्पन्न एव स्वय अपने परिमाण, अर्थात् महत्परिमाण, से युक्त चतुरणुको मे स्थानान्तरित नही होगा। इससे यह प्रकट होता है कि यह वैशेषिको की मान्यता है कि परमाणुओ का परिमाण्डल्य परिमाण अपने उत्पाद्य, द्वयणुक मे एक बिलकुल भिन्न परिमाण, अर्थात् महत् परिमाण, को उत्पन्न कर सकता है। इस उपमा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैशेषिको को एक बिलकुल भिन्न कारण, शुद्ध ब्रह्म, से एक बिलकुल भिन्न कार्य, अशुद्ध जगत्, के उत्पन्न होने मे कोई आपत्ति नही है। यदि यह कहा जाय कि परमाणु का परिमाण द्वयणुक में इसलिए नही जा सकता कि एक विपरीत गुण (अणुह्रस्वपरिमाण) द्वारा उसके अधिग्रहण के कारण उसका सचरण असभव हो गया है तो जगत् एव ब्रह्म के मध्य भेद के लिए भी एक ऐसा ही उत्तर दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, वैशेषिक मतानुसार, समस्त उत्पादन

एक क्षण के लिए गुणहीन होने के कारण ऐसा कोई हेतु नहीं है कि उस द्रव्य में उत्पन्न हुआ तो पारिमाण्डल्य परिमाण भी उसमे न जाय उस क्षण मे अन्य गुणों के समान पारिमाण्डल्य परिमाण के उसमे न जाने के कारण यह निष्कर्ष निकलता है कि पारिमाण्डल्य परिमाण के सचरण का अन्य परिमाण द्वारा विरोध होने से परिमाण स्वभावत उसमे नही गया। पुन यह आपत्ति नही की जा सकती कि गुणों के सादृश्य की उपमा द्रव्यो के असादृश्य की पुष्टि मे प्रस्तुत नही की जा सकती।

शकर का द्वितीय प्रतिपाद्य विषय यह है कि परमाणुसयोग की वैशेषिक मान्यता मिथ्या है क्योकि परमाणुओ के निरवयव होने के कारण तथा सयोग के लिए सम्पर्क एव सपर्क के लिए सपर्क मे आने वाले अवयवो की अपेक्षा होने के कारण परमाणुओ का कोई सयोग सभव नही। इसके अतिरिक्त सर्ग से पूर्व किसी प्रयत्नकर्त्ता के अभाव के कारण, तथा परमाणुओ का सपर्क बिना प्रयत्न फलित न हो सकने के कारण तथा उस काल मे अचेतन होने से जीवो के प्रयत्न मे असमर्थ होने के कारण उस क्रिया का कारण देना असभव है जिसके अभाव में परमाणुओं का सम्पर्क भी असम्भव हो जाएगा। अत ऐसे सम्पर्क के लिए आवश्यक प्रयत्न के अभाव मे परमाणु सयुक्त नही हो सकते। शकर का तृतीय प्रतिपाद्य विषय यह है कि वैशेषिकों को मान्य समवायसम्बन्ध स्वीकार नही किया जा सकता, क्योंकि यदि दो वस्तुओं के योग मे समवायसम्बन्ध की अपेक्षा है तो स्वय समवाय के उनसे भिन्न होने के कारण स्वय को उनसे युक्त करने के लिए एक अन्य समवाय की आवश्यकता होगी, उसके लिए एक अन्य की, इस प्रकार इसका कोई अन्त नहीं। यदि सपर्क सम्बन्ध को सम्पर्कगत विषयो से अपने को सम्बद्ध करने लिए समवाय सम्बन्ध की आवश्यकता हो, तो समवाय सम्बन्ध को अपने लिए अन्य सबध की आवश्यकता न होने का कोई कारण नही। पुन, यदि परमाणुओ को सदा व्यापारशील, क्रियाशील एव सयोगशील माना जाय तो प्रलय नही हो सकता और यदि वे सदा विघटनशील हैं तो सर्ग असम्भव होगा। पुनश्च, परमाणुओ के रूपादिगुणो से युक्त होने के कारण उनको किसी सरल कारण का उसी प्रकार फल होना चाहिए जिस प्रकार अन्य गुणवान् विषय सरलतर तत्वो से निर्मित होते हैं। इसके अतिरिक्त यह मानना भी ठीक नही कि हमे अनित्यता का बोध होने के कारण मे नित्यता का आशय निहित है और इसी हेतु परमाणुओ का भी नित्य होना आवश्यक है, क्योंकि यद्यपि इसमे नित्यता की सत्ता निहित है तथापि ब्रह्म जैसी नित्य वस्तु के होने के कारण इसका आशय यह नही कि परमाणु भी नित्य हों। पुन परमाणुओ के विनाश का कारण ज्ञात न होने का यह अर्थ नहीं कि वे नित्य है, क्योंकि विनाश की विधियो को अज्ञान मात्र का आशय नित्यता नहीं है। पुनश्च, वैशेषिक गलती पर है जब वे कहते है कि छ विभिन्न पदार्थ होते है और फिर भी यह मानते है कि अन्य सब पाचो पदार्थ अपने अस्तित्व अथवा प्रकाशन

के लिए द्रव्य पर आश्रित है। तब द्रव्य और उसका गुण उतने भिन्न नहीं प्रतीत होते जितने दो द्रव्य। तब द्रव्य श्याम अथवा श्वेत प्रकट होता है और इसका कारण यह है कि मूलतः गुणों का द्रव्य से तादात्म्य है (द्रव्यात्मकता गुणस्य)। इसके अतिरिक्त यह नहीं कहा जा सकता कि द्रव्य एव अन्य पदार्थों का सम्बन्ध द्रव्य से गुणों के अपृथक्त्व (अयुतसिद्धत्व) से भिन्न है। यह अयुतसिद्धत्व देशीय अयुत-सिद्धत्व नहीं हो सकता, क्योंकि जब तन्तु अपनी परिस्थितिजन्य वस्त्र की रचना करते है तो तन्तुओ एव वस्त्र को एकदेशीय नहीं माना जा सकता, यद्यपि कारण एव कार्य होने के कारण उनको अयुतसिद्ध माना जाता है, और फिर भी वस्त्र की श्वेतता को तन्तुओं मे व्याप्त नहीं माना जाता। यदि अयुतसिद्धत्व का अर्थ कालिक अयुतसिद्धत्व है तो गाय के दोनों सहभूत शृगों को भी अयुतसिद्ध ही मानना पड़ेगा, और यदि अयुतसिद्धत्व का अर्थ धर्म का अयुतसिद्धत्व अथवा समानधर्मता हो तो गुण को द्रव्य से भिन्न नहीं माना जा सकता। पुन, कारण के कार्य से पूर्व विद्यमान होने के कारण कार्य को कारण से अयुतसिद्ध नहीं माना जा सकता। तो भी वैशेषिक इस पर बल देते है कि उनका सम्बन्ध समवायसम्बन्ध है क्योंकि वे स्वभावत अयुतसिद्ध हैं।

तथापि उपरिनिर्दिष्ट तार्किक विवेचन जैसे तार्किक विवेचनों मे शकर बहुत कम पडते हैं, और कुछ विरले उदाहरण ऐसे हैं जिनमे वे अपने प्रतिपक्षी पर शुद्ध तार्किक दृष्टिकोण से आक्षेप करते हैं। परन्तु यहाँ भी वे वैशेषिक परिभाषाओं की उतनी आलोचना नही करते जितना कि वे कुछ महत्वपूर्ण वैशेषिक-सिद्धान्तों के परिणाम-स्वरूप सामान्य तार्किक एव आध्यात्मिक अव्यवस्थाओं को प्रदर्शित करते हैं। शकर द्वारा प्रस्तुत इस प्रकार की आलोचनाओं और नैयायिकों द्वारा रचित शुद्ध-तर्क के प्रतिष्ठित सिद्धान्तों के खडन मे अपने तत्त्व-विवेचन की सूक्ष्मताओं की समस्त शक्ति के प्रयोग द्वारा अपने खण्डनखण्डखाद्य मे ही श्रीहर्ष द्वारा प्रस्तुत आलोचना का अन्तर सुगमता से दृष्टिगोचर हो सकता है। श्रीहर्ष कृत आलोचना का उद्देश्य किसी सिद्धान्त की पुष्टि के लिए अन्य सिद्धान्त की आलोचना न होकर सम्पूर्ण तर्कगम्य अथवा प्रत्यक्षजन्य ज्ञान की सम्भावना का खण्डन है। यह किसी विशिष्ट आध्यात्मिक मत को हाथ मे नही लेती अपितु यथार्थ ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष एव अनुमान के सामर्थ्य को अस्वीकार करके यह मान लेती है कि प्रत्यक्ष एव अनुमान के परिभाषा की न्यायिकपद्धति को सदोष एव विरोधाभास युक्त प्रमाणित करके ही उसके काम की इतिश्री हो जाती है। चित्सुख के प्रयास अधिक ठोस है, क्योंकि वह न केवल तर्क के न्याय पदार्थों की ही आलोचना करते हैं अपितु वैशेषिक आध्यात्म की भी आलोचना करते है और स्वय वेदान्तमत के विषय मे कुछ स्वीकारात्मक एव महत्वपूर्ण कथन भी प्रस्तुत करते हैं। आनन्दज्ञान रचित 'तर्क सग्रह' वैशेषिक पदार्थों की निषेधा-त्मक आलोचना का एक अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, और उस अर्थ मे चित्सुख कृत

वैशेषिक पदार्थों की आलोचना का एक अधिक विस्तृत परिमाण मे अग्रेसरहा मात्र है। यथार्थवादी वैष्णव आचार्यो, यथा मध्व और उनके अनुयायियो, द्वारा ज्यो-ज्यो वैशेषिक का शनै-शनै अगीकार किया गया त्यो-त्यो वैशेषिक के महत्व की भी शनै-शनै वृद्धि होती गई और यह माना जाने लगा कि वैशेषिक के खडन का अर्थ उन द्वैताचार्यो का भी खडन होगा जिन्होने वैशेषिक पदार्थ-विद्या एव आध्यात्म-विद्या से अपना मुख्य सवल प्राप्त किया।

आनन्दगिरि नाम से भी प्रख्यात, आनन्दज्ञान सम्भवत गुजरात प्रदेश के निवासी थे और उनका काल मध्य त्रयोदश शताब्दी है। आनन्दज्ञान कृत 'तर्क सग्रह' के आमुख मे श्री त्रिपाठी यह प्रदर्शित करते है कि आनन्दज्ञान शकर के द्वारिकापीठ के मठाधीश थे, श्री शकराचार्य इस मठ के प्रथम गुरु थे। आनन्दज्ञान अनुभूतिस्वरूपाचार्य एव शुद्धानन्द, इन दो गुरुओ के शिष्य थे। अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने पाच ग्रथ लिखे (१) 'सारस्वत प्रक्रिया' नामक व्याकरण ग्रन्थ (२) गौडपादरचित 'माण्डूक्यकारिका' पर शाकर भाष्य की टीका (३) आनन्दबोधयति कृत–'न्याय मकरद' पर 'न्यायमकरदसग्रह' नामक टीका (४) आनन्दबोध कृत 'न्याय दीपावली' पर 'चन्द्रिका' नामक टीका (५) आनन्दबोध कृत 'प्रमाणमाला' पर 'निवन्ध' नामक भाष्य। उनके द्वितीय गुरु शुद्धानन्द के बारे मे कुछ भी नही ज्ञात है। यह शुद्धानन्द सत्रहवी शताब्दीकालीन स्वयप्रकाश के गुरु एव अद्वैत मकरद टीकाकार शुद्धानन्द से भिन्न है। प्रकाशात्मन् कृत 'पचपादिकाविवरण' की 'तत्वदीपन' टीका के लेखक अखडानन्द आनन्दगिरी के पट्टशिष्यो मे से एक थे, क्योकि 'तत्वदीपन' के चतुर्थ श्लोक मे वे आनन्दगिरि का 'शैलाह्वपचास्यसतत भजे' इन शब्दो मे उल्लेख करते हैं। आनन्दगिरि ने अनेको ग्रन्थ रचे जिनमे अधिकाश टीकाएँ ही है। उनमे से निम्न पहले मे ही मुद्रित हो चुकी हैं 'ईशावास्यभाष्य टिप्पण', 'केनोपनिषद् भाष्य टिप्पण' वाक्यविवरणव्याख्या, माण्डूक्यगौडपादीय भाष्य व्याख्या, तैत्तिरीयभाष्य टिप्पण, छान्दोग्यभाष्यटीका, तैत्तिरीयभाष्यवार्तिक टीका, शास्त्रप्रकाशिका, बृहदारण्यकभाष्य-वार्तिक टीका, शारीरकभाष्य टीका (जिसे 'न्यायनिर्णय' भी कहा जाता है), गीता-भाष्य विवेचन, जगन्नाथाश्रय (पन्द्रहवी शताब्दी के उत्तरार्धकालीन) के शिष्य रामतीर्थ कृत 'तत्वचन्द्रिका' टीका सहित पचीकरण विवरण, एव 'तर्क सग्रह'। परन्तु उपदेशसाहस्त्रीविवृति, वाक्यवृत्ति टीका, आत्म ज्ञानोपदेश टीका, स्वरूपनिर्णय टीका, त्रिपुरीप्रकरण टीका, पदार्थतत्वनिर्णय विवरण तथा तत्वालोक जैसे उनके कुछ अन्य ग्रन्थ अभी भी मुद्रित होने शेप है। इस प्रकार यह ज्ञात होगा कि उनके प्राय समस्त ग्रन्थ शकर के भाष्यो अथवा अन्य ग्रन्थो की टीकाएँ मात्र है। केवल 'तत्वसग्रह' एव 'तत्वालोक' (जिन्हे जनार्दन कृत वताया जाता है, जनार्दन सम्भवत

आनन्दगिरि का गृहस्थाश्रम का नाम हो) ही उनके दो स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रतीत होते हैं।[1] आनन्दगिरि 'तत्वालोक' मे कई अन्य दार्शनिको के सिद्धान्तो का यहा तक कि भास्कर के प्रमाण सिद्धान्त का भी खडन करते हैं, परन्तु इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि दुर्भाग्यवश वर्तमान लेखक को उपलब्ध नही हुई। 'तत्वसग्रह' को लगभग पूर्ण रूप मे वैशेषिक दर्शन के सविस्तर खडन के लिए लगाया गया है। यह ग्रन्थ तीन अध्यायो मे विभक्त हैं। प्रथम अध्याय मे द्रव्य की आलोचना करते हुए वे द्वैत, तत्व, सत्व, असत्व, भाव, अभाव के प्रत्ययो के खडन से प्रारम्भ करते हैं। तत्पश्चात् आनन्दज्ञान द्रव्य की परिभाषा तथा उसके नवधा विभाजन (वैशेषिक दर्शक के अनुसार) के खडन की ओर अग्रसर होते हैं। तत्पश्चात् वे पृथ्वी द्रव्य और उसके विविध रूपो, यथा परमाणु तथा द्वयणुक, उसके महाभौतिक रूपो और उनकी विकृत अवस्थाओ, यथा शरीर, इन्द्रियो और इन्द्रिय अर्थों की आलोचना करके जल, अग्नि और वायु के द्रव्यो और सर्ग तथा प्रलय, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन के सिद्धान्तो का खडन करते हैं। द्वितीय अध्याय मे वे रूप, रस, गध, स्पर्श आदि गुणो की, पीलुपाक अथवा पिटर पाक द्वारा इन्द्रिय अर्थों के परिवर्तन पर ताप के प्रभाव, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, ज्ञान के स्वभाव, माया और स्वप्न, प्रमाण तथा प्रमा, प्रत्यक्ष, अनुमान, व्याप्ति हेतु, हेत्वाभास, दृष्टान्त, वाद, वितण्डा, जल्प, आगम, उपमान, स्मृति, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व पाप, पुण्य आदि की आलोचना करते हैं। तृतीय अध्याय मे वे कर्म, जाति, समवाय एव विभिन्न प्रकार के अभावो के प्रत्ययो का खडन करते हैं। उन सब खडनो मे उनका प्रतिपाद्य विषय वही है जो श्री हर्ष अथवा चित्सुख का है अर्थात् वैशेषिक जिस किसी प्रकार से ही जगत् प्रपचो के विभाग, वर्गीकरण अथवा परिभाषा का प्रयत्न करें वे उसमे असफल ही रहे हैं।

इतनी लम्बी आलोचना एव खडन के पश्चात् जिस निष्कर्ष पर आनन्दज्ञान पहुँचते हैं, वह हमे आनन्दबोध रचित 'न्यायमकरन्द' मे दिए हुए उनके निष्कर्षो का स्मरण करा देते हैं। 'न्याय मकरन्द' पर आनन्दज्ञान के गुरु अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने टीका लिखी थी। इसका उल्लेख आनन्दबोध के मत की विवेचना करते समय पहले ही किया जा चुका है। अत, आनन्दज्ञान का कथन है कि एक मायामय आरोपण को सत् नही माना जा सकता क्योकि प्रतीति के अधिष्ठान मे उसके असत् होने के कारण वह अन्य कही भी सत् नही हो सकता और न उसे अतिशयासत् ही माना जा सकता है क्योकि यदि ऐसा होता तो वह अपरोक्षप्रत्यक्ष के रूप मे प्रकट नही होता (अपरोक्षप्रतीति विरोधात्) और न उसे एक ही विषय मे सत् और असत् नही माना जा

---

[1] देखिए तर्क सग्रह की श्री त्रिपाठी जी के सस्करण की उनकी भूमिका, बडौदा–१९१७।

सकता। एक मात्र विकल्प यह शेष रहता है कि मायामय आरोपण स्वभावत अनिर्वाच्य है।[1] इस अनिर्वाच्यता का यह अर्थ है कि चाहे जिस प्रकार से इसके वर्णन का प्रयत्न किया जाय, यह ज्ञात होगा कि उसके सदर्भ मे उनमे से किसी भी प्रकार की पुष्टि नही हो सकती, अथवा अन्य शब्दो मे, वह उनमे से प्रत्येक प्रकार मे अनिर्वाच्य है।[2] अब, चूंकि समस्त प्रतीतियो का कोई न कोई कारण होना आवश्यक है तथा चूंकि किसी असत् वस्तु का सत्वस्तु उपादान कारण नही हो सकती (न च अवस्तुनो वस्तु उपादानमुपपद्यते) और चूंकि स्वभावत वे सब अनिर्वाच्य है, अत उनका कारण भी उसी स्वभाव, अर्थात् अधिष्ठान की अज्ञानता का होना चाहिए।[3]

इसके पश्चात् उनका कथन है कि समस्त प्रतीतियो का उपादान, अज्ञान ब्रह्म मे सम्बद्ध है, क्योकि यदि सर्वज्ञ (प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय एव उनके सम्बन्ध) के उपादान अज्ञान से ब्रह्म सम्बन्ध न हो तो उसको सर्वज्ञ नही माना जा सकता।[4] एक तत्व आत्मा, ब्रह्म, के अतिरिक्त सब प्रतीयमान जगत् अज्ञान का फल है। यह एक अज्ञान अनन्तविध प्रतीतियो की व्याख्या कर सकता है और प्रतीतियो का विविधता अथवा अनेकता को स्पष्ट करने के लिए अनेको अज्ञानो को स्वीकार करने की लेशमात्र भी आवश्यकता नही है। अत अनेक आत्माएँ इस एक अज्ञान के साथ ब्रह्म के सम्बन्ध से उत्पन्न प्रतीतियाँ मात्र ही है।[5] यही एक अज्ञान स्वप्न एव जाग्रत् अवस्थाओ की प्रतीतियो के लिए उत्तरदायी है। यही एक अज्ञान अपने विविध कार्यो अथवा व्यापारो के तरीको द्वारा समस्त प्रकार की विविधताओ का हेतु है। यदि तत्व एक ही है, जो एक अज्ञान के माध्यम से समस्त नानारूप प्रतीतियो मे प्रकट होता है तो अहभाव एव आत्मप्रत्यभिज्ञा के व्यापारो की व्याख्या कैसे की जाएगी?

[1] पारिशेष्यादनिर्वाच्यमारोप्यमभ्युपगम्यता सत्वादीना प्रकाराणा प्रागुक्तन्याय बाधनात्
तर्कसग्रह—पृ० १३५।

[2] येन येन प्रकारेण परो निर्वक्तुमिच्छति, तेन तेनात्मनायोगस्तदनिर्वाच्यता मता।
तर्कसग्रह—पृ० १३६।

[3] तस्माद्रूप्यादिकार्यस्यानिर्वाच्यत्वात् तदुपादानमपि अधिष्ठानाज्ञानमुपादेयम्—
वही—पृ० १३७।

[4] प्रमाणत सर्वज्ञत्वेऽपि प्रमातृत्वस्य प्रमाणप्रमेयसम्बन्धस्य चाज्ञानसम्बन्धमन्तरेणा-सिद्धे, तस्मिन्नज्ञानवत्त्वमवश्यमाश्रयितव्यमन्यथा सर्वज्ञत्वायोगात्—
वही—पृ० १३७-३८।

[5] एकस्तावदात्मा द्वयोरपि आवयो सम्प्रतिपन्नोऽस्ति, तस्य स्वज्ञानादेव अविवादद-सिद्धादेकस्मदतिरिक्त सर्व प्रतिभाति—समस्तस्यैव भेदमानस्यापारमार्थिकस्यैक-ज्ञानसामर्थ्यादेव सभवान्नाज्ञानभेदे हेतुरस्ति—तर्कसग्रह—पृ० १३८-१३९।

इस कठिनाई के उत्तर मे आनन्दज्ञान का उत्तर है कि द्रष्टा एव दृश्य आत्मा दोनो ही अन्त करणगत (अज्ञान का फल) मिथ्या प्रतीतियाँ मात्र है, और इसकी किसी प्रकार की क्रिया से एक सत्य आत्मा किसी भी प्रकार से दूषित नही होता। अत ब्रह्म अद्वितीय है और उससे सम्बद्ध एक अनादि अनिर्वाच्य अज्ञान है, जो उस सब अनन्त रूप मे विविध प्रतीतियो का कारण है जिनके द्वारा मानो ब्रह्म अशुद्ध प्रतीत होता है तथा बन्धन भोगता है और पुन मानो आत्मा के यथार्थ स्वरूप के वेदान्ती सत्य की उपलब्धि के द्वारा पुन मुक्त हुआ प्रतीत होता है।[1] वस्तुत. न तो बन्धन ही होता है और न मोक्ष ही।

उपर्युक्त से यह सकेत दिया जा सकता है कि ब्रह्म के साथ अज्ञान के जिस सम्बन्ध को वाचस्पति और आनन्दबोध ने स्वीकार किया उसी व्याख्या को आनन्दज्ञान ने भी अपनाया है। शाकरदर्शन के व्याख्याता के रूप मे आनन्दज्ञान की स्थिति शाकरभाष्यो पर उनके द्वारा रचित अनेको सक्षम टीकाओ तथा परकालीन लेखको द्वारा किए गए उनके उल्लेखो से भी स्पष्ट है। उनमे से कुछ लेखको के नाम श्री त्रिपाठी ने सगृहीत किए है, वे है—प्रज्ञानानन्द, शेषशार्ङ्गधर, वादिवागीश्वर, वादीन्द्र, रामानन्द सरस्वती, सदानन्द काश्मीरक (१५४७ ई०प०), कृष्णानन्द (१६५० ई०प०) महेश्वरतीर्थ (१६५० ई०प०) इत्यादि।

'प्रकटार्थ विवरण' का दर्शन

'प्रकटार्थ विवरण' (जैसाकि स्वय लेखक इस ग्रन्थ के अन्त मे पुष्पिका मे लिखते है— प्रारम्भयते विवरण प्रकटार्थमेतत्) ब्रह्मसूत्र पर शाकर भाष्य की अभी तक पाण्डुलिपि मे उपलब्ध एक महत्त्वपूर्ण टीका है। अड्यार पुस्तकालय मद्रास के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री टी० आर० चिन्तामणि के सौजन्य से वर्तमान ग्रन्थ के लेखक को इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि का अड्यार पुस्तकालय मे अवलोकन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। श्री चिन्तामणि इसका एक सस्करण प्रकाशित करने का विचार कर रहे हैं। तथापि, ग्रन्थकार ग्रन्थ मे कही भी अपना नाम प्रकट नही करता है और अन्य ग्रन्थो मे इसके 'प्रकटार' नाम का अथवा प्रकटार्थ के रचयिता (प्रकटार्थकार)

---

[1] अद्वितीयमात्म तत्वम् तत्र च अनाद्यमनिर्वाच्यमेकमज्ञानमनन्तभेदप्रतिमाननिदानम् ततश्चानेकार्थकलुपितमात्मतत्त्व बद्धमिवानुभूयमान, वेदान्तवाक्योत्थतत्त्वसाक्षात्कार-पराकृतसकार्याज्ञान मुक्त इवभाति, परमार्थतो, न बन्धो न मुक्तिरिति सकार्याज्ञान-निवृत्त्युपलक्षितम् परिपूर्णमात्मतत्वमेव परमपुरुपार्थरूप सिद्धयति।

—वही—१४१।

का सर्वत्र उल्लेख किया गया है, न कि ग्रन्थकार के व्यक्तिगत नाम का।[1] त्रयोदश-शती के आनन्दज्ञान ने इस ग्रन्थ का (आनन्दाश्रम संस्करण के 'मुण्डक' पृ० ३२, केन पृ० २३) उल्लेख किया है — यह मानना ठीक होगा कि ग्रन्थकार द्वादश शती के उत्तरार्ध काल में विद्यमान थे। ये 'वेदान्तकौमुदी' के रचयिता रामाद्वय से तो निश्चित ही पूर्ववर्ती होंगे। रामाद्वय न केवल 'प्रकटार्थ' का उल्लेख ही करते हैं अपितु अपने कई प्रसंगों में इस ग्रन्थ के तर्कों से भी बहुत प्रभावित हुए हैं।[2] प्रकटार्थ-कार का मत है कि शुद्ध चैतन्य के संयोग से माया (चिन्मात्रसम्बन्धिनी) समस्त भूत-प्रकृति की जन्मदात्री होती है। शुद्ध चैतन्य (चिन्मात्र) के माया में प्रतिबिम्ब के द्वारा ईश्वर की उत्पत्ति होती है और उसके परिणामस्वरूप स्रष्टा ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है, तथा उन ब्रह्मा के अनन्त अवयवों में चिन्मात्र के प्रतिबिम्ब द्वारा ही माया की आवरण एवं सर्जन क्रियाओं के कारण अनन्त जीवात्माओं का उदय होता है। 'माया' अथवा 'अज्ञान' ज्ञान का अभाव न होकर ठीक वैसे ही एक भावात्मक उपादान कारण है जैसे कि मिट्टी घट का कारण है (अज्ञानमभाव उपादानत्वात् मृद्वत्), परन्तु माया के आवरणत्व (आवरणत्वात्) एवं सत्य ज्ञान के द्वारा नश्वर होने के कारण (प्रकाश हेयत्वात्) इसको उसके विद्यमान रूप में जाना नहीं जा सकता, तथापि इसे समस्त भ्रमों का भावात्मक कारण भी माना जा सकता है।[3] सुविदित वेदान्ती पद 'स्वप्रकाश' की परिभाषा प्रकटार्थ में इस प्रकार की गई है स्वयं अपने संविद् के ज्ञान बिना प्रकाश (स्वसंविन्निरपेक्षण स्फुरणम्)। आत्मा को स्वप्रकाश मानना होगा, क्योंकि ऐसी परिकल्पना के अभाव में आत्मा का प्रकाश अगम्य होगा।[4] तत्पश्चात् 'प्रकटार्थ' कार कुमारिल के मत की ज्ञान के विषयीपरक एवं संविद् विशेष होने के कारण अनुमानगम्य होने के कारण आलोचना करते हैं तथा ज्ञान को विषयों में समवायी रूप से विद्यमान विषय का प्रकाश मानने वाले न्याय

---

[1] ग्रन्थ के अन्त में पुष्पिका निम्न है—
ज्ञात्वापि यस्य बहुकालमचिन्तनेन, व्याख्यानुमक्षमतया परितापि चेतः
तस्योपतापहरणाय मयेह भाष्ये, प्रारभ्यते विवरणं प्रकटार्थमेतत्।
पाण्डुलिपि सं० / ३८, ३७ राजकीय पाण्डुलिपि पुस्तकालय, मद्रास।

[2] वेदान्त कौमुदी पाण्डुलिपि की रूपान्तरित प्रतिलिपि—पृ० ६६।

[3] आवरणत्वात्प्रकाशहेयत्वाद्वा तमोवत्स्वरूपेण प्रमाणयोग्यत्वेऽप्यभावव्यावृत्ति-भ्रमकारणत्वादिधर्मविशिष्टस्य प्रामाण्यं त्वं न विरुध्यते।

पाण्डुलिपि—पृ० १२।

[4] आत्मा स्वप्रकाशस्ततोऽन्यथाऽनुपपद्यमानत्वे सति, प्रकाशमानत्वान्न य एवं न स एवं यथा कुम्भः॥ प्रकटार्थ पाण्डुलिपि।

वैशेषिक एव प्रभाकर मतो की, (आत्मसमवायी विषयप्रकाशो ज्ञानम्) और ज्ञान को आत्मा की प्रवृत्तिविशेष मानने वाले भास्कर मत की आलोचना भी करके अन्त मे यह मत व्यक्त करते है कि मन प्रकाशस्वभावी सत्वगुणप्रधान द्रव्य है और यही मन नैतिक भाग्य से युक्त होकर (अदृष्टादिसहकृतम्) उस पद की प्राप्ति करता है जहाँ विषय प्रकाश की एक लम्बी किरण के सदृश स्थित रहते हैं तथा उसके सन्निकर्ष मे आते हैं तथा तब उसके परिणामस्वरूप चिन्मात्र के विषय पर प्रतिबिम्बित होने के कारण उनका ज्ञान होता है। इस प्रकार परिभाषित प्रत्यक्षज्ञान एक मानस परिणाम है जो किसी विषय का प्रकाश नही हो सकता (मन परिणाम सविद् व्यञ्जको ज्ञानम्),[1] तथापि अनुमान मे मन का परिणाम विषयो के साथ वास्तविक सस्पर्श बिना ही होता है, अत कोई विषय प्रकाशक स्फुरण नही होता, क्योकि उसमे मन के हेतु अथवा लिंग के प्रत्यक्ष ससर्ग मे होने के कारण अनुमेय विषय के साथ मन के सनिकर्ष का बाध होता है। यहाँ कोई ऐसा व्यापार नही होता जिसके द्वारा विषय ज्ञान अपरोक्ष रूपेण प्रकाशित हो सके, अपितु मन का ऐसा परिणाम होता है कि विषय सबधी सविद् के उदय मे बाधा न हो।[2] 'प्रकटार्थ' कार ईश्वर और जीव की उपाधियो के रूप मे माया और अज्ञान मे अन्तर मानते हैं।

विमुक्तात्मा (१२०० ई० प०)

अव्ययात्मा भगवत्पूज्यपाद के शिष्य विमुक्तात्मा ने अपना 'इष्ट सिद्धि' ग्रन्थ सभवत त्रयोदश शताब्दी के प्राथमिक वर्षों के पश्चात् नही लिखा। चदतुर्दश शताब्दिकालीन मधुसूदन द्वारा अपने 'अद्वैत-सिद्धि' एव रामाद्वय द्वारा अपने 'वेदान्त-कौमुदी' मे उनको उद्धृत किया गया है। उस पर चित्सुख के आचार्य ज्ञानोत्तम ने टीका लिखी है और उस टीका का नाम 'इष्टसिद्धिव्याख्या' अथवा 'इष्टसिद्धिविवरण' है। अन्यत्र वर्णित हेतुओ के कारण ज्ञानोत्तम का काल त्रयोदश शताब्दी के उत्तरार्ध के पश्चात् नही माना जा सकता। विमुक्तात्मा ने 'प्रमाणवृत्तिनिर्णय' नामक ग्रन्थ

---

[1] पाडुलिपि, पृ० ५४।

[2] उपलब्ध सम्बन्धार्था कारेण परिणत मनोऽन्वावभासव्यावृत्तिमात्रफलम् न तु सविद् व्यजकम्, लिंगादिस विद्व्यवधानप्रतिबन्धात्।

—पाडु०, पृ० ५४।

यह सुगमता से देखा जा सकता है कि किस प्रकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने अपने पूर्वाचार्यों द्वारा निर्मित इन तथा अन्य सामग्रियो से प्रत्यक्ष तथा अनुमान के अपने वेदान्त सिद्धान्त को विषद किया।

ग्रन्थ भी लिखा जिसका वे अपने 'इष्टसिद्धि' (पाडु-पृ० ७२) मे उल्लेख करते है। यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नही हुआ है। वर्तमान लेखक को अद्यार पुस्तकालय मे उपलब्ध इसकी पाडुलिपि कोचीन राज्यान्तर्गत नाडुविल मटम् की पाडुलिपि का लिप्यन्तरित रूप है परन्तु यह अनेक भागो मे अत्यन्त आशिक ही है, यहाँ तक कि प्राय चर्चा के अर्थ को सम्यक् रूप मे ग्रहण करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। ग्रन्थ आठ अध्यायो मे विभक्त है और इसका अधिकाश वेदान्त दर्शन एव अन्य दर्शनो मे भ्रमो के विश्लेषण से सम्बद्ध चर्चाओ के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस ग्रन्थ को मुण्डन कृत 'ब्रह्मसिद्धि,' सुरेश्वर कृत 'नैष्कर्म्यसिद्धि' विमुक्तात्मा कृत 'इष्ट सिद्धि' तथा मधुसूदन कृत 'अद्वैत सिद्धि' इन चार सिद्धियो मे एक माना जाता है। अब तक 'नैष्कर्म्यसिद्धि' तथा 'अद्वैतसिद्धि' ही प्रकाशित हुए हैं। मद्रास मे 'ब्रह्म सिद्धि' के शीघ्र ही प्रकाशन की आशा की जाती है। परन्तु अभी तक वर्तमान लेखक को इस महत्वपूर्ण कृति के विषय मे किसी प्रयास का ज्ञान नही है।

ग्रन्थ का प्रारम्भ लेखक द्वारा की गई वदना की व्याख्या से प्रारम्भ होता है। इसमे वह उस अज, अबोध्य, आत्मानन्द स्वरूप अनन्त अनुभूति की वेदना करते हैं जो ऐसा पट है जिस पर भ्रान्तिमय जगदावभास चित्रित है। अत वह शुद्ध अनुभूति के रूप मे परमतत्व के स्वभाव के विषय मे चर्चा प्रारम्भ करते हैं। शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त कुछ भी अनादि तथा नित्य नही हो सकता। परमाणुओ को प्राय अनादि माना जाता है, परन्तु उनके वर्ण एव इन्द्रिय गुण होने के कारण वे प्रकृति के अन्य विषयो के सदृश ही है, तथा उनके अवयव भी हैं क्योकि उनके अभाव मे परमाणुओ का सयोग असभव होगा। केवल वही अविभाज्य हो सकता है जो निरवयव एव अनादि हो, और केवल अनुभूति ही को ऐसा कहा जा सकता है। अनुभूति और अन्य विषयो मे यह भेद है कि जबकि विषयो का 'यह' अथवा 'विषय' कह कर वर्णन किया जा सकता है, वहाँ अनुभूति स्पष्टत ऐसी नही है। परन्तु, यद्यपि यह भेद सामान्यत स्वीकृत है, तथापि तत्व-विवेचन सम्बन्धी तर्क यह प्रदर्शित करते हैं कि दोनो आभ्यन्तर दृष्टि से भिन्न नही हैं। तार्किक दृष्टि से प्रत्यक्ष कर्ता तत्व (दृक्) और प्रत्यक्ष (दृश्य) मे कोई भेद नही हो सकता, क्योकि दृक् अप्रत्यक्ष है (अदृश्यत्वात्)। दृश्य और अदृश्य के मध्य किसी-भेद को ग्रहण नहीं किया जा सकता क्योकि समस्त भेद दो ज्ञात तत्वो का वर्णन करता है परन्तु यह तक किया जा सकता है कि यद्यपि दृक् का ज्ञान नही होता तथापि यह स्वप्रकाश है और इसीलिए भेद का भाव प्रकट होना आवश्यक है। इस आपत्ति के उत्तर के लिए भेद के स्वरूप के विषय मे विचार विमर्श अनावश्यक है। यदि भेद भिन्न तत्वो के स्वभाव का होता तो भेद तत्वो के सदर्भ पर आश्रित नही होता (न स्वरूपदृष्टि प्रयोग्यपेक्षा)। अत भेद जो भिन्न तत्व के स्वरूप से भिन्न तथा पृथक् ज्ञान-प्रक्रिया, यथा रूप रसादि, के द्वारा ग्राह्य

अभिव्यक्ति हो जाती है।[1] ऐसे प्रत्यक्ष अनुभवव्याघात के उपरान्त भी दृक् एव दृश्य की अभिन्नता को स्वीकार करने का साहस नही किया जा सकता। युगपत् दृष्टि के कारण दृक् और दृश्य की अभिन्नता के न्याय को सत्य नही माना जा सकता, क्योकि प्रथमत दृक् एक ज्ञात विषय नही है और दृश्य कभी स्वप्रकाश नही, द्वितीयत, दृक् सदा स्वप्रकाशी है, परन्तु दृश्य नही है, तृतीयत यद्यपि दृक् के अभाव मे 'दृश्य' प्रकाशित नही हो सकता तथापि दृक् सवदा स्वय प्रकाश है, अत सीधे रूप मे दृक् और दृश्य मे सहभावित्व नही है। जब सविद् मे एक दृश्य विषय 'क' प्रकाशित होता तो अन्य विषय 'ख', 'ग', 'घ' आदि प्रकाशित नही होते और दृश्य 'ख' के प्रकाशित होने पर 'क' प्रकाशित नही होता, अपितु सवित् सदा स्वप्रकाश रहता है, अत किसी सवित् को किसी विशिष्ट विषयपरक भाव से सदा उपाधियुक्त नही माना जा सकता, क्योकि उस अवस्था मे वह भाव भी सदा स्वप्रकाशित हो जायगा।[2] इसके अतिरिक्त प्रत्येक विशिष्ट भान (यथा 'नील' का भान) क्षणिक है एव स्वप्रकाश है, और इस हेतु किसी अन्य भान का विषय नही हो सकता, और यदि कोई विशिष्ट भान किसी अन्य भान का विषय होता, तो यह भान न होकर घट, पुस्तकादिवत् विषय मात्र होता। अत विषय एव उसके भान मे अन्तर्भूत भेद है और इस हेतु सविद् रूप मे दृक् को दृश्य से अभिन्न नही माना जा सकता।[3] यह पहले ही प्रदर्शित किया जा चुका है कि दृक् और दृश्य को भिन्न नही माना जा सकता, और अब यह प्रदर्शित किया गया है कि उनको अभिन्न भी नही माना जा सकता। एक अन्य विकल्प यह है कि वे भिन्न और अभिन्न दोनो हो सकते है (जोकि भास्कर तथा रामानुज, तथा अन्यो का भेदाभेद मत हैं) और विमुक्तात्मा इस विकल्प के भी असभव होने तथा दृक् एव दृश्य के भिन्न तथा अभिन्न दोनो ही न हो सकने को प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं। भेदाभेद मत के मानने वाले शायद यह कहे कि यद्यपि दृक् एव दृश्य को अपनी वर्तमान अवस्था मे अभिन्न नही माना जा सकता है। इसके प्रत्युत्तर मे यह कहा जा सकता है कि यदि

---

[1] अभेदे सहभानायोगाद् ,द्वयोर्हि सहभान न एकस्यैव न हि दृशैव दृक्सहभातीति भवताप्युच्यते नापि दृश्येणैव दृश्य सह भातीति किन्तु दृग्दृश्ययो सहभानमुच्यते, अतस्तयोर्भेदो भात्येव।

—पाडु०, पृ० २५।

[2] किं विद्युद्विशेषितता नाम सविद स्वरूपभूत सवेद्यस्य, यदि सविद सापि भात्येव सविद्भानात्सवेद्यस्वरूप चेत्तदा भानान्न सविदो भानम्।

—पाडु, पृ० २७।

[3] असवेद्यैव सवित् सवेद्य चासविदेव, अत सवेद्यस्य घटसुखादे सविदश्चाभेदगन्धोऽपि न प्रमाणवान्।

—वही, पृ० ३१।

न्याय सगत बताया जा सकता है।[1] जो प्रतीति न तो वस्तु हो और न अवस्तु ही, उसके उदाहरण के रूप मे स्वप्रतीतियो का उल्लेख किया जा सकता है, जिनको इस कारण से अयथार्थ नही माना जा सकता कि वे न तो वस्तुस्वभावी है और न अवस्तु-स्वभावी ही, अपितु इसलिए कि व्यावहारिक अनुभव मे उनका व्याघात होता है। जिस प्रकार कोई पट अपने पर चित्रित चित्र का न तो उपादान होता है और न चित्र का घटक ही, और जिस प्रकार चित्र को पट का विकार नही माना जा सकता, जैसेकि घट मिट्टी का विकार है, अथवा गुण का विकार नही माना जा सकता यथा पके आम की लालिमा को माना जाता है, तथा जिस प्रकार पट चित्र से पहले भी था एव जिस प्रकार चित्र के धो दिए जाने पर भी पट विद्यमान रहेगा जबकि पट के अभाव मे चित्र नही रह सकेगा, ठीक उसी प्रकार चिदात्मा भी इस जगत्प्रपच से सबद्ध है जो चिदात्मा पर माया का चित्रमात्र है।[2]

माया भाव एव अभाव दोनो से भिन्न रूप मे नही अपितु भाव एव अभाव के धर्मो से युक्त के रूप मे अकथ्य एव अनिर्वचनीय है। अत इसे अविद्या-शक्ति माना जाता है जो प्रत्यक्ष के समस्त विषयो का उपादान कारण है, तथा इसे अन्यथा जड तत्व कहा जाता है (सर्वजडोपादानभूत)। परन्तु बासो से उत्पन्न अग्नि जिस प्रकार स्वय बासो के मूल तक का दहन कर देती है उसी प्रकार अविद्या और उसकी प्रक्रिया का परिणाम ब्रह्म ज्ञान स्वय उस अविद्या का नाश कर देता है जिससे वह उत्पन्न हुआ था तथा उसकी प्रक्रिया एव अन्तत वह स्वय निरस्त होकर ब्रह्म को स्वय अपने प्रकाश मे प्रकाशित होने देता है।[3] जिस प्रकार कूप खनन का अर्थ सर्वव्यापी आकाश की अवरोधक मिट्टी का हटाना है उसी प्रकार अज्ञान अथवा अविद्या के प्रक्रियामात्र प्रमाण का कार्य स्वप्रकाश सविद् के प्रकाश को आवृत करने वाले अवरोध का हटाना है। अत प्रमाणो का कार्य स्वप्रकाश सविद् की अभिव्यक्ति नही है, वे तो आवरक अज्ञान का निराकरण ही करते हैं।[4] अत ब्रह्मज्ञान का भी अर्थ अज्ञान के अन्तिम अवशेषो को दूर करना है, जिसके पश्चात् अज्ञान का अन्तिम चिह्न होने के कारण प्रत्ययात्मक ज्ञान के रूप मे स्वय ब्रह्मज्ञान भी विरत हो जाता है। अज्ञान का यह विराम स्वय

---

[1] प्रपचस्य वस्तुत्वाभावान्नाद्वैतहानि अवस्तुत्वाभावाच्च प्रत्यक्षाद्यप्रामाण्यमप्युक्तदोषाभावात्। —पाडु०, पृ० ६४।

[2] यथा चित्रस्य भित्ति. साक्षात् नोपादान नापिसहज चित्र तस्या नाप्यवस्थान्तर मृदिव घटादि नापि गुणान्तरागम आम्रस्येव रक्तादि न चास्या जन्मादिश्चित्रात्प्रागूर्ध्वं च भावात्, यद्यपि भित्ति विना चित्र न भाति तथापि न सा चित्र विना भाति इत्येवमाद्यनुभूतिर्भित्तिजगच्चित्रयोर्योज्यम्। —पाडु० पृ० ७३।

[3] वही, पृ० १३७।

[4] वही, पृ० १४३।

रामाद्वय (१३०० ई० प०)

अद्वयाश्रम के शिष्य रामाद्वय ने चार अध्यायों का 'वेदान्तकौमुदी' नामक एक महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखा। उसमे उन्होंने ब्रह्मसूत्र के प्रथम चार विषयों पर शांकर-भाष्य की विषय वस्तु का विवेचन करते हुए कई वेदान्ती समस्याओं का [illegible] विवादास्पद ढंग से विवेचन किया है। यह ग्रन्थ यद्यपि अद्यावधि प्रकाशित नहीं हुआ है, परन्तु राजकीय प्राच्य पाडुलिपि पुस्तकालय, मद्रास मे इसकी एक पाडुलिपि तो उपलब्ध है। अध्यक्ष की कृपा से वर्तमान लेखक को इस पाडुलिपि का प्रयोग करने का अवसर मिला। रामाद्वय ने 'वेदान्त-कौमुदी' पर 'वेदान्त-कौमुदी व्याख्यान' नामक भाष्य भी लिखा है। इसके प्रथम अध्याय की एक पाडुलिपि वर्तमान लेखक को कलकत्ता एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय मे उपलब्ध हुई। इस ग्रन्थ की अद्यावधिज्ञात सम्भवत केवल ये ही पाडुलिपियाँ हैं। 'वेदान्तकौमुदीव्याख्यान' की प्रतिलिपि करने की तिथि प्रतिलिपिकार दीपनृसिंह ने १५१२ ई० प० दी है। अत यह सुनिश्चित है कि ग्रन्थ रचना पन्द्रहवी शताब्दी के बाद नही हुई होगी। अपनी चर्चाओं मे रामाद्वय कई प्रमुख न्याय एव वेदान्त लेखकों का उल्लेख करते है जिनमे से एक भी त्रयोदश शताब्दी से परकालीन नही है। वर्त्तमान लेखक ने 'इष्टसिद्धि' कार विमुक्तात्मा का काल त्रयोदश शती का पूर्वार्द्ध निश्चित किया है, परन्तु रामाद्वय उनका मान्य रूप से उल्लेख करते है, मानो कि उनके विचार अधिकाहत विमुक्तात्मा द्वारा निर्दिष्ट हो, वे अपने 'वेदान्त-कौमुदीव्याख्यान' (पाडुलिपि पृ० १४) मे जनार्दन का उल्लेख करते हैं। जनार्दन

आनन्दज्ञान का गृहस्थ नाम था, परन्तु जनार्दन का काल मध्य त्रयोदश शताब्दी है, अत यह सम्भव प्रतीत होता है कि रामाद्वय का काल चतुर्दश शताब्दी का पूर्वार्ध हो।

प्रत्यक्ष एव अनुमान के वेदान्ती सिद्धान्तो के प्रतिपादन मे रामाद्वय 'प्रकटार्थ' कार के विचारो से अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होते हैं, क्योकि वे इस सन्दर्भ मे उनके नाम का उल्लेख न करके भी किंचित् विशद रूप मे उनकी पदावलि की पुनरावृत्ति करते है।[1] जिस प्रकार निर्मेघ आकाश मेघाच्छन्न होकर नानारूपो को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य, अनिर्वचनीय अविद्या से आवृत होकर विविध अवच्छिन्न रूपो मे प्रकट होता है। यही सविद् सर्वज्ञात विषयो का तात्विक आधार है। जिस प्रकार उपाधिरूप ईधन के अभाव मे अग्नि-स्फुलिंग की अभिव्यक्ति नही हो सकती, उसी प्रकार समस्त विषयो का आधार भूत तत्व शुद्ध सविद् अपने कार्य के सहयोग के लिए उचित अवस्थाओ के अभाव मे उन विषयो को प्रकाशित नही कर सकता।[2] ऐसी उपाधि शुद्ध सत्वात्मक मनस् मे विद्यमान है, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के अवसर पर यह मनस् अदृष्ट से क्षुब्ध होकर (अदृष्टादिक्षुब्धम्) स्वय अर्थ तक पहुँचने वाली ज्योति के रूप मे स्वय को परिणत कर देता है।[3] शुद्ध

[1] देखिए वेदान्तकौमुदी, पाडुलिपि की लिप्यन्तर प्रतिलिपि—पृ० ३६ तथा ४७।

[2] यहाँ रामाद्वय ब्रह्मसूत्र के अनुमानत १ ३ १९ पर शाकर-भाष्य के दहराधिकरण का उल्लेख करते हैं, जिसमे शकर जीवात्मा एव ब्रह्म के कल्पित अन्तर का उल्लेख करते हैं। उसमे शकर का कथन है कि उनके भाष्य का उद्देश्य उन औपनिषद् एव उपनिषद्-इतर मतो का नियमन है जिनके अनुसार जीवात्मा सत्य है (अपरे तु वादिन. पारमार्थिकमेव जैव रूपमिति मन्यन्ते अस्मदीयाश्चकेचित्)। इस प्रकार का मत आत्मा को ऐसे परमतत्व के रूप मे सम्यक् प्रकार से ग्रहण करने में बाधक है जोकि अविद्या के कारण जीवात्मा के रूप मे अपने आपको अभिव्यक्त करता है, तथा उस आवरण के दूर हो जाने पर ठीक वैसे ही यथार्थ ज्ञान होने पर अपने यथार्थ स्वरूप मे परमेश्वर के रूप मे प्रकाशित होता है जैसेकि भ्रान्तिमान सर्प अपने आपको रज्जु के टुकडे के रूप मे प्रदर्शित करता है। नित्य, अविकारी एव ज्ञाता चैतन्य, परमेश्वर एकमेव तत्व है जो अविद्या के कारण वैतालिक के समान अनेक रूपो मे प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई चैतन्य नही है (एक एव परमेश्वर कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुरस्ति)।

[3] यह उद्धरण प्रकटार्थ मे सीधा उद्धृत प्रतीत होता है, जैसाकि उनके शाब्दिक समन्वय से अनुमान किया जा सकता है। परन्तु यह अधिक सभव है कि वेदान्तकौमुदी व प्रकटार्थ दोनो ने इसको पचपादिका-विवरण से लिया हो।

चैतन्य अन्तःकरण से उपाधियुक्त अथवा अवच्छिन्न होकर (अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यम्) इस प्रकार की वृत्ति द्वारा परिधि में आवरण को हटा देता है (यद्यपि जीवात्मा के रूप में अपनी आवृत्ति [illegible] में इस परिधि ने स्वयं अपने [illegible] का निर्माण किया) तथा उसी वृत्ति द्वारा उसके सन्निकर्ष में आया हुआ विषय भी प्रकाशित हो जाता है। जिससे अब विषय की [illegible] अभिव्यक्ति [illegible] वृत्ति में घटित होकर एक ही प्रत्यय यथा 'मुझे यह विषय विदित हुआ है' उत्पन्न हो जाते हैं (वृत्तेरन्तःकरणावच्छिन्न [illegible] विदितमिति सश्लेषप्रत्ययः), तथा उसके अन्य भाग के रूप में, चैतन्य अन्तःकरण से अवच्छिन्न एवं प्रमा की वृत्ति के रूप में परिणत होकर प्रमाता के रूप में प्रतीत होता है (वृत्तिलक्षणप्रमाश्रयान्तःकरणावच्छिन्नत्वात्प्रमातेत्यपि व्यपदिश्यते)।[1] विषय की अभिव्यक्त होने पर एक नवीन स्थिति को ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार विषय रूप में जाना जाता है ([illegible])। तत्वत, आधारभूत चैतन्य ही अन्तःकरण में वृत्ति परिणाम की अभिव्यक्ति करता है परन्तु तप्त लोह में अग्नि एवं लोह के समान चैतन्य और अन्तःकरण के ऐक्य का अध्यास होने के कारण चैतन्य का भी अन्तःकरण के वृत्तिपरिणाम के साथ ऐक्य कर दिया जाता है। तथा, विषय पर वृत्ति का अध्यास होने से कारण वृत्ति की अभिव्यक्ति द्वारा यह विषय को भी अभिव्यक्त करता है, अतः विज्ञप्ति के रूप में विषयीपरक प्रकाश से अतिरिक्त विषय के प्रकाशन का एक विषयपरक तथ्य भी है (एव वृत्तिव्यंजकमपि तप्ताय पिण्डन्यायेन तदेकताभिवाप्त वृत्तिमद्विषय प्राकट्यात्मना सम्पद्यते)।[2] रामाद्वय के अनुसार प्रत्यक्ष में ज्ञान-प्रक्रिया के क्षणों का इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है। इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष में अदृष्ट अन्तःकरण को क्षुब्ध करने का अवसर प्राप्त करता है तथा उसके परिणामस्वरूप अन्तःकरण वृत्तिसंज्ञक एक विशिष्ट अवस्था में परिणत हो जाता है। अन्तःकरण के मूल में स्थित शुद्ध चैतन्य मानो मालिन एवं आवृत अवस्था में स्थित था, तथा अन्तःकरण के वृत्ति में परिणत होते ही चैतन्य उज्ज्वल होकर अपने आवरक आवरण को क्षण भर के लिए भेद डालता है। अतः वृत्ति मूलगत चैतन्य को और अधिक आवृत नहीं रख पाती, अपितु जिस विषय पर वृत्ति का अध्यास है उस विषय पर वह चैतन्य के प्रकाश के पारदर्शक वाहक का कार्य करती है और उसके परिणामस्वरूप विषय की विषयपरक अभिव्यक्ति होती है जो वृत्ति की परिणति के प्रथम क्षण में चैतन्य की उज्ज्वलता से पृथक् होती है। अब, चैतन्य की विषयपरक उज्ज्वलता एवं विषय के विषयपरक प्रकाश का वृत्ति द्वारा सश्लेष होने के कारण इन दोनो का सश्लेष हो जाता है

---

[1] वेदान्तकौमुदी—पाडुलिपि की लिप्यन्तरित प्रतिलिपि–पृ० ३६।

[2] वेदान्तकौमुदी, पाडुलिपि की लिप्यन्तरित प्रतिलिपि–पृ० २८

(सश्लेष प्रत्यय)। तथा उसका परिणाम होता है, यह ज्ञान 'यह विषय मुझे विदित है', इस ज्ञान के कारण वृत्ति मे परिणत अहकार द्वारा अवच्छिन्न मूलगत चैतन्य के रूप मे ज्ञाता एव विषयपरक रूप से प्रकाशित ज्ञेय का भेद करना सम्भव है। वेदान्त परिभाषा मे प्रमातृ-चैतन्य (अन्त करण का उपाधियुक्त चैतन्य), प्रमाण-चैतन्य (अन्त करण की वृत्ति की उपाधि से युक्त वही चैतन्य) तथा विषय-चैतन्य (विषय की उपाधि से युक्त वही चैतन्य) इन तीन चैतन्यो का अवलोकन करते हैं। इसके अनुसार प्रत्यक्ष के धर्म का निरूपण ज्ञान के दृष्टिकोण (ज्ञानगतप्रत्यक्षत्व) से अथवा विषय के दृष्टिकोण से किया जा सकता है, दोनो को एक ही प्रत्यक्ष-प्रकाशन के दो भिन्न-भिन्न चरण, ज्ञानपरक एव विषयपरक, मानना चाहिए। ज्ञान के दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष की परिभाषा विषय पर वृत्ति के देशीय अध्यास के कारण प्रमाण-चैतन्य से विषय-चैतन्य के अभेद के रूप मे की गई है। विषय के दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष (विषयगतप्रत्यक्षत्व) की परिभाषा अन्त करण द्वारा उपाधियुक्त प्रमाण-चैतन्य अथवा द्रष्टा से विषय के अभेद के रूप मे की गई है। यह बाद वाला दृष्टिकोण अर्थात् अन्त करण द्वारा अवच्छिन्न चैतन्य से विषय के अभेद होने की परिभाषा (घटादेरन्त करणावच्छिन्नचैतन्याभेद) इस गम्भीर आपत्ति का विषय है कि तत्वत अभेद विषय (अन्त करण द्वारा उपाधिमुक्त चैतन्य-अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य) से न होकर ज्ञान (प्रमाण-चैतन्य अथवा वृत्ति-चैतन्य) से है, क्योंकि ज्ञान अथवा वृत्ति द्रष्टा एव विषय के मध्य आ जाते हैं तथा विषय का वृत्ति के साथ अपरोक्ष सम्पर्क होता है न कि द्रष्टा (अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य) के साथ। इसका ऐसा होना रामकृष्णाध्वरी के पुत्र धर्मराजाध्वरीन्द्र ने भी वेदान्त परिभाषा पर अपनी टीका 'शिखामणि' मे स्वीकार किया है।[1] परन्तु वह यह प्रदर्शित करके धर्मराजाध्वरीन्द्र को न्याय सगत बताने का प्रयत्न करते है कि धर्मराजाध्वरीन्द्र अभेद के रूप मे विषयगतप्रत्यक्षत्व की परिभाषा विषयी से विषय के अभेद के रूप मे करने को विवश थे क्योंकि इस दृष्टिकोण को प्रकाशात्मा कृत 'विवरण' एव वेदान्त के अन्य परम्परागत ग्रन्थो मे भी अपनाया गया था।[2] तथापि यह एक त्रुटि प्रतीत होती है क्योंकि विवरण के जिस उद्धरण का यहाँ उल्लेख है उसमे एक बिलकुल भिन्न दृष्टिकोण का ही प्रतिपादन किया गया है।[3] उसमे यह कहा गया है कि

---

[1] यद्वा योग्यत्वेसति विषयचैतन्याभिन्नप्रमाणचैतन्यविषयत्व घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षत्व तथापि विषयस्यापरोक्षत्व सविदभेदादिति विवरणे तत्र तत्र च साम्प्रदायिकै प्रमात्रभेदस्यैव विषयप्रत्यक्षलक्षणेनाभिधानादेवमुक्तम्-वेदान्त परिभाषा पर शिखा-मणि टीका —पृ० १०५ मुम्बई १६११, वेंकटेश्वर प्रेस।

[2] वही।

[3] तस्मादव्यवधानेन सविदुपाधितया परोक्षता विषयस्य—पञ्चपादिका विवरण— पृ० ५० बनारस, १८६२।

विषय का प्रत्यक्षत्व सवेदन अवस्था अथवा सविद् को प्रत्यक्ष एव अपरोक्ष रूप से विशेषित करने मे है।[1] अन्य पारम्परिक वेदान्ती व्याख्याकारो का धर्मराजाध्वरीन्द्र के मत से पूर्णत असहमत होना रामाद्वय द्वारा दिए गए प्रत्यक्षप्रक्रिया के विश्लेषण के विवरण से भी स्पष्ट हो जाता है। जैसाकि अभी प्रदर्शित किया जा चुका है, रामाद्वय का कथन है कि इसी प्रकाशित ज्ञान-प्रक्रिया अथवा वृत्ति के विषयी और विषय दो ध्रुव हैं, तथा इसी हेतु वह विषयी और विषय का 'यह मुझे विदित है', इस विधेय-विधेयक रूपी मानसिक अवस्था मे एकीकरण करती है। इस प्रकार विषय वृत्ति द्वारा प्रकाशित होकर विषय का विषयी के साथ नही, अपितु वृत्ति के साथ, अपरोक्ष रूप से एकीकरण होता है। धर्मराजाध्वरीन्द्र स्वय अपनी व्याख्या के विरुद्ध आपत्ति करते हैं कि यह कहा जा सकता है कि यदि प्रत्यक्ष के विषयी विषय अभेद होता तो विषय, यथा पुस्तक, के प्रत्यक्ष मे यह अनुभव किया जाता कि 'मैं पुस्तक हूँ' न कि 'मैं पुस्तक का प्रत्यक्ष करता हूँ'। इस प्रकार की आपत्ति के उत्तर मे वे कहते हैं कि प्रत्यक्ष-प्रक्रिया मे अभेद केवल विषय के मूलगत चैतन्य एव द्रष्टा के मूलगत चैतन्य के मध्य होता है, और निरपेक्ष होने के कारण इस अभेद का यह आशय नही कि 'मैं पुस्तक हूँ' के भाव मे फलित होने वाले ऐक्य-सबध की पुष्टि होती है।[2] निस्सन्देह ऐसा होता है, परन्तु उठाई गई आपत्ति का यह शायद ही उत्तर हो सकता है। यह सत्य है कि विषयी और विषय दोनो ही भेदरहित बुद्ध चैतन्य पर अविद्या का अध्यास मात्र ही हैं, परन्तु इससे विषयी-विषय अनुभूतिमय जटिल जगत् के नानाविध अनुभवो की शायद ही व्याख्या हो सके। 'पचपादिकाविवरण' मे प्रतिपादित प्रत्यक्ष के वेदान्ती दृष्टिकोण का बौद्ध विज्ञानवाद से इस बात मे भेद है कि बौद्ध विषयो को विज्ञान से भिन्न कोई स्वतत्र स्थिति नही प्रदान करते है, जबकि वेदान्त बाह्य जगत् के प्रत्यक्ष मे विषयो की स्वतत्र अभिव्यक्ति को स्वीकार करता है।[3] अत दृश्य विज्ञान एव विषय मे अन्तर है, परन्तु उनमे एक अपरोक्ष एव प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी है, और विज्ञप्ति के साथ इस अपरोक्ष सम्बन्ध मे ही विषय की सविद् उपाधिता है। (अव्यवधानेन सविदुपाधिता अपरोक्षता विषयस्य-विवरण, पृ० ५०)। प्रत्यक्ष मे विषय का प्रकाश केवल सविद् के विषय के रूप मे ही होता है, जबकि सविद् एव विषयी स्वय का अपरोक्ष रूप से न कि अन्य किसी अनुमान

---

[1] यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि 'सविद्' का अर्थ ज्ञानोत्पादक विज्ञान अथवा इन्द्रिय सभूत ज्ञान है न कि प्रमाता (अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य) जैसा कि शिखामणिकार का कथन है। अत तत्वदीपन भाष्य मे अखडानन्द सविद् शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते है सविच्छब्देन इन्द्रियार्थसम्प्रयोगजज्ञानस्य तत्वात्।

—तत्वदीपन पृ० १९४ बनारस, १९०२।

[2] वेदान्त परिभाषा, पृ० ७६-७७।

[3] न च विज्ञानाभेदादेव आपरोक्ष्यमवभासते बहिष्ट्वस्यापि रजतादेरापरोक्ष्यात्।

—पचपादिका विवरण, पृ० ५०।

अथवा अन्तर्ज्ञान के विषय के रूप मे प्रकाशन करता है (प्रमेय कर्मत्वेन अपरोक्ष, प्रमातृप्रमिती पुनरपरोक्षे एव केवल न कर्मतया)।[1]

तथापि 'वेदान्त कौमुदी' की मान्यताओ को किसी भी अर्थ मे मौलिक नही माना जा सकता क्योकि वे पद्मपाद कृत 'पचपादिका' तथा प्रकाशात्मा कृत 'पचपादिका विवरण' मे वर्णित विषयो की व्याख्या मात्र है। प्रत्यक्ष के सम्पूर्ण सिद्धान्त के विकास का श्रेय 'पचपादिकाविवरण' को दिया जा सकता है, क्योकि प्रत्यक्ष सिद्धान्त के समस्त सारभूत विषयो का अवलोकन उस कृति मे किया जा सकता है। अत:, इसके अनुसार समस्त सासारिक विषय अविद्या से आवृत है, जैसे-जैसे विषयो पर अध्यास के कारण अन्त करण की अवस्थाओ मे परिणति होती है, वैसे-वैसे मूलगत चैतन्य द्वारा वह प्रकाशित होता जाता है, तथा विषयो के साथ देशीय सपर्क के द्वारा ये अन्त करण परिणितियो विषयो के आवरण को हटा देती हैं, अत. दो प्रकाशन होते है, अन्त-करण परिणितियो का (जिन्हे 'वेदान्तकौमुदी' एव 'वेदान्त परिभाषा' मे 'वृत्ति' कहा गया है) तथा शुद्ध चैतन्य का, विषय के मूलगत चैतन्य और अन्त करण (अर्थात् विषयी) के मूलगत चैतन्य के ऐक्य होने पर प्रत्यक्षगत द्वैत (यथा 'मैं पुस्तक का प्रत्यक्ष करता हूँ' और 'मैं पुस्तक हूँ' और केवल 'मैं पुस्तक हूँ' रूप की ही तीनो चैतन्यो के ऐक्य से अपेक्षा की जा सकती है की व्याख्या की आवश्यकता नही रहने के प्रश्न के उत्तर मे प्रकाशात्मा का कथन है कि अन्त करण चैतन्य (विषय) के साथ विषय-चैतन्य का ऐक्य अन्त करण की वृत्ति अथवा विकार द्वारा प्रतिपादित होने के कारण, तथा अन्त करण का उसकी वृत्ति के साथ ऐक्य होने के कारण, वृत्ति के व्यापार को अन्त करण का कारक मानना उचित है, तथा यह अत करण के मूलगत चैतन्य द्वारा प्रकाशित होता है जिसके परिणाम स्वरूप प्रमाता को प्रत्यक्ष होता है जो विषय के उस प्रकाशन से भिन्न है जो देशीय अध्यास मे वृत्ति के व्यापार का लक्ष्य होता है—अत प्रत्यक्ष में विषयी एव विषय का भेद, विषयी एव विषय के सदर्भ मे वृत्ति के रूप अथवा अवस्था के भेद के कारण होता है।[2] ठीक यही व्याख्या 'वेदान्त कौमुदी' मे की गई है और ऊपर यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि 'वेदान्त परिभाषा' की व्याख्याएँ उससे अत्यधिक भिन्न है तथा यह अधिक सभव है कि वे अपूर्ण है। वृत्ति द्वारा विशिष्ट विषयी (विशिष्ट अन्त करण द्वारा अवच्छिन्न चैतन्य) तथा विशिष्ट विषय (विषयो के सघटक विशिष्ट अविद्या उपादानो से अवछिन्न चैतन्य) मे उस ऐक्य की स्थापना के कारण इस ऐक्य का परिणाम केवल एक विषयीविशेष एव एक

---

[1] पचपादिका, पृ० १७ बनारस, १८६१।

[2] देखिए पचपादिका विवरण पृ० ७०, तथा तत्वदीपन, पृ० २५६–२५६, बनारस, १६०२।

विषयविशेष न कि समस्त विषयियो तथा विपयो का प्रकाशन हो सकता है।[1] इसका इस मत मे विस्तार किया गया है कि अज्ञानावरणो की सख्या अनन्त है तथा प्रत्येक ज्ञानात्मक प्रकाश एक विषय से सम्बद्ध केवल एक अज्ञान का निराकरण करता है।[2] परन्तु यह भी रामाद्वय का मौलिक योगदान नही है क्योकि इसको भी उनके पूर्वज आनन्दज्ञान ने अपने तर्क सग्रह मे तथा अन्यो ने प्रचलित कर दिया था।[3] सम्पूर्ण विवेचन का उद्देश्य यह है कि मनस् प्रमाण के अवसर पर मनस् एव प्रमाण दोनो ही प्रमातृ-चैतन्य एव विज्ञप्ति के रूप मे अन्त.स्थित शुद्ध चैतन्य द्वारा उत्तेजित एव प्रकाशित हो जाते हैं, तथा प्रमाण के सयोग से विपय भी न केवल विज्ञप्ति के अवयव के रूप मे अपितु बाह्य जगत् मे भासमान विषयपरक तथ्य के रूप मे प्रकाशित होता है। विषयो का ज्ञान, अत, प्रमाता के रूप मे न तो आत्मा का गुण मात्र ही है, जैसा नैयायिको का मत है, और न आत्मा का विषय से अपरोक्ष सयोग ही है (सयोग के केवल प्रमाण द्वारा ही होने के कारण), ज्ञान को आत्मा का ऐसा अप्रत्यक्षीकृत स्पन्दन, विकार अथवा परिणाम भी नही मानना चाहिए, जिसका अनुमान ज्ञानता से हो सके, जैसा कुमारिल का मत है, और न विषय के प्रकाश को विषयपरक तत्व के

[1] एतत्प्रमातृचैतन्याभिन्नतयैव अभिव्यक्त तद्विषयचैतन्य न प्रमात्रन्तरचैतन्याभेदेन अभिव्यक्तमतो न सर्वेषामवभास्यत्वम्। —पचपादिका विवरण, पृ० ७१।

[2] यावन्ति ज्ञानानि तावन्ति स्वतन्त्राणिपरतन्त्राणि वा अज्ञानानि ततो न दोष।
—वेदान्त कौमुदी, पाडुलिपि, पृ० ४३।

[3] सिद्धात यह है कि अज्ञान आवरण असख्य हैं, वृत्ति-विषयसयोग होते ही आवरण दूर होकर विषय प्रकाशित हो जाता है, अगले ही क्षण पुन विषय के आवरक अज्ञानावरण होने पर पुनः वृत्ति-विषय सयोग होकर पुन विषयप्रकाश होता है, तथा उस प्रकार जब काल मे प्रत्यक्ष होता रहता हैं तो आवरण और उनका निवारण अत्यन्त द्रुत क्रम मे होते रहते हैं। इस क्रम की द्रुतता के कारण उसको देख पाना सभव नही (वृत्ति विज्ञानस्य सावयवत्वाच्च ह्रासदशायां दीपज्वालाया इव तमोऽन्तरमोहान्तरमावरितुम् विषय प्रवर्तते ततोऽपि क्रममाण क्षणान्तरे साम-ग्रानुसारेण विज्ञानान्तर विषयावरणमगेनैव स्वकार्य करोति, तथा सर्वाण्यपि अति शैघ्रचात्तु ज्ञानभेदवदावरणान्तर न लक्ष्यते, वेदान्त कौमुदी, पाडुलिपि, पृ० ४६) वेदान्त कौमुदी का यह मत 'वेदान्त परिभाषा' के इस मत से भिन्न है कि एक ही विषय के निरन्तर प्रत्यक्ष से भिन्न क्रमिक विज्ञान न होकर एक अविकारी निरन्तर वृत्ति होती है न कि विभिन्न अज्ञानो की निवारक विभिन्न वृत्तियाँ (किं च सिद्धान्ते धारावाहिकबुद्धिस्थले न ज्ञानभेद. किन्तु यावद्घटस्फुरण तावद् घटाकारात करणवृत्तिरेकैव न तु नानावृत्ते स्वविरोधिवृत्त्युत्पत्तिपर्यन्त स्थायित्वाभ्युपगमात्।
—वेदान्त परिभाषा, पृ० २६, २७, बम्बई, १९११।

रहित हो।[1] तथापि द्वितीय अवस्था रामाद्वय की परिभाषा मे शाब्दिक भेद मात्र को प्रदर्शित करती प्रतीत होती है, परन्तु इसका वास्तव शाब्दिक भेद से कहीं अधिक हो सकता है क्योंकि यद्यपि ज्ञापान का अभाव (अर्थगतानुगमित्व की अवस्था) तथा मिथ्या प्रस्तुतीकरण का अभाव (रामाद्वय की व्याख्या) का अर्थ एक ही वस्तु हो सकता है, तथापि प्रथम अवस्था मे सत्य की परिभाषा द्वितीय अवस्था की अपेक्षा अधिक विषयीपरक हो जाती है, क्योंकि प्रस्तुतीकरण का अभाव एक विषयगत सदर्भ एव एक विषयपरक निश्चितता से सबद्ध है। एक विशिष्ट किसी विषय को मिथ्या रूप से प्रस्तुत कर सकती है, परन्तु फिर भी किसी एक व्यक्ति विशेष इत्यादि को व्यक्तिगत जीवन मे उसका व्याघात नही दृष्टिगोचर हो। सत्य की ऐसी परिभाषा की अपने विषय के सदर्भ मे कोई निश्चित सीमा नही होने के कारण सत्य की यह परिभाषा अत्यन्त सापेक्ष हो जाती है। यदि यह विचार किया जाये कि विषय पर अन्त करण के विकार (जो इसकी ज्ञान-प्रक्रिया है) के यथार्थ दैनीन अध्यास के विषय मे वेदान्त द्वारा कथन किया गया है तो सत्य की वेदान्त परिभाषा का यथार्थ होना न कि विषयीपरक अथवा सापेक्ष होना अपेक्षित है। वेदान्त विज्ञानवाद इस बात से सन्तुष्ट है कि विषयो के साथ ये बोधात्मक सम्बन्ध चाहे कितने ही यथार्थ क्यो न हो, तो भी वे अध्यास एव प्रतीतियाँ ही है जिनका परम आधार एक अविकारी चैतन्य है। विषयो को मिथ्या रूप मे प्रस्तुत न करने वाले (यथार्थानुभव) विज्ञान के रूप मे की गई रामाद्वय की प्रमा की परिभाषा को सदोष नही पाया जा सका क्योंकि वेदान्त के अनुसार जगत् का समस्त द्वैत अनुभव मिथ्या है, इसका कारण यह है कि यद्यपि अनन्त अनुभव ऐसा ही है तो भी समस्त व्यवहारिक आशयो के लिए इसकी एक यथार्थ सत्ता है, तथा रामाद्वय अपने उस दृष्टिकोण को न्याय सगत बताने के लिए 'दृष्ट सिद्धि' का उल्लेख करते हैं।

जहाँ तक दूसरे विषय, अर्थात् प्रमा को सदा पूर्व मे अज्ञात से परिचित कराने (अनधिगत), का प्रश्न है, रामद्वय निश्चित रूप से ऐसे सुझाव को अस्वीकार करते हैं।[2] उनका कथन है कि प्राय ऐसा होता है कि हमे उन वस्तुओ का प्रत्यक्ष होता है, जिनका हमे पहले ही प्रत्यक्ष हो चुका है, और इसी से प्रत्यभिज्ञा सभव होती है, तथा यदि हम उनके प्रमात्त्व को अस्वीकार करें तो प्रमा रूप मे जो विश्वजनीत रूप से स्वीकृत हैं उनमे से बहुतो का हमे त्याग करना होगा। यह भी अगम्य है कि किसी विषय के निरन्तर प्रत्यक्ष मे विषय मे नवीन गुणो का उदय कैसे सभव है, जिससे कि प्रतिक्षण प्रमा के रूप मे चैतन्य की यथार्थता को न्यायोचित बताया जा सके, और न

---

[1] तत्र स्मृति व्यावृत्तम् प्रमात्वमनधिगतावाधितार्थविषयज्ञानत्वम्।
—वेदान्त परिभाषा, पृ० २०।

[2] अज्ञातज्ञापन प्रमाणमिति तदसारम्। —वेदान्त कौमुदी, पाडुलिपि, पृ० १८।

यह कहा जा सकता है कि ज्ञानेन्द्रिया किसी विषय की प्रमा (जो कुछ क्षण स्थिर रहती है तथा क्षणिक नही है) को उत्पन्न करने के पश्चात् नवीन विज्ञान की उत्पत्ति होने तक निष्क्रिय हो जाती हैं। अत. प्रत्यक्ष की आवश्यक अवस्था के रूप मे अनधिगत तत्व के समावेश करने का कोई औचित्य नही है। प्रत्यक्ष एव अनुमान के भेद की ओर ध्यान देते हुए रामाद्वय का कथन है कि अनुमान मे अनुमित विषय किसी सामग्री का निर्माण नहीं करता, तथा अनुमित विषय (यथा अग्नि) से अन्त करण का कोई प्रत्यक्ष एव अपरोक्ष सयोग नही होता। अनुमान मे अन्त करण हेतु अथवा लिंग (यथा धूम्र) मात्र के ही सपर्क मे होता है और इसके द्वारा (लिंगादिबललब्धाकारोल्लेखमात्रेण) मन मे (यथा, अग्नि की सत्ता के विषय मे) एक विज्ञान की उत्पत्ति होती है जिसे अनुमान कहा जाता है।[1]

ज्ञान के स्वत प्रामाण्य के विषय मे धर्मराजाध्वरीन्द्र के समान रामाद्वय दोष के अभाव (दोषाभाव) को स्वत प्रामाण्य की परिभाषा मे सम्मिलित नही करते हैं। यह स्मरण ही होगा कि धर्मराजाध्वरीन्द्र ने ज्ञान के प्रामाण्य की परिभाषा किसी विषय के यथागत रूप के धर्म को निर्देशित करने वाले विज्ञान के रूप मे की है (तद्वति तत्प्रकारज्ञानत्वम्) जबकि स्वत प्रामाण्य की परिभाषा मूलगत साक्षी-चैतन्य द्वारा विज्ञान (जिसके प्रामाण्य की पुष्टि की जाती है) के सुनिश्चित प्रकारो के अनुसार तथा किसी दोष के अभाव में विज्ञान की विषयपरक अवस्थाओ के अनुसार इस प्रामाण्य की स्वीकृति के रूप मे की है।[2] तथापि रामाद्वय ज्ञान के स्वत प्रामाण्य के कुमारिल मत का अति निकट से अनुसरण करते हैं तथा उसकी परिभाषा उससे करते हैं जो उस ज्ञान की यथार्थ सामग्री से उद्भूत होकर अन्य स्रोतो से प्राप्त किसी तत्व का अपने मे समावेश नही करता।[3] किसी दोषो अथवा विकृति कारक तत्वो की विद्यमानता का परकालीन ज्ञान किसी ज्ञान को अप्रमाण्य बना सकता है, परन्तु जब तक ऐसे दोष ज्ञान नही हो जाते, तब तक प्रत्येक ज्ञान ऐसे ही कारणो से स्वतः प्रामाण्य है जैसे कारणो को कुमारिल ने माना है, तथा जिनका विवेचन पूर्व ही हो

[1] वेदान्त कौमुदी, पाण्डुलिपि पृ० ४७, अनुमान के वेदान्ती दृष्टिकोण की प्राचीनतम व्याख्याओ मे से एक प्रकटार्थ विवरण मे उपलब्ध है, जिसकी वेदान्त कौमुदी प्राय ऋणी है।

[2] दोषाभावे सति यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्व, स्वाश्रयो वृत्ति ज्ञानम्, तद्ग्राहक साक्षिज्ञान तेनापि वृत्तिज्ञाने गृह्यमाणे तद्गत प्रामाण्यमपि गृह्यते।

—वेदान्त परिभाषा, पृ० ३३६-३३७।

[3] विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति यत्तदन्यजन्यत्व तदभावस्यैव स्वतोस्त्युक्तत्यगीकारात्—वेदान्तकौमुदी—पाण्डुलिपि—पृ० ५२। स्मृतावपि ज्ञानज्ञापकसामग्रीमात्रज्ञाप्यत्व स्वतस्त्वम्। —वही पृ० ६१।

चुका है।[1] इस सबंध में रामाद्वय यह प्रदर्शित करते हैं कि हमारे ज्ञान एवं आन्तरिक घटनाएं हैं तथा विषयों के संपर्क से नहीं होती हैं और यद्यपि, जिनका प्रकाशन बाहर होता है तो भी अपनी आन्तरिक अवस्थाओं, गुणों तथा अवगुणों के कारण ही हमें उनका प्रत्यक्ष होता है।[2]

विद्यारण्य (ई. प. १३५०)

सर्व दर्शन सग्रह के अतिरिक्त माधव ने शाकर वेदान्त दर्शन पर 'विवरण प्रमेय सग्रह' तथा 'पचदशी' नामक दो ग्रथ तथा 'जीवन्मुक्ति विवेक' भी लिखे। इनमें से प्रथम प्रकाशात्माकृत पचपादिकाविवरण का स्वतन्त्र अध्ययन है, इसमें माधव ने प्रकाशात्मा के तर्कों को अपने ही ढग से विस्तार दिया है। इसकी अन्य कृति 'पचदशी' एक लोकप्रिय छद सग्रह है। इन दोनों कृतियों को अपनी स्पष्ट एव ओजस्वी शैली तथा शब्द चयन के कारण अत्यधिक प्रतिष्ठा मिली। यह प्रसिद्ध है कि विद्यारण्य तथा महान् वेदभाष्यकार सायण के भ्राता माधव एक ही हैं। वे शकरानन्द के शिष्य थे, शकरानन्द ने उपनिषदों पर अल्प महत्व के कुछ ग्रथ लिखे हैं।[3]

'पचदशी' मे विद्यारण्य 'विवरण' के इस वेदान्त दृष्टिकोण को दुहराते है कि हमारे जाग्रत अवस्था अथवा स्वप्नो मे, अथवा नि स्वप्न अवस्था मे किसी भी क्षण चैतन्य का अभाव नही होता, जैसाकि नि स्वप्न अवस्था के बाद की अनुभव की स्मृति से स्पष्ट है। अत चैतन्य का प्रकाश किसी भी विकार अथवा अस्थिरता के बिना ही सदा विद्यमान रहता है। अत इसे अन्ततोगत्वा यथार्थ मानना चाहिए। यह स्वप्रकाश है तथा इसका उदय वा अस्त नही होता।[4] यह आत्मा शुद्ध आनन्द है, क्योकि अपनी आत्मा के समान हम अन्य किसी से भी इतना प्रेम नही करते हैं। यदि आत्मा का स्वभाव आवरणहीन होता तो हमे इन्द्रियार्थों मे कोई सुख नहीं प्राप्त होता। आत्मा के अधिकत आवृत होने के ही कारण हमे आत्मज्ञान के

---

[1] ए हिस्ट्री ऑव् इण्डियन फिलासफी, खड, १–कैम्ब्रिज १९२२, पृ० ३७२-३७५।

[2] प्राकट्येन युक्तस्यापि तस्य न सर्वविदितत्व स्वप्रकाशमपि प्राकट्य कस्यचिदेवा-दृष्टयोगात्स्फुरति न गुणत्वे ज्ञानस्य कथचिदर्थयोग समस्तीति।

वेदान्तकौमुदी, पाडुलिपि–पृ० ६७-६८।

[3] भारतीतीर्थ और विद्यातीर्थ भी विद्यारण्य के गुरु थे। अत ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यारण्य के तीन गुरु थे, भारती तीर्थ, विद्यातीर्थ तथा शकरानन्द।

[4] नोदेति नास्तमेत्येका सम्विद् सा स्वयप्रभा–पचदशी १७ वासुमति सस्करण, कलकत्ता, १९०७।

पश्चात् भी सतोष नही होता और हम इन्द्रियार्थो के अन्य सुखो के लिए लालायित रहते है। माया इस आवरण का कारण है तथा उसका नानाविध जगत्प्रपचो की उत्पादक शक्ति के रूप मे वर्णन किया गया है। इस शक्ति को पूर्णत न तो सत्य और न असत्य ही माना जा सकता है। तथापि, यह ब्रह्म के एक अश के साथ न कि उसके सम्पूर्ण के साथ सयुक्त है तथा ब्रह्म के एक अश के साथ अपने सयोग से ही वह अपने आपको विभिन्न तत्वो तथा उनके विकारो मे परिणत कर देती है। इस प्रकार जगद् के समस्त विपय ब्रह्म एव माया के मिश्रण मात्र है। ब्रह्म समस्त वस्तुओ का भाव है तथा भाव से एक रूप प्रतीत होने वाला सब कुछ माया का अश है। ब्रह्म की शक्ति के रूप मे माया विश्व के समस्त सम्बन्धो और व्यवस्था का नियमन करती है। ब्रह्म के चैतन्य के सयोग से यह ऐसी चैतन्य शक्ति के रूप मे आचरण करती है, जो वस्तुओ के समस्त गुणो की व्यवस्थितता, उनके आन्तरिक सम्बन्ध एव आन्तरिक कार्यो के लिए उत्तरदायी है।[1] जगत्प्रतीति की उन्होने एक ऐसे चित्र से उपमा दी है जिसमे श्वेत पट ब्रह्म है, श्वेत वर्ण अन्तर्यामी है, कृष्णवर्ण महाभूतो का नियता (सूत्रात्मा) है और विविधवर्णता पाचभौतिक जड जगत् का नियता (विराट्) है, तथा उसमे चित्रित समस्त आकृतियाँ इस जगत् के प्राणी एव अन्य विषय हैं। माया के माध्यम से प्रतिबिम्बित होकर, ब्रह्म ही विविध आकृतियो और धर्मों को ग्रहण करता है। जीवात्माओ की मिथ्या प्रतीति का कारण विषयीपरकत्व-माया का फल—के साथ मूलस्थित शुद्ध-चैतन्य-ब्रह्म का मिथ्या तादात्म्य है। तत्पश्चात् विद्यारण्य वेदान्त के सामान्य विपयो का वर्णन करते है। इनका विवेचन पहले ही किया जा चुका है। विद्यारण्य की पचदशी की मुख्य एव महत्वपूर्ण विशेषता वेदान्त के सुप्रतिष्ठित सिद्धान्तो की एक स्पष्ट, लोकप्रिय एव आकर्षक ढग से निरन्तर आवृत्ति करना है। यह पुनरावृत्ति आत्मज्ञान के वेदान्ती मार्ग मे अपने मन को दीक्षित करने के इच्छुक लोगो के लिए अत्यन्त सहायक है।[2] उनका विवरण 'प्रमेय

---

[1] शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित्सर्ववस्तुनियमामिका, ३८—चिच्छायावेशत शक्तिश्चेतनेव विभाति सा, ४० वही ३।

[2] पचदशी पर चार टीकाएँ हैं—तत्वबोधिनी, स्वामी निश्चलदास कृत 'वृत्ति प्रभाकर' रामाद्वय कृत 'तात्पर्यबोधिनी' तथा सदानद कृत एक टीका। परम्परागत यह विश्वास है कि 'विद्यारण्य एव भारती तीर्थ ने सयुक्त रूप से पचदशी की रचना की। स्वामी निश्चलानद अपने 'वृत्तिप्रभाकर' मे यह प्रदर्शित करते हैं कि विद्यारण्य पचदशी के प्रथम दश अध्यायो के रचयिता थे और भारतीतीर्थ शेष पाच के। तथापि सप्तम अध्याय पर अपनी टीका के प्रारम्भ मे भारतीतीर्थ को उस अध्याय का लेखक बताते हैं और यह इस अन्य परम्परा से मेल खाता है कि प्रथम छ अध्यायो की रचना विद्यारण्य ने की और शेप नौ की भारतीतीर्थ ने।

संग्रह' अधिक पाण्डित्यपूर्ण ग्रंथ है, परन्तु इसमें उल्लिखित विषयों के पृथक् वर्णन की यहां आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस अध्याय में तथा इससे पहले अध्याय में प्रस्तुत वेदान्त के वर्णन के लिए मुख्य पथप्रदर्शक के रूप में 'पंचपादिका विवरण' का सामान्यतः अनुसरण करते हुए उनके ही भाष्य का इस ग्रंथ में विस्तार किया गया है तथा कुछ ही विचार ऐसे हैं जिनको वेदान्त विचारधारा के विकास में विद्यारण्य का मौलिक योगदान माना जा सके।[1] 'जीवन्मुक्तिविवेक' के सार का प्रयोग वर्तमान ग्रंथ के प्रथम खंड के दशम अध्याय के सन्दर्भ में पतञ्जलि से पहले ही किया जा चुका है, यह एक आचार संबंधी पुस्तिका है, जिसमें न्यूनाधिक उन्हीं विषयों का उल्लेख है जिनका सुरेश्वर कृत 'नैष्कर्म्यसिद्धि' उल्लेख है।

नृसिंहाश्रम मुनि (ई. प. १५००)

नृसिंहाश्रम मुनि (ई० प० १५००) गीर्वाणेन्द्र सरस्वती एवं जगन्नाथाश्रम के शिष्य तथा 'भेदधिक्कार' के टीकाकार नारायणाश्रम के गुरु थे। उन्होंने कई ग्रंथों की रचना की, यथा, अद्वैतदीपिका, अद्वैतपंचरत्न, अद्वैतबोधदीपिका, अद्वैतवाद, भेद-धिक्कार, वाचारम्भण, वेदान्ततत्वविवेक, तथा संक्षेपशारीरक एवं पंचपादिकाविवरण-तत्त्वबोधिनि और पंचपादिकाविवरणप्रकाशिका नामक टीकाएँ। नृसिंहाश्रम अपने समकालीनो के मध्य अत्यधिक सुविख्यात थे, परन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि उन्होंने वेदान्त मे किन्ही नवीन विचारो को प्रचलित किया हो। माया के स्वरूप एवं उसकी रचना का तथा जिस प्रकार से माया को जगत्प्रपंच का उपादान माना जा सकता है उसका अन्वेषण करने की अपेक्षा उनकी रुचि ब्रह्म के साथ आत्मा के ऐक्य तथा जगत्प्रतीति के मिथ्या स्वरूप पर बल देने मे अधिक है। वह जगत्प्रतीति के मिथ्यात्व की परिभाषा उसके प्रकट होने के आश्रय मे उसके अभाव के रूप मे ही करते हैं (प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्व)[2] जब शुक्ति रजवत् प्रतीत होती है तो रजत सत्प्रतीत होता है परन्तु सत् रजतस्वरूप नहीं हो सकता (न तावद्रजतस्वरूप सत्)। इसी प्रकार जब-जब हम जगत्प्रतीति को सत् मान लेते हैं तो जगत्प्रतीति भी सत् स्वरूप नही हो सकती, उनके साथ उसका ऐक्य अवश्य ही मिथ्या है।[3]

---

[1] उन्होने विवरण पर एक अन्य ग्रंथ 'विवरणोपन्यास' की भी रचना की। अप्पय दीक्षित अपने सिद्धान्तलेश मे पृष्ठ ६८ पर इसका उल्लेख करते है—विवरणोपन्यासे भारती तीर्थवचनम्।

[2] वेदान्ततत्व विवेक पृ० १२ दी पंडित, जिल्द २५ मई, १९०३ इस ग्रंथ पर तत्व-विवेकदीपन तथा भट्टोजी कृत तत्वविवेक दीपन व्याख्या नामक दो महत्वपूर्ण टीकाएं हैं।

[3] वेदान्त तत्वविवेक—पृ० १८।

उसी प्रकार स्वप्रकाश आत्मा मे विषयी परकता अथवा अहकारी धर्मों की प्रतीति भी मिथ्या है, क्योकि दोनो बिल्कुल भिन्न है तथा उनका ऐक्य नही हो सकता है। तथापि, नृसिहाश्रम नैयायिक तर्कों अथवा अनुभव के उल्लेख के द्वारा यह प्रदर्शित नहीं कर सकते कि विषय परकता अथवा अहकार (जिसे वह अन्त करण भी कहते हैं) आत्मा से भिन्न है, तथा वह वेदान्त सिद्धान्त के लिए मूलभूत महत्त्व के इस विषय को सिद्ध करने के लिए उपनिषद् वचनो का आश्रय लेते है। प्रत्यक्षीकरण के स्वरूप के स्पष्टीकरण मे वह हमारे सामने उसी प्रकार वर्णन प्रस्तुत करते है जैसा कि इस ग्रथ के प्रथम खड के दशम अध्याय मे वर्णित ढग से उनके शिष्य धर्मराजाध्वरीन्द्र ने अपनी 'वेदान्त परिभाषा' मे प्रस्तुत किया है।[1] वह आत्मा को सुखरूप मानते हैं और यह स्वीकार नही करते कि आत्मा और सुख मे कोई भेद है (स चात्मा सुखान्न भिद्यते)।[2] उनकी अज्ञान की परिभाषा चित्सुख की अज्ञान की इस परिभाषा के समान ही है कि अज्ञान अनादि उपादान कारण है जिसकी निवृत्ति यथार्थ ज्ञान द्वारा सम्भव है।[3] इस प्रकार व्यवहारत उनके वेदान्त को प्रस्तुत करने में कोई नवीन तर्क पद्धति नही है। तात्विक विवेचन के तर्कों मे, उनके भेद-धिक्कार मे भेद के खडन से उनके प्रयासो मे उनके महान् पूर्वज श्रीहर्ष और चित्सुख उनके पूर्वगामी थे।

अप्पय दीक्षित (ई. प. १५५०)[4]

अप्पय दीक्षित द्वारा षोडश शताब्दी के प्रारम्भ काल मे विद्यमान नृसिहाश्रम मुनि के उल्लेख के कारण, अप्पय दीक्षित का काल सभवत' मध्य षोडश शताब्दी है। वह एक महापडित थे, सस्कृत भाषा की अनेक शाखाओ मे उनकी गति थी तथा कई

[1] यदाऽन्त करणवृत्त्या घटावच्छिन्नचैतन्यमुपधीयते तदा अन्त करणावच्छिन्न-घटावच्छिन्नचैतन्ययोवस्तुत एकत्वेऽप्युपाधिभेदाद् भिन्नयोरभेदोपाधिसबधेन ऐक्याद् भवत्यभेद इत्यन्त करणावच्छिन्नचैतन्यस्य विषयाभिन्नतदधिष्ठानचैतन्यस्याभेदसिद्धयर्थं वृत्तेनिर्गमन वाच्यम्। —वही, पृ० २२।

[2] वही, पृ० २९।

[3] अनाद्युपादानत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानम्, निखिलप्रपचोपादानब्रह्मगोचरमेव अज्ञानम्। —वही, पृ० ४३।

[4] उनको अप्पय दीक्षित तथा अवधानी यज्वा भी कहा जाता था, तथा यज्ञेश्वर मखीन्द्र से उन्होने तर्क का अध्ययन किया था। देखिए जानकीनाथ कृत 'सिद्धात-मजरी' पर अप्पय दीक्षित कृत 'न्यायसिद्धात मजरी व्याख्यान' (पाडुलिपि) नामक भाष्य की पुष्पिका।

विषयो पर उन्होने अनेक ग्रन्थ लिखे। उनके पितामह आचार्य दीक्षित थे, जो अपने पांडित्य के लिए हिमालय से भारत के सुदूर दक्षिण तक विख्यात थे, अप्पय दीक्षित के पिता का नाम रंगराज मखीन्द्र (अथवा श्रीरंग राजा मखीन्द्र) था। तथापि अप्पय दीक्षित के वेदान्त सिद्धांतो मे कुछ भी महत्त्वपूर्ण नही है। यद्यपि अपने पांडित्य के उपरान्त भी वह एक अच्छे सकलनकर्ता थे न कि मौलिक विचारक, तथा जहाँ उनको अपने मौलिक विचारो को प्रस्तुत करने का अवसर मिला, ऐसे कई स्थानो पर अन्यो के विचारो को प्रस्तुत करके ही सन्तुष्ट हो जाते है। यह कहा जाता है कि अपने जीवन के दो भिन्न कालो मे उनके दो भिन्न, शैव तथा वेदान्ती, धार्मिक विचार थे। परन्तु उसके विषय मे कुछ निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता, क्योंकि उनके ऐसे सर्वतोमुखी पांडित्य के कारण उनके द्वारा लिखित शैव-टीका और वेदान्ती-टीका से यह कल्पना नही की जा सकती कि उन्होने अपना धर्म परिवर्तन किया था। ब्रह्म-सूत्र पर श्रीकण्ठ कृत शैव-भाष्य पर अपनी 'शिवार्क-मणि-दीपिका' नामक टीका मे अप्पय दीक्षित का कथन है कि यद्यपि ब्रह्म-सूत्र की शुद्ध व्याख्या शकर एव अन्यो द्वारा की गई अद्वैत व्याख्या है, तथापि अद्वैत की इस यथार्थबुद्धि को प्राप्त करने की इच्छा (अद्वैतवासना) का उदय शिव की अनुकम्पा से ही होने के कारण व्यास ने श्रीकण्ठाचार्य द्वारा व्याख्यात सगुण ब्रह्म, शिव की महत्ता को स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इससे यह प्रकट होता है कि श्रीकण्ठ रचित शैव-भाष्य पर अपनी टीका लिखते समय उनमे शकर की अद्वैत-व्याख्या के प्रति आदर की भावना मे न्यूनता नही आई तथा वह अपने मन मे शिव के रूप मे सगुण ब्रह्म के शैव-सिद्धात का निर्गुण शुद्ध ब्रह्म के साथ किसी प्रकार से सामजस्य स्थापित करने मे समर्थ हुए। तथापि यह सभव है कि प्रारम्भ मे अद्वैत वेदान्त के प्रति उनकी जो सहानुभूति केवल मद थी वह अवस्था के साथ गभीर होती गयी। अपने 'शिवार्कमणिदीपिका' मे उनका कथन है कि वह महाराजा चिन्नवोम्म (जिनके भूमिदान के उत्कीर्ण लेख विजयनगर के महाराजा सदाशिव, १५६६ ई० प० से १५७५ ई०, के काल के है, देखिए हुल्त्शकृत दक्षिण भारतीय उत्कीर्ण लेख, खड १) के शासनकाल मे विद्यमान थे, तथा महाराजा चिन्नवोम्म के आदेश से उन्होने श्रीकण्ठ कृत भाष्य पर शिवार्क-मणिदीपिका नामक टीका लिखी। उनके पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित अपने 'शिव-लीलार्णव' मे कहते हैं कि अप्पय दीक्षित बहत्तर वर्ष की पक्वावस्था तक जीवित रहे। श्री टेलर द्वारा अनुक्रमबद्ध 'ओरिएटल हिस्टोरिकल मैनस्क्रिप्ट्स, द्वितीय खड' मे यह कहा गया है कि पाण्ड्य महाराजा तिरुमलनायक की प्रार्थना पर वह सन् १६२६ ई० प० मे पाण्ड्य देश मे शैवो और वैष्णवो के कुछ विवादो को हल करने गए थे। 'शिवलीलार्णव' की अपनी सस्कृत भूमिका मे महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री का कथन है कि कालहस्तीशरण शिवानन्द योगीन्द्र ने 'आत्मार्पणस्तव' की अपनी टीका मे अप्पय दीक्षित की जन्मतिथि कलिकाल का ४६५४ वा वर्ष अथवा १५५४ ई० प० दी है। उनकी ७२ वर्ष की आयु होने के कारण उनका देहावसान १६२६ मे हुआ

होगा, इसी वर्ष वह पाड्य देश मे गए थे। उनके शिष्य भट्टोजी दीक्षित थे, जैसाकि भट्टोजी दीक्षित कृत 'तन्त्रसिद्धातदीपिका' मे उनके ही कथन से प्रकट होता है। अत भट्टोजी दीक्षित अवश्य ही अप्पय दीक्षित के कनिष्ट समकालीन होगे, जैसाकि उनके 'तत्वकौस्तुभ' मे उनके इस अन्य कथन से भी प्रमाणित होता है कि उन्होने 'तत्व कौमुदी' की रचना १६०४ से १६२६ तक शासन करने वाले महाराजा केलादि वेंकटेन्द्र की प्रार्थना पर की (देखिए हुल्त्श कृत रिपोर्टस ग्रान सस्कृत मैनस्क्रिप्ट्स का द्वितीय खड)।[1]

ऐसा कहा जाता है कि अप्पय दीक्षित ने लगभग ४०० ग्रथो की रचना की। उनमे से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। अद्वैतनिर्णय, चतुर्मतसार सग्रह (जिसके न्यायमुक्तावलि नामक प्रथम अध्याय मे मध्व के सिद्धातो का सार रूप मे उल्लेख है, 'न्याय मयूखमालिका' नामक द्वितीय अध्याय मे रामानुज के सिद्धातो का सार रूप उल्लेख है, 'न्यायमणिमाला' नामक तृतीय अध्याय मे श्रीकण्ठ कृत भाष्य के दृष्टिकोण से प्राप्त निर्धारक निष्कर्षों का उल्लेख है तथा 'न्याय मजरी' नामक चतुर्थ अध्याय मे शकराचार्य के दृष्टिकोण के अनुसार निर्धारक निष्कर्षों का उल्लेख है), एक व्याकरण ग्रथ व्याकरणवादनक्षत्रमाला, पूर्वोत्तर मीमासावादनक्षत्रमाला (जिसमे मीमासा तथा वेदान्त के विवेचन के विभिन्न पृथक् विषयो का उल्लेख है), शाकर अद्वैत पद्धति के अनुसार ब्रह्मसूत्र पर रचित टीका 'न्यायरक्षामणि', वाचस्पति कृत 'भामती' टीका पर अमलानन्द कृत 'वेदान्त कल्पतरु' नामक भाष्य पर 'वेदात कल्पतरु-परिमल' नामक टीका, 'सिद्धान्त-लेशसग्रह' जिसमे वेदान्त के कुछ महत्वपूर्ण विषयो पर अद्वैतवाद की शाकर शाखा के विभिन्न विचारो का उनमे ऐक्य स्थापित करने के अथवा हेतुमय तर्कों द्वारा उनमे से किसी के प्रति अपनी प्राधान्यता प्रदर्शित किए बिना सग्रह किया गया है तथा जिसमे अच्युतानन्द तीर्थ (कृष्णालकार), गगाधरेन्द्र सरस्वती (सिद्धान्त बिन्दुशीकर) रामचन्द्र यज्वा (गूढार्थ प्रकाश), विश्वनाथतीर्थ, धर्मय दीक्षित तथा अन्यो के अनेक भाष्य भी सम्मिलित है, 'ब्रह्मसूत्र' पर श्रीकण्ठ कृत शैवभाष्य की 'शिवार्कमणिदीपिका' नामक टीका, शिवकर्णामृत, शिवतत्वविवेक, शिवपुराणतामसत्व खडन, शिवाद्वैतनिर्णय, शकर कृत 'शिवानदलहरी' पर 'शिवानद-लहरी चन्द्रिका' नामक टीका, शिवार्चनचन्द्रिका, शिवोत्कर्ष-चन्द्रिका, शिवोत्कर्ष-मजरी, शैवकल्पद्रुम, सिद्धान्तरत्नाकर, मध्वमुख भग, जिसमे यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है कि 'ब्रह्मसूत्र' की मध्व कृत व्याख्या उपनिषद् ग्रथो के आशय के अनुकूल नही है, रामानुज मत खडन, रामायणतात्पर्य निर्णय रामायण-भारत-

---

[1] देखिए शिवलीलार्णव, श्रीरगम्, १६११, महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री की भूमिका।

सारसग्रह, रामायणसार, रामायणसारसग्रह, रामायणसारस्तव, मीमासा सबधी एक लघु कृति 'मीमासाधिकरणमालाउपक्रमपराक्रम', 'धर्म मीमासा परिभाषा', नाम सग्रह मालिका, विधिरसायन, विधिरसायनोपजीवनी, शब्दों के विविध अर्थों के विषय मे एक लघु कृति 'वृत्तिवार्तिक', कुवलयानन्द नामक छद — शास्त्र विषयक कृति, जिस पर दश से अधिक टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं, 'चित्रमीमांसा नामक छदोग्रथ, भागवत-पुराण पर 'जयोल्लास निधि' नामक टीका, वेंकट रचित 'यादवाभ्युदय' पर 'यादवाभ्युदय टीका' नामक टीका, 'प्रबोध चन्द्रोदय नाटक' पर टीका, इत्यादि ।

प्रकाशानन्द (१५५०-१६०० ई. प.)

यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि शकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद का वेदात सिद्धात माया के सयोग मे अपने प्रकट द्वैत का निवारण नही कर सका, शकर के परकालीन अनुयायियो के हाथो मे माया क्रमश एक ऐसे उपादान के रूप मे घनीभूत होती गई जिसके विकास अथवा रूपान्तरण द्वारा जगत्प्रपच की समस्त घटनाओ की व्याख्या हो सके । वेदान्तियो का मत था कि यह माया यद्यपि ब्रह्म से अनुबद्ध रहती है, अपनी ऐन्द्रजालिक सृष्टि को उस पर छा देती है, तथापि यह अकथनीय, अनिर्वाच्य, अपरिभाष्य, विकारी एव अविचार्य होने के कारण स्वप्रकाश अविकारी ब्रह्म से एकदम भिन्न है । ऐसे दर्शन के विरुद्ध द्वैतवाद के आरोप का वेदान्ताचार्यों द्वारा यही मानने से खडन हो सकता है कि ब्रह्म के परमतत्व होने के कारण माया अयथार्थ तथा मिथ्या है, और इसी हेतु द्वैत का आरोप असत्य होगा । परन्तु जब हम यह विचार करते है कि माया को भावात्मक तथा जगत्प्रतीति के परिणामो के उपादान के रूप मे माना गया है तो यह जानना कठिन ही है कि कैसे उसका किसी प्रकार का अस्तित्व न होने का विचार ही नही किया जाय ? यदि एकदम अद्वैतवादी सिद्धात का स्थिरता से पालन करना है तो समस्त जगत्प्रपचो के उपादान के रूप मे माया के भावात्मक धर्म का त्याग करना होगा । तथापि शकर के प्राय समस्त अनुयायी अपने आचार्य के विचारो की एक ऐसे प्रकार से व्याख्या करते रहे हैं कि प्रत्यक्षमय प्रस्तुतिकरण के आधार के रूप मे अपनी अनन्त विभिन्नताओ से युक्त एक विषयपरक जगत् के भावात्मक अस्तित्व को कभी स्वीकार नही किया गया । इन वेदाताचार्यों के हाथो वेदात-सिद्धात का सम्पूर्ण क्रम इस दृष्टिकोण का सगठित रूप धारण करने लगा कि शुद्ध अविकारी ब्रह्म द्वारा जगत्प्रपच की विभिन्नता तथा विविधता की व्याख्या असभव होने के कारण इस जगत् के आधार स्वरूप एक अनिर्वाच्य उपादान, माया, को आवश्यकतावश स्वीकार करना पडता है । प्रकाशानद ही सम्भवत प्रथम व्यक्ति हैं जो विज्ञानवाद के एक शुद्ध इन्द्रियजनित ज्ञानवादी दृष्टिकोण से वेदात की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं तथा किसी उपादान के विषयपरक

अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। विषयो का अस्तित्व उनकी दर्शन दृष्टि के अतिरिक्त कुछ नही है। प्रकाशानद के मुख्य सिद्धात का वर्णन इस पुस्तक के प्रथम खड के दशम अध्याय के १५वें अनुभाग मे किया जा चुका है तथा प्रत्यक्षजन्य ज्ञान के स्वरूप के उनके विश्लेषण का उल्लेख इस अध्याय के एक पूर्व अनुभाग मे पहले ही किया जा चुका है।

ब्रह्म के कारणत्व के विषय मे उनका कथन है कि कारणत्व को ब्रह्म से सयुक्त करना ठीक-ठीक सहा नही माना जा सकता, क्योकि कारणत्व मे कारण और कार्य के द्वैत सम्बन्ध की अपेक्षा होती है; ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ न होने के कारण इन अवस्थाओ में उसको कारण नहीं माना जा सकता। पुन, अविद्या को भी जगत् का कारण नही माना जा सकता, क्योकि कारणत्व द्वैत के मिथ्या भाव पर आधारित है और यह भाव स्वय अविद्या का फल है। अत. कार्य-कारण का सिद्धान्त वेदान्त के क्षेत्र के बाहर है (कार्यकारणवादस्य वेदान्तबहिर्भूतत्वात्)। 'जगत् का कारण क्या है ?' जब इस प्रश्न के उत्तर मे यह कहा जाता है कि अविद्या (शाब्दिक अर्थ विज्ञान का अभाव) कारण है तो प्रतिवादी अरुचिकर मौन को केवल दूर करना चाहता है तथापि अविद्या का स्वरूप किसी भी प्रमाण द्वारा प्रमाणित नही किया जा सकता, क्योकि यह अन्धकार के समान है और प्रमाण प्रकाश के समान, तथा प्रकाश द्वारा अन्धकार का प्रत्यक्ष करना असभव है। अविद्या वह है जिसका ज्ञान किसी अन्य वस्तु के माध्यम से ही किसी अन्य वस्तु के साथ अपने सम्बन्ध के द्वारा सभव हो, तथा यह स्वय मे आगम्य होने पर भी अनादि एव भावात्मक है। इसके स्वय के यथातथ रूप में इसको समझने का प्रयत्न निष्फल ही होगा। किसी व्यक्ति के स्वय के चैतन्य द्वारा ही अविद्या प्रमाणित होती है, अत यह प्रश्न करना व्यर्थ है कि अविद्या कैसे प्रमाणित होती है ? तो भी अपरोक्ष रूप से प्रस्तुत ब्रह्मा के साथ आत्मा के ऐक्य की प्राप्ति होते ही उसका नाश हो जाता है। अविद्या के नाश का अर्थ उसका तथा उसकी सृष्टि का विराम नही है, जैसा कि प्रकाशात्मा ने 'विवरण' मे मत व्यक्त किया है, क्योकि ऐसी परिभाषा अकेले रूप मे अथवा सयुक्त रूप मे किसी प्रकार से प्रयोजनीय नही है। अत प्रकाशानन्द इसकी परिभाषा एक ऐसे विश्वास के रूप मे करते हैं तो मूलस्थित आधार की उपलब्धि के परिणामस्वरूप इस विश्वास के रूप मे करते हैं कि अनुमानगत प्रतीति कही अन्यत्र होती है न कि उस आधार पर जिस पर उसका अध्यास होता है, क्योकि इस अवस्था मे जब मूलस्थित आधार का मनस्कार होता है उस समय मिथ्या प्रतीति पूर्णतः अदृश्य हो जाती है और यह अनुभव होता है कि यह कही पर भी नही थी, न अन्यत्र कहीं है और कही भी नहीं होगी। इसी विश्वास को पारिभाषिक शब्दो मे 'बाध' कहते हैं। अविद्या की अपरिमाप्यता उसके प्रकट होने के आधार पर उसका निषेध है (प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वम्)। अत ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी का यह निषेध दो रूप का होता है, एक रूप मे यह निषेध है,

और दूसरे रूप मे 'ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सब' मे सम्मिलित होने के कारण यह निषेध स्वय एक भ्रान्तिमय अध्यास है, तथा इस प्रकार स्वय इस दूसरे निषेध के रूप का प्रथम के द्वारा निषेध तथा व्याघात होता है। अत यह तर्क देना गलत है कि ब्रह्म की उपलब्धि के पश्चात् निषेध के शेष रहने के कारण इसका स्वय का निषेध नही होगा, तथा इसी हेतु ब्रह्म के साथ-साथ विद्यमान यह द्वैत तत्व होगा।[1]

यह ज्ञान मिथ्या ज्ञान से इस प्रकार से विपरीत है कि ब्रह्मज्ञान के उदय होते ही मिथ्या ज्ञान का लोप हो जाता है। कभी-कभी यह आपत्ति की जाती है कि यदि ऐसा है तो ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति का शारीरिक अस्तित्व नही रहेगा, क्योकि शरीर अस्तित्व के भ्रम पर आधारित है तथा यथार्थ ज्ञान के उदय होने पर समस्त भ्रान्तियो का लोप हो जाना चाहिए, तथा यदि ऐसा ही है तो कोई भी वेदान्त आचार्य समर्थ आचार्य नही होगा। इसके प्रत्युत्तर मे प्रकाशानन्द का कथन है कि स्वय आचार्य के भ्रम की सृष्टि होने के उपरान्त भी, वह किसी को भी ठीक उसी प्रकार सत्य मार्ग पर ला सकता है, जिस प्रकार वेद स्वय भ्रम की सृष्टिमात्र होते हुए भी सत्य मार्ग पर प्रेरित करते है।[2]

[1] ब्रह्मण्यध्यासमान सर्वं कालत्रये नास्तीतिनिश्चयस्य अस्ति रूपद्वयमेक बाधात्मकमपर-मध्यस्यमानत्वम्, तत्र अध्यस्यमानत्वेन रूपेण स्वविषयत्वम्, बाधत्वेन विषयत्वमिति नात्माश्रेय इत्यर्थं तथा च नाद्वैतक्षति (अध्यास भाष्य पर भामती टीका से भी तुलना कीजिए) ऐसा प्रतीत होता है कि नाना दीक्षित ने अपना सम्पूर्ण तर्क भामती से ही लिया हैं। देखिए सिद्धान्त मुक्तावली पर उनकी टीका।

—दी पडित, १८९०, पृ० १०८।

तथापि यह विचार किसी भी प्रकार से प्रकाशानद का नवीन योगदान नही है। इस प्रकार चित्सुख तत्त्वदीपिका (जिसे प्रत्यक्ततत्त्वदीपिका भी कहा जाता है। पृ० न० १६ मे इसी बात को निम्न शब्दो मे लिखते हैं . सर्वेषामपि भावनामा-श्रयत्वेन् सम्मते प्रतियोगित्वमत्यन्ता भाव प्रति मृषात्पता' जोकि प्रतिपन्नोपाद्यौ निषेध प्रतियोगित्व' के समान नही है। वेदान्त परिभाषा, पृ० २१६ एव २२० के निम्न अश से तुलना कीजिए, 'मिथ्यात्व च स्वाक्षयेनाभिभतयावस्निष्ठात्यन्ताभाव प्रति-योगित्वम्।' परवर्ती काल मे मधुसूदन ने अपने 'अद्वैत सिद्धि' मे इस परिभाषा का मुक्त रूप से प्रयोग किया है।

[2] कल्पितोऽप्युपदेष्टा स्याद्यथा शास्त्र समादिशेत्,
न चाविनिगमोदोपोऽविद्यावत्वेन निर्णयात्॥

—दी पडित, १८९०, पृ० १६०।

आत्मा के आनन्द स्वरूप होने के विषय मे उनका सर्वज्ञात्म मुनि के इस मत से मतभेद है कि आत्मा के आनन्द स्वरूप होने के कथन का अर्थ यह है कि समस्त दु खो का अत्यन्ताभाव है अथवा आनन्द के अभाव का अभाव है। अत. सर्वज्ञात्म मुनि के अनुसार आनन्द का अर्थ अनानन्द का अभाव है (अनानन्दव्यावृत्तिमात्र-मानन्दत्वम्) ।[1] उनका प्रकाशात्मा के इस मत से भी भेद है कि जिसके अनुसार आनन्द वह द्रव्य है जो आनदमय प्रतीत हो क्योकि वस्तुत हम विषय की आकाक्षा रखते हैं। प्रकाशात्मा का मत है कि आत्मा पर ही आनन्दमयता के धर्म का अध्यास होता है। आत्मा को आनदमय इसलिए कहा जाता है कि यह आनन्दमयता की प्रतीति का अधिष्ठान है। जिसे लोग मूल्यवान् एव इष्ट मानते है वह आनन्दमयता नही अपितु आनन्दमय वस्तु है। प्रकाशानन्द का मत है कि यह मत उचित नही है क्योकि आत्मा न केवल आनन्दमय ही अपितु दु.खमय भी प्रतीत होती है तथा इसी हेतु आत्मा को आनन्दमय कहना उतना ही उचित है जितना उसे दु खमय कहना। अपिच, आनन्दमयता से पृथक् हुआ आनदमयता के विषय को आनदमय नही कहा जाता है अपितु आनदयुक्त पदार्थ को आनदमय कहा जाता है (विशिष्टस्यैव आनदपदार्थत्वात्) ।[2] यदि आनद-मयता आत्मा का सहज धर्म नही होता तो उसको आनदमय नहीं कहा जा सकता क्योंकि आत्मा ही वह आधार है जिस पर आनन्दमयता का भ्रान्तिमय रूप से अध्यास होता है। अत प्रकाशानन्द का मत है कि आत्मा स्वभावत. आनन्दमय धर्म वाला है।

अनुभवगत द्वैत के द्रष्टा के विषय मे प्रश्न उठा कर प्रकाशानन्द कहते हैं कि ब्रह्म को ही इस द्वैत का अनुभव होता है, परन्तु केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व होने पर भी ब्रह्म का उसके समस्त अनुभवो मे विकार अथवा परिणाम नही होता क्योकि इस प्रकार के मत के विरुद्ध वे ही आपत्तियाँ की जाएँगी जो ब्रह्म के पूर्ण अथवा उसके एक अंश की वैकल्पिक कल्पनाओ के विरुद्ध की जाती है और इन दोनो से हमे असभव फलो की प्राप्ति होगी। विवर्तवाद का कथन है कि मूलस्थित आधार अथवा द्रव्य के अतिरिक्त कार्य की यथार्थता नही है। अत विवर्त का वास्तविक अर्थ द्रव्य से एकत्व है, तथा वस्तुत वह इस एक द्रव्य मे उत्पन्न होते प्रतीत होने वाले अन्य किसी भी पदार्थ को अस्वीकार करता है। अत जगत्प्रतीति का मिथ्या प्रत्यक्ष पूर्ण रूप मे धर्महीन ब्रह्म मे समस्त प्रकार के धर्मों की प्रतीति के कारण होता है (निष्प्रकारिकाया. सप्रकारत्वेन भाव), आत्मा एव उसके बोध के ऐक्य होने के कारण तथा आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी न होने के कारण, इस कथन का कोई अर्थ नही कि वेदान्त उत्पत्ति के विवर्तमत को स्वीकार करता है, क्योकि यदि ठीक-ठीक कहा जाय तो,

[1] संक्षेप शारीरक, १ १ १७८।
[2] सिद्धान्त मुक्तावली, दी पण्डित, १८९०, पृ० २१५।

उत्पत्ति तो है ही नही (विवर्तस्य बालव्युत्पत्ति प्रयोजनतया)।[१] यदि आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता हो तो वेदान्त अद्वैत मे व्याघात हो जाएगा। यदि वैदिक वचनानुसार माया को देखा जाय तो माया शशविषाण के समान बिल्कुल तुच्छ प्रतीत होगी, यदि इसकी तर्कसगत व्याख्या करने का प्रयास किया जाय तो जन-साधारण द्वारा उसको वास्तवी माने जाने पर भी वह अनिर्वचनीय ही है।[२] अत प्रकाशानन्द वेदान्त के इस अतिपरक मत का उपदेश करते हैं कि जगत् मे किसी प्रकार की विषयपरकता नही है, कि माया का पूर्णत॰ अभाव है, कि हमारे विज्ञान का उससे सबद्ध कोई विषयपरक आश्रय नही है, कि आत्मा एक है तथा एकमात्र सत्य परम तत्त्व है, तथा जगत् की सृष्टि अथवा उत्पत्ति नही होती। इस मत के लिए उन्हे प्राय सर्वज्ञात्म मुनि, प्रकाशात्मा तथा अन्यो का विरोध करना पडता है, जिन्होंने 'माया परिणाम' के एक अधिक अच्छे प्रत्यय का विकास किया, परन्तु सभवत मडन के पथ पर अग्रसर होते हुए सर्वाधिक सर्वांग रूप मे विज्ञानवादी दृष्टिकोण से वेदान्त को युक्तिसगत रूप से प्रस्तुत करने का उन्होने ही प्रथम बार प्रयत्न किया। अपने ग्रन्थ की पुष्पिका मे उनका कथन है कि उनके द्वारा उपदिष्ट वेदान्त का सार उनके समकालीनो को अज्ञात था तथा उन्होने ही सर्व प्रथम दर्शन के इस सिद्धान्त का सपूर्ण रूप से प्रतिपादन किया।[3] अपनी 'सिद्धान्त-मुक्तावली के अतिरिक्त प्रकाशानद ने कई अन्य ग्रन्थो की रचना की, यथा, ताराभक्ति तरगिणी, मनोरमातन्त्रराजटीका, महालक्ष्मी पद्धति, तथा श्रीविद्या पद्धति, तथा यह प्रदर्शित करते हैं कि सपूर्णत वेदान्ती होने पर भी उनकी आस्था तत्र धर्म मे थी, जब भारत के विभिन्न प्रदेशो मे प्रकाशानद के शिष्यो के शिष्य व्याप्त हो गए थे। उस समय नाना दीक्षित ने मुक्तावली पर 'सिद्धान्त प्रदीपिका' नामक टीका की रचना की।[४]

मधुसूदन सरस्वती (ई. प. १५००)[५]

यह सभावना अधिक है विश्वेश्वर सरस्वती के शिष्य तथा पुरुषोत्तम सरस्वती के

---

[१] बालान्प्रति विवर्तोऽय ब्रह्मण सकल जगत्।
अविवर्त्तितमानन्दमास्थिता कृतिन सदा। —दी पडित, १८९०, पृ० ३२६।

[२] तुच्छनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा,
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधै श्रौतयौक्तिकलौकिकै॰॥ —वही, पृ० ४२०।

[३] वेदान्तसारसर्वस्वमज्ञेयमधुनातनै। अशेषेण मयोक्त तत्पुरुषोत्तमयत्नत॥
—दी पडित, १८९०, पृ० ४२८।

[४] यच्छिष्यशिष्यसदोहव्याप्ता भारत भूमय।
वन्देत यतिभिर्वन्द्य प्रकाशानदमीश्वरम्॥ —वही, पृ० ४८८।

[५] अपने मधुसूदन कृत वेदात कल्पलतिका के सस्करण मे रामाज्ञा पाडेय सकेत देते हैं

गुरु मधुसूदन सरस्वती का काल षोडश शताब्दी का पूर्वार्ध है। उनके मुख्य ग्रथ है, वे दातकल्पलतिका, अद्वैतसिद्धि, अद्वैत मजरी, अद्वैतरत्नरक्षरण, आत्मबोध-टीका, आनद-मदाकिनी, कृष्णकुतूहल नाटक, प्रस्थान भेद, भक्तिसामान्य निरूपण, भगवद्गीता गूढार्थ दीपिका, भगवद् भक्ति रसायन, भागवत पुराण प्रथम श्लोका व्याख्या, वेदस्तुति टीका, शाडिल्यसूत्र टीका, शास्त्र-सिद्धातलेश टीका, सक्षेपशारीरक सारसग्रह, सिद्धात-तत्वबिन्दु, हरिलीलाव्याख्या। तथापि उनका सबसे महत्वपूर्ण ग्रथ अद्वैत सिद्धि है, जिसमे उन्होने शकर एव उनके अनुयायियो के अद्वैत वेदान्त के विरुद्ध व्यासतीर्थ कृत न्यायामृत[1] मे उठाई गई आपत्तियो का खडन करने का प्रयत्न किया है। इस ग्रथ की सामग्री का प्रयोग इस ग्रथ के दशम अध्याय के अनुभाग ६, ७, ८, ९ एव १० मे पहले ही किया जा चुका है। इससे अधिक सामग्री का प्रयोग तृतीय खड मे व्यासतीर्थ एव मधुसूदन के विवाद के प्रसग मे किया जाएगा। यह विवाद ही अद्वैत का विषय वस्तु है। मधुसूदन के सिद्धान्त-बिन्दु' मे कुछ भी महत्वपूर्ण नही है, इसमे वह केवल प्रत्यक्षीकरण का शृ खलाबद्ध वर्णन देते है, जिसका वर्णन पहले ही दशम् दशम अध्याय मे तथा इस खड के 'वेदान्ती सृष्टि विज्ञान' अनुभाग मे हो चुका है। उनके अद्वैतरत्नरक्षरण मे ऐसे विषयो का वर्णन ,यथा उपनिषदो की प्रामाणिकता उपनिषदो मे द्वैत का अभाव, प्रत्यक्ष से द्वैत तत्व की अप्रामाणिकता, अन्योन्याभाव-जन्य द्वैत का मिथ्यात्व, अनिश्चयात्मक ज्ञान मे द्वैत का अभाव, प्रमाण के किन्ही प्रामाणिक साधनो द्वारा द्वैत सिद्धि की असभवता, इत्यादि। प्राय इसमे कुछ भी नवीन नही है क्योकि इसमे बडे ग्रन्थ 'अद्वैतसिद्धि' मे कुछ महत्वपूर्ण तर्कों की ही पुनरावृत्ति की गई है तथा मध्व के अनुयायियो, जैसे द्वैतवादियो, के मत के खडन का प्रयत्न किया गया है, मधुसूदन का इन द्वैतवादियो से सदा विवाद रहा है।

कि मधुसूदन जन्मना वगदेशीय थे। उनके शिष्य पुरुषोत्तम सरस्वती 'सिद्धान्त बिन्दु टीका' पर अपनी टीका मे उल्लेख करते हैं कि बलभद्र भट्टाचार्य उनके प्रिय शिष्य थे, तथा पाडेय का यह तर्क है कि भट्टाचार्य वगीय गोत्र होने के कारण तथा उनके प्रिय शिष्य के भी वगीय होने के कारण, मधुसूदन भी अवश्य ही वगीय ही होगे। यह भी ज्ञातव्य है कि कोटलीपारा, फरीदपुर, बगाल की कुलपजिका मे मधुसूदन के पिताजी का नाम प्रमोदपुरदर आचार्य दिया है, जिनके चार पुत्र–श्रीनाथ चूडामणि, यादवानद, न्यायाचार्य, कमलजनयन एव वागीश गोस्वामी थे। मधुसूदन के दार्शनिक तत्व-विवेचन का कुछ महत्वपूर्ण विवरण इस ग्रथ के तृतीय खड मे मध्व एव उनके अनुयायियो के दर्शन के विवेचन के समय मधुसूदन एव व्यासतीर्थ के वादविवाद के प्रसग मे दिया जाएगा।

[1] अद्वैत सिद्धि पर अद्वैत सिद्धुपन्यास, वृहट्टीका, तथा ब्रह्मानन्द सरस्वती कृत लघु-चन्द्रिका नामक तीन टीकाएँ हैं।

अत हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए इस ग्रन्थ के विस्तार मे जाना आवश्यक नही है तथापि यह जानना रुचिकर होगा कि अपने दर्शन मे इतना दृढ अद्वैतवादी होने पर भी वह धर्म मे आस्तिक थे तथा उन्होने भक्ति मार्ग का अनुसरण किया जैसाकि उनके भक्तिसप्रदाय का उपदेश करने वाले उनके अनेक ग्रन्थो मे स्पष्ट होता है। तथापि इन ग्रन्थो का वेदान्त दर्शन से कोई सम्बन्ध नही है, जोकि हमारा इस अध्याय मे वर्ण्य विषय है। मधुसूदन कृत वेदान्त कल्पलतिका उनकी अद्वैतसिद्धि एव 'महिम्न स्तोत्र' पर उनकी टीका से पूर्व लिखी गई थी।[1] अपने वेदान्त कल्पलतिका की भूमिका मे रामाज्ञा पाडेय यह प्रदर्शित करते हैं कि अद्वैतसिद्धि मे उनके 'गीता निबन्धन' का उल्लेख है, 'गीता निबन्धन' तथा 'श्रीमद्भागवत टीका' मे उनके 'भक्ति रसायन' का उल्लेख है, तथा 'भक्ति रसायन' मे 'वेदान्तकल्पलतिका' का उल्लेख है, अत इससे यह प्रकट होता है कि वेदान्तकल्पलतिका की रचना इन सब ग्रन्थो से पूर्व हुई थी। 'अद्वैत रत्नरक्षण' मे 'अद्वैत सिद्धि' का उल्लेख होने से उसको काफी बाद की कृति माना जा सकता है। 'वेदान्त-कल्पलतिका' मे ऐसी कोई विशेष नवीन बात नही है जो वेदान्ती विचारधारा मे योगदान के रूप मे विशेषत वर्णन किए जाने योग्य हो। ग्रन्थ की विशेषता इसी मे है कि उसमे भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओ के सिद्धान्तो का सार सक्षेप मे दिया हुआ है तथा महत्वपूर्ण वेदान्ती सिद्धान्तो से उनकी तुलना भी की हुई है। चर्चा का प्रथम विषय मुक्ति का स्वभाव और उसकी प्राप्ति के साधन है, मधुसूदन यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि मुक्ति का केवल वेदान्ती प्रत्यय ही मनुष्यो को आकृष्ट कर सकता है, अन्य सब मत असतोषप्रद तथा अप्रामाणिक हैं। परन्तु यह प्रतीत नही होता कि वह अन्य मतो के साथ उचित न्याय करते हैं। उस प्रकार उदाहरणार्थ, मोक्ष के साख्य दृष्टिकोण का खडन करते हुए उनका कथन है कि क्योकि साख्यो के मत मे भाव का नाश नही हो सकता, अत. दु ख का एक भावमय तत्व होने के कारण नाश नही हो सकता, अत दु ख से कभी मोक्ष नही मिल सकता। यह स्पष्टत साख्य दृष्टिकोण को अयथार्थ रूप मे प्रस्तुत करना है, इसका कारण यह है कि साख्य के अनुसार प्रकृति समस्त दु खो का मूल है, बुद्धि उसका फल है, अत दु ख से मोक्ष का अर्थ यह है कि मोक्ष मे बुद्धि का पुरुष से सयोग नही रहता है, इसलिए दु ख का नाश नही होने पर भी दु ख से मोक्ष प्राप्त करने मे कुछ भी असगति नही है। तथापि एक ही समस्या के विषय में अन्य शाखाओ के विचारो को मधुसूदन द्वारा अयथार्थ रूप मे प्रस्तुत करने के उदाहरणो की सख्या बढाना हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए अनावश्यक है। चर्चा के मध्य वह यह वर्णन करते हैं कि

---

[1] वह अपने अद्वैत सिद्धि, पृ० ५३७ (निर्णयसागर सस्करण) मे वेदान्त कल्पलतिका तथा सिद्धान्त बिन्दु का उल्लेख करते हैं। महिम्न स्तोत्र टीका, पृ० ५ भी द्रष्टव्य है।

पर्याप्त मात्रा मे लम्बा रहा होगा। इस सम्बध मे विचारणीय एक अन्य तथ्य है। शाकर-वेदान्त की व्याख्या एव योग-वाशिष्ठ के दृष्टिकोणो मे महत्वपूर्ण साम्य होते हुए भी कोई भी एक दूसरे के सवध मे कुछ नही कहते। पुन, योगवाशिष्ठ के विचार बौद्ध विज्ञानवादियो से इतने मिलते जुलते है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ बौद्ध विज्ञानवाद का ब्राह्मण-रूपातर प्रतीत होता है। बौद्ध विज्ञानवाद को आत्मसात् करने का एव उसे ब्राह्मण-विचारधारा पर रूपान्तरित करने का एक अन्य महत्वपूर्ण उदाहरण दिया जा सकता है, यथा गौडपाद एव शकर के लेख। अत मेरी यह मान्यता है कि योग-वाशिष्ठ के लेखक सभवत गौडपाद अथवा शकर के समकालीन सभवतः ८०० ई०पू० अथवा उनके एक शतक पूर्व थे।

इस ग्रथ मे छ प्रकरण हैं यथा वैराग्य, मुमुक्षु, व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम, एव निर्वाण। वह आर्श-रामायण, ज्ञान-वशिष्ठ, महारामायण, वशिष्ठ रामायण अथवा वशिष्ठ के नाम से जाने जा सकते हैं। इस पर कई भाष्य लिखे गए हैं। इन भाष्यो मे से मैं विशेषतया आनदबोधेन्द्रकृत तात्पर्य प्रकाश का ऋणी हूँ।

योग-वाशिष्ठ आद्योपात जनसुलभ भाषणो के रूप मे एक दार्शनिक ग्रथ है एव एक ही विचारधारा को प्राय पुन-पुन विभिन्न प्रकार के वर्णनो तथा काव्यात्मक कल्पना मे दोहराया गया है। परतु ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक अलौकिक काव्यात्मक प्रतिभा से युक्त है। प्राय प्रत्येक श्लोक सर्वोत्कृष्ट काव्यात्मक कल्पना से परिपूर्ण है, शब्दो का चुनाव अत्यत कर्ण-प्रिय है और वे प्राय हमे अपने अभिप्राय आत्यतिक-आदर्शात्मक विचार की अपेक्ष अपने काव्यात्मक मूल्य द्वारा हम पर रुचिकर प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

योग-वाशिष्ठ पर कई भाष्य लिखे गए, और कुछ लेखको ने इसे श्लोक मे सक्षेपण किया जिनके ग्रथो पर पुन टीकाएँ लिखी गईं। इस प्रकार नरहरि-पुत्र अद्वमारण्य ने उस पर वशिष्ठ-रामायण-चन्द्रिका नामक भाष्य लिखा। उन्नीसवें शतक के गगाधरेन्द्र सरस्वती के शिष्य आनदबोधेंद्र सरस्वती ने तात्पर्य-प्रकाश लिखा। गगाधरेंद्र ने भी उसी नाम से एक भाष्य लिखा। रामदेव एव सदानद ने भी इस ग्रथ पर दो भाष्य लिखे और इसके अतिरिक्त योग-वाशिष्ठ-तात्पर्य-सग्रह नामक एक अन्य भाष्य और माधव-सरस्वती ने पद-चद्रिका नामक अन्य भाष्य लिखा। इसके सक्षेपण निम्नलिखित है—बृहद्-योग-वाशिष्ठ, लघु-ज्ञान-वाशिष्ठ, योग-वाशिष्ठ-श्लोक, नवम् शतक के गौड अभिनद-कृत योग-वाशिष्ठ-सक्षेप, योग-वाशिष्ठ-सार अथवा ज्ञानसार योग-वाशिष्ठ-सार-सग्रह तथा अद्वैतानद के शिष्य रामानद तीर्थ कृत वाशिष्ठ-सार अथवा वाशिष्ठ-सार-गूढार्थ। गौड अभिनद कृत योग-वाशिष्ठ-सक्षेप पर आत्म-सुख ने चन्द्रिका नामक भाष्य एव मम्मडिदेव ने ससार तरणि नामक एक अन्य भाष्य लिखा। पूर्णानद और महेश्वर ने भी योग-वाशिष्ठ-सार पर दो भाष्य लिखे।

अध्याय २

योग वाशिष्ठ दर्शन

विभिन्न पुराणो के दार्शनिक तत्वो का बाद के किसी खण्ड मे समावेश किया जायगा। योग-वाशिष्ठ-रामायण को पुराणो मे सम्मिलित किया जा सकता है, परन्तु इसमे पुराणो की सामान्य विशेषताओ का अभाव है और सर्वत्र शकर द्वारा प्रतिपादित वेदान्त-सिद्धान्तो से मिलती-जुलती मूलत अद्वैत सिद्धान्तो की वेदान्त-सबधी-समस्याओ की चर्चाएं भरी हुई हैं। यह विशालकाय काव्य ग्रथ एक अद्वितीय कृति है, इसमे तेइस हजार सात सौ चौतीस (विभिन्न हस्तलिपियो और सस्करणो के सभाव्य मतभेदो को छोडकर) श्लोक है, और इस प्रकार यह श्रीमद्भगवद्गीता से कही अधिक बडा है। जिस दार्शनिक दृष्टिकोण के प्रतिपादन की इसमे चेष्टा की गई है और जिस पर बार-बार इसमे बल दिया गया है, वह शकर और बौद्ध-विज्ञान-वाद के दृष्टिकोण के इतना सदृश है कि शकर के विवेचन के एकदम बाद मे इसका विवेचन करना मुझे विशेष रूप मे अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होता है और फिर बाद मे आने वाले वेदान्त सूत्रो की विभिन्न व्याख्याएं शकर के मत से इतनी प्रतिकूल हैं कि योग-वाशिष्ठ जैसे ग्रन्थ का शकर से सम्बन्धित अध्याय के एकदम बाद विवेचन न करके अन्यत्र विवेचन करने के लिए उपयुक्त स्थान निर्धारित करना अत्यन्त कठिन होगा।

इस ग्रथ का आरभ एक आख्यान से होता है। कोई ब्राह्मण महर्षि अगस्त्य के आश्रम मे पहुँचा और उसने प्रश्न किया कि ज्ञान अथवा कर्म मे से मोक्ष साधन का प्रत्यक्ष कारण क्या है? अगस्त्य ने उत्तर दिया कि जिस प्रकार पक्षी अपने दो पखो के सहारे उडता है उसी प्रकार मनुष्य केवल ज्ञान और कर्म के द्वारा हा 'परमपद' को प्राप्त कर सकता है। इसे समझाने के लिए वे एक कथा का वर्णन करते हैं जिसमे अग्निवेश्य के पुत्र कारुण्य विद्याभ्यास की समाप्ति पर गुरुकुल से लौटकर शान्त और निष्क्रिय बैठा रहा। उसकी इस मनस्थिति का कारण पूछने पर उसने कहा कि मैं इस प्रश्न से दुविधा मे पड गया हूँ कि क्या मनुष्य के शास्त्रोपदेशानुकूल कर्म 'त्यागमात्र' का अनुसरण करने की अपेक्षा 'परमपद' की प्राप्ति के लिए अधिक उपयुक्त हैं? कारुण्य के इस प्रश्न को सुनकर अग्निवेश्य ने कहा कि तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर केवल एक कथा के द्वारा ही दे सकता हूँ जिसको सुनकर तुम अपनी इच्छानुसार निश्चय कर सकते हो। एक समय हिमाद्रि-शृग पर बैठी हुई सुरुचि नामक अप्सरा ने इन्द्र के एक सदेशवाहक को आकाश मे उडते देखा। उससे उसने प्रश्न किया कि तुम कहाँ

जा रहे हो ? उसने उत्तर दिया कि अरिष्टनेमि नामक एक राजा अपना राज्य अपने पुत्र को सौंपकर निष्काम भाव से तपश्चर्या कर रहे हैं, मुझे उसके पास अपने नियोग-वश जाना पडा था और मैं वहाँ से लौट रहा हूँ। अप्सरा ने सदेश-वाहक और राजा के बीच जो बातचीत हुई उसे विस्तार से जानने की इच्छा प्रकट की। सदेशवाहक ने कहा कि इन्द्र ने उस राजा को स्वलकृत रथ मे स्वर्ग मे लाने का आदेश दिया था, परन्तु इस कार्य के हेतु राजा ने स्वर्ग के गुण और दोषो का वर्णन करने के लिए प्रार्थना की, जिन्हे सुनकर वह यह निश्चय कर सकें कि स्वर्ग मे जाएँ या नही। उन्हे उत्तर मिला कि मनुष्य अपने गुणो के उत्तम, मध्यम या अधम होने के अनुरूप ही स्वर्ग मे उत्तम, मध्यम अथवा अधम सुखो का भोग करते हैं, उपभोगो द्वारा अपने गुणो के क्षीण हो जाने पर वे पृथ्वी पर पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं, और पृथ्वी पर अपने निवास काल मे वे अपने सुखो की विषमता के कारण परस्पर स्पृहयुक्त हो जाते हैं। यह सुनकर राजा ने स्वर्ग मे जाने से इन्कार कर दिया और इन्द्र से निवेदन करने पर उन्होने अत्यन्त विस्मित होकर सदेशवाहक को आदेश दिया कि राजा को वाल्मीकि-आश्रम मे ले जाकर वाल्मीकि को राजा की स्वर्गफल को भोगने की अस्वीकृति से अवगत करावे और राजा को समुचित उपदेश देने की प्रार्थना करे ताकि मोक्ष प्राप्ति हो। ऐसा करने पर राजा ने वाल्मीकि से प्रश्न किया कि मोक्ष किस प्रकार से प्राप्त कर सकता हूँ, वाल्मीकि ने प्रत्युत्तर मे इस विषय पर राम-वशिष्ठ-सवाद को वर्णन करने की इच्छा प्रकट की।

वाल्मीकि का कथन है कि रामायण की कथा समाप्त करके भारद्वाज को उसका उपदेश करने के बाद भारद्वाज ने एक बार उसे ब्रह्माजी को सुनाया और ब्रह्माजी ने प्रसन्न होकर भारद्वाज को वर देने की इच्छा प्रकट की। भारद्वाज ने उत्तर मे यह कहा कि मुझे ऐसा उपदेश दीजिए कि जिससे मनुष्य दुःखो से मुक्त हो सके। ब्रह्मा ने उन्हे वाल्मीकि के पास जाने का आदेश दिया और भारद्वाज सहित स्वय जाकर ब्रह्मा ने वाल्मीकि से प्रार्थना की कि जब तक राम के सम्पूर्णचरित्र का वर्णन न कर लें तब तक वे अपने कार्य से निरत न हो ताकि उसे सुनकर लोग सासारिक भयो से मुक्ति पा सकें। भारद्वाज को उपदेश देने के पश्चात् आश्रम से ब्रह्मा के अन्तर्धान हो जाने पर भारद्वाज ने भी राम और उनकी पत्नी उनके भाई और अनुयायियो के इस शोक एव भय ग्रस्त समार मे आचरण का और उनके सतापहीन शान्त जीवन का वर्णन करने को वाल्मीकि से प्रार्थना की।

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर मे वाल्मीकि ने कहा कि अपना विद्याभ्यास समाप्त करके राम ने विभिन्न तीर्थो की और आश्रमो की यात्रा की। लौटकर वे प्रतिदिन अत्यत खिन्न दिखाई देने लगे, परन्तु अपने दु ख का कारण किसी को भी नही बताते थे। राम की खिन्नता से राम के पिता दशरथ अत्यत चिन्तित हुए और वशिष्ठ ने उसका कारण पूछा। उसी समय विश्वामित्र भी राक्षसो के वध के उद्देश्य से राम को

बुलाने के लिए अयोध्या में उपस्थित हुए। उस समय राम की खिन्न मनःस्थिति से अत्यत चिन्तित होकर विश्वामित्र ने उनकी खिन्नता का कारण पूछा।

राम ने कहा कि मेरे मन में एक नई उदासी उत्पन्न हो गई है जिसने मुझ मे सब भोगो के प्रति वितृष्णा पैदा कर दी है। इस ससार में सुख नहीं है, मनुष्यों का जन्म मरण के लिए और मरण जन्म के लिए होता है। ससार मे सब कुछ अस्थिर है। सब विद्यमान वस्तुएँ असगत है (भावा परस्परमसगिन)। केवल हमारी मानसिक कल्पनाओ (मन कल्पनया) के कारण ही उनका सबध और सयोग होता है। भोगो के ससार की सृष्टि मन (मन) द्वारा ही होती है और यह मन स्वय अस्तित्वहीन प्रतीत होता है। प्रत्येक वस्तु मृगतृष्णा के समान है।

तब वसिष्ठ ने जगत्प्रतीति के स्वरूप की व्याख्या की और यही उत्तर इस ग्रन्थ का विषय है। राम-वसिष्ठ के इस सवाद को वाल्मीकि से सुनकर राजा अरिष्टनेमि छिन्नसशय हो गए और अप्सरा ने भी प्रसन्न होकर देवदूत को जाने की अनुमति दे दी। अपने पिता अग्निवेश्य से यह सब सुनकर कारुण्य ने ऐसा अनुभव किया मानो उसने परम तत्त्व प्राप्त कर लिया और उसने सोचा कि अपनी तत्वानुभूति के कारण एव कर्म तथा निष्क्रियता एक ही होने के कारण, उसका यह स्पष्ट कर्तव्य है कि वह जीवन के नित्यनैमित्तिक कर्त्तव्यो का पालन करे। जब अगस्त्य ने इस आख्यान को समाप्त किया तो ब्राह्मण सुतीक्ष्ण ने अपने को छिन्नसशय अनुभव किया।

इसमे एक बात ऐसी है जिसे परवर्ती काल का स्पष्ट सकेत माना जा सकता है, यहाँ तक कि इस ग्रन्थ के रामायण के रचयिता द्वारा लिखे गए होने के दावे के आशय से भी बहुत बाद के काल की ओर सकेत करती है। इसमे एक श्लोक कालिदास के कुमारसभव के एक श्लोक के प्राय समान ही है।[1] मेरे विचार मे यह अनुमान निस्सदेह लगाया जा सकता है कि लेखक ने इस श्लोक को कालिदास से ग्रहण किया है, और सामान्य धारणा भी यही है कि कालिदास का काल पचम शती ई० प० है। योग-वाशिष्ठ के लेखक चाहे कोई भी क्यो न रहे हो, वे कालिदास से कम से कम कुछ समय बाद रहे। यह भी माना जा सकता है कि कवि के रूप मे कालिदास के सम्मान को स्थापित करने के लिए कालिदास का काल एव योग-वाशिष्ठ के लेखक का काल

---

[1] योगवासिष्ठ ३ १६ ५० ।

अथ तामतिमात्र विह्वलाम्
सकृपाकाशभवा सरस्वती
शफरी ह्रदशोष विह्वला
प्रथमावृष्टिरिवान्वकम्पता ।

पर्याप्त मात्रा मे लम्बा रहा होगा। इस सम्बध मे विचारणीय एक अन्य तथ्य है। शाकर-वेदान्त की व्याख्या एव योग-वाशिष्ठ के दृष्टिकोणो मे महत्वपूर्ण साम्य होते हुए भी कोई भी एक दूसरे के सबध मे कुछ नही कहते। पुन, योगवाशिष्ठ के विचार बौद्ध विज्ञानवादियो से इतने मिलते जुलते हैं कि सम्पूर्ण ग्रन्थ बौद्ध विज्ञानवाद का ब्राह्मण-रूपातर प्रतीत होता है। बौद्ध विज्ञानवाद को आत्मसात् करने का एव उसे ब्राह्मण-विचारधारा पर रूपान्तरित करने का एक अन्य महत्वपूर्ण उदाहरण दिया जा सकता है, यथा गौडपाद एव शकर के लेख। अत मेरी यह मान्यता है कि योग-वाशिष्ठ के लेखक सभवत गौडपाद अथवा शकर के समकालीन सभवत ८०० ई०प० अथवा उनके एक शतक पूर्व थे।

इस ग्रथ मे छ प्रकरण हैं यथा वैराग्य, मुमुक्षु, व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम, एव निर्वाण। वह आर्श-रामायण, ज्ञान-वशिष्ठ, महारामायण, वशिष्ठ रामायण अथवा वशिष्ठ के नाम से जाने जा सकते हैं। इस पर कई भाष्य लिखे गए हैं। इन भाष्यो मे मे मैं विशेषतया आनदबोधेन्द्रकृत तात्पर्य प्रकाश का ऋणी हूँ।

योग-वाशिष्ठ आद्योपात जनसुलभ भाषणो के रूप मे एक दार्शनिक ग्रथ है एव एक ही विचारधारा को प्राय पुन-पुन विभिन्न प्रकार के वर्णनो तथा काव्यात्मक कल्पना मे दोहराया गया है। परतु ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक अलौकिक काव्यात्मक प्रतिभा से युक्त है। प्राय प्रत्येक श्लोक सर्वोत्कृष्ट काव्यात्मक कल्पना से परिपूर्ण है, शब्दो का चुनाव अत्यत कर्ण-प्रिय है और वे प्राय हमे अपने अभिप्राय आत्यतिक-आदर्शात्मक विचार की अपेक्षा अपने काव्यात्मक मूल्य द्वारा हम पर रुचिकर प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

सन् १९२४ को मद्रास प्राच्य सभा की कार्यवाही में योग वासिष्ठ रामायण पर एक लेख में शिवप्रसाद भट्टाचार्य कहते हैं कि योग-वासिष्ठ-सार का दूसरा नाम मोक्षोपाय-सार अभिनद ने लिखा जिसे गौड अभिनद से सम्मिश्रित नहीं करना चाहिए। परन्तु वे यह तथ्य भूल जाते हैं कि गौड अभिनन्द ने भी योग-वासिष्ठ-संक्षेप नामक उसका अन्य भाष्य लिखा। प्रासंगिक रूप से यह उनके इस मत का खंडन करता है कि योग-वासिष्ठ दस एव बारहवें शतक के बीच रचा जाना चाहिए, क्योंकि यदि नवम् शतक के गौड अभिनद ने उसका सक्षेपण किया तो योग-वासिष्ठ कम से कम अष्टम शतक में लिखा जाना चाहिए। इस प्रकार योग-वासिष्ठ को सातवें अथवा आठवें शतक में मानना चाहिए।

परम तत्त्व

योग-वाशिष्ठ का तृतीय प्रकरण उत्पत्ति के सबध मे है। बधन का मूल कारण दृश्य जगत् का भाव है एव इस प्रकरण का मुख्य विषय यह है कि दृश्य जगत् का कोई अस्तित्व नही है। प्रलय के समय सम्पूर्ण दृश्य जगत् की प्रतीति का नाश हो जाता है यथा सुषुप्ति मे स्वप्न का। शेष जो बच जाता है वह गम्भीर एव सीमित है, न तो प्रकाश है न अधकार बल्कि केवल अव्यक्त और अनिर्वचनीय है परन्तु फिर भी वह एक सत् पदार्थ है। यह तत्व स्वय अपने आपको सत्य के रूप मे प्रकट करता है (स्वय अन्य इवोल्लसन्), और प्रवाहहीन समुद्र की तरगो के समान प्रकृतिशील तत्व के द्वारा मनस् के रूप मे व्यक्त होता है। परन्तु वास्तव मे जो कुछ भिन्न २ रूप मे दृश्य जगत् दिखाई देता है उसका वस्तुत अभाव ही है, क्योंकि यदि उसका अभाव होता तो किसी भी स्थिति मे अभाव नही हो सकता था।[1] दृश्य जगत् का लेशमात्र भी अस्तित्व नही है। परम अनिर्वचनीय अनिश्चित तत्व जो केवल निर्वाण मात्र है अथवा पराबुद्धि है, वह सदा विद्यमान रहता है और उसमे कोई विकार अथवा परिवर्तन नही होता। इस तत्व के प्रथम स्पन्दन मे अहकार उत्पन्न होता है जो भासित होने पर भी वस्तुत परम तत्व के अतिरिक्त कुछ नही है। धीरे २ वायु मे लहरो की तरह कई एक स्पन्दनो के द्वारा सृष्टि के (दृश्य जगत्) विसर्ग की उत्पत्ति होती है। परम तत्व केवल सकल्प पुरुष ही है।[2] मुनि के मतानुसार जिसका हमे अवभास होता है वह सकल्प नगर अथवा गन्धर्व-पट्टन के समान मनस् के सकल्प के कारण

---

[1] योग-वाशिष्ठ ३ ३।

[2] सर्वेषा भूतजातानां, ससार व्यवहारिणाम्, प्रथमोऽसौ प्रतिस्पन्दश्चित्तदेह स्वतोदय।
अस्मात् पूर्वात् प्रतिस्पन्दादनन्यैतत्स्वरूपिणी, इय प्रविसृता सृष्टिः स्पन्दसृष्टिरिवानिलात्। ३ ३ १४ १५।

ही है (यथा सकल्प-नगर यथा गन्धर्व पत्तनम्)। सार वस्तु परम तत्व के अतिरिक्त कुछ नही है और जो कुछ उसके अतिरिक्त दिखाई देता है उसका कुछ भी अस्तित्व नही है वह केवल मानसिक जगत् है जो परम तत्व के द्रव्य रहित अव्यक्त मानसिक जगत् से उत्पन्न होता है। ज्ञाता होने का हमारा भ्रम उस स्थिति मे ही मिट सकता है जबकि हम यह निश्चित रूप से अनुभव कर लें कि इस दृश्य जगत् के भाव की सम्भावना ही नही है, और उस स्थिति मे मोक्ष हो जाता है यद्यपि दृश्य जगत् भासित होता रहे। इस मनस् की मानसिक रचनाओ द्वारा ही सर्ग-विसर्ग की उत्पत्ति दृश्य जगत् मे हुई है। उसका कोई विशिष्ट रूप नही है अपितु वह तो केवल नाममात्र एव शून्यमात्र है।[1] यह मनस् न तो हमारे अतर मे है और न बाह्य, यह तो हमारे चारो ओर शून्य की तरह व्याप्त है। इस सम्पूर्ण प्रपच को मनस् से प्रकट हुआ समझना मृगजल के समान है। सब रूपो एव भावो के लक्षण केवल क्षणिक कल्पनाओं के समान है। जो कुछ व्यक्त हैं और जिसका भाव प्रतीत होता है वह मनस् के अतिरिक्त कुछ भी नही है यद्यपि यह मनस् स्वय काल्पनिक उत्पत्ति बिंदु है जिसकी कोई वास्तविक स्थिति नही है। जैसे जल से रस और वायु से स्पन्दन पृथक् नही किया जा सकता ठीक उसी प्रकार मनस् दृश्यावभासो से भिन्न नहीं है और न उनसे भिन्न किया जा सकता है। इस तरह, मनस् काल्पनिक तत्व के अतिरिक्त और कुछ नही है जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् उत्पन्न हुआ यद्यपि यह दृश्य प्रपच एव मनस् एक ही है और उनमे वैभिन्य बताना असम्भव है।[2] अविद्या, ससृति चित्त, मनस्, बध, मल, तमस्, उसी प्रत्यय (दृश्य जगत्) के पर्याय-वाची शब्द हैं।[3] दृष्टा ही दृश्य के रूप मे प्रकट होता है और वह दर्शनमात्र ही है जो दृष्टा और दृश्य के रूप मे प्रकट होता है। दृश्य-प्रपच का अभाव ही मोक्ष स्थिति है। वास्तव मे न तो दृष्टा है, न दृश्य, न दर्शन, न शून्य, न प्रकृति, और न पुरुष, न चित्त अपितु शुद्ध शात अथवा शुद्ध अभाव है और इसी को हम ब्रह्म कहते है।[4] यह शुद्ध शात स्वरूप है जिसे साख्य पुरुष, वेदाती ब्रह्म, बौद्ध विज्ञानवादी

---

[1] रामास्य मनसो रूप न किंचिदपि दृश्यते। नाम मात्रादृते व्योम्नो, यथा शून्य-जडाकृते। ३ ४ ३८।

[2] पूर्णे पूर्णं प्रसरति शाते शान्त व्यवस्थितम्
व्योमन्येवोदित व्योम ब्रह्मणि ब्रह्म तिष्ठति
न दृश्य अस्ति सद्रूप न द्रष्टा न च दर्शनम्
न शून्य न जड नो चिच्छातमेवेदमाततम्॥ ३ ४ ६९,७०।

[3] ३ ४ ४६।

[4] ३ ५ ६-७।

विज्ञान-मात्र और शून्यवादी पूर्ण शून्य कहते हैं।[1] और यही शून्य मन और बाह्य जगत् में व्याप्त है।[2] इस शून्य की परिभाषा इस तरह से की गई है जो इस प्रकार नहीं दिखाई देता है और जो सबका आधार है अर्थात् जिसमें जगत् स्थित है (यस्मिन् शून्य जगत् स्थितम्) और जो सृष्टि का कारण होते हुए भी शून्य रहता है।[3] मृग-जल अथवा वन्ध्या-पुत्र के समान मायिक दृश्य प्रपंच को पूर्णरूप से असत् ही समझना चाहिए। इस प्रकार परम तत्व न तो सत् है न असत् अपितु वह स्पंदात्मक और अस्पदात्मक दोनो है (स्पदास्पदात्मक)।[4] यह आत्मा अनिर्वचनीय एवं अव्यपदेश है (किमप्यव्यपदेशात्मा), न भाव है न अभाव है, और न भावोऽभाव है तथा न स्पदात्मक और न अस्पदात्मक है (न भावो भवन न न)। योग-वाशिष्ठ दर्शन की लकावतार-सूत्रों से उतनी निश्चित और गहन समानता है कि इस विषय का विस्तृत विवेचन करना आवश्यक नही है और पाठकों का ध्यान वर्तमान कृति की प्रथम पुस्तक मे वर्णित लकावतार-दर्शन की ओर आकृष्ट किया जाता है। वेदात के विषय मे योग-वाशिष्ठ प्रकाशानद-कृत दृष्टि-सृष्टिवाद के समान है जो बाद मे लिखी गई है और जिसका रचना-काल गौडपाद और मडन के समय समझा जाता है। प्रकाशात्मन् योग-वाशिष्ठ को अपने मुख्य आधार ग्रंथो में से एक मानता है।

उत्पत्ति

(प्रपचात्मक-जगत्) न तो पूर्व मे था और न वर्तमान मे है और न भविष्य मे होगा। इस कारण वास्तविक रूप से न तो जगत की उत्पत्ति है और न विनाश।[5] परतु फिर भी दृश्य अवश्य है और इसके मूल मे हमे जाना चाहिए। परम तत्व पूर्ण निवृत्ति मात्र है जैसाकि ऊपर वर्णन किया जा चुका है। इस दृश्य जगत् के व्यक्त होने का क्रम इस प्रकार है कि प्रथम परम तत्व मे स्व सकल्प होता है जिससे अनिर्वच-नीय तत्व प्रकट होता है और उससे अहकार की उत्पत्ति है। उसके स्पदन से एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है जिसको बुद्धि तत्व कह सकते हैं, जो शुद्ध बुद्ध और

[1] नाशरूपो विनाशात्मा ३ ५.१६।

[2] ३ ७ २२।

[3] ३ ६ ५६।

[4] ३ ६ ५६।

[5] वन्ध्यापुत्रव्योमवने यथा न स्त कदाचन।
जगदाद्यखिल दृश्य तथा नास्ति कदाचन।
न चोत्पन्न न च ध्वसि यत् किलादौ न विद्यते।
उत्पत्ति कीदृशी तस्य नाश शब्दस्य का कथा॥ —३ २ ४ ५॥

निरजन है, और जिसमे प्रत्येक वस्तु प्रतिविंवित होती है और इसी तत्व को हम चित्त कहते है। ज्यो-ज्यो स्पदन अधिक घन सम्वेदन होता है त्यो-त्यो जीव के दूसरे विकार उत्पन्न होते हैं। इस सोपान पर वह अपनी परम स्थिति को भूल-सा जाता है और भावना मात्र-सार के रूप मे अपने आप मे से प्रवाहित होने लगता है। प्रथम विषय आकाश है जो शुद्ध शून्य है। उसी क्षण अहता और काल उत्पन्न होता है। यह सृष्टि किसी अर्थ मे भी वास्तविक नही है। परम तत्व के और स्व-समवेदन-मात्र के दृश्य की प्रतीति के अतिरिक्त कुछ नही है। सत् का यह जाल असत् है और सत् की प्रतीति मात्र है। सम्वित् जो आकाश एव अहकार सदृश्य है और जो भावना के गर्भ का बीज है उसी का विकार वायु स्पदन है।[1]

पुन आकाश मे स्पन्दन के फलस्वरूप घनीमय की उत्पत्ति होती है और इससे 'ख' तन्मात्रा उत्पन्न होती है। यही शब्द तन्मात्र सब वेदो की जननी है जिसमे शब्द वाक्य और प्रमाण सम्मिलित है। क्रमश स्पर्श, तेज, रस, गध उत्पन्न होते है और उन्ही से यह सम्पूर्ण दृश्य-प्रपच, जो वस्तुत इसके अतिरिक्त कुछ नही है कि वे बुद्धि तत्व के गर्भ से उत्पन्न हुए। पुन जीव उत्पन्न होता है जिसमे चैत्य सयोग चेतन के केवल सम्पर्क अथवा स्पर्श से ही वाह्य चित्त-शक्ति आई न कि स्वय मे निहित स्व-सचालित चेत्यव से है। इसके पश्चात् मायिक अविद्या उत्पन्न होती है जिसके फलस्वरूप जीव समझने लगता है कि वही चैतन्य कर्त्ता है और इसी कारण चैत्यक से पृथक् है जिसका परिणाम यह होता है कि जीव मे अहकार आ जाता है जो बुद्धित्वाक् कलन के कारण पृथक्-पृथक् तन्मात्राओ का दृश्य प्रपच और जगत् की उत्पत्ति होती है। परन्तु वे सब सर्ग है और इस कारण उनकी वस्तु-स्थिति केवल दृश्य के अतिरिक्त और कुछ नही है। क्योकि उनका गुण केवल विकल्प मात्र है अत वे कभी भी वास्तविक नही हो सकते। जो कुछ प्रतीति का भाव दिखाई दे

---

[1] मन सपद्यते लोल कलनाकलनोन्मुखम्,
कलयती मन शक्ति आदौ भावयति क्षणात्।
आकाशभावनामच्छा, शब्दबीजरसोन्मुखीम्,
ततस्ता घनता जातम् घनस्पदक्रमान्मन। —४ ४४ १६,१७।

ऐसे बहुत से अंशों की तुलना से यह ज्ञात होता है कि प्रत्येक मानसिक सृष्टि भावना मात्र का परिणाम है और विकासशील भावनाओं की क्रम-शृंखला की प्रत्येक यथाक्रम भावना मन कहलाता है। तात्पर्य प्रकाश मे मन का भावानुवाद उपचय के रूप मे किया गया है। भावना और स्पन्द एक ही है, प्रत्येक भावना का परिणाम मन था और प्रत्येक मन के अनुरूप एक पूर्व-निश्चित सृष्टि थी, और प्रत्येक मन के क्रम मे स्पन्द था।

रहा है वह विकल्प के स्पन्दन का परिणाम है। यह इच्छा उत्पन्न होते ही कि 'मुझे देखना है' दो आंखें प्रकट हो गई और ऐसे ही स्पर्श, गध, रस, और श्रवण, की इन्द्रियें बन गई। न तो जीव एक है और न उन्हे अनत कह सकते हैं। केवल ब्रह्म के विकल्प की सर्व शक्तिमत्ता से इतने जीवो का दृश्य जगत् प्रकट होता है। वास्तव मे जीवो का कोई अस्तित्व विकल्प कुछ नही है जिससे कि उनकी प्रतीति होती है। कोई रूप अथवा पदार्थ है ही नही वे केवल चित्त चमत्कार हैं।

इस सिद्धात के अनुसार मनस् शुद्ध चित्त के कार्य के अतिरिक्त कुछ नही है जिसके द्वारा वह अपने-आपको दृश्य के रूप में बाहर निकालती है। यहाँ पर शुद्ध चित्त को हम आध्यात्म कह सकते हैं और उसकी दृश्यता को हम आधिभौतिक कह सकते हैं।[1] दृश्यता मे भी चित्त अपने से अतिरिक्त किसी दूसरे को नही देखता यद्यपि वह अन्य को देखता हुआ सा प्रकट प्रतीत होता है (स्वमेवान्यतयादृष्ट्वा) और इस दृश्य प्रपच का प्रारम्भ अहता से होता है।

यहाँ पर महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि समता मे यह विकार कैसे उत्पन्न हुआ और यह वर्तमान सकल्प विकल्पात्मक जगत् किस तरह से प्रकट हो गया। योग-वाशिष्ठ मे इसका उत्तर यही दिया गया है कि काकतालीय योग के द्वारा यह सब कुछ हो गया। वास्तव मे यह बडी दु खद बात है कि इतनी विचित्र अर्थकरी सृष्टि का उत्पन्न होना केवल आकस्मिक समझा गया है।[2] परब्रह्म के कोई अन्य कारण की सम्भावना की खोज करना अप्रासगिक समझा जाता है।[3]

कर्म, मनस् एवं पदार्थ

इसके अनुसार कर्म मनस् क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नही है। मनस् की क्रियाशील अवस्थाए उनकी पूर्व क्रियाओ पर निर्भर रहती है और आगे की क्रियाओ द्वारा निर्धारित की जाती है। जब कोई विशेष स्थिति आगे आने वाली स्थिति को निश्चित करती है तो वह समझी जाती है, परन्तु क्योकि यह स्थिति पहिले की स्थिति से अर्थात् कर्म से, पैदा होती है तो यह कहा जा सकता है कि कर्म कर्त्ता का जनक है और कर्त्ता फिर अपनी क्रिया से कर्म उत्पन्न करता है। ऐसी अवस्था मे कर्म और

[1] चितो यच्चेत्य कलन तन्मनस्त्वमुदाहृतम् चिद् भागोऽत्राजडोभागो, जाड्यमत्र हि चेतता।–३ ६१ ३७।

[2] –३ ९६ १५ ४ ५४७।

[3] ब्रह्मण कारण किं स्याद् इति वक्तु न युज्यते स्वभावो निर्विशेषत्वात् परो वक्तु न युज्यते।–४ १८ २२।

कर्त्ता परस्पर जनक है, जैसाकि वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष इसी तरह से कर्त्ता से कर्म और कर्म से कर्त्ता का चक्कर चलता रहता है तथा यह निश्चित तौर पर नही कहा जा सकता कि प्रथमत -कर्म हुआ या कर्त्ता ।[1] परन्तु, यदि ऐसा ही है, तो कर्म का उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है और मनुष्य सुख और दुख अपनी वासना के अनुसार भोगता है जिससे वह पैदा होता है। परन्तु यदि कर्त्ता और कर्म की उत्पत्ति एक साथ ही हो तो पूर्व जन्म के कर्म से वर्तमान जन्म निश्चित नही होना चाहिए और इसका अर्थ यह होगा कि मनुष्य के सुख और दु ख उनके कर्मों पर आधारित हैं। श्री रामचद्र के यह प्रश्न प्रस्तुत करने पर वशिष्ठजी कहते है कि कर्म आत्मा के कारण नही होता अपितु मनस् के कारण होता है। मानसिक सकल्प विकल्प से ही कर्म होता है। प्रथमत जब मनस् तत्व सत् के रूप मे ब्रह्म से उत्पन्न होता है तो कर्म भी उसी क्षण आरम्भ हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप आत्मा और शरीर का सबध होते ही वे व्यक्त हो जाते हैं। कर्म और मनस् एक अर्थ मे एक ही वस्तु है। इस जगत् मे क्रिया-स्पदित कर्म कहलाता है और चूँकि मनस् के स्पदन मे क्रियाएँ होती हैं और सुख और दु:ख के भोगो के साथ समस्त शरीर उत्पन्न होते हैं, इसी तरह से जो शरीर, भौतिक स्थूल कर्म से सबधित है वास्तव मे वह मनस् और उसके स्पदन के अतिरिक्त कुछ नही है। मनस् सार रूप से कर्म अथवा स्पदन ही है और स्पदन का बद होना ही मनस् का नाश होना है (कर्मनाशे मनो-नाश)[2] जैसे उष्णता अग्नि से अथवा कृष्णता अजन से पृथक् नही की जा सकती, इसी तरह से स्पदन और क्रिया मनस् से पृथक नही की जा सकती। यदि एक समाप्त होता है तो दूसरा भी आवश्यक रूप से समाप्त हो जाता है। मनस् का अर्थ वह क्रिया है जो भाव और अभाव के बीच स्थित रहती है और अभाव से भाव उत्पन्न करती है, वह स्वाभाविक तौर पर गत्यात्मक है और मनस् के नाम से प्रसिद्ध है। मनस् की इसी क्रिया के द्वारा ज्ञाता-ज्ञेय रहित शुद्ध चैतन्य अहता का रूप धारण करता है। इस तरह मनस् सतत क्रियाशीलता का द्योतक है। कर्म का बीज मनस् स्पदन है और जो क्रियाएँ उसके द्वारा सम्पादित होती है वे वास्तव मे अनन्त है। सदनेगणात्मक मनस् ही कर्मेन्द्रियो का कार्य कहा जा सकता है—जिसमे समस्त क्रियाएँ होती हैं, और इसी कारण से कर्म को मन के अतिरिक्त और कुछ नही माना गया है। मन, बुद्धि, अहकार, चित्त, कर्म, कल्पना, ससृति, वासना, विद्या, प्रयत्न, स्मृति, केवल नामरूप से भिन्न है और इन भिन्न-भिन्न नामो से ही भ्रम उत्पन्न होता है, वास्तव मे वे केवल

---

[1] यथा कर्म च कर्त्ता च पर्यायेणेह सगतौ
कर्मणा क्रियते कर्त्ता कर्त्रा कर्म प्रणीयते
बीजाङ्कुरादिवन्न्यायो लोक वेदोक्त एव स । ३ ९४ । १८-२० ।

[2] ३ ९५ ।

सत् अथवा चित्त की क्रिया के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है अर्थात् एक ही तत्व है। ये भिन्न-भिन्न नाम केवल इसीलिए प्रचलित हुए हैं कि वे एक ही तत्व के भिन्न-भिन्न स्वरूप पर बल देते हैं। ये पृथक् पदार्थ अथवा वस्तुएँ नहीं हैं, केवल भिन्न-भिन्न सोपान, स्वरूप अथवा क्षण हैं। इस तरह चित्त की क्रिया का प्रथम क्षण भिन्न-भिन्न दिशाओं में भटकने वाली चित्त की चेष्टाओं का भाग मात्र कहलाता है। जब भटकने के पश्चात् दो विकल्पों के बीच में यह निर्णय होता है कि 'यह ऐसा ही है' तो यह बुद्धि कहलाती है। जब शरीर और आत्मा के मध्य का भ्रम हो जाता है तो यह व्यक्तित्व का भ्रम अहंकार कहलाता है। जब भूत की स्मृति और भविष्य की आशाओं के साथ विचार-विमर्श का संबंध हो जाता है तो यह चित्त कहलाता है। जब किसी दिशा की ओर स्पन्दन अथवा क्रियाशीलता के अर्थ में क्रिया का वास्तविक रूप समझा जाता है तो यह कर्म कहलाता है। जब, इसकी स्वयं पूर्ण स्थिति छोड़कर यह किसी वस्तु की इच्छा करता है, तो हम इसे कल्पना कहते हैं। जब चित्त का पूर्व दृष्ट अथवा अदृष्ट किसी वस्तु की ओर झुकाव होता है और यह समभता है कि यह पूर्वानुभूत है तो हम उसको स्मृति का नाम देते हैं। जब अति सूक्ष्म तम रूप में भाव उत्पन्न होते हैं और ये अन्य सब भावनाओं को इस तरह से प्रभावित करते हैं जैसे कोई किसी वस्तु में राग अथवा द्वेष अनुभव किए गए हों तो यह वासना कहलाती है। जब यह अनुभूति होती है कि एक ओर आत्म-ज्ञान और दूसरी ओर मिथ्या एवं भ्रमात्मक दृश्य जगत् है तो हम इसे विद्या कहते हैं, अर्थात् आत्म और अनात्म का ज्ञान ही विद्या है। जब यथार्थ-ज्ञान की स्मृति नष्ट हो जाती है और झूठे जगत् प्रपंच का प्रभाव हमारे ऊपर यथार्थ-ज्ञान सवार हो जाता है तो हम उसको मल कहते हैं। पंच ज्ञानेन्द्रियों का कार्य हमें सुखप्रद लगता है और हम उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं चूँकि सम्पूर्ण जगत्-प्रपंच दृश्य की उत्पत्ति एवं आधार इस परम तत्व में है अतः वह प्रकृति कहलाती है। चूँकि यह यथार्थ स्थिति न तो भाव और न अभाव ही हो सकती है और चूँकि इससे अनन्त विसर्ग की उत्पत्ति होती है इसलिए उसे माया कहते हैं।[1] इस तरह वह एक ही दृश्य है जो जीव, मनस्, चित्त और बुद्धि के नामों से प्रचलित है।[2]

इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि यह साधारण प्रकार की दार्शनिक पुस्तक नहीं है, अपितु उसका मुख्य उद्देश्य पाठकों के हृदय में एक ही भाव को विविध प्रकार

[1] ३ ९६ १७ ३१।
[2] ३ ९६ ३४।
जीव इति उच्यते लोके मन इत्यपि कथ्यते।
चित्त इति उच्यते सैव बुद्धिरित्युच्यते तथा।

से उन आख्यानों एवं कविताओं को दोहराकर दृढ़ निश्चय उत्पन्न करने का प्रयत्न है जो महानतम् संस्कृत कवि कालीदास की कविता से निम्न श्रेणी के नहीं हैं।

जगत्-प्रपंच

योग-वाशिष्ठ इस बात की पुनरावृत्ति करते नहीं थकता कि यह जगत् आकाश में वन अथवा कमल तथा शश-शृंग के सदृश है। परम ब्रह्म की स्थिति मनस् की स्थिति से उच्चतर है। मनन् होने से वही ब्रह्म अपने आपको चित्त में परिवर्तित कर देता है और इस तरह से यह परिवर्तनशील प्रतीतियों को उत्पन्न करता है। परन्तु स्वयं ब्रह्म तत्व में कोई अन्य वस्तु नहीं हो सकती। (ब्रह्मतत्वेऽन्यता नास्ति)। यद्यपि मनस् में परिवर्तन होना और उसके द्वारा जगत् प्रपंच की उत्पत्ति होना प्रतीत होता है, परन्तु यह परिवर्तन वास्तविक नहीं अपितु भ्रमात्मक है, क्योंकि इस परिवर्तन की प्रतीति होते हुए तथा स्थित रहते समय भी ब्रह्म अविकारी और अपरिच्छिन्न एवं निर्लेप रहता है। इस तरह सम्पूर्ण दृश्य जगत् ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, एवं जो कुछ प्रतीत हो रहा है उसका अभाव ही है। द्रष्टा अपने आपको दृश्य में कभी परिवर्तित नहीं करता परन्तु अपने आप ही स्वयं समस्त दृश्यों में वही रहता है। परन्तु प्रश्न यह उठता है, कि यदि सृष्टि अथवा विसर्ग मन की भ्रमात्मक कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तो इस जगत् की व्याख्या कैसे की जा सकती है? इस विचारधारा में ऐसे प्रश्न का स्वभाविक उत्तर यही है कि यह व्यवस्था और समता कई लोकों में काल्पनिक उत्पत्तियों की समानता पर एवं आकस्मिक बातों पर निर्भर है। यह आकस्मिक बात है कि कई स्वप्न-क्रम दूसरे स्वप्न-क्रमों से संगति रखते हैं।[1] परंतु वस्तुतः वे सब केवल एक मनस् की ही स्वप्न-रचनाएं हैं। होता यह है कि वासना रूपी स्वप्न द्वारा भौतिक वस्तुऐं धीरे-धीरे अपने से पृथक स्थाई रूप से रहती हुई समझी जाने लगती हैं। यद्यपि स्वप्न के रहते वे वास्तविक प्रतीत होती हैं फिर भी वे इस काल में सिवाय स्वप्न जगत् के और कुछ नहीं है। शुद्ध चैतन्य अपने आप स्वयं को बदलकर जो स्वप्न देखता है, वह ऐसा है कि स्वयं अपने में एक सा होता हुआ भी अन्य स्वयं देश, काल, क्रिया और द्रव्य के रूप में भिन्न-भिन्न सा प्रतीत प्रतिरूप यह जगद्रूप बड़ा भारी स्वप्न के सदृश प्रतीत होता है।

साधारण जागृत स्थिति और स्वप्न स्थिति में अंतर यही है कि जागृतावस्था को हम स्थिर प्रत्यय समझते है और स्वप्नावस्था का हम सामान्यतः कोई स्थाई आधार

---

[1] मेलनमपि स्वकीयपरकीयस्वप्नानां दैवात् क्वचित् संवादवत् स्वान्त कल्पनात्मकमेव।
—योग-वाशिष्ठ तात्पर्य प्रकाश, ४ १८ ४६।

नही समझते । स्थिर रहने वाला कोई भी अनुभव स्वप्न ही समझा नही स्थाई समझा जाता है वरन् यदि हमारे जाग्रत अनुभव परिवर्तनशील समझे जाय तो वे जाग्रति भी अपना स्थायित्व खो देते हैं और हमारा उनमे विश्वास छिन्न-भिन्न हो जाता है । यदि स्वप्न के अनुभव दृढ़ समय तक रहे और जाग्रत अनुभव क्षणिक हो तो जाग्रता-वस्था स्वप्नवत समझी जायगी और स्वप्न के दृश्य स्वप्नावस्था मे साधारण अनुभव समझे जायेगे । केवल जाग्रतावस्था आने पर ही स्वप्न नष्ट होता है और सभी स्वप्नो का बाध होने के कारण मिथ्या समझे जाते है । परन्तु जबतक स्वप्नावस्था मे स्वप्न दिखाई देता रहता है हम उन्हे झूठा नही समझते क्योकि उस समय मे स्वप्न के दृश्य स्थाई प्रतीत होते है और इसी कारण वास्तविक है । इस तरह से जाग्रत अवस्थाओ और स्वप्न अवस्थाओ मे केवल इतना ही अन्तर है कि प्रथम अवस्था आपेक्षिक दृष्टि से स्थिर और चालू रहने वाली है और दूसरी अवस्था अस्थिर और परिवर्तनशील है ।[1]

हमारे अदर एक शुद्ध चैतन्यभाव है जो वस्तुत जीव धातु, वीर्य और तेजस ही है । जागृतावस्था मे जब शरीर का सबध मन, वचन कर्म से होता है तो बुद्धि अपना कार्य करना प्रारभ कर देती है जिसके परिणामस्वरूप सब तरह का सासारिक ज्ञान उत्पन्न होता है और उसके कारण जगत् प्रपच की माया व्यक्त हो जाती है जैसे इद्रियो के गोलको द्वारा बाह्य स्पर्श से कोई वस्तु असर आती है और यही स्थिर एव निश्चित स्वभाव वाली होने से जाग्रत अवस्था कहलाती है । सुषुप्तावस्था वह है जिसमे शरीर मनस्, कर्म अथवा वचन की क्रिया से क्षुब्ध नही होता । बुद्धि शान्त रहती है और उसमे बिना किसी बाह्य अभिव्यक्ति के तिल मे तेल की तरह प्रसुप्तावस्था मे रहती है ।[2] जब जीव-धातु अतिक्षुब्ध हो जाता है तो हमे स्वप्नावस्था के अनुभव होते है । जब कभी मनस् अपने-आप की कोई वृत्ति से पूर्णतया एकत्व स्थापित कर लेता है तो वह अपने-आपको ऐसी ही वृत्ति वाला बना हुआ प्रतीत होता है जैसेकि अग्नि मे लोहे का गोला स्वय अग्नि के समान हो जाता है । मनस् ही पुरुष और विश्व-रूपता (दृश्य) है ।[3] साख्य दर्शन के अनुयायी मनस् को शुद्ध चित्त समझते हैं और उन्होने अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन विस्तारपूर्वक किया है और उनके मत मे साख्य शास्त्र मे बताए गए साधनो के अतिरिक्त किसी अन्य साधन द्वारा मोक्ष-प्राप्ति नही होती । वेदान्त के अनुयायियो का भी यह विचार है कि यदि कोई सम्पूर्ण जगत् को

[1] जाग्रतस्वप्नदशाभेदो न स्थिरास्थिरते विना सम सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयो॰ । स्वप्नोऽपि स्वप्नसमये स्थैर्याज्जाग्रत्व ऋच्छति अस्थैर्यात् जाग्रदेवास्ते स्वप्नस्ता-दृशबोधत । —४ १९ ११ १२ ।

[2] ४ १९ २३ ।

[3] ४ २० ४ ।

ब्रह्म समझे और आत्म सयमक इच्छाओ की निवृत्ति यदि इसी ज्ञान के साथ जोड दें तो मोक्ष सम्भव है। विज्ञानवादियो की यह धारणा है कि यदि पूर्ण इद्रिय दमन एव विषयो की समाप्ति हो जाय और साथ ही उसको यह ज्ञान हो जाय कि जगत्-प्रपच स्वय उसके ही भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नही है अर्थात् मिथ्या है तो वह निर्वाण प्राप्त कर सकता है। इस तरह से प्रत्येक दर्शन मोक्ष के झूठे नियमो को वहुत कुछ वढा चढा कर कहता है और उसका कारण परपरागत गलत विचारधाराएँ ही है। परन्तु इन सव विचारधाराओ के मूल मे सत्य यह है कि मनस् ही अखिल सृष्टि का मूल है। वास्तव मे सुख या दु ख, मधुर अथवा कटु, उष्ण अथवा शीत, स्वत है ही नही, और ऐसी प्रतीतियाँ केवल मन के ऐसा स्वभाव वन जाने से ही होती है जव कोई मान लेता है और पूर्ण श्रद्धा के साथ किसी विशिष्ट विचार मे फस जाता है तो उस समय वह उस वस्तु को उसी विचार से देखना प्रारभ कर देता है।[1]

कर्तृत्व एवं जगत्-प्रपंच की माया

जव कभी सुख अथवा दु ख के कार्य का अथवा पूर्ण इच्छा शक्ति के प्रयोग जैसे कि योग साधन के प्रयोग वाले कार्यो के सवध मे किसी व्यक्ति को जव हम कर्तृत्व प्रधान कहते है तो हम गलती करते हैं क्योकि कर्तृत्व इच्छा एव निश्चय का काम है। अत वह मनस् का आतरिक निश्चय या वासनाभिधान और इच्छाएँ है।[2] विषयो को भोग की ओर ले जाने वाली मनुष्य मे आतरिक क्रिया इन इच्छाओ अथवा वासनाभिधान के अनुसार ही होती है और इससे उसको विशेष रूपो के भोग प्राप्त होते हैं इस तरह से हमारे सार भोग हमारे स्वभाव एव आचार-विचार के स्वाभाविक परिणाम है, और वे ही भोगो के कर्त्ता हैं क्योकि सम्पूर्ण कर्तृत्व हमारे आतरिक इच्छा प्रयत्न मे है। इसके प्रयोग से जो भोग मिलते हैं वह मन के भाव विकारो के अतिरिक्त और कुछ नही है जो इच्छा के क्रियात्मक प्रयोग से उत्पन्न होते है। समस्त कर्म अथवा कर्तृत्व इस तरह मे मूल वासना मे सवधित है और इस कारण ये दोनो उन लोगो के लिए सभव है जो सत्य को नही जानते और जिनके मनस् मूल वासनाओ

[1] न ज्ञेनेह पदार्थेषु, रूपमेकमुदीर्यते।
दृढ भावनया चेतो यद्यथाभावयत्यलम्।
तत् तत् फल तदाकार काल तावत् प्रपश्यति।
न तदस्ति न यत् सत्य न तदस्ति न यन् मृपा।

—४ २१ ५६ ५७।

[2] योऽन्तरस्थाया मनोवृत्तेर्निश्चय उपादेयताप्रत्ययो वासनाभिधानतत्कर्तृत्वशब्दे-नोच्यते।

—४ ३८ २।

से परिपूर्ण रहते हैं। परन्तु जो वासना-रहित है उनका कोई कर्तृत्व अथवा भोक्तृत्व नही हो सकता। निस्सदेह उनका मनस् सदा कर्मशील रहता है और वे स्वय प्रत्येक समय कुछ न कुछ करते ही रहते हैं। परन्तु वासना-रहित होने के कारण उनमे फलासक्ति नही है और उनके कर्म अनासक्तिपूर्वक चलते रहते हैं। जो कुछ मनस् करता है वही होता है, और जो वह नही करता वह नही किया जाता, अत मनस् ही करता है न कि शरीर। जगत् चित्त अथवा मानस से व्यक्त हुआ है, उसी धातु का है, और उसी मे स्थित है। प्रत्येक वस्तु केवल मानसिक है और इसका कोई दूसरा अस्तित्व नही है। अततोगत्वा प्रत्येक वस्तु ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई है क्योकि समस्य शक्तियो का श्रोत वही है, इसलिए सब शक्तिएँ—भाव, अभाव, एकत्व, द्वैत, एव अनत ब्रह्म मे ही प्रतीत होती है और ब्रह्म से ही इनकी उत्पत्ति है। चित्त अथवा मनस् शुद्ध चित्त अथवा ब्रह्म का विकास है जैसा कि उपरोक्त वर्णन मे कहा जा चुका है। ब्रह्म के द्वारा ही कर्म, शक्ति, वासना और सम्पूर्ण मानसिक विकार प्रकट होते हैं। परन्तु यदि प्रत्येक वस्तु ब्रह्म से निकली है तो यह समझ मे नही आता कि जगत् प्रपच अपने स्रोत अर्थात् ब्रह्म से इतना भिन्न क्यो है? जब कोई कार्यकारण से उत्पन्न होता है तो यह आशा करना स्वाभाविक है कि यह दोनो वास्तव मे समान होगे अतएव यदि जगत् या सृष्टि ब्रह्म से उत्पन्न हुई है तो वह ब्रह्म के समान ही होनी चाहिए, परन्तु ब्रह्म निरजन है और सृष्टि शोकानुकूल है, इसका स्पष्टीकरण कैसे हो? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि जिस व्यक्ति को पूर्ण स्वानुभूति हो गई है कि सम्पूर्ण जगत्-प्रपच ब्रह्म के गर्भ से निकला है और उसका कोई अस्तित्व नही है, तो, न तो इस सृष्टि मे कोई शोक रहेगा और न कोई ऐसा गुण रहेगा जो ब्रह्म से भिन्न हो। केवल उसी व्यक्ति की दृष्टि मे जगत् और ब्रह्म के बीच मे महान् अतर प्रतीत होता है जिसने परम तत्व का अनुभव नही किया हो। बिना पूर्ण अनुभूति के ब्रह्म एव सृष्टि के एकत्व का केवल शुष्क ज्ञान सब प्रकार के पापो का कारण है। इस हेतु उस व्यक्ति को सृष्टि और ब्रह्म के एकत्व का उपदेश नही देना चाहिए। जिसने अपने मन को इन्द्रिय-निग्रह और भोगो के प्रति वैराग्य के आवश्यक गुणो द्वारा शुद्ध नही कर लिया हो।[1] यथा इन्द्रजाल मे घट-पट के रूप मे और पट-घट के रूप मे असत् वस्तुओ का प्रत्यक्षीकरण होता है और सत् का निरास हो जाता है, सब तरह के आश्चर्यपूर्ण दृश्य दिखाए जाते हैं और इन प्रतीतियो की स्वय की वस्तु-स्थिति कुछ भी नही होते हुए भी यही उपमा जगत् की उत्पत्ति मनस् से की है। न तो कोई कर्त्ता है और न सम्पूर्ण कोई जगत् के सुख-दुःखो का भोक्ता है और न किसी का कोई विनाश है।[2]

[1] आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्य विशोधयेत्
पश्चात् सर्वं इद ब्रह्म शुद्धस्त्व इति बोधयेत्। —४ ३९ २३।

[2] नात्र कश्चित् कर्त्ता न भोक्ता न विनाशमेति। —४. ३९ ४१।

यद्यपि परम-स्थिति अवाच्य ब्रह्म अथवा चित् है फिर भी सृष्टि एव प्रलय का चक्र मनस् से ही प्रारम्भ होता है। तथाकथित सृष्टि की रचना के प्रारम्भ मे मनस् की क्रिया शक्ति जाग्रत होती है। प्रारम्भ से ही इस शक्ति का प्रवाह गर्भस्थ स्थिति तक पहुँचने का अर्थ मनस् मे शक्ति-सग्रह है जिससे 'घन' कहते हैं और जो स्पदनात्मक मन की अस्पदन स्थिति है। आगे चलकर शक्ति की यह अस्पदनस्थिति शक्ति के आगे के प्रवाह से मिश्रित होती है और परिणामत वह द्वितीय श्रेणी का स्थिर शक्ति सग्रह हो जाता है फिर शक्ति का दूसरा प्रवाह आता है और उससे तीसरी श्रेणी की स्थिर शक्ति वन जाती है। यह क्रम चलता ही रहता है। इस तरह से मनस् सर्ग का रास्ता विचारो की वास्तविक शक्ति एव शक्ति के क्रियात्मक रूप की अतरक्रिया के द्वारा है जो परम सत् की शक्ति के भडार से प्रत्येक कर्मी वहाव से मिश्रित हो जाती है। अत यह कहा जाता है कि मनस् का प्रथम स्पदन आकाश के रूप मे व्यक्त हुआ और इस शक्ति के वहाव के परिणामस्वरूप मनस् मे शक्ति का 'घन' वन गया, और दूसरा स्पदन मनस् मे और हुआ जो पूर्वावस्था के घनशक्ति से विकृत होकर वायु हुआ। इस मनस् की शक्ति के द्वितीय विकार से वायु उत्पन्न होने के वाद क्रम चलता ही रहा और इस तरह के मनस् के वहाव प्रत्येक सोपान पर विकृत होकर घन का वनना घन-स्पद-क्रम कहलाता है।[1] आकाश, वायु, तेज, अप एव पृथ्वी सम्पूर्ण तथाकथित तन्मात्राएँ उपरोक्त क्रम से उत्पन्न होती हैं, और पश्चात् अहकार एव वुद्धि अर्थात् सूक्ष्म शरीर अर्थात् पुयष्टक उत्पन्न होते हैं, तत्पश्चात् ब्रह्म का विराट् स्वरूप मनस् मे निहित वासना के अनुसार वनता है एव विकसित होता है। इस प्रकार हमे पहले आकाश तन्मात्रा और आकाश तन्मात्रा शक्ति के वहाव से वायु तन्मात्रा, फिर आकाश तन्मात्रा वायु तन्मात्रा तीसरी शक्ति के वहाव से तेजस् तन्मात्रा और इसी प्रकार के आगे की तन्मात्रा, तन्मात्राओ अहकार और वुद्धि से हमे अष्ट प्रकार की अर्थात् पाच तन्मात्राएं, अहकार, वुद्धि एव शुद्ध चित्त का सूक्ष्म शरीर वन जाता है, जो ब्रह्म का पुर्यष्टक कहलाता है। [इससे ब्रह्म का शरीर विकसित होता है, ब्रह्म के मनस् द्वारा भौतिक तत्व और सम्पूर्ण जगत् प्रपच की सृष्टि होती है। परन्तु है यह सम्पूर्ण मानसिक खेल, अतएव असत् है, और इसी तरह से समस्त शास्त्र, देवता और देवियें और सव कुछ जो वास्तविक दिखाई देता है वह सव वस्तुत असार है।

जीवनमुक्त के सोपान

योग-वाशिष्ठ के अनुसार मुक्ति मनुष्य के जीवनकाल में अथवा उसकी मृत्यु के पश्चात् प्राप्त हो सकती है, प्रथम मुक्ति सदेह-मुक्तता अथवा जीवन-मुक्ति कहलाती है।

---

[1] ४ ८४ १३, ३०।

जीवन-मुक्त अवस्था वह है जिसमें सत के कोई वासना ([illegible]) नहीं रहती और वह सुषुप्तवत्-सा रहता है। वह आत्मगत रहता है और उसके विचार में किसी वस्तु का भाव नहीं है। उसकी दृष्टि सदा अन्तर्मुखी ही रहती है, यद्यपि वह अपने बहिर्चक्षु से वस्तुओं को देखता है और अपने समस्त कर्मेन्द्रियों की समस्त क्रियाएँ करता रहता है। वह भविष्य की प्रतीक्षा नहीं करता, न वर्तमान में रहता है और न भूत को याद करता है। वह सोता हुआ भी जाग्रत है और जाग्रत भी सुषुप्त है। वह सम्पूर्ण कर्म बाह्य रूप से करता हुआ भी आन्तरिक रूप से उनसे पूर्णतया अप्रभावित रहता है। वह अंतर से समस्त कर्मों को सन्यस्त करता है और अपने लिए कोई इच्छा नही रखता। वह आनद में परिपूर्ण रहता है और इसी कारण साधारण दृष्टि वाले लोगों से साधारण सुखी व्यक्ति दिखाई देता है, परन्तु वह वास्तव मे सब तरह के काम करता हुआ भी अपने आप का कर्तृत्व से मोहित नहीं करता (त्यक्तरकर्तृत्वविभ्रम) अर्थात् उसको कर्ता होने का भ्रम नही होता। उसको द्वेष, शोक, सवेग अथवा सुख के उद्वेग नहीं होते। वह अपने साथ शुद्ध अथवा अशुभ करने वालो के प्रति तटस्थ रहता है, वह प्रत्येक व्यक्ति के साथ अपने स्वय के ढग से सहानुभूतिपूर्ण रुचि दिखाता है, बच्चो के साथ खेलता है, और वृद्धों के साथ गभीर हो जाता है, और युवको का प्रिय सखा बन जाता है, और दुखियो के दुख मे सहानुभूति प्रकट करता है। वह जिस किसी के सपर्क मे आता है उसके साथ बुद्धिमत्ता और प्रेमपूर्वक रोचक व्यवहार करता है। वह अपने शुभ कर्मों मे, भोगो मे, पापो मे, बधन मे अथवा मुक्ति मे कोई रुचि नही दिखाता। उसका सम्पूर्ण जगत् प्रपच के स्रोत एव स्वभाव का सच्चा दार्शनिक ज्ञान होता है और वह शुभाशुभ अथवा तटस्थ भौतिकी घटनाओ मे तटस्थ रहता है। परन्तु उपरोक्त विवरण से यह प्रकट है कि सत मे इस तरह का तटस्थ दृष्टिकोण उसको विरक्त एव दृढ विचार-युक्त होने के कारण असंसारी नही बनाता, क्योंकि वह स्वय अपने अदर रत रहता हुआ एव प्रत्येक तरह से अप्रभावित रहता हुआ दूसरो के आनद मे भागीदार हो सकता है, और दुखियो के दुख मे सहानुभूति रख सकता है तथा बच्चे के सदृश खेल सकता है।[1]

जीवन-मुक्ति शकर भी सम्भव मानते हैं यद्यपि उन्होंने अपने ब्रह्म सूत्रो मे इस शब्द का प्रयोग नही किया है। इस तरह से छादोग्य (६-१४-२) के आधार पर वह लिखते हैं कि ज्ञान से केवल उन्ही कर्मों का नाश होता है जिनका भोग प्रारभ मे नही हुआ है, जिन कर्मों का भोग प्रारभ हो गया है उनका नाश सच्चे ज्ञान से भी नही हो सकता, और इस तरह से किसी के लिए शुभ अथवा अशुभ कर्मों के फल से छुटकारा पाना असभव है, और यह मानना ही पडेगा कि सच्चे ज्ञान के उदय होने के पश्चात्

---

[1] ५ ७७।

भी उन प्रारब्ध भोग के हेतु शरीर रहता है जिनका कि फल प्रारभ हो गया है और उनका क्षय भोग अथवा दुःख के द्वारा नही हुआ है। ऐसी स्थिति के स्पष्टीकरण मे शकर दो उपमाओ का उपभोग करते हैं (१) निर्मित होने वाले घडे के पूर्ण हो जाने पर भी जैसे कुम्हार की चाक चलती ही रहती है, इसी तरह से शरीर जो कि शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति तक आवश्यक होता है, ऐसे ज्ञान के उदय होने के पश्चात् भी कुछ समय तक चालू रहता है। (२) जैसे कि आँख का रोगी यह निश्चय होने पर भी कि चद्र दो नही है अपितु एक है, एक की अपेक्षा दो चद्र देखता है इसी तरह से जीवनमुक्त को जगत्-प्रपच की असत्यता की दृढ प्रतीति होने पर भी वह माया का दृश्य देखता रहता है यद्यपि वह अतर मे उससे अप्रभावित रहता है।[1] उपनिषदो मे केवल उत्तरकालीन मुक्तिक उपनिषद मे, जिसने योग-वाशिष्ठ से प्रेरणा ली प्रतीत होती है, जीवन-मुक्त शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ वह सत है जो प्रारब्ध कर्म के भोग क्षय होने तक जीवित रहते हैं।[2] परन्तु यद्यपि उपरोक्त शब्द का प्रयोग नही हुआ है फिर भी इसके सम्बन्ध मे मान्यता अत्यन्त पुरानी प्रतीत होती है।

श्रीमद्भगवद्-गीता मे स्थित प्रज्ञ का विवरण हमे जीवन्मुक्त सत की अवस्था की याद दिलाता है। स्थित प्रज्ञ के कोई वासना नही होती, वह आत्मरत रहता है, न तो उसके आसक्ति है न भय है और न क्रोध, वह दुःखो से विचलित नही होता और न सुख की स्पृहा करता है, वह पूर्णतया राग-द्वेष से विवर्जित रहता है। जैसे कछुआ अपनी इन्द्रियो को अदर खीच लेता है इसी प्रकार वह विषयो से अपने आपको अलग रखता है।[3] श्रीमद्भगवद्-गीता का उपरोक्त भाव योग-वाशिष्ठ मे भी अपने स्वय के ढग से उल्लिखित है।[4] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है योग वाशिष्ठ का जीवन-मुक्त गीता के स्थित-प्रज्ञ से ऊँचा इस अर्थ मे रख दिया गया है कि यह जीवन्मुक्त पुण्य एव पाप के परिणाम के फलस्वरूप सुख-दुःख से पूर्णत अप्रभावित रहता हुआ भी हम से बिल्कुल विरक्त नही है क्योकि अपने स्वय के कल्याण मे वह रुची न रखता हुआ भी दूसरो के सुख मे सुखी एव दूसरो के दुःख मे सहानुभूति रखता है, वह बच्चे के सदृश आनद मना सकता है जबकि बच्चो के साथ हो, और जब दार्शनिक अथवा वृद्धो के साथ हो तो उतना ही गभीर हो सकता है जितना कि अन्य दार्शनिक। श्रीमद्भगवद्गीता का कहना यह नही है ऐसे गुण स्थित प्रज्ञ मे नही है, फिर भी उनका उल्लेख वहाँ नही किया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि उसमे जीवन्मुक्त के विरक्त और निवृत्ति

---

[1] शकर का ब्रह्मसूत्र, ४ १ १५ १९।
[2] मुक्तिक उपनिषद्, १ ४२ ११ ३३ ३५ ७६ भी।
[3] श्रीमद्भगवद्गीता, २ ५५ ५८।
[4] वही, २ ५५–५८।

प्रधान दृष्टि पर ही बल दिया गया है, जबकि योगवाशिष्ठ ने, जैसा कि हम ऊपर कह चुके है, जीवन्मुक्त मन के निवृत्ति और प्रवृत्ति, दोनो पक्षो पर बल दिया है। वह पूर्णत असप्रभावित रहते हुए भी समाज मे विरक्त नही है और अपने मानसिक सतुलन को किसी तरह से खोए बिना भी प्रत्येक प्रवृत्ति मे भाग लेता हुआ प्रतीत होता है। गीता सदा निश्चित रूप से अनासक्त योगी के लिए भी शुभ कर्म करने का विधान करती है, परन्तु उसमे यह कमी दिखाई देती है कि जीवन मे सबके साथ पूर्ण और उचित रुचि लेने का आदेश नही है यद्यपि योगी सब कुछ करता हुआ भी पूर्णत अतर मे अप्रभावित रहता है।

योगवाशिष्ठ मे जीवन्मुक्त स्वय अपने कर्म ही अनासक्त होकर नही करता अपितु प्रत्यक्षत दूसरो के सुख दुख मे भागीदार हो जाता है।

यह प्रश्न कि जीवन्मुक्त स्वय अपने कर्मो के अशुभ फल से ऊपर रहता है या नही, बौद्ध दर्शन मे भी उठाया गया था। इस प्रकार हमे कथावत्थु मे यह विवरण मिलता है कि योगी की हत्या सही काल के पूर्व हो सकती है या नही और यह भी कहा गया है कि किसी को निर्वाण की प्राप्ति सचित इच्छित कर्म के फल-भोग के बिना नही हो सकती।[1] धम्मपद भाष्य (बलिगम्) के अनुसार लगभग ४५० ई०पू०) मे एक आख्यान है कि महासत मोगोदग्नाना के चोरो ने टुकडे-टुकडे कर दिए और उसकी हड्डियो को पीसकर चावल के दाने के समान छोटे बना दिए, ऐसे महान् सत की इतनी दुखद मृत्यु से उनके शिष्यो मे स्वाभाविक रूप से सशय उत्पन्न हुआ और इसका स्पष्टीकरण बुद्ध भगवान ने इस तरह किया कि उसने पूर्व जन्म मे जो हत्या का अपराध किया था वही ऐसी मृत्यु का कारण था, यद्यपि उसने अर्हत्व उसी जन्म मे प्राप्त कर लिया था फिर भी वह परिपक्व होने वाले अपने पापो के फल से बच नही सका।[2] इसका अर्थ यह हुआ कि योगत्व का अर्थ शरीर का नाश नही है और योगत्व प्राप्त करने के पश्चात् भी प्रारब्ध-कर्मो के फल भोगने के हेतु स्थित रहता है।

भिन्न-भिन्न भारतीय दर्शन जीवन मुक्त-अवस्था की सम्भावना के सम्बन्ध मे मतैक्य नही है। इस प्रकार न्याय दर्शन के अनुसार अपवर्ग केवल उसी अवस्था मे सम्भव है जब जीवन सब प्रकार के नौ भावो (अर्थात् सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान प्रयत्न, पुण्य, पाप और वासना) से पूर्णत छुटकारा प्राप्त कर ले। जब तक वस्तुत यह विलगता नही हो तबतक मुक्ति सम्भव नही हो सकती और यह मानना कठिन

---

[1] कथा-वत्थु, १७ २।

[2] ई० डब्ल्यू० बर्लिगेम्स कृत बौद्ध-आख्यान, द्वितीय खड, पृ० ३०४, वही आख्यान जातक की भूमिका मे ५२२ दोहराया गया है।

नही है कि यह मृत्यु के बाद भी सम्भव हो सकता है, अत मोक्ष शरीर जीवित रहने तक सम्भव नही है ।[1] इस विषय का विवेचन वात्स्यायन ने न्याय सूत्र ४,२,४२-४५ में निम्न प्रकार से किया है कि बाह्य वस्तुश्रो का इन्द्रियो द्वारा ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है क्योकि अपवर्ग मे जीव शरीर से और सब इन्द्रियों से पृथक् हो जाता है, अतः ज्ञान सम्भव नही है, और ज्ञान के नष्ट होने पर दु ख की भी आत्यन्तिक एव पूर्ण निवृत्ति हो जाती है ।[2] वैशेषिको ने उसी मत को मान्यता दी है । श्रीहर्ष कहते हैं कि, जब परमार्थ दर्शन द्वारा सम्पूर्ण पुण्य समाप्त हो जाता है, तब जीव पुण्य और पाप के बीजो को दग्ध कर देता है जो शरीर एव इन्द्रियां इत्यादि का कारण है और वर्तमान शरीर पुण्य और पाप के भोगो को भोग के द्वारा क्षय करने से समाप्त हो जाता है और कर्म के बीजो के दग्ध हो जाने से नया शरीर उत्पन्न होना सम्भव नहीं है, इसलिए शरीर का नाश हो जाता है, जैसेकि सम्पूर्ण समिधा जलने से अग्नि समाप्त हो जाती है, और ऐसी शरीर की नित्य अनुत्पत्ति को मोक्ष कहा जाता है ।[3]

प्रभाकर का भी यही मत प्रतीत होता है । इस तरह शालिकनाथ अपने प्रकरण-पचिका मे प्रभाकर के मत का विवेचन करते हुए कहते हैं कि शरीर का पुण्य और पाप के भोग-क्षय से अन्तत पूर्ण समाप्त हो जाना ही मोक्ष है ।[4] यह कठिन प्रश्न प्रस्तुत किया गया है कि अनादिकाल से सचित कर्मो के सुख-दु ख रूपी भोगो का क्षय सम्भव नही है, जगत् के दु ख मिश्रित दु ख और सुख से विरक्त होने के कारण वह मोक्ष के लिए यत्न करता है, और इसी हेतु वैदिक विधान से निषिद्ध उन

---

[1] तदेवनवाना आत्म गुणाना निर्मूलोच्छेदोऽपवर्गः ।
तदेवेद उक्त भवति तदत्यन्त वियोगोऽपवर्ग' ॥

—न्याय-मजरी, पृ० ५०८ ।

[2] यस्मात् सर्वदु खबीज सर्वदु खायतन चापवर्ग ।
विच्छिद्यते तस्मात् सर्वेण दु खेन विमुक्ति,
अपवर्गो नो निर्बीज निरायतन च दुख उत्पद्यते ।

—न्यायसूत्र पर वात्स्यायन, ४ २ ४ ३ ।

[3] यथा दग्धेन्धनस्यानलस्योपशम पुनरनुत्पाद एव पुन शरीरानुत्पादो मोक्षः ।

—न्याय-कदली, पृ० २८३ ।

[4] आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निश्शेप धर्माधर्मपरीक्षस्यनिबधनो मोक्ष इति ।

—प्रकरण-पचिका, पृ० १५६ ।

प्रशस्तपाद ने भी लिखा है तदा निरोधात् निर्बीजस्यात्मन शरीरादिनिवृत्ति पुन शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवद् उपशमो मोक्ष इति ।

प्रशस्तपादभाष्य, पृ० २८२ ।

कर्मों को करने से अपने-आपको रोकता है, जो पापयुक्त हैं, वह पूर्वजन्म के शुभाशुभ फलो कर्मों का भोग एव दु ख के द्वारा क्षय कर देता है, वही यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है, और उन सात्विक शान्ति, इन्द्रिय निग्रह, और ब्रह्मचर्य के नैतिक गुणो से सम्पन्न होकर अत मे अपने कर्मो के नि शेप कर्माशय को समाप्त कर देता है और मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है।[1] निस्सदेह यह दृष्टिकोण इस जीवन मे इतनी उच्च अवस्था का विवेचन है जबकि कोई नए कर्मों का सचय नही होता, परन्तु इस अवस्था को भी जीवन्मुक्त की अवस्था नही कहा गया है, क्योंकि इस मत के अनुसार मोक्ष निरपेक्ष एव शरीर की अतत अनुत्पत्ति ही है।

साख्यकारिका का मत है कि जब सम्यक् ज्ञान का अधिगम हो जाता है और जब उसके परिणामस्वरूप अनादि-काल से सचित कोई भी कर्मो के नियत विपाक फल भोगने के हेतु परिपक्व हो गए है तो शरीर केवल अनादि अविद्या के अनुयोग के कारण स्थित भले ही रहे, जैसेकि कुम्भकार का चक्र कार्य समाप्त करने के पश्चात् भी गतिमात्रा प्राप्त कर लेने के फलस्वरूप गतिमान रहता है।[2]

जीवन्मुक्त शब्द का न तो कारिका मे न तत्व-कौमुदि मे और न तत्व विभाकर मे ही प्रयोग किया गया है। साख्य-सूत्र इस शब्द का प्रयोग उसी आधार पर करता है जैसाकि वाचस्पति। साख्य-सूत्र और विशेपकर प्रवचन-भाष्य, मद विवेक, मध्य विवेक, एव विवेक-निष्पत्ति का त्रिविध सामान्य प्रत्यय प्रस्तुत करता है।[3] मद-विवेक का सोपान वह है जिसमे साधक ने प्रकृति एव पुरुष मे भेद का अभीष्ट ज्ञान प्राप्त नही किया परन्तु उसके लिए प्रयत्न कर रहा है, मध्य विवेक वह सोपान है जो जीवन्मुक्त की अवस्था है। परन्तु यह असप्रज्ञात अवस्था है अर्थात् वह अवस्था जिसमे ज्ञाता-ज्ञेय का ज्ञान और पूर्ण विवेक है। अन्तिम सोपान विवेक निष्पत्ति असप्रज्ञात अवस्था है जिसमे ज्ञाता-ज्ञेय का कोई ज्ञान नही है, अत इस अवस्था मे पुरुष पर (प्रारब्ध कर्मो के कारण) सुख अथवा दु खो का कोई प्रभाव नही होता।

---

[1] वही, पृ० १५७।

[2] साख्य-कारिका, ६७,६८। यहाँ तत्व कौमुदी अपना मन्तव्य छादोग्यउपनिषद् ६ १४ २ पर आधारित करने का प्रयत्न करती हैं जैसाकि शकर ने ब्रह्म सूत्र भाष्य पर किया। वशीधर मिश्र कृत तत्व विभाकर वाचस्पति कृत तत्व कौमुदी पर टीका करते हुए मुण्डक उपनिषद्, ११ २ ८ को और श्रीमद्भगवत्गीता ४,३३ को भी अपनी पुष्टि मे उद्धृत करते हैं। योग-वाशिष्ठ से तुलना कीजिए घना व वासना यस्य पुनर्जननवर्जिता।

[3] साख्य-सूत्र ३ ७७-८३।

इस विषय मे साख्य के सामान्य सिद्धान्तो से योग भी मतैक्य है। जो व्यक्ति मोक्ष की स्थिति के निकट पहुँच जाता है उसके अन्दर आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे कोई सशय नही रहते, और वह आत्मा स्वरूप मे पुन स्थित होना एव अपने को अपने सत्व से बिल्कुल भिन्न समझना प्रारम्भ कर देता है, परन्तु पुराने सस्कारो एव वासनाओं की सडी हुई जडो के स्थित रहने के फलस्वरूप शुद्ध विवेक के प्रवाह मे अन्य साधारण ज्ञानात्मक अवस्थाएँ उत्पन्न हो जाती हैं तथा 'मैं हूँ', 'मेरा', 'मैं ज्ञाता हूँ', 'मैं ज्ञाता नही हूँ', फिर भी पुराने सस्कारो के पहले ही दग्ध हो जाने से ये उपरोक्त आकस्मिक साधारण भाव नये सस्कार उत्पन्न -नही कर सकते। ज्ञान सस्कार फिर भी रहते हैं जबतक कि चित्त का पूर्णत॰ नाश नही हो जाय। वस्तु-स्थिति यह है कि अवचेतन सस्कारो के जगत् मे बीजो का नाश हो जाने से एव साधारण ज्ञानात्मक अवस्थाओं की कभी-कभी प्रतीति केवल उन कुछ पुराने सस्कारो का शेष होने मे जिनकी जडें पहले मे ही जल चुकी हैं, वे कोई नये सस्कार उत्पन्न नही कर सकते और इस प्रकार वे योगी के बन्ध कारण नहीं हो सकते। इस अवस्था की प्रगति के साथ-साथ साधु का एकाग्रता के साधनो की ओर कोई झुकाव नहीं रहता, और केवल विवेक ही रह जाता है, समाधि की यह अवस्था धर्म-मेघ कहलाती है। इस सोपान पर अविद्या एव अन्य दु खो के बीज पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं और ऐसी स्थिति मे योगी जीवित रहता हुआ भी विमुक्त रहता है। इसके आगे का सोपान कैवल्य की अवस्था है जबकि चित्त प्रकृति मे लय हो जाता है और फिर पुरुष को प्राप्त नही होता।[1]

उत्तरकालीन लेखको मे विद्यारण्य ने इस विषय पर एक जीवन-मुक्ति-विवेक नामक ग्रन्थ लिखा।[2] इसके पाँच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय मे उन ऋषियो का विवेचन है जो जीवन्मुक्ति की पुष्टि करते हैं, दूसरे मे वासनाओ के नाश के सम्बन्ध मे, तीसरे मे मनस् के नाश का विवरण है, चौथे मे जीवन्मुक्ति के उद्देश्य के सम्बन्ध मे, और पाचवी उन सतो के स्वभाव एव लक्षणों के सम्बन्ध मे है जिन्होने विद्वत्-सन्यास द्वारा जीवनमुक्ति प्राप्त कर ली है, और जीवित रहते हुए भी ससार से उपरामता प्राप्त कर ली है। यह पुस्तक कई भिन्न-भिन्न श्रोतो का सग्रह मात्र है, न कि विषय के गहन दार्शनिक विवेचन की पुस्तक। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक

---

[1] योग-सूत्र एव व्यास-भाष्य, ४.२९-३२।

[2] यह विद्यारण्य पचदशी के लेखक विद्यारण्य से बाद के प्रतीत होते हैं—क्योंकि पचदशी के ब्रह्मानन्द अध्याय से उद्धरण इसमे पाए जाते हैं (अ० पृ० १९५, १९६ चौखम्बा आवृत्ति) अत पचदशी के विद्यारण्य और जीवन्मुक्ति के विद्यारण्य को इस वर्तमान कृति के प्रथम खड मे (पृ० ४१९) एक मान लेना त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है।

का मुख्य प्रेरक योग-वाशिष्ठ है, यद्यपि वह दूसरे कई ग्रन्थो मे उपयुक्त अशो का उल्लेख करते है, यथा वृहदारण्यक उपनिषद, मैत्रेयी ब्राह्मण, कहोल ब्राह्मण, शारीर-ब्राह्मण, जाबाल ब्राह्मण, कथावल्ली, गीता, भागवत्, बृहस्पति-स्मृति, सूत सहिता, गौड-पाद-कारिका, शाकर-भाष्य, ब्रह्म-सूत्र, पचपादिका, विष्णु पुराण, तैत्तिरीय-ब्राह्मण, योग सूत्र, नैष्कर्म्य-सिद्धि, कौशिताकि, पचदशी, अतर्यामीब्राह्मण, व्यास-भाष्य, ब्रह्म-उपनिषद, कौशिताकि, यम के ग्रन्थ, पाराशर, बोधायन, मेधातिथि, विश्वरूप आचार्य इत्यादि ।

उसके विचार मे विरक्ति दो प्रकार की है, तीव्र और तीव्रतर । तीव्र विरक्ति वह है जिसमे व्यक्ति इस जन्म में किसी वस्तु की इच्छा नही करता और तीव्रतर विरक्ति वह है जिसमे मनुष्य पुनर्जन्मो की इच्छाएँ बिल्कुल नही करता ।[1] विद्यारण्य ने बहुत से ग्रन्थो का उल्लेख करके यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि सन्यास दो भिन्न-भिन्न श्रेणियो का होता है यद्यपि एक का विकास दूसरे मे हो जाता है ।[2]

जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध मे विद्यारण्य योग-वाशिष्ठ के मत को मानते हैं, यद्यपि वे अन्य शास्त्र विदेह-मुक्ति के विषय मे भी योग-वाशिष्ठ के उद्धरणो द्वारा उसकी पुष्टि करते है । जीवनमुक्ति, वासनाक्षय, तत्व-ज्ञान, एव मन नाश का सीधा परिणाम है । फिर भी विद्यारण्य के मत मे स्थिर तत्व-ज्ञान के कारण भावो एव आसक्ति से जीवन्मुक्त की कोई हानि नही हो सकती जैसेकि नाग की विषग्रन्थि को निकालने के पश्चात् काटने पर भी वह कोई हानि नही कर सकता । इस तरह से याज्ञवल्क्य का उदाहरण देते हैं जिसने शाप देकर शाकल्य को मार दिया परन्तु उससे उसे कोई पाप नही लगा क्योकि वह जीवन्मुक्त था और जगत् की असत्यता के सम्बन्ध मे उसको

[1] यदि सन्यासी की साधारण इच्छाएँ हैं तो वह हस कहलाता है, यदि वह मोक्ष की इच्छा करता है तो वह परमहस कहलाता है । पारशर-स्मृति मे उनका आचार विधान का वर्णन है । 'जीवन्मुक्ति-विवेक १—११' । जब व्यक्ति परम ज्ञान के हेतु ससार त्याग करता है तो वह विविदिशा-सन्यास कहलाता है, जो विद्वत्-सन्यास से भिन्न है क्योकि इसमे तत्व ज्ञान होता है । उत्तरकालीन सन्यास उनके सबध मे है जो जीवन्मुक्त हो गए हैं ।

[2] विद्यारण्य यह लिखते है कि आरुणिकोपनिषद मे विविदिशा सन्यॉस के आचार का विवरण है जिसमे एक दण्ड तथा एक कौपीन साथ रखने और आरण्यको और उपनिषदो को दुहराने का विधान है परन्तु परम हसोत्पनिषद् विद्वत् सन्यास के आचरण का विवरण प्रदान करता है जिसमे उपनिषदो को दोहराना आवश्यक नही बताया गया है क्योकि वह व्यक्ति अपने ब्रह्म ज्ञान मे स्थिर है । इस तरह से दो प्रकार के सन्यास के अन्तिम सोपानो का भेद ज्ञात होता है ।

दृढ ज्ञान हो गया था । अत उसका क्रोध यथार्थ एव वासना से युक्त नहीं था अपितु आभास मात्र था ।[1]

पौरुष शक्ति

योग-वाशिष्ठ की विशेष देन यह है कि वह पुरुषार्थ एव उसकी महान् सभावनाओ और उसके प्रारब्ध कर्म के बधन इत्यादि को नाश करने की उसकी शक्ति पर विशेष बल देता है । योग-वाशिष्ठ मे पौरुष की परिभाषा साधु-उपादिष्ट-मार्ग मे मानसिक एव भौतिक प्रयत्न के रूप मे दी गई है क्योकि केवल ऐसे कर्म ही सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं ।[2] यदि व्यक्ति किसी वस्तु की इच्छा करे एव ठीक ढग से प्रयत्न करे तो वह वस्तु प्राप्त कर सकता है यदि वह बीच मे से ही न मुड जाय ।[3] पौरुष दो प्रकार का है—प्राक्तन् अर्थात् पूर्वजन्म का एव ऐहिक अर्थात् इस जन्म का है, और पूर्व पौरुष वर्तमान पौरुष मे दबाया जा सकता है ।[4] पूर्व जन्म के कर्म और इस वर्तमान जन्म के कर्म मे सदा सघर्ष होता रहता है और प्रथम या द्वितीय अपनी शक्ति के अनुसार विजय प्राप्त करता है । केवल इतना ही नही है अपितु एक व्यक्ति के प्रयत्न दूसरे व्यक्ति के विरोधी प्रयत्नो से टकराते हैं और इन दोनो मे से भी जीत अधिक शक्तिशाली की होती है ।[5] दृढ निश्चय और पौरुष के शक्तिशाली साधन से इस जन्म के प्रयत्न प्रारब्ध के प्रभाव को समाप्त कर सकते हैं । इस विचार धारा को मन मे निकालना पड़ेगा कि प्रारब्ध का प्रभाव मनुष्य को चाहे जिस प्रकार से घुमा सकता है, क्योकि दैनिक क्रियमाण कर्मों के प्रत्यक्ष प्रभाव से प्रारब्ध के प्रभाव किसी भी अवस्था मे अधिक शक्तिशाली नही हो सकते ।

सम्पूर्ण प्रयत्न शास्त्रो के आदेशानुसार होने चाहिए । नि सन्देह मानव प्रयत्नो की एक सीमा है जिससे आगे जाना सभव नही है, अत शास्त्रो के आदेशो को मानकर सन्मित्रो के सग द्वारा, और सदाचार का अनुसरण करके प्रयत्नो में उचित मितव्ययता का पालन करना आवश्यक है, क्योंकि शास्त्र विरुद्ध अनिश्चित अथवा गलत दिशा

---

[1] जीवन्मुक्ति-विवेक, पृ० १८३–१८६ ।

[2] साधूपदिष्टमार्गेण यन्मनोऽङ्गविचेष्टितम् ।
तत् पौरुषं तत् सफलमन्यदुन्मत्तचेष्टितम् ॥ —योग-वाशिष्ठ, ४ ।

[3] यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं चेहते क्रमात् ।
अवश्यं स तमाप्नोति न चेदर्धान्निवर्तते ॥ —वही, ११ ४ १२ ।

[4] वही, ११ ४ १७ ।

[5] वही, ११ ४ ५३ ।

में किए गए प्रयत्नों का शुभ फल नहीं हो सकता।[1] यदि व्यक्ति अपना पौरुष करे और शास्त्रानुसार प्रयत्न करे तो सफलता निश्चित है। दैव का प्रभाव अधिक नहीं मानना चाहिए। हमारा क्रियमाण कर्म की शक्ति से सम्बन्ध रखता है जबकि पूर्व जन्मों के कर्मों की शक्ति को श्रेष्ठ प्रयत्नों द्वारा क्षय किया जा सकता है अर्थात् क्रियमाण कर्मों के बिना प्रयत्न अशुभ परिणाम सम्भव है। जब कभी सत्कार्य प्रयत्न किया जाय एवं महान् शक्ति का प्रयोग हो तो विजय निश्चित है। पूर्व जन्म का दैव अथवा इस जन्म का पौरुष अधिक बलवान है, यह प्रश्न इन दोनों की आपेक्षिक शक्ति पर निर्भर करता है, और दैव का वह भाग जो क्रियमाण से निर्बल है वह स्वाभाविक रूप से समाप्त होता है। जो केवल प्रारब्ध की ही सर्वाधीनता स्वीकार करने के परिणाम-स्वरूप अशुभ प्रारब्ध को मिटाने का उचित प्रयत्न नहीं करता वह व्यक्ति पशु के समान दैव अथवा ईश्वर की दया पर निर्भर रहता है जो उसे स्वर्ग अथवा नरक में ले जा सकती है। तथाकथित प्रारब्ध अथवा दैव की शक्ति को समाप्त करना एवं जीवन के परम पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिए अविराम प्रयत्न करना ही सम्पूर्ण प्रयत्नों एव साधनों का उद्देश्य है।

योग-वाशिष्ठ केवल यही नहीं कहता कि पौरुष दैव को जीत कर समाप्त कर सकता है अपितु वह दैव के अस्तित्व को ही नहीं मानता और उसको केवल इन्द्रजाल कहता है जिसका वस्तुत भाव ही नहीं है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रयत्न एव साधन समवित् स्पन्द मन स्पन्द एव ऐन्द्रिय स्पन्द के रूप मे व्यक्त होते हैं। समवित्-स्पद के पश्चात् चेतत् स्पन्द होता है, और शारीरिक क्रिया उसी के अनुसार होती है और वैसे ही सुख और दुःख का भोग होता है। यदि यह मत सत्य है तो दैव कही नही दिखाई देता। वास्तव मे कोई दैव है ही नही, और जब कोई कभी सफलता मिली है तो वह सदा पुरुषार्थ के सतत महान् प्रयत्न से मिली है, चाहे वह स्वय एकान्तिक हो अथवा शास्त्र के अनुसार या गुरु के आदेशानुसार हो।[2] हम सब का यह कर्त्तव्य है कि शुभ के लिए प्रयत्नशील रहे और अशुभ से अपने मन को दूर हटालें। जितने भी प्रमाण हमे उपलब्ध हो उनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि पुरुषार्थ एव प्रयत्न से ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है और केवल दैव पगु हैं, खाने के प्रयत्न से ही भूख की तृप्ति होती है, और वाणी के प्रयत्न से ही शब्द निकलता है, एव पैरो के प्रयत्न और इसी के अनुसार मास पेशियो के स्पदन द्वारा मनुष्य चल सकता है। इस तरह से प्रत्येक वस्तु पर प्रभाव प्रयत्न का पडता है जब वह शास्त्र की सहायता से एव गुरु

---

[1] स च सच्छास्त्रसत्सगसदाचारैर्निज फलम्।
ददातीति स्वभावोऽय अन्यथा नार्थसिद्धये॥ —वही, २ ५. २५।

[2] शास्त्रतो गुरुतश्चैव स्वतश्चेति त्रिसिद्धय।
सर्वत्र पुरुषार्थस्य न दैवस्य कदाचन। —योग-वाशिष्ठ, २ ७ ११।

के आदेश से किया जाय। जो दैव कहलाता है वह केवल इन्द्रजाल है, न तो किसी ने इसका कभी अनुभव किया है, और न किसी इन्द्रियों के द्वारा इसका उपयोग हुआ है, और प्रयत्न के स्वरूपतः स्पद होने के कारण निराकार निर्जीव तथाकथित दैव से ऐसा स्पद हो नहीं सकता जो केवल मायावी है, और कभी प्रमाणित नहीं हो सकता। प्रयत्न साकार है और प्रत्यक्ष है, ऐसी स्थिति मे यदि यह मान भी लिया जाय कि दैव है, तो भी यह कैसे माना जा सकता है कि यह तथाकथित अमूर्त तत्व उसके सम्पर्क मे कैसे आया? केवल मूर्ख ही दैव के अस्तित्व को मानते हैं, और उस पर निर्भर रहते हैं और अपना विनाश करते हैं, परन्तु जो वीर है, विद्वान् एव बुद्धिमान् है, वे अपनी परम गति को अपने पुरुषार्थ एव प्रयत्न से प्राप्त कर लेते हैं।[1] श्रीराम वसिष्ठ से २ ६ मे कहते हैं कि सब लोगों मे दैव की मान्यता है, और वह प्रश्न करते हैं कि यदि इसका अस्तित्व नहीं है तो लोगों ने इसको कैसे माना और यह कि आखिर इसका अर्थ क्या है? इसके उत्तर मे श्री वसिष्ठ कहते हैं कि जब कभी पुरुषार्थ फलवती होती है अथवा विफल हो जाती है एव शुभ अथवा अशुभ परिणाम निकलता है तो लोग उसे दैव कह देते हैं। परन्तु कोई दैव नहीं है, वह केवल शून्य है और न तो वह किसी तरह से किसी का सहायक हो सकता है न बाधक। कोई कार्य प्रारम्भ करते वक्त लोगों के मनस् मे एक विचार, एक निश्चय होता है, और उसको कार्यरूप मे परिणत करने के परिणामस्वरूप या तो सफलता होती है या विफलता, और साधारण लोग इस सम्पूर्ण कार्य को दैव ने होना कह देते हैं जो केवल नाम एव सान्त्वना-सूचक शब्द ही है। पूर्व की वासना कर्म मे परिवर्तित होती है। प्रत्येक व्यक्ति वासना के अनुसार कार्य करता है और वासना के द्वारा ही इच्छित वस्तु प्राप्त करता है। वासना एव कर्म एक ही तत्व की परोक्ष एव प्रत्यक्ष अवस्थाए सी हैं। दैव कर्मों का दूसरा नाम ही है जो फल भोग की तीव्र इच्छा से किए गए हैं, इस तरह से कर्म वासना के समान, और वासना मनस् के समान, और मनस् पुरुष अथवा कर्त्ता के समान है, अतएव दैव पुरुष से पृथक् कोई तत्व नहीं है, और वे सब एक ही दुर्निश्चय तत्व के पर्यायवाची हैं। जो कुछ मनस् करने का प्रयत्न करता है वह स्वय ही करता है, जोकि दैव के द्वारा किया हुआ कहा जाता है। मनस् मे शुभ अथवा अशुभ कर्म कराने वाली दो प्रकार की वासनाए हैं, और अशुभ के विरुद्ध शुभ वासना को जाग्रत करना हमारा परम कर्तव्य है ताकि अशुभ शुभ के परे एव आधीन हो जाय। क्योंकि मनुष्य स्वय कर्त्ता है अतएव यह कहना निरर्थक है कि अपने से अतिरिक्त दूसरी शक्ति द्वारा यह कहना निरर्थक है कि अपने से अतिरिक्त दूसरी शक्ति द्वारा चलाया जा सकता है, यदि यह मान लिया जाय कि कोई अन्य शक्ति इसको चलाती है तो यह प्रश्न और उपस्थित होता है कि उस शक्ति की प्रेरक दूसरी शक्ति

---

[1] मूढैः प्रकल्पित दैव तत्परास्ते क्षय गता।
प्राज्ञास्तु पुरुषार्थेन पद उत्तमता गता॥ —योग-वासिष्ठ, २ ८ १६।

कौन है, फिर आगे और शक्ति इस तरह से इसका अन्त नहीं होगा अर्थात् अनवस्था प्रसंग का दोष होगा।[1] इस तरह से मनस् अनन्तकर्ता है, और जो उसकी शक्ति को सीमित करती हुई प्रतीत होती है वह उसकी एक दिशा है, जिसे वह अपनी शुभ प्रवृत्ति को जाग्रत करके मिटा सकता है। भारतीय साहित्य में पुरुषकार एवं कर्म के विवेचन अद्वितीय है।

प्राण एवं उसका यम

चित्त जो अपने-आपको अपनी वृत्तियों में परिवर्तित करता है वह दो कारणों से ऐसा करता है जो उसके दो बीजों के सदृश कहे गए है। उनमें से एक प्राण का परिस्पद और दूसरी तीव्र इच्छाए एवम् वासना है जो उसको दृढ भावना का रूप देती है।[2]

जब प्राण स्पन्दन करता है और नाडी सत्सगसंशोधन के द्वारा नाडी में जाता है तब पूर्ण सम्वेदनमय मनस् प्रकट होता है। परन्तु जब प्राण शिरा-सरणि कोटर में सुषुप्त रहता है तो मन का प्रादुर्भाव नही होता और सम्वेदना कार्यान्वित नहीं होती। प्राण स्पन्द ही अपने-आपको चित्त के द्वारा व्यक्त करता है और शून्य में से जगत्-प्रपच प्रकट करता है। प्राण के स्पन्द का निरोध होना चित्त के सम्पूर्ण कार्यों का निरोध हो जाना है। प्राण के स्पन्द के परिणामस्वरूप चित्त की वृत्तिए वीता (लट्टू) के सदृश घूमने लगती है। जैसे वीता आगन में फेरने पर चारों तरफ घूमता रहता है, इसी तरह से प्राण के स्पन्द से चित्त व्यक्त होता है, और इस चित्त के भटकने को रोकने के हेतु यह आवश्यक है कि इसके कारण पर आक्रमण किया जाय। जब चित्त अन्तरइन्द्रिय मे जाग्रत रहता है और बाह्यचित्तवृत्तियाँ बन्द हो जाती हैं तो हम परम गति प्राप्त कर लेते हैं। चित्त का भटकना बन्द करने के हेतु अर्थात् चित्त-निरोध योगी उचित उपदेशो के अनुसार प्राणायाम एव ध्यान के द्वारा प्राणों का नियन्त्रण करते है।

आगे चलकर हम देखते है कि वासना एव प्राण-स्पन्द का घनिष्ठ सम्बन्ध इस प्रकार है कि वासना की उत्पत्ति एव वृद्धि प्राण-स्पन्द से होती है, और प्राण-स्पन्द का कारण वासना है। जब शक्तिशाली विचारधारा के द्वारा और भूत एव वर्तमान के उचित विचार के बिना ही वस्तुएँ शरीर, इन्द्रियाँ, अहकार इत्यादि मे ममत्व हो हो जाता है तो हम उसे वासना कहते हैं। जिनकी शुद्ध बुद्धि नही है वे वासना की

---

[1] अन्यस्त्वा चेतयति चेत् त चेतयति कोऽपर। क इम चेतयेत् तस्माद् अनवस्था न वास्तवी। —वही २.९ २९।

[2] योग-वाशिष्ठ, ५ ९१ १४।

वृत्तियो को बिना तर्क के मान लेते हैं और उन्हे सत्य समझते हैं, क्योंकि वासना एव प्राण-स्पन्द चित्त के व्यक्त होने मे हेतु एव कारण है तो एक के समाप्त होने मे दूसरा अपने-आप समाप्त हो जाता है। दोनो का पारस्परिक सम्बन्ध बीज-अकुरवत् है, प्राण-स्पन्द से वासना और वासना से प्राण-स्पन्द होता है। चित्त का दृश्य स्वय चित्त मे निहित है और इस तरह से दर्शन के मिट जाने से दृश्य समाप्त हो जाता है।[1]

योग-वाशिष्ठ मे प्राण का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वह स्पन्द शक्ति है जो शरीर के ऊर्ध्व भाग मे स्थिर है और अपान स्पन्द शक्ति जो शरीर के अधो भाग मे स्थित है। शरीर मे जाग्रत एव सुषुप्ति अवस्थाओ मे स्वाभाविक प्राणायाम चालू रहता है। हृदय की गुफा मे से प्राण की बहिर्वर्ती क्रिया रेचक कहलाती है, और द्वादश-अगुलि प्राण का अपान क्रिया के द्वारा अन्दर भरना पूरक कहलाता है। प्राण के रेचक एव पूरक के मध्य रुकने की स्थिति को कुम्भक कहते है। असाधारण दीर्घायु वाले भुशुण्ड ने वशिष्ट को प्राण विषय मे ६ २४ मे उपदेश दिया है। वे शरीर की तुलना गृह मे और अहकार की तुलना गृहस्थ मे करते है। इस गृह के तीन प्रकार के स्तम्भ हैं।[2] तीन प्रकार के स्तम्भो द्वारा बने हुए घर मे नौ दरवाजे हैं (सात ऊपरी भाग मे और दो नीचे के भाग मे) जो स्नायु मे ऐसे बधे हुए हैं जैसे रक्त, मास और मज्जा का प्लास्टर लगा हुआ हो। उसके दोनो तरफ दो नाडियें, इडा और पिंगला है जो निमीलित रहती हैं। एक अस्थि मासमय यत्र भी है जो तीन युग्म कमलो (पद्मयुग्मत्रय) के आकार का है और जिसके ऊपर और नीचे, दोनो ओर नालिए लगी हुई हैं तथा अन्यान्य मिलित कमल शतदल है। जब उसको धीरे-धीरे वायु से भरते हैं, तो दल का स्पन्दन होता है, और उसके द्वारा वायु की वृद्धि होती है। इस तरह से वर्धित वायु ऊपर नीचे भिन्न-भिन्न स्थानो मे जाती हुई प्राण, समान इत्यादि कहलाती है। हृदय-कमल के त्रिविध यत्र (हृत्पद्मयत्रत्रितये) मे प्राण की सम्पूर्ण शक्ति क्रियान्वित होती हुई चन्द्र-किरण के सदृश ऊपर नीचे फैलती है। वह बाहर जाती है, पुन लौटती है, दूर चली जाती है, निकट आकृष्ट होती है, और इस प्रकार परिवहन करती है। हृदय मे स्थित वायु प्राण कहलाती है, और इसकी ही शक्ति के द्वारा नेत्रो की क्रिया त्वचा-इन्द्रिय की क्रिया, नासिका से श्वास

---

[1] समूल नश्यत क्षिप्र मूलच्छेदादिव द्रुम। सविद विधि सवेद्य बीज धीरतया विना, न सम्भवति सवेद्य तैलस्तिलो यथा, न वहिर्नान्तिरे किंचित् सवेद्य विद्यते पृथक्। —योग-वाशिष्ठ, ५ ९१ ६६ और ६७।

[2] त्रिप्रकार महास्थूणम् ६ २४ १४।

भाष्यकार तीन स्तम्भो की आयुर्वेदिक के तीन वात, पित्त, कफ के मूल तत्वो के रूप मे व्याख्या करते हैं। वात-पित्त-कफ-लक्षण-त्रिप्र पुकारा महान्त स्थूणाविष्टम्भ-काष्ठानि यस्य। मैं स्वय तीन प्रकार के स्तम्भो को शरीर के तीन भागो सिर, धड, पाद से बने हुए समझता हूँ जो अस्थि-समूह है।

लेने की क्रिया, आहार पचाने की क्रिया एवं वाणी की क्रिया सम्भव होती रेचक का काम करता है, और अपान पूरक का और इन दोनों क्रियाओं विश्राम क्षण कुम्भक कहलाता है। अतः यदि प्राण और अपान की गति जाय तो सतत कुम्भक चालू रहेगा। परन्तु प्राण की क्रियाए चल सकी रहना अन्ततोगत्वा चित्त के स्पन्द पर निर्भर है।[1] यद्यपि शरीर मे स्पन्दन मे वायु से सम्बन्धित होता है फिर भी यह चित्त शक्ति मे निकली क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नही है, और इन दोनों मे क्रिया एवं प्रतिक्रि होती रहती है, ताकि यदि शरीर की प्राणशक्ति बन्द हो जाय तो चित् शक्ति निरोध हो जाता है और उसके विपरीत ढंग से भी। इस प्रकार स्पंद-निरोध प्राण निरोध होता है और प्राण निरोध के द्वारा स्पन्द निरोध हो जाता है वाशिष्ठ मे (३ १३ ३१) वायु को केवल स्पद-मात्र माना गया है (स्पदते य वायु)

(५ ७८) मे यह कहा गया है कि चित्त एवं स्पन्दन वास्तव मे एक ही, यह पूर्णत हिम एव उसकी धवलता के सदृश अभिन्न है, इसी कारण एक का होते ही दूसरे का भी विनाश हो जाता है। चित्त का निरोध दो प्रकार से है अर्थात् योग के द्वारा जिसमे मानसिक अवस्थाए सुषुप्त हो जाती है और दूसरा ज्ञान के द्वारा। जैसे जल पृथ्वी के रन्ध्रो मे प्रविष्ट होता है इसी तरह से शरीर मे नाडियो के द्वारा स्पन्दित होता है और प्राण कहलाता है। और प्राणवायु अपने विभिन्न क्रियाओ और कारणो के कारण अपान इत्यादि कहलाता परन्तु यह चित्त से अभिन्न है। प्राण-क्रिया से चित्त-क्रिया होती है और सम्विद् अर्थात् ज्ञान होता है। प्राण-निरोध के सम्बन्ध मे योग वाशिष्ठ कई विक का परामर्श देता है। इस तरह से ध्यान के साथ दीर्घ के पूरक की स्थिर आ द्वारा अथवा पूर्ण सेवक अथवा प्राण और अपान की गतिरुद्ध करने के द्वारा अथ जिह्वा के अग्रो को तालुमूल मे[3] लगाने के द्वारा आन्तरिक श्वासनालिका को अर अथवा पुन भ्रुवो के मध्य ठीक दो भौहो के बीच मे चित्त अथवा मनस् को एका

---

[1] योग-वाशिष्ठ ६ २४ इस सम्बन्ध मे यह जानकर आश्चर्य होगा कि आयुर्वेद के सम्पूर्ण साहित्य मे किसी स्थान पर सम्भवत प्राण-क्रिया का ऐसा स्पष्ट वर्णन नही किया गया है। नाम-मात्र को पुप्फुस अर्थात् फेफडे का सुश्रुत-सहिता मे है, परन्तु उनके कार्य एव क्रिया शैली का किंचिद्मात्र विवरण नही है। सम्भव है पुप्फुस के श्वास लेने की क्रियाओ का अनुसन्धान आयुर्वेदाचार्यों से भिन्न विचारको ने किया है।

[2] वही, ६ २५ ६१-७४।

[3] तालुमूलगता यत्नाज्जिह्वयाक्रम्य घटिकाम्।
ऊर्ध्वरन्ध्रगते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुद्धते॥ —योगवाशिष्ठ, ५ ७८ २५।

करने से शुद्ध ज्ञान का उदय स्वय शीघ्र हो जाता है और परिणामत प्राण क्रियाए बन्द हो जाती है।[1]

प्रो० मैक्डोनैल अपनी पुस्तक वैदिक इन्डैक्स के द्वितीय खड मे प्राण की व्याख्या करते हुए कहते है कि प्राण शब्द अर्थात् श्वास का वैदिक साहित्य मे विशाल एव अस्पष्ट महत्व है। सकीर्ण अर्थ मे प्राण वायुओ मे से एक है। जिनमे से प्राय: पाच प्राण, अपान, व्यान, उदान् एव समान है। पाचो का उल्लेख करते समय प्रत्येक का अर्थ नही किया गया है। शब्द प्राण का स्पष्ट प्रयोग अपान के विपरीत भी श्वास के अर्थ मे समझा जाता है परन्तु उसका उचित अर्थ निस्सदेह रेचक है। परन्तु उपनिषदो मे शब्द का सामान्य अर्थ प्राण वायु नही है यद्यपि कई स्थान पर शब्द का प्रयोग श्वास के स्थान पर किया गया है। उपनिषदो मे इस शब्द का प्रयोग श्वास को गति देने वाली शक्ति अथवा जीवन अथवा द्विविदगती के अर्थ मे किया गया है।[2] प्रत्येक का विवेचन करने के पश्चात् इसका यथार्थ अर्थ समझना अत्यन्त कठिन है। अत सबसे सर्वोत्तम उत्तम बात यही है कि शब्द का परम्परागत अर्थ समझा दिया जाय जो कि उच्चतम हिन्दू शास्त्रकारो को स्वीकार है। मैं बादरायण कृत वेदान्त-सूत्र का उल्लेख करता हूँ जो उपनिषदो के सिद्धान्तो की प्राचीनतम शोध समझी जाती है। इस प्रकार वेदान्त-सूत्र (२ ४ ९) में (न वायुक्रिये पृथग् उपदेशात्) प्राण के स्वरूप का विवरण देते हुए लिखा गया है कि प्राण न तो वायु है और न क्रिया है क्योकि उपनिषदो मे प्राण, वायु एव क्रिया से भिन्न माना गया है। शकर

[1] इस सबध मे यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि जिह्वा द्वारा आन्तरिक वायु मार्ग का अवरुद्ध करने की हठ-योग की क्रिया के अतिरिक्त प्राणायाम की विधि के जो प्रकार जो यहाँ वर्णित हैं उनमे से सर्वाधिक (सिवाय खेचरी मुद्रा के जो हठ-योग से ली गई है) खेचरी-मुद्रा कहते है। वे ही है जिनका पतजलि के सूत्रो मे और व्यास-भाष्य मे वर्णन है, इस बात का और आनन्द बोधेन्द्र भिक्षु ने उपरोक्त पर लिखित अपने भाष्य मे ध्यान आकर्षित किया है।

[2] प्राण तथा वायु मे अन्तर, ऐतरेय, २,४, जासिक्य प्राण, १ ४। प्राण का अन्य कार्य-व्यापारो के साथ सम्बन्ध, कौषीताक, २ ५, जीवन के रूप मे प्राण, २ ८, वायु से सम्बन्धित प्राण, २ १२, जीवन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य-व्यापार के रूप मे प्राण, २ १४, चेतना के रूप मे प्राण, ३ २। नासिक्य तथा मुख्य प्राण मे अन्तर, छान्दोग्य, २ १-९, पाचो वायुओ का कार्य-व्यापार, ३.३-५, प्राण भोजन के परिणाम के रूप मे, १ ८ ४, जल के परिणाम के रूप मे, ६ ५ २, ६ ६ ५, ६ ७ ६, जैसे सभी अन्य वस्तुए प्राण से सम्बद्ध होती हैं, वैसे ही प्राण आत्मन् के सम्बन्ध मे, बृहदारण्यक, २ ५ १५, प्राण शक्ति के रूप मे, वही, ५ १४ ४, प्राण सुषुम्न नाडी मे दौडती शक्ति के रूप मे, मैत्री, ६ २१ इत्यादि।

इस पर टीका करते हुए कहते हैं कि जैसे 'यः प्राणः स एष वायुः पञ्च-विध प्राणोऽपानो व्यान उदान समान' (जो प्राण है वह वायु है और वह प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, पञ्चविध है) से यह समझा जा सकता है कि वायु प्राण है परन्तु वह ऐसा नहीं, क्योंकि छांदोग्य में (३ १० ४) (यह स्पष्ट है कि वह भिन्न है। पुनः वह इन्द्रियों की भी क्रिया नहीं जैसी सांख्य की मान्यता है, क्योंकि मुण्डक में उपरोक्त विवरण २ १ ३ में वह इन्द्रियों से भिन्न समझा गया है। वायु और प्राण को एक बताने वाले उपरोक्त विवरण का अभिप्राय यह प्रमाणित करना है कि वायु का स्वभाव प्राण में परिवर्तित हो जाता है (जैसाकि पृथ्वी के परिवर्तन अथवा विकार को ही शरीर का कारण समझा जा सकता है) वह वायु नहीं है परन्तु जैसाकि वाचस्पति कहते है वायु भेद है, जो अमलानन्द अपने ग्रन्थ वेदान्त कल्पतरु में 'वायोः परिणाम-रूप-कार्य-विशेष' बताते है अर्थात् वायु का यह विशिष्ट परिणाम-रूप कार्य है। स्वयं शंकर का अभिकथन इस विषय पर समानरूपेण स्पष्ट है। वे कहते हैं जो स्वयं को शरीर में परिवर्तित करके पांचों भिन्न-भिन्न समूहों में अपने को पृथक् करता है, प्राण नितान्त भिन्न वर्ग नहीं है और न ही यह केवल वायु है। २ ४ १०-१२ में भी शंकर प्राण के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए कहते है कि यह जीव जैसा स्वतन्त्र नहीं है परन्तु समस्त कार्य उसकी ओर से करता है जैसकि प्रधानमन्त्री (राजमन्त्रीवज्जीवस्य सर्वार्थकरणत्वेन उपकरणभूतो न स्वतन्त्र) प्राण इन्द्रियों जैसा ही उपकरण नहीं है जो विशेष उद्देश्य विषयों के सम्बन्ध मे कार्य करता है, क्योंकि यह छांदोग्य (५ १ ६,७) वृहद् साख्य ४ ३ १२ और बृहदारण्यक १ ३.१९ में कहा गया है कि इन्द्रियों के शरीर को छोडने पर भी प्राण रहता है। यह वही प्राण है जिसके कार्य करने से शरीर मे आत्मा का अस्तित्व अथवा जीव-स्थिति और जीव के शरीर मे से निकलना अथवा जीवोत्क्रान्ति सम्भव होती है। पञ्च वायु इस प्राण की पाच मुख्य अवस्थाए हैं जैसेकि विद्या, अविद्या, विकल्प, सुषुप्ति एव स्मृति मन की पांच अवस्थाए है। वाचस्पति वेदान्त सूत्र २ ४ ११ पर भाष्य लिखते हुए कहते है कि इसी कारण द्वारा शरीर एव इन्द्रियो की स्थिति है (देहेन्द्रिय विधारण कारण प्राण), यद्यपि यह याद रखना चाहिए कि शरीर और इन्द्रियो को धारण करने के उपरान्त भी प्राण के अन्य बहुत से कार्य है (न केवल शरीरेन्द्रियधारण अस्य कार्यम् वाचस्पति, वही)। वेदान्त-सूत्र, २ ४ १३ मे लिखा हुआ है कि प्राण अणु है, जिसका अर्थ शंकर उसके पाच प्रकार के कार्यों द्वारा सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त होने के कारण 'सूक्ष्म' के अर्थ मे करते हैं। वाचस्पति इसको केवल व्युत्पत्तिलभ्य कारण और उसके दुरधिगमता के कारण ही अणु कहते हैं यद्यपि वह सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त है। गोविन्दानन्द वेदान्त-सूत्र २ ४ ९ पर भाष्य करते हुए कहते हैं कि प्राण जीवन को धारण करने वाली स्पन्दन क्रिया है और उसके सिवाय उसका कोई दूसरा कार्य नही है (परिस्पन्द रूप प्रणानानुकूलत्वाद् अवान्तर व्यापाराभावात्)। यह जीवन

शक्ति के जैसा प्रतीत होता है। कर्मेन्द्रियो का एव प्राण के सम्बन्ध के विषय मे शकर कहते हैं कि उनकी क्रिया-शक्ति प्राण से ही है (वागादिषु परिस्पन्दलाभस्य प्राणायत्तत्वम्, ११४१६) वेदान्त सूत्र मे कई जगह ऐसे विवरण हैं कि जिससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि पाच प्राण वायु स्पन्दन है परन्तु गुण पाच भूतो से बना हुआ है और प्राण के साथ सम्बन्धित होने से वह क्रियात्मक कहलाता है। वेदान्तसार के उपरोक्त अश पर भाष्य करते हुए रामतीर्थ कहते हैं कि प्राण-वायु धातु एव अन्य भूत का विकार अवश्य है परन्तु वह किसी अर्थ मे बाह्य वायु नही है जो शरीर मे कुछ शारीरिक कार्य करती है (तथा मुख्यप्राणोऽपि वायोर्बाह्यस्य सूत्रात्मकस्य विकारो न शरीरमध्ये नभोवद् वृत्तिलाभमात्रेण अवस्थितो बाह्यवायुरेव)।[1] यह प्रमाणित करने के पश्चात् कि वेदान्त मे प्राण अथवा पाच प्रकार की वायु का अर्थ द्विकर्म शक्ति है न कि बाह्य वायु अब मैं साख्य योग का विवेचन करूंगा।

साख्य-योग एव वेदान्त मे यह अन्तर है कि प्राण किसी अर्थ मे वायु का विक्षिप्त विकार नही है। इस तरह से विज्ञानभिक्षु अपने विज्ञानामृत भाष्य वेदान्त सूत्र (११४१०) मे कहते हैं कि प्राण को वायु इसलिए कहते हैं कि वह वायु के सदृश स्वत क्रियावत् है (स्वत· क्रियावत्वेन उभयो प्राय वायो साजात्यात्)। पुनः (११४९) मे वह कहते है कि प्राण न तो वायु है और न ऊर्ध्वगति अथवा अधोगति लक्षण वायु क्रिया (मुख्य प्राणो न वायु नापि शारीरस्य ऊर्ध्वाधोग्मन लक्षणा वायु-क्रिया)।

अब प्रश्न यह है कि साख्य-योग के अनुसार प्राण है क्या? वह महत् तत्व है और ज्ञान शक्ति के सम्बन्ध मे बुद्धि कहलाता है और क्रिया के सम्बन्ध मे सूत्र आत्मा अथवा प्राण जिसका विकास प्रकृति से हुआ है। पाच प्राण अथवा तथाकथित वायु महत् तत्व के भिन्न-भिन्न कार्य हैं (११४११) आगे चलकर साख्यकारिका २९ मे हमे मिलता है कि पाच वायु बुद्धि, अहकार एव मन के सामान्य कार्य कहे गए है और वाचस्पति कहते हैं कि पाच प्राण उनका जीवन है। इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्धि, अहकार एव प्राण, तीनो अपने ढग से कार्य करते हैं और इन तीनो शक्तियो का सयुक्त कार्य ही पाच प्राण है जो शरीर को धारण करता है। इस तरह से इस मत के अनुसार भी प्राण द्विवित् कर्म शक्ति है और न कि बाह्य वायु। इस मत की विशेषता यह है कि यह शक्ति वास्तव मे मानसिक शक्ति है जो बुद्धि अहकार एव मनस् के विशेष कार्यों की सयुक्त उत्पत्ति हैं।[2] उसका कारण अन्त करण की

[1] विद्वन्मनोरजनी, पृ० १०५ जैकब कृत सस्करण, मुम्बई, १९१६।

[2] साख्य-कारिका पर गौडपाद के भाष्य २९ मे प्राण-क्रिया की तुलना पिंजडे मे बन्द पुजारी से की गई है जो पिंजडे को हिलाता है।

वेदान्त सूत्र पर शाकर भाष्य ११४९ के साथ इसकी तुलना करो।

विकासात्मक क्रिया हैं। इसकी पुष्टि मे साख्य प्रवचन-भाष्य २ ३१, व्यास-भाष्य, ३ ३६ और वाचस्पति-कृत तत्व वैशारदी, भिक्षु कृत योग-वार्तिक एव नागेशकृत छाया-व्याख्या इन ग्रन्थो को देखा जा सकता है। निस्सदेह यह सत्य है कि कभी कभी बाह्य वायु को अन्दर ले जाना और बाहर निकालना प्राण कहलाता है, परन्तु इसका कारण यह है कि श्वास प्रश्वास मे प्राण गत्यात्मक होता है अथवा स्पन्दन करता है। इस तरह से केवल गति ही प्राण नही है अपितु वह तत्व प्राण है।[1] रामानुज शकर के साथ इस मत मे सहमत है कि प्राण वायु नही है अपितु वायु का विकार मात्र है। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान देना अतिआवश्यक है कि यह वायु का विकार ऐसा विकार है जो केवल भोग साधनो से ही जाना जा सकता है।[2]

वैशेषिक का मत है कि बाह्य वायु शरीर मे अपने स्थान के अनुसार भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं।[3] आयुर्वेद भी इस मत की पुष्टि करता है कि वायु ही एक प्रकार की क्रिया एव धारण-शक्ति है। इस प्रकार भाव-प्रकाश मे वायु का निम्नलिखित वर्णन है वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर दोप, धातु, एव मल को ले जाता है, सूक्ष्म है, रजोगुणात्मक है, शुष्क हैं, ठण्डा है, हल्का है और गतिशील है। अपनी गति से ही सम्पूर्ण शक्ति उत्पन्न करता है, श्वासोच्छ्वास का नियमन करता है और सम्पूर्ण कार्य एव स्पन्दन का जनक है और इन्द्रिय एव धातुओ को तीव्र रखता हुआ, पित्त, इन्द्रिय एव मन को सघात रूप से धारण करता है।[4] वाहत भी स्व रचित अष्टाग-सग्रह में वायु को शरीर की समस्त क्रियाओ का कारण बताते हैं और यह कहने का कोई कारण नही है वायु के उनका तात्पर्य वायु से है। जैसाकि आगे के अध्याय मे देखेंगे, चरक का (१ १२) दीर्घ विवरण भी यही बताता है कि उन्होने भी वायु को विश्व की रचनात्मक एव विनाशात्मक शक्ति समझी है, और ब्रह्माड के सदृश पिण्ड मे भी वही कार्य करती है। वह केवल शरीर मे ही भौतिक कृपाओ का कर्त्ता नही परन्तु ज्ञानात्मक, भावात्मक, और क्रियात्मक रूप मन की सम्पूर्ण क्रियाओ मे उसका नियता और चालक भी है। सुश्रुत भी वायु को अव्यक्त बताते है और यह कहते हैं कि शरीर में अपने कार्यों से ही वह व्यक्त होता है (अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च)।

योग-वाशिष्ठ मे, जैसाकि हम ऊपर देख चुके है, प्राण अथवा वायु वही तत्व है जो स्पन्दन करता है और उसकी वस्तुस्थिति स्पन्दन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पुनः, प्राण, अहकार अर्थात् बुद्धि की क्रिया के अतिरिक्त स्वय कुछ नही है।[5]

[1] वेदान्त-सूत्र पर रामानुज-भाष्य, २ ४ ६।

[2] तत्व-मुक्त कलाप ५३ ५५ एव रामानुज-भाष्य और श्रुत प्रकाशिका २ ४ १ १५ भी देखिए।

[3] श्रीधर कृत न्याय कन्दली ६ ४८।

[4] भाव-प्रकाश, सैन-कृत सस्करण कलकत्ता, पृ० ४७।

[5] योग-वाशिष्ठ ३.१४।

प्राण का स्वभाव आवश्यक रूप से स्पन्द है, और मनस् प्राण शक्ति का प्रारूप है अतएव मनस् के दमन से पाचो प्राणो का निरोध होता है।[1] शैव भी इस मत से सहमत है कि प्राण ज्ञान क्रिया ही है जो नाडियो मे विचरण करके शरीर-क्रिया एव इन्द्रिय-क्रिया को स्थिर रखती है। इस तरह से क्षेमराज कहते है कि प्राण के रूप मे चित्त शक्ति ही नाडियो मे विचरण करती है, और वह भट्ट कलनत को भी यही मत ग्रहण करते हुए बताते हैं, तथा प्राण को उन्होने निश्चितरूपेण एक शक्ति कहा है (कुटिलवाहिनी प्राण शक्ति॰)।[2] शिवोपाध्याय ने अपनी विज्ञान-भैरव पर अपनी पुस्तक विवृति मे प्राण को शक्ति बताया है, विज्ञान भैरव भी यही बात कहता है।[3] भट्टानन्द ने अपनी पुस्तक विज्ञान कौमुदि मे प्राण को चित्त-वृत्ति बताया है।

प्रगति के सोपान

हम यह कह चुके हैं कि दर्शन का अध्ययन एव सत्सग ही मुख्य साधन हैं जिनसे युक्त होकर साधक मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधन करता है। प्रथम भूमिका मे साधक को स्वाध्याय एव सत्सग के द्वारा अपनी प्रज्ञा को बढाना पडता है और दूसरी भूमिका मे विचारणा और तीसरी भूमिका मे सम्पूर्ण असग भावनाओ का मानसिक अभ्यास करना, चौथी अवस्था (विलापनी) वह है जिसमे सत्य के स्वरूप के सम्यक् बोध द्वारा जगत्-प्रपच स्वय को मिथ्या प्रदर्शित करता है, पाचवी भूमिका वह है जिनमे साधु शुद्ध-सम्भावित्-मायानन्द् रूप हो जाता है। यह भूमिका जीवन-मुक्ति है जिसमे वह अर्ध सुप्त प्रबुद्ध कहलाता है। छठी भूमिका वह है जिसमे परमानन्द की अवस्था मे सत रहता है और वह अवस्था सुपुप्त-सदृश स्थिति कही जाती है और सातवी अन्तिम भूमिका तुर्यातीत है जो शरीर रहते हुए किसी भी सत्पुरुष द्वारा अनुभव नही की जा सकती। इनमे से प्रथम तीन भूमिकाए हैं, जाग्रत, चौथी भूमिका स्वप्न, छठी तुर्य और सातवी तुर्यातीत अवस्था कही गई है।[4]

इच्छा समस्त दु खो का मूल है। उसकी उपमा हमारे शरीर मे दौडते हुए और उसका नाश करने का प्रयत्न करते हुए मदमस्त हाथी से की गई है। इन्द्रियाँ उसके शिशु कहे गए हैं और वासनाओ की तुलना उसके मद के प्रवाह से की गई है। धैर्य-पालन द्वारा ही इन्हे जीता जा सकता है। इच्छा का अर्थ मन की कल्पनाए है जैसेकि 'यह मुझे प्राप्त हो जाय' और इसे सकल्प भी कहते हैं। इस प्रकार के सकल्प के

[1] वही, ५ १३ ७८।
[2] शिव-सूत्र, विमर्षिणी, ३ ४३,४४।
[3] विज्ञान-भैरव और विवृत्ति, श्लोक ६७।
[4] योग-वाशिष्ठ, ६ १२०।

रोकने का उपाय इस प्रकार [illegible] विचार का नाश करता है और इसके लिए मनुष्य को सर्वाधिक स्फूर्ति लानी होगी, क्योंकि जब तक स्फूर्ति है तब तक आनन्द और दुःख बन्द नहीं हो सकते। यही वह अवस्था जहाँ सम्पूर्ण स्पन्द एवं विचार तथा चित्त अपने [illegible] हो जाते हैं यह [illegible] अवस्था कहलाती है।[1] योग, [illegible] स्थिति है जहाँ [illegible] नाश हो जाता है।[2] इस अवस्था में चित्त का नाश हो जाता है और वह [illegible] तत्व बन जाता है अर्थात् शुद्ध [illegible] बन जाता है और इस प्रकार सम्पूर्ण दृश्य और दृष्टा के भेद [illegible] सम्बन्धों से [illegible] इस अवस्था में ज्ञान [illegible] हो जाता है, यद्यपि यह योगाचार कहलाता है। यह [illegible] अवस्था सांख्य में पुरुष की [illegible] देश रहता ही है, और इसमें दूसरे [illegible], जिसे [illegible] प्रकृति पुरुष के भेद का ज्ञान है।[3] योग-वासिष्ठ इस आनन्द की स्थिति नहीं मानता परन्तु अचिन्त्य एवं अनिर्देश्य जड़ता की स्थिति ही मानता है। यह सातवीं भूमिका को ही आनन्द में व्यक्त मानता है, और यही [illegible] है जिसकी अनुभूति किसी प्रकार सुखद प्रतीत होती है, परन्तु सातवीं को तुरीयातीत एवं अनिर्देश्य ही मानता है।

पातंजल योग-सूत्र एवं व्यास-भाष्य में प्रज्ञा की सात अवस्थाओं का सादृश्य स्वभाविक रूप से इन प्रगति की सात भूमिकाओं से होता है। प्रज्ञा की सात भूमिकाए दो भागों में विभक्त है, प्रथम भाग में चार और द्वितीय में तीन। इनमें से चार मनोवैज्ञानिक है और तीन तात्त्विक है, जिनमें चित्त-विमुक्ति के पूर्व चित्त के लय की भूमिकाए दिखाई गई हैं।[4] प्रगति की सात भूमिकाओं में प्रथम चार भूमिकाए विलापनी सहित मनोवैज्ञानिक है और अन्तिम तीन भूमिकाए चित्त को प्रलय की ओर ले जाने वाली है। परन्तु योग-वासिष्ठ की पातंजलि की भूमिकाओं से समानता बताने वाली और कोई वस्तु नहीं है। योग-वासिष्ठ में योग की परिभाषा अवेदनम् की उच्चतम अवस्था '(अवेदनम् विदुर्योगम् के) नाम से दी गई है अथवा उसका दूसरा नाम वासनाओं के विष के प्रभाव का निरोध कहा गया है।[5] छठे प्रकरण के पूर्वार्द्ध सर्ग १२५ में अन्तिम अवस्था सर्वापह्नव' की अवस्था कही गई है। चित्त का भाव दुःख है, और उसका अभाव आनन्द है, ज्ञान को समाप्त करने से चित्त समाप्त हो

---

[1] योग-वाशिष्ठ ६ १२ ६।

[2] वही, ६ १२६ ७१-७२।

[3] वही, ६ १२६ ६६।

[4] मेरी कृति 'भारतीय दर्शन का इतिहास' देखिए खण्ड १, कैम्ब्रिज, १६२२, पृ० २७३।

[5] इच्छाविषविकारस्य वियोग योगनामकम्।

—योग-वाशिष्ठ ६,३७ १ वही, ६ १२६ ६६।

जाता है—जिसके परिणामस्वरूप न तो दु ख रहता है और न सुख, न सुख-दु ख-पाषाण की तरह वेदना शून्य ही अन्तिम लक्षित स्थिति है जो सम है। इस तुर्यातीत भूमिका को सुपुप्ति की छठी अवस्था नही कहना चाहिए जो केवल शुद्धानन्द की स्थिति है।

योग-वाशिष्ठ के अनुसार कर्म दृष्टा दृश्य के रूप मे मनस् का व्यक्त होना ही है। अत कर्म को त्यागना मनस् अथवा ज्ञान का त्यागना ही है।[1] अत कर्म निरोध का अर्थ ज्ञान-नाश ही है। कर्म का वेग अथवा मनस् का स्पन्दन विना कोई कारण के होता है, परन्तु इस स्पन्दन के कारण अहकार और सम्पूर्ण दृश्य प्रपच की उत्पत्ति हो जाती है, सम्पूर्ण प्रयत्नो का लक्ष्य चित्त का विनाश है अर्थात् पाषाण-सम ज्ञान-रहित अचेतन अवस्था है।

जैसाकि सात क्रमिक भूमिकाए है, इसी तरह से वासनाओ के वल अथवा निर्वलता के अनुसार सात प्रकार के प्राणी है। वे इस प्रकार हैं (१) स्वप्न जागर (२) सकल्प जागर, (३) केवल जाग्रत स्थित् स्वप्न (४) चिरा-जाग्रत स्थित (५) घन-जाग्रत-स्थित (६) जाग्रत स्वप्न (७) क्षीण जागरक। स्वप्न-जागर वे मनुष्य हैं जिन्होने पूर्व जन्म मे हमारे समस्त वर्तमान अवस्थाओ का अनुभव स्वप्न दृश्यो मे किया और स्वप्न-नर के सदृश कार्य किया। भाष्यकार इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते है कि यह असम्भव नही है, क्योकि प्रत्येक वस्तु सर्वत्र जीव रूप मे रहती है, अत यह सम्भव है कि स्वप्नानुभव के स्वप्न नरो के रूप मे हम वासना के रूप मे उनके अन्त करण मे स्थित रहते है (तदन्त करणे वासनात्मना स्थिता)। क्योकि भूत एव वर्तमान का अस्तित्व केवल मनस् मे ही हैं अत काल को उलटने से यह भी शुद्ध हो जाता है कि हमारे भविष्य का अस्तित्व अपने स्वप्न मे अनुभूत होने से रोक नही सकता। क्योकि मनस् को देशकाल की सीमाए नहीं कर सकती और मनस् तत्व के रूप सब कुछ सर्वत्र विद्यमान है (सर्व सर्वत्र विद्यते)।[2] स्वप्नो के द्वारा ये पुरुष जीवन के परिवर्तनो का अनुभव कर सकते है एव परम मुक्ति भी प्राप्त कर सकते हैं। दूसरी श्रेणी, सकल्प जागरस की है, जो विना सुपुप्ति के सब प्रकार की क्रियाओ एव जीवन को केवल मनस् से ही धारण करते रहते है, और अन्त मे मोक्ष की प्राप्ति कर लेते है। तीसरी श्रेणी, केवल जागरस वे है जो प्रथम वार जन्म लेते हैं। जब ये प्राणी पुन जन्म लेते हैं तो वे चिर-जागरस कहलाते है। ऐसे प्राणी अपने पापो के कारण, वृक्ष इत्यादि होते हे, इस स्थिति मे वे घन-जागरस कहलाते हैं। इनमे से पुनर्जन्म लेने के पश्चात् जो अध्ययन एव सत्सग से तत्व-ज्ञान प्राप्त कर लेते

[1] सर्वदा [illegible] वेदन बीजमुत्तमम्।
[illegible] स्पन्द प्रवर्तते। —योग-वाशिष्ठ, ६ ११.२ २६।
[2] वही।

है, वे जाग्रत-स्वप्न-स्थित कहलाते हैं, और अन्त में जो मोक्ष की तुर्यावस्था तक पहुँच चुके है, वे क्षीण जागरक कहलाते हैं ।

योग-वाशिष्ठ के अनुसार जबतक हमारे ज्ञान का सबंध दृश्य जगत् से रहता है उस वक्त तक बन्धन रहता है, और जब दृश्य जगत् से हमारा ज्ञान पूर्णत एव अन्त असग हो जाता है और शुद्ध तुर्यावस्था मे रहता है, जहाँ पर न दृश्य है न द्रष्टा वहा मोक्ष की प्राप्ति होती है ।[1]

सदाचार की विधियाँ

योग-वाशिष्ठ परम सिद्धि प्राप्त करने के लिए तीव्र त्याग अथवा पुण्य, अथवा स्नान और इसी तरह के साधनो पर (परम सिद्धि प्राप्ति के लिए) बल नहीं देता। उसके मत मे परम तत्व के शुद्ध विवेक द्वारा अनुवर्तित केवल राग द्वेष, तम, क्रोध, मद, मात्सर्य के नियन्त्रण से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ।[2] जबतक सम्पूर्ण दुर्वासनाओं की समाप्ति न होकर मन शुद्ध नही हो जाय तबतक धार्मिक विधियों का अनुकरण करने से केवल अहकार एव आडम्बर हमारे अन्दर बढते हैं और उसका कोई शुद्ध परिणाम नही निकलता । साधक का परम कर्त्तव्य परम सिद्धि की प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्न करना है जिसके हेतु उसको सत् शास्त्र का अध्ययन और सत् सग ही करना चाहिए ।[3] उसको अपना जीवनयापन करना चाहिए और भोग की न्यूनतम इच्छा का भी परित्याग करना चाहिए और विचार करते रहना चाहिए । अब प्रश्न यह उठता है कि परम सिद्धि के प्राप्ति के हेतु ज्ञान आवश्यक है अथवा कर्म । इस प्रश्न पर योग वाशिष्ठ शकर से इस बात मे सहमत नही है कि वे दोनो सयुक्त नही रह सकते अपितु उल्टा इस बात पर बल देता है कि जैसे पक्षी दो पखो से उड सकता है वैसे ही साधक ज्ञान एव कर्म के सयुक्त के रहने से ही परम सिद्धि को प्राप्त कर सकता है ।[4]

[1] ज्ञानस्य ज्ञेयतापत्तिर्बंध इत्यभिधीयते
तस्यैव ज्ञेयताशान्ति मोक्ष इत्यभिधीयते । —योग-वाशिष्ठ ६ २ १६० १ ।

[2] स्वपौरुषप्रयत्नेन विवेकेन विकाशिना ।
स देवो ज्ञायते राम न तप स्नानकर्मभि । —वही, ३ ६ ६ ।

[3] सत् पुरुषो की परिभाषा योग वाशिष्ठ मे निम्न प्रकार से दी गई है—देशे य सुजन प्राया लोका. साधु प्रचक्षते । स विशिष्ट स साधु स्यात् त प्रयत्नेन सश्रयेत् । —वही, ३ ६ २० ।

[4] योग वाशिष्ठ, १ १ ७,८ ।

साधक का मुख्य उद्देश्य चित्त को नाश करने का होने के कारण उनके सम्पूर्ण प्रयत्न वासनाओं को समूल नाश करने की ओर होने चाहिए क्योंकि वासनाए ही चित्त की मूल एव द्रव्य है। तत्व ज्ञान की वासनाओं और चित्त का विनाश, सबका अर्थ एक ही है, और वे परस्पर अन्तर निर्भर है ताकि एक की प्राप्ति दूसरे के बिना हो नहीं सकती। अत: एक भोग की इच्छा त्याग कर साधक को तीनों ही के लिए प्रयत्नशील एक साथ होना पडेगा और इसके लिए साधक को एक ओर इच्छाओं का नियत्रण और दूसरी ओर प्राण-निरोध करना पडेगा; और ये दोनो मिलकर सहयोग करके परम लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं। यह प्रगति स्वभाविक रूप से मद होती है परन्तु यह सतत् होने की स्थिति में किसी दूसरे हठयोग के साधन से श्रेष्ठतर है। आत्म आलोचना की आवश्यकता पर भी विशेष आग्रह किया गया है क्योंकि इससे वासनाओ के एव जगत् प्रपञ्च की माया के बध ढीले पड जाते हैं और असग की प्राप्ति हो जाती है।

योग-वाशिष्ठ शांकर-वेदान्त एवं बौद्ध विज्ञानवाद

योग-वाशिष्ठ का उपरिष्ठ पाठक इसके प्रत्ययवाद को शाकर-भाष्य के वेदान्त से अभिन्न समझ सकता है, और शाकर मत के उत्तरकालीन वेदान्त ग्रन्थो मे यथा जीवन-मुक्ति-विवेक इत्यादि मे इतने प्रश्न योग-वाशिष्ठ के समान प्रस्तुत किए गए हैं कि पाठक इस प्रत्ययवाद और शकर प्रत्ययवाद किसी प्रकार के भेद की कल्पना नहीं कर सकता। अत. इस विषय की कुछ चर्चा आवश्यक है।

शंकर के प्रत्ययवाद का मुख्य लक्षण इन सिद्धान्तो मे है कि स्वय प्रकाशित दृष्टा-दृश्य-हीन चैतन्य ही अन्त करण एव बाह्य जगत् का तत्व है जो कुछ परिवर्तन दिखाई देता परम एव अविकारी है वह इस तत्व के परे है जो तत्व परम तत्व है। फिर भी परिवर्तनो की परम तत्व अथवा ब्रह्म के साथ सम्बन्ध हो गया है और इसी कारण दृश्य के अनन्त रूप एव भिन्न-भिन्न मानसिक अवस्थाओं की प्रतीति होती है। यह परिवर्तनशील है और इसी कारण इनका अनिर्देश्य अस्तित्व ब्रह्म से बिल्कुल भिन्न है, फिर भी आवश्यक रूप से वे भाव-रूप है।[1] शांकर प्रत्ययवाद बाह्य विषयो को दृष्टामनस् से भिन्न नहीं मानता, और वह 'दृष्टि सृष्टि है' के सिद्धान्त को भी नहीं मानता। इस प्रकार वह बौद्ध विज्ञानवादियो की मत की कडी आलोचना करते हैं, जो दृश्य जगत् के भाव को मनस् से भिन्न मानने मे विश्वास नहीं करते, क्योंकि वे मनस् के ही परिणाम प्रतीत होते हैं। इनमे से कुछ तर्क महान् दार्शनिक महत्व के हैं

[1] इसी पुस्तक के प्रथम खड मे शाकर वेदान्त को देखिए।

कैम्ब्रिज, १९२२ पाठ दशम्।

और एक समकालीन आग्ल नव्यवस्तुवादी ने विज्ञानवाद का खण्डन करने मे इसी तरह के तर्क प्रस्तुत किए थे।

बौद्ध का तर्क यह बताया गया है जब दो तत्व अभिन्न तौर पर एकसाथ देखे जाय तो वे एक से है, जैसे दर्शन और उसके दृश्य एकसाथ दिखाई देते हैं अत दर्शन दृश्य एक है, हमारे मानसिक विचार का आधार बाह्य जगत् मे कुछ नही है जिसके द्वारा वे प्राप्त होते हैं और स्वप्न मे उसका अस्तित्व (जबकि ज्ञानेन्द्रिया अचेतन रहती हैं) यह प्रदर्शित करता है कि दृश्य की प्रतीति के हेतु ज्ञानेन्द्रियो की क्रिया आवश्यक नही है यद्यपि तथाकथित बाह्य दृश्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करने हेतु वे अनिवार्य हैं। यदि यह प्रश्न उपस्थित किया जाय कि दृश्य है ही नही तो दर्शन की भिन्नता का कारण क्या होगा? तो उत्तर यही होता है कि भिन्नता का कारण वासना की शक्ति अथवा चित्त के साथ क्षण विशेष योग्यता का सम्बन्ध है।[1] यदि तथाकथित बाह्य दृश्य की भिन्न-भिन्न विशेष योग्यताए हो, और उन्ही के कारण दर्शन की भिन्नता है, तो मानसिक व्यवस्था के क्रमिक क्षण को भी भिन्न-भिन्न योग्यताए समझी जानी चाहिए जिनके द्वारा इन ज्ञानात्मक भावो से जनित दर्शन की भिन्नताए होती हैं। स्वप्न मे ये चित्त की भिन्न-भिन्न अवस्थाए है जो दर्शन की भिन्नता उत्पन्न करती है।

शकर बौद्ध विज्ञानवादियो के उपरोक्त तर्क का वर्णन करते हुए यह कहते हैं कि बाह्य दृश्य जब प्रत्यक्ष दिखाई देता है तो उसका निषेध कैसे किया जा सकता है? इसके उत्तर मे यदि यह मान लिया जाय कि सवेदनाओ के अतिरिक्त दर्शन का कोई विषय ही नहीं है अथवा यह कि दर्शन का होना ही दृश्य है तो इसका खडन इस प्रकार किया जा सकता है कि दर्शन के न होने पर भी दृश्य के भाव, स्वय दृश्य से ही स्वतन्त्र रूप से होता है, क्योकि विषय का देखना ही विषय नही है, यह अनुभव सिद्ध है कि दृष्ट नील से नीलापन का दर्शन भिन्न है, नील दर्शन का विषय है और वे दोनो एक कदापि नही हो सकते। यह बात सर्वविदित एव सर्वमान्य है इसका खडन करने का प्रयत्न करते हुए भी बौद्ध विज्ञानवादी एक तरह से इसको मान लेता है, क्योकि वह कहता है कि अन्तर-दृश्य ऐसा प्रतीत होता है मानो वह हम से बाह्य जगत् मे स्थित है। यदि बाह्यत्व जैसे है ही नही तो कैसे कहा जा सकता है कि उसकी प्रतीति चित्त मे होती है? जब समस्त अनुभव दर्शन और उसके दृश्य एव मनस् के आतरिक जगत् एव जगत्-प्रपच मे अन्तर की पुष्टि करते है तो इस अन्तर का निषेध कैसे किया जा सकता है? उदाहरणार्थ आप एक घडा देख रहे हैं और उसकी स्मृति है मानसिक क्रिया दोनो ही अवस्थाओ मे भिन्न-भिन्न है, परन्तु घडा वही है।[2]

[1] कस्यचिदेव ज्ञानक्षणस्य स तादृश सामर्थ्यातिशयो वासनापरिणामः।

—भामती, २ २ २८।

[2] ब्रह्म-सूत्र पर शाकर-भाष्य २ २ २८।

बौद्ध विज्ञानवाद के विरुद्ध शकर का उपरोक्त तर्क निश्चित रूप से यह प्रमाणित करता है कि उसने दृश्य का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया और उसका भाव किसी व्यक्ति के द्वारा उनको जानने पर आधारित नही किया। बाह्य दृश्य का अस्तित्व मनस् अथवा चित्त की भिन्नता के अस्तित्व से सर्वथा स्वतन्त्र एव भिन्न है।

परन्तु योग-वाशिष्ठ का प्रत्ययवाद शकर के प्रत्ययवाद की अपेक्षा बौद्ध-विज्ञानवादियो के सिद्धान्त से अधिक मिलता-जुलता है। क्योकि योग-वाशिष्ठ के अनुसार प्रत्ययो का ही एक प्रकार का अस्तित्व है। उनके अतिरिक्त कोई भौतिक अथवा बाह्य जगत् का पृथक् अथवा स्वतन्त्र अस्तित्व नही। 'सृष्टि दृष्टि है' का सिद्धान्त योग-वाशिष्ठ का सिद्धान्त है और शकर ऐसे सिद्धान्त का दृढतापूर्वक खडन करते हैं। 'वेदान्त सिद्धात मुक्तावली' मे प्रकाशानन्द योग वाशिष्ठ के प्रत्ययवाद के अनुसार वेदान्त का विवेचन करते वक्त यह प्रदर्शित करते है कि उसने वेदान्त के विवेचन योग-वाशिष्ठ से प्रेरणा ली, और दृश्य के अस्तित्व का प्रत्यक्ष न ही होने तक उसे मानने से नहीं माना। प्रकाशानन्द साधारणतया मान्य इस मत का खडन करता है कि इन्द्रियो का विषयो के साथ सम्पर्क होने पर ही दृश्य का ज्ञान हो जाता है, क्योकि उसके मत मे दृश्य वही है जिसका प्रत्यक्षीकरण हो अर्थात् दर्शन से पृथक् दृश्य का बाह्य स्वतत्र अस्तित्व है ही नही। योग-वाशिष्ठ एव प्रकाशानन्द दोनो अप्रत्यक्षीकृत दृश्य के अस्तित्व का निषेध करते हैं परन्तु शकर केवल उनका अस्तित्व ही नही मानते अपितु यह भी मानते हैं कि हमारे किसी बाह्य वस्तु को जानने से उसमे किसी प्रकार की वृद्धि या विकार नही होती सिवाय इसके कि वह हमारे चित्त मे ज्ञान द्वारा आता है। वस्तुओ के अप्रत्यक्षीकृत होने पर भी उनका अस्तित्व जैसा है वैसा ही है। यह एक प्रकार से शाकर-वेदान्त का प्रत्ययवाद इसी मे है कि उसने ब्रह्म को अन्तर्यामी माना जो अपरिच्छिन्न एव सर्वव्यापी और परम तत्व बाह्य दृश्य जगत् के अधिष्ठान के रूप मे स्थित हैं। जितने भी अन्तर एव बाह्य नाम रूपो का हम अनुभव करते है अर्थात् जो सर्ग एव विसर्ग है वे अनिर्देश्य एव अनिर्वचनीय है और उसी का नाम माया कहा जाता है।[1] शाकर वेदान्त इसको मानकर चलता है कि वही सत्य है जो अविकारी, वही असत्य है जो परिवर्तनशील है यद्यपि वह विध्यात्मक है। जगत् विशिष्ट अर्थ मे असत्य कहा गया है, माया सत् एव असत् से परे की श्रेणी मे आती है अर्थात् वह अनिर्देश्य कहलाती है।

इस माया के साथ शाकर-वेदान्त मे सत् अर्थात् ब्रह्म का सम्बन्ध माया की ही तरह अनिर्देश्य हैं, सत् अपरिवर्तनशील हैं, परन्तु परिवर्तनशील रूपो एव गुणो का सम्बन्ध उसके साथ कैसे हो गया, अथवा उनकी उत्पत्ति कैसे हुई अथवा उनका परम

[1] मेरा भारतीय दर्शन का इतिहास खड १, अध्याय १० देखिए।

कारण क्या है, शकर इस विषय मे मौन है। फिर भी योग-वाशिष्ठ यह मानता है कि निर्गुण एव निराकार तत्व ही परम तत्व है, और वही ब्रह्म चित्त अथवा शून्य कहा जाता है, परन्तु उसका नाम कुछ भी है। वह निर्गुण तत्व ही परम तत्व है। इस परम तत्व का सम्बन्ध स्पदन-शक्ति से होता है जिसके द्वारा वह भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रतीत हो सकता है। प्रतीति एव सत्य का सम्बन्ध वाह्य अनिर्देश्य एव अनिर्वचनीय नही है जैसाकि शकर का मत है, परन्तु निर्गुण आत्मा की इस आन्तरिक शक्ति के स्पन्दन के द्वारा उत्पन्न होती हैं जो स्वय दृष्टा-दृश्य हीन शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त और कुछ नही है। परन्तु इस आन्तरिक स्पन्दन का अपना स्वय का कोई तर्क प्रतीत नही होता और न इसका कोई निश्चित सूत्र वताया जा सकता है। सर्ग और विसर्ग के कल्पित रूप की कोई निश्चित व्यवस्था भी नही है, परन्तु वह केवल काकतालीय है क्योकि उनका अस्तित्व केवल दृश्यमात्र ही है। ऐसी विचारधारा शुष्क अथवा सारहीन है, और इसी कारण से योग-वाशिष्ठ का सिद्धान्त सदोष है। दूसरी कमी इसमे यह है कि न तो यह चित्त की आलोचना करता है और न उसको स्वीकार करता है और उसका आधार निर्गुण तत्व अनुभव मे कभी प्रकट नही होता। शकर का मत भिन्न है, क्योकि इसकी मान्यता है कि परम ब्रह्म अनुभव मे आने वाली वस्तुओ का भी आत्मा है और वह स्वय प्रकाश और सर्वव्यापी है। परन्तु योग-वाशिष्ठ का पर-ब्रह्म निर्गुण एव अनुभवातीत है। सप्तम् भूमिका परम मुक्ति की अवस्था वेदान्त के ब्रह्मत्व के सदृश परमानद नही है परन्तु केवल शून्य एव निर्गुण की स्थिति है। ग्रन्थ मे कई स्थान पर यह कहा गया है कि भिन्न-भिन्न दर्शनो मे यह परम स्थिति (ब्रह्म) प्रकृति एव पुरुष का भेद शुद्ध विज्ञान एव शून्य के रूप मे वर्णित है। परन्तु वास्तव मे वह निर्गुणतत्व है। इसी कारण उसकी मुक्ति अवस्था का विवरण जैसाकि हम ऊपर देख चुके है, पाषाणवत किया गया है, जो हमे वैशेषिक दर्शन को याद दिलाता है। व्यवहार मे वह मान्य मुक्ति पौरुष अथवा स्वतत्रता पर अधिक वल देता है और पुरुषार्थ को निर्वल करने अथवा उसके ऊपर प्रभुत्व रखने की शक्ति को किंचित् मात्र नही मानता, और कर्म को केवल मनस्-शक्ति वताकर हमे एक नया दर्शन देता है। शकर के विरुद्ध वह यह मानता है कि ज्ञान एव कर्म का मेल सम्भव है, और वे भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोगो के लिए नहीं हैं, अपितु दोनो प्रत्येक बुद्धिमान साधक के लिए अनिवार्य है। योग-वाशिष्ठ की परम सिद्धि के मुख्य साधन दर्शनशास्त्रो का अध्ययन सत्सग और आत्म आलोचना ही है। वह विना आतरिक सावनो के वाह्य विधि-निषेधो को वताता है। उसका 'सृष्टि दृष्टि' है। सिद्धान्त और मनस् के अतिरिक्त वाह्य जगत् के अस्तित्व का कोई आधार नही और न उनके साथ कोई वाह्य दृश्यो की कोई अनुकूलता है, और वे सव केवल ज्ञान के आकार हैं, इन सव वातो से हमे ऐसा लगता है कि वौद्ध विज्ञानवाद ही इनके मूल मे है। 'लङ्कावतार सूत्र' जैसे महत्वपूर्ण विज्ञानवाद ग्रथ मे अपने कई पदार्थों द्वारा यह स्पष्ट

करने का प्रयत्न किया गया है कि ज्ञान मे भिन्न-भिन्न की प्रतीतियो का उत्पत्ति स्थान कहा है परन्तु योग-वाशिष्ठ मे इस बात का कोई उल्लेख नही है। जहाँ केवल आकस्मिकता पर ही उत्पत्ति आधारित की गई है। हिन्दू लेखको के विज्ञानवाद के सस्कृत ग्रथो वाचस्पति एव अन्य इनके महत्वपूर्ण योगदान का कोई उल्लेख नही है। विज्ञानवाद एव गौडपाद के प्रभाव योग-वाशिष्ठ पर निश्चित रूप से पडे है, फिर भी इसका विकास शैव से सम्बन्ध रखकर हुआ है जैसाकि उसका स्पद का सिद्धात स्पष्ट करता है। शैव-दर्शन के विवेचन मे इस विषय पर पूर्णत विचार किया जायेगा।

अध्याय ३

चिकित्सा शाखाओ का विवेचन

ऐसा आग्रह किया जा सकता है कि भारतीय दर्शन के इतिहास मे चिकित्सा शाखाओ के विचारको के विवेचन का उल्लेख उपयुक्त नही है। परन्तु यदि यह याद रखा जाय कि चिकित्साशास्त्र प्राचीन भारत मे प्रतिपादित समस्त भौतिक विज्ञानो मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण था, कि इसका साख्य और वैशेषिक भौतिकशास्त्र से सीधा और घनिष्ठ सबध था और सभवत यह तर्कसगत विवेचनो का उद्‌गम था जिनको बाद मे न्याय सूत्रो मे सहिताबद्ध किया गया है, तो इस प्रकार की आपत्ति बहुत कुछ सारहीन हो जायगी।[1] इसके अतिरिक्त इस साहित्य मे कई अन्य रोचक आचारशास्त्र सबधी निर्देश भी सम्मिलित हैं और इसमे जीवन के एक ऐसे दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं जो दर्शन-ग्रन्थो मे पाए जाने वाले दृष्टिकोण से पर्याप्तमात्रा मे भिन्न हैं, अन्यच्च, इसमे भारतीय विचारको की पाडित्यपूर्ण विधियो पर प्रचुर मात्रा मे प्रकाश डालने वाले कई रोचक विशद् विवरणो का समावेश भी है। पुनश्च, जो हठ योग सम्बन्धी अथवा तान्त्रिक देह प्रक्रियाओ अथवा उन शाखाओ की कुछ यौगिक प्रक्रियाओ से सबद्ध शरीर विज्ञानशास्त्र के अत्यधिक महत्व से अभिज्ञ है वे निस्सन्देह तुलना के उद्देश्य से उन सबद्ध विषयो पर चिकित्सा शाखाओ के विवेचनो को जानना चाहेगे। भ्रूण-विज्ञान, वशानुक्रम और अन्य ऐसे ही सामान्य जिज्ञासा के विषयो के बारे मे उनके विवेचन शुद्ध दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी के लिए भी सभवत रोचक सिद्ध होगे।

आयुर्वेद और अथर्ववेद

सुश्रुत का कथन है कि आयुर्वेद अथर्ववेद का उपाग है। मूलत इसमे एक हजार अध्यायो मे १,००,००० श्लोक थे और समस्त प्राणियो की सृष्टि से पहले इसे ब्रह्मा ने रचा था (सुश्रुत सहिता १ १ ५)। इस सदर्भ मे उपाग का सही-सही अर्थ आसानी से सतोषप्रद रूप से समझाया नही जा सकता। निबन्ध-सग्रह मे 'उपाग' शब्द की व्याख्या करते हुए डल्हण (११०० ई० प०) कहते हैं कि 'उपाग' अल्पतर 'अग' (भाग) होता है—'अगभेवाल्त्वादुपागम्'। अत जहाँ हाथ और पैरो को 'अग' माना गया है वहाँ

[1] चरक सहिता ४, मे निर्दिष्ट साख्य-दर्शन का वर्णन इस ग्रन्थ के प्रथम खड के पृष्ठ २२३-२२७ मे पहले ही किया जा चुका है।

'अगूठा' और 'हथेलियों' को 'उपाग' कहा गया है। अथर्ववेद में छ हजार मन्त्र एव लगभग एक हजार गद्य पक्तियां हैं। यदि डल्हण के मतानुसार उपाग का अर्थ एक छोटा सा परिशिष्ट है और यदि आयुर्वेद में मूलत १,००,००० श्लोक थे तो आयुर्वेद अथर्ववेद का उपाग नहीं कहा जा सकता। आयुर्वेद एक छोटा-सा परिशिष्ट होने की अपेक्षा अथर्ववेद से दस गुने से भी कहीं अधिक विस्तृत था। आयुर्वेद के स्वरूप का निरूपण करते हुए चरक कहते हैं कि ऐसा कोई भी समय नहीं हुआ जबकि जीवन का अस्तित्व न रहा हो अथवा जबकि बुद्धिमान् मनुष्यों की सत्ता न रही हो, और इसीलिए ऐसे लोग सदा प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे जो जीवन के विषय में ज्ञान रखते थे और सदा ऐसी औषधियां विद्यमान थी जो मानव शरीर पर आयुर्वेद में निरूपित सिद्धान्तों के अनुसार अपना कार्य करती थी। किसी भी समय आयुर्वेद की सृष्टि शून्य से नहीं हुई, अपितु सदा ही आयुर्वेद का एक क्रम बना रहा, जब हम इसकी रचना किए जाने के बारे में सुनते हैं तो केवल किसी मौलिक विचारक के द्वारा आयुर्वेद सिद्धान्तों के बोध के प्रारम्भ के अथवा किसी प्रतिभावान् आचार्य के हाथों एक नए शिक्षा-क्रम के प्रचलन के सदर्भ में ही ऐसा सम्भव हो सकता है। आयुर्वेद का अस्तित्व सदा ही रहा है और ऐसे लोग सदा विद्यमान रहे हैं जिन्होंने इसे अपने निजी ढग से ही इसे समझा है, इसके प्रथम व्यवस्थित बोध अथवा शिक्षण के अर्थ में ही केवल ऐसा कहा जा सकता है कि उसका 'आदि' है।[1] फिर, चरक ने आयुर्वेद को एक पृथक् वेद के रूप में प्रतिष्ठित किया है, जो अन्य वेदों से श्रेष्ठतर है क्योंकि यह हमें जीवन प्रदान करता है जो अन्य सारे भोगों और सुखों का आधार है, चाहे वे ऐहिक हों अथवा पारलौकिक।[2] वृद्ध वाग्भट के अनुसार आयुर्वेद अथर्ववेद का उपाग नहीं अपितु उपवेद है।[3] महाभारत (२ ११ ३३) में उपवेद का उल्लेख है और इसकी व्याख्या करते हुए नीलकण्ठ का कथन है कि उपवेद चार हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गाधर्व और अर्थशास्त्र। एक परकालीन पुराण, ब्रह्म वैवर्त्तपुराण, का कथन है कि ऋक्, यजुस्, साम और अथर्ववेदों की रचना के पश्चात् ब्रह्मा ने पचमवेद आयुर्वेद की रचना की।[4] रॉथ ने अपनी पुस्तक 'वोर्टरबुश' में इस आशय का एक उद्धरण दिया है

---

[1] चरक १ ३० २४। यह अश चरक १ १ ६ से असगत प्रतीत होता है, क्योंकि इसके अनुसार रोगों का शाश्वत होना माना गया है जबकि चरक १ १ ६ के अनुसार रोग एक निश्चित काल से प्रारम्भ हुए। क्या यह सशोधन दृढबल का प्रक्षेपक तो नहीं ?

[2] चरक १ १ ४२ और इस पर चक्रपाणि रचित 'आयुर्वेद-दीपिका'।

[3] अष्टाग-सग्रह १ १ ८। तथापि, गोपथ-ब्राह्मण १ १० में सर्पवेद, पिशाच वेद, असुरवेद, इतिहासवेद एव पुराणवेद इन पाच वेदों का सभवत उपवेद के अर्थ में उल्लेख है, परन्तु इस सदर्भ में आयुर्वेद का उल्लेख नहीं।

[4] ब्रह्मवैवर्त्त पुराण १ १६ ९ १०।

कि वेदांग माने जाने वाले आयुर्वेद का अध्ययन ब्रह्मा सम्पूर्ण आठों भागों में करते हैं।[1]

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि कुछ लोगों द्वारा आयुर्वेद को पांचवां वेद माना जाता था और उनके अनुयायियों द्वारा इसका पांचवें वेद के रूप में, अथर्ववेद के उपवेद के रूप में, एक स्वतन्त्र उपवेद के रूप में, अथर्ववेद के एक उपांग के रूप में और अन्तत वेदांग के रूप में सम्मान किया जाता था। इन सब परस्पर विरोधी सकेतों से यह समझ में आता है कि ऐसी परम्परागत मान्यता थी कि अन्य वेदों के साथ प्राय सह-अस्तित्व रखने वाला, महान् आदर का पात्र और एक विशिष्ट प्रकार से अथर्ववेद से सम्बद्ध आयुर्वेद नामक एक वेद है। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि इस सम्बन्ध का स्वरूप इस तथ्य मे निहित है कि इन दोनों मे रोगों के उपचार और दीर्घायु की प्राप्ति का वर्णन है, एक मे मुख्यत मन्त्र-तन्त्र द्वारा और दूसरे मे औषधि द्वारा। सुश्रुत का आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपांग कहने मे जो अर्थ है वह सम्भवत इससे अधिक और कुछ नहीं है। अथर्ववेद और आयुर्वेद दोनो मे रोगों के उपचार का उल्लेख है, और इसी ने जन-मानस मे इन दोनों को सामान्यत परस्पर सम्बद्ध कर दिया और अपने धार्मिक मूल्यों के कारण इन दोनों मे अथर्ववेद के पवित्र तर होने से आयुर्वेद को इसके साहित्यिक परिशिष्ट के रूप मे सम्बद्ध कर दिया। कौशिक सूत्र २५ २ की टीका करते हुए दारिल भट्ट हमे उसका सकेत देता है कि आयुर्वेद और अथर्ववेद मे सम्पर्क एव विभेद स्थापित करने वाली कौन-कौन-सी बातें हो सकती हैं। अत वह कहता है कि दो प्रकार की व्याधियां होती है, एक तो वे जो कुपथ्य से होती है और दूसरी वे जो पाप एव अशुभचरण द्वारा होती है। आयुर्वेद की रचना प्रथम प्रकार की व्याधियो के उपचार के लिए हुई और आथर्वण क्रियाओ की रचना दूसरी प्रकार की व्याधियो के लिए।[2] स्वय चरक प्रायश्चित की गणना भेषज के नामो मे करते है और चक्रपाणि उस पर टीका करते हुए कहते है कि जिस प्रकार प्रायश्चित अशुभ द्वारा उत्पन्न व्याधियो का निराकरण करता है उसी प्रकार भेषज भी व्याधियो का निराकरण करता है और इस प्रकार प्रायश्चित भेषज का पर्यायवाची है।[3]

---

[1] ब्रह्मा वेदागमष्टागमायुर्वेदमभाषत। 'आयुर्वेद' शब्द के सम्बन्ध मे बोटॅरबुश में मिलने वाले उद्धरण के इस सदर्भ मे कुछ चूक के कारण पुष्टि नही की जा सकी। यह ध्यान देने योग्य है कि साधारणत वेदाग का प्रयोग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष और निरुक्त इन छ अगो के अर्थ मे होता है।

[2] द्विप्रकाश व्याधय। आहारनिमित्ता अशुभनिमित्ताश्चेति। तत्राहारसमुत्थाना वैषम्य आयुर्वेद चकार, अधर्मसमुत्थाना तु शास्त्रमिदमुच्यते।

—कौशिक सूत्र २५ २ पर दारिल की टीका।

[3] चरक, ४, १, ३, और 'आयुर्वेद दीपिका' वही।

परन्तु यह आयुर्वेद है क्या ? हमारे पास आजकल सुश्रुत और चरक की कृतिया ही परकालीन सशोधको द्वारा सशोधित और परिवर्धित रूप मे उपलब्ध हैं। परन्तु सुश्रुत का कथन है कि ब्रह्मा ने मूलतः आयुर्वेद की रचना की। इसमें १,००,००० श्लोक थे जो एक हजार अध्यायो मे विभक्त थे और फिर यह देखकर कि मनुष्य क्षीण मति एव अल्पायु है उन्होने बाद मे इसे इन आठ अगो मे विभक्त कर दिया—चीरफाड (शल्य), सिर के रोगो का उपचार (शालाक्य), साधारण रोगो का उपचार (काय चिकित्सा) दुष्ट प्रेतात्माओ के प्रभाव की प्रशामक प्रक्रियाए (भूत-विद्या), वाल-रोग चिकित्सा (कौमारभृत्य), विषो का उपशमन (अगदतन्त्र), शरीर को युवा बनाने का विज्ञान (रसायन) और काम-शक्ति को प्राप्त करने का विज्ञान (वाजीकरण)।[1] सुश्रुत का यह कथन बहुत कुछ विश्वसनीय प्रतीत होता है कि आयुर्वेद मूलत एक महान् ग्रन्थ का जिसमे परकालीन आठ भिन्न-भिन्न प्रकार के अध्ययनो को पृथक् नही किया गया था, कि आयुर्वेद को उपाग, उपवेद अथवा वेदाग से सम्बोधित किया जाना भी इस बात की ओर सकेत करता है कि जब वैदिक साहित्य रचा जा रहा था उस समय आयुर्वेद का भी किसी न किसी रूप मे अस्तित्व था। औषधियो के सकलन का उल्लेख हमे 'प्रातिशाख्य' काल जितने प्राचीन समय मे मिलता है।[2] यह विलक्षण बात है कि उपनिषदो अथवा वेदो मे आयुर्वेद का नाम कही नही आता यद्यपि विद्या की विभिन्न शाखाओ का वर्णन उपनिषदो मे मिलता है।[3] अष्टाग आयुर्वेद का उल्लेख महाभारत मे अवश्य है और वायु, पित्त और श्लेष्मा इन तीन धातुओ (धारक) का भी वर्णन है। उसमे एक सिद्धान्त का उल्लेख है जिसके अनुसार शरीर इन तीन धातुओ द्वारा धारण किया जाता है और उनके क्षय से उसका भी क्षय हो जाता है (एतै क्षीणैश्च क्षीयते) और कृष्णात्रेय के चिकित्सा विज्ञान (चिकित्सितम्) के सस्थापक होने की ओर सकेत किया गया है।[4] मन्त्र-तन्त्र के मिश्रण से

---

[1] सुश्रुत-सहिता १ १ ५–६।

[2] ऋ वे प्रातिशाख्य १६ ५४ (५५) अथर्ववेद एव गोपथ ब्राह्मण मे पृ० १० पर ब्लूमफील्ड द्वारा वर्णित। चिकित्साशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ का नाम 'सुभेषज' बताया गया है।

[3] ऋग्वेद भगवोऽध्येमि यजुर्वेद सामवेदमथर्वणश्चतुर्थमितिहास पुराण पचम वेदाना वेद पित्र्य राशि दैव निधि वाकोवाक्यमेकायन देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्र-विद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्याम्—छादोग्य ७, १ २। इनमे से भूत विद्या की गणना आयुर्वेद के आठ तन्त्रो मे की गई है जैसाकि हमे सुश्रुत सहिता से तथा अन्यत्र ज्ञात होता है।

[4] महाभारत २, ११ २५, १२, ३४२, ८६, ८७, १२ २१० २ १, कृष्णात्रेय का 'चरक सहिता' ६ १५ १२९ मे उल्लेख है और इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि

रहित औषधियों के प्राचीनतम सुव्यवस्थित वर्णनों में से एक का उल्लेख 'विनय पिटक' के 'महावग्ग' में मिलता है जहां बुद्ध अपने शिष्यों के लिए औषधियों का निर्देश करते हैं।[1] ये औषधियां साधारण प्रकार की हैं परन्तु इन पर विधि सम्मत व्यवस्था की छाप स्पष्ट है। हमें उसमें 'आकाश गोत्तो' नामक शल्य चिकित्सक का भी ज्ञान होता है जिसने भगन्दर की शल्य चिकित्सा (शल्य कर्म) की थी। रॉकहिल रचित 'लाइफ आफ बुद्ध' में हमें तक्षशिला विश्वविद्यालय में आत्रेय के अधीन जीवक के चिकित्साशास्त्र पढ़ने का उल्लेख मिलता है।[2] अथर्ववेद में एक मन्त्र आता है जिससे पता चलता है कि अथर्ववेदकाल में भी सैकड़ों चिकित्सक थे और औषधियों से व्याधियों का उपचार करने हेतु एक सुसम्पन्न भेषज-संहिता विद्यमान थी, इस मन्त्र में मणियों के गुणों का स्तवन किया गया है और कहा गया है कि इनकी शक्ति सहस्रों चिकित्सकों द्वारा प्रयुक्त सहस्रों औषधियों के बराबर होती है।[3] अतः इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि अथर्ववेद काल में भी औषधियों का प्रचलन जोर शोर से था, और यद्यपि हमारे पास इस मत के पक्ष में अन्य प्रमाण नहीं हैं कि रोगों के उपचार करने से सम्बद्ध साहित्य विद्यमान था जिसे आयुर्वेद के नाम से जाना जाता था, इसमें ऐसी विभिन्न शाखाएं, पृथक्-पृथक् अवस्था में विद्यमान नहीं थी, जिनका विकास बाद में हुआ, फिर भी हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जिससे हम इस प्रकार के साहित्य के अस्तित्व की ओर सुश्रुत के निश्चित संकेत को अमान्य कर दें। चरक-संहिता भी आयुर्वेद के अनादि सनातन क्रम के अस्तित्व की ओर संकेत करती है। 'आयुर्वेद' शब्द में उसने आयु, जड़ी बूटियां, पथ्य आदि के गुणों के स्थैर्य का और मानव शरीर पर उनके प्रभावों का तथा प्रज्ञाशील जिज्ञासु का समावेश किया है। आजकल उपलब्ध प्राचीन ग्रंथ 'चरक संहिता' और 'सुश्रुत संहिता' तन्त्र नाम से विख्यात हैं।[4] अग्निवेश कृत 'अग्निवेश संहिता' भी जिसका चरक ने संशोधन किया था और जो चक्रपाणि के समय तक उपलब्ध थी, एक तन्त्र ही था। यदि आयुर्वेद आजकल हमें उपलब्ध तन्त्र से स्पष्टरूपेण पृथक् कोई साहित्य नहीं है तो फिर यह आयुर्वेद क्या था जिसे भिन्न-भिन्न प्रकार से पंचम वेद अथवा उपवेद की संज्ञा दी गई है।[5] अतः

कहते हैं कि कृष्णात्रेय और आत्रेय, चरक संहिता में वर्णित महान् आचार्य आत्रेय पुनर्वसु से भिन्न दो आचार्य हैं।

[1] विनय पिटक, महावग्गु ६, १-१४।

[2] रॉक्हिल कृत 'लाइफ ऑफ बुद्ध' पृ० ६५।

[3] अथर्ववेद २, ६ ३ शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः।

[4] गुर्वाज्ञालाभानन्तरमेतत्तन्त्रकरणम्—चक्रपाणिकृत आयुर्वेददीपिका १. १ १ और चरक संहिता, १ १ ५२।

[5] आयुर्वेद दीपिका ६ ३, १७७-१८५ में चक्रपाणि ने 'अग्निवेश संहिता' का उद्धरण दिया है।

सम्भवत ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार का साहित्य विद्यमान था, अग्निवेश एव अन्य लेखको की व्यवस्थित कृतियो ने उसे निरस्त कर दिया और परिणामस्वरूप यह साहित्य अन्ततोगत्वा लुप्त हो गया। तथापि चरक 'आयुर्वेद' शब्द का प्रयोग आयुर्विज्ञान के सामान्य अर्थ मे करते हैं। चरक ने आयु को चार प्रकारो मे विभक्त किया है—सुख, दुःख, हित और अहित। 'सुखम् आयु' वह आयु है जो शारीरिक एवम् मानसिक व्याधियो से पीडित नही होती है, जो बल, वीर्य शक्ति, पौरुष एवम् पराक्रम से मुक्त होती है और जो सब प्रकार के भोगो एव समृद्धियो से परिपूर्ण होती है। इसका विपर्यय 'असुखम् आयु' है। 'हितम् आयु' वह है जिसमे कोई व्यक्ति समस्त प्राणियो का हित करने मे रत रहता है, पर-धन का अपहरण नही करता है, सत्यनिष्ठ, शमपरायण होता है, अच्छी तरह सोच-विचार कर काम करता है, नैतिक आदेशो का उलघन नही करता है, सदाचार और भोग समभाव से ग्रहण करता है, पूजनीय पुरुषो का आदर करता है, दानशील होता है और जो इह लोक और परलोक के लिए हितकारी कार्यों को करता है इसका विपर्यय 'अहित' कहलाता है। आयु के इन चारो प्रकारो के साधक ज्ञान को प्रदान करना और साथ ही आयु का मान निश्चित करना ही आयुर्वेद का उद्देश्य है।[1]

परन्तु, यदि आयुर्वेद का अर्थ 'आयु का विज्ञान' है, तो इसका अथर्ववेद से क्या सम्बन्ध है ? चरक सहिता मे हम देखते हैं कि एक चिकित्सक की अथर्ववेद मे विशेष रूप से भक्ति होनी चाहिए। अथर्ववेद मे स्वस्त्ययन, बलि, मगल, होम नियम, प्रायश्चित, उपवास और मन्त्रों द्वारा चिकित्सा का निरूपण किया गया है।[2] इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि चूँकि चिकित्सको को अथर्ववेद का भक्त होना चाहिए, अत इसका तात्पर्य यह हुआ कि अथर्ववेद आयुर्वेद का भाव ग्रहण कर लेता है (अथर्ववेदस्यायुर्वेदमुक्त भवति)। नि सन्देह अथर्ववेद मे विभिन्न प्रकार के विषयो का निरूपण किया गया है, और इसीलिए आयुर्वेद को अथर्ववेद का केवल

---

[1] चरक, प्रथम १ ४० और प्रथम ३० २०–२३।

हिताहित सुख दु खमायुस्तस्य हिताहितम्।
मान च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेद स उच्यते॥

प्रथम ३० २० मे आयुर्वेद की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है—'आयुर्वेदमयतीति आयुर्वेद' अर्थात् जो आयु का बोध करावे वह आयुर्वेद है। सुश्रुत दो वैकल्पिक व्युत्पत्तियो को प्रस्तुत करते हैं—'आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेनवाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेद.' अर्थात् जिससे आयु का ज्ञान या जिससे आयु का लाभ हो वह आयुर्वेद।

—सुश्रुत सहिता १ १ १४।

[2] चरक-१ ३० २०।

रहित ओषधियों के प्राचीनतम सुव्यवस्थित वर्णनों में से एक का उल्लेख 'विनय पिटक' के 'महावग्ग' में मिलता है जहां बुद्ध अपने शिष्यों के लिए ओषधियों का निर्देश करते हैं।[1] ये ओषधियां साधारण प्रकार की हैं परन्तु उन पर विधि सम्मत व्यवस्था की छाप स्पष्ट है। हमें उसमें 'आकाश गोत्तो' नामक शल्य चिकित्सक का भी ज्ञान होता है जिसने भगन्दर की शल्य चिकित्सा (शस्त्र कर्म) की थी। राकहिल रचित 'लाइफ आफ बुद्ध' में हमें तक्षशिला विश्वविद्यालय में आत्रेय के अधीन जीवक के चिकित्साशास्त्र पढ़ने का उल्लेख मिलता है।[2] अथर्ववेद में एक मन्त्र आता है जिससे पता चलता है कि अथर्ववेदकाल में भी सैकड़ों चिकित्सक थे और औषधियों से व्याधियों का उपचार करने हेतु एक सुसम्पन्न भेषज-संहिता विद्यमान थी, इस मन्त्र में मणियों के गुणों का स्तवन किया गया है और कहा गया है कि उनकी शक्ति सहस्रों चिकित्सकों द्वारा प्रयुक्त सहस्रों ओषधियों के बराबर होती है।[3] अतः इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि अथर्ववेद काल में भी ओषधियों का प्रचलन जोर शोर से था, और यद्यपि हमारे पास इस मत के पक्ष में अन्य प्रमाण नहीं हैं कि रोगों के उपचार करने से सम्बद्ध साहित्य विद्यमान था जिसे आयुर्वेद के नाम से जाना जाता था, इसमें ऐसी विभिन्न शाखाएं, पृथक्-पृथक् अवस्था में विद्यमान नहीं थी, जिनका विकास बाद में हुआ, फिर भी हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जिससे हम इस प्रकार के साहित्य के अस्तित्व की ओर सुश्रुत के निश्चित संकेत को अमान्य कर दें। चरक-संहिता भी आयुर्वेद के अनादि सनातन क्रम के अस्तित्व की ओर संकेत करती है। 'आयुर्वेद' शब्द में उसने आयु, जड़ी बूटियां, पथ्य आदि के गुणों के स्थैर्य का और मानव शरीर पर उनके प्रभावों का तथा प्रज्ञाशील जिज्ञासु का समावेश किया है। आजकल उपलब्ध प्राचीन ग्रंथ 'चरक संहिता' और 'सुश्रुत संहिता' तन्त्र नाम से विख्यात है।[4] अग्निवेश कृत 'अग्निवेश संहिता' भी जिसका चरक ने संशोधन किया था और जो चक्रपाणि के समय तक उपलब्ध थी, एक तन्त्र ही था। यदि आयुर्वेद आजकल हमें उपलब्ध तन्त्र से स्पष्टरूपेण पृथक् कोई साहित्य नहीं है तो फिर यह आयुर्वेद क्या था जिसे भिन्न-भिन्न प्रकार से पंचम वेद अथवा उपवेद की संज्ञा दी गई है।[5] अतः

कहते हैं कि कृष्णात्रेय और आत्रेय, चरक संहिता में वर्णित महान् आचार्य आत्रेय पुनर्वसु से भिन्न दो आचार्य हैं।

[1] विनय पिटक, महावग्गु ६, १-१४।

[2] रॉक्हिल कृत 'लाइफ ऑफ बुद्ध' पृ० ६५।

[3] अथर्ववेद २, ९ ३ शत ह्यस्य भिषज सहस्रमुत वीरुध।

[4] गुर्वाज्ञालाभानन्तरमेतत्तन्त्रकरणम्–चक्रपाणिकृत आयुर्वेददीपिका १.१ १ और चरक संहिता, १ १ ५२।

[5] आयुर्वेद दीपिका ६ ३, १७७-१८५ में चक्रपाणि ने 'अग्निवेश संहिता' का उद्धरण दिया है।

सम्भवत ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार का साहित्य विद्यमान था, अग्निवेश एव अन्य लेखको की व्यवस्थित कृतियो ने उसे निरस्त कर दिया और परिणामस्वरूप यह साहित्य अन्ततोगत्वा लुप्त हो गया। तथापि चरक 'आयुर्वेद' शब्द का प्रयोग आयुर्विज्ञान के सामान्य अर्थ मे करते हैं। चरक ने आयु को चार प्रकारो मे विभक्त किया है—सुख, दु ख, हित और अहित। 'सुखम् आयु' वह आयु है जो शारीरिक एवम् मानसिक व्याधियो से पीडित नही होती है, जो बल, वीर्य शक्ति, पौरुष एवम् पराक्रम से मुक्त होती है और जो सब प्रकार के भोगो एव समृद्धियो से परिपूर्ण होती है। इसका विपर्यय 'असुखम् आयु' है। 'हितम् आयु' वह है जिसमे कोई व्यक्ति समस्त प्राणियो का हित करने मे रत रहता है, पर-धन का अपहरण नही करता है, सत्यनिष्ठ, शमपरायण होता है, अच्छी तरह सोच-विचार कर काम करता है, नैतिक आदेशो का उलघन नही करता है, सदाचार और भोग समभाव से ग्रहण करता है, पूजनीय पुरुषो का आदर करता है, दानशील होता है और जो इह लोक और परलोक के लिए हितकारी कार्यों को करता है इसका विपर्यय 'अहित' कहलाता है। आयु के इन चारो प्रकारो के साधक ज्ञान को प्रदान करना और साथ ही आयु का मान निश्चित करना ही आयुर्वेद का उद्देश्य है।[1]

परन्तु, यदि आयुर्वेद का अर्थ 'आयु का विज्ञान' है, तो इसका अथर्ववेद से क्या सम्बन्ध है? चरक सहिता मे हम देखते हैं कि एक चिकित्सक की अथर्ववेद मे विशेष रूप से भक्ति होनी चाहिए। अथर्ववेद मे स्वस्त्ययन, बलि, मगल, होम नियम, प्रायश्चित, उपवास और मन्त्रो द्वारा चिकित्सा का निरूपण किया गया है।[2] इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि चूँकि चिकित्सको को अथर्ववेद का भक्त होना चाहिए, अत इसका तात्पर्य यह हुआ कि अथर्ववेद आयुर्वेद का भाव ग्रहण कर लेता है (अथर्ववेदस्यायुर्वेदमुक्त भवति)। नि सन्देह अथर्ववेद मे विभिन्न प्रकार के विषयो का निरूपण किया गया है, और इसीलिए आयुर्वेद को अथर्ववेद का केवल

---

[1] चरक, प्रथम १ ४० और प्रथम ३० २०–२३।

हिताहित सुख दु खमायुस्तस्य हिताहितम्।
मान च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेद स उच्यते॥

प्रथम ३० २० मे आयुर्वेद की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है—'आयुर्वेदमयतीति आयुर्वेद' अर्थात् जो आयु का बोध करावे वह आयुर्वेद है। सुश्रुत दो वैकल्पिक व्युत्पत्तियो को प्रस्तुत करते है—'आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेनवाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेद' अर्थात् जिससे आयु का ज्ञान या जिससे आयु का लाभ हो वह आयुर्वेद।

—सुश्रुत सहिता १ १ १४।

[2] चरक-१ ३० २०।

एक अंग ही मानना चाहिए (अथर्ववेदैकदेश एवायुर्वेद)। यदि चक्रपाणि की व्याख्या के प्रकाश में देखा जाय तो यह प्रतीत होता है कि चिकित्साशास्त्र की जिस शाखा से चरक सम्बद्ध थे उसका अथर्ववेद से घनिष्टतम सम्बन्ध था। चरक संहिता में पाई जाने वाली अस्थिप्रणाली की अथर्ववेदीय प्रणाली से तुलना करने पर भी इसकी ही पुष्टि होती है। स्वयं सुश्रुत का कथन है कि जहाँ उसके मतानुसार मानव शरीर की अस्थि संख्या तीन सौ है, वहाँ वेदों के अनुयायियों के अनुसार उनकी संख्या तीन सौ साठ है, और चरक द्वारा दी गई संख्या भी ठीक यही है।[1] अथर्ववेद अस्थियों की गणना नहीं करता है, परन्तु अस्थियों के वर्णन से सम्बन्धित कुछ ऐसी महत्वपूर्ण बातें हैं जिनमें इस शाखा का जिसके चरक अनुयायी थे, अथर्ववेद से, न कि सुश्रुत से, मतैक्य है। डा० हर्नले ने इस प्रश्न की सावधानीपूर्वक विवेचना की है। उनका कथन इस प्रकार है, 'एक वास्तव में महत्वपूर्ण अवस्था यह है कि आथर्वण पद्धति का चरक पद्धति से एक मार्के की बात में साम्य है। वह है शिरोरचना में मुख की केन्द्रीय अस्थि की परिकल्पना जिस विषय में सुश्रुत और चरक का मत वैभिन्य है। यह और कहा जा सकता है कि दीर्घ अस्थियों के आधार के लिए प्रयुक्त आथर्वण शब्द 'प्रतिष्ठा' प्रत्यक्षत चरकीय शब्द 'अधिष्ठान' से साम्य रखता है और सौश्रुत 'कूर्च' से पर्याप्त मात्रा में भिन्न है।[2] डा० हर्नले के अनुसार शतपथ ब्राह्मण को उन दोनों शाखाओं का ज्ञान था जिनके चरक और सुश्रुत क्रमश अनुयायी थे। तो भी इसमें ३६० अस्थियों की गणना ठीक से ही की गई है, जैसेकि चरक ने की थी।[3] सुश्रुत संहिता ३ ५ १८ में प्रयुक्त शब्द 'वेदवादिनो' का अर्थ वेद से भिन्न आयुर्वेद के अनुयायी नहीं है, जैसाकि डल्हण ने व्याख्या की है, परन्तु यह इस अर्थ में अक्षरश सत्य

---

[1] त्रीणि सषष्ठान्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते, शल्यतन्त्रे तु त्रीण्येव शतानि-सुश्रुत संहिता ३ ५ १८। त्रीणि षष्ठानि शतान्यस्थ्ना सह दन्तनखेन।

चरक-संहिता ४ ७ ६।

[2] ए० एफ० रूडोल्फ हर्नले रचित स्टडीज इन दि मैडीसिन आफ एन्शियंट इण्डिया।

—पृ० ११३।

[3] वही, पृ० १०५६। शतपथ ब्राह्मण १० ५ ४ १२, १२ ३ २ ३ और ४, १२, २ ४ ६–१४, ८ ६ २ ७ और १० भी देखिए। याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र विष्णु स्मृति विष्णु धर्मोत्तर और अग्निपुराण में भी चरक के अनुरूप मानव शरीर की अस्थियों की संख्या ३६० दी गई है। अन्तिम तीन का स्रोत सम्भवत प्रथम (याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र) था, जैसाकि डा० हर्नले द्वारा अपनी पुस्तक स्टेडीज इन दि मैडीसिन ऑफ एन्शियेन्ट इण्डिया (पृ० ४०–४६) में संकेत किया गया है। परन्तु इन चिकित्सेतर ग्रंथों में से कोई भी अधिक प्राचीनकाल का नहीं है, सम्भवत वे तृतीय या चतुर्थ शताब्दी ई० पू० से पहले के नहीं हैं।

है कि यह हमें उस दृष्टिकोण को प्रदान करता है जिस दृष्टिकोण मे चरक का अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, धर्मशास्त्र और पुराणों से साम्य है, जो सब कट्टर अनुमानो के अनुसार वेदो से अपनी प्रामाणिकता उपपादित करते हैं। यदि चरक द्वारा प्रस्तुत चिकित्सा की आत्रेय शाखा के विचारो और वैदिक विचारो के इस साम्य को आत्रेय द्वारा स्थापित अथर्ववेद और आयुर्वेद की एकात्मकता के साथ-साथ देखा जाय तो यह मानना अनुचित नही होगा कि चरक द्वारा प्रस्तुत आत्रेय शाखा का विकास अथर्ववेद से हुआ। यह आयुर्वेद की उस अन्य शाखा के विद्यमान होने की सम्भावना का निराकरण नही करता जिसका सुश्रुत ने उल्लेख किया है और जिससे गुरु परम्परा के शिक्षण माध्यम से सुश्रुत संहिता का विकास हुआ। इस साहित्य ने अपने आपको अथर्ववेद से सम्बद्ध करके और अपने को अथर्ववेद का एक उपाग घोषित करके जनता का आदर प्राप्त करने का प्रयत्न किया हो।[1]

जयन्त का तर्क है कि वेदो की प्रामाणिकता इस तथ्य पर आश्रित है कि उनकी रचना पूर्णत विश्वसनीय (आप्त) पुरुषो द्वारा हुई। उपमा के रूप मे वह आयुर्वेद का उल्लेख करते हैं, जिसकी प्रामाणिकता का कारण इसकी रचना विश्वसनीय (आप्त) पुरुषो द्वारा होता है। आयुर्वेद के चिकित्सा सम्बन्धी निर्देश इस तथ्य के कारण प्रामाणिक माने जाते हैं कि वे आप्त पुरुषो के निर्देश है (यतो यत्राप्तवादत्र तत्र प्रामाण्यमिति व्याप्तिर्गृह्यते)। परन्तु यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि आयुर्वेद की प्रामाणिकता इसके आप्त पुरुषो की कृति होने के कारण नही अपितु इसके निर्देश के अनुभव सिद्ध होने के कारण (नन्वायुर्वेदादौ प्रामाण्य प्रत्यक्षादिसम्वादात् प्रतिपन्न, नाप्तप्रामाण्यात्)। इसके उत्तर मे जयन्त का कथन है कि आयुर्वेद की प्रामाणिकता इस तथ्य के कारण है कि यह आप्त पुरुषो की कृति है, और अनुभव-सिद्ध भी है। उसका यह भी तर्क है कि औषधियो की अत्यधिक सख्या, उनके योग और उनके प्रयोग इतने अनन्त प्रकार के हैं कि किसी भी व्यक्ति के लिए अन्वयव्यतिरेक की प्रायोगिक विधियो द्वारा उनको जानना पूर्णत असभव है। क्योकि चिकित्सकगण वस्तुओ के अपने ज्ञान मे लगभग सर्वज्ञ होते हैं, अतः केवल इसी हेतु उनमे व्याधियो और उनके उपचार से सबद्ध अलौकिक ज्ञान के प्रदर्शन की क्षमता है, जिसको उनके प्रमाण पर विश्वास करके ही ग्रहण किया जा सकता है। चिकित्सा सम्बन्धी आविष्कार अन्वय व्यतिरेक की प्रायोगिक विधियो के प्रयोग के द्वारा किए गए और बाद मे दीर्घकाल मे वे पुजीभूत हो गए, इस मत का खडन करने के उसके प्रयत्न बहुत क्षीण हैं और उनकी समीक्षा करना यहाँ आवश्यक नही।

---

[1] तथापि 'उपाग' शब्द का प्रयोग इस अर्थ मे हुआ हो कि यह एक परिशिष्ट ग्रथ का जिसका क्षेत्र वैसा ही था जैसाकि अथर्ववेद का।

अथर्ववेद या ब्रह्मवेद के नाम से विख्यात चतुर्थ वेद, मुख्यत औषधियो और जादू-टोनो का ही निरूपण करता है।[1] ऐसा मानने का कोई कारण नही है कि इस वेद की रचना प्राचीनतम अऋग्वैदिक ऋचाओ के भी वाद हुई, क्योकि समवत भारत के इतिहास मे कभी भी ऐसा समय नही आया जव लोगो ने व्याधियो का उपचार करने या विपत्तियो को दूर करने और शत्रुओ को क्लेश पहुँचाने के लिए जादू टोने का आश्रय नही लिया हो। स्वय ऋग्वेद को भी अधिकाश मे ऐसी आभिचारिक प्रक्रियाओ का एक विशिष्ट विकसित रूप माना जा सकता है। मनुष्यो के मस्तिष्क पर आथर्वण जादुओ का आधिपत्य समवत अत्यन्त शक्तिशाली थी क्योकि वे उन्हे अपने सारे दैनिक कृत्यो मे प्रयोग करते थे। आज भी जव ऋग्वेदीय यज्ञ अत्यन्त विरल हो गए हैं, आथर्वण जादू टोनो और उनसे प्रादुर्भूत अपेक्षाकृत परवर्तीकाल के तान्त्रिक जादू-टोनो का प्रयोग हिन्दुओ के समस्त वर्गों मे वहुत सामान्य है। पुजारी वर्ग की आय का एक वहुत वडा भाग पुरानी एव गम्भीर बीमारियो के इलाज करने, मुकदमे जीतने, कष्ट निवारण करने, परिवार मे पुत्र प्राप्त करने, शत्रु की हानि करने इत्यादि के लिए किए गए स्वस्त्यमनो, प्रायश्चितो, और होम से प्राप्त होता है। रक्षा कवच का प्रयोग भी लगभग उतने ही मुक्त रूप से हो रहा है जितना कि तीन या चार हजार वर्ष पहले होता था, और साप के मत्र तथा कुत्ते आदि काटने के मत्र आज भी ऐसी बातें हैं जिनका विरोध करना चिकित्सको को कठिन जान पडता है। जादू-टोने की अदृश्य शक्तियो मे विश्वास सामान्य हिन्दू गृहस्थ मे प्राय: धर्म का स्थान ले

[1] कुछ पवित्र ग्रन्थो मे चार वेदो का उल्लेख है और कुछ मे तीन का, जैसे—'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्ववेदश्च।' बृहदारण्यक, द्वितीय ४, १० मे चार वेदो का उल्लेख है। पुनश्च, तैत्तिरीय ब्राह्मण १, ११, १, २६ मे तीन वेदो का उल्लेख है—'यमृषयस्त्रयीविदो विद ऋच सामानि यजूषि। सायण मीमासा सूत्र २, १, ३७–'शेषे यजु शब्द.' का हवाला देते हैं और कहते हैं कि अन्य सारे वेद, जो न तो ऋक हैं और न साम ही है वे यजुस् ही हैं (सायण कृत अथववेद का उपोदघात, पृ० ४, सन् १८९५ का वम्बई सस्करण)। इस व्याख्या के अनुसार अथर्ववेद का समावेश यजुर्वेद मे होना चाहिए और यह व्याख्या तीन वेदो के उल्लेख को स्पष्ट कर देती है। गोपथ ब्राह्मण द्वितीय १६ मे अथर्ववेद का 'ब्रह्म वेद के रूप मे उल्लेख है और दो भिन्न कारण प्रस्तुत किए गए हैं। प्रथमत ऐसा कहा जाता है कि अथर्ववेद की रचना ब्रह्मा की तपस्या के द्वारा हुई, दूसरा कि गोपथ ब्राह्मण मे यह बतलाया गया है कि सारे आथर्वण मत्र उपचार करने वाले (भेषज) है और जो कुछ भी भेषज है वह सब अमृत है और जो कुछ अमृत है वह 'ब्रह्म'। येऽथर्वाणस्तद् भेषज, यद् भेषज तदमृतम् यदमृत तद्-ब्रह्म' (गोपथ ब्राह्मण ३, ४)। न्याय मजरी, २५०-२६१ भी देखिए।

लेता है। अतः यह मान लिया जा सकता है कि जब अधिकांश ऋग्वेदीय ऋचाओं की रचना भी नहीं हुई थी, उस समय आथर्वण मंत्रों की पर्याप्त संख्या प्रचलित थी। तथापि जब अथर्ववेद का आज के उपलब्ध रूप में संकलन किया गया तो उसमें कुछ नए मन्त्र और सम्मिलित कर लिए गए, जिनका दार्शनिक स्वरूप अधिकांश मन्त्रों के दृष्टिकोण से मेल नहीं खाता। जैसाकि सायण ने अपने भाष्य की भूमिका में दर्शाया है अपने शत्रुओं को दूर रखने के लिए और अन्य कई लाभों को प्राप्त करने के लिए अथर्ववेद राजाओं के लिए अपरिहार्य था और राजपुरोहितों का आथर्वण प्रक्रियाओं में निष्णात होना आवश्यक था। ये प्रक्रियाएं अधिकांशतः साधारण गृहस्थ के क्लेशों का निवारण करने के लिए थीं और इसी हेतु 'गृह्यसूत्रों' ने पर्याप्त मात्रा में इनका प्रयोग किया गया है। अथर्ववेद का प्राचीनतम नाम है 'अथर्वांगिरस.' और यह नाम प्रायः दो प्रकार के विभाजन को सूचित करता है, एक तो वे मन्त्र जो अथर्वा रचित बताए जाते हैं और दूसरे वे जो अंगिरा रचित बताए जाते हैं, प्रथम में शान्त (पवित्र), पौष्टिक (कल्याणप्रद) और भेषजों (उपचारकों) का विवेचन है और द्वितीय में शत्रुओं का क्लेशदायी क्रूर 'घोर' मशक क्रियाओं (अभिचारिक) का विवेचन है। आथर्वण जादू टोनों से जिन उद्देश्यों की पूर्ति की अपेक्षा की जाती थी वे अनेक थे। इन उद्देश्यों को संक्षिप्त रूप में कौशिक सूत्र के अनुसार निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है। बुद्धि तीव्र करना, ब्रह्मचारी के गुणों की प्राप्ति, ग्राम, नगर, दुर्ग और राज्य का ग्रहण तथा पशु, धन, धान्य, संतान, स्त्री, हाथी, घोडे और रथ आदि की प्राप्ति, प्रजा में ऐकमत्य एवं सन्तोष स्थापित करना, शत्रु के हाथियों को भयभीत करना, रण जीतना, सब प्रकार के अस्त्र शस्त्रों का निवारण शत्रु दल को स्तब्ध, भयभीत और नष्ट कर देना, अपनी सेना का उत्साह बढाना और संरक्षण करना, युद्ध के भावी परिणामों को जानना, सेनापतियों और मुख्य-मुख्य व्यक्तियों को अपने मत में करना, उन क्षेत्रों में मन्त्र सिद्ध पाश, तलवार अथवा डोरे डालना जहां शत्रु सेना गतिशील है। युद्ध विजय के लिए रथारोहण, सारे रण-वाद्यों पर जादू करना, शत्रु-घात, शत्रु द्वारा नष्ट नगरों का पुनर्ग्रहण, अभिषेक समारोह, पापों के प्रायश्चित, शाप, गो-संवर्धन समृद्धि-लाभ, कल्याण और कृषि की वृद्धि एवं वृषभों की दशा में सुधार के लिए रक्षा कवच, गृहस्थ की विभिन्न सामग्रियों को जुटाना, नव निर्मित भवन को शुभ बनाना, सांड को खुला छोडना (सामान्य क्रियाओं के एक अंग के रूप में—श्राद्ध) फसल काटने के मास आग्रहायण (मध्य नवम्बर से मध्य दिसम्बर तक) के कृत्यों को सम्पन्न करना, पूर्व जन्म कृत पापों के फलस्वरूप प्राप्त अन्यथा असाध्य विभिन्न व्याधियों का उपचार प्राप्त करना, सारे रोगों और सामान्यतः, ज्वर, हैजा, और प्रमेह का इलाज करना, शस्त्राघातजनित घावों से रुधिर-प्रवाह रोकना, अपस्मारजन्य मूर्छा को और भूत, पिशाच, ब्रह्म राक्षस, इत्यादि दुष्टात्माओं के वशीभूत होने से रोकना, वात, पित्त, श्लेष्मा, हृद्रोग, पाण्डुरोग, श्वेत

कुण्ठ, विभिन्न प्रकार के ज्वर, जलोदर, राजयक्ष्मा का इलाज करना, गायो और घोडो के कीडो का इलाज करना, सब प्रकार के विषो को शान्त करना, मस्तक, नेत्र, कर्ण, जिह्वा, ग्रीवा के रोगो की और ग्रीवा प्रदाह की औषधो की कल्पना करना, ब्राह्मण के शाप के दुष्प्रभावो का निवारण करना, पुत्र प्राप्ति, सुखी प्रसव और भ्रूण के कल्याण के लिए स्त्री सस्कारो की व्यवस्था करना, समृद्धि प्राप्त करना, राज-कोप की शान्ति, भावी सफलता अथवा असफलता का ज्ञान, अतिवृष्टि और वज्रपात की रोक, शास्त्रार्थ जीतना और विवाद रोकना, स्वेच्छानुसार नदी-प्रवाह करना, वर्षा प्राप्ति, जूए में जीतना, पशु और अश्वो का कल्याण, व्यापार मे अधिक लाभ प्राप्ति, स्त्रियो मे अशुभ लक्षणो की रोक, नए घर के लिए शुभ कृत्यो का सम्पादन, निषिद्ध दान को स्वीकार करने और निषिद्ध पौरोहित्य सपादित करने से उत्पन्न पापो को परिमार्जन, दु स्वप्नो का रोकना, जिन अशुभ नक्षत्रो की दृष्टि मे कोई जातक उत्पन्न हुआ हो उन नक्षत्रो के प्रकोप को दूर करना, ऋण शोधन, अपशकुनो की बुराइयो को दूर करना, शत्रु को क्लेश पहुँचाना, शत्रु के मत्र तत्रो के क्लेशकारी प्रभाव का प्रतीकार करना, शुभ सस्कारो का सम्पादन, दीर्घायुष्य की प्राप्ति जातकर्म, नामकरण, चूडाकर्म, यज्ञोपवीत, विवाहादि सस्कारो का सम्पादन, अन्त्येष्टि सस्कार करना, प्राकृतिक प्रकोपो यथा धूल वृष्टि, रक्त वृष्टि आदि, यक्ष, राक्षसादि के आविर्भाव, भूकप, धूमकेतु के उदय और सूर्य तथा चन्द्र ग्रहणो के कारण उत्पन्न विपदाओ से रक्षा करना।

आथर्वण क्रियाओ के सम्पादन से उपलब्ध होने वाले लाभो की उपर्युक्त लम्बी सूची हमारे सामने उस समय का चित्र अकित कर देती है जब आथर्वण जादू टोनो का प्रचलन था। यह निश्चित रूप से स्थिर नही किया जा सकता कि इन सारी क्रियाओ का आथर्वण मन्त्रो की सर्वप्रथम रचना के समय तक आविष्कार हो चुका था। वर्तमान काल मे हमारे पास जो प्रमाण उपलब्ध है वे कौशिक सूत्रो द्वारा उपलब्ध कराए गए प्रमाणो तक ही सीमित है। सायण द्वारा स्वीकृत भारतीय परम्परा के अनुसार अथर्ववेद का सकलन नौ पृथक्-पृथक् सग्रहो मे चालू था, जिनके पाठ न्यूनाधिक रूप मे एक दूसरे से भिन्न थे। ये भिन्न-भिन्न पाठ अथवा शाखाएँ पैप्पलाद, ताद, मद शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवाद, देवादर्श और चारणवैद्य थी। इनमे से केवल पैप्पलाद और शौनकीय पाठ ही प्राप्य हैं। पैप्पलाद शाखा ट्यूबिन्जेन स्थित केवल एक अप्रकाशित पाडुलिपि मे ही विद्यमान है, जिसको सर्वप्रथम रौथ ने खोजा था।[1] इसका प्रतिकृति रूप मे और आशिक रूप से मुद्रित रूप मे भी सम्पादन किया जा चुका है। शौनकीयशाखा ही आजकल मुद्रित रूप मे उपलब्ध है। शौनकीय शाखा का ब्राह्मण गोपथ ब्राह्मण है और इसके कौशिक, वैतान, नक्षत्र, कल्प, आंगिरस

[1] रौथ कृत 'डेर अथर्ववेद इन काश्मीर'।

कल्प और शान्ति कल्प ये पांच सूत्र ग्रन्थ है,[1] इन्हें 'पंचकल्प' की संज्ञा भी दी जाती है। इनमें कौशिक सूत्र सम्भवतः प्राचीनतम और सबसे महत्वपूर्ण है क्योंकि अन्य चारों सब इस पर आश्रित हैं।[2] नक्षत्र कल्प और शान्तिकल्प का स्वरूप न्यूनाधिक फलित ज्योतिष का है। आंगिरस कल्प की कोई भी पांडुलिपि उपलब्ध नहीं है, परन्तु सायण की संक्षिप्त टिप्पणी से ऐसा ज्ञात होता है कि यह शत्रुओं को क्लेश पहुँचाने (अभिचार कर्म) से सम्बद्ध एक पुस्तिका होगी। वैतान-सूत्र में कुछ याज्ञिक और संस्कार सम्बन्धी विवरणों का विवेचन किया गया है। कौशिक सूत्र पर दारिल, केशव, भद्र और रुद्र ने भाष्य लिखे थे। चारणवैद्य (घूमते फिरते वैद्य) शाखा की विद्यमानता हमें उस विशिष्ट शाखा को प्रदर्शित करती है, जिससे उस आत्रेय-चरक शाखा का प्राचीन 'आयुर्वेद' निर्मित था, जिसने अथर्ववेद की आयुर्वेद से एकात्मकता स्थापित की थी। 'चारणवैद्य शब्द' संन्निहित यह संकेत रोचक है कि उस समय के चिकित्सक (वैद्य) एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाया करते थे और उनके आगमन को सुनकर रोगी उनके पास जाया करते थे, तथा उनकी सहायता लेते थे।[3]

अथर्ववेद और आयुर्वेद में अस्थियाँ

इस अध्याय का मुख्य आकर्षण अथर्ववेद का वह भाग है जिसमें चिकित्सा संबंधी निर्देशों का विवेचन है और इसके लिए 'कौशिक सूत्र' को ही मुख्य पथ-प्रदर्शक रूप में ग्रहण करना पड़ेगा। हम प्रथम अथर्ववेद की शारीर विशेषताओं से प्रारम्भ करते हैं।[4] जिन अस्थियों की गणना की गई है, वे इस प्रकार है: पार्ष्णी (द्विवचनांत)[5]

---

[1] कौशिक-सूत्र 'संहिताविधि' और 'संहिताकल्प' नाम से भी विख्यात है। नक्षत्र, आंगिरस और शान्ति ये तीन कल्प वस्तुतः परिशिष्ट है।

[2] 'तत्र शाकल्येन संहितामंत्राणां शान्तिक-पौष्टिकादिषु कर्मसु विनियोग-विधानात् संहिताविधिर्नाम कौशिकं सूत्रम्, तदेव इतरैरुपजीव्यत्वात्-सायणे कृत अथर्ववेद का उपोद्घात, पृ० २५।

[3] क्या यह सम्भव है कि 'चरक' (शाब्दिक अर्थ घूमने वाला) का वैद्य के रूप में चरक के व्यवसाय की पर्यटक प्रकृति से कोई सम्बन्ध है?

[4] इस सन्दर्भ में मन्त्र सं० २.२३ और १०.२ विशेष महत्व के हैं।

[5] चरक ने भी प्रत्येक पैर की एक-एक 'पार्ष्णि' की गणना की है। हर्नले (स्टेडीज इन दि मैडीसिन ऑफ एन्शियन्ट इण्डिया पृ० १२८) ने इस तथ्य पर यह टिप्पणी की है कि चरक का आशय पाद्मूल की अस्थि के पीछे की ओर और नीचे की ओर के प्रवर्धो से है, अर्थात् इसके उस भाग से आशय है जिसको बाह्य ओर से देखा और जाना जा सकता है और जो सामान्यतः एडी के नाम से जाना जाता है।

दोनों पैरों की एडियाँ, (२) गुल्फौ[1] (द्विवचनान्त)–टखने की दो अस्थियां, (३) अंगुल्यः (बहुवचन में)–अंगुलियां,[2] (४) उच्छ्लंखी (द्विवचनान्त अर्थात्

अथर्ववेद को भी यही धारणा हो सकती है। सुश्रुत गुच्छ (कूर्च) के रूप में इसकी वास्तविक प्रकृति को सम्भवतः जानते थे, क्योंकि शारीर स्थान ६ में वे गुल्फ का कूर्च-शिरस् अथवा गुच्छ के शिर के रूप में वर्णन करते हैं, परन्तु उन्होंने 'पार्ष्णि' की पृथक् रूप से गणना की है। हर्नले का विचार है कि 'पार्ष्णि' से सुश्रुत का आशय पादमूल-अस्थि से है, और इसे प्रपदोपास्थि समूह (कूर्च) का एक अंग नहीं मानते थे। यह अजीब बात है कि वाग्भट प्रथम ने प्रत्येक हाथ से एक-एक पार्ष्णि सम्बद्ध करके एक अनोखा भ्रम उत्पन्न कर दिया (अष्टांग संग्रह २.५ और हर्नले पृष्ठ ६१-६६)।

[1] 'गुल्फ' का आशय टांगों की दो अस्थियों के प्रवर्धों से है, जो गुल्फिका (Malleoli) नाम से ज्ञात है। चरक और सुश्रुत द्वारा गुल्फों की संख्या चार गिनाई गई है। देखिए सुश्रुत के विभाजन पर हर्नले की टिप्पणी, हर्नले, पृ० ८१, ८२, १०२ से १०४। सुश्रुत ३.५.१६ में 'तलकूर्चगुल्फसंश्रितानि दश' आया है जिसकी व्याख्या डल्हण ने इस प्रकार की है। तल (५ शलाकाएं और उनकी प्रबंधक एक अस्थि)–६ अस्थियाँ, कूर्च–२ अस्थियाँ, गुल्फ–२ अस्थियाँ। हर्नले ने इसका गलत अर्थ लगाया, और यह समझकर कि डल्हण ने एकही पैर के दो 'कूर्च' और दो 'गुल्फों' का वर्णन किया है, उन्होंने कई अनियमितताओं को प्रदर्शित किया है और सुश्रुत के पाठ का भिन्न अर्थ ही बताया है। इस सन्दर्भ में उसका 'वलय' का आभूषण अर्थ भी सही नहीं है, 'वलय' का अर्थ सम्भवतः 'गोलाकार' है। यदि डल्हण का अनुसरण किया जाय, तो उसका आशय यह हो सकता है कि प्रत्येक टांग के 'कूर्च' में दो अस्थियाँ हैं, और वे प्रत्येक टांग में एक 'गुल्फ' की एक वर्तुलाकार (वलयास्थि) अस्थि का निर्माण करती हैं। यदि ऐसा मान लिया जाय तो हर्नले ने इस विषय पर जो कुछ कहा है वह आलोचना की अति हो जाता है और उसका अधिकांश भाग सार हीन हो जाता है। विधायक अंगों अथवा सम्पूर्ण वलयास्थि के प्रसंगानुसार 'गुल्फ' दो होते हैं अर्थात् प्रत्येक टांग में एक-एक। मेरे अर्थ के अनुसार सुश्रुत को यही ज्ञान था कि केवल दो अस्थियों से ही 'कूर्च' निर्मित है, और सुश्रुत में ऐसा कोई स्थल नहीं है जो यह प्रदर्शित करे कि उसे अधिक का ज्ञान था। पदतल की अस्थि में पार्ष्णि, कूर्च शिरस् और दोनों गुल्फों का समावेश होगा।

[2] चरक और सुश्रुत दोनों पोरवों (पाणिपादांगुलि) की संख्या साठ बताते हैं जब वास्तविक संख्या केवल छप्पन ही है।

हाथ और पैर की)–करभास्थियां और प्रपदास्थियां,[1] (५) प्रतिष्ठा-आधार,[2] (६) अष्ठीवन्तौ (द्विवचनान्त)–घुटनों की ढकनियों,[3] (७) जानुनः संधि-घुटनों के जोड़,[4] (८) जंघे (द्विवचनान्त)–टांगें,[5] (९) श्रोणी (द्विवचनान्त)–वस्ति

---

[1] चरक ने इन करभास्थियों और प्रपदास्थियों (पाणिपादांगुलि) की संख्या बीस दी है, जो वास्तविक संख्या है। सुश्रुत ने उनका उल्लेख 'तल' संज्ञा के अन्तर्गत किया है; उनके द्वारा प्रयुक्त यह एक विशेष संज्ञा है। उनके समस्त-पद 'तल-कूर्च-गुल्फ' के अन्तर्गत अंगुलियों की अस्थियों के अतिरिक्त हाथ और पैर की सारी अस्थियों का समावेश होता है।

[2] चरक ने 'पाणिपादशलाकाधिष्ठान' पद का, याज्ञवल्क्य ने 'स्थान' का, और सुश्रुत ने 'कूर्च' का प्रयोग किया है। प्रतीत होता है कि चरक ने इसको एक अस्थि ही माना है। 'कूर्च' का तात्पर्य (१) मांस (२) शिरा (३) स्नायु और (४) अस्थि के जाल (मांस शिरास्नाय्वस्थिजालानि) से है। इन चारों प्रकार के ये सारे जाल हाथ और पैरों की संधियों में विद्यमान हैं।

[3] हर्नले का कथन है कि अथर्ववेद में 'अष्ठीवत्' और 'जानु' पर्यायवाची है, परन्तु १०. २. २ का पाठ उनकी गणना स्पष्टतः पृथक् रूप से करता हुआ प्रतीत होता है। 'अष्ठीवत्' सम्भवतः जानुफलक की अस्थि है। चरक ने 'जानु' और 'कपालिका' शब्दों का प्रयोग सम्भवतः 'घुटने की ढकनी' (जानुफलक) और 'कुहनी पुटक' (कपालिका) के अर्थ में प्रयोग किया है। 'कपालिका' का अर्थ एक 'छोटा छिछला पात्र' होता है; और यह साम्य कुहनी के पुटक की रचना के उपयुक्त है। सुश्रुत ने 'कूर्पर' (कुहनी की पुटक) शब्द का प्रयोग शारीर स्थान ५.१९ में अस्थियों की सामान्य सूची में नहीं किया है अपितु 'शारीर' ६.२५ में 'मर्मों' की गणना के समय किया है।

[4] यह 'अष्ठीवत् (घुटने की ढकनी) से भिन्न प्रतीत होती है।

[5] टांग की प्रजंघिका और उपजंघिका अस्थि। चरक, भेल, सुश्रुत और वाग्भट प्रथम ने इस अवयव को दो अस्थियों से निर्मित ठीक ही बताया है। अथर्ववेद ने उन अस्थियों से निर्मित ढांचे को ठीक ही एक चतुष्टय आकार बताया है जिसके सिरे एक-दूसरे से संहत हैं (चतुष्टयं युज्यते संहितान्तम्)। इनसे मिलती-जुलती अग्र बाहु (अरत्नि) की दो अस्थियों–बहिःप्रकोष्ठास्थि और अन्तःप्रकोष्ठास्थि–की गणना चरक द्वारा ठीक की गई है। यह पर्याप्त विलक्षण बात है कि सुश्रुत ने उनका उल्लेख अस्थि सूची में नहीं किया है। इस सन्दर्भ में 'बाहु' को नहीं गिना गया है।

कुहर,[1] (१०) ऊरु (द्विवचनान्त)–जांघों की अस्थियां,[2] (११) उरस्[3]–वक्षःस्थल की

---

[1] चरक ने वस्ति-कुहर की दो अस्थियां अर्थात् दोनों ओर की अनामी अस्थियों का उल्लेख किया है। आधुनिक शारीरज्ञों का मत है कि प्रत्येक अनामी अस्थि तीन पृथक् अस्थियों से 'श्रोणि-फलक' अस्थि का ऊपरी भाग, 'आसनास्थि' है, निचला भाग, और जघनास्थि, अन्य अनामी अस्थि से जुड़ा हुआ भाग निर्मित है। यद्यपि शिशु देह में श्रोणि-फलक और आसनास्थि ये दो अस्थियां होती हैं फिर भी युवावस्था में एक हड्डी के रूप में आपस में मिल जाती है, और इस दृष्टिकोण से श्रोणि-फलक और आसनास्थि इन दोनों को एक ही मानना न्यायसंगत है। चरक ने इनके अतिरिक्त एक पृथक् भगास्थि की भी गणना की है। उन्होंने सम्भवत: (जैसा हर्नले ने दर्शाया है) त्रिकास्थि को और अनुत्रिक अस्थि को एक अस्थि ही माना है, जो पृष्ठवंश का एक अंग है, 'भगास्थि' से उनका आशय जघन अस्थि से है, क्योंकि चक्रपाणि ने 'भगास्थि' की व्याख्या करते हुए इसको अभिमुखकटिसंधानकारक तिर्यगस्थि (कूल्हे की सामने की अस्थियों को परस्पर मिलाने वाली तिर्यक् अस्थि) बताया है। फिर भी सुश्रुत ने पांच अस्थियों की गणना की। चार गुद भग, नितंब में और एक त्रिक में। नितम्ब चरक के दो 'श्रोणि फलकों' के तुल्य हैं, 'भग' भगास्थि अथवा जघन अस्थि के, 'गुद' त्रिक आस्थि के और 'त्रिक' त्रिकोणमयी पृष्ठवंश की उपान्त्य अस्थि के तुल्य है। सुश्रुत का चरक से मुख्य भेद यह है कि जहां चरक पृष्ठ त्रिक और अनुत्रिक अस्थियों को पृष्ठवंश के भाग के रूप में एक अस्थि मानते हैं वहां सुश्रुत उनको दो अलग अस्थियां मानते हैं और उनको पृष्ठवंश से पृथक् रूप में मानते हैं। वाग्भट ने 'त्रिक' और 'गुद' को एक अस्थि माना है, परन्तु इसे वह मेरुदंड से पृथक् रखते हैं।

चरक, सुश्रुत और वाग्भट प्रथम इसको ठीक ही प्रत्येक टांग में एक अस्थि ही मानते हैं। चरक ने इसे 'ऊरुनलक' की संज्ञा दी है।

चरक ने वक्ष में चौदह अस्थियां गिनाई हैं। भारतीय 'शारीरज्ञ' कोमलास्थि को नई अस्थियां (तरुणास्थि) मानते थे। वक्षोस्थि के प्रत्येक ओर कुल दस पसलियों के किनारे की कोमलास्थियाँ हैं। परन्तु आठवीं, नवीं और दसवीं कोमलास्थियां सातवीं से संयुक्त हैं। अत: यदि सातवीं, आठवीं, नवीं और दसवीं कोमलास्थियों को एक अस्थि माना जाय तो वक्षोस्थि के प्रत्येक ओर कुल सात अस्थियां होती हैं। इस प्रकार हमें कुल संख्या चौदह प्राप्त होती है, जिनकी गणना चरक ने की है। चरक ने वक्षोस्थि को पृथक् से नहीं गिना है। उनके मत में यह एक-दूसरे से अटूट रूप से सम्बद्ध पसली के सिरे को कोमलास्थि की श्रृंखला का परिणाम है। सुश्रुत और वाग्भट प्रथम ने 'उर:' की आठ अस्थियों की गणना की है और इसका कारण नहीं बताया जा सकता है। सुश्रुत की दस अस्थियों का हर्नले का

अस्थियां, (१२) ग्रीवा[1] (बहुवचनांत)–वायु नलिका, (१३) स्तनौ (द्विवचनांत)[2]–स्तन

काल्पनिक पुनः स्थापन सही नहीं प्रतीत होता है। तथापि याज्ञवल्क्य की गणना के अनुसार ये सत्रह हैं अर्थात् उन्होंने वक्षोस्थि को और प्रत्येक पार्श्व की किनारे की आठवीं कोमलास्थि को चरक की चौदह अस्थियों में और जोड़ दिया है; ये तीनों अस्थियां चरक की संख्या में सम्मिलित हीं हैं। हर्नले का विचार है कि याज्ञवल्क्य की संख्या ही चरक संहिता में वास्तविक पाठ था, परन्तु उसका तर्क मुश्किल से ग्राह्य है।

[1] वायु नलिका स्वरयंत्र, टेंटुआ और दो श्वसनियां इन चार भागों से निर्मित है। भी एक अस्थि नहीं है अपितु कोमलास्थि है, परन्तु फिर भी भारतीय शारीरज्ञों ने इसकी गणना अस्थि रूप में ही की है, यथा चरक ने इसे 'जत्रु' की और सुश्रुत ने इसे 'कण्ठनाडी' की संज्ञा दी है। हर्नले ने सफलतापूर्वक यह प्रदर्शित कर दिया है कि चिकित्सा सम्बन्धी पुस्तकों में 'जत्रु' शब्द 'वायु नलिका' या सामान्यतः गर्दन के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होता था। हर्नले का कथन है कि मूलतः इस शब्द से ग्रीवा और वक्षःस्थल के कोमलास्थि सम्बन्धी भागों (वायु-नलिका और तटीय नवास्थियां) का बोध होता था, जैसाकि शतपथ ब्राह्मण के 'तस्माद् इमा उभयत्र पर्शवो बद्धाः कीकसासु च जत्रुषु' (पसलियां बाह्य किनारे पर वक्षः प्रदेशीय रीढ़ की हड्डी से और आभ्यन्तर किनारे पर किनारे की नवस्थियां–जत्रु से जुड़ी है) में देखने को मिलता है। चिकित्सा ग्रन्थों में इस शब्द का अर्थ गले के नवास्थि सम्बन्धी भाग अर्थात् ग्रीवा से है (चरक), और इसलिए इसका प्रयोग या तो सामान्यतः गर्दन के लिए या फिर गले के मूल में वक्षोग्रैवेय अस्थियों के लिए किया गया है (सुश्रुत)। केवल छठी अथवा सातवीं शताब्दी ई० पू० से ही शरीर सम्बन्धी 'संधि' और 'अंस' शब्दों के अशुद्ध अर्थ लगाने के कारण ही इसका अर्थ हंसली लगाया जाने लगा। देखिए हर्नले कृत स्टडीज इन द मेडिसिन ऑफ़ ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० १६८।

[2] पार्श्वयोश्चतुर्विंशतिः पार्श्वयोस्तावन्ति चैव स्थालकानि तावन्ति चैव स्थालकार्बुदानि, अर्थात् पार्श्व (पसलियों) में चौबीस अस्थियाँ होती हैं। चौबीस स्थालक (संपुट) होते हैं और चौबीस स्थालकार्बुद (गुलिकायें) होते हैं। सुश्रुत के कथनानुसार प्रत्येक ओर छत्तीस पसलियाँ होती हैं। पसली में एक छड़ और एक शिर होता है, 'इन दो भागों के संधि स्थल पर एक गुलिका होती है जो सम्बद्ध रीढ़ की हड्डियों के अनुप्रस्थ प्रवर्धों से सम्बन्ध जोड़ती है, और संभवतः यह गुलिका ही अर्बुद है।' निस्सन्देह पसलियाँ चौबीस हैं। 'स्थालकों' और 'अर्बुदों' को वस्तुतः पृथक् अस्थियों के रूप में नहीं गिना जा सकता, परन्तु यदि उन्हें अस्थियों में गिन भी लिया जाय, तो जैसाकि हर्नले ने प्रदर्शित किया है, अस्थियों की कुल संख्या

(१४) कफोडौ[1] (द्विवचनान्त) कन्धे का पंखा, (१५) स्कन्धान् (बहुवचनान्त)[2] कन्धे की अस्थियां, (१६) पृष्टिः (बहुवचनान्त)[3]—रीढ़ की हड्डी, (१७) अंसौ

---

६८ होनी चाहिए, न कि ७२, क्योंकि सबसे नीचे की दो पसलियों में गुलिकायें नहीं है।

'कफोड' का अर्थ संभवतः अंस-फलक है। चरक ने 'अंसफलक' का प्रयोग किया है। चरक ने दो अन्य शब्दों 'अक्षक' (हंसुली) और 'अंस' का प्रयोग किया है। जैसाकि हर्नले ने प्रदर्शित किया है, 'अंस' शब्द अशुद्ध पाठ प्रतीत होता है, क्योंकि वास्तव में केवल दो ही अस्थियां हैं, कफोड और हंसुली। परन्तु क्या उसका अर्थ अंसफलक का अंसकूट नहीं हो सकता ? यद्यपि सुश्रुत ने शारीर ५ में अस्थियों की गणना करते हुए कंधे के पंखे को छोड़ दिया है (इसके लिए पद है 'अक्षक-संज्ञे), तो भी वह शरीर ६. २७ में 'अंसफलक' का नाम लेते हैं, और उसको त्रिकोणात्मक (त्रिकसंबद्धे) बताते हैं और इस शब्द की उल्हण ने 'ग्रीवाया असंद्वयस्य च यः संयोगः स त्रिकः' ऐसी अशुद्ध व्याख्या की है। हंसुली और ग्रीवा का संधिस्थल 'त्रिक' नहीं कहा जा सकता है।

चरक ने गर्दन में पन्द्रह अस्थियां गिनी हैं। आधुनिक शारीरज्ञों के अनुसार उनकी संख्या केवल सात ही है। संभवतः उन्होंने अस्थियों के तिर्यक् प्रवर्धों को गिन लिया था और इस प्रकार चौदह की संख्या प्राप्त की, जिसमें उन्होंने पृष्ठवंश को एक अस्थि मानकर और जोड़ दिया।

सुश्रुत ने नौ अस्थियों की गिनती की है। सातवीं अस्थि में कशेरुका कंटक और तिर्यक् प्रवर्ध सम्मिलित हैं और इसलिए उन्होंने उन्हें संभवतः तीन अस्थियां मानकर गणना की; इन तीनों को अन्य छः के साथ लेने से कुल संख्या नौ हो जाती है।

चरक ने रीढ की हड्डी (पृष्ठगतास्थि) में हड्डियों की संख्या तेतालीस बताई है जबकि वास्तविक संख्या केवल छब्बीस ही है। प्रत्येक अस्थि के चार भाग—मुख्य अस्थि, कशेरुकाकंटक और दो अनुप्रस्थ प्रवर्धन होते हैं, चरक ने उन सबको चार अस्थियां ही गिना है। सुश्रुत ने मुख्य अस्थि और कशेरुकाकंटक को एक ही अस्थि और दो तिर्यक् प्रवर्धों को दो अस्थियां माना है, इस प्रकार चरक की चार अस्थियों के स्थान पर सुश्रुत ने तीन अस्थियां मानी हैं। चरक के अनुसार बारह वक्षीय कशेरुकाओं के मुख्य प्रवर्धनों और कशेरुकाकण्टकों की गणना से चौबीस की संख्या आती है, पांच कटि-कशेरुकाओं (मुख्य अस्थि कशेरुकाकंटक दो प्रवर्ध) से बीस की संख्या आती है। इस संख्या में उसने त्रिक और अनुत्रिक को एक अस्थि मानकर जोड़ दिया है, और इस प्रकार कुल संख्या पैंतालीस कर दी है, सुश्रुत में हमें बारह वक्षप्रदेशीय कशेरुकायें, छः कटि-कशेरुकायें और बारह अनुप्रस्थ प्रवर्ध

(द्विवचनान्त)[1] हंसलियां, (१८) ललाट-मस्तक, (१९) ककाटिका[2]–मुख की मध्य अस्थि, (२०) हनु-चित्य[3] –जवड़े, (२१) कपालम्[4]–कनपटी सहित खोपड़ी।

अर्थात् कुल तीस अस्थियाँ मिलती हैं। 'कीकस' (अ० वे० २, ३३, २) शब्द का अर्थ सम्पूर्ण 'मेरुदण्ड' है, 'अनुक्य' (अ० वे० २, ३३, २) का अर्थ मेरुदंड का वक्षप्रदेश है और 'उदर' का अर्थ 'धड़ का निचला भाग' है।

[1] चरक और सुश्रुत दोनों ने इसे 'अक्षक' की संज्ञा दी है और इनको दो अस्थियां ठीक ही गिना है। चक्रपाणि ने इसका वर्णन 'अक्षविवक्षकौ जत्रुसंधे: कीलकौ' किया है (उन्हें अक्षक इसलिए कहा गया है कि वे दो शलाकाओं (ग्रीवा अस्थियों के संधि स्थलों को बांधने वाली कीलों) के समान है।

आगे सुश्रुत ने 'असपीठ' (अंस उलूखल, जिसमें प्रगण्डास्थि का ऊपरी सिरा फंसा रहता है) को समुदग (पिटक) अस्थि की संज्ञा दी है। गुदास्थियां, भगास्थि एवं नितम्वास्थि, में से प्रत्येक के जोड़ का 'समुद्ग' संज्ञा से वर्णन किया है। यही श्रेणि-उलूखल या कुहर है जिसमें जंघास्थि का शीर्षभाग स्थित है। (अंसपीठ-गुदभगनितम्वेषु समुद्गाः सुश्रुत, शारीर ५, २)।

[2] ललाट संभवत: भौहों के ऊपर की उभरी हुई दो हड्डियां है और 'ककापिका' निचला भाग, जिसमें चवाने के दांत की और नाक की अस्थियों सहित ऊपरी जवड़े की अस्थि का मुख्य भाग भी सम्मिलित है। चरक ने चवाने के दांतों की दो अस्थियों (गण्डकूट), नाक की दो अस्थियों, और भौहों के ऊपर की दो उभरी हुई हड्डियों को एक ही अटूट (अभिन्न) अस्थि (एकास्थि नासिकागण्डकूटललाटम्) माना है।

[3] चरक के अनुसार केवल निचले जवड़े की ही एक पृथक् अस्थि के रूप में गणना की गई है (एकं हन्वस्थि), और दो वन्धनों को दो अस्थियां गिना गया है (द्वे हनुमूल-वन्वने)। तथापि सुश्रुत ने ऊपरी और निचले जवड़ों को दो अस्थियां माना है (हन्वोर्द्धे)। यद्यपि वास्तव में इनमें से प्रत्येक अस्थि में दो अस्थियां हैं, वे एक दूसरे में ऐसी मिली हुई हैं कि उनको, जैसाकि सुश्रुत माना है, एक माना जा सकता है। चरक ने ऊपरी जवड़े को नहीं गिना है अत: उसने दंत-सम्फुट (दन्तो-लूखल) और कठोर तालु (तालुपक) की गणना की है। सुश्रुत की ऊपरी 'हनु' की गणना में 'तालव्य प्रवर्व' सम्मिलित नहीं है, अतः वह तालु को भी गिनते हैं (एक तालुनि)।

[4] 'शंख' से कनपटियों का वोव होता है; चरक और सुश्रुत दोनों ने इसकी संख्या दो वताई है। चरक ने खोपड़ी की अस्थियों की गणना चार की है (चत्वारि शिर: कपालानि) और सुश्रुत ने छः (शिरसिषट्)। मस्तिष्क-कोष में आठ अस्थियां हैं। इनमें से दो आंतरिक भाग में हैं। अतः केवल छः अस्थियां ही वाहर से

अथर्ववेद और आयुर्वेद में शरीर के अवयव

हमारे पास ऐसे कोई प्रमाण नहीं हैं, जिनसे हम यह बलपूर्वक कह सकें कि अथर्ववेद मन्त्र के लेखक को उन विभिन्न अस्थियों की संख्या का ज्ञान था जिनका वह उल्लेख करता है, परन्तु ऐसा संभव प्रतीत नहीं होता कि मानव कंकाल के ध्यानपूर्वक अध्ययन बिना अस्थियों के विषय में किया गया उल्लेख संभव हो पाता। यह निर्णय करना दुष्कर है कि यह अध्ययन शव-छेदन की किन्हीं प्राथमिक विधियों द्वारा किया गया या नश्यमान शवों के कंकाल के अध्ययन द्वारा किया गया। कई अवयवों का भी वर्णन है यथा हृदय, फेफड़ा (क्लोम)[1] पित्ताशय

दृष्टिगोचर होती है। इनमें से कनपटी की दो अस्थियों की 'शंख' नाम से ही गणना की जा चुकी है, इस प्रकार चार अस्थियां ही शेष रहती हैं। सुश्रुत ने ललाटिका, पार्श्विका और पश्च-कपालिका अस्थियों को दो-दो आधे भागों में विभक्त किया है और उनको पृथक्-पृथक् अस्थियां माना है, और इस प्रकार वह छः की संख्या पर पहुँचते हैं। वस्तुतः ललाटिका और पार्श्विका दोनों अस्थियों में से प्रत्येक दो-दो अस्थियों से निर्मित है, जो उत्तरावस्था में संयुक्त हो जाती है।

यद्यपि लेखक का डा० हर्नले से प्रायः मतभेद रहा है, फिर भी वह इस अध्याय के इस विशिष्ट भाग को लिखने में उनकी पांडित्यपूर्ण व्याख्या एवं समालोचना के लिए वह अत्यन्त ऋणी है।

चरक ने 'क्लोम' की गणना हृदय के पार्श्ववर्ती अवयव के रूप में की है, परन्तु उन्होंने 'फुप्फुस' को नहीं गिना है। दूसरे स्थल (चिकित्सा १७ ३४) पर उन्होंने 'क्लोम' का वर्णन हिचकी (हिक्का) से संबद्ध अवयव के रूप में किया है (हृदयं क्लोम कण्ठं च तालुकं च समाश्रिता मृद्वी सा क्षुद्र हिक्केति नृणां साध्या प्रकीर्तिता)। चक्रपाणि ने इसका वर्णन 'पिपासा-स्थान' संज्ञा से किया है। परन्तु, वह चाहे जो हो, चूँकि चरक 'हिक्का' के सम्बन्ध में इसके महत्व को समझते थे और चूँकि उन्होंने 'फुप्फुस' (फेफड़ा—महाव्युत्पत्ति, १००) का उल्लेख नहीं किया है इसलिए उनके मत में 'क्लोम' का आशय 'फेफड़े' के दो अवयवों में से एक से अवश्य होगा। सुश्रुत ने 'फुप्फुस' का बांई ओर होना एवं 'क्लोम' का दांई ओर होना बताया है। क्योंकि दोनों फेफड़े आकार में भिन्न होते हैं, अतः यह संभव है कि सुश्रुत ने बांये फेफड़े को 'फुप्फुस' और दांये को 'क्लोम' की संज्ञा दी हो। वाग्भट प्रथम ने सुश्रुत का अनुसरण किया है। अथर्ववेद, चरक, सुश्रुत, वाग्भट और अन्य आचार्यों ने इस शब्द का एकवचनान्त प्रयोग किया है, परन्तु बृहदारण्यक १ में 'क्लोम' शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग है, और इस पर भाष्य करते हुए, शंकर का कथन है कि यद्यपि 'क्लोम' एक ही अवयव है, फिर भी इसका प्रयोग सदा बहुवचनान्त होता

(हलीक्ष्ण),[1] गुर्दे (मतस्नाभ्याम्),[2] यकृत् (यक्न),[3] प्लीहा, पेट और छोटी आंत (अन्त्रेभ्यः) गुदा और उसके ऊपर का भाग (गुदाभ्याः), बड़ी आँत (वनिष्ठु, सायरण के द्वारा 'स्थविरान्त्र' नाम से व्याख्यात), उदर, बद्धनाली से उत्तर गुदा तक का भाग (प्लाशि), नाभि, मज्जा (मज्जाभ्यः), शिराएँ (स्नावभ्यः) और धमनियाँ

है (नित्यबहुवचनान्त)। तथापि यह कथन अशुद्ध है, क्योंकि सारे आचार्य इस शब्द को एकवचनान्त प्रयोग करते हैं। हृदय के वांये पार्श्व में इसके स्थित होने का वर्णन (कृच्च क्लोमानश्च हृदयस्यावस्तादृदक्षिणोत्तरौ मांसखण्डौ–बृ० १, १–शांकर भाष्य) सुश्रुत के निर्णय के प्रतिकूल है जिन्होंने उसे हृदय के उसी ओर रखा है जिस ओर यकृत् है। 'भाव-प्रकाश' में इसको नाड़ियों का उद्गम कहा गया है जहाँ पानी लाया जाता है या बाहर निकाला जाता है। 'क्लोम' का श्वसन-अवयवों की प्रणाली का एक अंग होना इस बात से भी सिद्ध होता है कि इसको अन्य पार्श्ववर्ती अवयवों, यथा कण्ठ और तालुमूल, से प्रायः संबद्ध किया गया है। अतः चरक ने कहा है 'उदकवहानां स्रोतसां तालुमूलं क्लोम च जिह्वाताल्वोष्ठ-क्लोमशोषं–दृष्ट्वा' (विमान ५. १०)। शारङ्गधर १. ५. ४५ में इसको यकृत के समीपस्थ एक जलवाही ग्रन्थि (शिरामूल) बतलाया है (जलवाहि शिरामूलं तृष्णाच्छादनकं तिलम्)।

[1] यह शब्द चिकित्सा-साहित्य में नहीं आया है। सायरण ने इसका 'एतत्सेज्ञकात् तत्सम्बन्धात् मांस-पिंडविशेपात्' ऐसा वर्णन किया है। पहचान करने के लिए यह तो बिल्कुल व्यर्थ ही है। वेवर का विचार है कि इसका अर्थ 'पित्त' हो सकता है (इण्डिश स्टडीन १३, २०६)। मेक्डानेल इसे कोई विशिष्ट आँत मानते हैं (वेदिक इण्डेक्स खंड २, पृ० ५००)।

[2] सायरण ने 'मतस्नाभ्याम्' की व्याख्या 'वृक्याभ्याम्' से की है। चरक का पाठ 'वृक्क' है। सायरण ने एक वैकल्पिक व्याख्या यह दी है : 'मतस्नाभ्याम् उभयपार्श्वसंवंधभ्यां वृक्याभ्यां तत्समीपस्थपित्ताधारपात्राभ्याम्।' यदि यह व्याख्या स्वीकार कर ली जाय तो 'मतस्ना' का अर्थ होगा 'गुर्दों' के समीपस्थ पित्त की दो थैलियां। इस व्याख्या के अन्तर्गत दो 'मतस्ना' संभवतः पित्ताशय और पाचक रस की थैली हो सकती हों, जिनमें दूसरी को अपने संस्राव के कारण शायद दूसरा 'पित्ताधार' मान लिया गया हो।

[3] सायरण ने 'प्लाशि' की इस प्रकार व्याख्या की है 'वहुच्छिद्रान्मलपात्रात्' अनेकों छिद्रों वाला मलपात्र। ये छिद्र सम्भवतः मलाशय (मलपात्र) के अन्दर की ग्रन्थियों के मुख विवर हैं। शतपथ ब्राह्मण १२, ६, १, ३ में इन सब अवयवों की गणना विशेष देवताओं के लिए पवित्र रूप में और यज्ञ-उपकरणों के रूप में की

(धमनिभ्यः)।[१] इस प्रकार हम देखते हैं कि आथर्वण मन्त्रों के रचयिताओं को वे सारे महत्वपूर्ण अवयव ज्ञात थे जिनका परवर्ती आत्रेय-चरक शाखा या सुश्रुत शाखा ने उल्लेख किया है।[२]

बोलिंग ने इस प्रश्न को उठाया है कि क्या अथर्ववेद कालीन पुरुषों को शिरा और धमनी का अन्तर ज्ञात था, और उसका कथन है कि १. १७. ३ में वर्णित शिरा और धमनी के प्रतीयमान अन्तर का इन्हीं शब्दों के ७. ३५. २ में आंतों, योनि आदि के द्योतक आन्तरिक स्रोतों के अधिक सामान्य अर्थ में व्यवहार के कारण निराकरण हो जाता है—जो यह प्रदर्शित करावे है कि ऐसे विषयों पर उनके विचार कितने अस्पष्ट थे।[3] परन्तु यह सही नहीं है, क्योंकि १. १७. ३ में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे 'शिरा' और 'धमनी' का आधुनिक अर्थों में उनके अन्तर के ान का ऐसा आभास हो जैसा (७. ३५. २) में नहीं मिलता है। सूक्त १.१७ आघातजन्य रक्त-स्त्राव या स्त्रियों के अत्यधिक रुधिरास्रव को रोकने के लिए मन्त्र है। क्षत अंग पर थोड़ी रास्ते की धूल को डाला जाता था और मंत्र का उच्चारण किया जाता था। १. १७. १ में यह जहा गया है 'स्त्री के लाल कपड़े (अथवा रक्त पात्र) धारण करने वाली वे 'हिराएं' (शिराएँ) जो सदा बहती रहती हैं, भ्रातृहीन कन्याओं के समान हतोत्साह रहें।[४]' अगले मंत्र १. १७. २ की व्याख्या करते हुए सायण का कथन है कि यह

गई है–हृदयमेवास्यैन्द्रः पुरोडाशः, यकृत् सावित्रः, क्लोमा वारुणः, मत्स्ने स्वास्याश्वत्थं च पात्रमौदुम्बरं च पित्तं नैयग्रोधमन्त्राणि स्थाल्यः गुदा उपाशयानि श्येनपात्रे प्लीहासन्दी नाभिः कुम्भो वनिष्ठुः प्लाशिः शातातृष्णा तद्यत् सा बहुधा वितृष्णा भवति तस्मात् प्लाशिर्बहुधा विकृतः। 'वस्ति' को 'मूत्राशय' माना गया है (अ० वे० १. ३. ७)।

[१] सायण का कथन है कि यहाँ 'स्नाव' का अर्थ 'सूक्ष्म शिराएँ', और 'धमनी' का अर्थ 'मोटी शिराएँ' है–सूक्ष्मः शिराः स्नावशब्देन उच्यन्ते धमनिशब्देनस्थूलाः (अ० वे० २. ३३)।

[२] अ० वे० १०, ९ से यह पता लगता है कि शायद पशुओं का शव-च्छेद भी प्रचलित था। गाय के अधिकांश अवयवों का वर्णन मिलता है। मानव-प्राणियों के उपर्युक्त अवयवों के साथ-साथ दो अन्य अवयवों, हृदयावरण (पुरीतत्) और श्वास-नलिकाएँ (सहकण्ठिका) का वर्णन भी मिलता है। –अ० १०. ९. १५।

[3] एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, 'रोग और औषधिः वैदिक'।

[४] सायण ने 'हिरा' की व्याख्या 'शिरा' की है और उसका वर्णन रजोवाहिनी नाड़ी (रजोवहननाड्यः) के रूप में, तथा विशेषण लोहितवस्त्रा का वर्णन या तो 'लाल वस्त्रधारिणी' या 'लाल' या 'रक्त पात्र' के रूप में (रुधिरस्यनिवासभूताः) किया है।

'धमनी' का स्तवन है। यह मंत्र इस प्रकार है : 'अंवराग की तू (सायण के कथनानुसार तू शिरा 'निवृत्त हो जा (अर्थात् जैसा सायण का कथान हैं 'रुधिर छोड़ना वन्द कर दे') इसी प्रकार ऊपरी अंग की तू निवृत्त हो जा इसी प्रकार तू मध्यमांग की तू निवृत्त हो जा, इसी प्रकार तू सूक्ष्म और तू स्थूल धमनी निवृत्त हो जा।[1] तीसरे मंत्र में 'हिरा' और 'धमनी' दोनों का वर्णन है। मध्य में स्थित ये पहले सौ धमनियों और हजारों शिराओं के बीच (रक्त स्राव कर रही) थी, (और उसके वाद) अन्य सव नाड़ियां (जो नाड़ियां रक्त स्राव वन्द कर चुकी हैं, उन दूसरी नाड़ियों के साथ) खेल रही थीं।[2] सूक्त ७. ३५ स्त्री की ऐसी सन्तान रोकने के लिए है जो शत्रु हो। तीसरे मंत्र में कहा है 'मैं पत्थर से सौ हिराओं और सहस्त्र धमनियों का मुख-विवर वन्द करता हूँ'। इसकी व्याख्या करते हुए सायण का कथन हैं कि 'हिराएँ' गर्भाशय के अन्दर की सूक्ष्म नाड़ियां हैं (गर्भाशयधारणार्थमन्तरवस्थिताः सूक्ष्म या नाड्यः) और 'धमनियां' गर्भाशय के चारों ओर की स्थूल नाडियां हैं जो उसे स्थिर रखती हैं (गर्भाशयस्यावष्टम्भिका वाह्या स्थूला या नाड्यः)। इस मन्त्र और सूक्त १. १७ के मन्त्रों में केवल मात्र अन्तर यह है कि इस मन्त्र में शिराएं सौ और 'धमनियां' सहस्र वताई गई हैं जवकि सूक्त १.१७ में 'धमनियां' सौ और 'शराऐं' सहस्त्र वताई गई हैं। परन्तु, यदि सायण की व्याख्या स्वीकार कर ली जाय, तो 'धमनियां' वड़े स्रोत मानी जाएंगी और 'शिराएं' सूक्ष्म स्रोत। 'नाड़ी' स्रोत का सामान्य नाम प्रतीत होता है। परन्तु अथर्ववेद में कहीं कोई ऐसा स्थल नहीं है जिससे यह आभास हो कि उस समय शब्दों के आधुनिक अर्थ में 'शिरा' और 'धमनी' का अन्तर ज्ञात था। अ० वे० १.३.६ में गुर्दों से 'मूत्राशय तक मूत्र को ले जाने वाली 'गविण्यौ' नामक दो नाड़ियों का उल्लेख हमें मिलता है।[3] ऐसा कहा गया है कि आठों दिक्पालों और अन्य देवताओं

---

[1] पूर्व मन्त्र में 'शिरा' का 'रक्त छोड़ने वाली' के रूप में उल्लेख है, जवकि इस मन्त्र में धमनी द्वारा वही कार्य किए जाने का उल्लेख है। सायण ने भी धमनी की शिरा के रूप में निर्वाध रूपेण व्याख्या की है (मही महती स्थूलतरा धमनिः शिरा तिष्ठादित्तिष्ठत्येव, अनेन प्रयोगेण निवृत्तरुधिरस्रावावतिष्ठताम्)।

[2] यहां 'धमनी' और 'हिरा' की गणना की गई है। सायण का कथन है कि 'धमनियां' हृदय में महत्वपूर्ण नाड़ियां हैं (हृदयगतानां प्रधाननाडीनाम्) और 'हिरा' या 'शिरा' शाखा नाड़ियां हैं (शिराणां शाखानाड़ीनाम्)। यहां दिए अनुसार, धमनियों की संख्या सौ है और यह संख्या कठोपनिषत् ६.१६ में दी हुई हृदय की नाड़ियों की संख्या से लगभग मेल खाती है (शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः)।

प्रश्नोपनिषत् ३.६ में भी नाड़ियों का उल्लेख है, जिनकी सहस्र शाखाएं हैं।

[3] अन्त्रेभ्यो विनिर्गतस्य मूत्रस्य मूत्राशयप्राप्तिसाधने पार्श्वद्वयस्थे नाड्यौ गवीन्यौ इत्युच्येते–सायण भाष्य। १. ११. ५ में 'गवीनिका' नामक दो नाड़ियों का उल्लेख

ने गर्भ को रचा और प्रसव के देवता (पूषा) सहित उन्होंने गर्भाशय के बन्धनों को ढीला करके प्रसव सुखावह बना दिया।[1] 'जरायु' शब्द का प्रयोग नाल के अर्थ में किया गया है, जिसके बारे में यह कहा जाता है कि इसका मांस और मज्जा से कोई घनिष्ट संबंध नहीं है, ताकि जब यह गिर जाती है तो इसे कुत्ते खा जाते हैं और शरीर को किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचता है। योनि-पार्श्वों को फैलाने के द्वारा और दोनों 'गवीनिका' नाड़ियों को दबाने के द्वारा प्रसव के प्राथमिक उपचार का उल्लेख मिलता है।[2] स्नावों (स्नायुओं) का भी 'धमनियों' के साथ उल्लेख किया गया है, और सायण ने उनकी व्याख्या सूक्ष्म 'सिराओं' के रूप में की है (सूक्ष्माः सिराः स्नावशब्देन उच्यन्ते)। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि धमनियों, सिराओं और स्नावों का विभाजन उनकी अपेक्षाकृत सूक्ष्मता पर आधारित है: स्थूल नाड़ियां 'धमनियां' कहलाती थी, सूक्ष्म नाड़ियां 'सिराएं' कहलाती थी और सूक्ष्मतर नाड़ियां 'स्नाव' कहलाती थी। उनके सामान्य कार्य न्यूनाधिक एक से ही माने जाते थे, यद्यपि इनका भेद संभवतः शरीर के उस स्थान एवं अवयव के अनुसार होता था जहां वे स्थित हैं तथा जिन अवयवों से वे सम्बद्ध है। यह स्वीकार कर लिया गया प्रतीत होता है कि शरीर के तरल तत्वों का एक सामान्य प्रवाह विद्यमान था। यह संभवतः चरक संहिता में वर्णित 'स्रोत' की धारणा के अनुरूप हो, और इसका विवेचन आगे चलकर किया जाएगा। इस प्रकार अ० वे० १०. २. ११ में कहा गया है, 'विभिन्न दिशाओं में व्याप्त सब ओर और मनुष्य में ऊपर और नीचे सब ओर दौड़ने वाली तीव्र, अरुण, लोहित एवं ताम्रधूम्र नदियों के रूप में प्रवाहमान को उसमें किसने स्थापित किया। इसमें शरीरस्थ विभिन्न तरल तत्वों के नानारूप प्रवाहों का स्पष्ट उल्लेख है। पुनश्च, शुक्र को जीवन तन्तु के रूप में ग्रहण किया गया है, जिसका निर्माण होता रहता है।[3] हृदय और मस्तिष्क का घनिष्ट सम्बन्ध अस्पष्ट रूप से समझा गया प्रतीत होता है। अतः यह कहा गया है, 'अथर्वा ने अपनी सूई से उसके हृदय और मूर्धा को सी दिया

है और सायण ने उनका वर्णन योनि के दोनों तरफ स्थित प्रसव-नियंत्रणकारी दो नाड़ियों के रूप में किया है (गवीनिके योनेः पार्श्ववर्तिन्यौ निर्गमनप्रतिबंधकै नाड्यौ—सायण)। एक स्थल (अ० वे० २. १२. ७) में 'मन्य' नामक आठ धमनियों का वर्णन है और सायण का कथन है कि वे ग्रीवा के निकट हैं। 'सिकतावाही' नामक एक ऐसी नाड़ी का अ० वे० १. १७. ४ में वर्णन है जिस पर मूत्रकृच्छ्र आश्रित है।

[1] प्रसव की अन्य देवी, सुषाण्मी का भी आह्वाहन किया गया है।
[2] वि ते भिनद्मि वि योनिं वि गवीनिके। —अ० वे० १. ११. ५।
[3] को अस्मिन्रेतो न्यदधात् तन्तुरायततामिति (उसमें शुक्र को किसने यह कहते हुए धारण कराया कि जीवन-तन्तु का निर्माण हो? अ० वे० १०. २. १७)।

जाता था और इसे कष्ट और भय से परे माना जाता था। यह उसी प्रकार अमर था जैसेकि पृथ्वी और आकाश, दिन और रात, सूर्य और चन्द्र, ब्रह्म-क्षत्रिय, सत्य और असत्य, भूत और भविष्यत्।[१] मृत्यु से रक्षा करने के लिए प्राण और आपान की प्रार्थना की गई है (प्राणापानौ मृत्योर्मा पातम् स्वाहा)।[२] अ० वे० ३. ७. ४ में 'मनः' और 'चित्त' का पृथक्-पृथक् वर्णन है और सायण ने मनः की व्याख्या अन्तःकरण अर्थात् आन्तरिक इन्द्रिय से की है और चित्त की व्याख्या 'मनस्' की एक विशेष वृत्ति (मनोवृत्तिविशेषः), विचार, से की है।[3] यहाँ भी हृदय चेतना का आधार है। इस प्रकार ३. २६. ६ के एक मन्त्र में यह कहा गया है, हे मित्र और हे वरुण! इस स्त्री के हृदय (हृत्) से उसकी विचार-शक्ति (चित्त) दूर कर दो और उसे विनिश्चय-हीन करके, उसे मेरे आधीन कर दो।'[४] जिस ओज' शब्द से हम चरक एवं अन्य आचार्यों के उत्तरकालीन चिकित्सा ग्रन्थों में सुपरिचित हैं वह अ:वे० २. १८ में वर्णित है, जहाँ अग्नि का 'ओज' के रूप में वर्णन किया गया है और उपासक को 'ओज' प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।[५]

अथर्ववेद में औषध प्रयोग

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, इस बात को प्रदर्शित करने वाले प्रमाण हैं कि अथर्ववेद काल में भी व्यावसायिक चिकित्सकों द्वारा शुद्ध चिकित्सा-कर्म का पहले से

---

[१] अ० वे० २, १५।

[२] वही २, १६ १। एक अन्य स्थल में प्राण और अपान से आदमी में उसी प्रकार प्रवेश करने की प्रार्थना की गई है जैसे वृषभ गोष्ठ में प्रवेश करते हैं। सायण ने प्राण और अपान को 'शरीर-चारक' कहा है (अ० वे० ३, ११, ५)। उनसे शरीर न छोड़ने की अपितु वृद्धावस्थापर्यन्त अंगों को धारण करने की भी प्रार्थना की है।

[3] 'मनः' और 'चित्त' को अ० वे० ३, ६, ८ में पृथक्-पृथक् गिना गया है।

[४] 'चित्तिनः' शब्द का प्रयोग कभी-कभी समान प्रकार से विचार करने वाले मनुष्यों के अर्थ में किया गया है (चित्तिनः समानचित्तयुक्ताः—सायण। (अ०वे० ३, १३, ५)।

[५] ओजोस्योजो मे दाः स्वाहा (अ० वे० ११, १८, १)। सायण 'ओज' की व्याख्या करते कहते हैं 'ओजः शरीरस्थितिकारणम् अष्टमोधातुः।' उन्होंने एक उद्धरण दिया है जिसे वे आचार्यों द्वारा कथित बताते हैं; 'क्षेत्रज्ञस्य तदोजस्तु केवलाश्रय इष्यते यथा' स्नेहः प्रदीपस्य यथाभ्रमशनित्विषः (जैसेकि दीपक तेल पर और तड़ित् मेघ पर आश्रित है ठीक उसी प्रकार 'ओज' केवल क्षेत्रज्ञ (आत्मा) पर आश्रित है)।

ही प्रचलन था। इस प्रकार मन्त्र २. ६. ३. का सायण की व्याख्यानुसार कथन है कि सैंकड़ों चिकित्सक (शत ह्यस्य भिषजः) और सहस्रों वनोषधियां (सहस्त्रमुत वीरुधः) विद्यमान थीं, परन्तु जो इनके द्वारा करना सम्भव है वह इस मन्त्र विशेष के टोने सहित रक्षाकवच के बांधने से ही प्राप्त किया जा सकता है।[1] पुनश्च (२. ६. ५) अथर्वा को, जो तावीज का बांधने वाला है, सर्वोत्तम सुचिकित्सक (सुभिषक्तम) बताया गया है। मन्त्र ६. ६८. २ में प्रजापति से एक लड़के का दीर्घायुष्य प्राप्ति के लिए (औषधि द्वारा) उपचार करने की प्रार्थना की गई है; प्रजापति को, ऐसा प्रतीत होता है, आत्रेय-चरक शाखा में आयुर्वेद का आदि गुरु माना गया है और उसने इस विद्या को ब्रह्मा से ग्रहण किया।[2] कौशिक सूत्र में व्याधि को लिंगी, अर्थात् चिह्न (लिंग) वाला, कहा गया है और औषधि (भैषज्य) को इसका नाशक (उपताप) कहा है। दारिल का कथन है कि यह 'उपतापकर्म' न केवल व्याधि के सन्दर्भ में ही प्रयुक्त हुआ है अपितु उसके 'लिंगों' के सन्दर्भ में भी, अर्थात् 'भैषज्य' वह है जो व्याधि और लिंगों का नाशक हो।[3] स्वयं अथर्ववेद में केवल कुछ औषधियों का ही वर्णन है, यथा जंगिड़ (१६. ३४ और ३५), गुल्गुलु (१६. ३८) कुष्ठ (१६. ३६) और 'शतवार' (१६. ३६) और ये सब न केवल कुछ निश्चित बीमारियों से रक्षाकवच अपितु शत्रु के जादू (कृत्य) से भी रक्षा करने के लिए रक्षाकवच के रूप में प्रयोग करने के लिए हैं। इन वनौषधियों का प्रभाव वैसा ही आश्चर्यजनक था जैसाकि केवल मंत्र-तंत्रों का होता था। उनका प्रभाव साधारण चिकित्सा-साहित्य में निर्दिष्ट औषधियों के प्रभाव के समान नहीं था, अपितु एक अति-प्राकृतिक प्रकार का था। जो सूक्त जादू मात्र ही प्रतीत होते हैं उनमें से अधिकांश के बारे में कौशिक सूत्र में भिन्न-भिन्न औषधियों का आन्तरिक रूप में अथवा रक्षाकवच के रूप में प्रयोग करने का निर्देश है। अथर्वा की सर्वोत्कृष्ट चिकित्सक के रूप में और मन्त्रों की अन्य चिकित्सकों द्वारा निर्दिष्ट अन्य औषधियों से श्रेष्ठतर होने के रूप में प्रशंसा से एक ऐसे काल का संकेत मिलता है जब इन आथर्वण जादू टोनों में से अधिकांश का

---

[1] शतं या भेषजानि ते सहस्रं संगतानि च ।
श्रेष्ठमास्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम् ॥
(हे रोगी! तुमने सैंकड़ों-हजारों औषधियों का प्रयोग किया हो, परन्तु यह मन्त्र तुम्हारे रक्तस्राव को रोकने के लिए सर्वोत्तम दवा है (अ० वे० ६. ४५. २)। सूक्त २. ६. ३ के समान यहां पर भी मन्त्र के उच्चारण को अन्य औषधियों और भेषजों के प्रयोग की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली बताया है। घावों को धोने के लिए जल का प्रयोग किया जाता था (६. ५७. २)।

[2] चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे (६. ६८. २)।

[3] कौशिक सूत्र पर दारिल की टीका २५. २।

सामान्य रूप से प्रयोग हुआ है, फिर भी पुरातन अर्थ का भी त्याग नहीं किया गया।[1] अथर्ववेद से पृथक् स्वतन्त्र रूप में विद्यमान साधारण वनस्पति एवं धातुओं की यह प्रणाली इस प्रकार अथर्ववेद की मन्त्र-विशेष प्रणाली से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध हो गई; इन दो प्रणालियों में पहले जो कुछ भी विरोध था, वह लुप्त हो गया, और आयुर्वेद को अथर्ववेद का एक अंग माना जाने लगा।[2] अथर्ववेद के पौराणिक भिषक् प्रजापति और इन्द्र, आत्रेय-चरक शाखा में आयुर्वेद के प्राचीनतम आचार्य माने जाने लगे।[3]

---

[1] अ० वेदीय संज्ञाएं 'भेषजम्' (उपचार), 'भेषजी' (वनस्पति) और 'भेषजि:' (जल) हैं। 'भैषज्य' पद केवल कौशिक एवं अन्य सूत्रों तथा ब्राह्मणों में दृष्टिगत होता है। ब्लूमफील्ड का कथन है कि कम से कम इन्डो-ईरानियन (आर्य) काल जितने पुराने काल में भी ऐसे जादू टोनों और कृत्यों की विद्यमानता बएषज और बएषज्य (मन्थ्र बएषज और बएषज्म, हाओम बएषज्य) प्रतिपादकों द्वारा और पानी एवं वनस्पति की स्वास्थ्य एवं दीर्घायुष की प्रार्थनाओं में महत्वपूर्ण स्थिति के द्वारा और भी अधिक निश्चित रूप से पुष्ट होती है। आडल्वर्ट कून ने ट्यूटन और वैदिक चिकित्सा-विषयक मंत्रों की, विशेषत: कृमियों और अस्थि-भंग के उपचार के सम्बन्ध में कुछ रोचक और ध्यानाकर्षक समानताओं को प्रदर्शित किया है। दोनों लोगों के समान मानसिक गुणों के कारण ही शायद ये मानवशास्त्रीय संयोग मात्र ही हों। परन्तु ऐसा भी कम सम्भव नहीं है कि इन लोक-धारणाओं में से कुछेक ने प्रागैतिहासिक काल में निश्चित रूप धारण कर लिया हो, और कि ये समानताएं अपरिष्कृत इन्डो-यूरोपीय लोक-कथाओं के उस क्रम को प्रतिबिम्बित करती हों जो आज ट्यूटनों और हिन्दुओं में अवशिष्ट है। देखिए ब्लूमफील्ड कृत अथर्ववेद एण्ड गोपथ ब्राह्मण पृ० ५८ और कून कृत Zeitschrift fur Vergleischende Sprachfoschung १३ पृ० ४९–७४ और ११३–१५७।

[2] स्वयं अथर्ववेद (१९. ३४. ७३) में प्राचीन समय में प्रचलित वनस्पतियों का और नवीन ओषधियों का उल्लेख है, तथा 'जंगिड' वनस्पति की प्रशंसा उन सबसे अच्छी होने के रूप में की गई है—न त्वा पूर्व ओषधयो न त्वा तरन्ति या नवा:।

[3] अ० वे० ६. ६८. २–चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुष्याय चक्षसे, वही १९. ३५। इन्द्रस्य नाना गृह्णन्तो ऋषय: जंगिडं ददन् (ऋषियों ने इन्द्र के नाम का उच्चारण करते हुए जंगिड दी)। सम्भवतः यही पंक्ति चरक संहिता की इस कथा का प्रेरणा-स्रोत रही हो कि इन्द्र ने ही सर्वप्रथम ऋषियों को आयुर्वेद की शिक्षा दी। देखिए वही ११. ८. २३–यन्मातली रथक्रीतममृतं वेद भेषजं तदिन्द्रो अप्सु प्रावेशयत् तदापोदत्तभेषजम्। जिस अमरत्वकारिणी ओषधि को मातलि (इन्द्र के सारथी) रथ देकर खरीद कर लाया था, उसे रथ के स्वामी इन्द्र ने पानी में फेंक दिया। नदियों, हमें उस ओषधि को वापस दे दो।

ब्लूमफील्ड ने अथर्ववेद की सामग्री को चौदह वर्गों में व्यवस्थित किया है : (१) भैषज्यानि–व्याधियों और पिशाचों के अधिकार से बचने के मंत्र, (२) आयुष्यानि–दीर्घायुष्य और स्वास्थ्य के लिए प्रार्थना, (३) आभिचारिकाणि और कृत्याप्रतिहरणानि–राक्षसों, ऐन्द्रजालिकों एवं शत्रुओं के विरुद्ध शाप, (४) स्त्री-कर्माणि–स्त्री-सम्बन्धी मंत्र, (५) सौमनस्यानि–एकता, समिति में प्रभाव इत्यादि प्राप्त करने के लिए मन्त्र, (६) राजकर्माणि–राज सम्बन्धी मंत्र, (७) ब्राह्मण के हितार्थ प्रार्थनाएं और शाप, (८) पौष्टिकानि–धन प्राप्ति एवं भय से मुक्ति प्राप्ति के मन्त्र, (९) प्रायश्चितानि–पाप और भ्रष्टता के निराकरण के लिए मंत्र, (१०) विश्वोत्पत्ति एवं ईश्वर सम्बन्धी सूक्त, (११) यज्ञ क्रिया सम्बन्धी व सामान्य सूक्त, (२) विषय विशेष का वर्णन करने वाले अध्याय (अध्याय १३ से १८), (१३) बीसवां अध्याय, (१४) कुंटाप सूक्त,[1] इनमें से १, २, ३, ४ और ९ सूक्तों की संक्षिप्त विवेचना हमें न्यूनाधिक उसी क्रम में करनी है, जिस क्रम में वे अथर्ववेद में प्रकट होते हैं। अ० वे० १, २ ज्वर, अतिसार, अतिमूत्र, नाडी व्रण का निरोधक मंत्र है; मूंज से निर्मित रस्सी को बांधना चाहिए, किसी खेत या वांबी की मिट्टी को पीना चाहिए, शोधित मक्खन का लेप करना चाहिए और पायु एवं उपस्थ के छिद्रों को तथा व्रण के मुख को चर्म थैली द्वारा आध्मात करना चाहिए तथा मंत्र का उच्चारण करना चाहिए। इस सूक्त में वर्णित 'आस्राव' रोग की व्याख्या सायण ने बहुमूत्र (मूत्रातिसार) के अर्थ में की है।[2] सूक्त १. ३ मल मूत्र रोकने (मूत्र-पुरीष निरोध) का मंत्र है। इस सूक्त के उच्चारण के साथ-साथ रोगी को या तो चूहे के बिल की मिट्टी (मूषिक-मृत्तिका), पूतिका वनस्पति, दही अथवा पुरानी लकड़ी का बुरादा पिलाना चाहिए या उसे हाथी अथवा घोड़ों की सवारी करानी चाहिए या बाण फेंकाना चाहिए; मूत्र नाली में एक सूक्ष्म लोहे की शलाका डाली जाती थी। उत्तरकाल में जो 'वस्ति क्रिया' के रूप में विकसित हुई उसकी यह प्रारंभिक अवस्था थी।[3] सूक्त १. ७ और १. ८ में मनुष्य के

---

[1] ब्लूमफील्ड कृत दी अथर्ववेद एण्ड गोपथ ब्राह्मण, पृ० ५७।

[2] ब्लूमफील्ड का कथन है कि 'आस्राव' का अर्थ 'अतिसार' है (वही पृ० ५९)। एक सी व्याधियों के लिए एक से भौतिक उपचार अ० वे० २. ३ में निर्दिष्ट हैं। 'आस्राव' ऐसी किसी भी व्याधि का द्योतक है जो रोगजन्य किसी भी स्राव से युक्त है, अतः २. ३. २ में सायण का कथन है कि 'आस्राव' का अर्थ है 'अतिसारातिमूत्रनाडी व्रणादयः।'

[3] प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव एवा ते मूत्रं मुच्यताम् बहिर्बालिति सर्वकम् (मैं तुम्हारे मूत्र द्वार को एक कुल्या के समान खोलता हूँ जिसमें से पानी जोर से बह रहा हो, अतः मूत्र सनसनाती आवाज के साथ बाहर निकले–अ० वे० १.३.७)। इस सूक्त के सारे मंत्रों में मूत्र से सनसनाती आवाज़ में बाहर निकलने की प्रार्थना की गई है।

दुष्ट प्रेतात्माओं, यातुधानों और किमीदियों, के वश में होने पर उनको भगाने के लिए हैं। १. १० 'जलोदर' के लिए मन्त्र है, रोगी की देह पर पूर्वा इत्यादि से युक्त पात्र-भर पानी का अभिषेचन करना चाहिए। १.११ सुखपूर्वक प्रसव के लिए मंत्र है। १.१२ वात, पित्त और श्लेष्मा के विकारजन्य सब रोगों के लिए मन्त्र है–वसा, मधु और शोधित मक्खन या तेल का पान करना चाहिए। शिरोरोग (शीर्षक्ति) और खांसी (कास) का विशेष वर्णन है। १.१७ शिरा अथवा धमनियों से निकलते हुए रक्त को अथवा स्त्रियों के अत्यधिक 'आर्तव' शोणित को रोकने के लिए है। घावों के लिए क्षत स्थान पर मुट्ठी पर मार्ग की मिट्टी डालनी चाहिए अथवा गूंथी हुई मिट्टी से युक्त पट्टी बांधनी चाहिए।[1] १.२२ हृद्रोगों और पांडुरोग के विरुद्ध मंत्र है–लाल गाय के रोमों को पानी के साथ पीना चाहिए और लाल गाय की खाल का टुकड़ा रक्षाकवच के रूप में बांधना चाहिए। यह प्रार्थना की गई है कि सूर्य और लाल गाय का लाल रंग रोगी के शरीर में आ जाय और पांडुजन्य पीतवर्ण पीले रंग के पक्षियों में चला जाय। १. २३ अस्थि, मांस और चर्म के 'किलास' अथवा 'कुष्ठ' (श्वेत कुष्ठ) और बालों को श्वेत (पलित) करने वाले रोगों को रोकने के लिए मंत्र है।[2] श्वेत भागों पर गोचर, भृंगराज, हरिद्रा, इन्द्रावरुणा और नीलिका से बने लेप को तब तक मलना चाहिए, जब तक कि वे लाल न हो जाएँ। प्रयोग में लाई गई काली औषधियों से श्वेत भागों को काला करने की प्रार्थना की गई है। १. २५ 'तक्मा' या ज्वर रोकने के लिए मंत्र है–रोगी पर ऐसे जल को छिड़कना चाहिए जिसमें लोहे की लाल गर्म कुल्हाड़ी को डुबाया गया हो। विवरण यह प्रदर्शित करता है कि यह ज्वर मलेरिया के प्रकार का था, वह सर्दी (शीत) और दाहक संवेदन (शोचि) के साथ आता था। इस ज्वर के तीन प्रकारों का वर्णन है : अगले दिन आने वाला (अन्येद्युः), दूसरे दिन आने वाला (उभयेद्युः) और तीसरे दिन आने वाला (तृतीयक)।[3] इसको पांडुरोगों से भी सम्बन्धित किया जाता था, शायद इसलिए कि यह पांडुरोग को उत्पन्न करता था। २. ६ और १० वंशानुगत (क्षेत्रीय) रोगों, श्वेतकुष्ठ, अजीर्ण आदि के विरुद्ध मन्त्र हैं।[4] अर्जुन पेड़ की लकड़ी, जौ, तिल और उसके फूलों के

---

[1] ४. १२ भी इसी प्रयोजन के लिए एक मन्त्र है।

[2] ६. १३५-१३७ भी केशों की जड़ों को मज़बूत करने के लिए मन्त्र है। भृंगराज-युक्त काकमाची का पान करना चाहिए।

[3] नमः शीताय तक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि
यो अन्येद्युरुभयद्युः रभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने
अ० वे० ७. १२३. १० भी देखिए जिसमें तीसरे दिन के ज्वर, चतुर्थ दिन के ज्वर और अनियमित ज्वरों का उल्लेख है।

[4] पाणिनि सूत्र ५. २. ९२ में क्षेत्रीय शब्द की निपात-सिद्ध व्युत्पत्ति दी है (क्षेत्रिय प

रक्षा कवचों को भी मंत्रोच्चारण के समय बांधना चाहिए।[1] ५. २. ३१ विभिन्न कृमिजन्य रोगों के विरुद्ध मंत्र है। इस मंत्र का उच्चारण करते समय, पुरोहित को मार्ग की मिट्टी अपने बायें हाथ में लेनी चाहिए और इसे दायें हाथ से दबानी चाहिए, तथा रोगी पर डालनी चाहिए। संसार में दृश्य और अदृश्य कृमि हैं, उनमें से कुछ को 'अलगण्डु' और अन्यों को 'शलुम' कहा गया है, वे आंतों, शिर और एड़ियों में उत्पन्न होते हैं, वे शरीर में विभिन्न मार्गों से संचरण करते हैं और विभिन्न प्रकार की वनौषधियों द्वारा भी नष्ट नहीं किए जा सकते हैं। वे कभी पर्वतों और वनों और वनस्पतियों और जन्तु में निवास करते हैं, और वे हमारे शरीर में शारीरिक रंध्रों के मार्ग से एवं अन्नपान के द्वारा प्रवेश कर जाते हैं।[2] २.३३ शरीर के सब भागों से यक्ष्मा दूर करने का मंत्र है। ३. ७. १ सारे क्षेत्रीय रोगों को दूर करने के लिए मंत्र है, हरिण का सींग रक्षाकवच के रूप में प्रयोग किया जाना चाहिए। ३.११ राज-यक्ष्मा रोकने के लिए मंत्र है—विशेषत: जबकि यह अतिमैथुनजन्य हो; रोगी को सड़ी मछली खानी चाहिए।[3] ४. ४ पुंस्त्व प्राप्ति के लिए मंत्र है; जब मंत्र का उच्चारण करते हैं तब कपित्थ वृक्ष की जड़ दूध में उबाल कर पीनी चाहिए। ४. ६ और ७ शाक के विषाक्त होने से रोकने के लिए हैं—कृमुक वृक्ष का अर्क पीना चाहिए। ५. ४ ज्वर (तक्मा) और क्षय को रोकने के लिए मंत्र है; रोगी को मंत्र उच्चारण के समय 'कुष्ठ' वनस्पति मक्खन के साथ लेनी चाहिए।[4] ५. ११ ज्वर रोकने के लिए मंत्र है।[5] ५. २३ कृमियों को रोकने के लिए मंत्र है—रोगी को बीस प्रकार के मूलों का

परक्षेत्रे चिकित्स्य:)। 'काशिका' और 'पादमंजरी' जैसी वृत्तियों में इसका अर्थ 'अपर-जन्म के शरीर में चिकित्सा' (जन्मान्तरस्यशरीरे चिकित्स्य:) अर्थात् 'अचिकित्स्य' किया गया है। तथापि मुझे अ० वे० २. १०. १ पर अपने भाष्य में स्तरण द्वारा दिया गया अर्थ 'वंशानुगत' अधिक ग्राह्य है क्योंकि यह अधिक उपयुक्त और तर्क-संगत है।

[1] 'यक्ष्मा' को भी एक 'क्षेत्रीय' रोग माना गया है। (२. १०. ६)।

[2] २. ३१. ५। मैंने सायण की व्याख्या को ग्रहण किया है।

[3] ७. ७८ भी गण्डमाला और यक्ष्मा के लिए मंत्र है।

[4] कुष्ठ, शिर और नेत्रों के लिए हितकारी मानी जाती थी।

[5] गांधार, महावृष, मुंजवान् और बाह्लीक (बलख) को ज्वर का घर माना जाता था, और अंग और मगध देशों को भी। यह सरदी (शीत) और कंपन (रूर:) से युक्त होता था। खांसी (कास) और क्षय (बलास) प्राय: इसका अनुसरण करते थे। कभी-कभी इसका आक्रमण तीसरे या चौथे दिन, ग्रीष्म या शरद् में होता था या यह सारे वर्ष भर चालू रहता था।

रीढ़ पसलियों, नेत्र और आंतों के रोग, विसल्प, विद्रध, वायुरोग (वातिकार), अलजी और टांग, घुटना, पेड़ू, शिराओं और शिर के रोग आते हैं।

रोगों की उत्पत्ति के सिद्धान्त के विषय में बौलिग ने एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स में रोगों और औषधि (वैदिक) सम्बन्धित अपने लेख में निम्न टिप्पणी की है। यह तथ्य द्रष्टव्य है कि वात, कफ और पित्त इन तीन धातुओं से शरीर के निर्मित होने का हिन्दू सिद्धान्त प्राचीन आथर्वण ग्रन्थों में दृष्टिगत नहीं होता। ६. ४४. ३ के 'वातिकृतनाशनी' को इसके विपक्ष में प्रमाणरूप नहीं प्रस्तुत किया जा सकता, क्योंकि इसका अर्थ शरीर में वातजनित (रोगों का) नाशक नहीं है, अपितु 'जो वायु में पहुँचा दिया गया है उसका नाशक' अर्थ है। स्पष्टतः अतीसार के साथ इसके साहचर्य के कारण, इसमें आंतों में स्थित वायु की ओर संकेत है।' मुझे यह सही नहीं प्रतीत होता है। जिस पद का बौलिग ने उद्धरण दिया है उसका अर्थ वस्तुतः संदेहास्पद है, सायण ने इसको 'वाति' (वायु पहुँचाने द्वारा चिकित्सा करने वाला) और कृतनाशनी (रोगकारी अशुभ कार्यों का नाशक) इन दो शब्दों से निर्मित माना है। परन्तु यह जैसा भी हो, इस विषय पर अन्य स्थल भी हैं जिनकी ओर बौलिग ने ध्यान नहीं दिया प्रतीत होता है। इस प्रकार १. २. ३ में व्याधियों को इन तीन प्रकारों में विभक्त किया गया है। उदक-जनित, वायु-जनित और शुष्क—यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मः।[1] उत्तरकालीन चिकित्सा विषयक लेखकों ने श्लेष्मा को भी जलमय माना था, और 'अभ्रज' शब्द सम्भवतः शरीर को धारण करने अथवा नष्ट करने वालों में से श्लेष्मा को भी एक मानने वाले सिद्धान्त के मूल की ओर संकेत करता है। सामान्यतः 'वातज' शब्द का अर्थ वायु से उत्पन्न रोग है, और उत्तरकालीन चिकित्सा साहित्य में अग्नि का एक रूप माने जाने वाले पित्त को यहाँ 'शुष्म' अर्थात् सूखा संज्ञा से बहुत भली प्रकार से वर्णन किया गया है। सन्दर्भ यह प्रदर्शित करता है कि जिन रोगों का पिप्पली द्वारा ठीक किये जाने का उल्लेख है, वे ऐसे रोग हैं जिन्हें उत्तरकालीन साहित्य में वातज माना गया है, क्योंकि 'पागलपन' (क्षिप्त) को 'वातिकृत' रोग बतलाया गया है। 'शुष्म' शब्द 'शुष्' (सुखाना) धातु से व्युत्पन्न है, और किंचित् विकृत रूपों में 'शोषण', 'ज्वलन', 'शक्ति' और 'दीपन' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। कम से कम एक स्थल में इसका प्रयोग अग्नि के समान दाहक बताये गए मूर्च्छाकारी पित्तज ज्वर की अत्यन्त दाहक संवेदना का वर्णन करने के लिए किया गया है।[2] अतः मेरा अपना निष्कर्ष यह है कि कम से कम कुछ आथर्वण लोगों ने

---

[1] 'वातिकारस्य' (६.१३-२०) से भी तुलना कीजिए।

[2] ६. २०. ४। जिन अन्य सन्दर्भों में न्यूनाधिक रूप से विकृत रूप में 'शुष्म' शब्द व्यवहृत है, उनके लिए देखिए १. १२, ३, ३. ६. ३, ४. ४. ३, ४, ४. ४,

जाने वाली ओषधियों के अतिरिक्त, जल को महान् चिकित्साकारक एवं जीवनप्रद गुणों से युक्त माना जाता था।[1] वनस्पतियों में चिकित्साकारक गुणों का होना प्रायः उनके सारभूत पानी के कारण, माना जाता था। सर्प-विषों के लिए मन्त्र और उनके विषों के लिए उपशामक मानी जाने वाली वनस्पतियों का प्रचलन था। व्याधियों और उनकी चिकित्सा के छुट-पुट प्रसंग अन्य ऋग्वेदीय ग्रन्थों और ब्राह्मणों में दूर-दूर विखरे हुए मिलते हैं। परन्तु अथर्ववेद[2] से अधिक उन्नत चिकित्सा संबंधी ज्ञान प्रदर्शित करने वाली कोई भी बात इन ग्रन्थों में नहीं दृष्टिगत होती है। इन भेषजों के अतिरिक्त, दीर्घायुष्य की प्राप्ति और पुंसत्व की वृद्धि के लिए पूर्व वर्णित मन्त्र, रक्षाकवच और ओषधियां भी थी जो चरक और अन्य चिकित्सा सम्बन्धी ग्रन्थों के 'रसायन' और 'वाजीकरण' अध्यायों के अनुरूप हैं। इस तथ्य को प्रदर्शित किए विना हम इस अध्याय को नहीं छोड़ सकते कि यद्यपि अधिकांश व्याधियां और उनके उपचार ज्ञात थे, तो भी निदान अर्थात् रोगों के कारण जैसी किसी भी चीज का विशेष वर्णन नहीं है। अभ्रज, वातज और शुष्म इन तीन प्रकार की व्याधियों के वर्गीकरण के विद्यमान होने से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि जिस प्रकार ये तीनों तत्व उत्तरकालीन चिकित्सा-साहित्य में निदान समझे जाते थे उसी प्रकार निदान-भूत इन तीनों तत्वों के असंतुलन का ज्ञान वैदिक लोगों को था। रोगों के तीन महत्व-पूर्ण कारण थे, अशुभ कर्म, शत्रुओं की मान्त्रिकता, और दुष्ट प्रेतात्माओं के वशीभूत होना अथवा कुछ देवताओं का प्रकोप।

गर्भ और सूक्ष्म शरीर

चरक ने मानव शरीर को आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी इन पांच तत्वों का विकार माना है और इसे चेतना का अधिष्ठान भी माना है।[3] स्वयं शुक्र चार तत्वों वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से निर्मित है, आकाश इसका अंग नहीं है, परन्तु इसके स्खलित होते ही आकाश इससे युक्त हो जाता है क्योंकि 'आकाश' का 'अन्तरिक्ष' सर्व-व्यापी है। जो शुक्र स्खलित होता है और गर्भाशय में प्रवेश करता है, वह

---

[1] अप्सु अन्तरमृतमप्सु भेषजम् (पानी में अमृत और भेषज है– १. ४. ४)। देखिए १. ५. ६. ३३, २. ३, ३. ७. ५, ४. ३३, ६. २४, ६२, ६ २४. २ इत्यादि भी।

[2] इन ऋग्वेदीय और अन्य ग्रन्थों के संक्षिप्त सर्वेक्षण के लिए वौलिंग का डिजीज एण्ड मेडीसिन (वैदिक) शीर्षक लेख एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स में देखिए।

[3] गर्भस्तु खल्वन्तारिक्षवाय्वग्नितोयभूमिविकारश्चेतनाधिष्ठानभूतः, चरक ४. ४. ६।

वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के सम भागों द्वारा निर्मित है, आकाश शुक्र से गर्भाशय में मिश्रित हो जाता है, क्योंकि स्वयं आकाश सर्वत्र विद्यमान है और इसकी अपनी कोई गति नहीं है।[1] शुक्र छः प्रकार के रसों का परिणाम है। परन्तु गर्भ की उत्पत्ति सामान्यतः पिता के 'शुक्र' एवं माता के शोणित के संयोग से ही नहीं हो सकती। ऐसा संयोग गर्भ की उत्पत्ति केवल तभी कर सकता है जबकि वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा मनस् (मन सम्पूर्ण प्रत्यक्षों और विचारों में युक्त इन्द्रिय) से निर्मित अपने सूक्ष्म शरीर से युक्त आत्मा कर्मों द्वारा उससे सम्बद्ध होता है। यद्यपि आत्मा के सूक्ष्म-शरीर के निर्माता चार तत्वों को सर्गो का सामान्य हेतु बताया गया है फिर भी वे बच्चे के मुख्य-मुख्य शारीरिक आकार-प्रकारों में निर्माण में योगदान नहीं करते हैं।[2] जो तत्व सामान्य आकार-प्रकार में योगदान करते हैं, वे हैं (१) मातृ अंश-शोणित, (२) पितृ अंश–शुक्र, (३)प्रत्येक व्यक्ति के कर्म; माता द्वारा पचाए गए अन्न-रस के योगदान को पृथक् रूप से गिनने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसका निर्णय व्यक्ति के कर्मानुसार ही होता है। मानसिक लक्षण व्यक्ति के पूर्वजन्म की मानसिक स्थिति के द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। इस प्रकार, यदि जीवन की पूर्व अवस्था देवता की थी. तो बच्चे का मन शुद्ध एवं उत्साहपूर्ण होगा, जबकि यदि यह पशु की हो तो मन अशुद्ध एवं जड़ होगा।[3] जब कोई आदमी मरता है तो उसका आत्मा

---

[1] वाटवग्नि भूम्पव्गुणपादवत् तत्पड्भ्यो रसेभ्यः प्रभावश्चतस्य। चरक ४-२४। आकाशं तु यद्यपि शुक्रे पाञ्चभौतिकेऽस्ति तथापि न पुरुपशरीरान्निर्गत्य गर्भाशयं गच्छति, किंतु भूतचतुष्टयमेव क्रियावद्याति, आकाशं तु व्यापक्तमेव तत्रागतेन शुक्रेण संवद्धं भवति, चक्रपाणि कृते 'आर्तक' आग्नेय है। फिर भी उसका कथन है कि अन्यभूतों (उल्हण के अनुसार पृथिवी, वायु और आकाश) के अणु उनसे पृथक् रूप में संवद्ध होते हैं (सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयमितरेपामप्यत्र भूतानां सानिध्यमस्त्यणुना विशेषेण परस्परोपकारात् परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च–सुश्रुत ३. ३. १) और गर्भोत्पत्ति के लिए आपस में एक-दूसरे से सहयोग करते हैं।

[2] यानि त्वात्मनि सूक्ष्माणि भूतानि आतिवाहिकरूपाणि तानि सर्वसाधारणत्वेन अविशेषसादृश्यकारणानीति नेह वौद्धव्यानि। चक्रपाणिकृत 'आयुर्वेद दीपिका' ४. २. २३–२७।

[3] तेषां विशेषाद् वलवन्ति यानि
भवन्ति मातापितृकर्मजानि
तानि व्यवस्येत् सदृशत्वलिंगम्
सत्वं यथानूकमपि व्यवस्येत्॥ चरक ४. २. २७।
अनूकं प्राक्तनाव्यवहिता देहजातिस्तेन यथानूकम् इति यो देवशरीरादव्यवधानेनागत्य भवति स देवसत्वो भावति, इत्यादि, चक्रपाणि ४. २. २३–२७।

वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन चार भूतों से निर्मित अपने सूक्ष्म शरीर के साथ तथा 'मनस्' की सूक्ष्मावस्था में अपने कर्मों के कारण अदृश्य रूप से एक विशिष्ट गर्भ में प्रवेश करता है और तत्पश्चात् जब माता-पिता के संयुक्त शोणित एवं शुक्र से सम्बद्ध हो जाता है तो गर्भवृद्धि प्रारम्भ होती है।[1] यद्यपि शुक्र और शोणित शरीरोत्पत्ति के कारणरूप में केवल तभी कार्य कर सकते हैं, जब वे म्रियमाण प्राणी की पूर्व देह से स्थानान्तरित सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं।[2] सुश्रुत (३. १. १६) का कहना है कि उस समय अत्यन्त सूक्ष्म शाश्वत चेतनावान् सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति होती है। (अभिव्यज्यते) जब शोणित और शुक्र का योग होता है (परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः शाश्वता लोहितरेतसः संनिपातेष्वभिव्यज्यन्ते)। परन्तु बाद में (३.३.४) इस कथन को इस प्रकार से संशोधित कर दिया गया है कि यह चरक के वर्णन के अनुकूल हो गया, क्योंकि वहां यह कहा गया है कि आत्मा सूक्ष्म-भूतात्मा के साथ-साथ ही संयुक्त शुक्र और शोणित के सम्पर्क में आता है। एक अन्य स्थल में कुछ भिन्न वर्णन पाया जाता है (सुश्रुत ३. ४. ३)। इसमें यह कहा गया है कि वर्धमान गर्भ के उपकरण अग्नि, सोम, सत्व, रजस् तमस्, पंचेन्द्रियां और भूतात्मा हैं—ये सब गर्भ के जीवन में योगदान करते हैं और इनको 'प्राण' भी कहा गया है।[3] इसकी व्याख्या करते हुए, उल्हण का कथन है कि यहाँ पर वर्णित 'अग्नि' ऊष्मा शक्ति है, जिसका पांच प्रकार के पाचक कार्यों में नामतः भ्राजक, (चर्म को कान्ति युक्त करना) आलोचक (देखने की सामर्थ्य)। रक्त को रंजित करने, बौद्धिक व्यापार, और विभिन्न धारक तत्वों (धातुओं) यथा रस, रुधिर इत्यादि की रचना और कार्य से सम्बद्ध ऊष्मा व्यापार, में अपने को प्रकट करता है, सोम सारे जलीय तत्वों यथा श्लेष्मा, रस, शुक्र इत्यादि की और रसनेन्द्रिय की मूल शक्ति है, वायु, प्राण, अपान, समान, उदान और

---

[1] भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मै
मंनोजवोदेहमुपैति देहात्
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं
दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम्। —चरक ४. २. ३।

[2] यद्यपि शुक्ररजसी कारणे, तथापि यदैवातिवाहिकं सूक्ष्मभूतरूपशरीरं प्राप्नुतः, तदैव ते शरीर जनयतः, नान्यदा। चक्रपाणि ४. २. ३६।

[3] भूतात्मा अर्थात् सूक्ष्म शरीर को उसके अधिष्ठाता आत्मा सहित सुश्रुत द्वारा कर्म पुरुष की संज्ञा दी गई है। चिकित्सा सम्बन्धी विवेचन इसी कर्म-पुरुष और उसके शरीर का है (स कर्मपुरुषः चिकित्साधिकृतः—सुश्रुत ३. १. १६)। पुनः सुश्रुत (१. १. २१) में कहा है 'पंचमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते, तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानम्। (इस विज्ञान में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग पंचमहाभूतों और शरीरिन् के समवाय के लिए हुआ है, और यही चिकित्सा सम्बन्धी विवेचन का उद्देश्य है।)

स्थान इन पंचविध जीवन कार्यों को क्रियान्वित करने वाले तत्व का प्रतिनिधित्व करता है। डल्हण आगे कहते हैं कि सत्व, रजस् और तमस् मनस् से सम्बन्धित हैं, जो उनके समुदित विकास का परिणाम है। पांच इन्द्रियां अपने बोधकारक क्रियाओं के कारण जीवन का हेतु हैं। प्रथम स्थल में जैसा प्रदर्शित किया गया प्रतीत होता था कि जीवन शुक्र और शोणित के संयोग के परिणामस्वरूप प्रकट हुआ, दूसरे स्थल में शुक्र-शोणित को जीवन-रूप में विकसित करने के लिए आवश्यक आत्मा के भूतात्मा के साथ सम्बन्ध पर विचार किया गया है। तीसरे स्थल में, इनके अतिरिक्त, पांच इन्द्रियों, सत्व, रजस् और तमस् को समाविष्ट किया गया है, और शुक्र-शोणित का स्थान अग्नि की तीन मूल-शक्तियों एवं वायु ने ले लिया है। ये तीनों शक्तियां न्यूनाधिक काल्पनिक प्रकार की हैं जिन्होंने कई क्रियाओं और शरीर के उपादान कारणों को आत्मसात् कर लिया है। तीन उत्तरोत्तर अध्यायों में इन तीन दृष्टिकोणों का कारण सिवाय इस कल्पना के संतोषप्रद रूप से समझाया नहीं जा सकता कि सुश्रुत के ग्रन्थ की तीन विभिन्न कालों में तीन विभिन्न आवृत्तियां हुई हैं; वाग्भट प्रथम का कथन है कि ज्योंही शुक्र और शोणित का योग होता है, राग आदि क्लेशों से विकृत मन से प्रेरित होकर 'जीव' इसके सम्पर्क में आता है।[1]

चिकित्सा ग्रन्थों में वर्णित है सूक्ष्म शरीर के सिद्धान्त की सांख्य मत से उपयुक्त ढंग से तुलना की जा सकती है। चरक संहिता ६. २. ३६ की व्याख्या करते हुए स्वयं चक्रपाणि का कथन है कि यह सूक्ष्म शरीर (आतिवाहिक शरीर) का सिद्धान्त 'आगम' में वर्णित है, और 'आगम' का अर्थ 'सांख्य आगम' समझना चाहिए (तेन आगमादेव सांख्यदर्शनरूपादातिवाहिक शरीरात्)। सांख्यकारिका ३६ में सूक्ष्म-देह और माता-पिता से प्राप्त देह का वर्णन है। सूक्ष्म का अस्तित्व तबतक रहता है, जबतक कि मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता और प्रत्येक जन्म के समय यह नवदेह धारण करता है और प्रत्येक मृत्यु के समय उसे त्याग देता है। यह महत्, अहंकार, एकादश

---

[1] गते पुराणे रजसि नवेऽवस्थिते शुद्धे गर्भस्याशये मार्गे च वीजात्मना शुक्लमविकृतमविकृतेन वायुना प्रेरितमन्यैश्च महाभूतैरनुगतमार्तवेनाभिमूर्च्छितमन्वक्षमेव रागादिक्लेशवशानुवर्तिना स्वकर्मचोदितेन मनोजवेन जीवेनाभिसंसृष्टं गर्भाशयमुपयाति—अष्टांग-संग्रह २. २। इसकी व्याख्या करते हुए इन्दु का कथन है 'वीजात्मना गर्भकारण महाभूतस्वभावेन—सूक्ष्मस्वरूपैः मनस्सहचारिभिस्तन्मात्राख्यैर्महाभूतैरनुगतं स्त्रीक्षेत्रप्राप्त्या कर्मवशादार्तवेन मिश्रीभूतमन्वक्षं मिश्रीभावहीनकालमेव—मनोजवेन जीवेनाभिसंसृष्टं प्राप्तसंयोगं गर्भाशयं शुक्लमुपयाति। 'जीव' के प्रयोग की प्रकृति के बारे में उसकी आगे की व्याख्या यह प्रदर्शित करती है कि अविद्या आदि तथा अन्य क्लेशों के विवरण के लिए उसने पातंजल 'योगसूत्र' का आश्रय लिया।

इन्द्रिय और पंच तन्मात्राओं द्वारा निर्मित है। पुण्य, दोष और अन्य बौद्धिक विकारों एवं उपलब्धियों को धारण करने वाली बुद्धि के साथ अपने संसर्ग के कारण यह स्वयं उनसे इसी प्रकार सम्बद्ध हो जाता है, जैसे कि एक कपड़ा मधुर गन्ध वाले चम्पक पुष्प के संसर्ग के द्वारा गन्ध ग्रहण कर लेता है, और इसलिए इसे तबतक पुनर्जन्मों की शृंखला का भोग करना पड़ता है जबतक कि बुद्धि विवेक प्राप्ति द्वारा इससे पृथक् नहीं हो जाती। सूक्ष्म शरीर को स्वीकार करने की आवश्यकता इस तथ्य में निहित मानी जाती है कि अहंकार और इन्द्रियों से युक्त बुद्धि का शरीर रूपी अधिष्ठान के अभाव में अस्तित्व नहीं रह सकता। अतः एक मृत्यु से दूसरे जन्म के मध्य के अन्तराल में बुद्धि इत्यादि को एक धारक शरीर की आवश्यकता होती है, और यह आधार सूक्ष्म-शरीर है।[1] सांख्य प्रवचन भाष्य ५. १०३ में कहा गया है कि यह सूक्ष्म-शरीर तो अणु आकार की एक वस्तु है जो अंगूठे से अधिक बड़ी नहीं है, फिर भी यह सारे शरीर में ठीक वैसे ही व्याप्त है जैसे कि एक छोटी ज्वाला अपनी किरणों के द्वारा सारे कमरे में व्याप्त होती है।[2] इस सांख्य मत का खंडन करते हुए व्यासभाष्य का कथन है कि इसके अनुसार किसी घट अथवा प्रासाद स्थित दीपक की किरणों के समान ही, चित्त अपने धारक शरीर की विशालता अथवा लघुता के अनुसार संकुचित अथवा विस्तृत होता है।[3] व्यास द्वारा प्रतिपादित योग दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए वाचस्पति का कथन है कि सांख्य मत में चित्त ऐसा है कि चित्त संकोच और विस्तार मात्र से ही किसी शरीर का मृत्यु समय पर त्याग नहीं कर सकता और सूक्ष्म (अतिवाहिक) शरीर के माध्यमिक सम्पर्क के बिना अन्य शरीर को धारण नहीं कर सकता। परन्तु, यदि चित्त स्वयं एक देह का त्याग और अन्य का धारण नहीं कर सकता, तो कैसे यह अपने-आपको मृत्यु के समय सूक्ष्म-शरीर से सम्बद्ध कर सकता है? यदि यह कार्य किसी अन्य देह के माध्यम से किया जाता है और वह कार्य फिर किसी अन्य के द्वारा तो हम अनवस्था दोष प्रसंग को प्राप्त हो जाएंगे। यदि यह कहा जाय कि चित्त ऐसे सूक्ष्म शरीर से अनादि काल से सम्बद्ध है, तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि ऐसे सूक्ष्म शरीर का किसी ने भी प्रत्यक्ष नहीं किया है (न खल्वेतद् अध्यक्षगोचरम्) और न अनुमान के माध्यम से ही इसे अपरिहार्य रूप से आवश्यक माना जा सकता है, क्योंकि योग का दृष्टिकोण इस अवस्था की व्याख्या ऐसी किसी भी प्रकार के शरीर की कल्पना के बिना ही कर सकता है। चित्त सर्व-

---

[1] साँख्य तत्व कौमुदी ३९, ४०, ४१।

[2] यथा दीपस्य सर्वगृहव्याप्तित्वेऽपि कलिकाकारत्वम्—तथैव लिंगदेहस्य देहव्याप्तित्वेऽप्यंगुष्ठप्रमाणत्वम्। सांख्य प्रवचन भाष्य ५. १०३।

[3] घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोचविकाशि चित्तम्, शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः—पातंजल योगसूत्र ४. १० पर व्यास भाष्य।

व्यापि है और प्रत्येक आत्मा एक पृथक् चित्त से सम्बद्ध है। प्रत्येक चित्त अपने आपको एक विशिष्ट शरीर से इस तथ्य के कारण सम्बद्ध करता है कि इसकी वृत्तियाँ उस शरीर में देखी जाती है। इस प्रकार आत्मा के सर्वव्यापी चित्त की वृत्तियाँ म्रियमाण शरीर में लुप्त होने लगती हैं और नवजात शरीर में क्रियमाण हो जाती हैं। अतः सूक्ष्म शरीर को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है (आतिवाहिकं तस्य न मृष्यामहे)।[1]

वैशेषिक ने भी सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को मानने से इन्कार किया है और गर्भ-वृद्धि में इसका कोई स्थान निर्धारित नहीं किया है। न्याय कन्दली[2] में श्रीधर ने गर्भ विकास का इस प्रकार वर्णन किया है: पिता के शुक्र और माता के शोणित के योग के पश्चात् शुक्र शोणित के विधायक अणुओं के कारण गर्भाशय की गर्मी से एक ऐसा परिवर्तन होता है कि उनके पुराने वर्ण, आकार आदि नष्ट हो जाते हैं और नए सदृश गुण उत्पन्न हो जाते हैं, और इस प्रकार द्वयणुओं और त्रसरेणुओं के क्रमिक निर्माण के द्वारा भ्रूण का विकास होता है, और, जब ऐसे शरीर का निर्माण हो जाता है तो उसमें 'अन्तःकरण' का प्रवेश होता है, जोकि शुक्र-शोणित अवस्था में प्रवेश नहीं कर सकता था क्योंकि मन को शरीर रूपी आश्रय की आवश्यकता होती है (न तु शुक्रशोणितावस्थायां शरीराश्रयत्वान्मनसः)। माता के अन्न-रस की अल्प मात्रा उसका पोषण करती है। तत्पश्चात् अदृष्ट (अदृश्य शक्ति) के द्वारा गर्भ का गर्भस्थ ऊष्मा के कारण अणु रूपों में विघटन होता है और अन्न-रस के अणुओं के साथ-साथ नवीन गुणों से युक्त अणु नव शरीर के निर्माण के लिए आपस में पिण्ड रूप धारण कर लेते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सूक्ष्म शरीर और चित्त का गर्भ के निर्माण एवं विकास से कोई प्रयोजन नहीं। गर्भ के निर्माण की प्रक्रिया में होने वाले सारे विघटन और पुनः संयोगों के लिए ऊष्मा ही मुख्य कारण के रूप में उत्तरदायी है।

---

[1] वाचस्पति कृत 'तत्ववैशारदी' ४. १०। महाभारत ३. २९६.१७ में उल्लेख है; 'अंगुष्ठमात्र पुरुष निश्चकर्ष यमो बलात्।' वाचस्पति का कथन है कि 'पुरुष' कोई भौतिक वस्तु नहीं है, अतः इसको शरीर से बाहर नहीं खींचा जा सकता। अतः इसकी व्याख्या 'म्रियमाण' शरीर में चित्त की वृत्तियों के अभाव के द्योतक औपचारिक अर्थ में करनी चाहिए (न चास्य निष्कर्षः संभवति, इत्यौपचारिको व्याख्येयस्तथा च चितेश्चित्तस्य च तत्र तत्र वृत्त्यभाव एक निष्कर्षार्थः)।

सांख्य प्रवचन भाष्य ५ १०३ का कथन है कि सत्यवान के शरीर से यम द्वारा निकाले गए जिस अंगुष्ठ मात्र पुरुष का उल्लेख महाभारत ३. २९६ १७ में किया गया है, वह लिंगदेह के प्रमाण का ही है।

[2] 'न्याय कन्दली' विजयानगरम् संस्कृत सीरिज १८९५ पृ० ३३।

ऐसा प्रतीत होता है कि न्याय ने इसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं माना है और यह भी सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को नहीं मानता है। न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा सर्वव्यापी है। ऊपर दिए गए महाभूतों वाले उद्धरण में यम अंगुष्ठ मात्र पुरुष को बाहर निकाल लेता है, न्याय दर्शन के अनुसार उसकी व्याख्या करनी होगी।[1] पुनर्जन्म में केवल सर्वव्यापी आत्मा ही शरीर विशेष से सम्बद्ध होता है (य एष देहान्तरसंगमोऽस्य, तमेव तज्ज्ञाः परलोकमाहुः)।[2]

चन्द्रकीर्ति हमें शालिस्तम्ब सूत्र से बौद्ध दृष्टिकोण का विवरण देते हैं।[3] गर्भ छः धातुओं के समवाय से उत्पन्न होता है (षण्णां धातूनां समवायात्)। शरीर को संश्लिष्ट करने वाला धातु पृथ्वी (पार्थिव-धातु) कहलाता है, शरीर के अन्न और पान को पचाने वाला धातु अग्नि (तेजो धातु) कहलाता है, श्वास-निःश्वास उत्पन्न करने वाला धातु वायु कहलाता है, शारीरिक छिद्रों (अंतः सौषिर्यम्) को उत्पन्न करने वाला धातु आकाश (आकाश-धातु) कहलाता है, जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है वह धातु 'विज्ञान-धातु' कहलाता है। इन सबके ही समवाय से शरीर की उत्पत्ति होती है (सर्वेषां समवायात कायस्योत्पत्तिर्भवति)। कई अन्य विभिन्न कारणों के साथ संसर्ग से 'विज्ञान' का बीज 'नाम' और 'रूप' का अंकुर उत्पन्न करता है। इस प्रकार गर्भ स्वतः उत्पन्न होता है, अन्य से नहीं, और न स्वतः और अन्य दोनों से, न परमात्मा के द्वारा, न काल द्वारा, न प्रकृति द्वारा, न एक कारण द्वारा, और न बिना कारण द्वारा, अपितु उपयुक्त ऋतु में माता और पिता के अंशों के संयोग से उत्पन्न होता है।[4] माता और पिता के अंशों का योग हमें पांच धातुएं प्रदान करता है, जब ये पांचों छठे धातु विज्ञान से युक्त हो जाते हैं तो वे एकसाथ क्रियाशील हो जाते हैं।

गर्भ के षड्धातुओं के संयुक्त प्रभाव का परिणाम होने के मत से हमें चरक ४. ३ के एक मिलते-जुलते कथन का स्मरण हो जाता है। चरक ने उसमें गर्भ के निर्माण एवं विकास के कारण के विषय पर विभिन्न ऋषियों के बीच हुए संवादों का सारांश दिया है : जहां प्रभावकारी शुक्र से युक्त मनुष्य और विकार रहित अंग, गर्भाशय एवं शोणित से युक्त स्त्री का समागम होता है, वहां यदि शुक्र और शोणित के योग के समय मन के माध्यम द्वारा आत्मा इसके सम्पर्क में आवे, तो गर्भ विकास करने लगता

---

[1] तस्मान्न हृत्पुण्डरीके यावदवस्थानमात्मनः अतएव अंगुष्ठ मात्रं पुरुषं निश्चकर्ष बलाद् यम इति व्यासवचनमेवम्परमवगन्तव्यम्।

(जयन्त न्याय मंजरी, पृ० ४६९)।

[2] वही, पृ० ४७३।

[3] 'माध्यमिक वृत्ति' (Bibliotheca Buddhica) पृ० ५६०-६१।

[4] वही, पृ० ५६७।

है।[1] जब इसकी उचित पोषण द्वारा देखभाल की जाती है, तब उचित समय पर बच्चा उत्पन्न होता है, और उपर्युक्त समस्त भूतों के समुचित भावों के कारण सारा विकास होता है (समुदयादेषां भावानाम्)। गर्भ माता-पिता के तत्वों आत्मा, माता-पिता के शरीर की आरोग्य सम्बन्धी उचित देखभाल (सात्म्य) और अन्नरस से उत्पन्न होता है तथा इनके साथ-साथ सत्व अथवा मनस् प्रयोजक रूप में विद्यमान रहता है जो शरीर त्याग देने के पश्चात् आत्मा के लिए पूर्व देह के संयोजक का कार्य करने के लिए मध्यस्थित वाहन का कार्य करता है (औपपादिक)।[2] भारद्वाज का कथन है कि इनमें से कोई भी कारण सही नहीं माना जा सकता, क्योंकि माता-पिता के समागम के उपरान्त भी वे प्रायः निःसन्तान रहते हैं, आत्मा-आत्मा को उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता, तो क्या यह उत्पन्न होने अथवा उत्पन्न न होने के पश्चात् अपने-आपको उत्पन्न कर सकता? दोनों ही अवस्थाओं में उसके लिए अपने-आपको उत्पन्न करना असंभव है। और भी, यदि आत्मा में स्वयं को उत्पन्न करने की क्षमता होती तो वह अवांछित स्थानों में और दोषयुक्त शक्तियों के साथ जन्म लेने का ध्यान ही नहीं करता, जैसाकि कभी-कभी होता है। पुनश्च उचित आरोग्य सम्बन्धी आदतें भी कारण नहीं मानी जा सकती, क्योंकि कई ऐसे व्यक्ति विद्यमान हैं जिनकी ऐसी आदतें हैं परन्तु वे निःसन्तान हैं, और कई ऐसे हैं जिनकी ऐसी आदतें नहीं हैं परन्तु वे सन्तानयुक्त हैं। यदि यह भोजन के रस के कारण होता तो सारे लोगों की सन्तानें होतीं। फिर यह भी सत्य नहीं कि एक देह से निकलने वाला सत्व स्वयं को अन्य से संबद्ध कर लेता है, क्योंकि यदि ऐसा होता, तो हम सब अपने पूर्वजन्म की घटनाएं याद रखते। अतः उपर्युक्त कारणों में किसी को सही नहीं माना जा सकता। इसके उत्तर में आत्रेय का कथन है कि उपर्युक्त सारे तत्वों के समुदित प्रभावों से ही बच्चे की उत्पत्ति होती है, न कि उनमें से किसी एक द्वारा पृथक् रूप से।[3] इसी विचार की ४. ३. २० में एक बार फिर पुनरावृत्ति की गई है जिसमें यह कहा गया है कि जैसे चिकित्सागृह (कूटागारं वर्तुलाकारं गृहं जैन्ताकस्वेदप्रतिपादितम्—चक्रपाणि) अनेक प्रकार की वस्तुओं से बना होता है, अथवा जैसे एक रथ अपने विभिन्न भागों के संग्रह से बना होता है, वैसे ही गर्भ उन विभिन्न इकाइयों के संयोग से बनता है जो

---

[1] वैशेषिक दर्शन के अनुसार भी सर्वव्यापी आत्मा मन के माध्यम से ही गर्भ के संपर्क में आता है, परन्तु अन्तर यह है कि इसके अनुसार मन गर्भ के विकास का हेतुभूत प्रयोजक कारण है, जबकि उसमें मन गर्भ के पास तब जाता है जब गर्भ शारीरिक ऊष्मा के द्वारा पहले से ही शरीर में विकसित हो जाता है।

[2] चरक संहिता ४. ३. ३।

[3] नेति भगवानात्रेयः सर्वेभ्य एभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भोऽभिनिर्वर्तते।

—वही, ४. ३. ११।

गर्भ के निर्माण और उसके विकास का कारण होती है (नानाविधानां गर्भकराणां भावानां समुदायादभिनिर्वर्तते)।[1] एक सम्मिलित सम्पूर्ण की उत्पत्ति को प्राप्त कराने वाले कारणों के ऐसे समुदित भाव का विचार अपने आप और एक विशिष्ट बौद्ध रूप धारण किए हुए प्रतीत होता है।

आत्रेय के उपर्युक्त कथन का विरोध करते हुए, भारद्वाज पूछते हैं कि यदि गर्भ अनेकों समुदित कारणों का परिणाम है, तो वह निर्दिष्ट ढंग क्या है जिसमें वे विभिन्न भागों को उत्पन्न करने के लिए एक दूसरे से परस्पर सहयोग करते हैं (कथमयं संधीयते) और फिर इसका क्या कारण है कि स्त्री से उत्पन्न सन्तान मानव सन्तान ही होती है किसी अन्य पशु की नहीं ? फिर, यदि मनुष्य को मनुष्य उत्पन्न होता है, तो जड़ पुरुष का पुत्र जड़, अन्धे का पुत्र अन्धा और पागल का पुत्र पागल क्यों नहीं होता ? इसके अतिरिक्त यदि यह तर्क दिया जाय कि आत्मा आँख द्वारा वर्णों का, श्रोत्र द्वारा ध्वनियों का, नासिका (घ्राण) द्वारा गंध का, रसना द्वारा विभिन्न रसों का प्रत्यक्षीकरण करता है और त्वचा द्वारा विभिन्न स्पर्शजन्य संवेदनाओं का अनुभव करता है, और इसी कारण से बच्चा पिता के गुणों को जन्म से ही नहीं ग्रहण करता है, तब यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आत्मा को ज्ञान केवल तभी हो सकता है जब इन्द्रियां विद्यमान हों और तब उसको यह ज्ञान नहीं होगा जब इन्द्रियां नहीं हों; ऐसी दशा में आत्मा अविकारी न होकर सविकारी हो जायगा (यत्र चैतदुभयं संभवति ज्ञत्वमज्ञत्वं च सविकारश्चात्मा)।[2] यदि आत्मा को विषयों का बोध इन्द्रिय व्यापारों, प्रत्यक्षीकरण इत्यादि, के द्वारा होता है, तो जब यह इन्द्रियहीन होता है तो कुछ भी नहीं जान सकता, और जब यह अचेतन होता है उस समय यह शारीरिक चेष्टाओं का अथवा अन्य अपने व्यापारों में से किसी का भी कारण नहीं हो सकता, और परिणामतः इसे 'आत्मा' नहीं कहा जा सकता। अतः यह कहना केवल मूर्खता है कि आत्मा अपनी इन्द्रियों द्वारा वर्णों इत्यादि का प्रत्यक्षीकरण करता है।

इसके उत्तर में आत्रेय का कथन है कि जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज ये चार प्रकार के प्राणी होते हैं। प्रत्येक वर्ग में नानाविध रूपों के असंख्य प्राणी विद्यमान हैं। गर्भकारी भाव (गर्भकराभावाः) जिन रूपों को ग्रहण करते हैं वे रूप उस शरीर के रूप पर निर्भर करते हैं जहां वे एकत्र होते हैं। जिस प्रकार सोना, चाँदी, ताम्बा, सीसा इत्यादि जिस पात्र में डाले जाते हैं उसी का आकार ग्रहण कर लेते हैं, ठीक उसी प्रकार जब गर्भकारी भाव एक शरीर विशेष में एकत्र होते हैं तो गर्भ उस आकार विशेष को ग्रहण कर लेता है परन्तु कोई आदमी अपने पिता के दोष

---

[1] वही, ४. ३. २०।

[2] चरक संहिता, ४. ३. २१।

अथवा रोग से तब तक दूषित नहीं होता, जब तक कि यह दोष अथवा रोग इतना बुरा अथवा संक्रामक न हो कि उसके शुक्र को प्रभावित कर दे।[1] हमारे प्रत्येक अंग और अवयव का अंकुर पिता के शुक्र में है, और जब पिता के रोग अथवा दोष की जड़ें इतनी गहरी हों कि बीज किसी के अवयव विशेष के अंकुर भाग को प्रभावित (उपताप) कर दे तब उस शुक्र से उत्पन्न सन्तान उस अंग से विकलांग उत्पन्न होती है; परन्तु यदि उसके पिता का दोष अथवा रोग इतना साधारण है कि उसका शुक्र अप्रभावित रहता है, तब रोग अथवा दोष पुत्र द्वारा जन्मना ग्रहण नहीं किया जा सकता। सन्तान इन्द्रियों के लिए माता-पिता का ऋणी नहीं है, केवल वह स्वयं ही अपनी इन्द्रियों के अच्छी या बुरी होने का उत्तरदायी है, क्योंकि वे उसके अपने आत्मा से उत्पन्न होती हैं (आत्मजानीन्द्रियाणि)। इन्द्रियों की विद्यमानता अथवा अविद्यमानता उसके अपने प्रारब्ध अथवा कर्मफल (दैव) के कारण है। इस कारण से ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है कि जड़ अथवा सदोष इन्द्रियों वाले पुरुष की सन्तान आवश्यक रूपेण जड़ अथवा अन्य प्रकार से सदोष ही उत्पन्न होवे।[2] आत्मा केवल तभी तक चेतन है जब तक इन्द्रियां विद्यमान हैं। आत्मा कभी भी तत्व अथवा मन इन्द्रियों से हीन नहीं रहता, और इसके माध्यम से आत्मा में सदा एक प्रकार की चेतना रहती है।[3] कर्त्ता के रूप में आत्मा व्यावहारिक कार्य में प्रतिफलित होने वाले बाह्य जगत् के ज्ञान को इन्द्रियों के बिना ग्रहण नहीं कर सकता; तब कई सहायक उपकरणों की अपेक्षा रखने वाली कोई भी व्यावहारिक क्रिया तब तक नहीं की जा सकती जब तक ये उपकरण विद्यमान न हों; घड़ा बनाना जानने वाला कुम्हार उस समय तक घड़ा बनाने में सफल नहीं हो सकता जब तक कि उसके पास वे अवयव नहीं हों जिनसे घड़ा बनाया जाय।[4] जब इन्द्रियाँ निष्क्रिय होती हैं उस समय हमारे स्वप्नज्ञान

---

[1] वही, ४. ३. २२-२३।

[2] चरक संहिता, ४. ३. २५।

[3] वही, ४. ३. २६। न ह्यसत्वः कदाचिदात्मा सत्वविशेषाच्चोपलभ्यते ज्ञानविशेषः। इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि बाह्य जगत् का हमारा ज्ञान इन्द्रियों के मन के साहचर्य में कार्य करने के कारण होता है। यदि ये इन्द्रियाँ विद्यमान न हों तो हमें बाह्य जगत् का कुछ भी ज्ञान न हो, परन्तु मन की आन्तरिक इन्द्रिय सदा आत्मा के सम्पर्क में रहती है, इसलिए जो ज्ञान 'मन' इन्द्रिय के कारण होता है वह सदा आत्मा में उपस्थित रहता है। (यत्तुकेवलमनोजन्यमात्मज्ञानं, तद् भवत्येवसर्वदा)। ऐसा प्रतीत होता है कि सत्व और मन दोनों का प्रयोग 'मन' इन्द्रिय के द्योतक अर्थ में किया गया है।

[4] चरक संहिता, ४. ३. २७ के शब्द 'कार्यज्ञानम्' की चक्रपाणि ने ऐसे व्याख्या की है, कार्यप्रवृत्तिजनकबाह्यविषयज्ञानम्। जब आत्मा के पास मन इन्द्रिय के साहचर्य में

द्वारा यह तथ्य अच्छी तरह प्रदर्शित होता है कि इन्द्रियों के क्रियाशील नहीं होने पर भी आत्मा में चेतना होती है।[1] आत्रेय का आगे कहना है कि जब इन्द्रियों का पूर्ण रूप से निग्रह हो जाता है और मन भी निगृहीत तथा आत्मा में केन्द्रित हो जाता है, तब कोई भी मनुष्य इन्द्रिय व्यापार के बिना ही सब वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।[2] इस प्रकार आत्मा स्वयं ही ज्ञाता और कर्ता है।

चक्रपाणि की व्याख्या के अनुसार, चरक का दृष्टिकोण कुछ-कुछ नवीन-सा प्रतीत होता है। क्योंकि आत्मा न तो सांख्य-योग के पुरुष के समान शुद्ध 'चित्' ही है और न वेदान्त के समान सत्, चित् और आनन्द का एकत्व ही है। यहां आत्मा मन के साथ अपने निरन्तर साहचर्य के कारण ज्ञाता है। हां, इस दृष्टि से हम न्याय-वैशेषिक दृष्टिकोण के अधिक निकट हैं। परन्तु न्याय-वैशेषिक दृष्टिकोण में आत्मा सदा मन के सम्पर्क में नहीं रहता है और सदा चेतन नहीं है। उस दृष्टिकोण में मन अणुमय है। आत्मा के सदा निराकार चैतन्य रूप होने की दृष्टिकोण निस्सन्देह वेदान्तीय अथवा सांख्य रंग लिए हुए है; परन्तु अन्य विवरण स्पष्टतः इस दृष्टिकोण को इन सम्प्रदायों की मान्य व्याख्याओं से पृथक् कर देते हैं। फिर भी यहां पर प्रतिपादित आत्मा का सिद्धान्त असंगत प्रतीत होता है और अधिक विस्तार से उसकी चर्चा बाद में की जाएगी।

सूक्ष्म शरीरों के अस्तित्व के विषय में हमने भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं के दृष्टिकोण चरक के दृष्टिकोण से साम्य अथवा वैषम्य दिखाने के उद्देश्य से पहले ही उद्धृत कर दिए हैं। इस खंड के समापन से पहले सूक्ष्म शरीरों के स्वरूप के बारे में वेदान्त दृष्टिकोण का उल्लेख करना आवश्यक है।

जैसा शंकर ने भाष्य किया है, वेदान्त के अनुसार सूक्ष्म शरीर पांच भूतसूक्ष्मों से बना है जो पान, अपानादि पांच वायुओं से भी युक्त होता है।[3] जो पुण्य कर्म करते हैं वे चन्द्रलोक में जाते हैं और जो पाप करते हैं वे यमलोक में कष्ट भोगते हैं और इस जगत् में पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं।[4] जो अपने पुण्य कर्मों के फलस्वरूप चन्द्र-

---

काम करने वाली कोई इन्द्रियां नहीं होतीं, तब उसके पास जो ज्ञान होता है वह निर्विषय होता; दूसरे शब्दों में, आत्मा का यह ज्ञान सदा निराकार होता है।

[1] वही, ४. ३. ३१।

[2] विनापीन्द्रियैः समाधिबलादेव यस्मात् सर्वज्ञो भवति, तस्माज्ज्ञस्वभाव एव निरिन्द्रियोऽप्यात्मा (चक्रपाणि कृत 'चरक तात्पर्य टीका, ४. ३. २८–२९)।

[3] ब्रह्मसूत्र ३. १. १–७ पर शांकर भाष्य।

[4] वही, ३. १. १३।

लोक में जाते हैं और तदनन्तर अपने पुण्यों का सम्पूर्ण संचय प्रायः क्षीण कर देते हैं और परिणामतः वे वहाँ अधिक देर स्थित नहीं रह सकते हैं, वे इस मृत्यु लोक की ओर अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देते हैं। वे आकाश, वायु, धूम और मेघ में से होकर गुजरते हैं और तत्पश्चात् वर्षा के साथ पृथ्वी पर बरसाए जाते हैं और वनस्पतियों द्वारा आत्मसात् कर लिए जाते हैं और फिर उनको खाने वाले मनुष्यों के शरीर में पहुँचते हैं और पुनः उन पुरुषों की स्त्रियों के गर्भ में शुक्र रूप में छोड़े जाते हैं और फिर पुनर्जन्म को प्राप्त करते हैं। चन्द्रलोक में उपलब्ध भोगों के हेतु वहाँ उनका शरीर जलमय होता है (चन्द्रमण्डले यदम्मयं शरीरमुपभोगार्थमारब्धम्) और जब उनके पुण्य उपभोगों के द्वारा क्षीण हो जाते हैं और उस शरीर को अधिक समय धारण करने योग्य नहीं रहते हैं, तो वे आकाश के समान शरीर को प्राप्त करते हैं और इस प्रकार वायु से प्रेरित होकर धूम और मेघ के सम्पर्क में आते हैं। इस स्थिति में और जब वे वनस्पतियों के शरीर में विलीन हो जाते हैं, तब भी वे न तो सुख का और न दुःख का ही उपभोग करते हैं। जो अपने पाप कर्मों के दण्डस्वरूप वनस्पति शरीर को प्राप्त होते हैं और जो अपने पुनर्जन्म के पथ पर केवल पड़ावमात्र रूप से वनस्पति शरीर को प्राप्त करते हैं उनकी अवस्थाओं में अन्तर रखना आवश्यक है। प्रथम अवस्था में वनस्पति जीवन भोगयोनि का जीवन है जबकि दूसरी अवस्था में न दुःख है और न सुख। जब वनस्पति शरीरों को चबाया और चूर्ण किया जाता है तब भी पड़ाव रूप में उनके अन्दर रहने वाली आत्माओं को दुःख नहीं प्राप्त होता, क्योंकि वे इन वनस्पतियों से संश्लिष्ट मात्र ही हैं (चन्द्रमण्डलस्खलितानां व्रीह्यादि संश्लेषमात्रं तद्भावः)।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि केवल सांख्य और वेदान्त ही सूक्ष्म शरीर की सत्ता को स्वीकार करते हैं और इस प्रकार उनका चरक के मत से साम्य है। चरक का इस अर्थ में वेदान्त से अधिक मतैक्य है कि जहाँ सांख्य के अनुसार तन्मात्राओं से सूक्ष्म शरीर निर्मित है, वहाँ चरक और वेदान्त दोनों के मत में सूक्ष्म शरीर तत्व के स्थूल भूतों के सूक्ष्म कणों द्वारा निर्मित होता है। आत्मा गर्भ में प्रवेश के समय क्रमशः आकाश, वायु, तेज, ऊष्मा, जल और पृथ्वी (न कि किसी अन्य क्रम में) से एक अणु बराबर क्षण में संश्लिष्ट हो जाता है।[2]

---

[1] ३. १.२५ और ३. १. २२–२७ पर शांकर भाष्य।

[2] चरक संहिता ४. ४. ८। इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि इस बात का कोई विशेष कारण नहीं है कि स्थूल भूतों के ग्रहण करने का क्रम सूक्ष्म से स्थूल की ओर क्यों होना चाहिए? इस क्रम को आगम सिद्ध प्रमाण के अनुसार ही स्वीकार करना होगा—अयं च भूतग्रहणक्रम आगमसिद्ध एव नात्र युक्तिस्तथाविधा हृदयंगमास्ति।

गर्भ वृद्धि[1]

जब तत्व के विभिन्न महाभूत सूक्ष्म शरीर से संयुक्त होकर आत्मा से संश्लिष्ट होते हैं तो वे एक छोटे श्लेष्म-पिण्ड (खेट-भूत) से प्रतीत होते हैं जिसके सारे अंग

---

[1] गर्भ उपनिषद् में गर्भवृद्धि का वर्णन है परन्तु इसका काल अज्ञात है इसकी महत्व-पूर्ण आकर्षक बातें इस प्रकार संक्षेप में कही जा सकती हैं : शरीर के कठोर भाग पृथ्वी है, तरल भाग जल है, जो ऊष्ण है वह तेज है, जो संचरण करता है वह वायु है, जो शून्य रूप है वह आकाश है। आगे शरीर को मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त कटु और कषाय इन षड्रसों पर आश्रित (षडाश्रय) और उसे रस, शोणित और मांस की सात धातुओं द्वारा निर्मित बताया गया है। षड्रसों से शोणित उत्पन्न होता है, शोणित से मांस बनता है, मांस से भेद उत्पन्न होता है, भेद से स्नायु, स्नायु से अस्थि, अस्थियों से मज्जा, मज्जा से शुक्र उत्पन्न होता है। शुक्र और शोणित के संयोग के पश्चात् की दूसरी रात्रि तक गर्भ गोल पिण्ड के आकार का हो जाता है जिसे 'कलल' की संज्ञा दी जाती है, आठवीं रात्रि को यह छोटे फफोले के आकार का हो जाता है जिसे 'बुदबुद' की संज्ञा दी जाती है, एक पक्ष के पश्चात् पिण्ड का आकार ग्रहण कर लेता है, दो मास में शिर प्रकट होता है, तीन मास में पैर, चार मास में उदर, एड़ी और कटि भाग प्रकट होते हैं, पांचवें मास में मेरुदंड प्रकट होता है, छठे मास में मुख, नाक, आंखें और कान विकसित होते हैं, सातवें मास में गर्भ जीव से संयुक्त होता है (जीवेन संयुक्तो भवति), आठवें मास में यह पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाता है। शोणित से शुक्र का आधिक्य होनेपरपुरुष संतान उत्पन्न होती है, शुक्र से शोणित का आधिक्य होने पर स्त्री-सन्तान उत्पन्न होती है, जब दोनों समान होते हैं तो स्त्री-पुरुष दोनों के लक्षणों से युक्त संतान उत्पन्न होती है। जब किसी प्रकार से शुक्र में वायु का प्रवेश हो जाता है और दो भागों में विभक्त हो जाता है, तो यमल उत्पन्न होते हैं। यदि माता-पिता का मन व्याकुल (व्याकुलितमानसः) हो तो सन्तान या तो अंधी या पंगु या कुब्ज होगी। नवें मास में जब गर्भ अपने सर्वांगों में सुविकसित हो जाता है, तो यह अपने पूर्व जन्म को स्मरण करता है और अपने पुण्य और पाप कर्मों का ज्ञान प्राप्त करता है और अपने पूर्व जन्म के कर्मों के कारण यह पश्चाताप करता है कि यदि वह एक बार बाहर आ जाय तो वह सांख्य-योग के अनुशासन का पालन करेगा। परन्तु ज्योंही बच्चा उत्पन्न होता है त्योंही वह वैष्णव वायु के सम्पर्क में आता है और सारे पूर्व जन्मों और निश्चयों को भूल जाता है। देह को शरीर इसलिए कहा गया है कि कोष्ठाग्नि, दर्शनाग्नि और ज्ञानाग्नि ये तीन अग्नियां उसमें निवास करती हैं (श्रयन्ते)। कोष्ठाग्नि सब प्रकार के अन्न-पान को पचाती है, दर्शनाग्नि

इतने अस्पष्ट और अविकसित होते हैं कि उन्हें विद्यमान होते हुए भी अविद्यमान कहा जा सकता है। सुश्रुत का कथन है कि शरीर के दो मुख्य विधायक शुक्र और शोणित, क्रमशः चन्द्रमा के आवस्तत्व (सौम्य) और तेजस्तत्व (आग्नेय) से बने हैं; अन्य भूतों के भी अणु विशेष उनसे संयुक्त होते हैं, और यह सब शरीर के निर्माण के लिए आपस में एक दूसरे की सहायता एवं सहयोग करते हैं।[1] सुश्रुत आगे और कहते हैं कि पुरुष और स्त्री के संयोग के समय उत्पन्न गरमी (तेजः) वायु को कुपित करती है और वायु और तेजः के सम्पर्क से शुक्र स्खलित होता है।[2] परन्तु चरक का मत है कि शुक्र के स्खलन का कारण हर्ष है।[3] शुक्र शरीर से उत्पन्न नहीं होता परन्तु सारे शरीर के सब भागों में रहता है। यह केवल हर्ष ही है जो स्खलन का और शुक्र के गर्भाशय में प्रवेश का कारण है।[4] इस प्रकार उनका कथन है कि आत्मा के द्वारा हर्ष रूप में च्युत होकर (हर्षभूतेनात्मनोदीरितश्चाधिष्ठितश्च) शुक्र का विधायक या बीज, मनुष्य शरीर से बाहर आकर इसके गर्भाशय में उचित पथ द्वारा प्रवेश पाने के पश्चात्, गर्भाशय में आर्तव के साथ संयुक्त हो जाता है। सुश्रुत के अनुसार च्युत शुक्र स्त्री योनि में प्रविष्ट होता है (योनिमभिप्रपद्यते) और वहां आर्तव के संसर्ग में आता है।[5] उसी क्षण आत्मा अपने सूक्ष्म शरीर के साथ उससे संश्लिष्ट हो जाता है और

द्वारा रूप और वर्ण का प्रत्यक्षीकरण होता है, ज्ञानाग्नि द्वारा मनुष्य अच्छे और बुरे कर्म करता है। यह उपनिषद् खोपड़ी की अस्थियों की संख्या चार बताती है, मर्मों की संख्या १०७, सन्धियों की १८०, स्नायु १०६, शिराएं ७००, मज्जा स्थान ५०० और अस्थियाँ ३०० बताती है।

[1] सुश्रुत संहिता ३. ३. ३।

[2] वही ३. ३. ४ निर्णयसागरीय १६१५ का संस्करण। इस पर टीका करते हुए, डल्हण का कथन है: 'सुखलक्षणव्यायामजोष्मविलीनं विद्रुतमनिलाच्च्युतम्'।

[3] चरक संहिता ४. ४. ७।

[4] चरक संहिता ४. ४. ७ पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है 'नांगेभ्यः शुक्र-मुत्पद्यते, किन्तु शुक्रं रूपतयैव व्यज्यते' अर्थात् शुक्र शरीर के विभिन्न भागों से उत्पन्न नहीं होता, परन्तु इसकी सत्ता जैसा यह है वैसा ही है और यह दृश्य रूप में एक क्रिया विशेष के बाद ही केवल प्रकट होता है (सुश्रुत ३. ३. ४)।

[5] डल्हण द्वारा की गई इसकी व्याख्या के अनुसार, स्त्री-योनि का अर्थ यहाँ 'गर्भाशय' है: इस प्रकार डल्हण कहते हैं 'योनेस्तृतीयावत्तिवस्थितगर्भशय्यां प्रतिपद्यते' अर्थात् शुक्र योनि के तृतीय आवर्त गर्भाशय में प्रवेश करता है। सम्भवतः यहाँ गर्भाशय को तृतीय आवर्त माना गया है, प्रथम दो शायद योनि द्वार और योनि मार्ग है।

इस प्रकार सत्व रजस् और तमस् के भौतिक गुणों से और दैव, आसुर और अन्य गुणों से संश्लिष्ट हो जाता है। आत्मा के भौतिक तत्वों के साथ सम्पर्क के प्रश्न का उल्लेख करते हुए चरक कहते हैं कि ऐसा मनरूप करण (सत्वकरण) से युक्त होकर आत्मा के प्रवृत्त होने के कारण होता है।[1] उपर्युक्त अंश पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि आत्मा निष्क्रिय है, तथापि आत्मा का क्रियाशील होना उससे संयुक्त प्रयोजक मन के कारण बताया जाता है। आत्मा को पूर्णरूपेण निष्क्रिय मानने वाले परम्परागत सांख्य दर्शन के मत के साथ चक्रपाणि का मत मेल खाता-सा प्रतीत होता है परन्तु चरक संहिता में आत्मा की निष्क्रियता के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है क्योंकि चरक आत्मा को प्रवृत्तिशील, कर्त्ता, और विश्वकर्मा मानते हैं और सत्व का यहाँ केवल आत्मा के अवयव (सत्वकरण) के रूप में वर्णन किया गया है।

प्रथम मास में, गर्भ आकार लसदार (कलल) होता है।[2] दूसरे मास में शीत, ऊष्मा और वायु के कार्य द्वारा रासायनिक परिवर्त्तन प्राप्त करके (अभिप्रपच्यमान) गर्भ घनत्व को प्राप्त करता है। यदि यह पुरुष संतान का गर्भ होता है, तो वह पिण्डाकार होता है; यदि यह स्त्री-संतान का गर्भ होता है तो वह पेशी के आकार का होता है, यदि यह स्त्री-पुरुष लक्षण-युक्त सन्तान का गर्भ होता है तो यह आधे गोल पिण्ड (अर्बुद) के आकार का होता है।[3] तीसरे मास में पाँच पिण्डक और अंग विभाग भी सूक्ष्म रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। चतुर्थ मास में अंग-प्रत्यंग विभाग निश्चिततर और सुस्पष्ट होता है, और गर्भ-हृदय की प्रव्यक्ति के कारण चेतना धातु भी अभिव्यक्त हो जाती है, क्योंकि हृदय चेतना का विशेष स्थान है, अतः चतुर्थ मास से इन्द्रिय-विषयों के लिए इच्छा प्रकट करता है। पंचम मास में मन प्रतिबुद्धतर हो जाता है,

---

[1] सत्वकरणगुणग्रहणाय प्रवर्तते—चरक संहिता ४. ४. ८। चक्रपाणि ने ठीक ही प्रदर्शित किया है कि यहाँ 'गुण' भूतों के द्योतक हैं जिनमें गुण होते हैं—गुणवन्ति भूतानि। इन सब स्थलों में 'गुण' 'भूत' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि 'गुण' का अर्थ विशेषता होता है और 'गुणी' का अर्थ द्रव्य फिर भी यहाँ ग्रहण किया गया दृष्टिकोण 'गुण' और 'गुणी' के अन्तर पर ध्यान नहीं देता, और विशेषता का द्योतक सामान्य शब्द 'गुण' 'गुणी' के लिए प्रयुक्त है (गुणगुणिनोरभेदोपचारात्-चक्रपाणि, वही)।

[2] डल्हण ने 'कलल' की व्याख्या 'सिङ्घानप्रख्यम्' की है।

[3] 'पेशी' और 'अर्बुद' शब्दों के अर्थ के बारे में डल्हण और गयी में मतभेद है। अतः गयी कहते हैं कि 'पेशी' का अर्थ चतुष्कोणीय (चतुरस्र) है और 'अर्बुद' का अर्थ सेमल पेड़ की कली का आकार (शाल्मली मुकुलाकारम्) है।

छठे में बुद्धि का विकास होने लगता है, सातवें में अंग-प्रत्यंगों का विभाग पूर्ण हो जाता है, अष्टम मास में ओज (ओजस्) अस्थिर रहता है और इस हेतु, यदि कोई सन्तान इस समय उत्पन्न होती है तो अल्पायु होती है।[1]

विभिन्न भूतों द्वारा शरीर निर्माण में दिए गए योगदान का वर्णन करते हुए चरक का कथन है कि आकाश तत्व से शब्द, श्रवण, लाघव, सौक्ष्म्य और रंध्रयमता (विरेक) निर्मित होते हैं, वायु से स्पर्श, स्पर्शनेन्द्रिय, रूक्षता, प्रेरणा शक्ति, धातुओं की रचना (धातु व्यूहनम्) और शारीरिक चेष्टा का निर्माण होता है; अग्नि से रूप चक्षु, पाचन, ऊष्णता इत्यादि; जल से रस, रसना, शीतता, मार्दव, चिकनापन और गीलापन; पृथ्वी से गंध, घ्राणेन्द्रिय, भारीपन, स्थिरता और कठोरता। इस प्रकार विभिन्न भूतों से निर्मित शरीर के भाग उन तत्वों की प्राप्ति से उत्पन्न और विकसित होते हैं, जिनसे वे तत्व उत्पन्न हुए हैं।[2] जिस प्रकार सारा संसार पाँच भूतों से बना है उसी प्रकार मानव शरीर भी पाँच भूतों से बना हुआ है।[3] चरक का मत है कि जन्म से पूर्व उत्पन्न इन्द्रियाँ और शरीर के अन्य सब अंग तीसरे मास में युगपत् रूप से प्रकट होते हैं।[4] जब तीसरे मास में ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, तब हृदय में भावों और इच्छाओं का प्रादुर्भाव होता है। चतुर्थ मास में गर्भ दृढ़ हो जाता है, पंचम में उसे अधिक मांस और रुधिर मिलता है, छठे में बल और वर्ण का अधिकतर विकास होता है, सप्तम मास में यह अपने सारे अंगों सहित सम्पूर्ण हो जाता है, अष्टम मास में माता और गर्भ के बीच ओज का निरन्तर आदान-प्रदान होता है। गर्भ के अभी तक पूर्ण विकसित न होने के कारण, ओज माता से गर्भ में जाता है, परन्तु क्योंकि गर्भ इसे रोक सकने में समर्थ नहीं होता है, इसलिए यह माता को लौट जाता

---

[1] सुश्रुत संहिता ३. ३. ३०।

[2] चरक संहिता ४. ४. १२।

[3] एवमयं लोकसम्मितः पुरुषः—यावन्तो हि लोके भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके (चरक संहिता ४. ४. १३)। वही ४. ३. में यह कहा गया है कि गर्भ अपने त्वचा, रक्त, मांस, भेद, नाभि, हृदय, क्लोम, प्लीहा, यकृत, वृक्क, वस्ति, मलाशय, आमाशय, पक्वाराम और उत्तरगुदा और अधोगुदा माता से प्राप्त करता है और अपने केश, दाढ़ी, नख, दांत, अस्थियाँ, नाड़ियाँ और शुक्र पिता से, परन्तु जैसा भी यह हो, यह निश्चित है कि इन सब अवयवों का विकास वास्तव में पंचमहाभूतों के एकीकरण के कारण होता है। इसलिए मानव गर्भ की वृद्धि संसार में अन्य वस्तुओं की वृद्धि के समान ही महाभूतों की वृद्धि के कारण होती है।

[4] वही ४. ४. १४।

है।[1] इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कहना है कि ऐसा आदान-प्रदान केवल इसलिए सम्भव है कि गर्भ इस समय तक अविकसित होता है, और माता के साहचर्य के कारण गर्भ माता के ओज का कार्य भी सम्पादित करता है, क्योंकि यदि माता में से ओज पूर्ण रूप से निकल जाय तो वह जीवित नहीं रह सकती।

गर्भ के विभिन्न अंगों के प्रकट होने के क्रम के विषय में बहुत मत-वैभिन्य है। चरक और सुश्रुत ने विवादरत आचार्यों की दो भिन्न-भिन्न शाखाओं का वर्णन किया है। इस प्रकार कुमारशिरा और शौनक के अनुसार शिर प्रथम प्रकट होता है क्योंकि यह इन्द्रियों का स्थान है; वाल्ह्वीक वैद्य कांकायन और कृतवीर्य के अनुसार हृदय का आविर्भाव पहले होता है क्योंकि कृतवीर्य के अनुसार (जैसा सुश्रुत में वर्णित है) हृदय चेतना, बुद्धि और मन का अधिष्ठान है। भद्रकाप्य के अनुसार (जैसा चरक ने वर्णन किया है) नाभि प्रथम उत्पन्न होती है क्योंकि इसी स्थान पर भोजन संचित होता है और पाराशर के अनुसार (जैसा सुश्रुत में उल्लेख है) क्योंकि सम्पूर्ण शरीर यहाँ से उत्पन्न होता है। भद्रशौनक के अनुसार (जैसा चरक ने उल्लेख किया है) क्षुद्रान्त्र और पक्वाशय सर्वप्रथम आविर्भूत होते हैं क्योंकि यह वायु का अधिष्ठान (मरुताविष्ठानत्वात्) है; वडिश के अनुसार (जैसा चरक द्वारा उल्लेख किया गया है) हाथ और पैर पहले निकलते हैं क्योंकि यही मुख्य अवयव हैं और मार्कण्डेय के अनुसार (जैसा सुश्रुत ने वर्णन किया है) क्योंकि वे सब चेष्टाओं के मुख्य मूल हैं (तन्मूलत्वाच्चेष्टायाः); विदेह जनक के अनुसार (जैसाकि चरक द्वारा उल्लेख है) इन्द्रियां प्रथम प्रकट होती हैं क्योंकि वे बुद्धि का अधिष्ठान (बुद्ध्यधिष्ठान) हैं, मारीचि के अनुसार (जैसा चरक का उल्लेख है) यह कहना सम्भव नहीं कि शरीर का कौन-सा भाग पहले विकसित होता है क्योंकि यह किसी के द्वारा देखा नहीं जा सकता (परोक्षत्वादचिन्त्यम्); सुभूति गौतम के अनुसार (जैसा सुश्रुत ने वर्णन किया है) शरीर का मध्य भाग (मध्य शरीर) पहले प्रकट होता है, क्योंकि शरीर के अन्य भागों का विकास इस पर आश्रित है (तन्निबद्धत्वात्सर्वगात्रसम्भवस्य); धन्वन्तरि के अनुसार (जैसा चरक और सुश्रुत दोनों का वर्णन है) शरीर के सारे भाग एकसाथ विकसित होने लगते हैं (युगपत्सर्वांगाभिनिर्वृत्तिः) यद्यपि उनकी सूक्ष्मता और अस्पष्टता के कारण ऐसा विकास बढ़ते हुए बाँस के अंकुर अथवा आम के फल के समान सम्यक् प्रकार से देखा नहीं जा सकता (गर्भस्य सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते वंशांकुरवच्चूतफलवच्च)।[2]

---

[1] मातुरोजो गर्भं गच्छतीति यदुच्यते तद् गर्भोज एव मातृसम्बद्धं सन् मात्रोज इति व्युपदिश्यते, चक्रपाणि ४. ४. २४।
गर्भ के विभिन्न अंगों के प्रकट होने के क्रम के विषय में बहुत मत वैभिन्य है।

[2] सुश्रुत संहिता ३. ३. ३२ और चरक संहिता ४. ६. २१।

जिस प्रकार कच्चे आम की प्रारम्भिक अवस्थाओं में गूदा और गुठली अविभक्त होते हैं और वे जब आम पक जाता है तो स्पष्ट रूप से विकसित और विभक्त हो जाते हैं, ठीक वैसे ही, मानव गर्भ जब विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही होता है, तो इसके सारे अविभक्त भाग वहाँ एकसाथ बढ़ते रहते हैं, यद्यपि अपनी संरचना और वृद्धि की सूक्ष्मता के कारण उनको उस समय पहचाना नहीं जा सकता।

गर्भवृद्धि की प्रारम्भिक प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए सुश्रुत का कथन है कि जब शुक्र और शोणित ऊष्मा के द्वारा रासायनिक परिवर्तन को प्राप्त होते हैं, तो दूध पर बनी मलाई की परतों के समान (सन्तानिका) त्वचा की सात भिन्न-भिन्न परतें (कला) क्रमशः उत्पन्न होती हैं। प्रथम परत जो धान्य के अठारहवें भाग के बराबर मोटी होती है 'अवभासिणी' कहलाती है, धान्य के षोडशांश के बराबर मोटी दूसरी कला 'लोहिता' धान्य के द्वादशांश के तुल्य मोटी तीसरी 'श्वेता', अष्टमांशतुल्य चौथी 'ताम्रा' पंचम, पंचमांश-तुल्य, 'वेदिनी', धान्य के आकार-तुल्य छठी 'रोहिणी' और सातवीं दो धान्यों के आकार के तुल्य, 'मांसधरा' कहलाती है। त्वचा की ये सातों कलाएँ लगभग छः धान्यों के बराबर या अनुमानतः एक इन्च होती है। यह कथन शरीर के उन्हीं स्थानों पर लागू होता है जहाँ मांस होता है। त्वचा की इन सात कलाओं के अतिरिक्त विभिन्न धातुओं के बीच में भी सात कलाएं होती हैं। 'धातु' (धातु 'धा' 'धारण करना' से व्युत्पन्न) वह है जो शरीर को धारण करता है, यथा, रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र और अन्त में ओज। कफ, पित्त और पुरीष को भी धातु मानना होगा। परन्तु ये कलाएँ दृश्य नहीं हैं, उनके अस्तित्व का इस तथ्य से अनुमान लगाया जाता है कि विभिन्न धातुओं के अपने पृथक् स्थान अवश्य निर्धारित होंगे और कलाओं को एक धातु की परत को दूसरी से विभक्त करने वाला माना गया है और वे कफ और स्नायुओं से आवृत है।[1] 'मांसधरा' संज्ञक प्रथम कला में मांस की नाड़ियाँ, स्नायु इत्यादि पाई जाती हैं, द्वितीय, रक्तधरा, में मांस के अन्तर्भाग में रक्त पाया जाता है, मेदोधरा नामक तीसरी में मेद होता है जो उदर और अण्वस्थियों के बीच में भी पाया जाता है।[2] चतुर्थ कला श्लेष्मधरा है जो संधियों में विद्यमान है, पंचम 'पुरीषधरा' है जो पक्वाशय में विद्यमान है और मल पृथक् करती है, छठी और सातवीं 'पित्तधरा' और 'शुक्रधरा' हैं।

---

[1] वृद्ध वाग्भट द्वारा 'कला' की परिभाषा इस प्रकार की गई है: 'यस्तु धात्वाशयान्तरेषु क्लेदोऽवतिष्ठते यथास्वमुष्मभिर्विपक्वः स्नायुश्लेष्मजरायुच्छन्नः काष्ठ इव सारो धातुसारशेषोऽल्पत्वात् कलासंज्ञः (अष्टांगसंग्रह, शारीर ५)।

[2] क्षुद्र अस्थियों के अन्दर की चर्बी 'मेद' कहलाती है, जब स्थूल अस्थियों के अन्दर की चर्बी 'मज्जा' कहलाती है और शुद्ध मांस की चर्बी 'वसा' कहलाती है।

सुश्रुत का विचार है कि यकृत और प्लीहा शोणित से उत्पन्न होते हैं फुप्फुस (फेफड़े) रक्तफेन से और 'उण्डुक' (मलाशय में एक ग्रन्थि) रक्त के मल (शोणित-किट्टप्रभव) से उत्पन्न होता है। रक्त के श्रेष्ठ भाग (प्रसाद) और कफ पर पित्त की क्रिया होती है और वायु उसका अनुधावन करता है; इस प्रक्रिया से आँतें, गुदा और वस्ति उत्पन्न होते हैं; और जब उदर में पाचन प्रक्रिया होती है तो कफ, रक्त और मांस के सार के रूप में जिह्वा की उत्पत्ति होती है। वायु ऊष्मा से युक्त होकर मांस में प्रविष्ट होता है और स्रोतों को बदल देता है, पेशियाँ विभक्त हो जाती हैं, और भेद के स्नेह भाग से वायु शिराओं और स्नायुओं को उत्पन्न करता है। रक्त और भेद के प्रसाद से गुर्दे (वृक्क) उत्पन्न होते हैं; मांस, रक्त, कफ और भेद के सारभूत अंश से अण्डकोष और रक्त एवं कफ के सार से हृदय बनता है जो प्राणवहा धमनियों का आश्रय है। हृदय के नीचे की ओर बाएँ तरफ प्लीहा और फुप्फुस हैं और दाएँ ओर यकृत् और क्लोम (दक्षिणी फेफड़ा) और यह विशेष रूप से चेतना का स्थान है। निद्रा के समय जब हृदय तमोभूयिष्ठ श्लेष्मा से छन्न हो जाता है, तो वह संकुचित हो जाता है।

गर्भ माता के रस के कारण और गर्भ-शरीर के वायुज फुलाव के कारण भी बढ़ता है।[1] शरीर की नाभि ज्योतिः स्थान है और वायु यहाँ से प्रारम्भ होकर शरीर को फुलाता रहता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि गर्भ संयुक्त रूप में कार्य करने वाले अनेकों कारणों का फल है। जन्म के समय किसी अंग विशेष में विकार उन कार्यकारी कारणों में से एक या अधिक के उस अंग के विकार के कारण होता है जिनके प्रभाव के कारण वह अंग विशेष उत्पन्न हुआ था। जो अवयव या अंग पूर्णतः अस्तित्वहीन थे उनके गर्भवृद्धि का कारण होने का प्रश्न नहीं है; वे अवयव या अंग संभाव्य रूप में संयुक्त रूप से कार्य करने वाले कारणों में पहले से ही विद्यमान थे। संयुक्त कारणों ने कोई पूर्णतः नई वस्तु उत्पन्न नहीं की, परन्तु उनके संयुक्त कार्य में उस सब को वास्तविक रूप प्रदान करने में सहायता की जो उनमें पहले ही से अन्तर्निहित था। सारे संयुक्त कारणों में से आत्मा शरीर के सारे विकारों में निर्विकार रहता है। सुःख-दुःख के अथवा आत्मा के कारण माने जाने वाले अन्य गुणों के विकार वास्तव में या तो सत्व अथवा मन के कारण है या शरीर के कारण।[2] इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि किसी आत्मा के इस या उस जन्तु के रूप में जन्म ग्रहण करने का यह अर्थ नहीं है कि आत्मा विकारी है (परमात्मविकारा न भवन्तिः)

---

[1] सुश्रुत संहिता ३. ४. ५७।

[2] निर्विकारः परस्त्वात्मा सर्वभूतानां निर्विशेषसत्वशरीरयोस्तु विशेषाद् विशेषोपलब्धिः

—चरक संहिता ४. ४. ३४।

क्योंकि ऐसा विकार सत्व, रजस् अथवा तमस् की अत्यधिक प्रवलता के कारण होता है; वास्तव में सत्व, रजस्, और तमस् धर्म और अधर्म के कारण होते हैं और धर्म और अधर्म केवल मन के गुण हैं (सत्वरजस्तम: प्रवलतारूपविकारजमनोजन्यधर्मा-धर्मजन्यान्येव)।[1]

शरीर के वात, पित्त और श्लेष्मा तीन दोष होते हैं और रजस् और तमस् मन (सत्व) को प्रभावित करने वाले दो दोष हैं। पहले तीन दोषों के वैषम्य से शरीर रुग्ण होता है, और दूसरे दो के विषम होने से मन प्रभावित होता है। इनका अधिक विस्तार से विवेचन बाद में किया जाएगा।

वृद्धि और व्याधियाँ

वायु, पित्त और कफ, इन तीन तत्वों को धातु और दोष दोनों ही माना गया है। 'धातु' वे तत्व हैं जो शरीर को धारण करते हैं। शरीर पाँच भूतों के विकारों का समुदाय है और यह उस समय तक उचित ढंग से काम करता रहता है जबतक कि ये पाँच भूत शरीर में उचित अनुपात (समयोग-वाहिन्) में हों।[2] शरीर को धारण करने में परस्पर सहयोग करने वाले पाँच भूतों के ये विकार धातु कहलाते हैं। जब एक या अधिक धातु उचित मात्रा से न्यून अथवा अधिक (धातु-वैषम्य) हो जाते हैं, तो एक अथवा अधिक धातुओं की आंशिक रूप से अथवा पूर्ण रूप से (अकात्स्न्येन प्रकृत्या वा) अधिकता अथवा न्यूनता हो सकती है। जैसा चक्रपाणि ने व्याख्या की है, यह द्रष्टव्य है कि धातुओं की प्रत्येक प्रकार की अधिकता अथवा न्यूनता धातु-वैषम्य अथवा धातु-संतुलन में गड़बड़ उत्पन्न नहीं करती; धातु वैषम्य केवल तब ही कहलाता है, जब ऐसी न्यूनता अथवा अधिकता शारीरिक क्लेश उत्पन्न करती है। न्यूनता अथवा अधिकता की जो मात्रा शारीरिक क्लेश उत्पन्न नहीं करती है, उसे धातु का प्राकृत-मान कहते हैं।[3] अवश्य, यह स्पष्ट है कि 'प्राकृतमान' और 'धातु-वैषम्य' की इस परिभाषा में चक्रक् दोष निहित है, क्योंकि धातुओं का प्राकृतमान उसे कहा गया है जो शारीरिक क्लेश न होने की अवस्था में विद्यमान हो और धातुवैषम्य वह है जो उस समय विद्यमान होता है जब शारीरिक क्लेश होता है, अतः शरीर के क्लेश का लक्षण 'धातुवैषम्य' के अर्थ में होना चाहिए। इस आरोप से मुक्ति का एकमात्र

---

[1] चक्रपाणि की चरक ४. ४ पर टीका।

[2] चरक संहिता ४. ६. ४। चक्रपाणि 'समयोगवाहिन्' शब्द पर टीका करते हुए 'सम' की व्याख्या 'उचितप्रमाण' अर्थ में करते हैं।

[3] एतदेव धातूनां प्राकृतमानं यदविकारकारि, चरक संहिता ४. ६. ४ पर चक्रपाणि की टीका।

उपाय यह है कि 'धातुवैषम्य' और रोग पर्यायवाची है, और धातुओं का प्राकृत आरोग्य का समानार्थक है। जब धातु प्राकृतमान में होते हैं तो स्थानीय प्रकार छोड़कर कोई भी वैषम्य नहीं हो सकता; उदाहरण के रूप में, जबकि अपने सममा अवस्थित पित्त किसी प्रकार से वायु द्वारा शरीर के एक भाग में लाया जाता है परिणामतः स्थानीय अधिकता हो जाती है। जिस किसी चीज से किसी धातु-वि की प्रबलता होती है, उसी से स्वतः उस धातु की विपरीत धातु का क्षय भी होता है किसी शारीरिक धातु विशेष के सदृश गुण-स्वभाव वाले पदार्थ उस धातु की वृ करते हैं और असदृश गुण-स्वभाव वाले पदार्थ उस धातु का क्षय करते हैं (सामान्य मेकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्)।[1] मनुष्य का सामान्य आरोग्य धातुसाम्य क केवल दूसरा नाम है। कोई व्यक्ति अस्वस्थ अथवा धातु-वैषम्य की अवस्था में तब कहा जाता है जब रोगों (विकारों) के लक्षण दृष्टिगत होते हैं। धातु की उचित मात्रा के अल्प परिवर्तन को हम धातुवैषम्य का उदाहरण तबतक नहीं कह सकते जब-तक कि उसके विकार अर्थात् लक्षण बाह्य रूप में व्यक्त न हों। स्वस्थ मनुष्य का दैनिक क्रम ऐसा हो कि धातुसाम्य उचित प्रकार से स्थिर रहे। आयुर्वेद का एकमात्र उद्देश्य ऐसे आहार, औषधि और व्यवहार-क्रम का उपदेश करना है कि यदि उनका उचित पालन किया जाय तो जो मनुष्य सामान्यतः स्वस्थ है वह धातुसाम्य स्थिर रख सके और जो मनुष्य धातुसाम्य खो चुका है वह उसे पुनः प्राप्त कर सके। इस प्रकार आयुर्वेद का उद्देश्य इस बात का उपदेश करना है कि 'धातुसाम्य' कैसे प्राप्त किया जाय (धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्)।[2]

यदि कोई सामान्य रूप से स्वस्थ पुरुष अपने आरोग्य को सामान्य स्तर पर स्थिर रखना चाहता है तो उसे विभिन्न रस के पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए ताकि उसके शरीर में किसी धातुविशेष की अधिकता न होवे। इन्द्रिय-विषय, शीत-ऊष्ण के देशकालीय गुण और बुद्धि, इनके अतियोग, अयोग अथवा मिथ्यायोग के कारण व्याधियाँ उत्पन्न होती है।[3] इस प्रकार तीक्ष्णप्रकाशयुक्त वस्तुओं का दर्शन, तड़ित् गर्जन जैसे जोरदार शब्दों का श्रवण, अधिक शक्तिशाली गंधों का सूंघना, अत्यधिक आहार करना, अत्यधिकशीत अथवा ऊष्ण का स्पर्श अथवा अत्यधिक स्नान या मालिश करना अतियोग अर्थात् विषयों के साथ अत्यधिक सम्बन्ध के उदाहरण हैं। दर्शन, श्रवण, घ्राण, आस्वादन अथवा स्पर्श का बिलकुल न करना 'अयोग' अर्थात् इन्द्रिय-

---

[1] चरक संहिता १. १. ४४।

[2] वही १. १. ५२।

[3] कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च॥
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः॥ वही १. १. ५३।

विषयों से अल्प सम्बन्ध रखना होगा। आंख के अत्यन्त निकट-वा अतिदूर पदार्थ का देखना, अथवा भयंकर, अद्‌भुत, अप्रिय और वीभत्स दृश्यों का देखना 'चक्षुः' इन्द्रिय के अनुचित प्रयोग (मिथ्यायोग) के उदाहरण हैं। घरघराहट और अप्रिय ध्वनियों का सुनना 'श्रवण' के मिथ्यायोग के उदाहरण हैं, बुरी और अरुचिकर गंधों को सूंघना नासिका के मिथ्यायोग के उदाहरण होंगे। विभिन्न प्रकार के ऐसे पदार्थों का साथ-साथ खाना जो अपने संश्लिष्ट रूप में ऐसे परस्पर विरोधी है कि वे अस्वास्थ्यकर हों, जिह्वा के मिथ्यायोग के उदाहरण है; एकाएक सर्दी अथवा गर्मी के सामने आना त्वचा के मिथ्यायोग के उदाहरण हैं।[1] इसी प्रकार से वाक्, मन और शरीर के सब व्यापार जब अतिरूप में किए जाएँ, या बिल्कुल न किए जाएँ अथवा अवांछनीय या अहितकर ढंग से किए जाएं तो उनको वाक्, मन और शरीर की प्रवृत्तियों के (वाङ्मनः शरीरप्रवृत्ति) क्रमशः अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग के उदाहरण मानने चाहिए।[2] परन्तु ये सब बुद्धि के गलत प्रयोग (प्रज्ञापराध) के कारण होते हैं। जब कोई ऋतु विशेष अपने शीत, उष्ण और वर्षा के लक्षणों को अतिमात्रा में, अत्यल्प मात्रा में अथवा अत्यन्त अनियमित अथवा अस्वाभाविक मात्रा में प्रकट करे जो हमें काल के अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग उपलब्ध होते हैं।[3] परन्तु बुद्धि का दुष्प्रयोग अथवा प्रज्ञापराध ही इन्द्रिय विषयों के सारे अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग के मूल में हैं,[4] क्योंकि जब उचित पदार्थ उचित काल में नहीं ग्रहण किए जाएँ या उचित बातें उचित समय में नहीं की जाती हैं तो यह सब बुद्धि का दुष्प्रयोग ही है और इसलिए इसे प्रज्ञापराध में सम्मिलित किया गया है। जब कोई अधर्माचरण प्रज्ञापराध से किया जाता है और केवल एक निश्चित समय के व्यवधान के पश्चात् प्रभावशाली होने वाले उन कर्मों से संसृष्ट अधर्म के द्वारा रोग उत्पन्न होता है तो रोग का वास्तविक कारण 'अधर्म' अथवा उसका मूल कारण 'प्रज्ञापराध' ही है, फिर भी 'काल' को भी कुछ अर्थों में कारण माना जा सकता है, जिसके कारण अधर्म परिपक्व होता है और फलकारी हो जाता है।

वृद्धि और क्षय का सिद्धान्त इस निर्देश में अन्तर्निहित है कि शरीर के विभिन्न धातुओं की वृद्धि तब होती है जब समान धातु-गुणों वाले भोज्य पदार्थों का सेवन किया जाता है और जब उनसे असदृश गुणों वाले भोज्य पदार्थों का सेवन किया जाता है तो उनका ह्रास होता है (एवमेव सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद् वृद्धि-विपर्ययाद्ह्रासः)।[1] इस प्रकार, मांस खाने से मांस-वृद्धि होती है, इसी प्रकार रक्त से रक्त बढ़ता है, मेद से मेद, नवास्थियों से अस्थियाँ, मज्जा से मज्जा, शुक्र से शुक्र और अण्डों से गर्भ।[2] परन्तु यह सिद्धान्त न केवल उपर्युक्त उदाहरणों के सदृश पदार्थों पर ही लागू होता है अपितु अधिकांश में सदृश गुण वाले पदार्थों पर भी वैसे ही लागू होता है जैसेकि शुक्र की वृद्धि दूध और मक्खन के प्रयोग से होती है (समान-गुणभूयिष्ठानामन्यप्रकृतीनामप्याहारविकाराणामुपयोगः)।[3] वृद्धि का उचित काल, प्रकृति, योग्य आहार और वृद्धि-अवरोधक परिस्थितियों का अभाव, वृद्धि की ये सामान्य अवस्थाएँ सदा ही लागू होती हैं। भोजन का पाचन जठराग्नि द्वारा, जठराग्नि के कार्य के लिए सब वस्तुओं को एकत्रित करने वाले वायु द्वारा, शिथिलताकारक जल द्वारा, मृदुताकारी भेद द्वारा और पाचन-प्रक्रिया में सहायक काल द्वारा किया जाता है।[4] ज्यों ही कोई अन्न पक्व और विकृत हो जाता है, तभी वह शरीर में विलीन हो जाता है। अन्न के घन भाग से शरीर के कठोर भागों का निर्माण होता है और तरल भाग तरल भागों का निर्माण करते हैं जैसे रक्त इत्यादि, और अहितकर आहार अर्थात् शरीर के प्रकृति-विरुद्ध गुणों वाले भोजन का शरीर पर विघटनकारी प्रभाव होता है।

जहाँ तक अन्न-रस के सार से शरीर की वृद्धि का प्रश्न है, चक्रपाणि (१.२८.६) द्वारा विभिन्न मतों का सार रूप में वर्णन किया है। कुछ का कथन है कि रस रक्त का रूप ग्रहण करता है, और रक्त मांस का, इत्यादि। जहाँ तक इस रूप परिवर्तन की विधि का प्रश्न है, कुछ का कथन है कि जैसे सारा दूध दही में रूपान्तरित हो जाता है वैसे ही सारा रस रक्त में रूपान्तरित हो जाता है, जबकि कुछ का कथन है कि यह रूपान्तर कुछ-कुछ सिंचाई के संचार (केदरी कुल्यान्याय) के समान होता है। पाचन-क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न रस धातुरूप रस के संसर्ग में आकर, धातुरूप रस की कुछ मात्रा तक वृद्धि करता है; रस का अन्य भाग जिसके रंग और गंध रक्त के समान ही होते हैं, रक्त से मिल जाता है और उसकी वृद्धि करता है; और वही प्रक्रिया भेद इत्यादि की वृद्धि के विषय में होती है। यहाँ सम्पूर्ण संचार-क्रम सारे रस के

---

[1] चरक संहिता १. १. ४३ और ४४ और ४. ६. ९ भी, और विशेषतः ४. ६. १०।

[2] वही ४. ६. १०। चक्रपाणि ने 'आमगर्भ' की व्याख्या 'अण्ड' की है।

[3] वही ४. ६. ११।

[4] वही, ४. ६. १४ और १५।

रस-धातु में प्रवेश करने से प्रारम्भ होता है; संचरण करते समय कुछ भाग रस में रह जाता है और उसकी वृद्धि करता है, अविलीन भाग रक्त में चला जाता है, और वहाँ जो भाग अविलीन रहता है वह मांस में चला जाता है, और इसी प्रकार वह अस्थि, मज्जा और शुक्र के उत्तरोत्तर धातुओं को जाता है।[1] परन्तु अन्यों का विचार है कि जिस प्रकार खलिहान में विभिन्न वर्णों के कपोत साथ-साथ बैठते है (खले कपोतन्याय), उसी प्रकार सारा पक्व अन्न-रस रसधातु के मार्गों से विचलित नहीं होता, अपितु प्रथमावस्था से ही इसके विभिन्न भाग विभिन्न मार्गों द्वारा विचरण करते हैं। इसका जो भाग रस को पुष्ट करता है वह उसके संचार मार्ग में चला जाता हैं, जो भाग रक्त को पुष्ट करता है वह सीधा रक्त में चला जाता है, इत्यादि। परन्तु प्राय: यह काल-सीमा भी है कि जो भाग रक्तपोषक है वह रक्त में तभी प्रविष्ट होता है जबकि जो भाग रसधातु का पोषक है वह उसमें विलीन हो गया हो, इसी प्रकार पुन: जो भाग मांस में प्रविष्ट होता है वह वैसा तभी कर सकता है जबकि रक्तपोषक भाग रक्त में विलीन हो गया हो। इस प्रकार प्रारम्भ से ही संचार-व्यवस्था भिन्न-भिन्न है, और फिर भी रक्त का पोषण रस के पोषण के कुछ देर बाद होता है, मांस का पोषण रक्त के पोषण के कुछ काल पश्चात् इत्यादि (रसाद् रक्तं ततो मांसमित्यादेरयमर्थ: यद् रसपुष्टिकालादुत्तरकालं रक्तं जायते इत्यादि)। अन्तिम मत के मानने वालों का कथन है कि दूसरा सिद्धान्त सम्यक् रूप से यह स्पष्ट नहीं कर सकता कि दुग्ध आदि पोषक आहार (वृष्य) 'शुक्र' की वृद्धि एकदम कैसे कर सकते हैं और यदि उसे सारे संचार से होकर विचरण की लम्बी प्रक्रिया करनी पड़े तो यह अपना काम इतनी जल्दी पूरा नहीं कर सकता, परन्तु दूसरे सिद्धान्त के आधार पर, दूध अपने विशेष प्रभाव के कारण एकदम शुक्र के संसर्ग में आ सकता है और उसकी वृद्धि कर सकता है।[2] परन्तु चक्रपाणि का कथन है कि इससे पूर्व का सिद्धान्त (केदारीकुल्या) भी

---

[1] 'धातुरस' और 'पोषक रस' संज्ञक दो रस हैं। देखिए चरक संहिता, ६, १५, १४ और १५ पर चक्रपाणि की टीका।

[2] परिणामपक्षे वृष्यप्रयोगस्य रक्तादिरूपापत्तिक्रमेणातिचिरेण शुक्रं भवतीति, क्षीरादयश्च सद्य एववृष्या दृश्यन्ते, खलकपोतपक्षे तु वृष्योत्पन्नो रस: प्रभावाच्छीघ्रमेव शुक्रेण संबद्ध: सन् तत्पुष्टिं करोतीति युक्तम् (चक्रपाणि की चरक संहिता १. २८. ३ पर टीका)। अन्यत्र (वही ६. १५. ३२) यह कहा गया है कि जो भोज्यपदार्थ शुक्र के वृष्य हैं, कुछ आचार्यों के मत में, वे छ: दिन और छ: रातों में शुक्र में परिणत हो जाते हैं जबकि सामान्य क्रम में, जैसाकि सुश्रुत ने कहा है, सामान्य भोज्य पदार्थों को शुक्र में रूपान्तरित होने के लिए एक महीना लग जाता है। परन्तु चरक किसी समय परिसीमन के पक्ष में नहीं है, और उनका कथन है कि जिस प्रकार चक्र की गति उस पर लगाई शक्ति पर निर्भर करती है, उसी प्रकार किसी आहार विशेष

उतना ही ठीक है जितना कि दूसरा। क्योंकि उस मत के अनुसार भी, यह माना जा सकता है कि दुग्ध के द्वारा उसी का विशेष प्रभाव विभिन्न अवस्थाओं में तेजी से विचरित हुआ और शुक्र के साथ मिल गया। न यह कहा जा सकता है कि प्रथम सिद्धान्त के अनुसार, रस के दूषित होने की प्रत्येक दशा (रस दुष्टि) रक्त के दूषित होने (रक्त दुष्टि) की अवस्था भी है, जैसाकि तर्क किया गया है, क्योंकि सम्पूर्ण रस की रक्त में परिणति नहीं होती है, अपितु इसके एक भाग की ही होती है। अतः रस-भाग दूषित हो सकता है, परन्तु तब भी जिस भाग से रक्त बनता है वह शुद्ध हो; इस प्रकार दोनों सिद्धान्त समान रूप से सशक्त हैं और किसी के पक्ष में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। चरक संहिता ६. १५. १४ और १५ में यह कहा गया है कि रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थियां, अस्थियों से मज्जा और मज्जा से शुक्र बनता है। जिन दो सिद्धान्तों का ऊपर उल्लेख किया गया वे है उन काल्पनिक विधियों का वर्णन करते है जिनमें ऐसा रूपान्तर होता है।

उपर्युक्त सात धातुओं अर्थात् शरीर धारकों के अतिरिक्त, दस उपधातुएँ होती हैं जिनकी गणना भोज ने इस प्रकार की है—शिरा, स्नायु, गर्भाशय का शोणित और त्वचा के साथ परत।[१] चरक ६. १५. १५ में कहते हैं कि रस से दुग्ध भी उत्पन्न होता है, दुग्ध से गर्भाशय का शोणित; पुनश्च, महास्नायु अथवा अस्थिबंधन (कण्डरा) और शिराएं रक्त से उत्पन्न होती हैं, और मांस से वसा और त्वचा की छः कलाएँ उत्पन्न होती हैं; और मेद से पांच कलाएँ उत्पन्न होती हैं। पित्त की ऊष्मा से रस लाल रंग का हो जाता है। पुनः वायु और अग्नि की रक्त पर क्रिया होने के कारण रक्त स्थिर और श्वेत हो जाता है, और मेद कहलाता है। अस्थियां पृथ्वी, अग्नि और वायु का समुदाय है और इसीलिए, यद्यपि वे मांस और मेद से उत्पन्न हैं, फिर भी वे कठोर हैं। वे उनमें से चलने वाली वायु के कारण रन्ध्रमय बन जाती हैं और रन्ध्र 'वसा' संज्ञक मेद से भर जाते हैं। मज्जा के स्नेहमय भागों से फिर शुक्र उत्पन्न होता है। जिस प्रकार नवीन मृद्भाण्ड के रंध्रों में से पानी टपकता है, उसी प्रकार शुक्र अस्थियों के रंध्रों से रिसता रहता है और शुक्र का अपने स्रोतों के मार्ग से शरीर में से भी प्रवाह होता है। इच्छाओं और कामज आनन्द उत्तेजित होने से और रति की ऊष्मा से शुक्र बाहर टपकता है और अण्डकोषों में जमा हो जाता है जिनसे वह अन्ततः उपर्युक्त मार्ग से मुक्त हो जाता है।[२]

का शुक्र अथवा अन्य किसी धातु में परिणत होना आहार की प्रकृति और पाचन शक्ति पर निर्भर करता है।

[१] चक्रपाणि की चरक संहिता, ६, १५, १४ और १५ पर टीका, भोज का एक उद्धरण ओज को एक उपधातु माना गया है।

[२] चरक संहिता, ६, १५, २२-२६।

वायु, पित्त और कफ

संक्षेप में शरीर धातु दो प्रकार का होता है; एक वह जो शरीर को गंदा बनाती है—मल, और दूसरा वह जो शरीर को धारण करता है और शुद्ध करता है—प्रसाद। इस प्रकार शरीर के छिद्रों में कई अवांछनीय शरीरजन्य वहिर्मुख पदार्थ एकत्र हो जाते हैं; रक्त जैसे कुछ धातु पीव बन जाते हैं; वायु, पित्त और कफ अपनी प्राकृत मात्रा से न्यून व अधिक (प्रकुपित) हो जाते हैं; और अन्य ऐसे पदार्थ हैं जो शरीर में विद्यमान होकर शरीर को क्षीण अथवा नष्ट करने वाले होते हैं; ये सब 'मल' कहलाते हैं अन्य जो शरीर के धारण करने और वृद्धि करने में सहायक होते हैं वे 'प्रसाद' कहलाते हैं।[1]

परन्तु वायु, पित्त और कफ शरीर के सब प्रकार के विकारों के लिए उत्तरदायी हैं; और इसलिए वे 'दोष' कहलाते हैं। फिर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि वायु, पित्त और कफ और अन्य सारे मल जबतक अपना उचित अनुपात (सममान) में रहते हैं तबतक वे शरीर को दूषित अथवा क्षीण नहीं करते अर्थात् व्याधियाँ उत्पन्न नहीं करते। अतः वायु, पित्त और कफ अथवा स्वेद, मूत्र इत्यादि के समान मल भी तब तक 'धातु' कहलाते हैं जबतक कि वे सममान से अधिक नहीं होते और इस प्रकार वे शरीर को क्षीण करने की अपेक्षा धारण करने में सहायक होते हैं। अपने सममान में 'मलधातु' और 'प्रसादधातु' दोनों ही शरीर-धारण करने में परस्पर सहयोग करते हैं।[2] जब विभिन्न प्रकार के आरोग्यकारक भोज्य और पेय पदार्थ उदर में पाचक अग्नि के सामने आते हैं तो वे ऊष्मा से पच जाते हैं। पक्व अन्न का सार-भाग रस है, और जो अशुद्ध पदार्थ पीछे रह जाते है और शरीर में धातु रूप में विलीन नहीं हो सकते, वे 'किट्ट' अथवा 'मल' कहलाते हैं। इस किट्ट से स्वेद, मूत्र, विष्ठा, वायु, पित्त, श्लेष्मा, और कर्ण, आँख, नाक, मुख तथा शरीर के रोम-कूपों के मैल, केश, दाढ़ी रोम, नख इत्यादि उत्पन्न होते हैं।[3] आहार के अशुद्ध पदार्थ विष्ठा और मूत्र हैं; रस का कफ, मांस का अवशिष्ट अशुद्ध पदार्थ पित्त, और मेद का अवशिष्ट अशुद्ध पदार्थ स्वेद है।[4] वायु, पित्त और कफ का यह दृष्टिकोण यह प्रदर्शित करता प्रतीत होता है कि ये स्राव शरीर के अन्य बेकार पदार्थों के समान व्यर्थ पदार्थ (किट्ट) हैं। किट्ट का सिद्धान्त यह है कि जब वे अपने सममान में होते हैं तो शरीर के धारण करने में और उसके

---

[1] वही, ४. ६. १७।

[2] एवं रसमलौ स्वप्रमाणावस्थितवाश्रयस्य समधातोर्धातुसाम्यमनुवर्तयतः।

—वही, १. २८. ३।

[3] वही, १. २८. ३।

[4] वही, ६. १५. ३०।

महत्वपूर्ण कामों को करने में सहायक होते हैं, परन्तु, जब वे अपने सममान से अधिक अथवा न्यून हो जाते हैं तो वे शरीर में दोष उत्पन्न कर देते हैं और अन्ततः देहभेद कर देते हैं। परन्तु सब किट्टों में से वायु, पित्त और कफ को मूलरूप से सबसे महत्वपूर्ण इकाइयाँ माना गया है, और अपने सममान में परस्पर सहयोग द्वारा वे शरीर के कार्यों को चालू रखते हैं और उनमें से एक, दो या तीनों की वृद्धि या क्षय के कारण सन्तुलन बिगड़ने पर उसका क्षय कर देते हैं।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, शरीर रस और रक्त जैसी कुछ धातुओं से निर्मित है। हम जो अन्न-पान लेते हैं वे धातुओं का पोषण करते हैं। तथापि जो अन्न-पान हम लेते हैं वह सारा शरीर द्वारा आत्मसात् नहीं किया जा सकता, और परिणामस्वरूप कुछ व्यर्थ अवशेष रह जाते हैं।[1] प्रश्न उठता है कि यह कौनसा पदार्थ है जो शरीर को धारण करता है अथवा उसका क्षय करता है? यह पहले ही देखा जा चुका है कि धातुओं का सममान ही शरीर के आरोग्य का निर्माण करता है। तथापि जैसाकि आसानी से देखा जा सकता है, यह सममान अन्नपान को इस प्रकार से आत्मसात् करने पर निर्भर है कि प्रत्येक धातु को उसका उचित, न अधिक न कम, अंश प्राप्त हो। यह भी आवश्यक है कि क्षय और वृद्धि के कारणों का उचित रूप में कार्य हो, जो इस प्रकार काम करे कि स्वयं धातुओं और सारे शरीर की दृष्टि से धातुओं को सममान में रखने के लिए सहायक हों। अतः मल की न्यूनता अथवा अधिकता धातुवैषम्य के आवश्यक सहयोगी है, इस हेतु मल की न्यूनता या अधिकता सारे धातुवैषम्य का कारण मानी जाती है। जबतक मलों की अधिकता अथवा न्यूनता नहीं होती तबतक वे शरीर के मुख्य व्यापारों के आधारभूतकारक हैं और इसलिए उन्हें 'धातु' माना जा सकता है। जब इनमें से एक या अधिक की अधिकता अथवा न्यूनता होती है तभी वे शरीर के उस व्यापार की सामान्य प्रक्रिया में विभिन्न प्रकारों से बाधक होते हैं और उन्हें दोष अथवा दूषित करने वाले कारण मानना चाहिए। शरीर के कई प्रकार के किट्ट हैं; परन्तु इन सब में वायु, पित्त और

---

[1] शार्ङ्गधर (४, ५) सात प्रत्यक्ष मलों की गणना करते हैं जो यहां वायु, पित्त और कफ संज्ञा से उल्लिखित तीन मलों से भिन्न हैं। वे हैं (१) जिह्वा, आँख और कपोलों के जलमय स्राव, (२) रंजक पित्त, (३) कान, जिह्वा, दाँत, बगल और उपस्थ का मैल, (४) नख, (५) आँखों का मैल, (६) मुख का चिकना प्रतीत होना, (७) यौवन में निकलने वाले मुहासे और दाढ़ी। इस पर टीका करते हुए राधामल्ल शार्ङ्गधर के उपर्युक्त अंश के पक्ष में चरक संहिता, ६. १५. २९-३० का उल्लेख करते हैं। मलों में से अधिकांश छिद्र-मल अर्थात् रोगों के छिद्रों का मैल है।

कफ शरीर की सारी वृद्धि अथवा क्षय, आरोग्य अथवा रोग का मूल होने के कारण सबसे महत्वपूर्ण तीन किट्ट माने जाते हैं। इस प्रकार पांच ऋषियों की सभा के पांडित्यपूर्ण संभाषण में काप्यवाच की उक्ति के उत्तर में आत्रेय कहते हैं 'एक अर्थ में तुमने सब ठीक कहा है, परन्तु तुम्हारे निर्णयों में से कोई भी निरपेक्ष सत्य नहीं है। जैसे यह आवश्यक है कि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पर समान रूप से ध्यान देना चाहिए अथवा जिस प्रकार शीत, ग्रीष्म और वर्षा ये तीनों ऋतुएँ एक निश्चित क्रम में आती हैं, उसी प्रकार जब वात, पित्त और कफ अथवा श्लेष्मा ये तीनों अपने प्राकृत-साम्य में होते हैं तो वे इन्द्रियों की क्षमता, बल, रंग और शरीर के आरोग्य में योगदान करते हैं और मनुष्य को दीर्घायुष्य से युक्त करते हैं। परन्तु जब वे वैषम्य को प्राप्त होते हैं, तो वे विपरीत परिणाम उत्पन्न करते हैं और अन्ततः सारे शरीर के सम्पूर्ण साम्य को तोड़ देते हैं और उसका क्षय कर देते हैं।[1] 'एक महत्वपूर्ण बात की ओर पाठक का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करना आवश्यक है। मैंने 'मल' का अनुवाद कभी 'दोषकारी कारण' अथवा 'अशुद्धि' और कभी 'व्यर्थ के अवशिष्ट पदार्थ' किया है, और स्वभावतः इसके कारण भ्रम उत्पन्न हो सकता है। 'मल' शब्द का सम्बन्ध रोगों के उत्पन्न करने से है।[2] 'किट्ट' का अर्थ 'व्यर्थ के अवशिष्ट पदार्थ' अथवा 'स्राव' है और ये जब ऐसे मान में हों कि उनके कारण रोग हों तो उन्हें 'मल' कहा जा सकता है। परन्तु जब मल ऐसे मान में हो कि उससे कोई रोग उत्पन्न न हो, तो यह वास्तव में मल नहीं होता है अपितु 'मल-धातु' होता है (निर्बाधकरान्मलादीन् प्रसांदे संचक्ष्महे)।[3] चरक के जिस अन्यस्थल (१. २. ३) का उल्लेख किया जा चुका है, उसमें यह कहा जा चुका है कि पक्व अन्न और पान में से 'रस' और 'मल' संज्ञक 'किट्ट' (स्राव) उत्पन्न होते हैं (तत्राहारप्रसादाख्यरसः किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्तते) और इस किट्ट से स्वेद, मूत्र, विष्ठा, 'वायु,' 'पित्त' और श्लेष्मा उत्पन्न होते हैं। चूंकि अन्य धातुओं रस, अथवा रक्त आदि, के समान मल भी जबतक अपने सममान में और संतुलन में रहते हैं तो शरीर धारण करते हैं, इसलिए वे भी धातु हैं (ते सर्व एव धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च)।[4] तथापि इस विषय में वाग्भट्ट का दृष्टिकोण भिन्न है। वह दोष, धातु और मल को पृथक्-पृथक् मानते हैं और उन्हें शरीर का मूल बताते हैं।

---

[1] चरक संहिता, १. १२. १३।

[2] तत्र मलभूतास्ते ये शरीरस्य बाधकराःस्युः, —चरक संहिता, ४. ६. १७।

[3] चरक संहिता पर चक्रपाणि की टीका। शार्ङ्गधर ४. ८ से तुलना कीजिए : 'वायुः पित्तं कफो दोषा धातवश्च मला मताः' अर्थात् वायु, पित्त और कफ दोष, धातु और मल रूप में विख्यात हैं।

[4] और भी 'एवं रसमलौ स्वप्रमाणावस्थितवाश्रयस्य समधातोर्धातुसाम्यमनुवर्तवतः। —चरक संहिता, १. २८. ३।

इस प्रकार वे कहते हैं कि वायु शरीर को धारण करता है जो उत्साह, उच्छ्वास, निःश्वास, शारीरिक एवं मानसिक चेष्टा, वेगप्रवर्तन का उपपादक है। पित्त पाचन क्रिया, अग्नि, दृष्टि, मेधा, बुद्धि, शौर्य, शारीरिक मार्दव के द्वारा शरीर की सहायता करता है, और श्लेष्मा स्थैर्य और स्निग्धता के द्वारा, और संधियों का योगकारी इत्यादि होकर सहायता करता है। रस से प्रारम्भ होने वाली सात धातुओं के ये कार्य बताए गए हैं, 'प्रीणन' अथवा 'रस'–इन्द्रियों के समुचित कार्य द्वारा तुष्टि प्रदान करना, जीवन-प्राण शक्ति को प्रदान करना, स्नेह-चिकनाहट का उत्पादन, धारण-भार को वहन करना, अस्थि; पूरण अथवा 'मज्जा'–अस्थि कुहरों को भरना, और शुक्र का गर्भोत्पाद–उत्पादन; पुरुषों के विषय में यह कहा जाता है कि 'विष्टा' में शरीर धारण करने की शक्ति है, जबकि मूत्र अतिरिक्त जल को बाहर निकाल देता है और स्वेद उसे रोके रखता है।[1] वृद्ध वाग्भट्ट वायु, पित्त और कफ को 'दोष' बताकर (दूषयिता) और धातुओं को दूष्य (वे धातु जो दूषित होती हैं) बताकर, धातु को वात, पित्त और कफ से पृथक् मानते हैं। आगे वे निश्चित रूप से अस्वीकार करते हैं कि धातु-मल रोग का कारण हो सकते हैं। वे इस प्रकार इस मत को (ऊपर उल्लिखित चरक का मत) औपचारिक अर्थात् रूपकात्मक कथन बताकर उड़ा देते हैं।[2] उनके अनुसार शरीर दोष, धातु और मल का समुदाय है।[3] फिर भी 'अष्टांग-संग्रह' के टीकाकार इन्दु का कथन है कि जो गत्यात्मक शक्ति धातुओं को प्रवृत्ति प्रदान करती है (दोषेभ्य एव धातूनां प्रवृत्तिः) वह दोषों से उपलब्ध होती है और उनसे रस के वहन, पाक, स्नेह, काठिन्य इत्यादि उपलब्ध होते हैं।[4] प्रारम्भ से ही एक अथवा दूसरे दोष की प्रबलता के कारण जब गर्भवृद्धि होने लगती है, तब ऐसा कहा जाता है कि बच्चे में एक या दूसरे दोष के विशेष लक्षण विद्यमान हैं और इसी हेतु वह वात प्रकृति, पित्त-प्रकृति अथवा श्लेष्म-प्रकृति कहलाता है। वाग्भट्ट आगे कहते हैं कि 'धातु वैषम्य' नहीं अपितु 'दोष वैषम्य' ही रोग है और दोषों का संतुलन अर्थात् 'दोष साम्य' आरोग्य है। इस मत के अनुसार दोष वैषम्य रोग है और क्योंकि दोष धातुओं से स्वतन्त्र इकाइयाँ हैं, इसलिए दोष-वैषम्य का अर्थ 'धातु-वैषम्य' होना आवश्यक नहीं।[5] एक

---

[1] अष्टांग हृदय, १. ११. १-५।

[2] तज्जानित्युपचारेण तानाहुर्घृतदाहवत्।
रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः संभवन्ति ये। –अष्टांग संग्रह, १. १।

[3] अष्टांग संग्रह के टीकाकार इन्दु ने इसका ऐसे वर्णन किया है—'शरीरं च दोष-धातुमल समुदायः (१. १)।

[4] तथा च धातुपोषाय रसस्य वहनपाकस्नेहकाठिन्यादि दोषप्रसादलभ्यमेव। –वही।

[5] आयुर्वेद का सांख्य और न्याय-वैशेषिक से घनिष्ठ सम्बन्ध है, केवल ये ही भारतीय दर्शन में किसी प्रकार के भौतिकविज्ञान का विवेचन करते हैं। नरसिंह कविराज

अन्य स्थल पर वृद्ध वाग्भट्ट कहते हैं कि जिस प्रकार बहुविध जगत् गुणों के विकार के अतिरिक्त कुछ नहीं है उसी प्रकार सारी व्याधियां तीन दोषों का विकार मात्र ही हैं, अथवा जिस प्रकार महासमुद्र में तरंगे, ऊर्मियों और फेन दृष्टिगत होते है, जो वास्तव में महासागर ही के समान हैं, वैसे ही सारी व्याधियां तीन दोषों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं।[1] एक अन्य स्थल पर वृद्ध वाग्भट्ट त्रिदोषों के संदर्भ में त्रि-गुणों की उपमा का प्रयोग भी करते हैं। अतः वे कहते हैं 'जिस प्रकार त्रिगुण अपने में विद्यमान परस्पर विरोध के उपरान्त भी संसार को अपनी विविधताओं से युक्त उत्पन्न करने के लिए परस्पर सहयोग करते हैं, उसी प्रकार दोषत्रय प्राकृत विरोध के होते हुए भी विविध व्याधियों के उत्पादन हेतु परस्पर सहयोग करते हैं।'[2] अस्थियों के विवेचन में' लेखक डा० हर्नले से इस बात में सहमत हैं कि वाग्भट्ट ने चरक और सुश्रुत के परस्पर मेल न खाने वाले विचारों की व्याख्या करके उन दोनों में सामंजस्य स्थापित करने का सदा प्रयत्न किया है। यहां पर भी उसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। इस प्रकार उन्होंने एक ओर चरक के द्वारा व्यक्त इन विचारों को रूपकात्मक (औपचारिक) बतलाया है कि धातुमल दोष है। दूसरी ओर उन्होंने उत्तरतन्त्र के इन कथनों का अनुसरण किया है कि दोषत्रय, धातु, मल और मूल मानव शरीर को धारण करते हैं। वे उत्तर तन्त्र का और आगे अनुसरण करते हैं और कहते हैं कि त्रिदोष त्रिगुण हैं

(एक दाक्षिणात्य लेखक) द्वारा अपने ग्रन्थ 'विवरणसिद्धान्तचिन्तामणि' (जिसकी एकमात्र पांडुलिपि लेखक के अधिकार में है) में यह प्रदर्शित किया गया है कि सांख्य के अनुसार स्वयं अपनी साम्यावस्था से किसी एक दोष की विषम प्रबलता में परिणत हो जाने वाला दोष ही रोग कहलाता है। (वैषम्य-साम्यावस्थाभिन्ना-वस्थाविशेषवद् दोषत्वं रोगत्वम्)। तथापि नैयायिकों का मत है कि रोग एक पृथक् इकाई अथवा द्रव्य है, जो दोष से उत्पन्न होता है परन्तु जो स्वयं दोष नहीं है (द्रव्यत्वे सति दोषभिन्नदोषजन्यत्वं रोगत्वम्)। अतः रोग अपने लक्षणों अथवा कार्यों से भिन्न है। नरसिंह का यह भी मत है कि क्योंकि चरक ने व्याधियों को आग्नेय और वायव्य बताया है, अतः उन्होंने व्याधियों को पृथक् द्रव्यों के रूप में आशयगत भाव से ग्रहण कर लिया है। कभी-कभी किसी व्याधि के धातुवैषम्य द्वारा होने के चरक के कथन की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिए कि धातुवैषम्य व्याधियों के उत्पन्न करने का कारण है इसलिए औपचारिक अर्थ में उनको स्वयं को व्याधियां कहा गया है (यत्तु चरकेन धातुवैषम्यस्य रोगत्वमुक्तं तत्तेषां तथाविध-दुःखकर्तृत्वादौपचारिकम्। विवरणसिद्धान्त चिन्तामणि—पांडुलिपि, पृ० ३)।

[1] अष्टांग संग्रह १. २२।

[2] आरम्भकं विरोधेऽपि मिथो यद्यद् गुणत्रयम्।
विश्वस्य दृष्टं युगपद्व्याधेर्दोषत्रयं तथा॥ —वही, १. २१।

(भिन्ना दोषास्त्रयो गुणाः)। डल्हण ने वायु की रजस् से, पित्त की सत्व से और कफ की तमस् से एकरूपता बतायी है।[1]

सूत्र स्थान में सुश्रुत का वर्णन है कि शोणित का भी वही स्थान है जो वायु, पित्त और कफ का है, और वे कहते हैं कि शरीर अन्न और पान के साथ-साथ आरोग्य अथवा रोगों में होने वाले वायु, पित्त, कफ और शोणित के विभिन्न मिश्रणों पर भी आश्रित है। इस पर व्याख्या करते हुए डल्हण का कथन है कि सुश्रुत का ग्रन्थ मुख्यतः शल्य ग्रन्थ है, अतः इसके लेखक का मत है कि शोणित अपने अन्य दूष्यों सहित व्रण में दोष उत्पादन हेतु महत्वपूर्ण भाग लेता है।[2] आगे सुश्रुत वात, पित्त और श्लेष्मा को शरीरोत्पत्ति हेतु (देह संभव हेतवः) मानते हैं। शरीर के अधः, मध्यम, और ऊर्ध्व भाग में स्थित वात, पित्त और कफ ऐसे तीन स्तम्भों के समान हैं जो शरीर को धारण किए हुए हैं और शोणित भी उस कार्य में सहायता करता है। डल्हण का कथन है कि वात, पित्त और कफ सामूहिक कारण हैं जो शुक्र और शोणित की सहकारिता से काम करते हैं।[3] आगे सुश्रुत ने वायु की 'वा' चलना, धातु से, पित्त की 'तप' तपाना, धातु से और 'श्लेष्मा' की 'श्लिष', आलिंगन करना, धातु से व्युत्पत्ति की है। सूत्र स्थान में कफ, पित्त और वायु की सोम, सूर्य और अनिल से तुलना की गई है, न कि तीन गुणों से जैसाकि परिशिष्ट ग्रन्थ 'उत्तर-ग्रन्थ' में देखा जाता है। पित्त की प्रकृति का विवेचन करते हुए उनका कथन है कि पित्त शरीरस्थ अग्नि है, और पित्त के अतिरिक्त शरीर में कोई अन्य अग्नि नहीं है। पित्त में अग्नि के सारे गुण हैं और इसलिए जब यह क्षीण होता है तो आहार के आग्नेय पदार्थ इसकी वृद्धि में योग देते हैं, और जब इसकी वृद्धि हो जाती है तो भोजन के उपशामक पदार्थ इसको कम कर देते हैं। सुश्रुत के अनुसार पित्त का स्थान आमाशय और पक्वाशय के मध्य है और यह सारे अन्न और पान का पाक करता है और एक ओर रस को तथा दूसरी ओर मल, मूत्र आदि को पृथक् करता है। आमाशय और

---

[1] रजोभूयिष्ठो मारुतः रजो हि प्रवर्तकं सर्वभावानां, पित्तं सत्वोत्कटं, लघुप्रकाशकत्वात् रजोयुक्तं वा इत्येके कफस्तमो बहुलः, गुरुप्रावरणात्मकत्वादित्याहुर्भिषजः। यद्येवं तत्कथं कफ प्रकृतिके पुंसि सत्वगुणोपपन्नता पठिता उच्यते, येगुणद्वितयमपि कफे ज्ञातव्यं, सत्वतमोबहुला आपः (सुश्रुत उत्तरतन्त्र ६६. ९ पर डल्हण की व्याख्या)।

[2] एतद्धि शल्यतन्त्रम्, शल्यतन्त्रेच व्रणः प्रधानभूतः व्रणे च दूष्येषु मध्ये रक्तस्य प्राधान्यमिति शोणितोपादानाम् (वही)। सुश्रुत 'दोष' शब्द को पीव (पूति) के अर्थ में भी प्रयोग करते हैं। —१. ५. १२।

[3] सुश्रुत १. २१. ३ और ४। उस पर टीका करते डल्हण का कथन है 'शुक्रार्तवादि-सहकारितया देहजनका अभिप्रेताः।'

पक्वाशय के मध्य उपर्युक्त स्थान में स्थित होने के कारण (तत्रस्थमेव), पित्त अपनी शक्ति के द्वारा (आत्मशक्त्या) शरीर के अन्य पित्त स्थानों में कार्य करता है और अपने तपाने के कार्य (अग्निकर्म) के द्वारा उन स्थानों में समुचित कार्य का उपपादन करता है। भोजन पकाने का अपना कार्य करते समय इसको 'पाचक' कहा जाता है, रक्त को रंगने वाले पदार्थ को प्रदान करने वाले यकृत् और प्लीहा में कार्य करते समय इसे 'रंजक' कहा जाता है (साधक), आँखों में अपना कार्य करने पर इसे लोचक कहा जाता है, त्वचा को कान्तिमान रूप प्रदान करने का अपना कार्य करते समय उसे 'भ्राजक' कहा जाता है। पित्त उष्ण, द्रव, नीला अथवा पीला, दुर्गन्धयुक्त और अहितकर पाचन कर्म में से गुजरने के बाद खट्टा स्वाद देता है। श्लेष्मा के विषय में सुश्रुत का कथन है कि इसका प्राकृत स्थान आमाशय है; उदकमय होने के कारण नीचे की ओर बहती है और पित्ताग्नि को शान्त करती है जो अन्यथा अत्यधिक ऊष्मा के कारण सारे शरीर का क्षय कर देती। आमाशय में होने के कारण यह अन्य श्लेष्मा-स्थानों, यथा हृदय, जिह्वा, कण्ठ, शिर और शरीर की सारी संधियों में कार्य करती है। वायु का स्थान श्रोणि और गुदा है (श्रोणिगुदसंश्रय); शोणित को सुश्रुत ने 'दोष' माना है और इसका मुख्य स्थान यकृत और प्लीहा माने जाते हैं।[1] मैं ऊपर बता चुका हूँ कि अथर्ववेद में तीन प्रकार की व्याधियाँ पाई जाती हैं: वातज, शुष्म और अभ्रज।[2] चरक संहिता में वायु, पित्त और कफ को 'किट्ट' से उत्पन्न माना गया है। इस प्रकार उन्हें यहाँ आन्तरिक मल माना गया है, जो अन्न-रस के विलीनीकरण की विभिन्न अवस्थाओं, यथा, रस, मांस आदि में विलीन नहीं होते और जब ये रस, मांसादि सममान में होते हैं तो उन्हें शरीर वृद्धि की प्रक्रिया के संरक्षण हेतु कार्यों का सम्पादन करना होता है और जब ये वैषम्य में होते हैं तो शरीर का क्षय करते हैं। किट्ट का ठीक अर्थ क्या है यह निर्धारित करना कठिन है। इसका अर्थ अन्न-रस का रसरूप में केवल अविलीन भाग अथवा रक्त-रूप में अविलीन भाग, इत्यादि हो सकता है; अथवा इसका अर्थ सम्बद्ध धातुओं के स्रावसहित ऐसे अविलीन पदार्थ हो सकता है जो अन्न-रस की पर्याप्त मात्रा को शोषित कर लेते हैं और अपने कुछ दूष्य पदार्थों को अशोषित पदार्थ में छोड़ देते हैं; यदि इसकी व्याख्या 'धातुमल' अथवा धातु के दूष्य के अर्थ में की जाय तो किट्ट का कम से कम यही अर्थ होगा। शरीर की रचनात्मक और विनाशक शक्तियों में से अधिकांश का उद्गम इन्हीं मल और किट्टों से ही निर्मित है। कफ के जलमय गुण और पित्त के आग्नेय गुण की उपेक्षा नहीं की गई है; परन्तु उनका सार मलमय अथवा विट्टमय माना गया है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता

---

[1] सुश्रुत संहिता, १. ११. ८. १६।

[2] ये अभ्रजा वातजा ये च शुष्मो (अथर्ववेद, १. १२. ३) और अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिणः।
—वही, ६. २० ४।

है कि सुश्रुत ने इस मलमय स्वरूप का उल्लेख नहीं किया है, अपितु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने यह समझ लिया था कि शरीर का मुख्य दैहिक व्यापार पाचन कर्म की प्रकृति का तथा अग्नि और पाचन जन्य पदार्थों के विभाजन की प्रकृति का है और ऐसा प्रतीत होता है कि खाना पकाने का वह उदाहरण भलीभांति उनके मस्तिष्क में होगा जिसमें आग, पानी और वायु की आवश्यकता पड़ती है और यह भी प्रतीत होता है कि सुश्रुत का इस मत की ओर अधिक झुकाव है कि शरीर के दैहिक व्यापार पांच भौतिक क्रियाओं के कारण होते हैं जिनमें अन्न-रस ने पृथ्वी का स्थान ग्रहण कर लिया है और अन्य तीन भूत, अग्नि (पित्त), जल (श्लेष्मा) और वायु (वात) हैं। किस कारण से शरीर के इन तत्वों को अग्नि, जल और वायु का अन्य रूप माना है, यह सुश्रुत ने स्पष्ट नहीं किया है। तथापि परिशिष्टात्मक 'उत्तरतन्त्र' में यह मत व्यक्त किया गया है कि वे तीन गुण हैं। इस विवेचन के अन्तर्गत सिद्धान्तों को समझने के विभिन्न प्रयासों में सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्न में सदा मध्यम मार्ग ग्रहण करने में तत्पर वाग्भट्ट का मत है कि उनकी गुणत्रय से तुलना इसलिए करनी चाहिए कि वे परस्पर विरोधी होने पर भी परस्पर सहयोग करते हैं, और, क्योंकि रोग दोषों के विकारमात्र हैं इसलिए उनका आगे मत है कि दोष, धातु और दोष-मलों की बिलकुल पृथक्-पृथक् सत्ता है, परन्तु इन दोषों का स्वरूप क्या है इस पर कोई निश्चित मत व्यक्त करने में वह असमर्थ रहे हैं। जिस व्यक्ति को इन दोषों का अधिकतम निश्चित ज्ञान था वह चरक थे। उत्तर तन्त्र में वर्णित तथा वाग्भट्ट द्वारा प्रतिपादित गुणों की सांख्य तुलना का बहुत भ्रामक प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है, और दोषों की वास्तविक देह-व्यापार सम्बन्धी स्थिति का पता लगाने के प्रयत्न करने की अपेक्षा इन लेखकों ने उस कठिनाई को सांख्य-गुणों के प्रति अस्पष्ट संकेतों द्वारा उड़ा दिया है।

हम पुनः चरक पर आते हैं। उन्होंने वायु को सूखा (रूक्ष), ठण्डा (शीत), हल्का (लघु), बारीक (सूक्ष्म), गतिशील (चल), अन्य सब पदार्थों को विभिन्न दिशाओं में बिखरने वाला (विशद) और खुरदरा (खर) माना है।[1] जिन वस्तुओं

---

[1] चरक संहिता, १. १. ५८। इस पर टीका करते, चक्रपाणि का कथन है कि यद्यपि वैशेषिक दर्शन में वायु को न तो ऊष्ण और न शीत माना गया है, फिर भी क्योंकि यह शीत से बढ़ती हुई और गर्मी से घटती हुई देखी जाती है, इसलिए इसको शीत माना गया है। यह अवश्य है कि जब यह पित्त से युक्त होता है तब उसे ऊष्ण देखा जाता है, परन्तु ऐसा पित्त की ऊष्णता के साथ उसके संसर्ग के कारण ही होता है (योगवाहित्वात्)। वातकलाकलीय अध्याय (१. १२. ४) में वायु के छः गुणों का वर्णन है, परन्तु उसमें सूक्ष्म का उल्लेख नहीं है, और चल के स्थान पर दारुण का वर्णन है। चक्रपाणि का कथन है कि दारुण का वही

में इसके विरोधी गुण होते हैं उनसे इसका उपशमन होता है। आरोग्यकर रचनात्मक प्रक्रिया में वायु को निम्न दैहिक कार्य करने वाला बताया गया है : यह शरीर यंत्र को सम्भाले रखता है (तन्त्रयन्त्रधरः), यह प्राण, उदान समान और अपान रूपों में प्रकट होता है और विभिन्न प्रकार की चेष्टाओं का जनक है; यह वह शक्ति है, जो मन को सब अवांछनीय पदार्थों से रोकनें वाला (नियन्ता) है और मन को वांछनीय पदार्थों में लगाने वाला (प्रणेता) है, इन्द्रियों को कार्य में लगाने का कारण है, सारे इन्द्रिय विषयों की उत्तेजना को वहन करने वाला है, शरीर के सारे धातुओं को एकत्रित करता है, एक पूर्ण इकाई के रूप में शरीर के कार्यों में समरूपता रखता है, वाणी का प्रवर्तक है, स्पर्श और शब्द का तथा उनसे सम्बद्ध इन्द्रियों का भी कारण है, हर्ष और उत्साह का मूल है, पाचक अग्नि के लिए समीकरण है, दोषों का शोषक, बहिर्मलों का क्षेप्ता, सब प्रकार के संचारों का प्रयोजक हेतु है, गर्भों की आवृत्तियों का निर्माता है और संक्षेप में, आयु की निरन्तरता का समान अर्थक है (आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतः)। जब यह कुपित हो जाता है तो शरीर में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न कर देता है; बल, वर्ण, सुख और आयु को क्षीण कर देता है; मन को दुःखी करता है, इन्द्रियों के व्यापारों को दुर्बल करता है, गर्भ को विकृत कर देता है, रोगों और भय, शोक, मोह इत्यादि के भावों को उत्पन्न करता है तथा प्राणों के कार्य को रोकता है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि वार्योविद ने किस प्रकार से वायु के बाह्य कर्म यथा पृथ्वी को धारण करना, अग्नि का ज्वालन, नक्षत्र और ग्रहों की एकसी गति, मेघ-सृष्टि, वृष्टि-वर्षण, नदियों का प्रवाहन, पुष्प और फलों को आकृति प्रदान करना, वनस्पतियों को उत्पन्न करना, ऋतु प्रवर्तन धातुओं का विभाग करना, बीजों की अंकुर उत्पादक शक्ति का उत्पादन करना, शस्यादि का अभिवर्धन आदि का वर्णन किया है।[1] उसी चर्चा में मरीचि ने यह मत व्यक्त किया है कि अग्नि पित्त के अन्तर्गत है और सारे शुभ और अशुभ गुणों, पाचन और अपाचन, दर्शन-अदर्शन, शूरता और भय, क्रोध हर्ष, अज्ञता इत्यादि को पित्त अपने अकुपित या कुपित होने के अनुसार उत्पन्न करता है। काव्य का मत है कि श्लेष्मान्तर्गत सोम सारे अच्छे और बुरे गुणों यथा शरीर की दृढ़ता अथवा शिथिलता, मोटापा, पतलापन, उत्साह और आलस्य, पुंसत्व और क्लीवत्व, ज्ञान और अज्ञान आदि को उत्पन्न करता है।[2]

ये सम्भाषण ऐसा प्रदर्शित करते प्रतीत होते हैं कि आत्रेय के ग्रन्थ के लिखे जाने से पहले स्वस्थ और अस्वस्थ शरीर के दैहिक व्यापारों को एक प्रयोजक हेतु के कार्य

अर्थ है जो चल का है। उसी अध्याय (१. १२. ७) में वायु के लिए 'सुषिर कर' अर्थात् 'छिद्र करने वाला' विशेषण का प्रयोग किया गया है।

[1] चरक संहिता, १. १२. ८।

[2] वही, १. १२. ११ और १२

से सम्बद्ध बताकर उनको समझाने का प्रयत्न किया गया था। छान्दोग्य उपनिषद् में पृथ्वी, जल और अग्नि को रचना के जगत् हेतु बताया गया है; विभिन्न प्रकार के वायु अथर्ववेद जितने प्राचीनकाल में भी ज्ञात थे, और वायु को कई उपनिषदों में जीवन का मूल तत्व माना गया है। यह काफी मात्रा तक निश्चित प्रतीत होता है कि वात, पित्त और कफ का सिद्धान्त उस मत का उत्तरकालीन विकसित रूप है जिसके अनुसार वायु (प्राण), अग्नि (दहन) और जल (सोम) को शरीर का मूलभूत निर्माता तत्व माना गया है। इस प्रकार सुश्रुत इस मत का ३. ४. ४० में उल्लेख ऐसे करते हैं : 'कुछ का कहना है कि मानव शरीर की प्रकृति भौतिकी है, प्रकृतिभूत वे भूत वायु, अग्नि और जल हैं'।[1] इन विवेचनों अथवा उन अन्य विवेचनों जिनके अनुसार शरीर एक भूत अथवा कई भूतों का परिणाम है, उनके आगे चिकित्सा सम्बन्धी विचार की शाखाओं की प्रगति का अन्वेषण इस तथ्य में करना चाहिए कि शरीर के भौतिक कारणों (उपादानों) को धातु मानने के अतिरिक्त उन्होंने शरीर के विकास और ह्रास के लिए एक या अधिक अन्तर्निहित गतिशील तत्वों को स्वीकार करने की आवश्यकता पर बल दिया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वात, पित्त और कफ को धातु और दोष तथा प्रकृति और विकृति, दोनों कैसे माना गया है? इस प्रकार, जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है, चरक का कथन है कि गर्भ की रचना के काल से ही वात, पित्त और कफ कार्य करते रहते हैं, परन्तु यह कार्य न्यूनाधिक भिन्न-भिन्न प्रकार से और विभिन्न प्रणालियों में वात, पित्त, मल और कफ की साम्य अवस्था में (समपित्तानिलकफ) अथवा पृथक्-पृथक् अंगों में उनका प्राधान्य होने के कारण वातल, पित्तल और श्लेष्मल रूप में होता है।[2] श्लेष्मल प्रकृति के मनुष्य

---

[1] प्रकृतिमिह नराणां भौतिकीं केचिदाहुः ।
पवनदहनतोयैः कीर्तितास्तास्त, तिस्र ॥ —सुश्रुत ३. ४. ८० ।

[2] चरक ने एक मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार कुछ लोग समवातपित्तश्लेष्म (वात, पित्त और श्लेष्मा की समान मात्रा से युक्त) माने जाते हैं। क्योंकि सारे मनुष्य विभिन्न प्रकार का भोजन खाते हैं (विषमाहारोपयोगित्वात्), इसलिए वे अवश्य वातप्रकृति, पित्तप्रकृति अथवा श्लेष्मप्रकृति होंगे। इसके विरुद्ध चरक का कथन है कि समवातपित्तश्लेष्म और स्वास्थ्य अथवा रोगों से मुक्ति (अरोग) एक ही बात है। सब भेषजों का प्रयोग इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है और इस बारे में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि ऐसी अवस्था विद्यमान है। पुनश्च वात-प्रकृति, पित्त प्रकृति और श्लेष्मप्रकृति ये शब्द गलत हैं, क्योंकि प्रकृति का अर्थ स्वास्थ्य से है। वात प्रकृति का अर्थ यह है कि वात की मात्रा की प्रधानता है (आधिक्यभावात्सा दोष प्रकृतिरुच्यते), और परिणामगत आधिक्य

सामान्यतः स्वस्थ होते हैं, जबकि वातल और पित्तल प्रकृति के मनुष्य सदा क्षीण स्वास्थ्य होते हैं। बाद में, जिस दोष की मनुष्य के शरीर में उसके जन्म से ही प्रबलतम है उस दोष-प्रधान व्याधि से जब वह पीड़ित होता है तो नव संचित दोष उसी ढंग से दोष को उत्पन्न करता है जिस ढंग में उसके शरीर का प्रधान दोष काम कर रहा होता है, परन्तु यह नव संचित दोष सम्बद्ध मूलदोष की वृद्धि नहीं करता है। मूलदोष की कमी वृद्धि नहीं होती, और किसी व्याधि के कारण दोष की कितनी ही प्रबलता क्यों न हो, दोष की शारीरिक स्थिति एक-सी रहती है। इस प्रकार कोई वात प्रकृति पुरुष श्लेष्म प्रकृति अथवा पित्त प्रकृति अथवा इसके विपरीत नहीं होता। जो दोष विधायक है वे सदा अपने दैहिक व्यापारों में लगे हुए अविच्छिन्न भाग के रूप में रहते हैं। बाद में होने वाले दोषों की वृद्धि अथवा उनकी न्यूनता रोग उत्पन्न करने में पृथक् रूप से कार्य करती है, और इन बाद के दोषों के संचय अथवा उनके ह्रास के और 'प्रकृति' संज्ञक दोषों के रचना सम्बन्धी शाश्वत भागों के बीच में कोई आदान-प्रदान नहीं होता।[1] केवल इसी अर्थ में कोई दोष प्रकृति दोष से संबद्ध है (जैसाकि चक्रपाणि का कथन है) कि कोई दोष उस शरीर में बलशाली होता है जिसमें संबद्ध दोष की प्रकृति-रूप से प्रधानता होती है और इससे विपरीत अवस्था में वह क्षीणतर हो जाता है।[2] इस संदर्भ में यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा

और विकार एक ही है, इसलिए उपयुक्त संज्ञाएं वातल, पित्तल आदि हैं। जब कोई वातल मनुष्य वातवर्धक पदार्थों का प्रयोग करता है तो वात एकदम बढ़ जाता है, परन्तु जब वह पित्त अथवा श्लेष्मावर्धक पदार्थों का प्रयोग करता है तो उसमें पित्त अथवा श्लेष्मा उतनी शीघ्रता से नहीं बढ़ते जितनी शीघ्रता से वात बढ़ता है। इसी प्रकार पित्तल मनुष्य में पित्तवर्धक पदार्थों का उपयोग करने से पित्त शीघ्रता से बढ़ता है और ऐसा ही श्लेष्मा के साथ होता है।
(चरक संहिता ३. ६. १४–१८)।

[1] वही, १. ७. ३८–४१। इस अंश 'प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये' (१. १७. ४५) का इस मत के पक्ष में प्रायः उल्लेख किया जाता है कि दोषों की नई वृद्धि प्रकृति दोषों पर प्रभाव डालती है। परन्तु चक्रपाणि इसकी अन्य प्रकार से व्याख्या करते हैं। उनका कथन है कि कोई रोग ऐसे दोष द्वारा उत्पन्न हो सकता है जो इस तथ्य के कारण अपने शाश्वत प्रकृतिमान से अधिक नहीं है कि वह शरीर के एक भाग से दूसरे भाग में वाहित हो जाय और उसके परिणाम-स्वरूप कोई स्थानीय वृद्धि अथवा अधिकता उत्पन्न हो जाय, हालांकि दोष की कुल मात्रा का आधिक्य न हो।

[2] समानां हि प्रकृतिं प्राप्य दोषः प्रवृद्धबलो भवति, असमानां तु प्राप्य तथा बलवान् न स्यात् (चरक संहिता १. १७. ६२ पर चक्रपाणि की टीका)।

कि यद्यपि दोष परस्पर रूप में एक दूसरे के विरोधी हैं, तो भी वे एक दूसरे को सदा प्रभावहीन नहीं करते और शरीर में उनका साथ-साथ उग्र हो जाना संभव है। वर्षा, शरत्, हेमन्त, शीत, वसन्त, ग्रीष्म इन छः ऋतुओं में पित्त, श्लेष्मा और वायु इन तीन दोषों का एकान्तर रूप से क्रमशः चय, प्रकोप और शमन होता है। इस प्रकार, उदाहरणतः वर्षा में पित्त का चय होता है, शरत् में पित्त का प्रकोप होता है, हेमन्त में पित्त का शमन और श्लेष्मा का चय होता है, ग्रीष्म में वात का चय होता है, इत्यादि।[1] दोषों की प्राकृत और विकृत अवस्थाओं की विषमता दिखाते हुए चरक

[1] वही १. १७. ११२। इन पर चक्रपाणि की टीका भी देखिए। सुश्रुत संहिता १. २१. १८ पर व्याख्या करते हुए डल्हण कहते हैं कि दोष-संचय का अर्थ सामान्य रूप से समूह रूप में होने अथवा एकत्रित होने से है (संहतिरूपा वृद्धिश्चयः), दोषों के प्रकोप का अर्थ यह है कि एकत्रित हुए दोष शरीर में फैल गए हैं (विलयनरूपा वृद्धिः प्रकोपः)। वायु चय के बाह्य लक्षण स्तब्ध-कोष्ठता और पूर्ण-कोष्ठता है; पित्त का लक्षण पीला दीखना और मन्दोष्णता है; कफ का लक्षण अंगों का भारीपन और आलस्य-भाव है। चय की सभी अवस्थाओं में, जिन दोष विशेषों का चय हुआ हो उनको बढ़ाने वाले कारणों के प्रति विद्वेष का भाव होता है (चयकारणविद्वेषश्च) चय काल रोगों की उत्पत्ति और उनके रोकने के लिए प्रथम क्रियाकाल है। यदि दोषों को इस काल में ही दूर कर दिया जाय या शान्त कर दिया जाय तो फिर आगे रोग नहीं होता। वायु के प्रकोप के सामान्य लक्षण आमाशय के विकार हैं। पित्त के प्रकोप के लक्षण अम्लता, प्यास और कफ के प्रकोप के लक्षण भोजन के प्रति अरुचि, हृदय की धड़कन (हृदयोत्क्लेद) आदि हैं। शोणित का प्रकोप सदा वात, पित्त और कफ के प्रकोप के कारण होता है। रोगों के अग्रसर होने का यह दूसरा क्रिया-काल है। तीसरा क्रिया-काल 'प्रसार' कहलाता है। इस काल में दोषों के उफान सा कुछ-कुछ होता है (पर्युषितकिण्वोदकपिष्टसमवाय इव)। इसको वायु द्वारा गति-प्रदान की जाती है; जो वायु अचैतन्य होने पर भी समस्त कार्यों का हेतु है। जब पानी की बड़ी मात्रा किसी स्थान पर जमा हो जाती है तो वह किनारे तोड़कर बह निकलता है और अपने मार्ग की अन्य धाराओं से मिलकर सब दिशाओं में फैल जाता है; उसी प्रकार दोष भी कभी अकेले, कभी दो के जोड़ों में और कभी सभी साथ-साथ फैल जाते हैं। सम्पूर्ण शरीर में, उसके आधे भाग में अथवा जिस किसी भाग में उत्तेजित दोष फैलें, वहाँ रोग के लक्षणों की बौछार मानों इस प्रकार होती है, जैसे मेघों से पानी बरसता हो (दोषो विकारं नभसि मेघवत् तत्र वर्षति)। जब एक दोष, उदाहरणार्थ वायु, दूसरे दोष, यथा पित्त, के प्रकृति-स्थान में अपना प्रसार कर देता है, तो दूसरे का प्रतीकार पहले को भी दूर कर देता है (वायोः पित्त-

का कथन है कि प्राकृत अवस्था में पित्ताग्नि पाचनकारक होती है। श्लेष्मा बल और ओज है, और वायु सारी क्रियाओं का तथा सारे जीवित प्राणियों के जीवन का स्रोत है, परन्तु विकृत अवस्था में पित्त अनेकों व्याधियाँ उत्पन्न करती है; श्लेष्मा शरीर-यन्त्र का मैल है और अनेकों क्लेशों का कारण है, और वात भी अनेकों रोगों को उत्पन्न करता है और अन्ततः मृत्युकारक है। जिन स्थानों पर वात, पित्त और कफ के विकारों को अधिकांश में पाया जाता है उनका वर्णन चरक ने इस प्रकार किया है : वात के विकार के स्थान मूत्राशय, गुदा, कटि और पांवों की अस्थियां है, परन्तु पक्वाशय उसके विकार का विशेष स्थान है; पित्त के विकारों के स्थान स्वेद, रुधिर और आमाशय हैं जिनमें अन्तिम सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं; श्लेष्मा-विकारों के स्थान वक्ष, शिर, ग्रीवा, संधियाँ, आमाशय और भेद हैं, जिनमें वक्ष सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। वात के अस्सी, पित्त के चालीस और श्लेष्मा के बीस विकार होते हैं।[1] परन्तु वात, पित्त और श्लेष्मा के इन विभिन्न विकारों में से प्रत्येक में सम्बद्ध दोषों के विशेष स्वरूप और लक्षण पाए जाते हैं। इस प्रकार १. २०. १२-२३ में चरक ने कुछ ऐसे लक्षणों का वर्णन किया है जिनका परिणाम उन व्याधियों का निदान है जो वात, पित्त अथवा कफ के वैषम्य के कारण होती हैं। परन्तु यह प्रश्न उठ सकता है कि इस मत के अनुरूप वायु, पित्त और कफ की प्रकृति को कैसा समझा जाय ? क्या वे केवल काल्पनिक इकाइयां मात्र हैं, जिनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है और अनेकों लक्षणों के चिह्न स्वरूप अवस्थित हैं ? ऐसी व्याख्या करने पर वास्तविकता लक्षणों की होगी और व्याधियों के कारण, अर्थात् दोष, एक नाम के आधीन कुछ लक्षणों के समूहों को इकट्ठा करने हेतु सुविधाजनक चिह्न मात्र बन जायेंगे। जहाँ कहीं भी लक्षणों का एक समुदाय विशेष हो, वहाँ यह मानना होगा कि वायु का प्रकोप है, जहाँ कहीं लक्षणों का दूसरा समुदाय हो, वहाँ पित्त का प्रकोप है, इत्यादि। परन्तु ऐसी व्याख्या के विरुद्ध गम्भीर आपत्तियाँ हैं। क्योंकि, जैसाकि हम ऊपर दिखा चुके हैं, कई ऐसे स्थल आते हैं जहाँ इनदोषों का 'मल' और 'किट्ट' संज्ञा से वर्णन किया गया है, जो अपने प्राकृत मन में शरीर तंत्र को धारण करते हैं और उसका

स्थानगतस्य पित्तवत् प्रतीकारः)। 'प्रकोप' और 'प्रसार' के मध्य के अन्तर का डल्हण ने इस प्रकार वर्णन किया है : यथा जब घी को गरम किया जाता है तो वह थोड़ा चलायमान होता है; यह थोड़ा 'संचलन' प्रकोप है; परन्तु जब इसको निरन्तर और तेजी से इतना उबाला जाय कि फेन-मंडल से युक्त होकर बाहर निकलने लगे, तो उसे 'प्रसार' कहा जा सकता है (सुश्रुत संहिता १.२१. १४-३२)। जब पूर्व-रूप दिखाई देता है तो चौथा क्रियाकाल होता है और पाँचवा काल 'रूप' अथवा 'व्याधि' (रोग) काल का है (वही, ३८, ३९)।

[1] चरक संहिता, १. २०. ११।

निर्माण करते हैं तथा विषमावस्था में व्याधियां उत्पन्न करते हैं और अन्त में देह-भंग कर देते हैं। उपर्युक्त अर्थ द्वारा इन स्थलों की संतोषप्रद रूप से व्याख्या नहीं की जा सकती और फिर कई ऐसे स्थल हैं जिनमें पित्त और कफ का ऐसी पृथक् इकाइयों के रूप में वर्णन है जिनका विशेष रंग और पदार्थगत घनत्व है, और यह भी कहा जाता है कि शरीर में कुछ विशेष स्थान हैं जहां वे संचित होते हैं और यह असम्भव होगा यदि इस अर्थ को ग्रहण किया जाय कि वे वास्तविक इकाइयां न होकर काल्पनिक इकाइयां ही हैं जिनका विभिन्न लक्षणों के सामूहिक बोध के लिए सुविधा-जनक चिह्न होने के कारण केवल रीतिविधान सम्बन्धी महत्व ही है।[1]

दोषों में कुछ गुण-विशेषों को बताए जाने का कारण यह विश्वास है कि कार्य के गुण कारण के गुणों के कारण होते हैं। अतः हमारे शरीर के विभिन्न गुणों को कार्य मान लेने पर, कारणों को भी उन गुणों से युक्त माना गया जिन से कार्यों को वे गुण प्राप्त हुए। इस प्रकार, वात के गुणों के वर्णन के संदर्भ में चरक का कथन है कि रोक्ष्य गुण के कारण वात प्रधान प्रकृति वाले (वातल) पुरुषों के शरीर रूखे, कृश और छोटे होते हैं और ऐसे लोगों की ध्वनियाँ कर्कश, क्षीण, घरघराती, धीमी और

---

[1] दोषों की मलात्मकता ऐसे स्थलों द्वारा विशद रूप में प्रदर्शित की गई है जिनमें आहार सामग्री को पचाने के लिए वात, पित्त और श्लेष्मा के लिए आमाशय में कुछ स्थान की आवश्यकता मानी गई है; उदाहरणार्थ, 'एक पुनर्वातपित्त श्लेष्मणां (वही ३. २. ३), श्लेष्म हि स्निग्धश्लक्ष्णमृदुमधुरसारसान्द्रमन्दस्तिमितगुरुशीत विज्जलाच्छः (श्लेष्मा चिकनी, श्लक्ष्ण, मृदु, मधुर, सारमय, जड, सांद्र, भारी, शीत, पिच्छल और स्वच्छ होती है—वही ३. ८. १४. ७. ५); पित्तमुष्णं तीक्ष्णं द्रवं विस्त्रमम्लं कटुकं च (पित्त गर्म, तीखा, और द्रव, खट्टा और विस्न और कड़वा होता है—वही, ३. ८. १४. ७. ६) वातस्तुरूक्षलघुचलबहुशीघ्रशीतपरुषविशदः (वात रूखा, हलका, चल, बहुल, शीघ्र, शीत, कड़ा और विशद होता है।

—वही, ३. ८. १४. ७. ७।

कलकत्तावासी महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन ने दोषों को दो वर्गों में विभक्त करने का प्रयत्न किया है—अदृश्य (सूक्ष्म) और दृश्य (स्थूल)—सिद्धान्त निदान पृ० ६-११। परन्तु यद्यपि ऐसा अन्तर निस्सन्देह किया जा सकता है, फिर भी चिकित्सा साहित्य में ऐसा नहीं किया यगा है क्योंकि चिकित्सा के दृष्टि-कोण से ऐसा करना निरर्थक है, और यह हमें दोषों के वास्तविक स्वरूप को समझने में भी मदद नहीं देता। दोषों का स्वरूप और उनके कार्य उनकी सूक्ष्मता अथवा स्थूलता पर बिलकुल निर्भर नहीं करते, और न स्थूल दोषों को सदा सूक्ष्म दोषों का परिणाम ही माना जा सकता है।

टूटी-सी होती हैं और वे अच्छी तरह सो नहीं सकते (जागरूक); पुनश्च, वायु के लघुता के गुण के कारण वातल मनुष्य की चाल भी फुर्तीली और तेज होगी, और ऐसे ही आहार, भाषण आदि की उसकी सारी चेष्टाएँ होंगी। यह आसानी से देखा जा सकता है कि वायु के गुणों का शरीर के गुणों से सादृश्य औपचारिक ही है, फिर भी, क्योंकि किसी व्यक्ति के शरीर के विशेष गुण और लक्षण का कारण एक या दूसरा धातु माना जाता था, इसलिए इन लक्षणों को उनके औपचारिक सादृश्य से सम्बद्ध कर दिया गया।

दोषों के गुणों की गणना करने के सम्बन्ध में एक दूसरी बात ध्यान देने योग्य है। किसी दोष के प्रकोप का यह अर्थ होना आवश्यक नहीं है कि इसके सारे गुण पूरी शक्ति से प्रदर्शित कर दिए गए हों; यह संभव है कि दोष के एक अथवा अनेक गुणों का आधिक्य हो जाय और अन्य यथापूर्व ही रहें। इस प्रकार वायु को निम्न गुणों वाला बताया जाता है : रूक्ष, लघु, चल, बहु, शीघ्र, शीत, इत्यादि, और यह संभव है कि किसी विशेष दशा में 'शीत' गुण का आधिक्य हो जाय और अन्य अकुपित ही रहें, अथवा इसी प्रकार शीत और रूक्ष अथवा शीत, रूक्ष और लघु, इत्यादि हो। अतः चिकित्सक का यह कर्त्तव्य है कि वह न केवल यह ज्ञात करे कि कौन-से दोष की प्रबलता हो गई है अपितु यह भी परीक्षा करे कि कौन-से दोष के कौन-से गुण प्रबल हो गए हैं। दोषों के गुण परिवर्तनीय हैं अर्थात् यह संभव है कि एक प्रकुपित दोष दोष ही रहे और इस पर भी उसके कुछ गुणों की वृद्धि हो जाय और अन्यों का ह्रास। किसी दोष के प्रकोप का स्वरूप उस दोष से संबद्ध गुणों के प्रकोप के स्वरूप (अशांक विकल्प) के द्वारा निर्धारित किया जाता है।[1] ऐसे सिद्धान्त से स्वभावतः यह अनुमान होता है कि क्योंकि इस या उस गुण से युक्त इकाइयां दोष की संघटक-भाग होती है, इसलिए दोष को उसके सारे अंगों में समरूप पूर्ण इकाई नहीं माना जा सकता। इस मत के अनुसार दोष एक विशेष प्रकार का मल प्रतीत होता है जो विभिन्न गुणों वाले कई भिन्न-भिन्न मलों का मिश्रण है, परन्तु जो एकसी व्यवस्थाओं के अनुसार काम करते हैं। जब कोई दोष अपनी स्वस्थ अवस्था में होता है तो इसकी अंग रूप इकाइयां अपने और सम्पूर्ण दोष के एक निश्चित अनुपात में होती हैं। परन्तु, जब यह कुपित

---

[1] चरक संहिता २. १. १०. ४। इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है 'तत्र दोषाणामंशांशविकल्पो यथा वाते प्रकुपितेऽपि कदाचिद् वातस्य शीतांशो बलवान् भवति, कदाचिल्लघ्वंशः कदाचिद्रूक्षांशः कदाचिल्लघुरूक्षांशः।' जो दोष प्रधान रूप से शरीर में कुपित होते हैं उन्हें 'अनुबन्ध्य' कहा जाता है, और जो दोष व्याधि के समय मुख्यतः कुपित नहीं होते हैं उन्हें 'अनुबन्ध' कहा जाता है। जब तीन दोष संयुक्त रूप से कुपित होते हैं तो उसे संन्निपात कहते हैं, और जब दो दोष कुपित होते हैं तो उसे 'संसर्ग' कहते हैं। (वही, ३. ६. ११)।

हो जाता है तो उसके कुछ अंगभूत मल अनुचित मान में बढ़ सकते हैं जबकि अन्य प्राकृत अवस्था में ही रहें; यह अवश्य है कि सम्पूर्ण दोष का गुण प्रबल अथवा क्षीण हो जाय। अतः दोष, यथा कफ और पित्त, को समरूप प्रकृति के एक मल की अपेक्षा मलों का संग्रह मानना चाहिए। यह आसानी से देखा जायगा कि किसी दोष के विभिन्न अंगों की तुलनात्मक शक्तियों और अन्य दोषों के अन्य अंगों की सम्बद्ध शक्तियों और अनुदातों पर ध्यान देवें तो समुदायों की संख्या अगणित हो जाती है और ऐसे समुदायों से उत्पन्न रोग भी अगणित हैं। चरक के विवेचन की सम्पूर्ण प्रणाली इन विकारों के स्वरूपों को निश्चित करने पर निर्भर करती है, व्याधियों के नामों का उद्देश्य तो केवल एक विशेष प्रकार के अनेकों विकारों का सामूहिक नामकरण मात्र से है।[1]

वायु, पित्त और कफ के सृजनात्मक और नाशक कार्यों के विषय में जिस एक बात पर और ध्यान देना आवश्यक है वह यह है कि वे स्वतन्त्र हेतु हैं जो मनुष्य के कर्म के और मनुष्य के मन के साथ एक होकर कार्य करते हैं। वात, पित्त और कफ द्वारा धातु, रस, रक्त आदि के द्रव्यों पर किए जाने वाले व्यापार के रूप में मानसिक व्यापार और शारीरिक व्यापार एक दूसरे के समानान्तर चलते हैं; क्योंकि दोनों मानव कर्म का अनुसरण करते हैं, परन्तु उनमें से किसी का भी दूसरे के द्वारा निर्धारण नहीं किया जाता है, हालांकि उनकी परस्पर घनिष्ट अनुरूपता है। मनोभौतिक समरूपता का संकेत चरक की प्रणाली में सर्वत्र मिलता है। इसका नियमन करते हुए चरक कहते हैं: 'शरीरमपि सत्वमनुविधीयते सत्वं च शरीरम्' (मन शरीर के और शरीर मन के अनुरूप है)। इस सम्बन्ध में शायद यह याद हो कि 'धातुवैषम्य' अथवा 'अभिघात' (दुर्घटना, गिरना आदि से उत्पन्न शारीरिक घात) का मूल कारण मूर्खतापूर्ण कार्य (प्रज्ञापराध) है। पुनश्च, वात, पित्त और कफ न केवल भौतिक व्यापारों का सम्पादन करते हुए पाए जाते हैं अपितु विभिन्न प्रकार के बौद्धिक व्यापार भी करते हुए देखे जाते हैं। परन्तु सारे बौद्धिक व्यापार वस्तुत मानसिक होते हैं। वात, पित्त और कफ को बौद्धिक व्यापारों का कारण बताने का जो अर्थ लिया गया है वह एक प्रकार की मनो-भौतिक समरूपता है, जिसमें मन शरीर के अनुरूप है और शरीर मनस् के तथा दोनों कर्म के अनुरूप हैं।

शीर्ष और हृदय[2]

शरीर के मुख्यतम स्थान शीर्ष, हृदय और वस्ति हैं। प्राणों और सारी

---

[1] यद् वातारब्धत्वादिज्ञानमेव कारणं रोगाणां, चिकित्सायामुपकारि, नामज्ञानं तु व्यवहारमात्रप्रयोजनार्थम् (चरक संहिता १. १८. ५३ पर चक्रपाणि की टीका)।

[2] चरक संहिता में 'हृदय' के विभिन्न नाम ये हैं, महत्, अर्थ, हृदय (१. ३०. ३)।

ज्ञानेन्द्रियों को शीर्ष पर आश्रित (श्रिता) बताया है।[1] शीर्ष और मस्तिष्क का अन्तर अथर्ववेद काल जैसे प्राचीनकाल में भी ज्ञात था। इस प्रकार अ० वे० में शीर्ष शब्द का प्रयोग शिरा के अर्थ में हुआ है और उसी सूक्त के मंत्र ८ और २६ में 'मस्तिष्क' शब्द का प्रयोग दिमाग के अर्थ में किया है।[2] शिरोरोग का अ० वे० १. १२. ३ में 'शीर्षक्ति' संज्ञा से वर्णन किया गया है। मस्तिष्क-द्रव्य को चरक संहिता ८. ६. ४ में 'मस्तुलुंग' कहा है, उसी अध्याय में 'मस्तिष्क' शब्द का प्रयोग मस्तिष्क-द्रव्य के अर्थ में किया है (८. ६. ८०) जैसाकि चक्रपाणि द्वारा व्याख्या की गई है।[3] चरक ८. ६. ४ में से ऊपर उद्धृत अंश यह प्रदर्शित करता है कि कम से कम दृढ़बल के मत में शीर्ष इन्द्रियों और सारे इन्द्रिय एवं प्राण स्रोतों का स्थान है। इस अंश पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि यद्यपि इन्द्रिय-वह और प्राण-वह स्रोत शरीर के अन्य भागों से भी जाते हैं, फिर भी वे शीर्ष से विशेष रूप से सम्बद्ध हैं (शिरसि विशेषेण प्रबद्धानि), क्योंकि जब शिर पर कोई आघात होता है तो वे भी आहत होते हैं। चरक और दृढ़बल के अनुसार सारी इन्द्रियाँ और प्राण भी शिर से विशेष रूप में संबद्ध हैं, परन्तु हृदय को प्राणों का और मन का भी केन्द्र बिन्दु माना गया है, जैसाकि मैं बाद में बताऊंगा। चरक के समान ही प्राचीन भेल का मत है कि मस्तिष्क मन का स्थान है; जहाँ तक मेरा ज्ञान है यह मन संस्कृत-साहित्य में

---

[1] तथापि चक्रपाणि इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं 'श्रिता इव श्रिताः' अर्थात् वे मानों आश्रित हैं (१. १७. १२), क्योंकि जब शीर्ष आहत होता है तो सारी इन्द्रियां भी आहत होती हैं। चरक ६. २६. १ में ऐसा कहा गया है कि एक सौ सात मर्म स्थान है, और इनमें सबसे महत्वपूर्ण तीन स्थान शीर्ष, हृदय और वस्ति हैं। ८. ६. १६ में "हृदि मूर्ध्नि च वस्तौ च नृणां प्राणाः प्रतिष्ठिताः' ८. ६. ४ में स्पष्ट रूप से कहा है कि सारी इन्द्रियां, इन्द्रियवह और प्राणवह स्रोत शीर्ष पर उसी प्रकार आश्रित हैं जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य पर आश्रित हैं—शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रियप्राणवहानि च स्रोतांसिसूर्यमिवगभस्तयः संश्रितानि)।

[2] वह कौनसा देवता था जिसने उसके मस्तिष्क, मस्तक, शिर, पृष्ठ (ककाटिका) की (रचना) की, जिसने सबसे पहले कपाल रचा, किसने मनुष्य के जवड़ों में एकत्र करके स्वर्गारोहण किया (अ० वे० १०. २. ८)। 'अथर्वा ने शुद्धिकारक मस्तिष्क से ऊपर अपने शिर (मूर्धानम्) को और हृदय को भी एकसाथ सीकर (उनको) शिर के बाहर आगे कर दिया' (वही २६) (व्हिटनी का अनुवाद, हार्वड ओरियंटल सिरीज)।

[3] मस्तिष्कं शिरोमज्जा। चक्रपाणि, चरक संहिता का ८. ६. ८०। मस्तिष्क शब्द का कभी-कभी, यद्यपि विरल रूप में ही, शिर के अर्थ में प्रयोग होता है, जैसे चक्रपाणि द्वारा उद्धृत अंश ८. ६. ८० में—मस्तकेऽष्टांगुलं पट्टम्।

अद्वितीय है। उनका कथन है कि सारी इन्द्रियों में उत्कृष्ट मन का (सर्वेन्द्रियपरम्) स्थान शिर और तालु के बीच में है (शिरस्ताल्वन्तरगतम्)। वहां स्थित होने के कारण यह इन्द्रियों के सारे विषयों का (विषयान् इन्द्रियाणाम्), समीपस्थ रसों का (रसादिकान् समीपस्थान्) ज्ञान प्राप्त करता है। मन और सारी इन्द्रियों की शक्ति का मूल कारण तथा सारे भावों और बुद्धियों का कारण, चित्त हृदय में स्थित है। चित्त सारे गतिप्रद कार्यों और चेष्टाओं का भी कारण है, यहां तक कि जो शुभ चित्त से युक्त है वे सुपथ का अनुसरण करते हैं और जो अशुभ चित्त से युक्त हैं वे कुपथ का अनुसरण करते हैं। मन चित्त का ज्ञान प्राप्त करता है और उसके फलस्वरूप कार्य चुना जाता है; तत्पश्चात् बुद्धि आती है जो कार्याकार्य का निश्चय करती है। कुछ कार्यों को शुभ और अन्य कार्यों को अशुभ जानने का कार्य बुद्धि कहलाता है।[1] यह स्पष्ट है कि भेल मनस्, चित्त और बुद्धि को पृथक्-पृथक् मानते हैं। इनमें से मन चित्त से बिल्कुल भिन्न है और जहां तक भेल के अल्पवर्णन से कुछ पता लगाया जा सकता है, उसे सब प्रकार के ज्ञान का कारण और मस्तिष्क में अपना स्थान ग्रहण किए हुए माना जाता है। चित्त को सब क्रियाओं, भावों और निश्चयों का कारण और हृदय को चित्त का स्थान माना जाता था। संभवतः बुद्धि निर्धारक ज्ञान एवं निर्णय कहलाती थी जो केवल चित्त का कार्य था। भेल का कथन है कि मस्तिष्क के दोष मनस् को विकृत कर देते हैं, और इसके परिणामस्वरूप हृदय विकृत हो जाता है, और हृदय के विकार से बुद्धि विकृत होती है, और यह उन्मादकारी है।[2] एक अन्य स्थल में पित्त के विभिन्न कार्यों का वर्णन करते हुए भेल कहते हैं कि एक विशेष प्रकार का आलोचक पित्त होता है जिसे 'चक्षुवैशेषिक' कहते हैं, और जो मन का आत्मा से संपर्क स्थापित करके, बोध उत्पन्न करता है और उस बोध को चित्त तक पहुँचाकर उस निश्चयात्मक दृष्टि-ज्ञान को उत्पन्न करता है जिसके द्वारा आँख विभिन्न विषयों को ग्रहण करती है। तथापि निर्णायिका अवस्था भिन्न है और यह आलोचक पित्त के एक ऐसे विशेष प्रकार से उत्पन्न होती है जिस प्रकार को बुद्धि-वैशेषिक कहते हैं तथा

---

[1] शिरस्तल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः तत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान् कारणं सर्वबुद्धीनां चित्तं हृदयसंश्रितं क्रियाणां चेतरासां च चित्तं सर्वस्य कारणम्। भेल का 'उन्मादचिकित्सतम्' शीर्षक अध्याय।

—कलकत्ता विश्वविद्यालय संस्करण, पृ० १४९।

[2] ऊर्ध्वं प्रकुपिता दोषाः शिरस्ताल्वन्तरे स्थिताः
मानसं दूषयन्त्याशु ततश्चित्तं विपद्यते,
चित्ते व्यापदमापन्ने बुद्धिर्नाशं नियच्छति
ततस्तुबुद्धिव्यापत्तो कार्याकार्यं न बुध्यते
एवं प्रवर्तते व्याधिरुन्मादो नाम दारुणः। —वही, पृ० १४९।

जो भोहों के वीच में स्थित है और यहाँ स्थित होने वाले सूक्ष्म आकाशों को ग्रहण करते हैं (सूक्ष्मानर्थानात्मकृतान्), प्रस्तुत सामग्री को धारण करता है (धारयति); ऐसे ही अन्य ज्ञात तथ्यों का एकीकरण करता है (प्रत्यधारयति), भूत का स्मरण करता है, और वोधात्मक और निर्णयात्मक रूपों में हमारा ज्ञान उत्पन्न करके भविष्य में अनुभव करने के लिए इच्छा करता है; निदेशात्मक क्रियाओं को उत्पन्न करता है और वह शक्ति है जो ध्यान एवं धारणा में क्रियाशील होती है।[1]

सुश्रुत ने मस्तिष्क के वारे में कुछ भी महत्वपूर्ण वात नहीं कही है, परन्तु इसमें कुछ भी संदेह नहीं प्रतीत होता है कि उन्हें इस वात का ज्ञान था कि शिर की कौनसी शिरा किस इन्द्रिय व्यापार से सम्वद्ध है। इस प्रकार ३. ६. २८ में उनका कथन है कि कर्णपृष्ठ के अधोभाग में दो शिराएँ हैं जिन्हें 'विधुरा' कहते हैं और जिन्हें यदि काट दिया जाय तो वधिरता उत्पन्न हो जायगी; नासिका-छिद्रों के दोनों ओर नासिका के अन्दर की ओर 'फण' संज्ञक दो शिराएं हैं जो यदि कट जाएँ तो गंध का संवेदन नष्ट कर देंगी; भोहों के पृष्ठ भाग में आँखों के नीचे 'अपांग' संज्ञक दो शिराएँ हैं जिन्हें यदि काट दिया जाय तो अन्धता उत्पन्न होगी। ये सव वोध कराने वाली शिराएँ अपने मार्ग में भौंह के केन्द्र भाग (शृंगाटक) में मिलती हैं।[2] उनका आगे कथन है कि शिराएँ मस्तक में उसके ऊपरी भाग में मस्तिष्क से संवद्ध है (मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्ठात् शिरासंधिसन्निपात), और जिस स्थान को रोमावर्त कहते हैं वह सर्वोच्च अधिपति है। चरक का कथन है कि शिर इन्द्रियों का स्थान है। यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि इस कथन को उसने किसी गम्भीर अर्थ में लिया है अथवा उसका सीधा यही अर्थ है कि श्रवण, चक्षु, नासिका और रसना की इन्द्रियां शिर में स्थित हैं।

चरक का मत है कि हृदय ही चेतना का स्थान मात्र है।[3] शिर, ग्रीवा, हृदय, नाभि, गुदा, मूत्राशय, ओज, शुक्र, रक्त और मांस के प्राणों का स्थान बताया है।[4] तथापि १. १९. ३ में चरक नाभि और मांस को हटा देते हैं और उनके स्थान पर कनपटियों (शंख) को सम्मिलित करते हैं। इस स्थल में प्राण के वास्तविक अर्थ का निर्धारण कठिन है। परन्तु संभावना यही है कि इस शब्द का यहाँ पर प्रयोग सामान्य रूप में मर्म स्थानों को लक्षित करने के लिए किया गया है। १. ३०. ४

---

[1] भेल का 'पुरुष-निश्चय' अध्याय, पृ० ८१।

[2] घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासंतर्पणीनां शिराणां मध्ये शिरासन्निपातः शृंगाटकानि।
—सुश्रुत संहिता, ३. ६. २८।

[3] चरक संहिता ४. ७. ८, हृदयं चेतनाधिष्ठानमेकम्।

[4] वही, ९।

और ५ में चरक का कथन है कि सम्पूर्ण शरीर और उसके साथ-साथ 'आकृति' रूप में षडंग नाम से विख्यात दो हाथ, दो पैर, धड़ और सिर, विज्ञान, इन्द्रियाँ, इन्द्रिय-विषय, आत्मा, मन और चिन्त्य-विषय, ये सब हृदय में उसी प्रकार संश्रित हैं जिस प्रकार एक मकान खम्भों और शहतीरों पर टिका हुआ होता है।[1] जैसाकि चक्रपाणि ने व्याख्या की है, यह स्पष्ट है कि शरीर का हृदय में निवास नहीं हो सकता। अभिप्रेत अर्थ यह है कि जब हृदय बिल्कुल स्वस्थ होता है, तो शरीर भी स्वस्थ होता है। चरक का मत है कि मन और आत्मा हृदय में निवास करते हैं और इसी प्रकार बोध, हर्ष और दुःख भी हृदय में निवास करते हैं; परन्तु इस अर्थ में नहीं कि हृदय ही वह स्थान है, जहां वे निवास करते हैं, अपितु इस अर्थ में कि वे अपने उचित ढंग से कार्य करने के लिए हृदय पर आश्रित हैं; अगर हृदय में कोई विकार आता है तो वे भी विकृत हो जाते हैं; यदि हृदय ठीक रहता है तो वे भी ठीक ढंग से काम करते हैं। जिस प्रकार शहतीरें खम्भों पर आश्रित होती हैं; उसी प्रकार ये सब हृदय पर आश्रित हैं। परन्तु चक्रपाणि चरक के इस मत से सहमत प्रतीत नहीं होते, और उनका मत है कि क्योंकि हृदय प्रबल विचारों, हर्ष और दुःख द्वारा प्रभावित होता है इसलिए मन और आत्मा वस्तुतः हृदय में निवास करते हैं और इसी प्रकार हर्ष और दुःख भी हृदय में निवास करते हैं। विषयों के सारे ज्ञान का कारण और शरीर-तंत्र को धारण करने वाला आत्मा (धारिन्) हृदय में निवास करता है। इसी कारण से जब कोई मनुष्य हृदय में आहत होता है तो वह मूर्छित हो जाता है, और यदि हृदय फट जाता है तो वह मर जाता है। यह परम ओज का भी स्थान है।[2] हृदय को वह स्थान भी माना गया है जहां सारी चेतना केन्द्रित है (तत्र चैतन्यसंग्रहः) चरक का कथन है कि हृदय प्राण-वह स्रोतों का स्थान है प्राणवहानां स्रोतसां हृदयं मूलम् (३. ५. ६) और मानसिक क्रियाओं का भी स्थान है (२. ७. ३)। अपस्मार-निदान (२. ८. ४) में चरक का कथन है कि हृदय अन्तरात्मा का श्रेष्ठ स्थान है (अन्तरात्मनः श्रेष्ठमायतनम्)।

---

[1] चरक संहिता, १. ३०. ५।

[2] चक्रपाणि का कथन है कि यहाँ परम ओजस् का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि चरक अपरम् ओजस् नामक अन्य ओजस् को भी मानते थे। शरीर में अपरम् ओजस् की कुल मात्रा आधी अंजलि (अर्धांजलिपरिमाण) है, जबकि परम् ओजस् की कुल मात्रा हृदय में श्वेत-रक्त और किंचित् पीत द्रव की केवल आठ बूँदें ही हैं। हृदय की धमनियों में अपरम् ओजस् की मात्रा अर्धांजलि होती है, और 'प्रमेह' (मूत्र रोग) संज्ञक रोग में इसी ओज की हानि होती है, परन्तु इस ओज की हानि होने पर भी मनुष्य जीवित रह सकता है, जबकि 'परम् ओजस्' की लेशमात्र हानि से मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। 'ओजस्' को आठवीं धातु

यहाँ यह प्रदर्शित करना अनुपयुक्त नहीं होगा कि तैत्तिरीय उपनिषद् में ऐसा वर्णन है कि हृदय वह स्थान है जहाँ मनोमय पुरुष अर्थात् मनरूपी पुरुष, निवास करता है। अन्य कई उपनिषदों में हृदय को नाड़ियों का स्थान बताया है।[1] शंकर बृ० २. १. १९ की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि नाड़ियों अथवा शिराओं को 'हिता' कहा है, उनकी वृद्धि अन्न-रस से होती है, उनकी संख्या २,७२,००० है और वे हृदय से उद्भूत होकर सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई हैं (पुरीतत्)।[2] बुद्धि हृदय में निवास करती है और वहाँ से बाह्य इन्द्रियों को नियन्त्रित करती है। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, जाग्रत अवस्था में सुनने के समय बुद्धि इन नाड़ियों में से होकर कान तक जाती है और वहाँ से श्रोत्रेन्द्रिय को विस्तृत करती है और उसका आधिपत्य करती है। जब बुद्धि का इस प्रकार विस्तार होता है तो हम जाग्रत अवस्था को प्राप्त करते हैं और जब इसका संकोच होता है तो गाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) की अवस्था प्राप्त होती है।

रक्त परिवहन और नाड़ी संस्थान

ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर की दो प्रकार की नाड़ियों के 'शिरा' (हिरा) और 'धमनी' नामों का अथर्ववेद काल में भलीभाँति ज्ञान हो गया था।[3] बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णन है कि हृदय की 'हिता नाड़ियाँ' केश के हजारवें भाग के समान सूक्ष्म हैं और उन्हें श्वेत, रक्त, नीले और हरे द्रवों की वाहिनी बताया गया है; शंकर इस पर भाष्य करते हुए कहते हैं कि ये विभिन्न वर्ण नाड़ियों द्वारा वहन किए गए

नहीं मानना चाहिए, क्योंकि यह शरीर को केवल धारण करता है, परन्तु उसका पोषण नहीं करता। तथापि 'ओजस्' का प्रयोग कभी-कभी इसके अर्थ में भी होता है (चरक संहिता १. ३०. ६ पर चक्रपाणि की टीका) और भी देखिए वही, १. १७. ७४ और ७५ तथा चक्रपाणि की उस पर टीका। तथापि अथर्ववेद २.१७ में 'ओजस्' को आठवीं धातु माना गया है।

[1] देखिए बृ० २ १.१९, ४.२.२ और ३, ४.३.२०, ४.४.८ और ९, छान्दो० ८.६.६ कठ ४.१६, कौश ४.१९, मुंड २.२.६, मैत्री, बिब्लियोथेका इण्डिका १८७० ६.२१, ७.११ प्रश्न ३.६ और ७।

[2] पुरीतत् शब्द का अर्थ मुख्यतः हृदय का परिच्छद है परन्तु शंकर ने इसका अर्थ यहाँ सम्पूर्ण शरीर लिया है।

[3] शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत। अथर्ववेद ७. ३६. २। सायण ने 'हिरा' की व्याख्या 'गर्भधारणार्थमन्तरवस्थिताः सूक्ष्मा नाड्यः' की है। अथर्ववेद १.१७.१.२ में भी 'हिरा' और 'धमनी' में भेद किया प्रतीत होता है। १.१७.१ में हिराओं

वात, पित्त और श्लेष्मा के भिन्न-भिन्न मार्गों के कारण होते हैं।[1] उनका कथन है कि सूक्ष्म शरीर सारी नैसर्गिक इच्छाओं का आश्रय है और ये नाड़ियाँ इस सूक्ष्म शरीर के सत्रह तत्वों (पाँच भूत, दस इन्द्रियाँ, प्राण और अन्तःकरण) का अधिष्ठान हैं। बृहदारण्यक ४. २. ३ में यह कहा गया है कि हृदय सम्पुट में अन्न-रस का सूक्ष्मतम सार होता है; यही सार सूक्ष्मतम नाड़ियों में प्रवेश करके शरीर को धारण करने में सहायक होता है। यह नाड़ियों के जाल से परिवृत होता है। हृदय से यह अत्यन्त सूक्ष्म 'हिरा' नाड़ियों से होकर ऊर्ध्व गति करता है; ये हिराएँ हृदय से उद्भूत हैं। छान्दोग्य ८. ६. ६ में हृदय से निकलने वाली १०१ नाड़ियों का उल्लेख है। इनमें से एक शिर को जाती है।[2] मुण्ड २. २. ६ में यह कहा गया है कि पहिये के आरों के समान नाड़ियाँ हृदय से सम्बद्ध हैं। प्रश्न ३. ६ और ७ में फिर भी यह कहा है कि हृदय में एक सौ नाड़ियाँ हैं; इनमें से प्रत्येक की बाईस सौ शाखाएँ हैं और व्यान वायु इनमें संचरण करता है। मैत्र्युपनिषद् में शिर की ओर ऊपर को जाने वाली सुषुम्णा नाड़ी का वर्णन है, जिसमें से होकर प्राण का प्रवाह होता है।[3] इनमें से

को रक्त वस्त्र धारण करने वाली (रक्तवाससः) बताया है, जिसकी सायण ने 'लोहितस्य रुधिरस्य निवासभूता हि' (रक्त का निवास) भाष्य किया है और उसकी व्याख्या 'रजोवहननाड्यः' की है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि स्थूल वाहिनियों को धमनी कहा जाता था। १. १७. ३ में अथर्ववेद सैकड़ों धमनियों और सहस्रों हिराओं का वर्णन करता है।

[1] बृ० ४. ३.२० शांकरभाष्य सहित। आनन्दगिरि इस पर टीका करते हुए सुश्रुत का एक अंश उद्धृत करते हैं जो सुश्रुत संहिता ३. ७. १८ से वस्तुतः समानार्थक है, और यह प्रदर्शित करते हैं कि वात-वहा शिराएँ गुलाबी (अरुण) होती हैं, पित्तवहा शिराएँ नीली, रक्तवहाशिराएँ लाल और श्लेष्मवहा शिराएँ गौरवर्ण होती हैं।

अरुणाः शिरा वातवहा नीलाः पित्तवहा शिराः।
असृग्वहास्तु रौहिण्यो गौर्यः श्लेष्मवहाः शिराः॥

[2] इस अंश को उत्तरकालीन साहित्य में यह प्रदर्शित करने के लिए कभी-कभी उद्धृत किया जाता है कि ऊपर की ओर शिर को जाने वाली सुषुम्णा नाड़ी का ज्ञान छान्दोग्य उपनिषद् काल में भी था। कठ ६. १६ भी देखिए।

[3] ऊर्ध्वगा नाड़ी सुषुम्णाख्या प्राणसंचारिणी। मैत्री ६. २१। सायण अ० वे० १. १७. ३ पर अपने भाष्य में निम्न श्लोक को उद्धृत करते हैं:—

मध्यस्थायाः सुषुम्णायाः पूर्वपंचकसम्भवाः
शाखोपशाखतां प्राप्ताः शिरा लक्षत्रयात्परम्
अर्धलक्षमिति प्राहुः शरीरार्थविचारकाः।

कोई अंश भी हमें नाड़ियों के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं बताते हैं। इन अंशों से जो कुछ ज्ञात होता है वह यह है कि ये नाड़ियां किसी न किसी प्रकार की वाहिनियां हैं जिनसे होकर रुधिर और अन्य मल प्रवाहित होते हैं, और इनमें से कई अत्यन्त सूक्ष्म हैं, यहां तक कि वे चौड़ाई में केश के हजारवें भाग के बराबर हैं। ऋग्वेद ८. १. ३३ में नड, अर्थात् खोखली बेंत, को तालाबों में उत्पन्न होने वाला और अथर्ववेद ४. १९. १ में 'वार्षिक' अर्थात् वर्षा में उत्पन्न होने वाला बताया गया है। इस शब्द का नाड़ी से कोई व्युत्पत्तिगत सम्बन्ध हो।[१] अन्य स्थल पर ऐसा कहा है कि स्त्रियाँ नड़ को पत्थर से तोड़कर उनकी चटाई बनाती हैं।[२] अथर्ववेद में 'नाड़ी' शब्द का प्रयोग 'स्रोत'[३] के अर्थ में भी किया गया है। अथर्ववेद ५. १८. ८ में नाड़िका का वागिन्द्रिय द्योतक अर्थ में प्रयोग हुआ है। धमनी शब्द का प्रयोग ऋग्वेद २. ११. ८ में किया गया है और सायण ने इसकी व्याख्या 'शब्द' तथा मैकडानेल ने 'नरकट' अथवा 'नलिका' की है।[४] यदि सायण की व्याख्या स्वीकार कर

---

[१] मैक्डॉल अपने Vedic Index; Vol. I पृ० ४३३ में निम्न टिप्पणी करते हैं: 'नड ऋग्वेद के अनेकों स्थलों में दृष्टिगत होता है (१.३२.८; १७९.४; २.३४.३; ८.६९.२; १०.११.२; १०५. ४) परन्तु इसका अर्थ अभी तक अस्पष्ट है। पिशेल ने (Zeitschrift der Deutschen Morgentandinches Gesellschaft ३५.७१७ इत्यादि; Vedische Studien I. १८३ इत्यादि) एक स्थल (१.३२.८) में व्याख्या करते हुए, इसको और नड को एक ही बताया है। यहां कर्लां और हेनरी L'Agnistoma पृ० ३१३, नलम् पाठ करते हैं। और भी देखिए Wackernagel (वाकेर नागेल) Altindische Grammatik I. १७३, इसमें नड का अर्थ नरकट की नाव है, जो चिरी हुई है और जिसके ऊपर पानी गमन करता है, इत्यादि।'

[२] यथा नडं कशिपुने स्त्रियां भिन्दन्त्यश्मना (अथर्ववेद ६. १३८. ५)।

[३] अथर्ववेद ६. १३. ८. ४ में नाड़ियों का अण्डकोष के ऊपर के स्रोतों के अर्थ में वर्णन किया गया है जिनमें शुक्र बहता है: ये ते नाड्यौ देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्ण्यं ते ते भिनद्मि (मैं पत्थर पर पत्थर से तुम्हारी वे दो देवनिर्मित अण्टकोष के ऊपर की नाड़ियां तोड़ता हूँ जिनमें से होकर तुम्हारा वीर्य बहता है)। १०.. ७. १५ और १६ में समुद्रों के अवकाश को नाड़ी कहा गया है (समुद्रो यस्य नाड्यः) और इसी प्रकार आकाश के चतुर्दिक के मध्य के स्थान को भी नाड़ी कहा है (यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यः)।

[४] 'ऋग्वेद के एक अंश २. ११. ८ और निरुक्त ६. २४ की एक उक्ति में 'धमनी' नरकट, नली के द्योतक अर्थ में दृष्टिगत होता है। Vedic Index Vol. I

ली जाय, तो अ० वे० २. ३३. ६ में आये 'स्नाव' शब्द का अर्थ सूक्ष्म शिराएँ और धमनी का अर्थ स्थूल वाहिनियां (धमनी शब्देन स्थूलाः) होगा। ६. १०. ५ में कहा गया है कि शूल से पीड़ित मनुष्य के शरीर को एक सौ धमनियां घेरे हुए हैं, और सायण यहाँ धमनी की व्याख्या 'नाड़ी' करते हैं। छान्दोग्य ३. १९. २ में कहा है कि धमनियां नदियां हैं (या धमन्यस्ता नद्यः) और शंकर धमनी की व्याख्या शिरा से करते हैं। अथर्ववेद में हिरा शब्द के प्रयोग का मैं पहले ही उल्लेख कर चुका हूँ; यह शब्द ऋग्वेद में भी प्रयुक्त हुआ है।[1]

उपर्युक्त सन्दर्भ यह प्रदर्शित करते हैं कि नाड़ियां, शिराएँ (अथवा हिराएँ) और धमनियां सब शरीर के अन्दर वाहिनियां थी, परन्तु कभी-कभी नाड़ियों अथवा शिराओं का विशेष अर्थ सूक्ष्मवाहिनियाँ भी होता था, जबकि धमनियां स्थूल वाहिनियां थी। अब मैं चरक पर आता हूँ; यह ज्ञात हो जाएगा कि इनके अन्तर और कार्यों के महत्व के सम्यक् बोध में कोई अधिक प्रगति नहीं हुई।

चरक धमनियों, शिराओं और वाहिनियों (स्रावक धाराएँ) को नाड़ियां मानते हैं और उनका मत है कि इनके भिन्न-भिन्न कार्यों के कारण इन्हें भिन्न-भिन्न नाम दिए गए हैं। उनका कथन है कि दस धमनियों का मूल हृदय में है। ये सारे शरीर में ओज को प्रवाहित करती हैं, जिसके द्वारा मनुष्य जीवित रहते हैं और जिसके अभाव में वे सब मर जाते हैं। यही वह सारतत्व है जिससे गर्भ का निर्माण होता है, और जो बाद में हृदय में चला जाता है, जब हृदय की रचना हो जाती है; जब इसका लोप हो जाता है, तो जीवन का भी अस्तित्व समाप्त हो जाता है; यह शरीर का सार है और प्राणों का स्थान है। इन वाहिनियों को धमनियां कहते हैं क्योंकि वे बाह्य रस से पूरित होती हैं; उन्हें स्रोत कहा जाता है क्योंकि रस इत्यादि जो शरीर का पोषण करते हैं इनमें से बहते (स्रवणात्) हैं, और उन्हें शिरा कहते हैं क्योंकि वे शरीर के विभिन्न भागों को जाती हैं (सरणात् शिराः)।[2] दस धमनियां सारे शरीर में नानाविध शाखाओं में फैली हुई हैं। चरक संहिता में स्रोत का वास्तविक अर्थ उस मार्ग से है जिससे धातुओं के क्रमिक रूप में विकासमान पदार्थ अथवा अन्य प्रकार के स्राव बहते हैं और अपने सदृश तत्वों से मिलकर जमा हो जाते हैं।[3] चक्रपाणि इसकी व्याख्या ऐसे करते हैं: अन्न की रस से सम्बद्ध होकर रक्त में

पृ० ३९०। 'शिरा' चरक में तालव्य 'श' से प्रयुक्त है और वेदों में दन्त्य 'स' से, अतः इस अध्याय में इसका प्रयोग अलग-अलग संदर्भ में अलग रूप में किया है।

[1] त्वं वृत्तमाशयानं शिरासु महो वज्रेण सिष्वपः—ऋ० वे० १. १२१. ११। चरक में धमनी शब्द 'ई' कार युक्त है और अथर्ववेद में इकार युक्त।

[2] ध्मानाद् धमन्यः स्रवणात् स्रोतांसि, सरणात् शिराः। चरक संहिता १.३०.११।

[3] वही, ३. ५. ३।

परिणति होती है। शरीर के एक पृथक् भाग में रस का रक्त से मिलन स्रोत संज्ञक संवाहन मार्ग के बिना नहीं हो सकता। अतः धातुओं का रूपान्तरण इस संवाहन पथ के कार्य के माध्यम से होता है। इसलिए प्रत्येक प्रकार के परिणत पदार्थ के लिए एक पृथक् 'स्रोत' है। ऐसा कहा जा सकता है कि वायु, पित्त और कफ सब स्रोतों से संचरण कर ते हैं, यद्यपि निस्सन्देह तीनों में से प्रत्येक के लिए विशेष मार्ग हैं।[1] गंगाधर तो स्रोत का अर्थ उन द्वारों से लेते हैं जिनसे धातु और अन्य किट्ट प्रवाहित होते हैं।[2] किसी भी प्रकार से देखा जाए, स्रोत धमनियों की वाहिका के अतिरिक्त कुछ नहीं है। चरक उन लोगों के मत का विरोध करते हैं जिनका यह विचार है कि शरीर वाहिनियों के समूह के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसका सीधा सादा कारण यह है कि जो पदार्थ इन वाहिनियों में से संचरण करते हैं और शरीर के जिन भागों में वे पदार्थ जुड़े हुए हैं वे निश्चित रूप में स्वयं वाहिनियों से पृथक् हैं। प्राण, जल, अन्न-रस, रक्त, मांस, भेद, अस्थिमय पदार्थ, मज्जा, शुक्र, मूत्र, पुरीष और स्वेद इनके स्राव के लिए पृथक्-पृथक् स्रोत हैं, तथापि वात, पित्त और श्लेष्मा सारे शरीर और सारी नाड़ियों में से होकर प्रवाहित होते हैं (सर्व स्रोतांसि अयन-भूतानि)। शरीर के अतीन्द्रिय तत्वों, यथा मन इत्यादि, के लिए सामग्री जुटाने के लिए सम्पूर्ण जीवमान शरीर स्रोत का काम करता है।[3] हृदय समस्त प्राणवह स्रोतों अर्थात् प्राण वायु के भागों का मूल है, क्योंकि सामान्यतः वायु शरीर के सारे भागों में विचरण करता है। जब ये दूषित होते हैं तो या तो अत्यधिक या अत्यल्प श्वसन होता है, श्वसन अति मन्द अथवा अतितीव्र हो सकता है और इसके साथ शब्द और

---

[1] दोषाणां तु सर्वशरीरचरत्वेन यथास्थूलस्रोतोऽभिधानेऽपि सर्वस्रोतांस्येव गमनार्थं वक्ष्यन्ते......वातादीनामपि प्रधानभूता धमन्यः सन्त्येव-चक्रपाणि की उसी पर टीका।

[2] आहारपरिमाणरसो हि स्रोतसां छिद्ररूपं पन्थानं विना गन्तुं न शक्नोति, न च स्रोतश्छिद्रपथेन गमनं विना तदुरोत्तरधातुत्वेन परिणमति, इत्यादि। उपर्युक्त पर गंगाधर कृत जल्पकल्पतरु।

[3] इस अंश (चरक संहिता ३. ५. ७) तद्वदतीन्द्रियाणां पुनः सत्वादीनां केवलं चेतनावच्चरितमयनभूतमधिष्ठानभूतं च पर टीका करते हुए गंगाधर का कथन है : मन आत्मा श्रोत्रस्पर्शननयनरसनघ्राणबुद्ध्यहंकारादीनां केवलं चेतनावत् सजीवं शरीरं स्रोतोऽयनभूतमधिष्ठानभूतं च। चरक में ऐसे कई स्थल हैं जहां हमें मनोवह स्रोतों (मन को ले जाने वाले पथ) का ज्ञान होता है ; यदि मन, बुद्धि, अहंकार आदि सब स्रोतों में वहन किए जा सकते हैं, तो यह मानना पड़ेगा कि उनका कोई भौतिक दैहिक अस्तित्व है। ये मन, बुद्धि और अहंकार अतीन्द्रिय हो सकते हैं, परन्तु इस कारण से ये अभौतिक नहीं हो सकते।

पीड़ा होती है। इन लक्षणों से कोई भी अनुमान लगा सकता है कि प्राण-मार्गों में विकार आ गया है। जल मार्गों का मूल तालु है और पिपासा का स्थान हृदय (क्लोम) है।[1] जब ये दूषित होते हैं तो जिह्वा, तालु, ओष्ठ, कण्ठ और क्लोम सूख जाते हैं और बड़ी प्यास लगती है। सारे आहारवह स्रोतों का मूल आमाशय है और जब ये दूषित होते हैं तो भोजन के प्रति अरुचि, अजीर्ण, वमन आदि होते हैं। रसवह स्रोतों का हृदय मूल है और दस धमनियां मार्ग हैं। यकृत और प्लीहा रक्तस्रोतों के मूल हैं। स्नायु और त्वचा मांसवह स्रोतों के मूल हैं। वृक्क मेदवह स्रोतों के मूल हैं, मेद और वस्ति अस्थिवह स्रोतों के; अस्थि और सन्धियां मज्जावह स्रोतों के; अण्डकोष और शिश्न शुक्र वहस्रोतों के, मूत्राशय और वक्षण मूत्रवह स्रोतों के, पक्वाशय और मलाशय पुरीषवाही स्रोतों के और मेद और रोमकूप स्वेदवह स्रोतों के मूल हैं।[2] तथापि यह एक विलक्षण बात देखने में आती है कि शिराओं और धमनियों को पर्यायवाची मानने के उपरान्त भी, उनकी संख्या ८. ७. १३ में अलग-अलग दी गई है, जिसमें यह कहा गया है कि दो सौ धमनियां हैं और सात सौ शिराएँ हैं और इनके सूक्ष्मतर सिरों की संख्या २९९५६ है। अथर्ववेद में उपलब्ध संकेतों के अनुसार ऐसा सोचना युक्तिसंगत है कि यद्यपि चरक द्वारा धमनियों और शिराओं को सदृश कर्म वाला माना गया है, फिर भी धमनियां शिराओं की अपेक्षा स्थूलतर हैं।[3] गंगाधर इस अंश पर टीका करते हुए कहते हैं कि शिराएँ, धमनियां और स्रोत इस कारण भिन्न-भिन्न है कि उनकी संख्या भिन्न-भिन्न हैं, उनके कार्य भिन्न-भिन्न हैं और उनके रूप भिन्न हैं। सुविदित है कि सुश्रुत ने शिरा और धमनियों का भेद किया है, जिसका मैं यहां उल्लेख करूँगा परन्तु चरक ने ऐसे विभेद को स्पष्ट रूप से अस्वीकार किया है, और यह भेद चरक के टीकाकार चक्रपाणि ने भी स्वीकार किया है।[4]

---

[1] चरक संहिता ३. ५. १०। चक्रपाणि ने इसकी (क्लोम की) व्याख्या इस प्रकार की है 'हृदयस्थ पिपासास्थानम्,' और गंगाधर ने इसे कण्ठ और हृदय का संधिस्थल (कण्ठोरसोः संधिः) बताया है।

[2] चरक द्वारा दिए गए 'स्रोतस्' के पर्यायवाची हैं—शिरा, धमनी, रस वाहिनी, नाड़ी, पन्था, मार्ग, शरीर छिद्र, संवृतासंवृतानि (मूल में खुला हुआ परन्तु अन्त में वन्द स्थान) आशय और निकेत।

[3] दृढ़वल का एक ऐसा स्थल (चरक संहिता ६. २९. २३) है जिससे प्रतीत होता है कि शिराओं और धमनियों में भेद किया गया है, क्योंकि वहां रोग के लक्षण के रूप में यह कहा गया है कि शिराएँ विस्तृत (आयाम) हो गई हैं और धमनियां अवछिन्ह (संकोच) गई हैं।

[4] न च चरके सुश्रुत इव धमनीशिरास्रोतसां भेदो विवक्षितः (चरक ३. ५. ३ कृत टीका)।

गंगाधर चरक का कोई भी ऐसा स्थल प्रदर्शित करने में असमर्थ है जिससे वह अपने मत को सिद्ध कर सके या अधिक स्पष्ट रूप से यह बता सके कि धमनियों और शिराओं के कार्यों और रूपों में क्या अन्तर है। वास्तव में गंगाधर का कथन सुश्रुत ३. ६. ३ से लिया गया है परन्तु ऐसा उसने स्वीकार नहीं किया है, और यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि उसको इस बात पर चरक और सुश्रुत के मतों के बीच का अन्तर ज्ञात न हो और चरक के पक्ष की सुश्रुत के उद्धरण से उसी बात पर पुष्टि करे जिस पर उन दोनों का यथार्थ रूप में मतभेद हैं। सुश्रुत चरक के इस मत का उल्लेख करते हैं कि शिरा, स्रोत और धमनियां एक ही हैं और यह कह कर इसका विरोध करते हैं कि वे रूप, संख्या और कार्यों के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं। इसकी व्याख्या करते हुए डल्हण का कथन है कि शिराएँ वात, पित्त, श्लेष्मा, रक्त इत्यादि का वहन करती हैं और गुलाबी, नीली, श्वेत और लाल होती है, जबकि धमनियां शब्द इत्यादि इन्द्रिय रूपों का वहन करती हैं और उनका भेदकारक वर्णन नहीं है, और स्रोतों का वही वर्ण होता है जिस वर्ण की धातु को वे अपने में वहन करते हैं। पुनः मुख्य शिराएँ संख्या में चालीस हैं, मुख्य धमनियां चौबीस है और मुख्य स्रोतों की संख्या बाईस है। शिराएं हमें हमारे अंगों का सकोच अथवा विस्तार करने देती हैं अथवा *अन्य गतिप्रद कार्य करने देती हैं, और वे मन और इन्द्रियों को अपने खुद के ढंग से* कार्य करने देती हैं तथा जब वायु उनमें क्रियाशील होता है तो शीघ्रता से चलने के कार्य (प्रस्यन्दन) के सम्पादन में भी सहायक होती हैं। जब पित्त का शिराओं में वहन होता है तो वे दीप्तिमान प्रतीत होती हैं, आहार में रुचि उत्पन्न करती हैं, जठराग्नि को और आरोग्य को बढ़ाती हैं। जब श्लेष्मा उनमें से प्रवाहित होती है, तो वे शरीर को स्निग्ध आभा, संधियों को दृढ़ता और शक्ति प्रदान करती हैं। जब उनमें से रक्त का संचार होता है तो वे रंगीन हो जाती हैं और भिन्न-भिन्न धातुओं से पूरित भी हो जाती हैं और स्पर्श का इन्द्रिय-बोध भी उत्पन्न करती हैं। वायु, पित्त, श्लेष्मा और रक्त इनमें से कोई भी, किसी भी, और प्रत्येक शिरा में प्रवाहित हो सकता है।[1] धमनियां ज्ञानवहा नाड़ियों के अधिक समान हैं क्योंकि वे शब्द, रूप, रस और गन्ध की संवेदना का वहन करती हैं (शब्दरूपरसगन्धवहत्वादिकं धमतीनाम्)। स्रोत प्राण, भोजन, उदक, रस, रक्त, मांस और भेद का वहन करते हैं।[2] यद्यपि उनके कार्य वास्तव में पृथक्-पृथक् हैं फिर भी कभी-कभी ऐसा माना गया है कि वे एक सा ही कार्य करती है, इसका कारण है उनकी परस्पर अत्यधिक निकटता, उनके सदृशकार्य, उनकी सूक्ष्मता, और यह तथ्य भी कि आप्त पुरुषों ने उनके लिए समान शब्दों का प्रयोग किया है।[3] इसकी व्याख्या करते हुए डल्हण का कथन है कि जिस

[1] सुश्रुत संहिता ३. ७. ८-१७।

[2] डल्हण की सुश्रुत। ३. ६. ३ पर टीका।

[3] वही।

प्रकार घास के गट्ठर के जलने के समय घास के प्रत्येक पृथक् पत्ते का उनकी निकटता के कारण पृथक् रूप में जलना देखा नहीं जा सकता, उसी प्रकार शिरा, धमनियां और स्रोत एक दूसरे के इतने निकट स्थित हैं कि उनकी पृथक् क्रिया और कर्म को देखना अत्यन्त कठिन है। शिरा, धमनी और स्रोत शरीर की वाहिनियों अथवा नाड़ियों के द्योतक सामान्य नाम हैं।[1] इन सब नाड़ियों के सदृश कर्म के कारण ही कभी-कभी उनके कार्यों के विषय में भ्रम हो जाता है।

धमनियों का मूल नाभि है; दस शरीर के ऊर्ध्व भाग को जाती हैं, दस अधो-भाग को और चार आड़ी (तिर्यग्गा)। जो दस शरीर के ऊर्ध्व भाग को जाती हैं, वे शाखाओं में विभक्त होकर तीन वर्गों में बँट जाती हैं और उनकी संख्या तीस है। इनमें से दस सर्वथा वात, पित्त, कफ, शोणित और रस का—प्रत्येक के लिए दो-दो—वहन करती है, आठ शब्द, रूप, रस और गन्ध का—प्रत्येक के लिए दो-दो—वहन करती है, दो वाक् इन्द्रिय के लिए, दो वाणी से भिन्न घोष उत्पन्न करने के लिए, दो निद्रा के लिए, दो जागृति के लिए, दो अश्रुओं को धारण करने के लिए, दो स्त्रियों में दुग्ध को प्रवाहित करने के लिए हैं और यही दो धमनियां मनुष्यों में शुक्र को प्रवाहित करने के लिए हैं। इन धमनियों के द्वारा ही नाभि के ऊपर का शरीर (यथा पार्श्व, पृष्ठ, वक्ष, कंधे, हाथ इत्यादि) अधोभाग से दृढ़ता से सम्बद्ध रहता है। वात आदि का वहन समस्त धमनियों का सामान्य गुण हैं।

जो धमनियां अधोभाग में शाखाओं में बँट जाती हैं उनकी संख्या तीस है। वे वात, मूत्र, मल, शुक्र, आर्तव, इत्यादि का नीचे की ओर उत्सर्ग करती हैं। वे पित्ताशय से सम्बद्ध है, आत्मसात् करने के अयोग्य पदार्थों को नीचे की ओर ले जाती हैं और पाचन से उत्पन्न विलेय पदार्थों से शरीर को पुष्ट करती है। ज्यों ही भोजन उष्णता से पच जाता है, पित्ताशय से जुड़ी हुई धमनियां अन्न रस को ऊपरी प्रवाहिका धमनियों में पहुँचा देती हैं, उनमें से उसे 'रसस्थान' संज्ञक हृदय में पहुँचाती हैं, और तब उस अन्न-रस को सम्पूर्ण शरीर में वाहित करती हैं।[2] दस धमनियां वात,

---

[1] इस प्रकार डल्हण का कथन है :

आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम्
शिराः स्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यः।

[2] सुश्रुत शारीर अध्याय ६, श्लोक ७ और ८। इस पर डल्हण की टीका भी देखिए। शरीर में अन्न-रस-वाहिनी कुछ धमनियों के छिद्र कमल तन्तुओं के समान सूक्ष्म होते हैं और उनसे स्थूलतर कुछ धमनियों के छिद्र बिस के छिद्र के बराबर होते हैं। इस प्रकार कुछ धमनियों के अति सूक्ष्म छिद्र होते हैं और अन्यों के उनसे स्थूलतर छिद्र होते है—

पित्त, शोणित, कफ और रस का वहन करती है, पक्वाशय से सम्बद्ध दो धमनियाँ अन्नरस का वहन करती हैं, दो जल का वहन करती हैं, दो मूत्र के वहन के लिए मूत्राशय से सम्बद्ध हैं, दो शुक्र के प्रादुर्भाव के लिए, दो शुक्र के विसर्ग के लिए और यही दो स्त्रियों के आर्तव-शोणित का नियमन करती है, स्थूलान्त्र से सम्बद्ध दो पुरीष का निरसन करती है, अन्य आठ स्वेद का वहन करती हैं। इन्हीं धमनियों के कारण ही पक्वाशय, कटि, मूत्र, पुरीष, गुदा, मूत्राशय और शिश्न एक दूसरे से जुड़े रहते हैं।

आड़ी जाने वाली (तिर्यग्गा) चार धमनियों में से प्रत्येक की सैकड़ों और हजारों शाखाएँ है, ये शाखाएँ असंख्य होने के कारण, सारे शरीर में अनेकों खिड़कियों के समान फैली हुई हैं, उनके द्वार रोम कूपों पर स्थित हैं जिनमें से स्वेद निकलता है और जो रस द्वारा शरीर का पोषण करती हैं, और इनमें से होकर शरीर पर 'भ्राजक' (त्वचा की ऊष्मा) का कार्य होने के पश्चात् तैल, जल के अभिषेचन, अभ्यंग आदि का वीर्य शरीर में प्रवेश करता है।[1] पुनः इन्हीं के द्वारा ही स्पर्श का सुखमय अथवा पीड़ामय इन्द्रियबोध होता है।[2] धमनियां इन्द्रिय-विषयों के बोध के लिए इन्द्रियों का निर्देशन करती हैं। वही बोधकर्त्ता (मन्तृ) है और मन इन्द्रियां है, एक ओर जो धमनी मन से संबद्ध है और दूसरी ओर जो धमनिएं भिन्न-भिन्न इन्द्रियों बोधों को वहन करती हैं, वे दोनों इन्द्रिय सामग्री का आत्मा को बोध कराती हैं।[3] बोधकारी और चेष्टाकारी विभिन्न धमनियों के और आगे नाम सुश्रुत ३. ६. २८ में दिए गए हैं। कर्ण-पृष्ठ के अधोभाग में विधुरा नामक दो धमनियां हैं जिनके आहत होने पर बाधिर्य उत्पन्न होता है, नासिका के अन्दर के भाग में फण नामक दो धमनियाँ हैं, जिनके

यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु बिसेषु च
धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते ॥ —वही अ० ६ श्लो० १०।

[1] सुश्रुत, शारीर अध्याय ६ श्लोक० ७ और ८ देखिए इस पर डल्हण की टीका।

[2] सुश्रुत ३. ६. ६ में इस स्थल पर टीका करते हुए डल्हण कहते हैं 'तैरेव मनोऽनुगतैः सुखासुखरूपं स्पर्शं कर्मात्मा गृह्णाति।' (मन से सम्बद्ध होने के फलस्वरूप, इन्हीं धमनियों के द्वारा सूक्ष्म शरीर से युक्त आत्मा स्पर्श के सुखासुख रूपों को ग्रहण करता है।

[3] पंचाभिभूतास्त्वथ पंचकृत्वः
पंचेन्द्रियं पंचसु भावयन्ति
पंचेन्द्रियं पंचसु भावयित्वा
पंचत्वमायान्ति विनाशकाले। —सुश्रुत, ३. ६. ११।

उपर्युक्त पर टीका करते हुए डल्हण कहते हैं : 'मन्ता हि शरीरे एक एव, मनो प्येकमेव, तेन मनसा यैव धमनी शब्दादिवहासु धमनीष्वभिप्रपन्ना सैव धमनी स्वधर्मं ग्राहयति मन्तारं नान्येति।'

आहत होने पर घ्राण की संवेदना रुक जाती है। आंखों के दोनों पार्श्वों पर भौहों के नीचे 'अपांग' नामक दो धमनियां हैं जिनके आघात होने पर अन्धता उत्पन्न होती है, भौहों के ऊपर और नीचे की ओर 'आवर्त' नामक दो धमनियां और भी हैं, जिनके आहत होने पर भी अन्धता उत्पन्न होती है। इस सम्बन्ध में, मस्तिष्क के ऊर्ध्व भाग पर कपाल में जिस स्थान पर सारी शिरायें आपस में मिलती हैं सुश्रुत ने उस स्थान का भी वर्णन किया है और उसे अधीशक रूप में 'अधिपति' की संज्ञा दी है।

शिराओं (संख्या ७००) का वर्णन करते हुए सुश्रुत कहते हैं कि वे अनेकों कुल्याओं के समान हैं जो शरीर को सींचती है और जिनके संकोच और आयाम के कारण शरीर की चेष्टाएं सम्भव होती है। वे नाभि से प्रारम्भ होती है और पत्ते के अनेकों तन्तुओं के समान विभक्त हो जाती हैं। मुख्य शिराएं संख्या में चालीस हैं, इनमें से दस वात के, दस पित्त के, दस कफ के और दस रक्त के परिवहन के लिए हैं। वातवाहिनी शिराएं फिर १७५ शिराओं में विभक्त हो जाती हैं और ऐसा ही विभाजन पित्त, कफ और रक्त वाहिनी शिराओं का भी है। इस प्रकार कुल ७०० शिराएं हमें उपलब्ध होती हैं। जब वात सम्यक् रूप से शिराओं में प्रवाहित होता है तो बिना किसी अवरोध के हमारे अंगों की चेष्टाएं और हमारे बौद्धिक कार्य सम्भव होते हैं। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि कुछ शिराओं को मुख्यतः वात, पित्त और कफ को वहन करने वाली ही माना गया है, फिर भी वे सब कम से कम कुछ अंशों तक इन तीनों का वहन भी करती हैं।[1]

स्नायु ९०० हैं, और इनमें भी छिद्र होते हैं (सुषिराः), और ये स्नायु तथा कण्डराएं भी जो केवल विशिष्ट प्रकार के स्नायु हैं, शरीर की संधियों को उसी प्रकार बांधने का कार्य करती हैं जिस प्रकार नाव में तख्तों के कई टुकड़े आपस में जुड़े रहते हैं। सुश्रुत ने पांच सौ पेशियों का भी वर्णन किया है। मर्म मांस, शिराओं, स्नायुओं और अस्थियों के प्राणभूत स्थान हैं जो विशिष्ट रूप से प्राणों के स्थान हैं। जब मनुष्य इन स्थानों पर आहत होते हैं तो या तो वे अपने प्राण गंवा देते हैं या उनमें अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। सुश्रुत ने स्रोतों का भी वर्णन उन नाड़ियों के रूप में किया है जो शिराओं और धमनियों से पृथक् हैं और जो हृदय विवर से प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण शरीर में फैल गई है।[2] ये स्रोत प्राण, अन्नरस, उदक, रक्त, मांस, मेद, मूत्र, पुरीष, शुक्र और आर्तव का वहन करते हैं।

---

[1] न हि वातं शिराः काश्चिन्न पित्तं केवलं तथा।
श्लेष्माणं या वहन्त्येताः अतः सर्ववहाः स्मृताः ॥ —सुश्रुत, ३. ७. १६।

[2] सुश्रुत, शारीर, अध्याय ९ श्लोक १३।

मूलात्खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं शिराधमनीवर्जितम् ॥

तान्त्रिक नाड़ी संस्थान

तथापि तान्त्रिक नाड़ी संस्थान चरक और सुश्रुत के चिकित्सा सम्बन्धी नाड़ी संस्थान से पूर्णतः भिन्न है। इसका प्रारम्भ मेरुदण्ड की धारणा से होता है, जिसको पृष्ठमूल से ग्रीवामूल तक की एक अस्थि माना गया है। मेरुदण्ड के अन्दर के मार्ग में सुषुम्णा नामक एक नाड़ी है, जो स्वयं वास्तव में सुषुम्णा, वज्रा और चित्रिणी इन तीन नाड़ियों से बनी है।[1] सारी नाड़ियाँ मेरुदण्ड के अन्त में स्थित 'काण्ड' संज्ञक मूल से प्रारम्भ होती हैं और वे 'सहस्रार' नामक मस्तिष्क के ऊर्ध्वतम नाड़ी-तन्त्र की ओर ऊर्ध्वगमन करती है और उनकी संख्या बहत्तर हजार है। इन नाड़ियों (काण्ड) का मूल स्थान गुदा के एक इन्च ऊपर और शिश्न-मूल के एक इंच नीचे हैं। यदि सुषुम्णा मेरुदण्ड की मध्य नाड़ी है तो इसके धुर दक्षिण ओर 'इड़ा' है और तत्पश्चात् इसके समानान्तर सुषुम्णा की ओर ये नाड़ियां है: बांई आंख के कोने से बांए पैर तक फैली हुई, 'गांधारी' बांई आंख से बांए पैर तक फैली हुई 'हस्ति जिह्वा' बांई ओर को शाखा रूप में निकली हुई 'शखिनी,' 'कुहू' (बांई ओर की वस्ति प्रदेशीय नाड़ी)' और कटि प्रदेशीय नाड़ी 'विश्वोदरा'। सुषुम्णा के धुर बांए पार्श्व में 'पिंगला' है और पिंगला और सुषुम्ना के मध्य में ये नाड़ियां है: दक्षिणी आंख के कोने से उदर तक फैली हुई 'पूषा' कर्ण प्रदेशीय शाखा अथवा ग्रैवेय नाड़ी तंत्र 'पश्यन्ती,' 'सरस्वती' और 'वारणा' (त्रिकीय नाड़ी)। 'शंखिनी' (बांई ओर की कर्ण प्रदेशीय शाखा

---

[1] परन्तु तन्त्र चुड़ामणि के अनुसार सुषुम्णा मेरुदण्ड के अन्दर की ओर नहीं इसके बाहर की ओर है। इस प्रकार इसमें कहा है हृद्‌वाह्ये तु तयोर्मध्ये सुषुम्णा वह्निसंयुत्ता।' परन्तु यह 'षट्‌चक्रनिरूपण' के मत के विरुद्ध है जिसके अनुसार सुषुम्णा रीढ के मार्ग के अन्दर है। 'निगमतत्वसारतंत्र' के अनुसार 'इड़ा' और 'पिंगला' दोनों रीढ़ के अन्दर हैं, परन्तु यह स्वीकृत मत के बिल्कुल विरुद्ध है। डा० सर बी० एन० सील का मत है कि सुषुम्णा मेरुदंड का मध्य मार्ग या संचार मार्ग है, न कि पृथक् नाड़ी (The positive Science of the Ancient Hindus पृ० २१६, २२६, २२७)। The Mysterious Kandaras नामक अपनी पुस्तक में श्री रेले ने विचार प्रकट किया है कि यह केन्द्र स्थित एक नाडी है और मेरुदण्ड में से होकर जाती है, परन्तु रेले का विचार है कि यह सुषुम्णा नाड़ी मेरुदण्ड के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इनके इस निर्णय का आधार यह कथन है कि सुषुम्णा मेरुदण्ड के त्रिक से उद्‌भूत है। इस त्रिक से वह कपाल-मूल तक ऊपर की ओर जाती है, वहां यह 'ब्रह्मचक्र' (कपाल कुहर स्थित मस्तिष्क) नामक सहस्रों स्नायुओं के जाल में मिल जाती है और कण्ठ स्तर पर दोनों भोहों और मस्तिष्क छिद्र (ब्रह्मरंध्र) के बीच क्रमशः अग्र भाग और पश्च भाग में विभक्त हो जाती है।

अथवा मेरुदण्ड नाड़ी गत) 'सुषुम्णा' के समानान्तर जाती है, परन्तु ग्रीवा प्रदेश में मुड़कर बाएं कर्ण छिद्र के मूल तक चली जाती है, इसकी एक दूसरी शाखा ललाट प्रदेश के आभ्यन्तर भाग में से जाती है जहां यह 'शंखिनी' नाड़ी से जुड़ जाती है और मस्तिष्क प्रदेश में प्रवेश करती है। सुषुम्णा नाड़ी रीढ़ के अन्दर की ओर एक प्रकार की वाहिनी है जो अपने अन्दर 'वज्रा' नाड़ी को घेरे हुए है, और यह वज्रा नाड़ी अपने अन्दर 'चित्रिणी' नाड़ी को घेरे हुए है, जिसमें एक सूक्ष्म छिद्र इसके मध्यवर्ती भाग में विद्यमान है, यह सूक्ष्म छिद्र सम्पूर्ण मेरुदण्ड में से होकर गया हुआ है।[1] चित्रिणी नाड़ी का आभ्यन्तर मार्ग भी 'ब्रह्मनाड़ी' कहलाता है, क्योंकि 'चित्रिणी' में और कोई अन्य कोई मार्ग या नाड़ी नहीं है।[2] इस प्रकार मध्यगत सुषुम्णा हमारा दृष्टांत है। तथापि ऐसा कहा जाता है कि सुषुम्णा मुड़ कर ललाट प्रदेश में शंखिनी से सम्बद्ध हो जाती है, ललाट प्रदेश में शंखिनी के छिद्र से (शंखिनीनालमालम्ब्य) मिल जाती है और मस्तिष्क प्रदेश में पहुँच जाती है। समस्त नाड़ियां सुषुम्णा से जुड़ी हुई हैं। 'कुण्डलिनी' सर्वोच्च शारीरिक शक्ति का एक नाम है और क्योंकि सुषुम्णा के पथ 'ब्रह्मनाड़ी' से यह शक्ति धड़ के अधोभाग से मस्तिष्क के स्नायु जाल के प्रदेशों में प्रवाहित होती है इसलिए सुषुम्णा को कभी-कभी कुण्डलिनी कहा जाता है। परन्तु स्वयं कुण्डलिनी को नाड़ी नहीं कहा जा सकता, और जैसाकि श्री रेले ने कहा है, इसे कपाल की नाड़ी कहना, स्पष्टतः गलत है।[3] रीढ़ के बाहर की ओर सुषुम्णा के बाईं ओर स्थित 'इड़ा' नाड़ी ऊपर की ओर नासिका प्रदेश में जाती है, और पिंगल भी दाईं ओर ऐसा पथ ही ग्रहण करती है। इन नाड़ियों के अन्य वर्णनों में कहा गया है कि 'इड़ा' दक्षिण अण्डकोश से और 'पिंगला' बांए अण्डकोश से निकलकर धनुष की आकृति में (धनुराकारे) सुषुम्णा के बांए और दांए में चली जाती है। तो भी ये तीनों शिश्न मूल में मिल जाती हैं, इस प्रकार इस स्थान को मानों तीन नदियां सुषुम्णा (गंगा नदी से उपमित) इड़ा (यमुना से उपमित) और पिंगला (सरस्वती से

---

[1] पूर्णानन्द यति ने 'षटचक्रनिरूपण' पर अपनी टीका में 'नाड़ी' की व्युत्पत्ति 'नड़' 'चलना' धातु से 'मार्ग' अथवा 'रास्ता' की है (नडगतौ इति धातोर्नड्यते गम्यतेऽनया पदव्या इति नाड़ी)। महामहोपाध्याय गणनाथ सेन ने अपने ग्रन्थ 'प्रत्यक्षशारीरक' में नाड़ियों को छिद्रहीन (नीरंध्र) मान कर बहुत गम्भीर गलती की है। उनको आयुर्वेद में अथवा षट्चक्र निरूपण तथा इसकी टीकाओं में निश्चित रूप से ऐसा नहीं माना गया है। योग और तन्त्र साहित्य में नाड़ी शब्द का प्रयोग चिकित्सा साहित्य के शिरा शब्द के स्थान पर प्रायः किया गया है।

[2] शब्दब्रह्मरूपायाः कुण्डलिन्याः परमशिवसंनिधिगमनपथरूपचित्रिणीनाड्यन्तर्गत-शून्यभाग इति। षट्चक्रनिरूपण, श्लोक २, पर पूर्णानन्द की टीका।

[3] सुषुम्णायै कुण्डलिन्यै। —हठयोगप्रदीपिका ४. ६४।

उपमित) का संगम (त्रिवेणी) माना गया है। इडा और पिंगला इन दो नाड़ियों का क्रमशः सूर्य और चन्द्रमा के रूप में और सुषुम्ना का अग्नि के रूप में वर्णन किया गया है।[1] इन नाड़ियों के अतिरिक्त 'योगी-याज्ञवल्क्य' में 'अलुम्बुषा' नामक एक अन्य नाड़ी का भी उल्लेख है, और इस प्रकार वे मुख्य नाड़ियों की संख्या चौदह कर देते हैं, इनमें सुषुम्णा सम्मिलित है और सुषुम्णा को एक नाड़ी माना गया है (अर्थात् 'वज्रा' और चित्रिणी इसमें सम्मिलित हैं), यद्यपि नाड़ियों की कुल संख्या बहत्तर हजार मानी जाती है। श्रीकणाद ने अपने 'नाडीविज्ञान' में नाड़ियों की संख्या तीन करोड़ पचास लाख दी है। परन्तु जहाँ षट्चक्रनिरूपण, ज्ञानसंकलिनी, योगी-याज्ञवल्क्य आदि ग्रन्थों में निरूपित तन्त्रसम्प्रदाय नाड़ियों को शिश्नमूल और गुदा के मध्यस्थित नानेीतन्त्र से समुद्भूत मानता है और जहाँ चरक उनको हृदय से समुद्भूत मानते हैं, वहाँ श्रीकणाद का मत है कि वे नाभि (नाभि कंद) से प्रादुर्भूत होकर वहां से ऊपर, नीचे और पार्श्वों में गई हैं। तो भी श्रीकणाद ऐसा स्वीकार करके तन्त्रसम्प्रदाय से सहमत हो जाते हैं कि इन तीन करोड़ पचास लाख नाड़ियों में से बहत्तर हजार नाड़ियां ऐसी हैं जिन्हें स्थूल माना जा सकता है और जिन्हें धमनी भी कहा जाता है, तथा जो रूप, रस, गंध स्पर्श और शब्द के इन्द्रिय गुणों का वहन करती हैं (पंचेन्द्रिय-गुणावहाः)। सूक्ष्म छिद्रों से युक्त सात सौ नाड़ियां ऐसी हैं जो शरीर-पोषक अन्नरस का वहन करती हैं। इनमें से भी चौबीस ऐसी हैं जो स्थूलतर हैं।

शारीर विज्ञान की तन्त्रशाखा की महत्वपूर्ण विशेषता उसका नाड़ी जाल (चक्र) का सिद्धान्त है। इन चक्रों में से प्रथम 'आधार चक्र' है, जिसका अनुवाद प्रायः त्रिकानुत्रिकीय-जाल किया जाता है। यह चक्र शिश्न और गुदा के मध्य स्थित है और इसके आठ उन्नत प्रदेश हैं। यह सुषुम्णा के मुख के संस्पर्श में रहता है। चक्र के केन्द्र में 'स्वयंभूलिंग' नामक एक उन्नत प्रदेश है जो एक सूक्ष्म कलिका के समान है जिसके मुख पर एक छिद्र है। डोरे के समान एक सूक्ष्मतंतु सर्पिल आकार का होता है और वह एक ओर स्वयंभूलिंग के छिद्र से और दूसरी ओर सुषुम्णा के मुख से सम्बद्ध होता है। यह सर्पिल आकार का और कुण्डलीयुक्त तन्तु 'कुलकुण्डलिनी' कहलाता है; इसका कारण यह है कि अपान वायु के नीचे की ओर के दवाव और प्राणवायु के अन्दर की ओर के दवाव की इसकी चेष्टा में प्रकट होने वाली प्रच्छन्न आद्याशक्ति के कारण ही उच्छ्वास व निःश्वास संभव होते हैं व प्राण क्रियाएँ की जाती हैं। इसके बाद 'स्वाधिष्ठान चक्र', रीढ का त्रिक सम्बन्धी चक्र, आता है जो शिश्न मूल के पास है। उसके पश्चात् नाभिप्रदेश में स्थित कटिसंबंधी चक्र (मणिपुरचक्र) आता है। उससे आगे का हृदय प्रदेश में स्थित बारह शाखाओं का हृदयचक्र (अनाहतचक्र

---

[1] षट्चक्रनिरूपण, श्लो० १ और योगी-याज्ञवल्क्य संहिता, पृ० १८।

अथवा विशुद्ध चक्र) है। फिर मेरुदण्ड और मेरुशीर्ष के संधिस्थल पर स्थित 'भारती-स्थान' नामक कण्ठनाली संबंधी और अन्ननाली संबंधी चक्र है। तत्पश्चात् 'अलिजिह्वा' के सामने का 'ललामचक्र' आता है। इससे आगे भौंहों के मध्य में 'आज्ञा चक्र' है, भौंहों के बीच में मनश्चक्र है, जो इन्द्रिय-ज्ञान और स्वप्नज्ञान का स्थान है और मन इन्द्रिय का स्थान है। विज्ञानभिक्षु का अपनी 'योगवार्तिक' में कथन है कि यहां से सुषुम्णा की एक शाखा ऊपर की ओर जाती है; यह शाखा मन के कार्यों को करने वाली नाड़ी है और मनोवहा नाड़ी कहलाती है; ज्ञानसंकलनतन्त्र में इसे ज्ञान नाड़ी कहा है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि इसी नाड़ी के द्वारा मस्तिष्क-स्थित आत्मा और मनश्चक्र-स्थित मन के बीच संबंध स्थापित किया जाता है। वैशेषिक सूत्र ५. २. १४ और १५ पर अपने भाष्य में शंकरमिश्र का तर्क है कि नाड़ियां स्वयं स्पर्श-रूप को उत्पन्न करने की क्षमता रखती हैं, क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता तो खाना और पीना अपने संबद्ध भावों के अनुसार संभव नहीं होता, क्योंकि ये प्राणों के स्वचालित कार्यों के परिणामस्वरूप होते हैं।[1] आज्ञाचक्र के ऊपर मस्तिष्क के मध्य में सोमचक्र है, और अन्ततः ऊपरी मस्तिष्क में 'सहस्रार चक्र' है जो आत्मा का स्थान है। (योग की प्रक्रिया इस बात में निहित है कि आधारचक्र में स्थित प्रच्छन्न शक्ति को उद्दीप्त किया जाय, इसको चित्रिणी अथवा ब्रह्मनाड़ी के छिद्रों में से होकर ऊपर ले जाया जाय, और उसे ब्रह्मरंध्र अथवा सहस्रारचक्र में पहुँचाया जाय। इस कुंडलिनी का वर्णन विद्युत् रेखा के समान सूक्ष्म तन्तु के रूप में किया गया है (तडिदिव विलसत् तन्तुरूपस्वरूपा), जिससे यह प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में यह एक भौतिक नाड़ी है अथवा केवल प्रच्छन्न शक्ति ही, जिसे ऊपरी मस्तिष्क तक 'सहस्रारचक्र' में ऊपर की ओर ले जाया जाना चाहिए, और मेरे विचार में यह सन्तोषप्रद रूप से अभी भी स्पष्ट नहीं किया जा सकता। परन्तु, ग्रन्थों की विस्तृत तुलना के आधार पर निर्णय करने पर ऐसा लगभग निश्चित प्रतीत होता है कि यह कुण्डली-शक्ति ही है जो ऊपर की ओर ले जायी जाती है। यदि कुण्डली शक्ति अपने स्वभाव से ही अक्षय्य है, तो सर जोन कृत Serpent power पृ० ३०१–३२० में उठाई गई यह सारी चर्चा सारहीन हो जाती है कि क्या आधारचक्र कभी रिक्त होता है या नहीं, अथवा क्या कुण्डलिनी स्वयं ऊपर उठती है या इसका स्राव ? यह अत्यन्त संदेहास्पद है कि कहां तक चक्रों को नाड़ी-चक्र कहा जा सकता है क्योंकि सारे नाड़ीचक्र पृष्ठ-रंध्र से बाहर हैं, परन्तु यदि कुण्डलिनी का चित्रिणी नाड़ी के रंध्र में से होकर जाना आवश्यक है और साथ ही चक्र में से होकर जाना भी आवश्यक है तो चक्रों या कमलों (पद्म) को अवश्य मेरुदण्ड के अन्तर्भाग में स्थित होना चाहिए। परन्तु यह मानकर कि नाड़ी-चक्र

---

[1] देखिए डा० बी० एन० सील कृत पाजिटिव सायंसेज आफ़ द ऐन्श्येन्ट हिन्दूज, पृ० २२२–२२५।

उनसे संबद्ध मेरुदण्ड के आभ्यन्तर चक्रों के द्योतक हैं और इस कारण से भी कि चक्रों को नाड़ी-जालों के रूप में मानने की प्रथा बन गई है, मैंने चक्रों का इस रूप में वर्णन करने का साहस किया है। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि जिस प्रकार कुण्डलिनी रहस्यमय शक्ति है उसी प्रकार चक्र भी कुण्डलिनी के ऊर्ध्व गमन के मार्ग के रहस्यमय स्थान हैं। नाड़ी चक्रों के रूप में उनकी नाड़ी-भौतिकी व्याख्या ग्रंथ पाठों के प्रति अत्यंत निष्ठाहीनता होगी। इन विषयों पर विस्तृत चर्चा इस कृति के बाद के एक खंड में तन्त्रदर्शन के विवेचन में उपलब्ध होगी। इस विभाग की मुख्य रुचि केवल यही प्रदर्शित करना है कि तन्त्र-शारीर-शास्त्र अपनी धारणा में हमारे इस शोध के विषय, आयुर्वेद, के शारीर-शास्त्र से पूर्णतयाभिन्न है। इन विचारणाओं से एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य भी सामने आता है, वह यह कि, यद्यपि 'सिद्धिस्थान' के दृढ़बल रचित परिशिष्ट भाग में शिर को संवेदनामय चेतना के स्थान मे संबद्ध किया गया है, फिर भी चरक के अपने भाग में हृदय का आत्मा के केन्द्रीय स्थान के रूप में उल्लेख किया गया है।

रस और उनके रसायन का सिद्धान्त

आयुर्वेद में ओषधियों और आहार के चयन में तथा रोगों के निदान और उनके उपचार की व्यवस्था करने में रस-सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। चरक के १.२६ में हमें चैत्ररथ वन में महर्षियों के समागम का उल्लेख मिलता है, इसमें आहार और रस के प्रश्न पर चर्चा करने के उद्देश्य से आत्रेय, भद्रकाप्य, शाकुन्तेय, पूर्णाक्ष मौद्गल्य, हिरण्याक्ष कौशिक, कुमारशिरा भारद्वाज, वार्योविदत, विदेहराजनिमि, बडिश और वाह्लीक वैद्य कांकायन उपस्थित थे।

भद्रकाप्य का मत था कि रस वही है जिसका जिह्वा इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्षीकरण किया जा सके और वह एक है अर्थात् उदक। शाकुन्तेय का मत था कि रस दो हैं, पोषक (उपशमनीय) और क्षयकारक (छेदनीय)। पूर्णाक्ष का मत था कि रस तीन होते हैं: उपशमनीय, छेदनीय और साधारण। हिरण्याक्ष के मत में चार रस होते हैं; हितकर स्वादु, अहितकर स्वादु, अहितकर अस्वादु, हितकर अस्वादु। कुमार-शिरा का कथन था कि रस पांच होते हैं: पार्थिव, जलीय, आग्नेय, वायव्य और आंतरिक्ष। वार्योविद का मत है कि रस छः होते हैं: गुरु, लघु, शीत उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। निमि का कथन था कि रस सात हैं: मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय और क्षार। बडिश ने उपर्युक्त में एक रस अव्यक्त और जोड़ दिया और उनका मत था कि रस आठ होते हैं। कांकायन का मत था कि रस जिन पदार्थों में वे आश्रित हैं उनकी विभिन्नता, गुरुता और [illegible] जैसे उनके विशिष्ट गुणों, धातुओं की वृद्धि अथवा क्षय में उनके फलों और [illegible] की प्रतीति होने वाली उनकी विभिन्नता के कारण उनको गिना नहीं जा [illegible]। आत्रेय पुनर्वसु का मत था कि

रस केवल छः ही हैं, मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय। उन सब रसों का मूल जल है। उपशमन और छेदन रस के दो कर्म हैं; जब उपर्युक्त विपरीत कर्म वाले रसों का परस्पर मिश्रण किया जाता है तो उनका साधारणत्व प्राप्त हो जाता है। रस की स्वादुता और अस्वादुता रुचि अथवा अरुचि पर निर्भर करती है। रसों के आश्रय स्थान पंचमहाभूतों के विकार हैं (पंचमहाभूतविकाराः); वे आश्रय-स्थान निम्न अवस्थाओं के वशीभूत हैं: (१) प्रकृति–द्रव्य का विशिष्ट गुण (२) विकृति–ऊष्मा अथवा अन्य कारकों द्वारा उन पर की गई क्रिया (३) विचार–अन्य पदार्थों से योग (४) देश–द्रव्य का उत्पत्ति स्थान (५) काल–द्रव्य का उत्पत्ति काल।[1] गुरुता, लघुता, शीतता, उष्णता, स्निग्धता तथा रूक्षता के गुण उन द्रव्यों पर आश्रित हैं जिन पर वे रस आश्रित होते हैं। क्षार को एक पृथक् रस नहीं मानना चाहिए क्योंकि यह एक से अधिक रसों से निर्मित है और एक से अधिक इन्द्रियों को प्रभावित करता है, क्योंकि इसमें कम से कम दो महत्वपूर्ण रस (कटु और लवण) हैं और यह न केवल रसनेन्द्रिय को प्रभावित करता है अपितु स्पर्शेन्द्रिय को भी प्रभावित करता है, और स्वभावतः किसी द्रव्य पर आश्रित नहीं है अपितु कृत्रिम उपायों से इसे उत्पन्न करना पड़ता है। कोई ऐसा पृथक् रस नहीं है जिसे 'अव्यक्त' रस कहा जा सके। जल सब रसों का मूल है, अतः सारे रसों को अव्यक्तावस्था में जल में विद्यमान माना जा सकता है। परन्तु इस कारण से हम यह नहीं कह सकते कि जल में 'अव्यक्त' नामक एक पृथक् रस है और फिर जब किसी पदार्थ में दो रस, एक प्रबल और दूसरा अत्यन्त दुर्बल, होते हैं तो दुर्बल रस को अव्यक्त रस माना जा सकता है; अथवा, जब विभिन्न रसों के किसी मिश्रण, यथा आसव, में किंचित कटु रस का मिश्रण किया जाता है, तो उसे 'अव्यक्त' माना जा सकता है; परन्तु यह निश्चित है कि ऐसा कोई रस नहीं है जिसे 'अव्यक्त' नाम दिया जा सके। यह मत अग्राह्य है कि रसों की संख्या अनन्त है, क्योंकि यद्यपि ऐसा आग्रह किया जा सकता है कि एक ही रस विभिन्न द्रव्यों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रकट हो सकता है, तो भी उससे यही प्रदर्शित होगा कि प्रत्येक रस विशेष के स्वरूप के विभिन्न स्तर है और उससे यह सिद्ध नहीं होता कि एक रयविशेष के प्रत्येक प्रकार के साथ-साथ रस स्वयं पूर्णतः भिन्न है। पुनः, यदि भिन्न रसों को परस्पर मिश्रित किया जाय तो, तो स्वयं रस-मिश्रण को पृथक् रस

---

[1] इस प्रकार मुद्ग (मूंग) एक भूतविकार है, इसमें कषाय और मधुर रस हैं, और फिर भी प्रकृति से लघु है, हालांकि इसके मधुर और कषाय रस के कारण इसके गुरु होने की आशा की जाती है। विकृति का उत्कृष्ट उदाहरण सिके हुए धान हैं, जो चावल से लघुतर होते हैं। यह सुविदित हैं कि यौगिकों के द्वारा उत्पन्न द्रव्य में पूर्णतः नए गुण उत्पन्न किए जा सकते हैं। वनोषधियां अपने चयन के काल के अनुसार भिन्न गुणों वाली होती हैं।

नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि इसके गुण इस मिश्रण के विभिन्न विधायक रसों के गुणों का कुल योग है, और मिश्र-रस का कोई स्वतन्त्र कार्य नहीं निर्दिष्ट किया जा सकता है (न संसृष्टानां रसानां कर्मोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः) जैसाकि उपर्युक्त दो या अधिक द्रव्यों के यौगिकों के विषय में होता है (विचार)।

यद्यपि एक अथवा दूसरे तत्व की प्रबलता के कारण उन्हें पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य अथवा आकाशात्मक कहा जाता है, फिर भी सारे पदार्थ पंच भूतों के योग से बने हैं। सारे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों को ऐसी अवस्था में ही औषधि मानना चाहिए जबकि इनका युक्ति और अर्थपूर्वक प्रयोग किया जाए। कोई पदार्थ तभी औषधि बन सकता है जब उसका प्रयोग युक्ति से और अर्थ विशेष के लिए किया जाए; कोई भी पदार्थ निरपवाद रूप से औषधि नहीं माना जा सकता। औषधीय प्रभाव औषधी के द्रव्य-प्रभाव और उसके गुण-प्रभाव दोनों के कारण तथा उन दोनों के संयुक्त प्रभाव के कारण होता है।[1] औषधि का कार्य 'कर्म', उसकी शक्ति 'वीर्य', उसके कार्य-स्थान 'अधिष्ठान', उसका कार्यकाल 'काल', कार्य करने की अवस्था 'उपाय', और उपलब्धि 'फल' कहलाते हैं।

रसों के मूल के विषय में यह बताया जाता है कि पानी वायु में और पृथ्वी पर गिरने के पश्चात् पंचभूतों से मिश्रित हो जाता है। ये रस समस्त वनस्पतियों और प्राणियों के देहों को पुष्ट करते हैं। सारे रसों में पाँचों तत्व विद्यमान हैं, परन्तु किसी रस में किसी तत्व की प्रबलता होती है, और इस प्रबलता के अनुसार ही विभिन्न रसों में भेद होता है। इस प्रकार से 'सोम' की प्रबलता होने पर 'मधुर' रस होता है, पृथ्वी और अग्नि की प्रधानता होने पर 'अम्ल' रस होता है, जल और अग्नि के प्रबल होने पर 'लवण' रस होता है, वायु और अग्नि की प्रबलता होने पर 'कटु' रस,

---

[1] पदार्थों के औषधीय प्रभाव का गुणों के औषधीय प्रभाव से अन्तर किया जा सकता है यथा जब किन्हीं मणियों के द्वारा विष का उपशमन किया जाए अथवा विशिष्ट तावीजों के प्रयोग से रोगविशेषों का उपचार किया जाए। ऐसी अवस्थाएँ भी हो सकती हैं जहाँ तापधर्मा पदार्थ की अपेक्षा किए बिना ही केवल ताप प्रयोग के द्वारा किसी रोगविशेष का उपचार हो जाए। ऐसा प्रतीत होता है कि केवल इन्द्रिय गुणों और यान्त्रिक गुणों की ही यहाँ 'गुण' के रूप में गणना की गई है; अन्य प्रकार के गुणों का स्वयं द्रव्य के कारण होना माना गया था। क्योंकि इन्द्रिय गुणों के अतिरिक्त, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सार, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, सूक्ष्म, स्थूल, सान्द्र और द्रव इन बीस गुणों को भी 'गुण' के रूप में गिना है।

(चरक संहिता १, १. ४८; १. २५. ३५; १. २६. ११)।

वायु और आकाश की प्रबलता होने पर 'तिक्त' और पृथ्वी और वायु की प्रबलता होने पर 'कषाय' रस होते हैं। रसों के निर्माण-कर्ता विभिन्न भूतों को रसों का निमित्त कारण कहा गया है; इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि अग्नि में कोई रस नहीं है फिर भी वह किस प्रकार एक रस-विशेष के उत्पादन में योग दे सकता है।[1] दैव या अज्ञात कारण (अदृष्ट) तो पानी के साथ महाभूतों के समुदय का सामान्य कारण है।

चरक संहिता के पहले ही अध्याय में द्रव्यों की गणना इस प्रकार की गई है: आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पांच महाभूत, तथा आत्मा, मन, काल और देश। इनमें से जिन द्रव्यों के इन्द्रियां हैं उनको 'चेतन' कहा गया है।[2] गुण ये हैं: शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के इन्द्रिय गुण, समस्त महाभूतों में सामान्य पाए जाने वाले कार्यशील और अन्य गुण यथा गुरु, लघु, शीत, उष्ण और स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सार, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, सूक्ष्म, स्थूल, सान्द्र, द्रव, आदि, और इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न, बुद्धि (स्मृति सहित), चेतना, धैर्य, अहंकार आदि, दूरी (पर), निकटता (अपर), समुदाय (युक्ति), संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास। द्रव्य की परिभाषा यह है कि द्रव्य वह है जिसमें गुण और कर्म समवायी सम्बन्ध में स्थित है और जो सारे कार्यों का समवायीकारण हो। गुण वे हैं जो स्वयं निश्चेष्ट होते हैं और द्रव्यों में समवायी सम्बन्ध से विद्यमान हों। गुण अन्य गुणों के आश्रय नहीं हो सकते।[3]

जब द्रव्य और गुणों का सिद्धान्त ऊपर लिखे अनुसार है तो प्रश्न उठता है कि मानव शरीर में औषधियाँ किस प्रकार से काम करती हैं। विभिन्न औषधियों के वर्गीकरण की सर्वाधिक सामान्य और स्पष्ट रीति उनके विभिन्न रसों पर आधारित थी। जैसाकि बताया जा चुका है ये रस मुख्यत: छः माने जाते थे। इनमें से प्रत्येक रस को कुछ हितकारी अथवा अहितकारी दैहिक प्रभावों के उत्पादन में समर्थ माना जाता था। इस प्रकार मधुर रस को रक्त, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र, प्राण-

---

[1] इह च कारणत्वं भूतानां रसस्य मधुरत्वादिविशेष एव निमित्तकारणत्वमुच्यते। —चरक १. २६. ३८ पर चक्रपाणि की टीका।

[2] चरक संहिता १. १. ४७। वृक्षों को भी सेन्द्रिय माना जाता था और इस हेतु वे चेतन माने जाते थे। चक्रपाणि का कथन है कि, क्योंकि सूर्यमुखी पुष्प सूर्य की ओर मुख किए रहता है, इसलिए इसे दर्शन-इन्द्रिय युक्त माना जा सकता है, फिर, चूंकि 'लवली' पौधा मेघगर्जन का शब्द सुनने से फलित होता है इसलिए वनस्पतियों के श्रवणेन्द्रिय भी होती है।

[3] वही १. १. ४७, ४८ और ५०, चक्रपाणि कृत टीकासहित।

वर्धक, छः इन्द्रियों का हितकारी, शरीर में शक्ति और वर्ण का उत्पादक, त्वचा और कण्ठ का हितकारी; पित्त, विष और मारुत (वात व्याधि) का नाशक और स्निग्धता, शीत और गुरुत्व का उत्पादक आदि बताया गया है। 'अम्ल' को अग्निदीपक, शरीर-पोषक और वात-अनुलोमक कहा है; यह लघु, ऊष्ण, स्निग्ध आदि है। लवण-रस पाचक है, वात का नाशक है; कफ का विष्पन्दन करता है, और यह विलम्न, उष्ण आदि होता है। इसी प्रकार अन्य रसों के विषय में भी समझें। परन्तु ये सब गुण रसों के नहीं हो सकते; जैसाकि पहले ही प्रदर्शित किया जा चुका है, गुणों में अन्य और गुण नहीं हो सकते, और रस स्वयं गुण हैं, अतः जब कोई कार्य और गुण रसों के आश्रित माने जाते हैं, तो उन्हें उन द्रव्यों पर आश्रित मानना होगा जो उन विशिष्ट रसों से युक्त है (रसा इति रसयुक्तानि द्रव्याणि)।[1]

सुश्रुत के कथनों से ऐसा प्रकट होता है कि द्रव्य की अपेक्षाकृत उत्कृष्टता और उसके गुणों के विषय में बहुत मतभेद हैं।[2] कुछ लोग ऐसे भी थे जिनके मत में द्रव्य सबसे महत्वपूर्ण है क्योंकि द्रव्य स्थायी रहता है, रस इत्यादि परिवर्तन करते रहते हैं, अतः द्रव्य अपेक्षाकृत उत्कृष्ट है। पुनः द्रव्य पाँच इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाता है, न कि उसके गुण। द्रव्य रसादिकों का आश्रय भी है। सारे कार्य द्रव्य से ही करने पड़ते हैं और आगमों में भी द्रव्य से ही कार्य करने का वर्णन है और रस से नहीं; रस अधिकांशतः द्रव्यों की प्रकृति पर निर्भर करते हैं। दूसरे लोगों का मत है कि रस सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उनके वीर्य के ही कारण औषधियाँ कार्य करती हैं।[3] यह वीर्य दो प्रकार का होता है: उष्ण और शीत; कुछ का मत है कि वीर्य उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, विषद, पिच्छिल, मृदु और तीक्ष्ण इन आठ प्रकार का होता है। कभी-कभी वीर्य अपने बल के कारण रस को दबा देता है और अपने कर्मों का अनुभव कराता है, इस प्रकार यद्यपि अपनी मधुरता के कारण ईख को वात का नाश करना चाहिए, शीत वीर्य होने के कारण यह वात वर्धक है।[4] अन्यों का कथन है कि आमाशय द्वारा

---

[1] चरक संहिता १. २६. ३८, चक्रपाणि की टीका।

[2] सुश्रुत सूत्र स्थान, अ० ४०, श्लो० ३, सुश्रुत ने द्रव्य की परिभाषा ऐसे की है–

पाक को प्राप्त हुए रूप में रस सर्वप्रधान है क्योंकि वस्तुओं को जब पचाया जाता है तो वे हितकर या अहितकर प्रभाव उत्पन्न कर सकती हैं। कुछ का मत है कि प्रत्येक रस अपरिवर्तित रहता है, यद्यपि दूसरों का मत है कि पाक से मिलने वाले रस मधुर, अम्ल और कटु केवल इन तीन प्रकारों के ही हैं; जबकि सुश्रुत का मत है कि पाक से उत्पन्न होने वाले केवल दो प्रकार के रस मधुर और कटु ही हैं, क्योंकि उनके विचार से अम्ल पाक का परिणाम नहीं है (अम्लो विपाको नास्ति)। सुश्रुत के अनुसार पित्त ही अम्ल में परिणत हो जाता है। जिन पदार्थों में पृथ्वी और जल की अधिकता होती है, वे मधुररस में परिवर्तित हो जाते हैं, जबकि जिन पदार्थों में तेजस्, वायु और आकाश का अंश होता है वे कटु रस में परिणत हो जाते हैं।

द्रव्य, रस, वीर्य और विपाक के आपेक्षिक महत्व के विषय में भिन्न-भिन्न मतों का वर्णन करते हुए सुश्रुत का कथन है कि वे सब महत्वपूर्ण हैं क्योंकि कोई भी औषधि अपनी प्रकृति के अनुसार इन चारों प्रकारों से अपने प्रभाव उत्पन्न करती है।[1] चक्रपाणि द्वारा भानुमती में व्याख्यात सुश्रुत का मत यह प्रतीत होता है कि अन्न, पान, और औषधि सब पंच महाभूतों की उपज हैं और रस, वीर्य तथा विपाक द्रव्य पर आश्रित हैं और जिस द्रव्य की शक्ति के माध्यम से यह द्रव्य कार्य करता है, उस द्रव्य की शक्ति के अनुरूप वे होते हैं।[2] भानुमती में इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि जिन अवस्थाओं में रसों को किन्हीं दोष विशेषों का नाशक अथवा वर्धक बताया गया है, उन दशाओं में भी केवल उनके महत्व के कारण ही इस प्रकार वर्णन किया गया है; सब दशाओं में वास्तविक कर्ता तो द्रव्य है क्योंकि रस आदि सदा द्रव्य पर निर्भर है। रसादिकों में दृष्टिगोचर होने वाली शक्ति के अतिरिक्त द्रव्य स्वयं भी अचिन्त्य प्रकारों से कार्य करता है, जिसे 'प्रभाव' कहते हैं और जिसकी तुलना लोहे पर पड़ने वाली चुम्बक की आकर्षण शक्ति से की जा सकती है। इस प्रकार द्रव्य को स्वयं ही उसकी शक्ति से भिन्न माना गया है और यह कहा जाता है कि इसके कार्य करने का इसका अपना विशिष्ट ढंग है, जो शक्ति के कार्य करने के उस ढंग से भिन्न है जिसकी रस, वीर्य और विपाक में दर्शन होता है, और किस प्रकार से यह कार्य विधि काम करती है, उस विधि को बिल्कुल अचिन्त्य माना गया है।[3] इस प्रकार कुछ औषधियाँ रस द्वारा कार्य करती हैं, कुछ विपाक अर्थात् पाचन कर्म यथा शुण्ठी, जो

---

[1] चतुर्णामपि सामग्र्यमिच्छन्त्यत्र विपश्चितः–सुश्रुत १. ४०. १३।

[2] द्रव्यशक्तिरूपका रसवीर्यविपाका यथायोगं निमित्तकारणतां समवायिकारणता वा भजन्तो न कर्तृतया व्यपदिश्यन्ते द्रव्यपराधीनत्वात्–भानुमती १. ४०. १३।

[3] द्रव्यमात्मना शक्तया प्रभावाख्यया दोषं हन्ति—अत्र द्रव्यशक्तिकार्योदाहरणं यथा कर्षकमणिर्लोहशल्यमाकर्षति। –भानुमती १. ४०. १३।

रस में कटु और उष्णवीर्य होने पर भी पाचन कर्म के पश्चात् मधुर हो जाती है) से उत्पन्न रस के द्वारा, कुछ वीर्य के द्वारा (यथा कुलत्थ कटु होने पर भी उष्ण-वीर्य होने के कारण वायुनाशक है), कुछ रस और विपाक दोनों के द्वारा, कुछ द्रव्य प्रभाव, वीर्य और रस द्वारा कुछ द्रव्य प्रभाव, वीर्य, रस और विपाक द्वारा कार्य करती हैं।

द्रव्य एवं रस तथा वीर्य एवं विपाक के इस मत पर चरक सुश्रुत से असहमत हैं, क्योंकि उनके अनुसार रस, वीर्य और विपाक स्वयं गुण होने के कारण और आगे गुणों के आश्रय नहीं हो सकते; वे द्रव्येतर शक्ति को भी स्वीकार नहीं करते हैं। अतः प्रभाव के विषय में जहाँ सुश्रुत का मत है कि प्रभाव एक विशिष्ट शक्ति है अर्थात् अवर्णनीय प्रकारों से कार्य करने वाली वस्तु है, वहाँ चरक का विचार है कि शक्ति स्वयं वस्तु का स्वरूप है। इस प्रकार चक्रपाणि चरक संहिता १. २६. ७२ की टीका करते हुए कहते हैं 'शक्तिर्हि स्वरूपमेव भावानां, नातिरिक्तं किंचिद् धर्मान्तरं भावानाम्' (शक्ति पदार्थों का ही स्वरूप है और उनसे भिन्न कोई धर्म नहीं है)। सामान्य अर्थ में वीर्य का अर्थ शक्ति अर्थात् औषधियों की प्रभावकारिणी शक्ति है, और इसी अवस्था में इसमें रस और विपाक दोनों का समावेश हो जाता है, परन्तु इन्हें विशेष नाम प्राप्त होने के कारण इनके लिए 'वीर्य' शब्द का प्रयोग नहीं होता।[1] इसके अतिरिक्त पारिभाषिक अर्थ में एक विशेष वीर्य भी है। जिस मत के अनुसार इस वीर्य को दो प्रकार का, स्निग्ध और सूक्ष्म, माना गया है उस मत के अनुसार इन प्रकारों को वीर्य के विशिष्ट धर्म के रूप में ग्रहण करना चाहिए, परन्तु जिस मत के अनुसार वीर्य आठ प्रकार का माना जाता है उसके अनुसार इनको द्रव्य के धर्मों के एक भिन्न समुदाय के रूप में ग्रहण करना चाहिए।[2] यह वीर्य रस से भी बलवत्तर माना जाता है, यहाँ तक कि, जब किसी पदार्थ के वीर्य और रस का विरोध होता है तो वीर्य ही का प्राधान्य होता है न कि रस का।

वाग्भट द्वितीय वीर्यनामधारी कर्मों के लिए प्रयुक्त 'वीर्य' संज्ञा के पक्ष में कुछ टिप्पणी करते हैं। उनका कथन है कि पदार्थों का वीर्य-धर्म पाचन के बाद भी अपरिवर्तित रहने और पदार्थों का प्रयोग मुख्यतः चिकित्सा के उद्देश्यों के लिए होने तथा उनमें से प्रत्येक में अनेक द्रव्य और रस होने के कारण इस धर्म को वीर्य अथवा चिकित्सा सम्बन्धी फल देने में मुख्य शक्ति कहना न्यायसंगत है।[3] उनका आगे कथन

---

[1] तस्य पाकस्य तद्रसस्य विपाकस्य च पृथग्निर्देशान्न वीर्यव्यवहारः शास्त्रे—लोकेतु सामान्य वीर्य शब्देन तेऽपि गृहीताः। वही १. ४०. ५।

[2] यदा द्विविधं वीर्यं तदा स्निग्धरूक्षादीनां—रसादिधर्मतयैव कार्यग्रहणं वदन्ति हि मधुरो रसः स्निग्धं इत्यादि अष्टविधवीर्यपक्षे तु—बलवत् कार्यकर्तृत्वविवक्षया वीर्यत्वमिति स्थितिः। वही १. ४०. ४।

[3] अष्टांग हृदय १. ६. १५।

है कि इसका विपाक द्वारा, एक ही दिशा में कार्य करने पर, रस और विपाक का वीर्य द्वारा और इन तीनों का प्रभाव द्वारा अवरोध हो सकता है। यह कथन केवल उन्हीं अवस्थाओं में सत्य है जहाँ रस, वीर्य और विपाक सम मात्रा में विद्यमान हों, और यह स्मरणीय है कि कुछ पदार्थों में रस की इतनी प्रबलता हो सकती है कि वह विपाक अथवा वीर्य को अभिभूत कर दे।[1] जहाँ तक वीर्य और विपाक की अपेक्षाकृत प्रधानता का प्रश्न है, शिवदास चक्रपाणि के द्रव्यगुण संग्रह पर टीका करते हुए कहते हैं कि वीर्य की विपाक पर प्रधानता है, और इसका अर्थ होगा कि जिस प्रकार वीर्य रस को अभिभूत कर सकता है उसी प्रकार विपाक भी वीर्य को अभिभूत कर सकता है।

यदि हम अथर्ववेद में चिकित्सा सम्बन्धी भारतीय विचारों के विकास के इतिहास की ओर मुड़ कर देखें, तो हम देखेंगे कि चिकित्सा के दो महत्वपूर्ण वर्ग थे : रक्षा-कवच (मणियां) और जल। अथर्ववेद १. ४. ४, १. ५, १. ६, १. ३३, ६. २४, ६. ९२ आदि सब में जल की औषधि के रूप में स्तुति की गई है और उनमें जल को सब रसों का स्रोत माना गया है। इनमें से मणियां न्यूनाधिक चमत्कारिक प्रभाव की होती थीं। यह निर्णय करना सम्भव नहीं था कि किस प्रकार की मणि किस प्रकार से कार्य करेगी, उनके कार्य करने का ढंग अचिन्त्य था। यह आसानी से देखा जा सकता है कि औषधियों के कार्य करने का क्रम वही था जिसे चरक और सुश्रुत ने 'प्रभाव' माना है। उनके लिए प्रभाव का अर्थ था, एक अवर्णनीय प्रकार से काम करने वाली औषधि का रहस्यमय ढंग से कार्य करना, ताकि दो औषधियों के रस, वीर्य और विपाक में बिलकुल सदृश होने पर भी अपने औषधीय प्रभाव के लिहाज से उनका कार्य भिन्न-भिन्न हो।[2] इस प्रकार ऐसा प्रभाव स्वभावतः अचिन्त्य माना जाता था। परन्तु प्रभाव की धारणा करते समय इन चिकित्सा सम्बन्धी विचारकों के मस्तिष्क में प्राचीन मणियों का उदाहरण ताजा था, और वास्तव में यह तो औषधियों के अन्य अवर्णनीय प्रभावों तक उस विचार का प्रस्तार था।[3] मानव अवयवों पर औषधियों के किसी भी रासायनिक प्रभाव का (आधुनिक अर्थ में) ज्ञान

---

[1] वही १. २८।

[2] रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य च स्मृतः —चरकसंहिता १. २६. ६९। इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है : 'रसादिकार्यत्वेनं यन्नावधारयितुं शक्यते कार्यं तत्प्रभावकृतमिति सूचयति, 'अत-एवोक्तं' प्रभावोऽचिन्त्यमुच्यते' रसवीर्यविपाकतया चिन्त्य इत्यर्थः।

[3] मणीनां धारणीयानां कर्म यद् विविधात्मकं, तत्प्रभावकृतं तेषां प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते। मणियों के विभिन्न कर्म अचिन्त्य प्रभावों के कारण माने जाने चाहिए। वही १. २६. ७२।

नहीं था इसलिए रस का आधार ही ऐसा प्रत्यक्षतम साधन था जिससे जड़ी बूंटियों, मूल आदि के चिकित्सा सम्बन्धी प्रभाव का वर्गीकरण किया जा सकता था, और चरक और सुश्रुत द्वारा शरीर के विभिन्न दोषों, वायु, पित्त और कफ, के विभिन्न रसों पर प्रभाव के बारे में हमें बतलाया गया है। क्योंकि सारी व्याधियों की मुख्य जड़ अनुचित मात्रा में वायु, पित्त और कफ का बढ़ना अथवा घटना था, इसलिए एक ऐसा वर्गीकरण विशेष उपयोगी था, जिसमें रसों का इस प्रकार से वर्णन हो कि कोई व्यक्ति यह जान सके कि कौन से रस से शरीर का कौनसा दोष बढ़ता है अथवा घटता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि ऐसा वर्गीकरण, चाहे सरल ही हो, सर्वत्र सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि यद्यपि रस किसी द्रव्य के भैषजीय गुण का कुछ सूचक है फिर भी यह अचूक नहीं है। परन्तु वर्गीकरण का अन्य कोई प्रकार ज्ञात नहीं था; यह माना जाता था कि पाक के पश्चात् किन्हीं द्रव्यों का रस पूर्णत: बदल जाता है और ऐसी अवस्थाओं में पाक के बाद में बदलने वाला रस ही क्रियाशील होता है। चक्रपाणि का कथन है कि जहाँ जिह्वा स्थित रस पाचन-क्रिया के बाद उत्पन्न रस के समान होता है वहाँ उस दिशा में उसका प्रभाव अति प्रबल हो जाता है, परन्तु जहाँ पाकजनित रस जिह्वा-रस से पृथक् होता है वहाँ रस की क्रिया स्वभावत: क्षीण हो जाती है, क्योंकि विपाक की अन्तिम क्रिया द्वारा उत्पन्न रस की शक्ति स्वभावत: बलशाली होती है।[1] चरक का विचार था कि पाचन के परिणामस्वरूप केवल तीन रस ही उपलब्ध होते हैं, अर्थात् कटु, मधुर और अम्ल; सुश्रुत ने अन्तिम रस को अस्वीकार किया है, जैसाकि पहले ही वर्णन किया जा चुका है। परन्तु यह भी पर्याप्त नहीं था; क्योंकि औषधियों के अन्य कई ऐसे प्रभाव हैं जिनको उपर्युक्त कल्पनाओं के आधार पर समझाया नहीं जा सकता। इसको समझाने के लिए वीर्य का सिद्धान्त प्रचलित किया गया। रसयुक्त होने के अतिरिक्त द्रव्य को, अनुमानगम्य होने के कारण, शीत और उष्ण गुणयुक्त, पिच्छिल, विशद, स्निग्ध और रूक्ष आदि सदृश गुणों से युक्त तथा गंध से प्रकट होने वाले तीक्ष्ण आदि गुणों से युक्त भी माना जाता था और यह कल्पना की जाती थी कि ये गुण रस और विपाक को अभिभूत करके अपना प्रभाव उत्पन्न करते हैं। जहाँ किसी पदार्थ के भेषजीय गुणों की सूचक किसी प्रकार की बुद्धिगम्य सामग्री प्राप्त नहीं हो सकती थी केवल वहीं 'प्रभाव' की परिकल्पना का आश्रय लिया

---

[1] चरक १. २६. ६५ पर चक्रपाणि की टीका। चक्रपाणि का कथन है कि कटु रस प्रारम्भ में तो कण्ठ के कफ को साफ करने में उपयोगी है, परन्तु विपाक के बाद यह मधुर हो जाने के कारण पोषक (द्रव्य) के रूप में कार्य करता है। परन्तु ऐसे क्षेत्रीय कार्यों के अतिरिक्त यह समझना कठिन है कि जो रस विपाक द्वारा बदल गया हो उसका ऐसा प्रभाव हो जैसाकि चक्रपाणि बताते हैं (विपर्यय तु दुर्बलमिति ज्ञेयम्)।

जाता था। द्रव्य और गुणों से सम्बद्ध आयुर्वेद के अध्यायों में प्रभाव का वर्णन है और जहाँ कहीं भी उनमें कोई विभिन्नता पाई जाती है वहाँ प्रयोग सिद्ध निरीक्षणों के आधार पर रस, वीर्य और विपाक का भी वर्णन किया गया है। यह न केवल रोगों के उपचार में औषध और पथ्य के चयन के लिए ही अत्यन्त आवश्यक है अपितु रोग निरोध के लिए भी आवश्यक है। यह स्मरण रखना ठीक होगा कि कई रोगों के उत्पन्न होने का कारण परस्पर विरोधी रस, विपाक अथवा वीर्य वाले पदार्थों का साथ-साथ खाना माना जाता था।

मनोवैज्ञानिक मत और अन्य सत्तामूलक पदार्थ सूत्रस्थान के आठवें अध्याय में चरक ने इन्द्रियों की संख्या पाँच बताई है। आयुर्वेद अपने दार्शनिक विचारों के लिए सांख्य और वैशेषिक दर्शन का पर्याप्त मात्रा में ऋणी है; यद्यपि इन दोनों दर्शनों में मन को एक पृथक् इन्द्रिय स्वीकार किया गया है, फिर भी आयुर्वेद उनसे इस बात में मतभेद रखता है और, जैसाकि चक्रपाणि का कथन है, मन को सामान्य इन्द्रियों से पृथक् करता है; इसका कारण यह तथ्य है कि मन के अन्य कई ऐसे कार्य हैं जिनसे अन्य इन्द्रियाँ युक्त नहीं हैं (चक्षुरादिभ्योऽधिकधर्मयोगितया)।[1] मधुर रस के वर्णन के सन्दर्भ में तो एक अन्य स्थल पर स्वयं चरक भी प्रसंगतः छठी इन्द्रिय (षडिन्द्रिय) का उल्लेख करते हैं।[2] परन्तु मन को यहाँ इन्द्रियों से बढ़कर (अतीन्द्रिय) बताया गया है। मन के अतीन्द्रिय स्वरूप की व्याख्या करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि मन को अतीन्द्रिय इसलिए कहा गया है कि यह अन्य इन्द्रियों की भांति बाह्य-विषयों के ज्ञान का हेतु नहीं हैं। यह अवश्य है कि मन सुख और दुःख का प्रत्यक्ष कारण है परन्तु यह सब इन्द्रियों का अधिष्ठायक भी है। मन को सत्व और चेतः भी कहा गया है। आत्मा को तो सारे चेतनात्मक कार्यों का कर्त्ता (चेतनाप्रतिसंधाता) माना गया है। जब मन अपने विषयों, हर्ष अथवा विषाद अथवा चिन्त्य विषयों के सम्पर्क में आता है और जब आत्मा इन विषयों को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है, तब मन चेष्टा करता है, जिसके द्वारा यह हर्ष अथवा विषाद का अनुभव करता है अथवा चिन्त्य विषयों का विचार करता है अथवा इन्द्रियों को चेष्टावान् करता है। इस प्रकार जब आत्मा प्रयत्नशील होता है और जब हर्ष अथवा विषाद अथवा चिन्तन के विषय विद्यमान होते हैं तो इनको अपना विषय मानकर मन नकी ओर प्रवृत्त होता है और इन्द्रियों को चेष्टावान् करता हैं और इन्द्रियाँ इससे निर्देशित होकर, अपने सम्बद्ध विषव्यों को ग्रहण करती है तथा उनका बोध कराती हैं।

---

[1] चरक संहिता १. ८. ३ पर चक्रपाणि की टीका।

[2] चरक संहिता १. २६. ४१। तत्र मधुरो रसः······षडिन्द्रियप्रसादनः।

एक मन अनेकरूपा प्रतीत होता है, इसका कारण है चिन्त्य विषयों की विविधता (यथा कभी मन जब धार्मिक भाव ग्रहण करता है तो धार्मिक प्रतीत होता है, और अन्य समय में जब वासनामय विचारों को ग्रहण करता है तो वासनामय प्रतीत होता है), जिन इन्द्रिय विषयों से मन संबद्ध होता है उनकी विविधता (उदाहरणार्थ मन रूप, गंध और शब्द आदि को ग्रहण कर ले) और कल्पना के विविध प्रकार (यथा यह मेरे हित में होगा, अथवा 'यह मेरा अहित करेगा' आदि) एक ही मनुष्य में मन कभी-कभी क्रुद्ध अज्ञानी अथवा गुणी प्रतीत हो सकता है। परन्तु वास्तव में मन एक है और प्रत्येक व्यक्ति के लिए भी एक ही है; ये सब भेद एक ही व्यक्ति में एक साथ प्रकट नहीं होते, जैसाकि यदि एक ही आदमी में अनेक मन होने पर होता। फिर मन आण्विक भी है, अन्यथा एक ही मन द्वारा अनेकों भिन्न-भिन्न विषयों अथवा कार्यों का सम्पादन एक ही समय पर किया जाता।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि एक ही मन, सत्व, रजस् और तमस् इन भिन्न-भिन्न प्रकार के नैतिक गुणों का प्रदर्शन कर सकता है तो किसी पुरुष को सात्विक, राजसिक अथवा तामसिक कैसे माना जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि कोई मनुष्य इन गुणों में से उस एक या अन्य गुण की प्रधानता के अनुसार ही सात्विक, राजसिक अथवा तामसिक कहा जाता है जिस गुण की प्रधानता उस मनुष्य में परि-लक्षित होती है।

मन को आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी से निर्मित इन्द्रियों का चालक माना गया है और इन्द्रियों के अधिष्ठान चक्षु, श्रोत्र, नासा, जिह्वा, और त्वचा के भौतिक संपुट हैं। पांच इन्द्रियबोध इन्द्रियों, इन्द्रिय विषयों, मन और आत्मा के सानिध्य से उत्पन्न होते हैं। वे अल्पजीवी (क्षणिक) हैं परन्तु ठीक एक क्षण भर तक रहने वाले नहीं हैं, जैसाकि बौद्धों की मान्यता है।[1] वे निश्चयात्मक (निश्चयात्मकाः) भी हैं। जैसा चक्रपाणि का कथन है, क्षणिक इन्द्रिय-बोधों के लिए इन्द्रिय विषयों का निश्चित विवरण देना बिल्कुल संभव है। यद्यपि सारी इन्द्रियां पंच महाभूतों से निर्मित हैं, फिर भी जिन इन्द्रियों में जो भूत अधिकांश मात्रा में होता है, उनको उसी भूत से निर्मित माना गया है। जिस इन्द्रिय में जो भूत विशेष प्रबल मात्रा में होता है, उसके कारण उस इन्द्रिय को उस भूत विशेष को ग्रहण करने की विशेष क्षमता से युक्त माना जाता है।[2]

---

[1] चरक संहिता १. ८. ११ पर चक्रपाणि की टीका। क्षणिका इत्याशुतरविनाशिन्यः न तु बौद्धसिद्धान्तवदेकक्षणावस्थायिन्यः।

[2] तत्र यद् यद् आत्मकमिन्द्रियविशेषात्तत्तदात्मकमेवार्थमनुगृह्णाति तत्स्वभावाद् विभुत्वाच्च (चरकः १. ८. १४)।

शरीर, इन्द्रियों, मन और आत्मा का संयोग आयु (जीवित) कहलाता है।[1] आत्मा को चेतनाशील कर्मों का संयोजक (ज्ञानप्रतिसंधाता) कहा जाता है। चक्रपाणि का कथन है कि शरीर क्षणिक है (शरीरस्य क्षणिकत्वेन), इसलिए यह तर्क किया जा सकता है कि शरीर के साथ आत्मा का संयोग भी क्षणिक ही है। इस प्रकार की आपत्ति का चक्रपाणि यह उत्तर देते हैं कि यद्यपि शरीर क्षणिक है फिर भी क्षणिक शरीरों की शृंखलाबद्ध आवृत्ति के कारण सम्पूर्ण शृंखला को एक ही माना जा सकता है, और, यद्यपि शृंखला के प्रत्येक काल के साथ आत्मा का सम्बन्ध क्षणिक है, फिर भी आत्मा के साथ शृंखला का सम्बन्ध भी एक माना जा सकता है क्योंकि शृंखला को एक माना जा सकता है (संतानव्यवस्थितोऽयमेकतया उच्यते)।[2] अन्य स्थल पर चरक कहते हैं कि मन, आत्मा और शरीर एक दूसरे से तिपाए के समान संयुक्त हैं, जिस पर आयु स्थित है; यदि कोई भी अंग लुप्त होगा तो ऐक्य भंग हो जाएगा।[3]

यह पहले ही बताया जा चुका है कि चरक के अनुसार, आत्मा चेष्टावान् है और उसकी चेष्टा से मन चेष्टा करता है, और मन के कार्य करने से ही इन्द्रियां चेष्टाशील होती हैं। आत्मा को चेतन भी माना जाता है। परन्तु यह चेतना आत्मा की अपनी नहीं है, यह तो केवल, मन के माध्यम से आत्मा के इन्द्रियों के साथ संयोग से प्राप्त की जाती है।[4] तो भी यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि आत्मा के अतिरिक्त, चरक के अनुसार, एक अन्य परः आत्मा और है जो शरीर और इन्द्रियों के संयोग में भाग लेने वाले आत्मा से भिन्न है (जिसे पारिभाषिक शब्दावली में 'संयोगी पुरुष' कहते हैं)।[5] सूक्ष्मतर, या परः आत्मा निर्विकार है। ज्ञान में प्रक्रिया और विकार का भाव निहित है और यह आत्मा चेतनत्व को उन्हीं भागों में प्रदर्शित करता है जहाँ यह मन और इन्द्रियों से संबद्ध हो जाता है। इस प्रकार यद्यपि आत्मा नित्य है, फिर भी इसमें चेतनत्व का उत्थान सामयिक ही है। आत्मा की अविकारिता इस बात में है कि यह अपनी पूर्व और अपर अवस्थाओं को अपने से संयुक्त करने में

---

[1] चरक १. १. ४१ 'जीवित' के अन्य पर्यायवाची 'धारी' नित्यग' और 'अनुबन्ध' हैं।

[2] वही, १. १. ४१।

[3] सत्वमात्मा शरीरंच त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ —वही, १. १. ४५।

[4] इदमेव चात्मनश्चेतनत्वं येदिन्द्रियसयोगे सति ज्ञानशालित्वं, न निकृष्टस्यात्मनश्चेतनत्वम्। —चरक १. १. ४७ पर चक्रपाणि कृत टीका।

[5] निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूतगुणेन्द्रियैः। चरक १. १. ५५। तेन सत्वशरीरात्ममेलकरूपो य आत्मशब्देन उच्यते तं व्यावर्तयति। उपर्युक्त पर चक्रपाणि कृत टीका।

समर्थ हैं।[1] यदि आत्मा स्थायी नहीं होता तो वह अपने सारे अतीत अनुभवों को संयुक्त नहीं कर पाता। क्लेश एवं राग के हमारे विकारों को आत्मा के कारण नहीं, अपितु मन के कारण मानना चाहिए (दृश्यमानरागादिविकारस्तु मनसि)।

आत्मा के बारे में इस दृष्टिकोण की विशेष बात यह है कि यह आत्मा सनातन और अविकारी है; यह आत्मा अपने में उन सब व्यक्तिगत अहम् को धारण किए प्रतीत होता है जो अपने सहज इन्द्रियों, मन और शरीर के साहचर्य से कार्य करते हैं। इन्द्रियों के साहचर्य में ही यह चेतनत्व प्राप्त करता है। विचार प्रक्रियाओं में होने वाले सुख, दुःख और चेष्टाएं मन के धर्म हैं, यद्यपि मन की क्रियाओं का आत्मा से उद्भूत होना माना गया है। चेतनत्व की जो अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं, ये सब आत्मा में संयुक्त हो जाती हैं। इस प्रकार अपने सूक्ष्मतर स्वरूप में इन्द्रियों और मन से विमुख हुआ आत्मा शाश्वत और अविकारी है; मन और इन्द्रियों के सम्पर्क-जनित अपने स्वरूप में वह विकार और चेतनत्व के क्षेत्र में होता है। अतः यह मत भारतीय दर्शन के आस्तिक मत से भिन्न है।

इस संदर्भ में यह ध्यान रखना उपयुक्त होगा कि चरक संहिता वैशेषिक यथार्थों की गणना से आरंभ होती है, और वैशेषिक दृष्टिकोण से इसके विभेद होने पर भी, इसका आरम्भ वैशेषिक से होता हुआ प्रतीत होता है। यह महाभूतों, मन, काल, देश और आत्मा की गणना द्रव्यों के रूप में करती है। इसमें गुणों की गणना की गई है; यथा इन्द्रिय गुण, गुरु (गुर्वादयः) बुद्धि से प्रारंभ होने वाली सूची में दिए गए यांत्रिक या भौतिक गुण तथा 'पर' से प्रारंभ होकर 'प्रयत्न' में अन्त होने वाले गुण। परन्तु यह गुर्वादि सूची क्या है? वैशेषिक सूत्रों में ऐसी कोई सूची नहीं है। चक्रपाणि ने चरक द्वारा बाद के एक अध्याय (१. २५. ३५) में दी गई गणना का उल्लेख किया है; इस अध्याय में इन गुणों को सब द्रव्यों के गुण होना नहीं बताया गया है, परन्तु केवल जिस अन्न और पान को हम ग्रहण करते हैं उसी के गुण को बताया है।[2] परन्तु परादि (परः से प्रारंभ होने वाला) और प्रयत्नान्त ('प्रयत्न' में अन्त होने वाली) सूची चरक संहिता में कहीं भी नहीं दृष्टिगोचर होती है। संभव है यहाँ वैशेषिक सूत्र १. १. ६ की ओर संकेत हो।[3] परन्तु यदि ऐसा ही है तो वैशेषिक

---

[1] नित्यत्वं चात्मनः पूर्वापरावस्थानुभूतार्थप्रतिसंधानात्। चरक १. १. ५५ पर चक्रपाणि की टीका।

[2] आहारत्वमाहारस्यैकविधमर्थाभेदात् स 'पुनः...विंशतिगुणो' गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवानुगमात्।
—चरक संहिता १. ५. ३५।

[3] परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च गुणाः वैशेषिक सूत्र १. १. ६।

सूत्र में गिनाए गए कई ऐसे गुणों को छोड़ दिया गया है जिनकी गणना परादि सूची में की गई है।[१] चरक स्वयं परादि गुणों की सूची देते हैं जिसमें पूर्व उल्लिखित वैशेषिक सूत्र के तथा कुछ अन्य गुण भी सम्मिलित हैं। जिन गुणों की गणना की गई है वे ये हैं, पर, अपर, युक्ति, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, संस्कार और अभ्यास।[२] 'पर' का है अर्थ 'प्रधानता' है, 'अपर' का अर्थ 'अप्रधानता' है। प्रधानता अथवा अप्रधानता देश, काल, अवस्था, परिणाम, पाकजनित रस, वीर्य और रस पर निर्भर करती है। इस प्रकार सूखा देश 'पर' और अनूप देश 'अपर' होता है, शरत् और हेमन्त की वर्षा (विसर्ग) 'पर' कहलाती है, जबकि शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म की ऋतुएँ 'अपर' कहलाती हैं; पाक, वीर्य और रस के संदर्भ में 'पर' और 'अपर' का अर्थ 'उपयोगिता' और 'अनुपयोगिता' है—जो वस्तु किसी के लिए उपयोगी है वह 'पर' है और जो इसके लिए अनुपयोगी है वह 'अपर' है। युक्ति का अर्थ है रोग विशेष के संदर्भ में उचित भेषज की कल्पना (दोषाद्यपेक्षया भेषजस्य समीचीनकल्पना), संख्या का अर्थ गिनती है, 'संयोग' का अर्थ दो अथवा अधिक द्रव्यों का मिश्रण अथवा योग; 'विभाग' का अर्थ अलग करना, 'पृथक्त्व' का अर्थ भेद करना है। हिमालय और मेरुपर्वत पृथक् हैं, क्योंकि वे भिन्न स्थानों में स्थित हैं और एक नहीं हो सकते; पुनः यद्यपि एक सूअर और भैंसा आपस में एकत्र हो जाएँ फिर भी वे सदा एक दूसरे से पृथक् रहते हैं; और फिर, एक ही जाति में, यथा मूंग के ढेर में, प्रत्येक मूंग अपने स्वरूप में अन्य से पृथक् है; अन्तिम उदाहरण में संख्या की पृथक्ता के कारण स्वरूप की पृथक्ता है; इस प्रकार जहां भी अनेकता हो वहां स्वरूप में पृथक्ता है। इस प्रकार पृथक्त्व का अर्थ तीन प्रकार की पृथक्ता है : देशज पृथक्ता, प्रकृतिज पृथक्ता और व्यक्तिगत स्वरूप की पृथक्ता। 'परिमाण' का अर्थ तौल द्वारा माप है, 'संस्कार' का अर्थ है नए गुणों का उत्पादन, और 'अभ्यास' का अर्थ है सतत् क्रिया द्वारा प्राप्त स्वभाव। उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि यद्यपि यहाँ पर प्रयुक्त संज्ञाएँ वैशेषिक सूत्र में कणाद द्वारा प्रयुक्त संज्ञाओं के समान ही हैं, फिर भी उनका प्रयोग सम्भवतः चिकित्सा परम्परा के अनुसार भिन्न अर्थों में हुआ है, परन्तु इस सूची का अन्त 'प्रयत्न' में ही नहीं होता, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि 'परादि' और 'प्रयत्नान्त' का प्रयोग दो पृथक् सूचियों के लिए हुआ है और दोनों को एकसाथ मिलाना नहीं चाहिए। उपर्युक्त सूची परादि सूची है। 'प्रयत्नान्त' सूची गुणों की पृथक् सूची है। जैसाकि चक्रपाणि का कथन है, 'प्रयत्नान्त' सूची में इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न

---

१ रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे —वही।

२ परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च।
विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च।
संस्काराभ्यास इत्येते गुणा ज्ञेयाः परादयः॥ —चरक संहिता १. २६. २७–२६।

सम्मिलित हैं। 'प्रयत्न' का अर्थ उस विशेष गुण से है जिसके आत्मा में उदय होने से मन सक्रिय हो जाता है।

कर्म का वर्णन 'प्रयत्नादिचेष्टितम्' अर्थात् चेतनायुक्त प्रयत्न के प्रकार की चेष्टा, किया गया है, 'प्रयत्नादि' के 'आदि' शब्द की व्याख्या चक्रपाणि ने 'के प्रकार का' इस अर्थ में की है।[1]

'समवाय' का अर्थ है अयुत्तसिद्ध सबध, जैसा गुणों और द्रव्यों में होता है। 'समवाय' के स्वरूप की व्याख्या करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि यह नित्य है, ताकि, यदि किसी अवस्था में इसका लोप हो जाय तो यह दूसरी अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। इसका कभी नाश नहीं होता और न कभी नव-जन्म ही होता है। परन्तु अवस्था-विशेषों में ही इसकी प्रतीति व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में होती है।[2] 'सामान्य' और 'विशेष' को भी चरक नया अर्थ प्रदान करते हैं। वैशेषिक दर्शन में 'सामान्य' का अर्थ 'जाति-प्रत्यय' है, परन्तु यहाँ इसका अर्थ स्थूल पदार्थों से है जिनके एक से विधायक अथवा धर्म होते हैं। 'सामान्य' और 'विशेष' का महत्व उससे बिल्कुल भिन्न है जो इन शब्दों को वैशेषिक सूत्र में प्राप्त है। 'सामान्य' और विशेष का सिद्धान्त आयुर्वेद का मुख्य सहारा है, क्योंकि यही सिद्धान्त भेषजों के प्रयोग और पथ्य चर्या का आधार है। जिन द्रव्यों में सदृश विधायक अथवा धर्म होंगे वे ही एक दूसरे की अभिवृद्धि करेंगे, और जिन द्रव्यों के विधायक अंग अथवा धर्म असदृश होंगे वे परस्पर क्षयकारी होंगे। इस प्रकार वात प्रधान द्रव्य वात बढ़ाएगा और अवात सदृश श्लेष्मा वात घटाएगा, इत्यादि। इस प्रकार 'सामान्य' की परिभाषा 'तुल्यार्थता' अर्थात् सदृश्य उद्देश्यों का संपादन है। केवल धारणात्मक महत्व रखने के बजाय, यहाँ सामान्य और विशेष को आयुर्वेद के लिए सर्वोच्च महत्व का व्यावहारिक कार्य करते हुए देखा जाता है। द्रव्यों के सिद्धान्त के विषय में भी यद्यपि चरक ने पदार्थ की गणना का आहरण किया था, फिर भी चक्रपाणि का कहना है कि सरलतर भूत जटिलतर भूतों के अंग थे (भूतान्तरानुप्रदेशक) और इस कथन की पुष्टि के लिए यह न्याय सूत्र का एक सूत्र उद्धृत करते हैं, जो वहाँ पर एक विपक्षी के मत के रूप में प्रकट होता है, क्योंकि भूतानुप्रवेश के सिद्धान्त में न्याय-वैशेषिक शाखा द्वारा विश्वास नहीं किया जाता था; उस शाखा के अनुसार कोई भी भूत किसी अन्य भूत में प्रवेश नहीं करता है, और उनके गुण उनमें ही स्थिर रहते हैं। फिर भी इन विकारों के उपरान्त भी चरक का न्याय-वैशेषिक से निकटतर सम्बन्ध प्रतीत होता है। परन्तु, जैसाकि इस पुस्तक के प्रथम खंड में सांख्यविषयक अध्याय में पहले ही वर्णन

---

[1] आदि शब्दः प्रकारवाची। चरक संहिता १. १. ४८ पर चन्द्रपाणि की टीका।
[2] वही, १. १. ४९।

किया जा चुका है और समझाया जा चुका है, ४. १ में सांख्य-शाखा का विस्तृत वर्णन आयुर्वेद से कुछ अधिक संबंध रखता प्रतीत नहीं होता; और इस हेतु वह सारा अध्याय शेष पुस्तक से मेल खाता प्रतीत नहीं होता, और इसका चरक संहिता के अन्य भागों में उल्लेख नहीं किया गया है। यह असंभव नहीं है कि यह अध्याय इस ग्रन्थ में किसी अन्य पुस्तक से जोड़ा गया हो।

चरक के समान सुश्रुत वैशेषिक पदार्थों की गणना नहीं करते हैं और सांख्य विषयक उनका वर्णन सांख्य सूत्र और ईश्वर कृष्ण की 'कारिका' में दिये गए परम्परागत वर्णन का यथातथ्य रूप है। सांख्य सिद्धान्त का वर्णन करने के बाद सुश्रुत कहते हैं कि चिकित्साशास्त्र के अनुसार पदार्थों के कारण छः प्रकार के होते हैं, अर्थात् (१) स्वभाव, (२) ईश्वर, (३) काल, (४) यदृच्छा, (५) नियति और (६) परिणाम।[1] जैसा डल्हण ने प्रदर्शित किया है, सुश्रुत ने इन सब कारणों के कार्य का कई स्थानों पर उल्लेख किया है। इस प्रकार गर्भावस्था में शरीर के अंगों की संरचना स्वभाव के कारण बताई गई है; अग्नि के रूप में ईश्वर को आमाशय में पाचक अग्नि के रूप में क्रियाशील और पाचन में सहायक बतलाया गया है; 'काल' को ऋतुओं के रूप में दोषों के वृद्धि और क्षय का कारण बताया गया है; 'नियति' का अर्थ पुण्य और पाप है और व्याधियां तथा उनसे आरोग्य लाभ का कारण कभी-कभी इन्हीं को बताया गया है। सुश्रुत पर टीका करते हुए जेज्झट कहते हैं (जैसाकि डल्हण का कथन है) कि ईश्वर के अतिरिक्त ये सब छहों 'कारण' 'प्रकृति' के भिन्न-भिन्न नाम हैं। तथापि गयी का विचार है कि उपर्युक्त छः कारण निमित्त कारण हैं, यद्यपि प्रकृति को भी उपादान कारण माना जा सकता है।

जैसाकि डल्हण और गयी का मत है कि यह मानने का कोई कारण नहीं है कि सुश्रुत ने सांख्य के मत का वर्णन किया है, क्योंकि छः प्रकार के कारणों का वर्णन करने के तत्काल पश्चात् वे महाभूतों का वर्णन त्रिगुण, सत्व, रजस् और तमस्, से निर्मित होने के रूप में करते हैं। इन्द्रियों का भी भौतिक होना माना गया है। आयुर्वेद के अनुसार आत्माएँ नित्य हैं, यद्यपि वे अपने देहों तक ही सीमित हैं और सर्वव्यापी नहीं है। जब शुक्र और शोणित का संयोग होता है तब उनकी वृत्ति होती है, और धर्म और अधर्म के कारण पुनर्जन्म को भोगने वाला यही दैहिक आत्मा (जिसे 'कर्म पुरुष' कहते हैं) चिकित्सा-विज्ञान का विषय है। जब आत्मा मन के संसर्ग में होता है, तो इसके निम्न गुण होते हैं : सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राण और अपान (श्वास की ऊर्ध्वगत धारा और गुदा की दिशा में कार्य करने वाली नीचे की ओर कार्य करने वाली शक्ति) उन्मेष और निमेष, बुद्धि (निश्चय), संकल्प, विचारणा,

---

[1] सुश्रुत संहिता, ३. १. ११।

स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय और विषयोपलब्धि। मन के गुणों को सात्विक, राजस् और तामस इन तीन वर्गों में विभक्त किया गया है; इनमें से सात्विक गुण हैं आनृशंस्य, संविभाग रुचिता, तितिक्षा, सत्य, धर्म, आस्तिक्य, ज्ञान, मेधा, बुद्धि, धृति और अनभिषंग; राजस गुण हैं : दुःख, अधृति, अहंकार, आनृतिकत्व, अकारुण्य, दम्भ, मान, हर्ष, काम और क्रोध; तामस गुण हैं : मूढता, अधर्मशीलता, दुर्मेधता, अकर्मशीलता और निद्राशीलता।

तर्क संबंधी विवेचना और सैद्धान्तिक विवाद संबंधी संज्ञाएँ

पदार्थ या तो सत् होते हैं या असत् और उनका ज्ञान आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति के इन चार प्रमाणों द्वारा हो सकता है।[1]

जिनके मन अपने तपोबल द्वारा रजस् और तमस् के दोषों से मुक्त हैं, जिनके पास भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् तक व्याप्त होने वाला असीम ज्ञान है, उन्हें 'आप्त' मानना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों में ज्ञान की कमी नहीं होती और न वे जानबूझ कर कोई असत्य भाषण करते हैं। उन्हें पूर्णरूपेण आप्त मानना चाहिए और उनका प्रमाण सत्य माना जा सकता है।[2]

आत्मा, इन्द्रियां, मन और विषयों के संनिकर्ष से उत्पन्न सम्यक् और निश्चित ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है। चक्रपाणि ने विषयों के साथ इन्द्रियों के इस संपर्क को पंचविध माना है : (१) द्रव्य का सन्निकर्ष जिसे 'संयोग' कहा जाता है, (२) समवाय सम्बन्ध से समवेत गुण वाले पदार्थों के (संयुक्त समवाय) माध्यम से, गुणों का सन्निकर्ष; (३) समवाय सम्बन्ध में गुणों में विद्यमान रूपत्व आदि उन गुणों के विश्वव्यापी रूप में गुणों के साथ जातिगत प्रकार का सन्निकर्ष (यथा रूप आदि), इसे 'संयुक्तसमवेतसमवाय' कहा जाता है क्योंकि आंख पदार्थ के सम्पर्क में होती है और रूप समवाय सम्बन्ध द्वारा पदार्थ में विद्यमान है और उस रूप विशेष में समवाय संबंध के द्वारा विश्वव्यापी रूप अथवा रूप का जातिगत स्वरूप विद्यमान है। (४) 'समवाय' संज्ञक सन्निकर्ष, जिसके कारण श्रोत्र द्वारा शब्दों का प्रत्यक्षीकरण होना बताया जाता है; श्रवणेन्द्रिय 'आकाश' है, और 'शब्द' आकाश में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है, और इस प्रकार श्रवणेन्द्रिय शब्द का प्रत्यक्षीकरण एक विशिष्ट प्रकार के संपर्क द्वारा ही कर सकती है जिसे 'समवेतसमवाय' कहते हैं, (५) शब्द के जातिगत स्वरूप का विश्वव्यापी शब्द (शब्दत्व) के रूप में प्रत्यक्षीकरण 'समवेतसमवाय' संज्ञक सन्निकर्ष के प्रकार से होता है। इस प्रकार के सन्निकर्ष का सद्यः प्राप्य (तदात्व) बोध ही

---

[1] चरक संहिता, १. ११. १७।

[2] वही, १. ११. १८. १९।

'प्रत्यक्ष' कहलाता है, क्योंकि अनुमान, स्मृति आदि भी इस प्रकार के बोध के परिणाम स्वरूप अन्य क्रमिक प्रक्रियाओं (पारम्पर्य) के द्वारा बाद में प्रवेश कर सकते हैं। चक्रपाणि का आगे कथन है कि उक्त चार प्रकार के सम्पर्क प्रत्यक्ष ज्ञान के वास्तविक कारण हैं; वास्तव में जो ज्ञान इन्द्रिय सम्पर्क के कार्य के परिणाम स्वरूप प्राप्त होता है वही 'प्रत्यक्ष' की उचित परिभाषा होगी; अतः सुख के प्रत्यक्षीकरण में यद्यपि इनमें से किसी भी सन्निकर्ष का होना आवश्यक नहीं है, फिर भी इसे सीधे प्रत्यक्ष का एक सही उदाहरण माना जाता है। हाँ, सब प्रकार के बोध के लिए आत्मा के साथ सम्पर्क आवश्यक है।[1] यही आसानी से देखा जा सकता है कि प्रत्यक्षीकरण का उपर्युक्त सिद्धान्त उसी प्रकार का है जिस प्रकार का न्याय-दर्शन में उपलब्ध होता है। निर्विकल्प प्रत्यक्षीकरण पर विचार नहीं किया गया है, क्योंकि न्यायसूत्र में 'अव्यपदेश्य' के सदृश कुछ भी नहीं है।[2] अनुमान प्रत्यक्ष पर आधारित होना चाहिए, जिसके द्वारा हेतु की व्याप्ति का निरीक्षण पहले हो सके। अनुमान के तीन प्रकार हैं; कार्य से कारण की प्राप्ति, यथा गर्भ से मैथुन का अनुमान; कारण से कार्य, यथा अन्य सहकारी कारणों, जल सेचन आदि, से युक्त बीज से भावी फल का अनुमान, और कारण और कार्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों द्वारा अनुमान यथा धूम से अग्नि का अनुमान।[3]

किसी भी अन्य भारतीय दर्शन में युक्ति की पृथक् प्रमाण के रूप में गणना नहीं की गई है। जिन अनेक हेतुओं, कारणों और विचारणाओं के माध्यम से कोई मनुष्य अपने जीवन में सब इष्ट पदार्थों को प्रायः प्राप्त कर लेता है उन्हीं अनेकों हेतुओं, कारणों और विचारणाओं का मन में जटिल तौल करके जब हमारी बुद्धि किसी भाव का धर्म, धन अथवा फल के रूप में निर्णय करती है तब उसे युक्ति कहा

---

[1] चरक संहिता १. ११. २० पर चक्रपाणि की टीका।

[2] चरक संहिता १. ११. २० में प्रत्यक्ष की परिभाषा इस प्रकार दी गई है :

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते।

न्याय सूत्र में प्रत्यक्ष की परिभाषा निम्न है :

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारी व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।

इस पर विवेचन के लिए प्रथम खंड, पृ० ३३३–३४३ देखिए।

[3] प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते
वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात्
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात्फलमनागतं
दृष्टा बीजात्फलं जातमिहैव सदृशं बुधा। —चरक संहिता, १. ११. २१. २२।

जा सकता है।[1] जैसाकि चक्रपाणि ने प्रदर्शित किया है, युक्ति वास्तव में कोई पृथक् प्रमाण नहीं है, परन्तु यह प्रमाण की सहायक है, इसलिए इसकी प्रमाण रूप में गणना की गई है। युक्ति के उदाहरण के रूप में पृथ्वी की दशा, वर्षा की सम्भावित मात्रा, जलवायु सम्बन्धी दशाओं, आदि से अच्छी या बुरी खेती की सम्भावना का चरक उल्लेख करते हैं। चक्रपाणि ने ठीक ही कहा है कि इस प्रकार की अवस्था को, जहाँ अनेकों तर्कों के संयुक्त प्रयोग से किसी परिणाम पर पहुँचा जाय, ऊहा कहना उचित है, और यह जन समुदाय में इसी नाम से प्रचलित है। यहाँ इसकी पृथक् प्रमाण के रूप में गणना की गई है। वास्तव में यह कारणों से कार्य का अनुमान ही है, और इसका प्रयोग वर्तमान काल में नहीं किया जा सकता, और इसे त्रिकाल, भूत वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में सत्य नहीं माना जा सकता, जैसाकि चरक ने कहा है।

शान्तरक्षित युक्ति को पृथक् प्रमाण मानने के चरक के सिद्धान्त का विवेचन करते हुए लिखते हैं, कि बौद्धों का मत है कि युक्ति इस बात के निरीक्षण में निहित है कि क्योंकि 'जब यह होता तब वह भी होता है' और चूंकि 'जब यह नहीं होता है तो वह भी नहीं होता है', इसलिए 'यह' 'उसका' कारण है। यह तर्क दिया जा सकता है कि यह अनुमान की अवस्था नहीं है क्योंकि न्याय के अनुमान में कमलशील की व्याख्या के अनुसार कोई ऐसी प्रतिज्ञा नहीं है जो दृष्टान्त-युक्त प्रतिज्ञा के तुल्य हो (यथा, जो कुछ भी धूममय है वह अग्निमय होगा, जैसे रसोई)। यह मत व्यक्त किया जाता है कि कारण-कार्य के विचार का मूल 'यह होने पर वह होगा' यह विचार है और कार्यकारण सम्बन्ध की धारणा का अन्य कोई अर्थ नहीं; यदि किसी अवस्था में कोई दृष्टान्त विशेष दिया जाता है, तो अन्य दृष्टान्त भी अपेक्षणीय हो सकता है, और उसके बाद दूसरा, और हमें इस प्रकार अनवस्था दोष प्राप्त होगा।[2] 'यह होने पर

---

[1] बुद्धिः पश्यति या भावान्बहुकारणयोगजान्
युक्तिस्त्रिकाल सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया। —वही, १. ११. २५।

[2] दृष्टान्तेऽप्यत एव तद्भावभावित्वात् कार्यताप्रतिपत्तिः, तत्रापि दृष्टान्तोऽन्योऽन्वेषणीयः, तत्राप्यपर इत्यनवस्था। चरक संहिता १. ११. २५ की टीका में चक्रपाणि द्वारा कमलशील का उद्धरण।

शान्तरक्षित ने चरक के दृष्टिकोण को एक विलक्षण प्रकार से गलत रूप में प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि इस तथ्य से कि जिन सब दशाओं में जब 'क' विद्यमान है तो उनमें 'ख' भी विद्यमान है, और जिन सब दशाओं में 'क' अविद्यमान है तो उनमें 'ख' भी अविद्यमान है' जब कोई 'क' को 'ख' का कारण मानता है तो चरक के अनुसार इसे युक्ति का नया प्रमाण माना जाता है। शान्तरक्षित के असली शब्द ये हैं :

वह होता है' इस सम्बन्ध से उत्पन्न कारण-कार्य सम्बन्ध के परिणाम को युक्ति मानने वाले मत के पक्ष में दिए गए तर्कों का शान्तरक्षित और कमलशील ने खण्डन किया है, जिन्होंने यह प्रदशित किया है कि 'यह होने पर वह होगा' के सम्बन्ध को कारण-कार्य के सम्बन्ध से जोड़ने वाली कोई बोध-प्रक्रियाएं नहीं हैं, क्योंकि इन दोनों से एक ही धारणा का ग्रहण होता है। कारण-कार्य सम्बन्ध और 'यह होने पर वह होगा' यह सम्बन्ध, ये दोनों एक ही हैं। यह तर्क दिया जा सकता है कि जब कभी कोई चीज किसी अन्य चीज के घटित होने पर नित्य और अन्यथा रूप से घटित होती है, तब दोनों को कारण और कार्य रूप में उसी प्रकार सम्बद्ध माना जाता है, जिस प्रकार कि कुलाल और चक्र के उचित कार्यों के पश्चात् सदा घट आदि प्रकट होते हुए देखे जाते हैं। यदि यही 'युक्ति' है तो यह ज्ञान का कोई पृथक् स्रोत नहीं है।

फिर भी चक्रपाणि का कथन है कि ये सब आलोचनाएँ वास्तविकता से दूर हैं, क्योंकि चरक के अनुसार, कार्यकारणता तद्भवभाविता का परिणाम नहीं है, यह तो तर्क-शृंखला के परिणामस्वरूप किसी निर्णय पर पहुँचना मात्र है। परन्तु इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि चरक ३. ४. ६ और ७ में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, इन तीन प्रकार के प्रमाणों का वर्णन करते हैं और अनुमान का वर्णन युक्ति पर आश्रित तर्क के रूप में करते हैं। चक्रपाणि ने 'तर्क' उसे बतलाया है जिसका प्रत्यक्षीकरण न हो सके (तर्कोऽप्रत्यक्षज्ञानम्) और यहाँ युक्ति का अर्थ 'अविनाभाव' का संबंध बताया है। इस संबंध में यह कहा गया है कि किसी व्याधि का निर्णय प्रत्यक्ष, आप्तोपदेश और अनुमान द्वारा करना चाहिए। परन्तु ३. ८. ६. ३३ और ३४ में चरक ने 'ऐतिह्य' की गणना 'आप्तोपदेश' में की है, यद्यपि भारतीय दर्शन में ऐतिह्य को सामान्यतः आप्तोपदेश से

अस्मिन्सति भवत्येव न भवत्यसतीति च
तस्मादतो भवत्येव युक्तिरेषाऽभिधीयते
प्रमाणान्तरमेवेयम् इत्याह चरको मुनिः
नानुमानमियं यस्माद् दृष्टान्तोऽत्र न लभ्यते। —तत्व संग्रह, पृ० ४८२।

जैसाकि चक्रपाणि ने चरक संहिता पर अपनी टीका में प्रदर्शित किया है, जो चरक ने कहा है उससे यह बिलकुल भिन्न है। युक्ति के विषय में चरक का भाव सम्भाव्यता का तर्क है, अर्थात् जब कई घटनाओं, परिस्थितियों और निरीक्षणों के आधार पर कोई व्यक्ति किसी निर्णय विशेष को सम्भव मानने लगता है तो उसे 'युक्ति' कहते हैं, और यह अनुमान अथवा किसी भी अन्य स्वीकृत प्रमाण से भिन्न है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, भारतीय विचारधारा में सम्भाव्यता के तर्क का यही एकमात्र उदाहरण है।

भिन्न 'परम्परा' अथवा दीर्घकाल से प्रचलित लोक विश्वास माना गया है; 'औपम्य' नाम से भी आप्तोपदेश का उल्लेख है।

यहाँ यह ध्यान में रखना असंगत नहीं होगा कि सांख्यकारिका में वर्णित सारी प्रत्यक्ष की बाधाओं का इसमें भी उल्लेख है। इस प्रकार यह कहा जाता है कि जिन पदार्थों में रूप होता है वे भी यदि आवरणयुक्त हों अथवा यदि इन्द्रियाँ दुर्बल हों या वे अपने से अभिन्न किसी एकरूप माध्यम से मिले हुए हों, अथवा जब अल्पप्रकाश वाले पदार्थ अधिकतर प्रकाशमान् पदार्थों से अभिभूत हों, अथवा जब वे अत्यन्त सूक्ष्म और बारीक हों तो उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।[1]

भारतीय चिकित्सकों के लिए तर्कशास्त्र न केवल व्याधि के निदान हेतु ही अपितु परस्पर होने वाली चर्चाओं में भी उपयोगी था। धनी रोगियों के रोगों का उपचार करने के अवसरों पर होने वाली चर्चाओं में विरोधी चिकित्सकों को अपने कौशल और ज्ञान का प्रदर्शन करना होता था। किसी विवाद के सफलतापूर्वक प्रणयन की कला चिकित्सकों की महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाती थी। इस प्रकार हमें विवादों से संबद्ध पारिभाषिक शब्दों का एक ऐसा पूर्ण समुदाय उपलब्ध होता है जैसाकि न्याय सूत्र के अतिरिक्त अन्य किसी भी साहित्य में कभी भी नहीं देखने को मिलता है। चरक संहिता में 'रोगभिषग्जितीय विमान' (३.८) शीर्षक वाला अध्याय लगभग पूरा का पूरा इसी प्रयोजन में प्रयुक्त हुआ है। यह याद रखना उचित होगा कि न्याय सूत्र में विभिन्न प्रकार के वादों और हेत्वाभासों का उल्लेख है, और चरक संहिता अथवा सुश्रुत संहिता के ऐसे ही विषयों की चर्चा करते समय उनका उल्लेख करना उपयुक्त होगा।

वादों के सन्दर्भ में तर्क, वाद, जल्प और वितण्डा इन चार शब्दों का प्रयोग हुआ है। तर्क और ऊहा को एक ही कहा गया है, और इसका अर्थ बताया गया है किसी यथार्थ परिणाम पर पहुँचने से पहले की मन में होने वाले तर्क की प्रक्रिया। किसी निर्णय पर पहुँचने के पहले, शंका होने के अवसर पर विभिन्न विकल्पों पर कर्त्ता की जांच का एक नाम तर्क है। विवाद तीन प्रकार के बताए गए हैं; वाद, जल्प और वितण्डा। वाद का अर्थ है सत्य निर्धारण के लिए वाद-विवाद; विरोधी को उचित या अनुचित प्रकार से परास्त कर देना जिसका मुख्य उद्देश्य हो वह विवाद जल्प है; वह विवाद 'वितण्डा' है जिसमें विरोधी के पक्ष की त्रुटियाँ प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया हो परन्तु जिसका कोई विकल्प प्रस्तुत नहीं किया गया हो। इस प्रकार जल्प और वितण्डा से वाद पृथक् है, क्योंकि वाद शिष्यों, आचार्यों, सहपाठियों और निर्णयफलार्थी पुरुषों के साथ होने वाली शास्त्रसम्बन्धी न कि ख्याति और लाभ के लिए होने वाली चर्चा है।[2] दूसरी ओर जल्प वह विवाद है जिसमें मनुष्य सह

---

[1] चरक संहिता १. ११. ८।

[2] वादं च निर्णयफलार्थिभिरेव शिष्यसब्रह्मचारिगुरुभिः सह वीतरागैः, न ख्यातिलाभरभसप्रतिभानवद्भिरनुबन्धविधुरात्मभिरारभेत। न्याय मंजरी, पृ० ५८४।

जानते हुए भी कि वह गलत है अथवा छल अथवा तर्क के अन्य अनुचित उपायों के अतिरिक्त अन्य उपायों द्वारा विरोधी से अपनी उचित प्रकार से रक्षा करने में असमर्थ है, विवाद को जारी रखता है।

विमान स्थान, अध्याय ८ में चरक कहते हैं कि भिषक् को अन्य भिषकों से सम्भाष करना चाहिए। सम्भाष ज्ञान के हेतु उत्साह (संहर्ष) की वृद्धि करता है, ज्ञान को निर्मल करता है, वाक्शक्ति की और यश: प्राप्ति की शक्ति की वृद्धि करता है, पूर्व प्राप्त ज्ञान के भ्रमों का उच्छेद करता है और अध्यवसाय को प्राप्त कराता है। इन सम्भाषणों के दौरान कई नई बातें सीखी जा सकती हैं और जोश में आकर कोई विरोधी अपने गुरु से प्राप्त गूढ़तम शिक्षाओं को भी प्राय: प्रकट कर देते हैं। सम्भाषण दो प्रकार के होते हैं : मैत्रीपूर्ण (संधायसंभाषा) और शत्रुतापूर्ण (विगृह्य-संभाषा)। जो मनुष्य परास्त होने अथवा अपने तर्कों के हेत्वाभासों के प्रकट हो जाने के भय से रहित होकर प्रश्नों की स्पष्ट रूप से और निष्ठा से चर्चा करते हैं और उन पर अपना मत प्रकट करते हैं ऐसे बुद्धिमान् और ज्ञानी पुरुषों के बीच में 'संधाय संभाषण' होता है क्योंकि ऐसे सम्भाषणों में यद्यपि हेत्वाभासों का वर्णन हो सकता है, फिर भी कोई भी दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न नहीं करता, कोई भी दूसरे की पराजय पर हर्षित नहीं होता और दूसरे के विचारों का गलत अर्थ लगाने अथवा उनको गलत समझने का कोई प्रयत्न नहीं करता है।

तत्पश्चात् चरक आगे यह उपदेश करते हैं कि जिस सभा में 'विगृह्य संभाषण' चल रहा हो वहाँ किसी को कैसा आचरण करना चाहिए। किसी विरोधी के विगृह्य सम्भाषण में अपने को लीन करने से पहले मनुष्य के लिए यह आवश्यक है कि वह ध्यानपूर्वक यह देखें कि क्या उसका विरोधी उससे हीन (पर) है? और जिस परिषद् में सम्भाषण हो रहा है उसका स्वरूप कैसा है? परिषद् ज्ञानवान् अथवा मूढ हो सकती है, और ये परिषदें सुहृत्, उदासीन अथवा प्रतिनिविष्ट हो सकती हैं। जब किसी विरोधी की जाँच करनी हो तो उसकी बौद्धिक और नैतिक दोनों दृष्टियों से जांच करनी चाहिए। इस प्रकार, एक ओर तो यह देखना होगा कि क्या वह शिक्षित और बुद्धिमान् है? क्या उसको शास्त्र याद हैं, उनको वह शीघ्रता से प्रस्तुत कर सकता है और उसमें वचन शक्ति है? और दूसरी ओर यह देखना कि क्या उसका स्वभाव चिड़चिड़ा है अथवा वह भीरू-स्वभाव का है, आदि? मनुष्य यह ध्यानपूर्वक विचार करे कि क्या उसका विरोधी उससे इन गुणों में हीन अथवा अधिक है? प्रतिनिविष्ट परिशत् में सम्भाषण नहीं करना चाहिए, क्योंकि उत्कृष्टतम तर्कों का गलत अर्थ लगाया जा सकता है। मूढ़, सुहृत् अथवा उदासीन परिषत् में अपने उस विरोधी को बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवहार से शास्त्रार्थ में पराजित करना सम्भव है, जो यशस्वी और अन्यथा महान् पुरुषों द्वारा तिरस्कृत हो। ऐसे व्यक्तियों के साथ संभाषण

पण प्रारम्भ करते समय यह प्रयत्न करना चाहिए कि वे लम्बे सूत्रों के उच्चारण द्वारा उलझ जाएं, और वे हतोत्साह हो नाम, तथा उपहास, कटाक्ष अथवा इंगितों द्वारा तथा व्यंग्यभरी भाषा के प्रयोग द्वारा वह उनको स्तब्ध कर दे।

जब किसी मनुष्य को अपने समान विरोधी के साथ सम्भाषण करना हो तो उसका विरोधी जिस बात में विशेष रूप से हीन है उसको ज्ञात करे और उसके उसी स्थान पर आक्रमण करने का प्रयत्न करे और उसको ऐसी अवस्थाओं में डालने का प्रयत्न करे जो जनसाधारण को प्राय: अमान्य हों। तत्पश्चात् चरक इस प्रकार के संभाषों से संबद्ध कई पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करते हैं। न्याय के समान चरक भी इन वादों को जल्प और वितण्डा इन दो श्रेणियों में विभक्त करते हैं। साध्य वचन का कथन 'प्रतिज्ञा' कहलाता है यथा 'पुरुष नित्य है'। हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन सहित प्रतिज्ञाओं से युक्त न्यायसंगत हेतुओं द्वारा किसी प्रतिज्ञा को सिद्ध करना 'स्थापना' कहलाता है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रतिज्ञा 'पुरुष नित्य है' की पुष्टि हेतु 'क्योंकि वह अकृत है' द्वारा, दृष्टान्त 'आकाश अकृत है और वह नित्य है' द्वारा, दृष्टान्त के कर्ता और प्रतिज्ञा के कर्ता (उपनय) के बीच सादृश्य प्रदर्शित करने वाले वाक्य 'जैसेकि आकाश नित्य है उसी तरह पुरुष भी नित्य है' द्वारा और अन्त में प्रतिज्ञा की सिद्धि (निगमन) 'इसलिए पुरुष नित्य है' द्वारा की जाती है।[1]

विरोधी द्वारा प्रस्तुत किए गए वचन अथवा प्रतिज्ञा के विरुद्ध वचन सिद्ध करने के प्रयत्न को 'प्रतिष्ठापना' कहते हैं। इस प्रकार जब स्थापना की प्रतिज्ञा 'पुरुष नित्य है' हो, तो प्रतिष्ठापना वाक्य होगा 'पुरुष अनित्य है, क्योंकि यह इन्द्रियगोचर है' और 'घट जो इन्द्रियगोचर है वह अनित्य है' और 'पुरुष घट के सदृश है' इसलिए 'पुरुष अनित्य है'।

चरक 'हेतु' की परिभाषा 'ज्ञान के कारण' के रूप में करते हैं, (हेतुर्नाम उपलब्धि कारणम्), और ज्ञान का कारण है प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य एवं औपम्य के प्रमाण। न्याय-सूत्रान्तर्गत हेतु की परिभाषा में अनुमान द्वारा स्थापित संबंध से युक्त साधर्म्य और वैधर्म्य के माध्यम से केवल अनुमान विषयक प्रत्यक्ष हेतु का ही उल्लेख है।[2] यहां चरक यह बतलाते हैं कि हेतु प्रत्यक्ष अनुमान अथवा औपम्य अथवा ऐतिह्य कोई भी हो सकता है, परन्तु किसी भी साधन से इसकी प्राप्ति हो, जब इसका परिणाम ज्ञात होता है, तो इसे हेतु कहते हैं। इस प्रकार जब मैं कहता हूँ 'पर्वत वह्निमान् है,

---

[1] यह सरलता से देखा जा सकता है कि चरक ने 'तर्कवाक्य' में उन पांचों वाक्यों को स्वीकार किया है जो न्यायसूत्र में स्वीकृत हैं।

[2] उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः, तथा वैधर्म्यात्।

—न्यायसूत्र १. १. ३४, ३५।

क्योंकि इससे धूम उठ रहा है' (पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्); धूम हेतु है और इसका आँख द्वारा सीधा प्रत्यक्षीकरण होता है। परन्तु जब मैं कहता हूँ 'वह बीमार है, क्योंकि उसके मन्दाग्नि है,' हेतु का सीधा प्रत्यक्ष नहीं होता है, केवल अनुमान ही होता है, क्योंकि किसी के मन्दाग्नि होने के तथ्य का सीधा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। पुनः, जब यह कहा जाता है 'पुरुष नित्य है, क्योंकि वह अकृत है' (नित्यः पुरुषः, अकृतकत्वात्), अकृतकत्व हेतु है, परन्तु इसका न तो प्रत्यक्ष होता है और न अनुमान ही, अपितु शास्त्रों के प्रमाण से इसे स्वीकार किया जाता है। पुनः, 'इसका मुख कान्तितम है क्योंकि उसकी उपमा चन्द्रमा से दी गई है' (अस्य मुखं कान्ततमं चन्द्रोपमत्वात्) वाक्य में चन्द्रमा की उपमा देने का तथ्य हेतु है और इसे 'उपमा' की संज्ञा दी जाती है।[1] इस प्रकार चरक की हेतु की परिभाषा का गौतम की परिभाषा से वस्तुतः संघर्ष नहीं होता, उनका तो केवल यह कथन है कि हेतु की उपलब्धि किसी भी प्रमाण से हो सकती है, और किसी भी प्रमाण से इसकी उपलब्धि हो, यह हेतु कहा जा सकता है, यदि यह सदा और अविनाभाव से साध्य से संबद्ध हो।[2]

तत्पश्चात् चरक उत्तर का वर्णन करने को अग्रसर होते हैं, अर्थात् जो न्यायसूत्र के जाति के समान ही है। जब कोई विरोधी हेतु के साथ प्रतिज्ञा के विषय की साधर्म्यता के आधार पर प्रतिज्ञा को सिद्ध करना चाहता है तो उसकी प्रतिज्ञा के हेतु के साथ वैधर्म्यता प्रदर्शित करके प्रतिज्ञा में विपर्यय लाने का प्रयत्न करना आवश्यक है। इस प्रकार कोई मनुष्य कहे कि मनुष्य में शीत का अनुभव अवश्य उसके हिम, ओस अथवा शीत वायु से पीड़ित होने के कारण हुआ होगा, क्योंकि सदृश कारणों से सदृश कार्य उत्पन्न होते हैं, तो उत्तर में यह कहा जा सकता है कि कार्य अपने कारणों के असदृश होते हैं, क्योंकि तापज्वर शीत के प्रकोप के कारण हो सकता है।[3] जातियों की जो लम्बी सूची न्यायसूत्र में दी गई है और जिसकी व्याख्या

---

[1] देखिए गंगाधर कृत 'जल्पकल्पतरु' ३. ८. १२२।

[2] हेतुश्चाविनाभावलिंगवचनं यद्यपि, तथापीह लिंगप्रग्राहकाणि प्रत्यक्षादिप्रमाणान्येव यथोक्तहेतुमूलत्वेन हेतुशब्देनाह।

—चरक ३. ८. ६. २५ पर चक्रपाणि की टीका।

[3] साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः—न्यायसूत्र १. २. १८। इस जाति के चौबीस प्रकार हैं: यथा (१–२) साधर्म्यवैधर्म्यसम (३–८) उत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसम (९–१०) प्राप्त्यप्राप्तिसम (११–१२) प्रसंगप्रतिदृष्टान्तसम (१३) अनुत्पत्तिसम, (१४) संशयसम, (१५) प्रकरणसम, (१६) अहेतुसम, (१७) अर्थापत्तिसम, (१८) अविशेषसम, (१९) उपपत्तिसम, (२०) उपलब्धिसम, (२१) अनुपलब्धिसम (२२) नित्यसम, (२३) अनित्यसम, (२४) कार्यसम।

भाष्य एवं टीकाओं में तथा न्याय मंजरी में की गई है, उसका चरक द्वारा उल्लेख नहीं किया गया है, और न 'जाति' के पारिभाषिक नाम को चरक के वर्णन में स्थान ही मिला

'साधर्म्यवैधर्म्यसम' वह है जिसमें किसी हेतु के सादृश्य अथवा असादृश्य के आधार पर किसी तर्क के प्रस्तुत करने पर यह प्रदर्शित किया जाय कि अन्य हेतुओं के सादृश्य अथवा असादृश्य की अन्य बातों से बिलकुल विपरीत निष्कर्ष निकाला जा सकता है। इस प्रकार जब यह कहा जा सकता है 'शब्द अनित्य है, क्योंकि यह प्रयत्न द्वारा उत्पन्न होता है और जो कुछ भी प्रयत्न द्वारा उत्पन्न होता है वह अनित्य है, यथा घट, 'तो यह उत्तर दिया जा सकता है 'शब्द नित्य है, क्योंकि वह अवयवहीन है, अवयवहीन इकाई, यथा आकाश, नित्य दिखाई देती हैं, कोई विशेष-कारण नहीं है कि घट के साथ अपने सादृश्य के कारण शब्द को अनित्य क्यों माना जाय और आकाश के साथ इसके सादृश्य के कारण इसे नित्य क्यों नहीं माना जाय। इस दुविधापूर्ण तर्क से मुक्ति यह जानने से हो सकती है, कि अविनाभाव-युक्त और अव्यभिचारी सादृश्य किस में निहित है।

'उत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसम' वह है जिसमें सादृश्य पर अधिक बल दिया जाता है। इस प्रकार यह प्रस्तुत किया जाता है कि क्योंकि घट के समान शब्द अनित्य है, अतः शब्द घट के समान दृश्य भी होना चाहिए और यदि ऐसा नहीं है तो यह घट के समान अनित्य नहीं हो सकता। फिर यह भी कहा जा सकता है जिस कारण से शब्द के अनित्य होने की आशा की जाती है, वह कारण यह है कि शब्द प्रयत्न से उत्पन्न (प्रयत्नान्तरीयक) है। परन्तु प्रयत्न से उत्पन्न वस्तुएँ अपने कई गुणों से भिन्न होती हैं, इस प्रकार वस्त्र मृदु है और घट कठोर; यद्यपि दोनों प्रयत्न द्वारा उत्पन्न हैं; इसी प्रकार यह तर्क किया जा सकता है कि यद्यपि शब्द भी घट के समान ही प्रयत्न का फल है, फिर भी अनित्य होने में शब्द का घट से साम्य नहीं है। फिर शब्द भी घट के समान है, ऐसा तर्क देने के स्थान पर यह भी तर्क दिया जा सकता है कि घट शब्द के समान है; ताकि घट की स्थिति भी वैसी ही अनिश्चित हो जाती है जैसीकि स्वयं शब्द की (यदि यथा घटस्तथा शब्दः प्राप्त तर्हि यथा शब्दः तथा घट इति शब्दश्चानित्यतया साध्य इति घटोऽपि साध्य एव स्यात् अन्यथाहि न तेन तुल्यां भवेत्–न्याय मंजरी, पृ० ६२४। इस प्रकार के दोष प्रदर्शनों के उत्तर में सम्यक् तर्क यह है कि किसी सादृश्य का उसकी सीमाओं से परे विस्तार नहीं होना चाहिए, और किसी भी दृष्टान्त को ऐसा नहीं मानना चाहिए कि उसकी स्थिति साध्य के समान ही है, क्योंकि दृष्टान्त वह है जिस पर विवादी पक्ष और सामान्य लोग पहले से ही सहमत हैं (लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः)।

है। यदि जाति के ये विशद-विवरण पाठक को ज्ञात होते, तो यह अवश्य प्रतीत होता है कि उनका उल्लेख किए बिना ही पाठक उनको जान जाते।

'प्राप्त्यप्राप्तिसम' वह है जिसमें यह प्रश्न किया जाय कि यदि हेतु और साध्य साथ-साथ हों तो उनका एक दूसरे से भेद नहीं किया जा सकता, यदि वे पृथक् हों तो हेतु से हम साध्य पर नहीं पहुँच सकते। इसका उत्तर यह है कि हेतु या तो सीधे सम्पर्क द्वारा (यथा रस्सी और डण्डा मिट्टी के सम्पर्क से घट उत्पन्न करते हैं) या दूर से ही (यथाश्येन यज्ञ से दूरस्थ शत्रु का नाश हो सकता है) कार्य की उत्पत्ति कर सकता है।

'प्रसंगसम' वह है जिसमें हेतु का कारण पूछा जाय। इस प्रकार, यदि किसी प्रयत्न के सद्यः अनुसरण का धर्म (प्रयत्नान्तरीयकत्व) अनित्यता का हेतु हो, तो घट का प्रयत्नान्तरीयकत्व किससे सिद्ध हो सकता है, आदि? इसका उत्तर यह है कि केवल उसी चीज के लिए हेतु आवश्यक है जो स्वतः प्रमाण रूप में सीधा अनुभव में न आए। इस बात का सीधा अनुभव होता है कि घट उनके उत्पादक प्रयत्नों का सद्यः अनुसरण करता है, और इसे सिद्ध करने के लिए किसी तर्क या हेतु की वैसे ही आवश्यकता नहीं है जैसे जलते हुए दीपक को देखने के लिए किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती है।

'दृष्टान्तसम' वह है जिसमें एक ही हेतु से दो पृथक्-पृथक् निष्कर्ष निकलते हुए दीखते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि घट और आकाश दोनों में प्रयत्नान्तरीयकत्व है (यथा खनन के प्रयत्न से पहले आकाशहीन ठोस मिट्टी के रूप में विद्यमान भूमिगत कूपों के खनन से नया आकाश उत्पन्न हो जाता है—कूपखनन-प्रयत्नानन्तरं तदुपलम्भात्, और इस धर्म को इसलिए प्रयत्नान्तरीयक माना जाना चाहिए); फिर भी जिस प्रकार घट अनित्य है और आकाश नित्य, उसी प्रकार शब्द प्रयत्नान्तरीयक होने पर भी नित्य है। इसका उत्तर यह है कि, यदि ऐसा प्रतिकूल निष्कर्ष निकाला जाय तो, एक पृथक् हेतु देना पड़ेगा जो वर्तमान अवस्था में नहीं दिया गया है।

यदि शब्द अनित्य है, तो इसमें प्रयत्नान्तरीयकत्व होना आवश्यक है; परन्तु इसके उत्पन्न होने अथवा अस्तित्व में आने से पहले उसमें वह धर्म कैसे आ सकता है? यदि उसमें उस काल में वह धर्म नहीं आ सकता है, तो वह अवश्य ही नित्य होगा क्योंकि इसका अनित्यता के हेतु अविद्यमान हैं। इस आपत्ति को 'अनुत्पत्तिसम' कहते हैं। इसका उत्तर यह है कि जबतक शब्द का अस्तित्व नहीं है, तबतक उसकी नित्यता अथवा अनित्यता की चर्चा नहीं की जा सकती। यदि वह अस्तित्व-हीन है, तो विपक्ष द्वारा किसकी नित्यता का प्रतिपादन किया जा सकता है।

'दृष्टान्त' वह है जिस पर जनसाधारण और पंडितों का मतैक्य हो, क्योंकि दृष्टान्तों में वे तथ्य होते हैं जो सबको प्रत्यक्ष हैं और सबको ज्ञात हैं, यथा अग्नि उष्ण

पुनः यह तर्क दिया जा सकता है कि शब्द में प्रयत्नान्तरीयकत्व है और इसलिए इसके अनित्य होने की आशा की जा सकी है; इसके इन्द्रिय गोचर होने के कारण अन्य इन्द्रियगोचर विषयों की तरह इसके भी नित्य होने की आशा की जा सकती है। इस शंका को 'संशयसम' कहते हैं। जबतक किसी बात के शंका-निवारक विशेष गुणों का ज्ञान नहीं होता, केवल तबतक ही कोई शंका शंका बनी रहती है। मनुष्य के और स्तंभ के कई गुण समान होने पर भी, जब मनुष्य को विशेष लक्षणों (यथा उसका शिर हाथ और पैर से युक्त होना) का ज्ञान हो जाता है, तो शंका नहीं रह सकती।

'प्रकरणसम' वह है जिसमें कोई इकाई हेतुओं के समान रूप से संबद्ध होती है ताकि कोई एक निष्कर्ष सम्यक् रूप से नहीं निकाला जा सके। इस प्रकार शब्द में प्रयत्नान्तरीयकत्व और निरवयवत्व दोनों ही हैं। यद्यपि प्रथम के अनुसार उसे अनित्य कहा जा सकता है, फिर भी दूसरे के अनुसार उसे नित्य कह सकते हैं, इसलिए वह नित्य है। इसका उत्तर यह है कि प्रथम हेतु की भी सत्ता स्वीकार कर लेने के कारण, दूसरे हेतु को निष्कर्ष तक पहुँचाने वाला नहीं कहा जा सकता।

किसी हेतु से किसी तर्क की उत्पत्ति नहीं हो सकती ऐसी आपत्ति को 'अहेतुसम' कहते हैं; क्योंकि यदि साध्य ही विद्यमान नहीं है, तो हेतु से किस चीज की उत्पत्ति होती है और फिर साध्य से पहले कोई हेतु विद्यमान नहीं है, तो साध्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? अतः हेतु साध्य का केवल व्याप्तिकारक मात्र होने के कारण उससे कोई अनुमान सम्भव नहीं है। उत्तर यह है कि ऐसा पूर्णतः संभव है कि पहले से ही विद्यमान हेतु से अविद्यमान साध्य की उत्पत्ति हो जाय। जहाँ, उदाहरण के तौर पर, शब्द के निरवयव होने के तथ्य के कारण शब्द आकाश के सदृश प्रतीत हो और इस हेतु से वह नित्य प्रतीत हो वहाँ 'अर्थापत्तिसम' होता है। यह इस पूर्व प्रतिज्ञा के विरुद्ध है कि शब्द प्रयत्नान्तरीयक होने के कारण अनित्य है। 'अविशेषसम' वह आपत्ति है कि यदि प्रयत्नान्तरीयकत्व के समान धर्म से युक्त होने के कारण शब्द और घट दोनों को समान रूप से अनित्य मान लें, तो सब पदार्थों के सत्तायुक्त होने के समान गुण के कारण, वे सब पदार्थ एक से ही होंगे। इसका उत्तर यह है कि एक प्रकार की समानता का अर्थ सब प्रकार की समानता नहीं है।

जहाँ घट के प्रयत्नान्तरीयकत्व के कारण उसके अनित्य होने और आकाश के समान उसके निरवयव होने के कारण उसके नित्य होने की आशा की जाय वहाँ

है, जल द्रव है, पृथ्वी कठोर है। 'सिद्धान्त' वह है जिसको कोई पुरुष सम्यक् परीक्षा और उचित हेतुओं के निदर्शन के पश्चात् प्राप्त करे। इस सिद्धान्त के चार प्रकार हैं: (१) 'सर्व-तन्त्र सिद्धान्त' अर्थात् सब मनुष्यों द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त, यथा व्याधियों के कारण होते हैं; व्याधियां हैं, साध्य व्याधियों का उपचार किया जा सकता है; (२) 'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' अर्थात् वे सिद्धान्त जो सर्वमान्य तो नहीं हैं, परन्तु विशिष्ट पुस्तकों और व्यक्तियों तक ही सीमित हैं; यथा कुछ लोगों का कथन है कि रस आठ होते हैं, अन्यों का मत है कि रस छः हैं; कुछ का कथन है कि इन्द्रियां पांच हैं, अन्यों का मत है कि इन्द्रियां छः हैं; (३) 'अधिकरणसिद्धान्त' अर्थात् वे सिद्धान्त जिनके सिद्ध अथवा स्वीकृत होने पर अन्य सिद्धान्त भी सिद्ध और स्वीकृत हो जाते हैं, यथा यदि यह सिद्ध हो जाय कि निष्काम होने के कारण मुक्त आत्माओं को कर्मफल नहीं भोगने पड़ते हैं, तो कर्मफल-भोग, मुक्ति, आत्मा की सत्ता और मृत्यु के पश्चात् अस्तित्व के सिद्धान्तों को भी संहित मानना होगा, (४) 'अभ्युपगम-सिद्धान्त' अर्थात् वे सिद्धान्त

उपपत्तिसम' होता है। 'उपलब्धिसम' वहाँ होता है, जहाँ यह प्रस्तुत किया जाय कि शक्तिशाली तूफान से वृक्ष के टूटने पर होने वाला शब्द प्रयत्नान्तरीयकत्व का परिणाम नहीं होने पर भी अनित्य है; पुनः विद्युत् मानव प्रयत्न का परिणाम न होने पर भी अनित्य है। इसका उत्तर यह है कि व्याप्ति प्रयत्नानारीयकत्व और अनित्यता के बीच है, न कि अनित्यता और प्रयत्नान्तरीयकत्व के बीच; ताकि मानव प्रयत्न से उत्पन्न सब कुछ अनित्य है, परन्तु इसके विपरीत अवस्था में नहीं। यह और ध्यान रखना चाहिए कि प्रयत्नान्तरीयकत्व के द्वारा इस बात पर बल दिया गया है कि इस धर्म से युक्त सब पदार्थ उत्पन्न किए जाते हैं। 'अनित्यसम' वह आपत्ति है जिसमें, उदाहरण के तौर पर, यह कहा जाय कि यदि शब्द और घट की समानता के कारण शब्द अनित्य है, तो जगत् के सारे पदार्थों का घट से कुछ न कुछ सादृश्य होने के कारण, सारे पदार्थ अनित्य होंगे। 'नित्य सम' आपत्ति निम्न है: शब्द की अनित्यता क्या अनित्य है या नित्य? यदि नित्य है, तो घट में नित्यता का गुण स्थिर रहने के लिए स्वयं घट का भी नित्य होना आवश्यक है।

'कार्यसम' आपत्ति में यह बताया गया है कि प्रयत्नान्तरीयकत्व दो प्रकार से उत्पत्ति का कारण है, या तो सत्ताहीन को सत्ता में लाने के द्वारा, या आवरण से युक्त किसी पदार्थ से आवरण हटाने के द्वारा; और यह अनिश्चित रहता है कि शब्द के लिए किस प्रकार का प्रयत्नान्तरीयकत्व प्रयोजनीय है।

—उपर्युक्त सारी व्याख्या जयन्त कृत 'न्याय मंजरी' पर आधारित है।

जिन्हें तर्क के लिए ही स्वीकार किया जाय और जिनकी न तो आलोचनात्मक रूप से परीक्षा की जाय और न जिन्हें सिद्ध ही माना जाय।[1]

वर्णसमाम्नाय का नाम 'शब्द' है, वह चार प्रकार का होता है अर्थात् (१) दृष्टार्थ–प्रत्यक्ष अर्थ का बोधक (यथा, तीन हेतुओं से दोष कुपित हो जाते हैं), (२) अदृष्टार्थ–अप्रत्यक्ष अर्थ का बोधक (यथा पुनर्जन्म होता, मोक्ष प्राप्ति), (३) 'सत्य' अर्थात् जो तथ्यो से मेल खाता है, यथा "आयुर्वेद का अस्तित्व, उपचार साध्य रोगों का उपचार,' (४) 'अनृत', सत्य का उलटा।[2] संदिग्ध अर्थों के संदर्भ में 'संशय' का प्रयोग होता है। इस प्रकार अस्वस्थ और निष्क्रिय मनुष्य अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं, जबकि स्वस्थ और चेष्टावान् मनुष्य दीर्घायुष्य को प्राप्त करते हैं। अतः इसमें संशय है कि क्या मृत्युकाल आने पर होती है अथवा अकाल ही। 'प्रयोजन' वह है जिसके लिए किसी काम को आरम्भ किया जाय। इस प्रकार कोई यह सोच ले कि, यदि अकाल-मृत्यु होती है तो मैं स्वास्थ्यकर आदतों को ग्रहण करूँगा और अस्वास्थ्यकर का त्याग करूँगा, ताकि अकाल मृत्यु मुझे स्पर्श न कर सके।[3] 'सव्यभिचार' का अर्थ है अस्थिरता, यथा इस व्याधि के लिए यह औषधि हो सकती है या नहीं हो सकती।[4] 'जिज्ञासा' का अर्थ है परीक्षण, किसी औषधि की उसकी सम्यक् जिज्ञासा के पश्चात् ही सलाह देनी चाहिए। 'व्यवसाय' का अर्थ है निश्चय, यथा 'यह व्याधि वात की प्रधानता के कारण है, इस व्याधि के लिए यह औषधि है'। 'अर्थप्राप्ति' सुविदित 'अर्थापत्ति' ही है। जब कुछ कहने पर कोई अन्य अनुक्त अर्थ भी कथित हो जाता है, उस समय 'अर्थप्राप्ति' होती है; यह 'अर्थप्राप्ति' की अवस्था है, जैसे इस कथन में 'रोगी को सामान्य अन्नपान का प्रयोग करने देने से इस रोग का उपचार नहीं हो सकता–' अन्तर्निहित अर्थ यह है कि इस रोग का उपवास के द्वारा

---

[1] ये सब सिद्धान्त न्यायसूत्र, १. १. २८. २९. ३०. ३१ में इन्हीं नामों से मिलते हैं।

[2] 'दृष्टार्थ' और 'अदृष्टार्थ' ये पृथक् दो भाग 'न्यायसूत्र' १. १. ८ में उपलब्ध होते हैं। स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्।

[3] सुख और दुःख के अर्थ के द्योतक 'प्रयोजन' का न्यायसूत्र १. १. १ में उल्लेख है, यद्यपि इसकी आलोचनात्मक परीक्षा कहीं भी नहीं की गई है। वात्स्यायन ने इसकी व्याख्या 'कर्म में मनुष्यों की प्रवृत्ति करने वाले' के रूप में (येन प्रयुक्तः प्रवर्तते) की है। उद्योतकर ने इसकी व्याख्या 'सुख प्राप्ति' और 'दुःख हानि' के अर्थ में की है। (सुखप्राप्ति दुःखहानि)।

[4] अनैकान्तिकः सव्यभिचारः न्यायसूत्र १. २. ५। उदाहरणार्थ, 'शब्द नित्य है' क्योंकि यह अस्पृश्य है, परन्तु अस्पृश्यता से नित्यता की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि स्पृश्य अणुनित्य है जबकि अस्पृश्य विचार अल्पायु है।

उपचार किया जा सकता है, यथा यदि यह कहा जाय 'वह दिन में न खाये' तो उसका अर्थ होगा कि 'वह रात्रि में न खाये'।'[1] जिस स्रोत से किसी चीज का उद्भव हो उसे 'संभव' कहते हैं, उदाहरणस्वरूप षड्धातुओं को गर्भ का 'संभव' माना जा सकता है, अयुक्त आहार को रोग का और सम्यक् चिकित्सा को स्वास्थ्य का।

'अनुयोज्य' का अर्थ दोषयुक्त उत्तर है, जिसके उन विवरणों को छोड़ दिया हो जिनका समावेश उत्तर में होना चाहिए; यथा 'यह रोग संशोधन उपायों द्वारा साध्य है,' ऐसा कथन सदोष है क्योंकि इसमें यह नहीं कहा गया है कि संशोधन वमन द्वारा करना अथवा रेचन द्वारा। 'अनुयोज्य' से जो भिन्न है वह 'अननुयोज्य' होता है। किसी संभाषण में एक पंडित द्वारा अपने अन्य सहयोगी पंडित की प्रतिज्ञा के हेतु के विषय में जानकारी के लिए पूछा गया प्रश्न 'अनुयोग' होता है, यथा कोई पंडित कहे, 'पुरुष नित्य है' और अन्य पंडित पूछे 'इसका हेतु क्या है?' इस प्रकार का प्रश्न 'अनुयोग' कहलाता है। इस प्रश्न के जवाब में अन्य प्रश्न यथा 'तुम्हारे इस प्रकार के प्रश्न पूछने का क्या हेतु है'? 'प्रत्यनुयोग' कहलाता है।

'वाक्यदोष' अर्थात् दोषपूर्ण कथन पांच प्रकार का होता है: न्यून, अधिक, अनर्थक, अपार्थक और विरुद्ध। न्यून अर्थात् अभाव का दोष वह होता है जिसमें तर्कवाक्य के लिए आवश्यक पांच वचनों में से किसी का अभाव हो। इसका प्रयोग उन अवस्थाओं में भी हो सकता है जिनमें किसी कथन की पुष्टि के लिए अनेकों हेतुओं की अपेक्षा होने पर केवल एक हेतु ही प्रस्तुत किया जाय और अन्यों को छोड़ दिया जाय और इस प्रकार मूल कथन के पक्ष का बल वास्तविक रूप से प्रभावित हो। इस प्रकार पुरुष की नित्यता के पक्ष में उसका अनादित्व, अप्रयत्नान्तरीयकत्व, निर्विकारत्व, आदि कई हेतु दिए जाते हैं। इन सब हेतुओं को देने का प्रस्ताव करना और केवल एक ही हेतु देना 'न्यून' का उदाहरण है। 'अधिक' वहां होता है जहां आयुर्वेद सम्बन्धी संभाषण के समय विपक्षी राजनीति अथवा दण्डनीति के पांडित्यपूर्ण ग्रन्थों के असगत संदर्भो का उल्लेख करता है। इसका अर्थ वे कथन भी है, संकेत हैं, जिनमें शब्दों अथवा वाक्यों को अनावश्यक रूप से बार-बार कहा जाय। इस प्रकार की पुनरुक्ति दो प्रकार की होती है; शब्द पुनरुक्ति और अर्थपुनरुक्ति। किसी एक ही शब्द का बार-बार कथन, शब्द पुनरुक्ति होता है; जबकि अर्थपुनरुक्ति वह है जहां भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग करके भी केवल एक ही अर्थ को बार-बार कहा जाय।

---

[1] चक्रपाणि का कथन है कि अर्थप्राप्ति को चरक पृथक् प्रमाण नहीं मानते हैं, उनके अनुसार यह अनुमान का ही एक रूप है, और इसलिए इसे प्रमाणों की सूची में सम्मिलित किया गया है।

'अनर्थक' और 'अपार्थक' का अर्थ है अर्थहीन और असम्बद्ध शब्दों अथवा वाक्यों का प्रयोग। 'विरुद्ध' का अर्थ है 'दृष्टान्त विरुद्ध' अथवा सिद्धान्त विरुद्ध कथन की उक्ति; यथा शीत जल उष्ण है, क्योंकि ज्वर भी उष्ण है, अथवा जब कोई वैद्य यह कहे कि औषधि रोगों का उपचार नहीं करती है।

'समयविरुद्ध' वह है जिसमें किसी शास्त्रविशेष के सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई कथन किया जाय। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, यदि कोई मीमांसक कहे कि पशुओं की बलि न दी जाय, तो यह कथन इस सिद्धान्त के विरुद्ध होगा कि पशु-बलि दी जाय। अथवा, यदि किसी मोक्ष-शास्त्र संबंधी किसी दर्शन में यह कहा जाय कि प्राणि-हिंसा उचित है, तो यह उस शास्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध होगा। 'वाक्यप्रशंसा' ऐसे कथन को कहते हैं, जिसमें वाक्य-दोष के अन्तर्गत वर्णित उपर्युक्त दोष न हों।

'छल' का अर्थ उस प्रत्युत्तर से है जिसमें विपक्षी के कथन का जानबूझकर गलत अर्थ लगाया जाय। इसके दो प्रकार हैं, वाक्छल और सामान्य-छल। 'नव' शब्द का अर्थ है 'नौ' और 'नया,' और यदि कोई अपने विपक्षी के बारे में कहे 'वह वैद्य नवतन्त्र है' (अपने शास्त्र का उसका अध्ययन नया-नया ही है) और विपक्षी उत्तर दे 'मैंने नौ तन्त्रों का अध्ययन नहीं किया, मैंने तो एक तन्त्र का ही अध्ययन किया है;' पूर्वपक्ष वाला आपत्ति करे 'मैं यह नहीं कहता कि आपने नौ तन्त्रों का अध्ययन किया, मैं तो यह कहता हूँ कि आप नवाभ्यस्ततंत्र हैं (आपका शास्त्र का अध्ययन नया ही है),' तो नवाभ्यस्ततंत्र का अर्थ 'नौ बार पढ़ा हुआ' भी हो सकता है, और तब विपक्षी अच्छी तरह से कह सकता है 'मैंने तंत्र का अध्ययन कई बार किया, न कि नौ बार, जैसा आप कहते हैं। यह 'वाक्छल' का उदाहरण है।

पुनः, किसी वैद्य के यह कहने पर कि 'औषधि रोगों का उपशमन करती है' विपक्षी वाक्य के सामान्यतम धर्मों को ग्रहण करके यह कहे कि इसका तो अर्थ यह निकलता है कि सत् अन्य सत् का ही उपचार करता है, और यदि यह ऐसा है, तो कास के सत् होने (सत् कासः) और क्षय के सत् (सत् क्षयः) होने के कारण, सत् कास को अन्य सत् क्षय का उपशमन अवश्य करना चाहिए। इसे सामान्य छल कहते हैं।[1]

---

[1] न्यायसूत्र में 'छल' का ठीक उसी प्रकार से वर्णन किया गया है जिस प्रकार यहाँ वर्णन किया गया है। न्यायसूत्र (१. २. १०) में 'छल' की परिभाषा की गई है 'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्याछलम्' (किसी के वचन पर जानबूझकर गलत अर्थ लगाने के द्वारा किया गया विघात 'छल' होता है)। यह तीन वर्गों में विभक्त है वाक्छल, सामान्यछल और उपचार-छल, इनमें से वाक्छल ठीक चरक संहिता के वाक्छल के समान है, और सामान्य छल भी उसी प्रकार चरक संहिता के सामान्य छल के समान है (व्रात्य भी किसी न किसी अर्थ में ब्राह्मण ही है, अब क्योंकि

'यह वैद्य है क्योंकि उसने आयुर्वेद के एक अंश का कथन किया है,' तो यह 'संशयसम' की अवस्था होगी। गौतम ने 'संशयसम' का कथन जाति के उदाहरण के रूप में किया है, परन्तु पूर्वपक्ष एक ऐसी दशा है जिसमें संशय का निवारण नहीं किया गया है क्योंकि साध्य विषय के दो विरोधी गुणों से युक्त होने के कारण, इन गुणों में से किसी एक के बल पर कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। तथापि 'संशयसम' का प्रयोग यहां इस अर्थ में किया गया है कि जो स्वयं संशयपन्न है उसी को ही किसी सिद्धान्तविशेष के हेतु के रूप में प्रस्तुत किया जाय।

'वर्ण्यसम' वहां होता है, जहां एक वस्तु के बारे में किसी वचन को ऐसे किसी अन्य वचन के बल पर कहा जाय जो स्वयं असिद्ध होने के कारण पूर्ववचन की समान अवस्था में हो; यथा 'अस्पर्शत्व के कारण शब्द के समान, बुद्धि भी अनित्य है'। परन्तु शब्द की अनित्यता को भी बुद्धि की अनित्यता के समान ही प्रमाण की अपेक्षा है, और पूर्ववचन का कथन उत्तरवचन के आधार पर नहीं किया जा सकता। यह अहेतु 'साध्यसम' नामक जाति और पृष्ठ ३८६ के पादटिप्पण में वर्णित गौतम के 'साध्यसम' हेत्वाभास के सदृश है।

'अतीत काल' वह है जिसमें पहले कही जाने वाली बात बाद में कही जाय, यथा प्रतिज्ञा पहले कही जानी चाहिए और निगमन बाद में, यदि इसके स्थान पर निगमन का कथन पहले हो और प्रतिज्ञा का बाद में तो यह कालातीत दोष होगा।

'उपालम्भ' (आलोचना) हेतुओं में दोष प्रदर्शित करने को कहते हैं; इसे ऊपर वर्णित 'अहेतु' अथवा 'हेत्वाभास' भी कहते हैं। विपक्षी द्वारा प्रस्तुत आपत्तियों के उत्तर को 'परिहार' कहते हैं। यथा आत्मा नित्य है, क्योंकि जबतक यह शरीर में निवास करता है, तबतक यह जीवन के चिह्न प्रदर्शित करता है, और शरीर के विद्यमान होते हुए भी जब यह अलग हो जाता है तो जीवन का कोई चिह्न शेष नहीं रहता, अतः आत्मा शरीर से भिन्न है और नित्य है। 'प्रतिज्ञा-हानि' (अपनी प्रतिज्ञा का त्याग करना) वहां होता है जहां कोई मनुष्य विपक्षी द्वारा अभिभूत होकर अपनी मूल प्रतिज्ञा का त्याग करने के लिए बाध्य हो। इस प्रकार कोई इस प्रतिज्ञा से आरम्भ करे कि 'पुरुष नित्य है,' परन्तु अभिभव को प्राप्त होकर वह इस प्रतिज्ञा को त्याग दे और कहे कि पुरुष अनित्य है। 'प्रत्यभिज्ञा' (प्रत्यारोपण करना) वह होती है जिसमें कोई विवादी विरोधी द्वारा अपने पर लगाए गए आरोपों का खंडन करने के स्थान पर विरोधी पर ही उन्हीं दोषों का आरोपण करे।[1] 'हेत्वन्तर' (गलत हेतु द्वारा टालना) उसे कहते हैं जहां प्रकृति-हेतु के पूछे जाने पर प्रकृति के विकार-हेतु का

...' के अनुरूप है।

इस प्रकार, जब यह कहा जाता है कि आत्मा अनित्य है क्योंकि वह शरीर से पृथक् है, और शरीर अनित्य है क्योंकि यह अचेतन है, तो यह आग्रह किया जा सकता है (दार्शनिकों की चार्वाक शाखा के अनुसार) कि हेतु रूप में प्रस्तुत स्वयं दोनों विषयों अर्थात् आत्मा का शरीर से पृथक्त्व और शरीर का अचेतनत्व, को सिद्ध किया जाय, क्योंकि चार्वाकों के अनुसार शरीर चेतन और अनित्य है। नीचे दी गई टिप्पणी का अवलोकन यह प्रदर्शित करेगा कि यह 'प्रकरणसम' न्यायसूत्र के 'प्रकरण-सम' से पृथक् है। 'संशयसम' वह है जिसमें संशय के हेतु को किसी सिद्धान्त विशेष के हेतु के रूप में प्रस्तुत किया जाय, यथा यह मनुष्य आयुर्वेद के अंश का कथन करता है–क्या यह वैद्य है या नहीं ? वैद्य न होकर भी किसी मनुष्य ने कहीं पर आयुर्वेद के अंश को सुनकर यहाँ उसका कथन कर दिया हो। अतः अब आयुर्वेद के अंश का कथन उस मनुष्य के वैद्य होने अथवा न होने के विषय में हमें संशय में डाल देता है। यदि इसी को ही सिद्धान्त विशेष के हेतु के रूप में प्रस्तुत किया जाय और यदि यह कहा जाय

इस प्रकार यह उतने ही बलपूर्वक कहा जा सकता है कि 'शब्द नित्य है, क्योंकि उसमें नित्य पदार्थों के गुण हैं, 'जितने बल से यह कि 'शब्द अनित्य है, क्योंकि इसमें अनित्य पदार्थों के गुण हैं;' अतः इन हेतुओं में से किसी एक के द्वारा कोई भी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

साध्यसम वहाँ होता है जहाँ स्वयं हेतु को ही सिद्ध करना पड़े। इस प्रकार इस तर्क में कि 'छाया चलती है इसलिए पदार्थ है' छाया का चलत्व संशयग्रस्त विषय है और स्वयं इसको सिद्ध करने की आवश्यकता है। क्या छाया मनुष्य के समान चलती है अथवा ऐसा इस कारण होता है कि आवरण करने वाली ईकाई के चलने से विभिन्न स्थानों पर प्रकाश आवृत्त हो जाता है और उसके कारण विभिन्न स्थानों पर छायाओं का निर्माण होता है ?

'कालातीत' वहाँ होता है जहाँ स्वीकृत दृष्टान्त और साध्य के हेतुओं में अन्तर हो, क्योंकि साध्य के हेतु के विषय में हेतु वस्तुतः हेतु नहीं है, क्योंकि हेतु और साध्य दो अनुक्रम क्षणों में विद्यमान होने के कारण अव्यापन्न हैं; स्वीकृत दृष्टान्त के हेतु के विषय में वे व्यापन्न और युगपत् हैं यथा वाक्य नित्य है, क्योंकि रूप के समान यह भी दण्ड और मृदंग के सम्पर्क से प्रकट होने वाले संबंध-विशेष, यथा प्रकाश, के कारण उसी प्रकार प्रकट होता है जिस प्रकार प्रकाश और किसी वस्तु के संपर्क के कारण रूप प्रकट होता है। परन्तु सादृश्य असफल हो जाता है, क्योंकिजहाँ रूप प्रकाश और वस्तुओं के सम्पर्क के साथ युगपत् भाव से प्रकट होता है, वहाँ शब्द दण्ड और मृदंग के सम्पर्क के वास्तविक समय से पृथक् समय पर सुनाई देता है।

'वह वैद्य है क्योंकि उसने आयुर्वेद के एक अंश का कथन किया है,' तो यह 'संशयसम' की अवस्था होगी। गौतम ने 'संशयसम' का कथन जाति के उदाहरण के रूप में किया है, परन्तु पूर्वपक्ष एक ऐसी दशा है जिसमें संशय का निवारण नहीं किया गया है क्योंकि साध्य विषय के दो विरोधी गुणों से युक्त होने के कारण, इन गुणों में से किसी एक के बल पर कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। तथापि 'संशयसम' का प्रयोग यहां इस अर्थ में किया गया है कि जो स्वयं संशयपन्न है उसी को ही किसी सिद्धान्तविशेष के हेतु के रूप में प्रस्तुत किया जाय।

'वर्ण्यसम' वहाँ होता है, जहाँ एक वस्तु के बारे में किसी वचन को ऐसे किसी अन्य वचन के बल पर कहा जाय जो स्वयं असिद्ध होने के कारण पूर्ववचन की समान अवस्था में हो; यथा 'अस्पर्शत्व के कारण शब्द के समान, बुद्धि भी अनित्य है'। परन्तु शब्द की अनित्यता को भी बुद्धि की अनित्यता के समान ही प्रमाण की अपेक्षा है, और पूर्ववचन का कथन उत्तरवचन के आधार पर नहीं किया जा सकता। यह अहेतु 'साध्यसम' नामक जाति और पृष्ठ ३८६ के पादटिप्पण में वर्णित गौतम के 'साध्यसम' हेत्वाभास के सदृश है।

'अतीत काल' वह है जिसमें पहले कही जाने वाली बात बाद में कही जाय, यथा प्रतिज्ञा पहले कही जानी चाहिए और निगमन बाद में, यदि इसके स्थान पर निगमन का कथन पहले हो और प्रतिज्ञा का बाद में तो यह कालातीत दोष होगा।

'उपालम्भ' (आलोचना) हेतुओं में दोष प्रदर्शित करने को कहते हैं; इसे ऊपर वर्णित 'अहेतु' अथवा 'हेत्वाभास' भी कहते हैं। विपक्षी द्वारा प्रस्तुत आपत्तियों के उत्तर को 'परिहार' कहते हैं। यथा आत्मा नित्य है, क्योंकि जबतक यह शरीर में निवास करता है, तबतक यह जीवन के चिह्न प्रदर्शित करता है, और शरीर के विद्यमान होते हुए भी जब यह अलग हो जाता है तो जीवन का कोई चिह्न शेष नहीं रहता, अतः आत्मा शरीर से भिन्न है और नित्य है। 'प्रतिज्ञा-हानि' (अपनी प्रतिज्ञा का त्याग करना) वहाँ होता है जहाँ कोई मनुष्य विपक्षी द्वारा अभिभूत होकर अपनी मूल प्रतिज्ञा का त्याग करने के लिए बाध्य हो। इस प्रकार कोई इस प्रतिज्ञा से आरम्भ करे कि 'पुरुष नित्य है,' परन्तु अभिभव को प्राप्त होकर वह इस प्रतिज्ञा को त्याग दे और कहे कि पुरुष अनित्य है। 'प्रत्यभिज्ञा' (प्रत्यारोपण करना) वह होती है जिसमें कोई विवादी विरोधी द्वारा अपने पर लगाए गए आरोपों का खंडन करने के स्थान पर विरोधी पर ही उन्हीं दोषों का आरोपण करे।[1] 'हेत्वन्तर' (गलत हेतु द्वारा टालना) उसे कहते हैं जहाँ प्रकृति-हेतु के पूछे जाने पर प्रकृति के विकार-हेतु का

---

[1] यह न्यायसूत्र ५. १. ४२ की 'मतानुज्ञा' के अनुरूप है।

वर्णन किया जाय।[1] 'अर्थान्तर' (गलत उत्तर) वह होता है जहाँ एक वस्तु (ज्वर) के लक्षण पूछने पर दूसरी वस्तु (प्रमेह) के लक्षण कहे जायें।[2] 'निग्रह स्थान' उसे कहते हैं जहां पंडित सभा में किसी वाक्य का तीन बार कथन करने पर भी विरोधी उसका अर्थ न समझ पाए। चरक ने निग्रह स्थान में ऐसी कई बातों का समावेश किया है जिनको पहले ही गिनाया एवं वर्णित किया जा चुका है। इस प्रकार उन्होंने प्रतिज्ञा-हानि, अभ्यनुज्ञा, कालातीत, अहेतु, न्यून, अतिरिक्त व्यर्थ, अपार्थक, पुनरुक्त, विरुद्ध, हेत्वन्तर, अर्थान्तर का निर्देश किया है।[3]

इसके पश्चात् चरक आगे उन दस प्रकरणों का वर्णन करते हैं जिनका ज्ञान आयुर्वेद के प्रतिपाद्य विषय में पारंगत होने के लिए उनके विचार में आवश्यक है। वे हैं, कारण (कर्त्ता अथवा प्रयोजक), करण (किसी प्रयत्न को कार्यरूप देने के लिए, कर्त्ता के लिए आवश्यक साधन), कार्य-योनि (उपादान कारण, जिसके विकार से कार्य उत्पन्न होता है), कार्य (जिसके उत्पादन के लिए कर्त्ता प्रयत्न करे), कार्यफल (जिसके प्रयोजन के लिए कर्त्ता किसी कार्य विशेष के संपादन की इच्छा करे), अनुबन्ध (कार्य सम्पादन के पश्चात् कर्त्ता को अपने से बांधने वाला शुभ अथवा अशुभ फल), देश (स्थान), काल (ऋतु, दिन, आदि), प्रवृत्ति (कार्य की उत्पत्ति के लिए आवश्यक प्रयत्न और कर्म), और उपाय (कार्य के संपादन में समर्थ कर्त्ता की सहनशीलता और

---

[1] न्यायसूत्र ५. २. ६ में हमें 'हेत्वन्तर' का उल्लेख मिलता है, परन्तु वह इस 'हेत्वन्तर' से पृथक् प्रतीत होता है। न्यायसूत्र में वर्णित 'हेत्वन्तर' का अर्थ निम्न प्रकार से प्रदर्शित किया जा सकता है। कोई सांख्यानुयायी यह कहे कि यह सम्पूर्ण पदार्थमय जगत् एक मूल कारण (प्रकृति) से उद्भूत है क्योंकि ये सब पदार्थ अवच्छिन्न हैं और जो अवच्छिन्न है वह एक ही मूल कारण (प्रकृति) से उद्भूत होता है। इसका खंडन यह प्रदर्शित करके किया जा सकता है कि एकाधिक मूल कारण से उद्भूत कई अवच्छिन्न पदार्थ हैं। इसके उत्तर में सांख्यानुयायी यह कहता है कि केवल सुख-दुःख और अज्ञान से युक्त पदार्थ ही एक मूल कारण से प्रादुर्भूत माने जाने चाहिए, परन्तु यह बाद में जोड़ा गया है, यह मूल प्रतिज्ञा में सम्मिलित नहीं था।

[2] न्यायसूत्र ५. २. ७ में इसका भी वर्णन है।

[3] न्यायसूत्र ५. २. १ में वर्णित निग्रह स्थान निम्न है: प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञा-विरोध, प्रतिज्ञासन्न्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त, हेत्वाभास। इनमें से कई का चरक ने भी उल्लेख नहीं किया है।

में ग्रहण करना । एकान्तर अथवा वैकल्पिक निर्देशों को देने की विधि को ही 'विकल्प' कहते हैं । 'ऊह्य' वह तन्त्रयुक्ति है जिसके द्वारा सन्दर्भ से प्रत्यक्ष दीखने वाली वस्तुओं को समझा जाय ।'

यह सरलता से देखा जा सकता है कि इन बत्तीस तन्त्रयुक्तियों में कुछ तो भावों की व्याख्या करने के साधन हैं, अन्य शास्त्रीय शब्दों और उनके सम्बन्धों की व्याख्याओं और विधियों की व्याख्या करने के साधन हैं, जबकि अन्य और ऐसे भी हैं, जो शैली की विशेष विलक्षणताओं के वर्णन मात्र हैं । संकलनकर्त्ता (नागार्जुन) का कथन है कि मैंने इन सब तन्त्रयुक्तियों का संग्रह शास्त्रबोध के सामान्य सिद्धान्तों के रूप में किया है और उन्होंने इनको 'शब्दन्यायार्थ' अर्थात् शाब्दिक व्याख्या के न्यायों का अर्थ कहा है ।

क्या तर्कशास्त्र आयुर्वेदीय चिकित्सकों के संभाषण से उद्भूत है ?

अपने ग्रन्थ History of Indian Logic में डा० महामहोपाध्याय विद्याभूषण ने बिना किसी कारण को प्रस्तुत किए यह मान लिया है कि चरक संहिता में आन्वीक्षिकी के मुख्य सिद्धान्तों को संभवतः मेधातिथि गौतम द्वारा प्रतिपादित रूप में संक्षेप में दे दिया गया है । उनका आगे कथन है कि आन्वीक्षिकी के सिद्धान्त प्रत्यक्षतः पुनर्वसु-आत्रेय रचित मूल आयुर्वेद के अंग नहीं थे, और चरक काल में पर्याप्त रूप में प्रचलित और अधीत इन सिद्धान्तों का चरक संहिता में समावेश संग्रहकर्त्ता चरक द्वारा किया गया प्रतीत होता है । डा० विद्याभूषण का मत है कि चरक और अक्षपाद दोनों ने न्याय सिद्धान्तों को मेधातिथि गौतम से ग्रहण किया, परन्तु जहाँ चरक ने उनको अपने प्राकृत रूपों में अंगीकार किया, वहाँ अक्षपाद ने उनको न्यायसूत्र में आत्मसात् करने से पूर्व पूरी तरह से परिष्कृत कर लिया था ।[1]

परन्तु डा० विद्याभूषण का मेधातिथि गौतम न्यूनाधिक एक पौराणिक व्यक्ति ही है, और ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि उन्होंने कभी कुछ लिखा हो अथवा चरक किसी बात के लिए मेधातिथि गौतम के ऋणी हैं अथवा चरक संहिता में उपलब्ध न्याय सिद्धान्त इस समय अप्राप्य अग्निवेशकृत मूल संहिता में नहीं थे । आन्वीक्षिकी के स्थापक के रूप में गौतम का उल्लेख करने वाले कुसुमांजलि, नैषधचरित और न्यायसूत्रवृत्ति जैसे कई ग्रन्थों के साक्ष्य का उल्लेख किया है । परन्तु इन ग्रन्थों में से कोई भी दसवीं शती ई० प० से पहले का नहीं है । उन्होंने पद्मपुराण, स्कन्दपुराण और गन्धर्वतन्त्र

---

[1] महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण द्वारा रचित History of Indian Logic पृ० २५–२६, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९२१ ।

में ग्रहण करना। एकान्तर अथवा वैकल्पिक निर्देशों को देने की विधि को ही 'विकल्प' कहते हैं। 'ऊह्य' वह तन्त्रयुक्ति है जिसके द्वारा सन्दर्भ से प्रत्यक्ष दीखने वाली वस्तुओं को समझा जाय।

यह सरलता से देखा जा सकता है कि इन बत्तीस तन्त्रयुक्तियों में कुछ तो भावों की व्याख्या करने के साधन हैं, अन्य शास्त्रीय शब्दों और उनके सम्बन्धों की व्याख्याओं और विधियों की व्याख्या करने के साधन हैं, जबकि अन्य और ऐसे भी हैं, जो शैली की विशेष विलक्षणताओं के वर्णन मात्र हैं। संकलनकर्त्ता (नागार्जुन) का कथन है कि मैंने इन सब तन्त्रयुक्तियों का संग्रह शास्त्रबोध के सामान्य सिद्धान्तों के रूप में किया है और उन्होंने इनको 'शब्दन्यायार्थ' अर्थात् शाब्दिक व्याख्या के न्यायों का अर्थ कहा है।

क्या तर्कशास्त्र आयुर्वेदीय चिकित्सकों के संभाषण से उद्भूत है ?

अपने ग्रन्थ History of Indian Logic में डा० महामहोपाध्याय विद्याभूषण ने बिना किसी कारण को प्रस्तुत किए यह मान लिया है कि चरक संहिता में आन्वीक्षिकी के मुख्य सिद्धान्तों को संभवतः मेधातिथि गौतम द्वारा प्रतिपादित रूप में संक्षेप में दे दिया गया है। उनका आगे कथन है कि आन्वीक्षिकी के सिद्धान्त प्रत्यक्षतः पुनर्वसु-आत्रेय रचित मूल आयुर्वेद के अंग नहीं थे, और चरक काल में पर्याप्त रूप में प्रचलित और अधीत इन सिद्धान्तों का चरक संहिता में समावेश संग्रहकर्त्ता चरक द्वारा किया गया प्रतीत होता है। डा० विद्याभूषण का मत है कि चरक और अक्षपाद दोनों ने न्याय सिद्धान्तों को मेधातिथि गौतम से ग्रहण किया, परन्तु जहाँ चरक ने उनको अपने प्राकृत रूपों में अंगीकार किया, वहाँ अक्षपाद ने उनको न्यायसूत्र में आत्मसात् करने से पूर्व पूरी तरह से परिष्कृत कर लिया था।[1]

परन्तु डा० विद्याभूषण का मेधातिथि गौतम न्यूनाधिक एक पौराणिक व्यक्ति ही है, और ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि उन्होंने कभी कुछ लिखा हो अथवा चरक किसी बात के लिए मेधातिथि गौतम के ऋणी हैं अथवा चरक संहिता में उपलब्ध न्याय सिद्धान्त इस समय अप्राप्य अग्निवेशकृत मूल संहिता में नहीं थे। आन्वीक्षिकी के स्थापक के रूप में गौतम का उल्लेख करने वाले कुसुमांजलि, नैषधचरित और न्यायसूत्रवृत्ति जैसे कई ग्रन्थों के साक्ष्य का उल्लेख किया है। परन्तु इन ग्रन्थों में से कोई भी दसवीं शती ई० प० से पहले का नहीं है। उन्होंने पद्मपुराण, स्कन्दपुराण और गन्धर्वतन्त्र

महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण द्वारा रचित History of Indian Logic पृ० २५-२६, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १६२१।

कि मेधातिथि आन्वीक्षिकी अथवा न्याय के कर्त्ता थे और न उसमें यह कहा गया है कि मेधातिथि और गौतम एक ही व्यक्ति थे।[1] गौतम नाम गोत्रवाची नाम है, और डा० विद्याभूषण द्वारा उल्लिखित महाभारतीय अंश का स्पष्ट अर्थ यह है कि गौतम गोत्रीय महाप्राज्ञ मेधातिथि तपश्चर्या के व्रत में लीन थे। इस कथन की इस तथ्य से भी पुष्टि होती है कि डा० विद्याभूषण द्वारा उद्धृत भास के अंश में मेधातिथि का न्याय-शास्त्र के आचार्य के रूप में वर्णन है, और उसमें उन्हें गौतम नहीं कहा गया है, और न उन्हें न्यायशास्त्र का स्रष्टा ही कहा है।[2] अतः मेधातिथि के न्यायशास्त्र का प्रवर्तक होने का डा० विद्याभूषण का सिद्धान्त ताश के महल के समान धराशायी हो जाता है। डा० विद्याभूषण का मिथिला को मेधातिथि गौतम का जन्मस्थान बताना, मेधातिथि का कालनिर्णय, मेधातिथि गौतम संबंधी फारसी उल्लेखों की अंगुत्तरनिकाय तथा ब्रह्मजालसुत्त के तथाकथित मेधातिथि गौतम संबंधी उल्लेखों से एकात्मकता स्थापित करना भी कम कपोलकल्पना नहीं है।[3] न्याय की गौतम परम्परा का अनुसरण करना आवश्यक नहीं है, परन्तु प्रसंगतः यह वर्णन किया जा सकता है कि व्याधियों के कारण और उपशमन का विचार करने के लिए एकत्रित ऋषि-मंडली में, सांख्य (संभवतः बुद्धिमान, दार्शनिक अथवा पंडित के अर्थ में) के रूप में आत्रेय गौतम की भी गणना की गई है; इन आत्रेय के साथ-साथ ही, एक अन्य आत्रेय का भी भिक्षु आत्रेय[4] के नाम से वर्णन किया गया है। व्याधियाँ उत्पन्न होने और उनके उपशमन से संबद्ध समस्याओं की चर्चा करने वाले अनेकों ऋषियों का चरक संहिता में उल्लेख है। इनमें से भारद्वाज ने आयुर्वेद सीखने के हेतु इन्द्र के पास जाने के लिए अपने आपको प्रस्तुत किया था। व्याधियों के हेतु, लिंग और भेषज इन तीनों विषयों के ज्ञाता होने के कारण इन्द्र ने भारद्वाज को उक्त विषय का उपदेश दिया। भारद्वाज ने तीनों विभागों में इस विशद शास्त्र का अध्ययन करके, इसे ऋषियों के सामने ठीक उसी रूप में दुहराया है जिस रूप में उन्होंने इसे सीखा था। ऐसा कहा जाता है कि इसके पश्चात् पुनर्वसु ने अग्निवेश, भेल आदि अपने छः शिष्यों को आयुर्वेद की शिक्षा दी।

---

[1] मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः।
विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम्॥
—महाभारत, शान्तिपर्व, अ २६५ श्लोक ४५-वंगवासी संस्करण।

[2] मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम् (मेधातिथि से न्यायशास्त्र का अध्ययन करके) —भास कृत 'प्रतिमानाटक' अंक ५, पृ० ७६, म० म० गणपति शास्त्री का संस्करण।

[3] डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण कृत History of Indian Logic पृ० १७–२१।

[4] आत्रेयो गौतमः सांख्यः। इस अंश में आत्रेय को प्राज्ञ गौतम से पृथक् मनुष्य के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

के वचनों का भी उल्लेख किया है, परन्तु इनमें से किसी को भी पर्याप्त प्राचीन ग्रन्थ नहीं माना जा सकता। स्वयं वात्स्यायन ने अक्षपाद का उस व्यक्ति के रूप में वर्णन किया है जिसको स्वयं न्याय ने दर्शन दिए।[1] उद्योतकर और वाचस्पति भी अक्षपाद को न्यायसूत्र का प्रवक्ता बताते हैं।[2] अतः अक्षपाद के विरुद्ध गौतम को न्याय का मूल-कर्तृत्व ऐसे प्रमाण पर प्रदान करने का पूर्णतः कोई कारण विद्यमान नहीं है जिस प्रमाण का चिह्न दशम शती के किसी पूर्ववर्ती काल में नहीं मिलता और जो प्राचीनतम न्याय ग्रंथकारों द्वारा नियमित पौराणिक स्रोतों से सीधा संगृहीत है। अतः प्राचीनतम न्याय आचार्यों के साक्ष्य के आधार पर न्यायशास्त्र के चिह्न किसी प्राचीनतर गौतम में खोजे नहीं जा सकते, क्योंकि यदि ऐसा होता तो वात्स्यायन, उद्योतकर अथवा वाचस्पति में से किसी एक द्वारा निश्चय ही इसका वर्णन होता। जयन्त ने तो विशद न्यायशास्त्र को भी अक्षपाद कृत बताया है और ऐसा प्रतीत होता है कि इस विशद ग्रन्थ, न्यायसूत्र, के किसी प्राचीनतर आचार्य के प्रवचन पर आधारित होने का उन्हें ज्ञान था।[3] यदि उन्हें ऐसे किन्हीं आचार्यों का ज्ञान होता तो वे शास्त्र की प्रतिष्ठा और सम्मान के लिए उनका निश्चय ही वर्णन करते। गौतम एक प्राचीन नाम है, और हम इसे ऋग्वेदीय ऋषियों में से एक के साथ (ऋक् १. ६२. ७८. ८५, ४. ४) सम्बद्ध पाते हैं, उनका वर्णन शतपथ ब्राह्मण (१. ४. १. १०, ३३. ४. १६ आदि) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (१. ५) आश्वलायन श्रौतसूत्र (१. ३. २. ६ आदि) और अन्य ऐसे ही ग्रन्थों में मिलता है; परन्तु कहीं भी उनका वर्णन न्यायसूत्र के कर्ता के रूप में नहीं किया गया है। महाभारत के जिस अंश के आधार पर डा० विद्याभूषण 'मेधातिथि गौतम' का अपना सिद्धान्त स्थापित करते हैं, उसमें यह नहीं कहा गया है

---

[1] योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरं।
तस्य वात्स्यायन इद भाष्यजातमवर्तयत्।
—वात्स्यायन भाष्य, २. २४ ई० ४००।
उपर्युक्त का डा० विद्याभूषण द्वारा लगाया यह अर्थ 'न्याय दर्शन ने अपने आपको अक्षपाद से पहले प्रदर्शित किया' अशुद्ध है।

[2] यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां
शमाय शास्त्रं जगतो जगाद
उद्योतकर (ई० ६००) कृत न्यायवार्तिक की प्रारंभिक पंक्तियां।
'अथ भगवताक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते। वाचस्पतिकृत न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका। न्यायवार्तिक के शब्द 'शास्त्र' का डा० विद्याभूषण द्वारा किया गया अनुवाद 'व्यवस्थित रूप में न्यायशास्त्र' भी अशुद्ध है।

[3] अक्षपादप्रणीतो हि विततो न्यायपादपः
जयन्त-भट्ट (ई० प ८८०) कृत न्याय मंजरी की प्रारंभिक पंक्तियाँ।

कि मेधातिथि आन्वीक्षिकी अथवा न्याय के कर्त्ता थे और न उसमें यह कहा गया है कि मेधातिथि और गौतम एक ही व्यक्ति थे।[1] गौतम नाम गोत्रवाची नाम है, और डा० विद्याभूषण द्वारा उल्लिखित महाभारतीय अंश का स्पष्ट अर्थ यह है कि गौतम गोत्रीय महाप्राज्ञ मेधातिथि तपश्चर्या के व्रत में लीन थे। इस कथन की इस तथ्य से भी पुष्टि होती है कि डा० विद्याभूषण द्वारा उद्धत भास के अंश में मेधातिथि का न्यायशास्त्र के आचार्य के रूप में वर्णन है, और उसमें उन्हें गौतम नहीं कहा गया है, और न उन्हें न्यायशास्त्र का स्रष्टा ही कहा है।[2] अतः मेधातिथि के न्यायशास्त्र का प्रवर्तक होने का डा० विद्याभूषण का सिद्धान्त ताश के महल के समान धराशायी हो जाता है। डा० विद्याभूषण का मिथिला को मेधातिथि गौतम का जन्मस्थान बताना, मेधातिथि का कालनिर्णय, मेधातिथि गौतम संबंधी फारसी उल्लेखों की अंगुत्तरनिकाय तथा ब्रह्मजालसुत्त के तथाकथित मेधातिथि गौतम संबधी उल्लेखों से एकात्मकता स्थापित करना भी कम कपोलकल्पना नहीं है।[3] न्याय की गौतम परम्परा का अनुसरण करना आवश्यक नहीं है, परन्तु प्रसंगतः यह वर्णन किया जा सकता है कि व्याधियों के कारण और उपशमन का विचार करने के लिए एकत्रित ऋषि-मंडली में, सांख्य (संभवतः बुद्धिमान, दार्शनिक अथवा पंडित के अर्थ में) के रूप में आत्रेय गौतम की भी गणना की गई है; इन आत्रेय के साथ-साथ ही, एक अन्य आत्रेय का भी भिक्षु आत्रेय[4] के नाम से वर्णन किया गया है। व्याधियाँ उत्पन्न होने और उनके उपशमन से संबद्ध समस्याओं की चर्चा करने वाले अनेकों ऋषियों का चरक संहिता में उल्लेख है। इनमें से भारद्वाज ने आयुर्वेद सीखने के हेतु इन्द्र के पास जाने के लिए अपने आपको प्रस्तुत किया था। व्याधियों के हेतु, लिंग और भेषज इन तीनों विषयों के ज्ञाता होने के कारण इन्द्र ने भारद्वाज को उक्त विषय का उपदेश दिया। भारद्वाज ने तीनों विभागों में इस विशद शास्त्र का अध्ययन करके, इसे ऋषियों के सामने ठीक उसी रूप में दुहराया है जिस रूप में उन्होंने इसे सीखा था। ऐसा कहा जाता है कि इसके पश्चात् पुनर्वसु ने अग्निवेश, भेल आदि अपने छः शिष्यों को आयुर्वेद की शिक्षा दी।

---

[1] मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः।
विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थ्याव्यतिक्रमम्॥
—महाभारत, शान्तिपर्व, अ २६५ श्लोक ४५–वंगवासी संस्करण।

[2] मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम् (मेधातिथि से न्यायशास्त्र का अध्ययन करके) –भास कृत 'प्रतिमानाटक' अंक ५, पृ० ७६, म० म० गणपति शास्त्री का संस्करण।

[3] डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण कृत History of Indian Logic पृ० १७–२१।

[4] आत्रेयो गौतमः सांख्यः। इस अंश में आत्रेय को प्राज्ञ गौतम से पृथक् मनुष्य के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

चक्रपाणि का कथन है कि पुनर्वसु भारद्वाज के शिष्य थे और प्रमाण के रूप में के एक वचन को उद्धृत करते हैं। परन्तु इस विषय पर स्वयं चरक चुप हैं।

परन्तु आयुर्वेद के उद्गम के इस अर्धपौराणिक वर्णन के विषय में एक उभर कर सामने आती है, वह यह कि आयुर्वेद व्याधियों के कारण की जाँच पर और उनके लक्षण तथा चिह्नों को समझने से सम्बद्ध न्यायसंगत अनुमानों के हेतु और लिंग के स्वरूप के अन्वेषण में प्रारम्भ से ही व्यस्त था। चरक के नि स्थान में हेतु के आठ पर्यायवाची दिए गए हैं, अर्थात् हेतु, निमित्त, आयतन, व कारण, प्रत्यय, समुत्थान और निदान। यह पर्याप्त रूप से विस्मयकारक है 'प्रत्यय' और 'आयतन' शब्दों का प्रयोग किया गया है, जोकि शायद बौद्ध शब्द हैं बौद्धमत के अतिरिक्त, भारतीय दर्शन में 'प्रत्यय' शब्द का प्रयोग शायद ही कहीं पा जाय। 'हेतु' के द्योतक इतने पदों का प्रयोग प्रत्यक्षतः यह बताता है कि चरक संकलन से पहले 'हेतु' के द्योतक इन शब्दों का प्रयोग करने वाले एक विस्तृत साहि का अस्तित्व अवश्य था। वास्तव में, चरक-संहिता में 'प्रत्यय' शब्द की हेतु के पर्याय वाची के रूप में गणना होने पर भी, इस शब्द का उसमें हेतु के अर्थ में शायद ही कहीं प्रयोग हुआ हो। इसका स्वाभाविक आशय यही है कि 'प्रत्यय' शब्द का प्रयोग किसी ऐसे पूर्ववर्ती साहित्य में हुआ होगा जहाँ से चरक ने उसका संग्रह किया, ऐसे ही समुत्थान, आयतन आदि उन अन्य शब्दों के विषय में भी कहा जा सकता है जिनकी हेतु के पर्यायवाचियों में गणना तो की गई है परन्तु संहिता के कलेवर में वस्तुतः प्रयोग नहीं किया गया है। इससे हम यह सोच सकते हैं कि विभिन्न नामों के आधीन हेतु की चर्चा चरक से पूर्व विद्यमान उस आयुर्वेद साहित्य का पुराना विषय था, जिसमें से चरक ने उनका संग्रह किया है।

हमें ज्ञात है कि आयुर्वेद का सम्बन्ध मुख्यतः तीन प्रश्नों से था, अर्थात् व्याधियों की उत्पत्ति कैसे होती है, उनको कैसे जाना जाय, और उन्हें शान्त कैसे किया जाय? इस सम्बन्ध में ही व्यावहारिक आवश्यकता के कारण कारणता के सिद्धान्त का सर्वप्रथम आयुर्वेद में प्रयोग किया गया। इस प्रकार यदि यह ज्ञात हो जाय कि किसी व्यक्ति को अकस्मात् ठंड लग गई है अथवा उसने किसी भोज का आनन्द लिया है, तो शीत से ज्वर का और अतिभोजन से अजीर्ण का होना ज्ञात होने के कारण कोई भी मनुष्य प्रथम चिह्नों से ही एक दम यह अनुमान लगा सकता है कि रोगी को संभवतः ज्वर हो जाय अथवा अतीसार हो जाय अथवा गंभीर मन्दाग्नि हो जाय। अथवा यदि यह ज्ञात हो कि कोई रोगी कठिन अतीसार से पीड़ित हो तो यह अनुमान किया जा सकता है कि उसने अपच्य पदार्थों का सेवन किया है। इस प्रकार आयुर्वेद चिकित्सकों के लिए व्यावहारिक महत्व के दो मुख्य प्रकार के अनुमान थे, व्याधि के हेतुओं की विद्यमानता के ज्ञान से किसी रोग के होने का अनुमान, अर्थात् कारण से

कार्य का अनुमान, और रोगी के विशिष्ट प्रकार के रोग से विशिष्ट प्रकार की अस्वास्थ्यकर अनियमितता का अनुमान अर्थात् कार्य से कारण का अनुमान। अन्य और तीसरे प्रकार का अनुमान रोग के पूर्व-रूप से ही रोग का अनुमान कर लेना है। रोगों के विशिष्ट पूर्वरूपों के आधार पर विशिष्ट रोगों के अनुमान की संभावना पर टीका करते हुए चक्रपाणि इस अनुमान की तुलना काले बादलों की घटाओं से वर्षा होने के अनुमान से अथवा कृत्तिका के पूर्वगामी रोहिणी नक्षत्र के उदय से कृत्तिका नक्षत्र के भविष्य में उदय होने के अनुमान से तुलना करते हैं। ये दोनों कारणत्व अथवा सहअस्तित्व की भावी घटनाओं के अनुमान की अवस्थाएँ हैं। फिर भी पूर्वरूप रोग के प्रकट होने पर पूर्णरूप से समाप्त हो जाने वाले सद्यः तथा सदा संबद्ध रहने वाले पूर्वलक्षण के प्रकार का हो सकता है। जैसे, तीव्र ज्वर से पूर्व रोगी के राम खड़े हो जायं; यह रोगों का विशिष्ट प्रकार से खड़ा हो जाना न तो ज्वर का कारण है और न इसका उससे सह-अस्तित्व ही है, क्योंकि ज्वर के यथार्थ में आ जाने पर यह लुप्त हो जाय। तो भी इसका एक विशिष्ट प्रकार के ज्वर से ऐसा सम्बन्ध है कि इससे उस ज्वर का अनुमान लगाया जा सकता है।[1] फिर, रोग के अनेकों कारणों में से वास्तविक कारण के बारे में संशय होने पर चिकित्सक को कारण के सम्यक् निर्धारण के लिए विभेद की विधि, उपशय की विधि का प्रयोग करना पड़ता है। सदृश वस्तुएँ एक ही प्रकार के कार्यों का कारण होती हैं और विपरीत वस्तुएँ विपरीत परिणाम को उत्पन्न करती हैं, ये चरक संहिता में 'सामान्य' और 'विशेष' के नियम के दो सर्वमान्य स्वयंसिद्ध प्रमाण हैं।[2] अब इन सिद्धान्तों का प्रयोग करते हुए यह कहा गया है कि किसी विशिष्ट प्रकार की अनियमितता के किसी विशिष्ट रोग का कारण होने के विषय में शंका होने पर परीक्षा द्वारा यह ज्ञात करना चाहिए कि आशंकित कारण (यथा शीत) से रोग (यथा, ज्वर) बढ़ता है या नहीं; यदि इससे बढ़ता हो, और यदि इसके विपर्यय (यथा, ऊष्मा) के प्रयोग से रोग घटता हो, तो शीत को रोग का कारण मानना चाहिए। यदि किसी तत्व विशेष के प्रयोग से कार्य (रोग विशेष) की वृद्धि हो और उसका विपर्यय उसका ह्रास करे, तो उस तत्व विशेष को उस कार्य विशेष का कारण मान सकते हैं। चरक का मत है कि पूर्व घटित अथवा निकट भविष्य में घटित होने वाली व्याधियों के स्वरूप निर्धारण में निदान, पूर्वरूप और अनुपशय सहित उपशय इन तीन प्रकारों का पृथक् रूप से अथवा सम्मिलित रूप से

---

[1] चरक संहिता २. १. ७ पर अपनी टीका में चक्रपाणि ने इन दो प्रकार के पूर्व-रूपों का इस प्रकार वर्णन किया है 'तच्च पूर्वरूपं द्विविधमेकं भाविव्याध्यव्यक्त लिंगम् ·· द्वितीयं तु दोपदूष्यसम्मूर्च्छनाजन्यमव्यक्तलिंगादन्यदेव यथा ज्वरे बालप्रद्वेषरोमहर्षादि।

[2] चरक संहिता १. १. ४४।

प्रयोग करना चाहिए।[1] इस प्रकार चरक का निर्देश है कि चिकित्सक को इन तीनों प्रकारों के प्रयोग द्वारा व्याधियों के कारणों की ध्यानपूर्वक परीक्षा करनी चाहिए, ताकि उनके प्रत्यक्ष कार्यों के आधार पर उनका निर्धारण हो सके। तत्पश्चात् चरक ने अनेकों व्याधियों के और उनके स्वरूप निर्धारण में सहायक कारणों अथवा पूर्व रूपों के दृष्टान्त दिए हैं। उसके बाद उनका कथन है कि प्रारम्भ में किसी कारण की केवल कार्य रूप में प्रकट होने वाली कोई व्याधि अन्य व्याधियों का कारण बन सकती है और इस प्रकार उसे कार्य और कारण दोनों माना जा सकता है। अतः कारण और कार्य में कोई परम अन्तर नहीं है, और कोई भी कारण कार्य हो सकता है तथा कोई कार्य भी कारण रूप में बदल सकता है। कभी-कभी कोई व्याधि अन्य व्याधियों का कारण बन जाती है और तत्पश्चात् स्वयं समाप्त हो जाती है, जबकि पुनः एक व्याधि अपने द्वारा उत्पादित अन्य व्याधि के साथ विद्यमान रह सकती है और अपने कार्य को गंभीर बना देती है। पुनः, यथा एक व्याधि (कारण) अन्य व्याधि (कार्य) को उत्पन्न कर दे और यह कार्यभूत व्याधि अन्य व्याधि को उत्पन्न कर दे। इस प्रकार एक कारण एक तथा उसी प्रकार के अनेक कार्यों को उत्पन्न कर सकता है, और एक कार्य एक अथवा अनेक कारणों का कारण हो सकता है, और फिर अनेकों कारण सम्मिलित रूप से अनेकों कार्यों को उत्पन्न कर सकते हैं। यथा, ज्वर, अपस्मार आदि सब रूक्षता से उत्पन्न होने पर भी विशेष परिस्थितियों में इससे केवल ज्वर ही उत्पन्न हो सकता है। पुनः ज्वर ऐसे अनेकों कारणों के समुदाय से भी उत्पन्न हो सकता है जिनके सम्मिलित रूप से अन्य परिस्थितियों में अनेक व्याधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। अतः एक इकाई एक अथवा अनेक घटनाओं का लिंग हो सकती है, और एक घटना के अनेक लिंग भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, स्वास्थ्य सम्बन्धी अनियमितताओं का ज्वर सामान्यतः लिंग है, और सब प्रकार के ज्वरों का लिंग 'ताप' है। कुछ निश्चित प्रकार के विकारों से ज्वर का अनुमान हो सकता है, परन्तु वे अन्य अनेकों व्याधियों से सम्बद्ध हो सकते हैं।[2]

अतः यह स्पष्ट है कि, रोगों के निदान और उनके कारण तथा उपशमन के संदर्भ में कारण और कार्य के स्वरूप का विनिश्चय तथा अव्यभिचारी व्याप्ति के तथ्यों अथवा घटनाओं का अनुमान आयुर्वेद चिकित्सकों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक थे। इसी हेतु से चरक ने अनुमान को तीन वर्गों में विभक्त किया; कारण से कार्य, कार्य से कारण, और अन्य प्रकार के लिंगों के संबंध से। अक्षपाद के न्यायसूत्र में

---

[1] अन्य दो प्रकारों, संप्राप्ति और रूप की इस सम्बन्ध में चर्चा करना आवश्यक नहीं है।

[2] देखिए चरक संहिता २. ८. २२-२७।

ऐसे पद हैं जो नागार्जुन की 'माध्यमिक कारिका' से और लंकावतार-सूत्र तथा बौद्ध विज्ञानवाद के सिद्धान्तों से लिए गए प्रतीत होते हैं, और इस हेतु यह सामान्य धारणा है कि न्यायसूत्र की रचना द्वितीय या तृतीय शती ई० प० में हुई।[1] न्यायदर्शन के इस मौलिक तथा प्राचीनतम ग्रन्थ में अनुमान को तीन प्रकार का बताया गया है, पूर्ववत्–कारण से कार्य, शेषवत्–कार्य से कारण और सामान्यतोदृष्ट–कार्यकारण संबंध के अन्तर्गत ग्रहण न होने पर सादृश्य पर आधारित अनुमान। अब अनुमान के ठीक इन्हीं तीन प्रकारों का चरक संहिता में वर्णन है, और, जहाँ तक इस लेखक को ज्ञात है, अनुमान का ऐसे व्यवस्थित ढंग से वर्णन करने वाला प्राचीनतम ग्रन्थ यही है, अतः इसको स्वभावतः वह स्रोत माना जा सकता है, जहाँ से अक्षपाद ने अपने विचारों को ग्रहण किया। अब चरक की कृति को अग्निवेश की कृति का संशोधित रूप माना जा सकता है; अग्निवेश का ग्रन्थ अत्रिकी शिक्षाओं पर आधारित था, और अत्रि की शिक्षाएँ भारद्वाज के उपदेशों पर आधारित थीं। इस समय अग्निवेश का ग्रन्थ अप्राप्य है और यह ज्ञात नहीं कि अग्निवेश की कृति के संशोधन में चरक का अपना अंशदान ठीक कितना था, परन्तु चूँकि चरक संहिता में उपलब्ध न्याय-विषयों का वर्णन करने वाला इससे प्राचीनतर समय का कोई हिन्दू, बौद्ध अथवा जैन ग्रन्थ हमें प्राप्त नहीं है तथा चूँकि रोगों के निदान और उनके कारणों के निर्धारण हेतु होने वाले भिषक्-संभाषणों का इन नैयायिक संभाषणों के साथ अच्छेद्य सम्बन्ध है, इसलिए यह मानना अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होता है कि चरक ने अपनी सामग्री अग्निवेश से प्राप्त की, और अग्निवेश ने उसे संभवतः अपने पूर्ववर्ती स्रोतों से प्राप्त किया। प्रसंगवश यह कहा जा सकता है कि अक्षपाद ने जिन स्रोतों से संभवतः अपनी सामग्री प्राप्त की उनके प्रश्न की चर्चा करते हुए जयन्त ने न्याय मंजरी में संकेत किया है कि अक्षपाद ने संभवतः कुछ अन्य स्रोतों से एकत्रित सामग्री से (शास्त्रान्तराभ्यासात्) अपने ग्रन्थ का

---

[1] एच० यू० कृत Vaisesika Philosophy पृ० १६। L. Suali कृत Philosophia Indiana पृ० १४। J. A. O. Society खंड ३१ पृ० २६, १६११ में याकोबी का लेख।

नागार्जुन कृत 'प्रमाण विध्वंसन' पर 'प्रमाण विध्वंसन संभाषित वृत्ति' नामक टीका में नागार्जुन की पदार्थ की परिभाषा को ज्यों का त्यों उद्धृत किया गया है; नागार्जुन का पदार्थ अक्षपाद कृत न्यायसूत्र के प्रथम सूत्र में दी गई परिभाषा के समान ही है। परन्तु जैसाकि वालेसम ने अपनी पुस्तक Life of Nagarjun from Tibetan and Chines Sousces में प्रदर्शित किया है, नागार्जुन के काल को निश्चित रूप से निर्धारित करना असंभव है। नागार्जुन दूसरी और चौथी शती ई० प० के मध्य किसी काल में रहे होंगे। अतः इस प्रकार के विमर्श से कोई फलप्रद परिणाम प्राप्त नहीं किया जा सकता।

विशदीकरण किया है, परन्तु यह कहना कठिन है कि 'शास्त्रान्तर' से जयन्त का अर्थ आयुर्वेद से है। तथापि न्यायसूत्रों में वेदांग आयुर्वेद की प्रामाणिकता की उपमा से वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध की है।[1]

न्यायसूत्र की द्रव्य की परिभाषा और चरक की परिभाषा का सादृश्य अत्यन्त स्पष्ट है, क्योंकि जहां न्यायसूत्र की परिभाषा 'तत्पूर्वकं त्रिविधं' (जहां 'तत्पूर्वकं' का अर्थ 'प्रत्यक्षपूर्वकम्' है) से प्रारम्भ होती है वहां चरक संहिता की परिभाषा 'प्रत्यक्ष-पूर्वकं त्रिविधं त्रिकालं' से प्रारम्भ होती है। परन्तु जहां चरक को अनुमान के केवल तीन प्रकार ही ज्ञात थे, वहां उन्हें इन तीन प्रकारों के नाम नहीं ज्ञात थे, जैसेकि अक्षपाद ने उनको प्रदान किए हैं, यथा पूर्ववत् (पूर्व अर्थात् कारण से संबद्ध), शेषवत् (शेष अर्थात् कार्य से संबद्ध) और सामान्यतोदृष्ट (भूत, वर्तमान और भविष्य के दृष्ट सादृश्य से, जिस पर चरक ने भी उसी प्रकार बल दिया है)।[2] पूर्व पादटिप्पण में

---

[1] मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्। —न्यायसूत्र २. १. ६८।

यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए कि चरक अपनी सर्वज्ञता के ही कारण अपना ग्रंथ लिख सके और कि उन्होंने शास्त्र को न तो अनुमान पद्धति से जाना और न उन्होंने उसे पूर्ववर्ती परम्परागत स्रोतों से ही प्राप्त किया जयन्त अपनी न्याय मंजरी में एक लम्बी चर्चा में उलझ गए हैं।

[2] एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात्फलमनागतम्।
दृष्ट्वाबीजात्फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः॥ —चरक संहिता १. ११. २२।

न्यायसूत्र पर अपनी टीका में वात्स्यायन ने पूर्ववत् (कारण से कार्य) का उदाहरण घटा के उदय से वर्षा के अनुमान के रूप में दिया है, शेषवत् (कार्य से कारण) का उदाहरण निम्न प्रदेश में आई बाढ़ से ऊँचे स्थानों में वर्षा के अनुमान के रूप में दिया है, और सामान्यतोदृष्ट (व्यापार सादृश्य से) का उदाहरण भिन्न-भिन्न कालों में आकाशीय पिण्डों के आकाश में अपने स्थान परिवर्तन से उनकी गति के अनुमान के रूप में दिया है। परन्तु उन्होंने पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट इन तीनों संज्ञाओं का एक अन्य अर्थ भी दिया है। यहां वे पूर्ववत् का अर्थ लगाते हैं सह अस्तित्व के भूतकालीन व्यापार की उपमा के आधार पर धूम से वह्नि का अनुमान, शेषवत् का अर्थ इस तथ्य का अनुमान कि शेष की विधि द्वारा शब्द न तो द्रव्य और न कर्म ही होने के कारण शब्द गुण है, और सामान्यतोदृष्ट का अर्थ गुणत्व के हेतु से आधार रूप में किसी द्रव्य की अपेक्षा होने के कारण इच्छा के अस्तित्व से आत्मा के अस्तित्व का अनुमान। यह व्यापार सादृश्यजनित अनुमान नहीं है, अपितु एक वस्तु का दूसरी वस्तु के सादृश्य का (यथा, इच्छा का अन्य गुणों से सादृश्य), दूसरी वस्तु (द्रव्य-समवाय) के संबंध को पहली वस्तु (इच्छा) तक

वर्णित विमर्शों से यह अच्छी तरह मान लिया जा सकता है कि अनुमान की परिभाषा में अक्षपाद का अंशदान यह है कि उन्होंने चरक संहिता में वर्णित ऊपरी स्तर पर स्थित अनुमान के प्रकारों का नामकरण किया। यह असंभव नहीं कि पांच वचनों का सिद्धान्त और वस्तुत: अधिकांश अपने अन्य न्याय सम्बन्धी सिद्धान्तों को न्यायसूत्र

बढ़ाने का अनुमान है अर्थात् यह अनुमान की इच्छा का भी द्रव्य में समवायी होना आवश्यक है।

पूर्ववत् और शेषवत् संज्ञाओं की व्याकरणानुसार द्विविध व्याख्या सम्भव होने के कारण (मतुप् प्रत्ययान्त होने से 'उसका यह है' अर्थ में और 'वति' प्रत्ययान्त होने से व्यापार साहश्य के अर्थ में) और 'पूर्व' और 'शेष' शब्दों का भी दो अर्थों में प्रयोग संभव होने के कारण पूर्ववत् और शेषवत् संज्ञाओं की व्याख्या वात्स्यायन ने दो भिन्न-भिन्न प्रकार से की है और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि इन दोनों अर्थों में उनको अनुमान का प्रकार प्रमाणित किया जा सकता है। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि चरक द्वारा वर्णित त्रिविध अनुमानों का पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ऐसा पहली बार नामकरण होना इन संज्ञाओं को निश्चित अर्थ प्रदान करने में वात्स्यायन द्वारा अनुभव की गई कठिनाई को स्पष्ट कर देता है, क्योंकि उनका प्रचलन न तो परम्परागत और न ही वात्स्यायन के समकालीन साहित्य में था। वात्स्यायन पर अपनी वृत्ति में, उद्योतकर इस विषय में बिलकुल मौलिक विचारों को ही प्रस्तुत करते हैं। वे अक्षपाद के इस सूत्र, 'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेपवत्सामान्यतोदृष्टं च' को लेते हैं और इसके अथ तत्पूर्वकम्, त्रिविधमनुमानम् और पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च ये तीन खंड कर देते हैं, प्रथम 'त्रिविधं' से उनका अर्थ विद्यमान उदाहरणों (अन्वयी), अभावयुक्त उदाहरणों (व्यतिरेकी) और दोनों के संयुक्त रूप (अन्वयव्यतिरेकी) से उत्पन्न अनुमान से है। उन्होंने पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट को दो सम्भव अर्थ दिए हैं, जिनमें से एक के अनुसार पूर्ववत् का अर्थ कारण से कार्य का तर्क, शेषवत् का अर्थ कार्य से कारण का तर्क, और सामान्यतोदृष्ट का अर्थ कार्यकारणता से भिन्न अन्य सम्बन्धों पर आधारित अनुमान है। सांख्यकारिका में इन अनुमानों का वर्णन है। माढर वृत्ति में भी अनुमान के त्रिविध अर्थों का दो प्रकार से अर्थ किया गया है, उसमें कहा है, प्रथमत:, 'त्रिविध' का अर्थ यह है कि एक अनुमान में तीन वचन होते हैं, और द्वितीयत: इसके तीन प्रकार होते हैं, यथा पूर्ववत् (कार्य जैसे नदी की बाढ़ से कारण, यथा ऊदरी प्रदेश में वर्षा, का अनुमान), शेषवत् (अंश से सम्पूर्ण का अनुमान यथा कोई समुद्र-जल की बूँद को लवणयुक्त देखकर, सारे समुद्र के लवणयुक्त होने का अनुमान कर लेता है) और सामान्यतोदृष्ट (सामान्य सम्बन्ध) साहचर्य से अनुमान (यथा, एक स्थान में आमों की नवरे

ने चरक से लिया हो, क्योंकि उससे पूर्ववर्ती कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिसमें उसके अवशेष ढूँढे जा सकें।[1] आत्मा, इन्द्रियों, मन और विषयों के सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञान के रूप में चरक द्वारा दी गई 'प्रत्यक्ष' की परिभाषा अक्षपाद द्वारा दी गई प्रत्यक्ष की उस परिभाषा के लिए पूर्ववर्ती आदर्श के अत्यधिक सदृश प्रतीत होती है, जिसमें अर्थ को अधिक जटिल और निश्चित करने के लिए तीन अन्य विशेषताओं को और जोड़ दिया है।[2] आरम्भ में प्रत्यक्ष के अनिश्चयात्मक (निर्विकल्प अथवा अव्यपदेश्य) होने का भाव परकालीन विकास है और न्यायसूत्रों से पूर्ववर्ती हिन्दू-दर्शन में इसका पता नहीं चल सकता।[3] चरक में गिनाए गए वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति, निग्रह-स्थान आदि का न्यायसूत्र के पदार्थ के साथ सादृश्य इससे पहले विभाग में सम्यक् रूप से प्रदर्शित किया जा चुका है। दोनों समुदायों की गणनाओं और उनके विस्तार में एकमात्र अन्तर यह है कि चरक का वर्णन पूर्ववर्ती होने के कारण अक्षपाद के वर्णन की अपेक्षा अपूर्ण और कम जटिल है।

देखकर कोई यह अनुमान करे कि अन्य स्थानों पर भी आम मंजरीयुक्त होंगे)। यह पर्याप्त विस्मय की बात है कि माठर वृत्ति में सामान्यतोदृष्ट का एक ऐसा अन्य उदाहरण दिया गया है जो सामान्यतोदृष्ट के अब तक विचार किए गए उदाहरणों से बहुत भिन्न है। इस प्रकार इसमें कहा है कि जब कोई यह कहे 'बाहर प्रकाश है,' तो दूसरा उत्तर देता है 'चांद अवश्य निकल आया होगा।'

[1] न्यूनाधिक कपोलकल्पित कारणों से श्री ध्रुव का विचार है कि पूर्ववत् और शेषवत् पद मीमांसासूत्रों से न्यायसूत्रों में लिए गए हैं और यह सूत्र इसलिए अवश्य ही अतिप्राचीन होगा (Proceedings and Transactions of the First Oriental Conference, Poona 1922) यह तर्क एकाधिक कारणों से अग्राह्य है। प्रथम, यदि यह मान भी लिया जाए कि मीमांसासूत्र अतिप्राचीन है (जिसमें संदेह है) तो भी इन दो न्याय सम्बन्धी पदों का उससे गृहीत होना यह प्रदर्शित नहीं करता है कि यह अति प्राचीन ग्रन्थ होगा; क्योंकि आधुनिक ग्रंथ भी अपनी पदावली को प्राचीन ग्रन्थ से ग्रहण कर सकता है। दूसरा, कि इन तीन पदों के प्राचीन स्रोतों से गृहीत होने का तथ्य यह प्रदर्शित नहीं करता कि न्यायसूत्र का त्रिविध अनुमान का सिद्धान्त स्वयं इसका अपना योगदान है अथवा अतिप्राचीन है। भाष्यवृत्ति के वात्स्यायन भाष्य से बाद की होने के श्री ध्रुव के तर्क भी अत्यन्त दुर्बल हैं और आलोचना की कसौटी पर टिक नहीं पाते हैं।

[2] इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारी व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।

—न्यायसूत्र, १. १. ४।

[3] चरक ने २. १. १०. ४ में 'विकल्प' शब्द का प्रयोग 'उत्कर्ष' और 'अपकर्ष' (उत्कर्षप्रकर्षरूप) के भेद के अर्थ में किया है।

चरक संहिता के अत्यन्त साधारण अध्ययन से भी यह तथ्य अत्यधिक मात्रा में स्पष्ट हो जाता है कि व्याधियों के सैद्धान्तिक कारणों और उनके उपशमन तथा व्यक्तिगत रोगों में उनके वस्तुतः व्यावहारिक ज्ञान दोनों के विषय में सही निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए चिकित्सक लोग मंत्रणा के समय गम्भीरतापूर्वक आपस में संभाषण करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ अत्रि की अध्यक्षता में विद्वान वैद्यों के संभाषण का संग्रह है। जहाँ अधिक मत वैभिन्न्य है वहाँ उन सब मतों को लिख दिया गया है और उन पर स्वयं अत्रि के मत को भी दे दिया गया है, और, जहाँ न्यूनाधिक मात्रा में मतैक्य था अथवा जहाँ अत्रि ने विशिष्ट समस्याओं पर प्रवचन किया, वहाँ केवल उन्हीं के मत को ही दिया गया है। यह भी वर्णन किया गया है कि विवाद में किस प्रकार एक अच्छा और कुशल वैद्य अपने प्रतिपक्षी को न केवल न्याययुक्त और शास्त्रीय तरीकों से अपितु पांडित्यपूर्ण प्रलाप एवं अनुचित तर्क संबंधी छलों द्वारा भी हरा सकता है। तीव्र प्रतिस्पर्धा के सम्मुख होने के कारण वैद्यों के लिए अजीविका उपार्जन करना एक व्यावहारिक आवश्यकता थी, और यह सरलता से देखा जा सकता है कि किस प्रकार—छल, जाति, निग्रह स्थान आदि की नैयायिक चालों का न केवल सदा सत्यान्वेषण के लिए ही अपितु विपक्षी पर विजय प्राप्त करने के लिए भी शास्त्रार्थ की नियमित कला के रूप में विकास हुआ। हमें शास्त्रार्थों, संभाषणों अथवा नैयायिक विवादों का चरक से कहीं अधिक प्राचीन साहित्य में उल्लेख मिलता है, परन्तु कहीं भी इस कला की प्राप्ति जीविका-उपार्जन के लिए चिकित्सकों के समान व्यावहारिक रूप से इतनी आवश्यक नहीं समझी जाती थी और अन्य किसी पूर्ववर्ती साहित्य में इसके विकास का कोई उल्लेख न होने के कारण यह मानना तर्कसंगत प्रतीत होता है कि वादविवाद की कला और उसकी सहकारी कलाओं का विकास चिकित्सा की परम्परागत उन शाखाओं में प्राचीन काल से ही हुआ जिनमें से चरक ने उन्हें अपने ग्रन्थ में संकलित किया। आयुर्वेद की शाखाओं में वादविवाद की तर्कसंगत कला का उद्‌गम इतना स्वाभाविक है और शास्त्रार्थ की कला के वर्गों को चिकित्सा-क्षेत्र में इतना बार-बार लिया जाता है कि इस संदेह का कोई कारण नहीं है कि चरक संहिता के न्याय-शाखा सम्बन्धी अंशों का चरक ने चिकित्सेतर साहित्य से ग्रहण करके अपने ग्रन्थ में जोड़ दिया होगा।

आयुर्वेदीय आचारशास्त्र

हमारे इस कलिकाल में मनुष्य का जीवन काल सामान्यतः सौ वर्ष निर्धारित किया गया है। परन्तु अधर्म से युक्त पाप कर्मों के कारण सामान्य काल किसी भी सीमा तक घट सकता है। सामान्य अधार्मिक कर्म तो आयु के मान को केवल तभी घटा सकते हैं जब मृत्यु के भौतिक कारण जैसे विषप्रयोग, व्याधियां आदि विद्यमान

हों। यदि इन भौतिक कारणों का निवारण हो सके तो मनुष्य अपनी आयु के सामान्य मान, सौ वर्ष, तक जीवित रह सकता है, अब शरीररूपी यंत्र का लम्बे समय तक कार्य करते रहने के कारण शनैः शनैः ह्रास होने लगता है। जो घोर अधर्म के पाप करने के कारण अभिशप्त नहीं हुए हैं उनके आयुष्य के सामान्य मान को तो औषधि बढ़ा सकती है। इसी स्थान पर चरक और उसके अनुयायियों का भारत-भूमि पर पनपने वाले कर्म सम्बन्धी अन्य सब सिद्धान्तों से मतभेद है। चरक के अतिरिक्त अन्य किसी विचारधारा में इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया गया है। इन सिद्धान्तों में प्रचलित अनेकों मतभेदों के उपरान्त भी उन्हें मोटे तौर पर चार वर्गों में बांटा जा सकता है। इस प्रकार सर्वप्रथम 'पुरुषवादिन्' आते हैं, यथा वे लोग जो योगवाशिष्ठ दर्शन शाखा के अनुयायी है और जो हमारे सारे अनुभवों को इच्छा के दृढ़ निश्चयात्मक प्रयत्नों द्वारा नियंत्रण में रखने योग्य मानने एवं पूर्व-कर्म, दैव तथा भाग्य के किसी भी बन्धन को इसके द्वारा प्रनियंत्रण के योग्य और अनतिक्रम्य न मानने के कारण परले सिरे के अध्यात्मवादी हैं। मानव इच्छा सर्वशक्तिमान् है और इसके द्वारा हम अपने भावी कल्याण के विकास में किसी प्रकार का कोई भी परिवर्तन उत्पन्न कर सकते हैं। पुनः यह मत भी है कि हमारे सम्पूर्ण कर्मों के लिए परमात्मा ही उत्तरदायी है, और वही उनका निर्माण करता है, जिससे वह अच्छे कार्य करवाना चाहता है और जिनको वह पतित करना चाहता है उनसे पापकर्म करवाता है। एक यह मत भी है कि परमात्मा हमें अपने शुभ और अशुभ कर्मों का फल देता है अथवा उनके लिए यश-अपयश देता है, और केवल हम ही अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी हैं तथा अपनी इच्छानुसार कर्म करने में स्वतंत्र हैं। पातंजल योगसूत्र में वर्णित एक मत और भी है कि हमारे जन्म की योनि-विशेष, हमारा आयुष्य और हमारे सुख-दुःख का स्वरूप सब हमारे कर्मों द्वारा निर्धारित होते हैं। साधारणतः पूर्वजन्म के कर्मों के फलों को इस जन्म में भोगना पड़ता है, और इस जन्म के कर्मों के परिपाक के अनुसार ही भावी जन्म का स्वरूप, आयुष्य और सुख-दुःख का निर्धारण होता है, जबकि अत्यन्त शुभ अथवा अशुभ कर्मों का फल इसी जन्म में मिल जाता है। इन मतों में से किसी एक मत में भी हमें चरक के समान इस प्रकार का व्यावहारिक बुद्धिगम्य चयन उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि इसके अनुसार केवल घोर अशुभ कर्मों के फल को ही सदाचार के सामान्य प्रयत्नों द्वारा नहीं रोका जा सकता। सम्यक् संतुलित आचरण और उचित औषधियों के प्रयोग आदि के सामान्य भौतिक साधनों द्वारा सब साधारण कर्मों के फलों को रोका जा सकता है। इसका आशय यह है कि अपने स्वास्थ्य की उचित देखभाल में बरते गए सामान्य आचारविहीन कर्म, उचित वाजीकरण, औषधि आदि का सेवन, हमारे कर्म के मार्ग को अवरुद्ध कर सकते हैं अथवा बदल सकते हैं। जैसे, अपने सामान्य कर्मों के फल से मुझे रोगी हो जाना चाहिए परन्तु यदि मैं उचित ध्यान रखूं तो मैं ऐसे कर्म-फलों से बच सकता हूँ और

स्वस्थ भी रह सकता हूँ। अन्य मतों के अनुसार कर्म के विधान अपरिवर्तनीय हैं। केवल अपरिपक्व कर्म के फल ही यथार्थ ज्ञान द्वारा नष्ट किए जा सकते हैं। पक्व कर्म के फलों को तो हर अवस्था में भोगना ही होगा, चाहे यथार्थ ज्ञान ही क्यों न प्राप्त हो जाए। चरक के सिद्धान्त की विशेषता इस बात में है कि उन्होंने परिपक्व कर्मों की इस अपरिवर्तनीयता का समावेश नहीं किया। अत्यन्त शक्तिशाली कर्मों के अतिरिक्त अन्य सब कर्मों के फलों से युक्त आचरण को प्रत्यक्ष अनैतिक क्रम द्वारा सुधारा जा सकता है। साधारण तौर पर, कर्म के विधान का तात्पर्य प्राणी के स्वकर्मज शुभाशुभ फलों के अनुसार विश्व के नैतिक शासन का सिद्धान्त है। हम अपनी इच्छानुसार कर्म करने में स्वतन्त्र भले ही हों, परन्तु घोर अधर्मों के अतिरिक्त, इह जन्म के हमारे कर्मों से ही हमारे भावी जीवन के भोगों का निर्धारण होता है, और इसलिए इह जन्म के किसी कर्म से इस जन्म के ऐसे किन्हीं दुःखों के निवारण की सामान्यतः आशा नहीं की जा सकती, जिनका भोग किसी मनुष्य के लिए उसके पूर्व-जन्म के कर्मों के अनुसार पहले से ही नियत हो चुका है। फिर कर्मों की नैतिकता अथवा अनैतिकता से ही उन कर्मों के भले या बुरे फलों का, उनकी सफलता और विफलता का निश्चय होता है। इसका आशय है हमारे अपने प्रयत्नों द्वारा अपने भाग्य के सीधे नियन्त्रण करने की हमारी शक्ति में अविश्वास। कर्म के सिद्धान्त में इस प्रकार यह विश्वास सन्निविष्ट है कि अपनी परिपक्वावस्था में फल देने में एक मात्र समर्थ हमारे कर्मों के अधार्मिक और धार्मिक तत्वों का रहस्यमय अस्तित्व है और उन कर्मों का परिपाक होता है। यदि यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाए कि अधर्म के अहितकारी और धर्म के हितकारी परिणाम स्वतः हो जाते हैं, तो इसके तर्कसंगत परिणाम इस संभावना को अस्वीकार करने के लिए हमें प्रेरित करते हैं कि केवल दैहिक कर्मों से ही कर्मों के फलों का संशोधन हो सकता है। इसलिए कर्मों के नैतिक गुणों की स्वीकृति हमें उनके सीधे भौतिक परिणामों को अस्वीकार करने के लिए प्रेरित करती है। यदि किन्हीं सत्प्रयत्नों द्वारा मैं प्रसादावस्था प्राप्त करने में सफल हो जाता हूँ, तो यह तर्क किया जाता है कि मेरी सफलता मेरे वर्तमान प्रयत्नों के कारण नहीं है, अपितु यह तो पूर्वनियत ही था कि मैं अपने पूर्वजन्म के शुभ कर्मों के परिणाम स्वरूप प्रसन्न होऊँ। इसका कारण यह है कि यदि फल मेरे सामान्य प्रयत्नों का फल हो, तो यह सिद्धान्त धराशायी हो जाएगा कि सारे सुखों और दुःखों का अनुभव पूर्वजन्म के कर्मों के परिपाक के कारण होता है। दूसरी ओर यदि सारी सफलता या विफलता हमारे उचित अथवा अनुचित प्रयत्नों के कारण हो, तो दुःख और सुख उत्पादन की अधर्म और धर्म की क्षमता स्वभावतः संदिग्ध हो जाती है, और जिन दशाओं में हमारे उत्कृष्टतम प्रयत्न भी विफल हो जाते हैं उनका समाधान नहीं होता। परन्तु यदि हमारे सामान्य प्रयत्न जरा भी फलीभूत नहीं होते हैं और यदि हमारे अनुभव के प्रकार, हर्ष और विषाद, और हमारा आयुष्य पूर्व निर्धारित ही है,

तो हमारा कोई प्रयत्न भी जीवन के क्लेशों के निवारण में समर्थ नहीं है, और इस प्रकार आयुर्वेद का प्रयोजन ही निरर्थक हो जाता है। सामान्य बुद्धि के विश्वास के अनुसार कोई मनुष्य 'भाग्य' अथवा 'नियति' का केवल तब ही उल्लेख करता है, जब उत्कृष्ट प्रयत्न भी विफल हो जाते हैं और जब वह यह सोचने लगता है कि यदि कोई परम नियति नहीं हो तो उचित दिशा में किए गए प्रयत्न अवश्य ही सफल होंगे। चरक के सिद्धान्त में ऐसा ही व्यवहार बुद्धि का दृष्टिकोण समाविष्ट प्रतीत होता है। परन्तु प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा है, तो कर्म के विधान की अपरिवर्तनीयता कैसे सुरक्षित रह सकती है? चरक के विचार में केवल अत्यन्त शुभ अथवा अशुभ कर्म अपरिवर्तनीय स्वभाव के होते हैं। साधारण कर्मों के अन्य सब प्रभावों को हमारे प्रयत्नों द्वारा ठीक किया जा सकता है या रोका जा सकता है। चरक के मत में धर्म और अधर्म अस्पष्ट और रहस्यमय सिद्धान्त नहीं हैं, कर्म के भौतिक पक्ष उनके उपदेशों में उपलब्ध नहीं होते हैं।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि चरक किसी कर्म के हितकारी होने को ही उसकी परीक्षा मानते हैं। मनुष्य को कर्म करने के पहले अपने कर्म के 'हित' का ध्यानपूर्वक निर्णय करना और अनुमान करना चाहिए अर्थात् यह ज्ञात करना कि यह उसके हित में होगा या नहीं, यदि फल उसके हित में हो, तो वह उसको करे, और यदि फल उसके अहित के हो तो वह उसे न करे।[2] शुभ कर्मों का हमारा अन्तिम मान हमारे अपने हित में साधन में निहित है, और इसी लक्ष्य की ओर हमारे मन और इन्द्रियों का सम्यक् निर्देशन और पथप्रदर्शन परमावश्यक है। यहाँ पर भी चरक अपने मध्यम मार्ग के सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं, और कहते हैं कि मन को अपने सही मार्ग पर रखने के उचित साधन अत्यधिक चिन्तन से बचना, भ्राम्यमाण विषयों का चिन्तन न करना और मन को कर्मरत रखना है। विचार और भाव मन के विषय हैं और जैसाकि अभी-अभी कहा गया है सब विचारों के अतियोग, मिथ्यायोग और अयोग् को दूर रखना चाहिए। हमारे सारे कार्यों के लक्ष्य 'आत्महित' का वर्णन न केवल हमें हर्ष देने वाले तथा हमारी सुख-सुविधा की सामग्री, मन की प्राकृतिक अवस्था और दीर्घायुष्य को प्राप्त कराने वाले के रूप में अपितु हमारे भावी जीवन में हितकारी के भी रूप में किया गया है। सद्वृत्त शरीर और मन के लिए आरोग्यकारी और हितकारी है और इन्द्रिय विजय प्राप्त कराता है।

---

[1] चरक संहिता ३. ३. २८-३८।

[2] बुद्ध्या सम्यगिदं मम हितमिदम् ममाहितमित्यवेक्ष्यावेक्ष्य कर्मणां प्रवृत्तीणां सम्यक् प्रतिपादेन इत्यहितकर्मपरित्यागेन हितकर्मचरणेन च।

—चरक १. ८. १७ पर चक्रपाणि की टीका।

ऐसे लेखों में सदा दान, तप, हवन, सत्यवादिता, समस्त प्राणियों के प्रति अहिंसा और संयम का स्वर्ग के सुख और मोक्ष के साधन के रूप में उपदेश किया गया है। ऋषियों का कथन है कि मोक्ष अथवा पुनर्जन्म से छुटकारा केवल उनके लिए है जिन्होंने अपने सारे मानसिक और शारीरिक दोषों का पूर्ण रूप से परिमार्जन कर दिया है। इसका आशय यह है कि इन ऋषियों ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को सत्य मान लिया था; अन्य ऐसे भी ऋषि हुए हैं जिन्होंने पुनर्जन्म के सत्य की स्पष्ट रूप से घोषणा की थी। वेदों और ऋषियों के प्रमाण के अतिरिक्त प्रत्यक्ष भी पुनर्जन्म के सत्य को सिद्ध करता है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि संतान प्रायः अपने माता-पिताओं से बहुत भिन्न होती है, और एक ही माता-पिता से उत्पन्न बच्चे भी रंग, आवाज, शारीरिक-आकार, मानसिक वृत्ति, बुद्धि और भाग्य में प्रायः बहुत भिन्न-भिन्न होते हैं, जैसाकि ऊपर वर्णन किया जा चुका है। प्रत्यक्षतः अनुभूत इस सामग्री पर आधारित स्वाभाविक अनुमान यह है कि कोई भी अपने किए कर्मों के फल से बच नहीं सकता, और इसलिए पूर्वजन्म में जो किया गया है वह अविनाशी है और वह सदा वर्तमान जन्म में मनुष्य का उसके दैव या कर्म के रूप में अनुसरण करता है, जिसके फल उसके इस जन्म में प्रकट होते हैं। इस जन्म के कर्म पुनः फलों का संचय करते हैं जिन्हें अगले जन्म में भोगना होगा। सुखमय अथवा दुःखमय अनुभवों के वर्तमान फलों से भूतकाल के कर्मों के रूप में भूतकाल के बीजों का अनुमान होता है, और वर्तमान बीज के रूप में वर्तमान के कर्मों से अन्य जन्म में सुखमय अथवा दुःखमय अनुभवों के रूप में उनके भावी फलों का भी अनुमान किया जा सकता है। इस अनुमान के अतिरिक्त अन्य हेतुओं से भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इस प्रकार जीवमान गर्भ छः तत्वों के समुदाय से उत्पन्न होता है, जिसके साथ पारलौकिक आत्मा का सम्बन्ध अपरिहार्य है, इसी प्रकार फल भी तभी भोगे जा सकते हैं जब कर्म किए गए हों और तब नहीं जबकि कर्म न किए गए हों—बीज के अभाव में अंकुर नहीं हो सकते। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि भारतीय विचारधारा की अन्य किसी भी प्रणाली में पुनर्जन्म के सिद्धान्त को सिद्ध करने का ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया गया है, जैसा यहाँ किया गया है। न्याय दर्शन में इस सिद्धान्त को सिद्ध करने का किंचित् प्रयत्न इस आधार पर किया गया था कि बच्चों का रोना, दूध पीना और सहज भय में आशयगत रूप से पूर्व अनुभव विद्यमान है। परन्तु चरक एक व्यवस्थित ढंग से कई और बातों को लेते हैं और यथासंभव विभिन्न तर्कसंगत प्रमाणों का सहारा लेते है। पुनः पातंजल योगसूत्र पर व्यास-भाष्य में हमें कर्मफल के स्वरूप की चर्चा मिलती है। योगसूत्र २. १३ में यह कहा है कि पूर्वजन्म के कर्मों से किसी व्यक्ति के अच्छे अथवा बुरे, अथवा दीन अथवा धनी कुल में जन्म-विशेष, आयुष्य और सुख-दुःखों का निर्धारण होता है। परन्तु शरीर के भौतिक विभेद, वर्ण, शब्द, स्वभाव, मानसिक वृत्ति और विशिष्ट बौद्धिक गुणों का पूर्वजन्म के कर्मों के कारण होना एक पूर्णतः नवीन विचार प्रतीत

होता है। फिर भी चित्ताकर्षक बात है कि बुद्धि में भिन्नता का कारण पूर्वजन्म के कर्मों को बताने पर भी चरक उन्हें नैतिक इच्छा के बल अथवा निर्बलत्व का कारण नहीं बताते हैं।

आगे चरक एक विशिष्ट जनपद में रहने वाले लोगों के दुष्कर्मों के सामूहिक कुफलों का उल्लेख करते हैं जिनके कारण प्रायः महामारियाँ फूट सकती हैं। महामारियों का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि वे वायु और जल के अनारोग्यकर हो जाने के कारण और देश और जलवायु की विगुणता के कारण होती है। वायु का ऋतु के अनुकूल न होना, मन्द और स्थिर होना, अत्यधिक तेज, अत्यधिक रूक्ष, अत्यधिक शीत, अत्यधिक उष्ण, परुष, अतिकुण्डली, अतिक्लिन्न, पांशुयुक्त, धूमयुक्त अथवा दुर्गंधयुक्त होना वायु का अनारोग्य तत्व है। जल का अप्राकृतिक वर्णयुक्त, दुर्गंधयुक्त, अस्वादु, प्रायः जलचर पक्षियों द्वारा उपेक्षणीय, मलों से युक्त (जब इसके स्वाभाविक गुणों का अभाव हो), अप्रीतिकर और क्षीण जलाशय होना पानी का अनारोग्यत्व है। देश-अनारोग्यत्व तब होता है जब यह सरीसृप, वन्य पशु, मशक, शलभ, मक्षिका, कीट, मूषक, उलूक, श्माशानिक अथवा शृगालों से युक्त हो अथवा जब वन्यलताओं, तृण आदि से आच्छादित हो, अथवा जब खेती सूख जाय, वायु धूमयुक्त हो जाय आदि। काल का अनारोग्यत्व, जलवायु का अप्राकृतिक अवस्थाएं उत्पन्न होने पर होता है। महामारी की इन अवस्थाओं का कारण पूर्वजन्म के उन दुष्कर्मजनित अधर्मों को बताया गया है, जो पुनः पूर्वजन्म के कुकर्मों के कारण किए जाते हैं। जब किसी देश, नगर अथवा जनपद के प्रधान पुरुष सद्वृत्त का उल्लंघन करते हैं और देश के लोगों को असद्वृत्त की ओर ले जाते हैं, तो प्रजाजन भी अपने आचरण में अधर्मयुक्त और पापी हो जाते हैं और जनपदों के जनसाधारण के कुकर्मों के परिणामस्वरूप, देवता उन स्थानों को त्याग देते हैं, यथासमय वर्षा नहीं होती, वायु, जल आदि सम्यक् अवस्था में नहीं रहते और सम्पूर्ण देश विकारयुक्त हो जाता है और महामारियाँ फूट पड़ती हैं। इस प्रकार चरक के मत के अनुसार लोगों के कुकर्म सारे प्रदेश को विकारग्रस्त कर देते हैं और अन्ततोगत्वा उसका विनाश कर देते हैं। जब किसी देश का नाश अन्तःकलह के कारण होता है, तब वह कलह भी अत्यधिक लोभ, क्रोध, मान और अज्ञान से वृद्धि को प्राप्त हुए लोगों के अधर्म के कारण होता है। महामारियां किसी प्रदेश-विशेष के पौरजनों के संयुक्त अधर्मों के कारण होती हैं। परन्तु जिन्होंने ऐसे कुकर्म नहीं किए हैं कि उनको उनका दण्ड भुगतना पड़े, वे मनुष्य महामारियों के फैलने पर भी सम्यक् औषधि सेवन द्वारा और धार्मिक जीवनयापन द्वारा अपने को उनसे बचा सकते हैं। अधर्म के कारण ही समस्त जलवायु संबंधी और अन्य प्राकृतिक विपदाओं के होने के अपने सिद्धान्त की स्थापना का प्रयत्न करते हुए चरक आगे कहते हैं कि प्राचीनकाल में मनुष्य धार्मिक वृत्ति के, हृष्ट-पुष्ट शरीर के और अत्यन्त दीर्घायु होते थे और उनके जीवन की धार्मिक वृत्तियों के कारण ही

जलवायु सम्बन्धी विकार नहीं होते थे और न अकाल, शुष्कधान्यता, अनावृष्टि तथा महामारी अथवा रोगों को उत्पन्न करने वाले अनारोग्यत्व ही होते थे। परन्तु सत्य-युग के अन्त में कुछ धनी मनुष्य अति भोजन के कारण अति मोटे हो गए, अतः वे जल्दी से श्रान्त हो जाते थे, और इसी हेतु वे आलसी हो गए और आलस्य के कारण उनमें संचय की वृत्ति आ गई, उससे उनमें परिग्रह शीलता आई, और उससे लोभ आया। अगले युग त्रेता में लोभ से अभिद्रोह का उदय हुआ, अभिद्रोह से अनृतवचन, अनृतवचन से काम, क्रोध, मान, द्वेष, पारुष्य, अभिघात, भय, शोक और चित्तोद्वेग प्रवृत्त हुए। इस प्रकार त्रेतायुग में धर्म एक पाद से हीन हो गया और इसी हेतु कृषि आदि के पार्थिक उत्पादनों में भी एक पाद की न्यूनता आ गई और सजीव प्राणियों के शरीर उसी अनुपात में अपनी प्राण शक्ति से हीन हो गए; उनका आयुष्य क्षीण हो गया और व्याधियों की वृद्धि होने लगी। इसी प्रकार द्वापर युग में पार्थिव पदार्थों की मात्रा में और आगे ह्रास हुआ और मानव शरीर की और आगे क्षीणता तथा अल्पायुता हुई।

यह स्मरण होगा कि सुश्रुत ३. १ में ऐसा कहा गया है कि चिन्तन की चिकित्सा शाखा के कई व्यक्तियों की यह धारणा है कि यह जगत् या तो नियति के प्राकृतिक क्रम में 'काल' के कारण या स्वभाव, यदृच्छा अथवा ईश्वर की इच्छा के 'परिणाम' के कारण अस्तित्व में आया, और उन सबने इसे 'प्रकृति' अर्थात् जगत् का मूल कहा है।[1] परन्तु सांख्य 'प्रकृति' के भाव में इन सब धारणाओं का अपने में समावेश हो जाता है, और इसलिए एक प्रकृति को जगत् के संभव हेतु के रूप में स्वीकार करना अधिक उचित है। इसकी व्याख्या करते हुए 'गयी' का कथन है कि प्रकृति को परिणामशाली उपादान कारण मानना चाहिए, जबकि काल, स्वाभाविक प्रक्रिया, आदि को जगदुत्पत्ति का नैमित्तिक कारण मानना चाहिए। सुश्रुत के अनुसार,

---

[1] प्रकृति के मूल प्रयोजन का कारण जगत् के मूल और उद्गम के विषय में जिज्ञासा का भाव हो सकता है। 'प्रकृति' का शाब्दिक अर्थ है 'उद्गम' अथवा 'मूल'। इसलिए, सांख्य संज्ञा के रूप में 'प्रकृति' का पारिभाषिक प्रयोग होने से पहले, इस संज्ञा का प्रयोग संभवतः जगदुत्पत्ति विषयक अन्य विवेचनों के संदर्भ में होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य प्रकृति की धारणा को ग्रहण कराने के लिए स्वभाव, काल आदि के भावों को मिला दिया गया है और सांख्य की दो शाखाओं, कापिल शाखा और पातंजल शाखा, का इस विवाद से जन्म हुआ कि प्रकृति 'यदृच्छा' का परिणाम है अथवा ईश्वरेच्छा का परिणाम। पूर्वकाल में विद्यमान जगदुत्पत्ति के सब वैकल्पिक स्रोतों के समुदाय द्वारा 'प्रकृति' के भाव को प्राप्त किया गया और इस प्रकार वे सब प्रकृति के भाव में समाहित है।

चिकित्सा-दर्शन में आत्माओं (क्षेत्रज्ञ) को सांख्य दर्शन के समान सर्वव्यापी नहीं (असर्वगत) माना जाता है। ये क्षेत्रज्ञ अपने धर्म अथवा अधर्म के कारण मनुष्य अथवा अन्य भिन्न पशु के रूप में एक शरीर से अन्य शरीर में जन्मान्तर प्राप्त करते हैं क्योंकि सर्वव्यापी न होने पर भी वे नित्य हैं और मृत्यु द्वारा नष्ट नहीं होते। सांख्य अथवा वेदान्त के समान, आत्माओं को स्वतः प्रकाश्य नहीं मानना चाहिए, परन्तु उनका सुख-दुःख के लिंगों से युक्त द्रव्य अथवा इकाई के रूप में अनुमान किया जा सकता है और वे सदा चेतना युक्त होते हैं, चाहे स्वयं उनको शुद्ध चेतन प्रकृति का न माना जाय। वे चेतनावन्तः (चेतनायुक्त) है न कि चित्स्वरूपः (चेतना के स्वरूप) हैं। वे 'परम सूक्ष्म' हैं और डल्हण इस विशेषण की व्याख्या इस अर्थ में करते हैं कि क्षेत्रज्ञ अणु जितने छोटे होते हैं। परन्तु नित्य चेतनायुक्त होने के कारण प्रत्यक्ष के द्वारा भी उनके अस्तित्व का ग्रहण हो सकता है। इन क्षेत्रज्ञों का जन्मान्तरण उनके कर्मों के धर्म अथवा अधर्म के आधार पर नियमित होता है। डल्हण का कथन है कि अति अधर्म के कारण उनका पशु योनि में जन्म होता है, धर्म और अधर्म के सम्मिश्रण से वे मनुष्य योनि को प्राप्त होते हैं और धर्म-प्राधान्य से वे देवयोनि को प्राप्त होते हैं। परन्तु चरक के अनुसार मनुष्य के जन्मान्तरण का धार्मिक अथवा अधार्मिक कर्मों से न केवल नियन्त्रण होता है अपितु प्रकृति की उत्पादनशीलता और उसके आरोग्यत्व-अनारोग्यत्व भी नियन्त्रित होते हैं और जिन सहस्रों बातों में प्रकृति मनुष्य के हित में या अहित में होती है, वे धर्म और अधर्म से ही निर्धारित होती हैं। इसलिए जीवन की मानवी दशाओं और वातावरण की सांसारिक दशाओं के अधिकांश के निर्धारण में धर्म और अधर्म को सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। इस प्रकार का दृष्टिकोण जगत्सृष्टि के सांख्य सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं है, क्योंकि इसमें भी यही कहा गया है कि प्रकृति का परिणाम मनुष्य के धर्म अथवा अधर्म से निर्धारित होता है; परन्तु ऐसा आशय होने पर भी, मानव प्राणियों के धर्माधर्म के आधार पर जगत्-दशाओं और जगत्-परिणति का इतना स्पष्ट और विशिष्ट निर्धारण किसी भी सांख्य-ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता है। मानव-इच्छा की स्वतन्त्रता चरक ने प्रायः पूर्ण रूप से स्वीकार की है, और जहाँ पूर्व कर्मों के फल किसी परिपक्व प्रकार के नहीं हैं, उनको हमारे प्रयत्नों द्वारा टाला या सुधारा जा सकता है। इस प्रकार हमारे प्रयत्नों का एक ओर तो भौतिक जगत् के विकास की अवस्थाओं के निर्धारक के रूप में ब्रह्माण्डीय अथवा विश्वजनीन प्रभाव होता है, और दूसरी ओर, वे व्यक्ति के भाग्य को निर्धारित करते हैं। हमारे कर्मों के फल हमारे जन्म हमारे अनुभव और बौद्धिक विशेषताओं को निर्धारित कर सकते हैं, परन्तु वे हमारी इच्छा के स्वरूप को निर्धारित नहीं करते हैं अथवा दिशा-विशेष में प्रयोग करने के उसके बल को प्रभावित नहीं करते हैं।

चरक-संहिता में कर्म के स्रोत

चरक के कर्म-स्रोतों की मुख्य विशेपता यह है कि उन्होंने तीन मूल एषणाओं को हमारे समस्त कर्मों के प्रेरक कारण माने हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, ये स्रोत हैं: प्राणैषणा, धनैषणा और परलोकैषणा। इस बात में चरक का मत उन अधिकांश दर्शन-शास्त्रों से अद्वितीय रूप से भिन्न प्रतीत होता है जिनमें अनेकों संवेगों का हमें कर्मों में प्रेरित करने वाले मूल कारणों के रूप में उल्लेख है। इस प्रकार वैशेपिक सुख के प्रति आकर्षण को और दुःख के प्रति विद्वेप को हमारे कर्मों का कारण माना गया है। सुख का लक्षण ऐसे प्रकार का भाव है जिसका अनुमोदन किया जाय और स्वागत किया जाय तथा जिसके प्रति स्वभावतः आकर्षण का अनुभव किया जाय। अतः जब सुखों का उदय होता है, तब सदा उनका अनुभव होना आवश्यक है और अननुभूत सुख जैसी कोई वस्तु नहीं हो सकती। इन्द्रिय सुखों के अतिरिक्त, न्यायकन्दली में श्रीधर अन्य प्रकार के सुखों की चर्चा करते हैं जो अतीत की बातों को स्मरण करने से अथवा मानसिक शान्ति और सन्तोप से अथवा आत्मज्ञान से मिलते हैं। फिर भी सुखों को पूर्वजन्म के धर्म का फल माना गया है। सुख-विपरीत दुःख का लक्षण ऐसा अनुभव है जिससे हमें ग्लानि होती है और जो पूर्वजन्म के अधर्म का परिणाम है। अप्राप्त के प्राप्ति की इच्छा (अप्राप्तप्रार्थना), काम, अपने लिए (स्वार्थ) अथवा दूसरे के लिए (परार्थ) हो सकता है। ऐसी इच्छाएँ इनमें से किसी के भी द्वारा प्रेरित हो सकती हैं: इहलोक अथवा परलोक सुख की इच्छा (काम), अभिलापा, सुखदायी विपयों के उपभोग के चालू रहने अथवा बार-बार मिलने की इच्छा, करुणा, सांसारिक भोगों के प्रति अप्रवृत्ति (वैराग्य), दूसरों को छलने का इरादा (उपधा), अर्धचेतन प्रेरक (भाव)। तथापि प्रशस्तपाद भोगेच्छा और कर्मेच्छा में अन्तर करते हैं। परन्तु वे मैत्री और दूसरों के हर्प में हार्प होने के अनुभव (मुदिता) के विध्यात्मक बौद्ध गुणों को सम्मिलित नहीं करते हैं और वे करुणा के केवल निपेधात्मक गुण से ही संतुष्ट हो जाते हैं। वे क्रोध, द्रोह, दबी प्रतिशोध की भावना (मन्यु), अन्यों के सद्गुणों के प्रति ईर्ष्या (अक्षमा) और अपनी हीनता की भावना से उत्पन्न विद्वेप (अमर्प) का भी वर्णन करते हैं। परन्तु इस विशद वर्गीकरण के उपरान्त भी, प्रशस्तपाद वस्तुतः दो बड़े विभाग करते हैं: अर्थात् सुखों के प्रति राग से उत्पन्न इच्छाएँ और दुःख के प्रति विद्वेप से उत्पन्न इच्छाएँ। जितना सुख विध्यात्मक अनुभव है उतना ही दुःख भी निपेधात्मक अनुभव है और इसको सुख का अभावमात्र नहीं माना जा सकता। यह जानते हुए भी कि कार्य करने की इच्छा जैसी कोई वस्तु है, प्रशस्तपाद ने इस पर कोई विशेप ध्यान नहीं दिया है, कर्मों के स्रोतों के उनके वर्गीकरण का शुद्ध परिणाम यह है कि वे उनके विचार में सारी इच्छाएँ सुख के प्रति राग और दुःख के प्रति विद्वेप से प्रेरित होती

है। अतः अनुभवों को ही यहाँ सारी इच्छाओं और उनके माध्यम से सारे कर्मों का मूल रूप से निर्धारक मानना चाहिए।

नैयायिकों का विचार है कि राग और विद्वेष का एक अधिक मौलिक आधार है अर्थात् मोह। इस प्रकार राग और विद्वेष को मोह पर आधारित मानने के द्वारा वात्स्यायन प्रशस्तपाद के मनोवैज्ञानिक आधार को बौद्धिक रूप देते दृष्टिगोचर होते हैं। क्योंकि मोह का अर्थ होगा ज्ञान का अभाव, और यदि राग और द्वेष ज्ञान के अभाव के कारण हों, तो कोई यह नहीं कह सकता कि अनुभव ही अन्ततः हमारे कर्मों का निर्धारण करते हैं, क्योंकि सम्यक् ज्ञान का अभाव ही अन्ततः अनुभवों और भावनाओं के उदय का निर्धारक पाया जाता है। तथापि न्याय-मंजरी में जयन्त मोह, राग और द्वेष की गणना हमारे प्रयत्नों के प्रेरक तीन समानान्तर दोषों के रूप में करते हैं।[1] राग के अन्तर्गत उन्होंने यौन वासनावृत्ति (काम), दूसरों के साथ हिस्सा बँटाने से जो न घटे उससे अलग न होने की वृत्ति (मत्सर), ईर्ष्या (स्पृहा), पुनः पुनः जन्म की प्रवृत्ति (तृष्णा) और निषिद्ध पदार्थों को ग्रहण करने की वृत्ति (लोभ) की गणना की है। द्वेष के अन्तर्गत उन्होंने दह्यमान शारीरिक दशाओं सहित क्रोध का भावावेश में फूट पड़ना, ईर्ष्या, दूसरों के सद्गुणों से जलन (असूया), दूसरों को क्लेश पहुँचाना (द्रोह) और छिपे हुए द्वेष (मन्यु) की गणना की है। मोह के अन्तर्गत उन्होंने मिथ्याज्ञान, अनिश्चयजनित दुविधा (विचिकित्सा), मिथ्या महत्ता के भाव (मद) और निर्णय की त्रुटियों (प्रमाद) की गणना की है। परन्तु उनका आगे कथन है कि राग, द्वेष और मोह इन तीन दोषों में से मोह सबसे बुरा है क्योंकि अन्य दो इससे ही उत्पन्न होते हैं। केवल मोहयुक्त पुरुष ही राग और द्वेष के वशीभूत होते हैं। उस दशा में मोह को स्वयं एक दोष न मानकर अन्य दो दोषों का स्रोत मानने की इस आपत्ति का जयन्त यह उत्तर देते हैं कि यद्यपि यह अन्य दो दोषों का स्रोत है, फिर भी यह स्वयं भी मनुष्यों को कर्म के लिए प्रेरित करता है और इस हेतु से स्वयं उसको एक दोष मानना चाहिए। निःसन्देह यह सत्य है कि सब दोषों का कारण मिथ्याज्ञान और यथार्थ ज्ञान से वे दोष नष्ट हो जाते हैं, फिर भी दोषों को मिथ्याज्ञान का केवल एक प्रकार मानना गलत होगा क्योंकि मनोवैज्ञानिक रूप में तीनों दोषों को तीन भिन्न-भिन्नलक्षणों से युक्त ग्रहण किया जाता है। राग अथवा द्वेष की अनुभूति को मोह-जनित स्वीकार करते हुए भी जयन्त उन्हें मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण मानते हैं कि उनको कर्म का स्वतंत्र स्रोत माना जाता है। इस प्रकार जहाँ वे राग अथवा द्वेष को मोहजनित मानने में वात्स्यायन से नाममात्र को सहमत थे, वहाँ उन्होंने उनके

---

[1] तेषां दोषाणां त्रयो राशयो भवन्ति रागो द्वेषो मोह इति।

—न्यायमंजरी, पृ० ५००।

स्वतंत्र मनोवैज्ञानिक महत्व को अनुभव किया और उन्हें हमारे कर्मों के प्रेरक समानान्तर दोषों के रूप में माना।

पतंजलि हमारे समस्त कर्मों को 'क्लिष्ट' और 'अक्लिष्ट' दो वर्गों में विभक्त करते हैं। 'अक्लिष्ट' कर्म हमारी मोक्षाभिमुख सहज प्रवृत्ति द्वारा प्रेरित होते हैं जबकि 'क्लिष्ट' कर्म अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश द्वारा प्रेरित होते हैं। अन्तिम चार के अनुभूति-स्वरूप भी उन्हें अविद्या के वृद्धि और विकास की वृत्तियाँ मात्र माना गया है। सांख्य दर्शन की यह विलक्षण विशेषता है कि उसमें विचारों और अनुभूतियों को आभ्यन्तर रूप में पृथक्-पृथक् नहीं माना गया है, क्योंकि गुण विचारों और अनुभूतियों के उपादान हैं। जो एक दृष्टि से विचार है वही दूसरी दृष्टि से अनुभूति है। इसी कारण से मिथ्याज्ञान को अस्मिता, राग और द्वेष की अनुभूतियों का रूप धारण किया हुआ माना गया और उसी पदार्थ से निर्मित माना जा सका जिससे मिथ्याज्ञान निर्मित है। न्याय मनोविज्ञान में विचारों और अनुभूतियों को आभ्यन्तर रूप में पृथक् माना गया है, इसलिए इस तथ्य में सामंजस्य स्थापित करने में कठिनाई अनुभव की गई कि जहाँ मोह को राग और द्वेष की अनुभूति का कारण माना जा सकता है वहाँ राग-द्वेष की अनुभूति को और मोह को एक ही नहीं माना जा सकता। अतः जयन्त जहाँ राग और द्वेष को मोहमूलक मानते हैं वहाँ उनको सत्तामूलक दृष्टि से हमारे कर्मों को मनोवैज्ञानिक रूप में निर्धारण करने वाले समानान्तर कारण मानते हैं। सांख्य-योग तत्वज्ञान में इस कठिनाई को दूर किया जा सका, क्योंकि उस शाखा में विचारों को अनुभूति-विषयों द्वारा ही निर्मित मानने के कारण, अनुभूतियों को विचारों से पृथक् नहीं माना गया है, इसलिए अविद्या को भी पूर्ण रूप से बौद्धिक तत्व मानना आवश्यक नहीं है क्योंकि यह स्वयं भी अनुभूति विषय गुणों का फल है।

भारतीय चिन्तन की अन्य धाराओं के कर्म-स्रोतों का यहाँ विस्तार से वर्णन करना आवश्यक नहीं है। जो कुछ पहले कहा जा चुका है उससे यह प्रकट होगा कि भारतीय दर्शन की अधिकांश शाखाएं मिथ्याज्ञान को राग, द्वेष और आत्मरति की अनुभूतियों के माध्यम से हमारे समस्त सांसारिक कर्मों का मूल मानती हैं। अपने को सामान्यतः मिथ्याज्ञान के दुष्प्रभावों के वशीभूत और अधर्म और क्लेश की ओर पत-नोन्मुख मानने वाली अधिकांश भारतीय विचारधारा में समवायी रूप में एक नैराश्यवाद विद्यमान है। उसका यह भी मत है कि समस्त राग हमें वासनाओं के बन्धन और दासता में डाल देते हैं, और इस कारण मोक्ष मार्ग से दूर हटा देते हैं। कर्मों का अच्छा और बुरा होना उनके मोक्षकारक अथवा बन्धनकारक होने के आधार पर निर्धारित किया जाता है। उनकी प्रभावोत्पादकता परमार्थ की अलौकिक अनुभूति और पुनर्जन्म के निरोध अथवा सत्य के स्वरूप की निष्प्रनता और पुनर्जन्म के दुःखों के प्रकटीकरण की उपलब्धि में है।

परन्तु चरक हमें जीवन की एक ऐसी परियोजना प्रदान करते हैं जिसमें उन्होंने हमारे समस्त कर्मों के स्रोतों को प्राणैषणा, धनैषणा और परलोकैषणा के तीन मूल प्रयोजनों अथवा दैहिक मूल प्रवृत्तियों से उत्पन्न बताया है। उनके अनुसार संक्षेप में इन तीनों मूलभूत इच्छाओं में हमारे कर्मों के समस्त स्रोतों का समावेश हो जाता है। इस दृष्टिकोण में इच्छा–भाव अथवा ज्ञान की अपेक्षा अधिक मूलभूत प्रतीत होती है। चरक इस प्राचीन और पुराने ढर्रे के विचार से प्रारम्भ करते प्रतीत नहीं होते कि मिथ्याज्ञान जगत् का आदि स्रोत है। उनकी परियोजना एक ऐसे सुसंतुलित जीवन की परियोजना है जिसका इन तीन मूलभूत इच्छाओं के समरूप कार्यों के द्वारा मार्ग-दर्शन होता है और पूर्ण प्रज्ञा एवं निर्दोष अवधारणा द्वारा निर्देशन होता है। इन इच्छाओं की समरूपता भंग करने वाले 'प्रज्ञापराध' के कारण जीवन में दोषों और दुष्कर्मों का प्रवेश होता है। समस्त प्रकार के अधर्मों को राग-द्वेष से नहीं अपितु 'प्रज्ञापराध' अथवा मूढता से उत्पन्न बताया गया है। इस 'प्रज्ञापराध' की तुलना न्याय अथवा योग के 'मोह' अथवा 'अविद्या' से की जा सकती है। परन्तु जहाँ न्याय और योग में इस 'मोह' अथवा 'अविद्या' का उल्लेख हमारी मनःसंरचना में अन्तर्निहित मौलिक दोष के और रचनाकारक तत्व के रूप में इसके व्यापारों के निर्धारक के रूप में किया गया है, वहाँ चरक के 'प्रज्ञापराध' का निर्माण किसी तात्विक स्थिति को ग्रहण करने के लिए किया गया है; परन्तु वह निर्णय की व्यक्तिगत त्रुटियों में ही केवल प्रकट होता है।

तथापि, चरक ने अपने काल में प्रचलित आचार-शास्त्र सम्बन्धी और दर्शन-शास्त्र सम्बन्धी मतों के साथ संघर्ष मोल लेने का साहस नहीं किया और हम देखते हैं कि शारीर-स्थान के अध्याय १ में उन्होंने परम्परागत मतों को पर्याप्त मात्रा में स्वीकार किया है। उनका कथन है कि 'भूतात्मा' अथवा 'संयोग-पुरुष' ही सुख-दुःखों का अनुभव करता है और व्याधियों से उत्पन्न समस्त भौतिक क्लेशों के निवारण के लिए वैद्य के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में उनका कथन है कि उपादान (उपधा) के निवारण के द्वारा वेदना की स्थायी नैष्ठिकी (निवारण) में ही समस्त वेदना की परम-चिकित्सा निहित है।[1] उसमें उन्होंने कहा है कि उपादान (उपधा) स्वयं दुःखमय है और सारे दुःखों का आश्रय है। सारी उपधा वृत्तियों के हनन द्वारा सारे दुःखों का नाश किया जा सकता है। जिस प्रकार रेशम का कीड़ा अपने रेशम के धागे को अपने नाश के लिए बुनता है उसी प्रकार अज्ञ आतुर मनुष्य विषयों से इच्छा और तृष्णा का उपादान ग्रहण करता है। जब वह सब विषयों को अग्नि मानकर उनसे हट जाता है, तब

---

[1] चक्रपाणि ने 'उपधा' का अर्थ 'तृष्णा' किया है, परन्तु मुझे इसका बौद्ध 'उपादान' के अर्थ में अर्थ करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

—चरक ४. १. ९३ पर चक्रपाणि की टीका।

ही वह बुद्धिमान् है। कर्मों से विरत (अनारंभ) होने और विषयों से असंयोग होने पर दुःखों से और अधिक पीड़ित होने का भय नहीं रहता। पुनः अनित्य वस्तुओं को नित्य मानने की गलत धारणा (बुद्धि-विभ्रंश), अवांछनीय मार्गों से मन को रोकने से शक्ति का अभाव (धृति-विभ्रंश), सम्यक्-ज्ञान के स्वरूप की विस्मृति (स्मृति-विभ्रंश) और अस्वास्थ्यकर मार्गों का ग्रहण (असात्म्य-अर्थागम), इन चार कारणों से दुःखों का होना कहा गया है। यहाँ 'प्रज्ञापराध' का लक्षण उस गलत कर्म को बताया गया है जो बुद्धि के संभ्रम, अधृति और असम्यक्ज्ञान (धृतिस्मृतिविभ्रंश) के कारण किया जाता है, और इसे सारे रोगों और दोषों को उद्दीप्त करने वाला (सर्वदोषप्रकोपण) माना गया है। 'प्रज्ञापराध' के अन्तर्गत गिनाए जाने योग्य कुछ अपराध ये हैं: उदीरण, गतिमान वस्तुओं का निग्रह, वस्तुओं के कार्य करने के काल का अतिपात, कर्मों का मिथ्यारंभ, लोकाचार के अनुसार आचरण न करना, विनयाचार का लोप, पूज्यों का अभिधर्षण, अकाल और अदेश में संचरण, ज्ञात अहित अर्थों को सेवन, चरक संहिता १.१.६ में वर्णित सद्वृत्त का वर्जन, ईर्ष्या, मान, भय, क्रोध, लोभ, मोह, मद और भ्रम की वासनाएँ, इनके द्वारा प्रेरित समस्त कर्म, और अन्य सब कुछ जो मोह और रज द्वारा प्रेरित हो। 'प्रज्ञापराध' की आगे परिभाषा असम्यक् ज्ञान अथवा सदोष निर्णय से उत्पन्न निर्णय की त्रुटि (विषम-विज्ञान) और अशुद्ध प्रवृत्ति (विषम-प्रवर्तन) के रूप में की गई है। इस प्रकार यह प्रकट होगा कि प्रज्ञापराध को सब प्रकार के नैतिक पतन, अस्वस्थ और अनारोग्यकर स्वभावों और सब प्रकार के आकस्मिक आघातों का कारण मानकर निर्णय की त्रुटि अथवा असम्यक् बुद्धि-प्रयोग के विस्तृत अर्थ में 'प्रज्ञापराध' का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि चरक ने आत्मा की सत्ता और पुनर्जन्म को स्वीकार किया है और क्योंकि धर्म और अधर्म को सारे मानव सुखों और दुःखों का, भूमि की सारी उत्पादकता तथा अनुत्पादकता का और जलवायु और ऋतुओं की आरोग्यकारी अथवा अनारोग्यकारी दशाओं का कारण माना है, इसलिए उन्हें अधर्मकारी और पापकारी कारणों को प्रज्ञापराध में सम्मिलित करना पड़ा। सब दुःखों के कारण हैं, प्रथम, बुद्धि-विभ्रंश, द्वितीय, धृति-विभ्रंश और तृतीय, स्मृति-भ्रंश, जिनके कारण अतीत के ज्ञान और सम्यक् अनुभव प्रतिफलित नहीं हो सकते। इस प्रकार प्रज्ञापराध में दर्शनशास्त्र के 'मोह' अथवा असम्यक् ज्ञान को सम्मिलित करने के द्वारा दर्शन की परम्परागत शाखाओं के साथ चरक के मतैक्य स्थापित करने पर भी और दर्शनशास्त्र के 'मोह' को उनके द्वारा पापों का कारण मान लेने पर भी वे 'प्रज्ञापराध' को अति विस्तृत अर्थ में ग्रहण करते हैं जो सब प्रकार के स्वास्थ्य के नियमों, सामाजिक नियमों और परिपाटियों के अतिक्रमण का, दुःसाहसपूर्ण कार्यों का और अन्य सब अविवेकी और अनुचित कर्मों का कारण है। अतः यद्यपि प्रज्ञापराध पारम्परिक दर्शनशास्त्र का दार्शनिक 'मोह' सम्मिलित है, फिर भी प्रज्ञापराध उनमें

कुछ अधिक है और उसको 'निर्णय की त्रुटि' के अधिक विस्तृत अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। निःसन्देह चरक ईर्ष्या, मान, क्रोध, लोभ, मोह आदि को अशुभ कर्म का उत्पादक मानते हैं, परन्तु वे इनके अतिरिक्त अन्य कई कारणों को भी स्वीकार करते हैं। परन्तु शब्द के विस्तृत अर्थ में ग्रहण करने पर इन सब सहायक कारणों का एक परम कारण 'प्रज्ञापराध' है। अतः यह मानना गलत नहीं होगा कि चरक के अनुसार सब सम्यक् कर्म प्राणैषणा, धनैषणा और परलोकैषणा, इन तीन एषणाओं की प्रेरणा से किए जाते हैं। परन्तु सारे अनुचित कार्य असम्यक् ज्ञान, बुद्धिभ्रंश और प्रज्ञापराध द्वारा होते हैं। इस प्रकार, प्रज्ञापराध से असंयुक्त तीन मूल एषणाओं को सारे सम्यक् कर्मों का मूल कारण माना जा सकता है। अतः जबतक मूल एषणाओं को असम्यक् मार्ग पर डालने के लिए 'प्रज्ञापराध' का अभाव है, तबतक उन मूल एषणाओं को कार्य के लिए खुला छोड़ देने में कोई हानि नहीं है। राग और द्वेष के भावों को कर्म के स्रोत मानने के अन्य दर्शनशास्त्रों के मत से चरक सहमत नहीं प्रतीत होते हैं। कर्म तीन मूल एषणाओं की सामान्य कर्मशील प्रवृत्तियों से प्रेरित होते हैं, और जब हमारी शक्तियाँ बुद्धिहीनता के कारण गलत मार्ग की ओर उन्मुख हो जाती है, तो वे कर्म अशुभ हो जाते हैं। यद्यपि चरक को भारतीय दर्शन के इस मान्य दृष्टिकोण से मेल बैठाना पड़ा कि समस्त दुःखों का अन्त समस्त कर्मों के अन्त से होता है, फिर भी ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस प्रकार के आचारण को उन्होंने मान्यता दी है वह प्रज्ञापराधरहित मूलएषणाओं के सामान्य प्रयोग के आचरण में निहित है। इस प्रकार चरक न तो इच्छाओं, राग, भावों और सब प्रकार के कर्मों के त्याग का उपदेश करते हैं और न ही वे अनासक्त रूप में कर्म करने के गीता के आदर्श का ही पक्ष-प्रतिपादन करते हैं। उनका आदर्श एक ऐसे प्रकार से मनुष्य-जीवनयापन करने का आदर्श है जो आरोग्य, दीर्घायुष्य और सम्यक् उपभोगों को प्राप्त कराने वाला हो। हमारी एकमात्र चिन्ता यह होनी चाहिए कि हम खाने, पीने और जीवन के अन्य कर्मों में ऐसी कोई गलती न करें जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से (अधर्म के उत्पादन द्वारा) व्याधियों और दुःखों को जन्म दे अथवा हमारे जीवन और सुख को किसी प्रकार से संकटापन्न कर दे। चरक की आचार-संबंधी स्थिति का यह अद्वितीय स्वरूप चरक द्वारा विशद रूप में प्रतिपादित आचार संहिता, सद्गुणों और सद् जीवनयापन की विधियाँ है। निःसन्देह वे संन्यास के आदर्श के साथ ऊपरी सहानुभूति दिखलाते हैं, परन्तु उनकी वास्तविक सहानुभूति जीवन की उस सामान्य परियोजना के साथ प्रतीत होती है, जिसमें इच्छाओं के सामान्य उपभोग और उनके फल भी सम्मिलित हैं। सामान्य जीवन धार्मिक जीवन भी होना चाहिए, क्योंकि अधर्म और पाप इहलोक और परलोक में दुःख, क्लेश और व्याधियों के कारण हैं।

चरक में हितायु

प्रारम्भ में ही यह बता देना उचित है कि चरक के अनुसार हितायु का अर्थ न केवल नैतिक रूप से धार्मिक आयु है अपितु एक ऐसा आयु जो व्याधियों से मुक्त हो और जो इस प्रकार व्यतीत किया जाए कि वह सामान्य मान को प्राप्त होवे। इस प्रकार नैतिक आयु का अर्थ प्रज्ञापराध दोष से मुक्त आयु है। इसका अर्थ बुद्धिमान् और विवेकशील आयु है, क्योंकि बुद्धि और विवेक का अभाव ही समस्त भौतिक, सामाजिक, दैहिक, नैतिक और आध्यात्मिक दोषों का कारण है। सज्जन होने के लिए किसी का नैतिक धर्मों का पालन करना ही पर्याप्त नहीं, उसको भौतिक, दैहिक और सामाजिक धर्मों का भी पालन करना चाहिए। उसे रोग और दुःखों से मुक्त तथा किसी भी प्रकार के अपयशों से हीन, स्वस्थ और दीर्घायु होने का प्रयत्न करना चाहिए। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भौतिक जीवन के मानसिक और नैतिक जीवन से बलात् पृथक्करण में चरक का विश्वास नहीं है। आधिभौतिक व्याधियाँ औषधि सेवन से शान्त होती हैं, जबकि आध्यात्मिक व्याधियाँ वस्तुओं के यथार्थ और सम्यक् ज्ञान, आत्मसंयम और ध्यान द्वारा शान्त होती हैं। शरीर और मन का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध प्राचीन काल से सुविदित था, और महाभारत (१२. १६) का भी कथन है कि शरीर से आध्यात्मिक और मन से आधिभौतिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। चरक का मत है कि वैद्य को न केवल शारीरिक व्याधियों को अपितु मानसिक व्याधियों को भी शान्त करना चाहिए। उसी अध्याय में महाभारत का आगे कथन है कि शरीर में तीन प्रकार के तत्व ऊष्मा, शीत और वायु होते हैं, जब वे साम्यावस्था में होते हैं तो शरीर स्वस्थ रहता है और जब उनमें से कोई एक प्रबल हो जाता है तो रोग होता है। मन सत्व, रजस् और तमस् से बना है, जब वे साम्यावस्था में हों तो मन स्वस्थ रहता है और इनमें से कोई जब प्रबल हो जाता है तो वह अस्वस्थ हो जाता है। तथापि चरक का विचार है कि केवल रजस् और तमस् के प्रबल होने पर ही मन अस्वस्थ हो जाता है। परन्तु ये मतभेद चाहे जैसे हों, यह स्पष्ट है कि, चरक जीवन के विषय में कथन करते समय मन और शरीर दोनों को सम्मिलित रूप से ग्रहण करते हैं, और दोनों का हित ही वैद्य की चिन्ता का मुख्य विषय है। चरक के ये विधि, आदेश और निषेध मन और शरीर के इस द्विविध हित पर ही आधारित हैं जिनको लक्ष्य में रखना चाहिए।

कुछ शारीरिक वेगों को धारण करने के प्रयत्न की हानियों का वर्णन करने के पश्चात् वे कुछ अन्य मानसिक और शारीरिक आवेगों को धारण करने का उपदेश देते हैं। इस प्रकार वे सब पुरुषों को मन, वाक् और कर्मों के अप्रशस्त साहसिक वेगों में प्रवृत्त होने का निषेध करते हैं। मनुष्य को लोभ, शोक, भय, क्रोध, मान, निर्लज्जता,

के कष्ट में सहायता करे, हवन करे, दान करे प्रसन्नता से, सुन्दरता से और परहित के लिए बोले (पूर्वाभिभाषी हो), वश्यात्मा हो और धर्मात्मा हो। वह दूसरों की समृद्धि के प्रति अपने सत्स्वभाव रूप में तथा वैयक्तिक समृद्धि के अन्य हेतुओं के प्रति स्पर्धा करे ((हेत्वीर्ष्य), परन्तु किसी मनुष्य की समृद्धि अथवा सम्पत्ति के रूप में इनके फल के प्रति ईर्ष्यालु न हो (फल नेर्ष्य)। वह निश्चित, निर्भीक, धीमान्, ह्रीमान्, महोत्साही, दक्ष, क्षमावान्, धार्मिक और आस्तिक होवे। वह छत्र, दण्ड, उष्णीष और जूता धारण करे और चलते समय चार हाथ जमीन अपने आगे देखे, वह अपवित्र, अस्वच्छ और मलिन स्थानों से बचे, क्रुद्धों को शान्त करने का यत्न करे, भयत्रस्तों का भय दूर करे, दीनों की सहायता करे, सत्य-सन्ध हो, परुषवचनसहिष्णु हो, आत्मवान् होवे, राग और द्वेष के कारणों का निवारण करे और सब प्राणियों का मित्र हो। पुनः, मनुष्य अनृत भाषण नहीं करे अथवा परस्व का ग्रहण न करे। पराई स्त्री की अभिलाषा न करे अथवा दूसरे के धन से ईर्ष्या न करे, अन्यों के साथ वैर की इच्छा न करे, पाप न करे, अथवा पापी के प्रति भी पापी न होवे, अथवा दूसरों के दोषों का वर्णन न करे, अधार्मिकों अथवा राजद्वेषियों अथवा उन्मत्त, पतित, क्षुद्र, दुष्ट अथवा भ्रूणहन्ताओं की संगति न करे। कोई दुष्ट यान की सवारी न करे, कठिन अथवा आच्छादन तथा तकिए रहित बिस्तर का सेवन न करे, विषम पर्वतों पर अथवा वृक्षों का आरोहण न करे, अथवा अतिवेगवान् चढ़ी हुई नदी में स्नान न करे, ऐसे स्थानों में विचरण न करे जहाँ आग लग रही हो, जोर से न हँसे अथवा असंवृत मुख होकर न तो जम्हाई ले और न हँसे और न दांतों को कुरेदे। पुनः, बहुजन द्वारा प्रतिपादित धर्मों का और सामान्यतः अन्य धर्मों का अतिक्रमण न करे, असेव्य स्थानों में रात्रि में विचरण न करे, अथवा बाल, वृद्ध अथवा लोभी पुरुषों के साथ मित्रता न करे, अथवा कोई मनुष्य द्यूत, वेश्या में रुचि न रखे, गुह्य विषयों को प्रकट न करे, किसी की अवज्ञा न करे, अहम्मन्य अथवा आत्मश्लाघी न हो; वृद्ध, गुरु, राजा और गणों की निन्दा न करे, अथवा अति भाषण न करे; मनुष्य बान्धव, अनुरक्त और गुह्यज्ञ-जनों का बहिष्कार न करे। कार्यकाल का अतिपात न करे, किसी अपरीक्षित काम को हाथ में न ले अथवा दीर्घसूत्री भी न हो अथवा क्रोध और हर्ष का वशानुगामी न हो, मनुष्य कठिनाइयों में शोकग्रस्त न हो, सिद्धि में अतिप्रसन्न न हो अथवा असिद्धि में दैन्य को प्राप्त न हो, ब्रह्मचर्य का अभ्यास करे, ज्ञानी होने का प्रयत्न करे, दान करे, सबके प्रति मैत्री और कारुण्य से युक्त होवे और सदा सन्तोषी होवे। यहाँ पर उन समस्त गुणों की गणना चालू रखना आवश्यक है, जिनका सामान्यतः हितायु के आवश्यक तत्वों में समावेश होता है। इसमें चरक पूर्णतः एक नए मार्ग का प्रणयन करते प्रतीत होते हैं और भारतीय विचार की अन्य किसी शाखा में हम विभिन्न प्रकार के सब गुणों का ऐसा संग्रह कहीं नहीं देख पाते हैं जो न केवल धार्मिक जीवन के लिए ही आवश्यक है अपितु नागरिक के स्वस्थ और सफल जीवन के लिए भी आवश्यक है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि किसी भी क्षेत्र में किया गया प्रज्ञापराध सारे अधर्मों और क्लेशों का मूल कारण है और चरक इसका प्रदर्शन जीवन के सारे विविध क्षेत्रों और विषयों में योग्य व्यवहारों की सद्वृत्त की सूची में गणना करके करते हैं। चरक के लिए आयु की धारणा नैतिक अथवा अनैतिक नहीं है अपितु हित अथवा अहित है। निस्सन्देह यह सत्य है कि, चरक संहिता में इधर-उधर ऐसे छुटपुट वर्णन दृष्टिगोचर होते हैं, जिनमें सब दुःखों की शान्ति को आयु का परमार्थ माना गया है, परन्तु यह स्पष्ट है कि चरक का विषय के प्रति मुख्य दृष्टिकोण अतिस्पष्ट रूप से यह प्रदर्शित करता है कि यद्यपि नैतिक गुणों की सदा अत्यधिक प्रशंसा की गई है फिर भी अनैतिक गुणों, यथा अपने शरीर के हितसाधन के प्रति सावधान रहने अथवा सामाजिक आचरण संबंधी नियमों का पालन करने अथवा विवेकशील नैतिक व्यवहार, को भी हितायु के स्थिर रखने के लिए समान रूप से आवश्यक माना गया है। अतिक्रमण और अधर्म मानसिक चिन्ताओं, क्लेशों तथा अनेकों मानसिक और शारीरिक व्याधियों के कारण हैं, अतः मनुष्य को जागरूक रहना चाहिए कि उनका उसके जीवन में प्रवेश न हो, और यह कहा गया है कि प्रबल अधार्मिक कर्मों से उत्पन्न व्याधियों को औषधि प्रयोग आदि के सामान्य साधनों द्वारा तबतक शान्त नहीं किया जा सकता जबतक कि वे अपने दुःख-भोग के उचित काल के साथ स्वयं ही शान्त नहीं हो जाएँ। परन्तु अधर्म और अतिक्रमण ही केवल हमारी इच्छाओं, आकस्मिक घटनाओं और अन्य घरेलू, सामाजिक और राजनैतिक विपत्तियों के कारण नहीं हैं। जिस प्रकार हमारे अन्य अधर्म और अनैतिक कर्म प्रज्ञापराधजनित हैं, उसी प्रकार प्रज्ञापराधजनित हमारे अविवेकपूर्ण व्यवहार और आचरण से ही हमारे समस्त शारीरिक और मानसिक क्लेश हमें प्राप्त होते हैं। प्रत्येक मनुष्य की आदर्श हितायु शान्ति, सन्तोष और सुख से युक्त तथा सब प्रकार की इच्छाओं और क्लेशों से मुक्त आयु है। यह विवेकपूर्ण और सुसंतुलित-निर्णय की आयु है जिसमें प्रत्येक कर्म उसके भावी परिणाम को ध्यान में रखकर किया जाता है और जिसमें दुःखकारी और क्लेशकारक सब चीजों को सावधानी से दूर रखा जाता है। केवल ऐसी आयु अच्छी कही जा सकती है और आदर्श माना जा सकता है। जो प्रत्येक दृष्टि से अच्छी हो ऐसी नैतिक अथवा धार्मिक आयुमात्र हमारा आदर्श नहीं है। कोई भी अतिक्रमण चाहे वह स्वास्थ्य के नियमों का हो, शिष्ट समाज का हो या अच्छी नागरिकता के नियमों का हो अथवा विवेक या प्रज्ञा द्वारा निर्दिष्ट बुद्धिमत्तायुक्त मार्ग से च्युत होना हो, आयु की शान्ति को भंग कर सकता है। इस प्रकार हितायु की परियोजना का अर्थ बुद्धिमत्तापूर्ण आयु है, और नैतिकता का पालन उन अनेक प्रकारों में से एक प्रकर मात्र है, जिनमें विवेक का प्रदर्शन किया जा सके।

आयुर्वेद का मुख्य विषय आयु को हित, अहित, सुखी अथवा दुःखी बनाने वाले

साधन हैं। सुख-आयु उसे बताया है जो मानसिक और शारीरिक व्याधियों से अनाक्रान्त हो, यौवन तथा सम्यक् बल, वीर्य, पौरुष, पराक्रम से युक्त, ज्ञान, विज्ञान और इन्द्रिय बल से युक्त हो—समस्त इन्द्रियार्थ भोगों से युक्त हो और जिसमें सब समारम्भ सफल हो। इसका विपर्यय दुःखी-आयु है। इस प्रकार सुखी-आयु वह आयु है जो सुखयुक्त और भोगने योग्य हो तथा हमें संतोष प्रदान करे। सुखी-आयु हमारे सद्वृत्त द्वारा निर्मित और विकसित आयु है। एक प्रकार से हितायु ही सुखी आयु का निर्माण करती है। हितायु के चाहने वालों को परस्व-ग्रहण करने से बचना चाहिएं और सत्यवादी तथा शमपरायण होना चाहिए। वे परीक्ष्यकारी हों, वे क्षिप्रकारी न हों अथवा प्रमादवश त्रुटियाँ न करें, धर्म, अर्थ और काम में से किसी एक को अनुचित महत्ता प्रदान न करके त्रिवर्ग का उपसेवन करें, पूजार्हों की पूजा करें, ज्ञानी, विज्ञानी और उपशमशील हों, और राग, क्रोध, ईर्ष्या और मान के वेगों को सुनियत करें, सदा दानशील हों, तपोयुक्त जीवन यापन करें और ज्ञान, प्रशम और अध्यात्म ज्ञान (अध्यात्मविदः) को प्राप्त करें, और अतीत के अनुभवों की शिक्षाओं को स्मरण रखते हुए इस प्रकार से जीवनयापन करें कि इहलोक के वर्तमान जीवन और परलोक के जीवन दोनों के हित का सावधानी से एवं निश्चयपूर्वक हित साधन हो।[1] अब यह स्पष्ट हो जाता है कि चरक के अनुसार हितायु का आदर्श उन विभिन्न दर्शनशास्त्रों के समान नहीं है जिन्हें पारिभाषिक रूप से मोक्ष-शास्त्र कहा जाता है। हितायु का मूलभूत भाव यह है कि आयु इस प्रकार नियमबद्ध हो कि शरीर और मन व्याधिमुक्त रहे, कि यह प्रमादवश भय के अनावश्यक संकटों में न पड़े, कि यह धार्मिक, शुद्ध और नैतिक हो, कि यह विवेकयुक्त और ज्ञानयुक्त आयु हो जो विचार और कर्म में अत्यधिक सावधानी को प्रदर्शित करते हुए और अपने ही हित—जीवन, शरीर और आत्मा के अर्थों का हित—में सतत प्रवृत्त होकर, शिष्ट समाज के और अच्छे तथा निष्ठावान् नागरिक के धर्मों का पालन करे।

आयुर्वेद-साहित्य

भारतीय चिकित्सा का व्यवस्थित विकास प्रधानतः दो मार्गों पर अग्रसर हुआ अर्थात् एक सुश्रुत के मार्ग पर और दूसरा चरक के मार्ग पर। सुश्रुत की महान् कृति 'सुश्रुत संहिता' में यह कहा गया है कि मानव प्राणियों के सर्जन से पहले ही एक सहस्त्र अध्यायों में विभक्त एक लाख श्लोक वाले आयुर्वेद की रचना ही मूलतः ब्रह्मा ने की, और बाद में मनुष्य के अल्पायुत्व और हीनबुद्धित्व का ध्यान करके उन्होंने इसको शल्य, शालाक्य आदि उन आठ भागों में विभक्त कर दिया जिनका एक पूर्व विभाग में

---

[1] चरक संहिता, १. ३०. २२।

संकेत किया जा चुका है। परन्तु यह अधिकांशतः पौराणिक प्रतीत होता है। इसी प्रसंग में सुश्रुत संहिता १. १ में यह और कहा गया है कि औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपरक्षित, सुश्रुत और अन्य ऋषि धन्वन्तरि अथवा काशी नरेश दियोदास के पास चिकित्सा संबंधी उपदेश के लिए उपस्थित हुए। अतः सुश्रुत संहिता धन्वन्तरि शाखा की संहिता कहलाती है। यद्यपि बाद में नागार्जुन ने इसका संशोधन किया था, फिर भी सुश्रुत स्वयं एक प्राचीन लेखक हैं। जातकों के अध्ययन से प्रकट होता है कि जीवक के अध्यापक, महाभिषक् आत्रेय, बुद्ध से कुछ ही पहले तक्षशिला में निवास करते थे।[1] एक पूर्ववर्ती विभाग में यह कहा जा चुका है कि अस्थिगणना में सुश्रुत को अस्थिविज्ञान की आत्रेय प्रणाली का ज्ञान था। हर्नले ने अपने 'अस्थि-विज्ञान' के अनुच्छेद ४२, ५६, ६० और ६२ में यह और प्रदर्शित किया है कि कम से कम छठी शती ई० पू० जितने प्राचीन ब्राह्मण में अस्थि-गणना के सौश्रुत दृष्टिकोण के ज्ञान का परिचय मिलता है। हर्नले का अनुमान है कि सुश्रुत आत्रेय के शिष्य अग्निवेश के समकालीन अवश्य होंगे।[2] परन्तु हर्नले के मुख्य तर्क को मान लेने पर भी यह कहा जा सकता है कि सुश्रुत संहिता ३. ५. १८ के 'वेदवादिनः' पद से सुश्रुत ने आत्रेय से पूर्ववर्ती उन आचार्यों का संकेत किया हो, जिनसे आत्रेय ने भी अपनी सामग्री इकट्ठी की हो। तब इस दृष्टिकोण के आधार पर सुश्रुत की मृत्युकाल की निम्नतर सीमा छठी या सातवीं शती ई० पू० निश्चित होती है जो शतपथ ब्राह्मण का काल है, जबकि ऊपरी सीमा के विषय में लगभग कुछ नहीं कहा जा सकता।

परन्तु यह प्रायः निश्चित है कि आजकल जो ग्रन्थ सुश्रुत संहिता के नाम से प्रचलित है वह ठीक वही ग्रन्थ नहीं है जिसे वृद्ध सुश्रुत ने रचा था। डल्हण संभवतः ग्यारहवीं या बारहवीं शती ई० प० में हुए; वे भी अपने 'निबन्ध-संग्रह' में कहते हैं कि नागार्जुन सुश्रुत-संहिता के संशोधक थे,[3] और स्वयं सुश्रुत संहिता में भी कल्प स्थान के पश्चात् उत्तरतन्त्र (बाद की कृति) नामक एक परिशिष्ट है। फरुखनगर निवासी पं० मुरलीधर द्वारा संपादित संस्करण में प्रारम्भ में एक ऐसा श्लोक है, जिसमें कहा गया है कि लोकहित के लिए महर्षि धन्वन्तरि ने सुशिष्य सुश्रुत को जिसका उपदेश किया, वह समस्त संसार में 'सुश्रुत संहिता' नाम से प्रसिद्ध हुआ, और त्रिविध आयुर्वेद साहित्य में उसे श्रेष्ठ और उत्तम माना जाता है, और उसे नागार्जुन के अतिरिक्त

---

[1] राकहिल कृत Life of the Buddha पृ० ६५ और ९६।

[2] हर्नले कृत Medicine of Ancient India खंड १, Osteology पृ० ७ और ८।

[3] प्रतिसंस्कर्तापीह नागार्जुन एव।

—डल्हण कृत निबंध संग्रह, १. १. १

किसी अन्य ने सूत्रबद्ध नहीं किया।[1] चक्रपाणि ने भी अपनी पुस्तक 'भानुमति' में एक संशोधक (प्रतिसंस्कर्तृ) का उल्लेख किया है, परन्तु उन्होंने उसके नाम का उल्लेख नहीं किया है। सुश्रुत पर गयदास कृत पंजिका, सुश्रुत-चन्द्रिका अथवा न्याय चन्द्रिका, में निदान-स्जान के तृतीय अध्याय के अष्टम श्लोक पर टिप्पणी मिलती है, जिसमें उन्होंने नागार्जुन द्वारा प्रस्तुत उस भिन्न पाठ को दिया है जो सम्बद्ध अंश में सुश्रुत के आधुनिक पाठ के समान ही है।[2] पुनः भट्ट नरहरि 'मूढगर्भ निदान' की चर्चा करते हुए 'अष्टांगहृदय-संहिता' पर रचित अपनी 'वाग्भटखण्डन-मण्डन' नामक टिप्पणी में वाग्भट्ट द्वारा उद्धृत करते समय सुश्रुत के 'वस्तिमारविपन्नायाः' (२. ८. १४) पाठ के परिवर्तितरूप 'वस्तिद्वारे विपन्नायाः' पाठ पर टिप्पणी करते हैं, और कहते हैं कि 'वस्तिद्वारे' पाठ नागार्जुन का है।[3] ग्रन्थों के अपने संशोधनों में परिशिष्ट जोड़ने के नागार्जुन के स्वभाव का प्रमाण इस तथ्य से भी मिलता है कि नागार्जुन रचित बताए जाने वाले 'योगशतक' नामक ग्रन्थ में भी इसके अन्य अध्याय कायचिकित्सा, शालाक्य-तन्त्र, शल्यतन्त्र, विषतन्त्र, भूतविद्या, कौमार-तन्त्र, रसायनतन्त्र और वाजीकरण-तन्त्र के अतिरिक्त 'उत्तरतन्त्र' नामक एक परिशिष्ट और है। इससे यह अत्यधिक स्पष्ट हो जाता है कि 'सुश्रुत संहिता' नाम से जो ग्रंथ प्रचलित है वह या तो सुश्रुत के परंपरा-गत उपदेशों से पूर्णतया ग्रथित किया गया था या नागार्जुन को उपलब्ध सुश्रुत के केन्द्रभूत ग्रंथ के आधार पर नागार्जुन द्वारा पूर्णतया संशोधित एवं परिवर्धित किया गया था। परन्तु क्या नागार्जुन ही अकेला व्यक्ति था जिसने सुश्रुत-संहिता का संशोधन किया? नागार्जुन के ही इस ग्रंथ के संशोधक होने के (प्रतिसंस्कर्तापीह नागार्जुन एव) डल्हण के कथन की मुरलीधर-संस्करण के श्लोक (नागार्जुनेनैव ग्रथित) द्वारा पुष्टि होती है, परन्तु दोनों में बल सूचक 'एव' शब्द का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि अन्य लेखकों द्वारा भी सुश्रुत के अन्य संस्करण अथवा संशोधन विद्यमान रहे होंगे। विभिन्न संस्करणों में पाठों, अध्याय-विभाजन और अध्यायों में

---

[1] उपदिष्टा तु या सम्यग्धन्वन्तरिमहर्षिणा
सुश्रुताय सुशिष्याय लोकानां हितवांछया
सर्वत्र भुवि विख्याता नाम्ना सुश्रुतसंहिता
आयुर्वेदत्रयीमध्ये श्रेष्ठा मान्या तयोत्तमा
सा च नागार्जुनेनैव ग्रथिता ग्रंथरूपतः॥

[2] नागार्जुनस्तु पठति, शर्करा सिकता मेहो भस्माख्योऽश्मरीवैकृतमिति। सन् १९१५ के निर्णय सागर संस्करण में यह २. ३. १३ है जबकि जीवानन्द के संस्करण में यह २. ३. ८ है। और देखिए डॉ० कौर्दिये कृत Recentes Decouvertes des Mss Medicaux Sanscrits dans L'Inde पृ० १३।

[3] अतएव नागार्जुनैर्वस्तिद्वार इति पठ्यते।

पाठ-क्रमों की ऐसी अत्यधिक आशाहीन बुरी दशा है कि इसमें कोई सन्देह नहीं रह सकता कि इस महान् कृति पर समय-समय पर कई हाथ पड़ते रहे हैं। यह सोचना भी उचित नहीं है कि सुश्रुत के परिष्करण का कार्य पूर्व-चक्रपाणि काल तक ही सीमित था। कम से कम एक ऐसा उदाहरण बताया जा सकता है जिसमें यह लगभग निश्चित रूप से प्रमाणित किया जा सकता है कि चक्रपाणि के बाद भी सुश्रुत संहिता में नए अंश जोड़े गए थे अथवा डल्हण को ज्ञात सुश्रुत का पाठ चक्रपाणि को ज्ञात नहीं था। इस प्रकार ४. ३८ में मूत्र-मार्ग-शोधक मंत्र के प्रयोग का और गुदा मार्ग से औषधियों के प्रयोग (वस्तिक्रिया) का वर्णन करते समय, डल्हण द्वारा टीका कृत सुश्रुत संहिता के पाठ कई ऐसे रोचक विवरणों को प्रकट करते हैं जिनका चरक संहिता के वस्तिविषयक अध्याय (उत्तरवस्ति, सिद्धिस्थान ७) में स्पर्श तक नहीं किया गया है। चरक संहिता का यह अध्याय दृढ़वल द्वारा जोड़ा गया था जो सम्भवतः आठवीं या नवीं शती ई० प० में काश्मीर अथवा पंजाब में निवास करते थे। जब ग्यारहवीं शती में चक्रपाणि ने अपनी टीका लिखी, उस समय उन्होंने सुश्रुत संहिता में पाई जाने वाली सामग्री का कोई उल्लेख नहीं किया और न उन्होंने उसका अपने 'चक्रदत्त' नाम से विख्यात चिकित्सा-विषयक संग्रह में ही समावेश किया। चक्रपाणि अपने काल की सुश्रुत-संहिता से भलीभाँति परिचित थे क्योंकि उन्होंने स्वयं उस पर टीका की है और यह अत्यन्त असंभव सा प्रतीत होता है कि यदि वे इस पाठ में वस्तिक्रिया-विषयक किसी रोचक विवरण को पाते तो वे उसका अथर्व-चिकित्सा विषयक टीका अथवा अपने निजी चिकित्सा विषयक ग्रंथ में प्रयोग न करते। अतः यह अनुमान लगभग अपरिहार्य है कि सुश्रुत संहिता के नवीं और ग्यारहवीं शती के पाठ में अनुपलब्ध वस्तिक्रिया संबंधी कई रोचक विवरणों का इसमें समावेश बारहवीं शती में किया गया था। फिर भी यह अनुमान लगाना कठिन है कि सुश्रुत संहिता के संपादक अथवा परिष्कर्त्ता कौन से नागार्जुन थे; यह अधिक संभव प्रतीत नहीं होता कि शून्यवाद के महान् आचार्य और माध्यमिककारिका के रचयिता विख्यात नागार्जुन ही वह संपादक या परिष्कर्त्ता थे, क्योंकि चीनी और तिब्बती सूत्रों से उपलब्ध इन नागार्जुन के जीवन विवरणों में कहीं भी ऐसा संकेत नहीं मिलता कि उन्होंने सुश्रुत-संहिता का संशोधन अथवा संपादन किया था। अलबेरुनी सोमनाथ (गुजरात) के निकटवर्ती दीहक ग्राम में उत्पन्न नागार्जुन को अपने से लगभग सौ वर्ष पूर्ववर्त्ती अर्थात् नवीं शती का मध्यवर्त्ती बताते हैं और उनको अपने समय में अति विरल कीमियागिरी के सम्पूर्ण साहित्य के सार से युक्त, कीमियागिरी के एक उत्कृष्ट ग्रंथ का लेखक बताते हैं। यह असंभव नहीं कि यही नागार्जुन उस 'कक्षपुटतंत्र' के रचयिता हों जिसे विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के कीमियाई ग्रंथों से संगृहीत सामग्री से लिखा गया माना जाता है, और जिसमें अष्ट-सिद्धियों का वर्णन है। परन्तु वृन्द अपने 'सिद्धियोग' में नागार्जुन रचित एक ऐसे योग का उल्लेख करते हैं, जिसको

पाटलीपुत्र के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण बताया जाता है।[1] इस योग को चक्रपाणिदत्त, बंगसेन तथा नित्यनाथ सिद्ध ने अपने 'रसरत्नाकर' में ज्यों का त्यों दिया है। परन्तु क्योंकि इनमें से प्राचीनतम, वृन्द का काल आठवीं या नवीं शती माना जाता है और क्योंकि उनका योग एक शिलालेख से गृहीत है इसलिए यह असंभव नहीं कि इन नागार्जुन का काल उनके काल से कुछ शती पूर्व का हो।

सुश्रुत संहिता की आजकल प्रचलित टीकाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण टीका डल्हण कृत 'निबन्धसंग्रह' है। डल्हण ने ई० प० १०६० कालीन चक्रपाणि का उद्धरण दिया है और स्वयं उनका उद्धरण हेमाद्रि, १२६० ई० प० ने दिया है। अतः उनका काल ग्यारहवीं और तेरहवीं शती ई० प० के मध्य का है। यह बताया जा चुका है कि चक्रपाणि और डल्हण के काल के मध्य में सुश्रुत संहिता के पाठों में पर्याप्त परिवर्तन हो चुके थे और इसमें कम से कम सौ वर्ष लगे होंगे। इसलिए मेरा मत है कि डल्हण बारहवीं शती के अन्त में अथवा तेरहवीं शती के प्रारम्भ में महाराज सहपालदेव की सत्ता में विद्यमान रहे होंगे। चक्रपाणि ने भी 'भानुमती' नामक 'सुश्रुत संहिता' पर टीका लिखी थी, जिसका प्रथम खण्ड कविराज गंगाप्रसाद सेन ने प्रकाशित कर दिया है। डा० कौंदिये का कथन है कि इसकी एक सम्पूर्ण पांडुलिपि वाराणसी में विद्यमान है। निश्चलकर और श्रीकण्ठदत्त कभी-कभी चक्रपाणि कृत सुश्रुत-संहिता की टीका में से उद्धरण देते हैं। डल्हण कृत टीका 'निबन्धसंग्रह' कहलाती है जिसका अर्थ है कि ग्रंथ अनेकों टीकाओं का संग्रह है और वे स्वयं उत्तर-तन्त्र के अन्त में पुष्पिका में कहते हैं कि भरतात्मज वैद्य डल्हण ने कई अन्य टीकाओं का वीक्षण करके इस ग्रन्थ की रचना की।[2] 'निबन्धसंग्रह' के प्रारम्भ में उन्होंने जयन्त, गयदास, भास्कर कृत 'पंजिका,' श्री माधव और ब्रह्मदेव का उल्लेख किया है। आगे अपने ग्रंथ में उन्होंने चरक, हारीत, जतुकर्ण, काश्यप, कृष्णात्रेय, भद्रशौनक, नागार्जुन, दोनों वाग्भट्ट, विदेह, हरिश्चन्द्र, भोज, कार्तिक-कुण्ड और अन्यों का भी वर्णन किया है। हरिश्चन्द्र चरक-संहिता के एक टीकाकार थे। फिर भी यह विलक्षण बात है कि अपनी टीका के प्रारम्भ में भास्कर और श्रीमाधव का उल्लेख करने पर भी, डल्हण ग्रंथ के कलेवर में उनका उल्लेख नहीं करते हैं। फिर भी, हर्नले भास्कर और कार्तिक-कुण्ड को एक ही व्यक्ति मानने के लिए कटिबद्ध प्रतीत होते हैं। माधवीय 'निदान' के टीकाकार विजयरक्षित और श्रीकण्ठदत्त सुश्रुत संहिता की ओर अपने

---

[1] नागार्जुनेन लिखिता स्तम्भे पाटलिपुत्रके ५.१४९।

[2] निबन्धान बहुशो वीक्ष्य वैद्यः श्रीभारतात्मजः
उत्तरस्थानमकरोत् सुस्पष्टं डल्हणो भिषक् ॥
—सुश्रुत के उत्तरतन्त्र, अध्याय ६६ पर डल्हण कृत टीका का अन्तिम श्लोक।

संकेतों के संदर्भ में कार्तिक-कुण्ड का उल्लेख करते हैं परन्तु भास्कर का उल्लेख नहीं करते। पटना के एक शिलालेख (E. I. I. ३४०, ३४५) में कहा गया है कि महाराजा भोज ने भास्कर भट्ट को 'विद्यापति' की उपाधि प्रदान की थी। हर्नले का विचार है कि भास्कर और भास्कर भट्ट एक ही थे। हर्नले का यह भी संकेत है कि वृन्द-माधव और डल्हण द्वारा वर्णित श्रीमाधव एक ही थे। माधव ने अपने 'सिद्धयोग' में सुश्रुत के कथनों में प्रायः सुधार किया है। शायद ये सुधार ही माधव कृत 'टिप्पण के नाम से प्रचलित हो गए हों। चूँकि गयदास और चक्रपाणि दोनों भोज का उल्लेख करते हैं और परस्पर एक दूसरे का उल्लेख नहीं करते हैं इसलिए संभव है कि गयदास चक्रपाणि के समकालीन हों। हर्नले का विचार है कि डल्हण द्वारा उल्लिखित ब्रह्मदेव ई० प० ११११ में 'साहसांकचरित' के रचयिता महेश्वर के पिता श्रीब्रह्म ही थे। महेश्वर हरिश्चन्द्र को अपना प्राचीन पूर्वज बताते हैं। यह असंभव नहीं कि यह हरिश्चन्द्र चरक के एक टीकाकार थे। कवि महेश्वर स्वयं एक कविराज भी थे, और हेरम्बसेन कृत 'गूढबोधकसंग्रह' अधिकतर महेश्वर के ग्रन्थ पर आधारित था। जेज्भट कृत टीका 'बृहल्लघुपंजिका' नाम से विख्यात थी, गयदास कृत टीका को 'सुश्रुत चंद्रिका' अथवा 'न्यायचंद्रिका' कहा जाता था, और श्रीमाधव अथवा माधवकर कृत 'टिप्पणी' को 'श्लोकवार्तिक' कहा जाता था। गयदास भोज, सुरनन्दी और स्वामीदास का उल्लेख करते हैं। गयदास कृत 'पंजिका' की केवल 'निदान स्थान' तक ही खोज हुई है, जिसमें ३००० 'ग्रंथ' हैं। सुश्रुत के अन्य टीकाकारों में हम गोमिन्, आषाढवर्मन्, जिनदास, नरदन्त, गदाधर, वाष्पचन्द्र सोम, गोवर्धन और प्रश्ननिधान के नाम सुनते हैं।

यहाँ इस तथ्य का उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा कि सुश्रुत के शरीर-स्थान में सारबद्ध सांख्यदर्शन निश्चय ही ईश्वर कृष्ण का सांख्य दर्शन है, जो, जैसाकि मैं अन्यत्र पहले ही बता चुका हूँ, चरक संहिता में इतने विशद रूप से प्रतिपादित सांख्य दर्शन से अपेक्षाकृत बाद के समय का है।[1] यह तथ्य इस बात का भी संकेत देता है कि सुश्रुत का संशोधन ईश्वर कृष्ण के उस ग्रन्थ की रचना (लगभग ई० प० २००) के पश्चात् समापन्न हुआ, जोकि ऊपर व्यक्त इस दृष्टिकोण से मेल खाता है कि सुश्रुत का संशोधन चतुर्थ अथवा पंचम शती ई० प० काल में विद्यमान नागार्जुन का कार्य था। परन्तु यह अत्यन्त असम्भव-सा प्रतीत होता है कि छठी शती ई० पू० जितने प्राचीन काल में विद्यमान एक लेखक के चिकित्सा-विषयक विशद सिद्धान्त सात, आठ या नौ वर्ष बाद तक बिखरी हुई दशा में विद्यमान रहें। अतः यह बहुत सम्भव है कि सुश्रुत के ग्रन्थ का मुख्य आधार अतिप्राचीन काल से संहिताबद्ध और सुव्यवस्थित रूप में विद्यमान था। सम्पादक अथवा संशोधक का कार्य 'उत्तरतन्त्र' जैसे तथा उपयुक्त

---

[1] भारतीय दर्शन का इतिहास, खण्ड १, पृ० ३१३ से ३२२।

अवसरों पर ऐसे ही अन्य परिशिष्टों के समावेश में निहित था। यह अशक्य प्रतीत नहीं होता कि सुश्रुत संहिता के कई प्रकाशित ग्रन्थों तथा अप्रकाशित पांडुलिपियों का गहन आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन भावी विद्यार्थी को मूल अंगों को परिशिष्ट के अंगों से पृथक् करने में शायद क्षमता प्रदान कर सके। तथापि, यह कार्य इस तथ्य के कारण क्लिष्टतर बना दिया गया है कि सुश्रुत-संहिता में परिवर्धन सम्भवतः एक ही काल तक सीमित न था, जैसाकि पहले ही ऊपर बताया जा चुका है।

यह सुविदित है कि अग्निवेश ने अत्रि के चिकित्सा सम्बन्धी उपदेशों का संकलन अपनी 'अग्निवेश संहिता' में किया है जो कम से कम चक्रपाणि के समय तक विद्यमान थी, ये अत्रि के उपदेश ही कनिष्क के समकालीन बताए जाने वाले चरक द्वारा रचित और 'चरक-संहिता' के नाम से विख्यात एक संशोधन ग्रन्थ के आधार थे।[1] अब यह भी सुविदित है कि चरक ने अपना कार्य पूरा नहीं किया था, अपितु इसे 'चिकित्सित-स्थान के उस स्थल तक अपूर्ण अवस्था में छोड़ दिया था जिसमें नवीं शती ई० प० में 'पांचनद' नगरवासी कपिल-बल के पुत्र दृढ़बल ने 'सिद्धि-स्थान' और 'कल्प-स्थान' सहित 'चिकित्सित-स्थान' के सत्रह अध्यायों को जोड़ा था। दृढ़बल द्वारा उपर्युक्त प्रकार से इस ग्रन्थ के परिवर्धित किए जाने का वर्णन आजकल प्रचलित 'चरक-संहिता' में मिलता है।[2] निश्चलकर अपनी रत्नप्रभा' में दृढ़बल को 'चरकपरिशिष्ट' का रचयिता बताते हैं और चक्रपाणि, विजयरक्षित और अरुणदत्त (ई० प० १२४०) जब कभी दृढ़बल के परिशिष्ट भाग से उद्धरण देने का अवसर प्राप्त करते हैं तो वे सब दृढ़बल को उस उद्धरण का रचयिता बताते हैं। डा० उ० च० दत्त ने अपने Meteria Medica में 'पंचनद' नगर का तादात्म्य पंजाब से स्थापित किया है, इस तादात्म्य को डॉ. कौर्दिये ने स्वीकार किया था और उन्होंने पंजाब में अटक के उत्तर में एक कल्पित आधुनिक नगर 'पंजपुर' की ओर संकेत किया है। भारत के विभिन्न भागों में कई पंचनद हैं और उनमें से एक का उल्लेख 'काशी खंड' के उनसठवें अध्याय में आता है; अपनी टीका में गंगाधर इसका तादात्म्य वाराणसी से करते हैं परन्तु इसके लिए कोई कारण नहीं देते हैं। फिर भी हर्नले का विचार है कि यह पंचनद आधुनिक ग्राम 'पन्तैनोर' (काश्मीर स्थित 'पांचधाराएँ') है और उनका मत है कि दृढ़बल इस स्थान के निवासी थे। चरक में कई ऐसे स्थल हैं जिनको टीकाकार काश्मीर पाठ के क्षेपक मानते हैं। माधव ने चिकित्सित-स्थान के तृतीय अध्याय के ज्वरविषयक ऐसे कई श्लोकों का उद्धरण दिया है, जिनमें लगभग चौबीस पंक्तियां छोड़ दी गई हैं। माधव के 'निदान'

---

[1] चरक के कनिष्क का राजवैद्य होने के लिए Journal Asia Tigue पृ० ४४४ पर एस० लेवी का लेख देखिए।

[2] चरक संहिता ६.३० और सिद्धि-स्थान ७.८।

पर अपनी टीका में विजयरक्षित का कथन है कि ये पंक्तियां काश्मीर पाठ की हैं। इन पंक्तियों के बारे में वर्तमान पांडुलिपियों में अत्यधिक असमानता है, क्योंकि कुछ में ये पंक्तियां हैं तो अन्यों में नहीं। इसी अध्याय में ऐसे अन्य स्थल भी हैं, जिनको चक्रपाणि दत्त ने स्पष्ट रूप से काश्मीर पाठ बताया है और उन पर उन्होंने टीका नहीं की है। अन्य उदाहरण भी हैं। हर्नले बताते हैं कि जीवानन्द का १८७७ का संस्करण काश्मीरी पाठ प्रस्तुत करता है जबकि उनके अपने १८९६ के संस्करण और गंगाधर, सेनद्वय और अविनास के संस्करणों में चरक का मूलपाठ है। माधव कभी भी काश्मीरी पाठ से उद्धरण नहीं देते हैं। हर्नले इन चार बातों को एकत्रित करते है: अर्थात् चरक के ग्रन्थ को दृढ़बल ने संशोधित और पूर्ण किया था; चरक संहिता का एक काश्मीरी पाठ विद्यमान था, दृढ़बल अपने को पंचनद नगर निवासी बताते हैं और काश्मार में इस नाम का एक तीर्थ विद्यमान था; और उनका तर्क है कि तथा-कथित काश्मीर पाठ 'दृढ़बल रचित' 'चरक संहिता' के संस्करण को प्रस्तुत करता है। काश्मीर पाठ के पाठों की ओर माधव के ध्यान न दिए जाने के तथ्य से निर्णय करके वे यह तर्क देते हैं कि दृढ़वल माधव के समय विद्यमान नहीं थे और इसलिए माधव का काल दृढ़बल से पूर्व का होना चाहिए।

परन्तु दृढ़वल ने चरक संहिता में कौन से अंश जोड़े थे? स्पष्ट कल्पना यह है कि उन्होंने चिकित्सित-स्थान के सत्रह अध्याय और सिद्धि-स्थान तथा कल्प-स्थानों को जोड़ा था।[1] परन्तु ऐसी कल्पना टिक नहीं सकती क्योंकि भिन्न-भिन्न पांडुलिपियों में अध्यायों की संख्या की गणना में अत्यधिक अन्तर है। इस प्रकार जहाँ जीवानन्द के संस्करण में अर्शस्, अतिसार, विसर्प, मदात्यय और द्विव्रणीय को 'चिकित्सा' का नवम, दशम, एकादश, द्वादश और त्रयोदश अध्याय माना गया है और इसलिए उनको मूल चरक का ही माना गया है; वहाँ गंगाधर संस्करण में नवम, दशम, एकादश, द्वादश और त्रयोदश अध्यायों को उन्माद, अपस्मार, क्षतक्षीण, श्वयथु और उदर-विषयक बताया गया है। इसके परिणामस्वरूप दृढ़बल रचित बताए जाने वाले सत्रह अध्यायों के गंगाधर और जीवानन्द संस्करणों में भिन्न-भिन्न शीर्षक हैं। हर्नले ने इन पाठ-विषयक समस्याओं की बड़ी आलोचनात्मक रूप से चर्चा की है और चरक अथवा दृढ़वल रचित अध्यायों के निरूपण में महत्वपूर्ण परिणाम उपलब्ध किए हैं।[2] परन्तु इन चर्चाओं में प्रवेश करना हमारे लिए अनावश्यक है।

---

[1] अस्मिन् सप्तादशाध्या कल्पाः सिद्धय एव च
नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरकसंस्कृते
तानेतान् कापिलबलः शेषं दृढबलोऽकरोत्
तन्त्रास्यास्य महार्थस्य पूरणार्थं यथायथम्। —६.३०.२७४।

[2] ज० रा० ए० सो० १९०८ और १९०९।

'राजतरंगिणी' के इस विषय पर मौन होने के तथ्य[1] के बल पर केवल महा-महोपाध्याय कविराज गंगानाथ सेन इस परम्परागत चीनी कथन का प्रतिवाद करते हैं कि चरक कनिष्क के राजवैद्य थे। पतंजलि के किसी चिकित्सा ग्रन्थ का रचयिता होने के कारण पतंजलि और चरक को एक मानने की उस परम्परा को वेदवाक्य मानने का कोई आधार नहीं है जो भोज से पूर्व किसी अन्य आचार्य में उपलब्ध नहीं होती। चरक (४. १) के कुछ स्थलों की पतंजलि के कुछ सूत्रों के साथ उनके द्वारा की गई तुलना मुश्किल से उपयुक्त प्रतीत होती है और अपने तादात्म्य के लिए अन्ततः उन्हें पतंजलि को एक चिकित्सा ग्रन्थ का रचयिता मानने वाले रामभद्र दीक्षित के साक्ष्य का सहारा लेना पड़ा है। उनको यह ज्ञात होना चाहिए कि एक से अधिक पतंजलि हो चुके हैं और कीमियगर तथा चिकित्सक पतंजलि वैयाकरण पतंजलि से पूर्णतः भिन्न व्यक्ति थे।

आजकल समग्र रूप में हमें उपलब्ध सर्वाधिक महत्वपूर्ण टीका चक्रपाणिदत्त रचित 'आयुर्वेददीपिका' अथवा 'चरकतात्पर्यटीका है। दूसरी महत्वपूर्ण टीका स्वामी-कुमार कृत 'चरक पंजिका' है। वे बौद्ध धर्मानुयायी थे और उन्होंने टीकाकार हरिश्चन्द्र का उल्लेख किया है। परवर्ती काल में 'चरकतत्वदीपिका' शिवदास सेन द्वारा लिखी गई थी, जिन्होंने 'चक्रदत्त' पर 'तत्वचन्द्रिका' नामक टीका भी लिखी थी। चरक पर बाष्पचन्द्र अथवा वाप्यचन्द्र, ईशानदेव, ईश्वरसेन, वकुलकर, जिनदास, मुनिदास, गोवर्धन, संध्याकर, जयनन्दी कृत अन्य टीकाओं और गयदास कृत 'चरक-चन्द्रिका' का भी हमें ज्ञात होता है।

अन्य प्राचीन संहिताओं में हम 'काश्यप संहिता' का उल्लेख कर सकते हैं, जो काठमाण्डू में मिली थी और जिसमें आचार्य काश्यप और शिष्य भार्गव के बीच चिकित्सा-विषयक संवाद का उल्लेख है। एक बड़ी रोचक बात दृष्टिगोचर होती है कि इसमें कुछ श्लोक (पांडु, पृ० १०५ से ११०) चरक के सूत्र स्थान के पंचम अध्याय के एक भाग से मिलते-जुलते हैं। एक अन्य महत्वपूर्ण पांडुलिपि 'भारद्वाज संहिता' के नाम से विख्यात है, जिसमें 'भेषजकल्प' नामक वेंकटेश कृत टीका का एक लघुग्रन्थ भी सम्मिलित है।[2] चरक के संशोधन का आधार अग्निवेश कृत मूल ग्रन्थ 'अग्निवेश संहिता' कम से कम चक्रपाणि के समय तक विद्यमान था; विजयरक्षित और श्रीकण्ठ दत्त भी इसमें से उद्धरण देते हैं।[3] जतुकर्ण का ग्रन्थ भी इन्हीं लेखकों के समय तक

---

[1] प्रत्यक्षशारीरम्–आमुख।

[2] डॉ० कार्दिये कृत Recentes De'couvertes des Mss Medicaux Sanscrits dans L'Inde (१८९८-१९०२) देखिए।

[3] देखिए चरक संहिता २.२ पर चक्रपाणि कृत टीका और 'सिद्धयोग ज्वराधिकार' पर श्रीकण्ठ की टीका।

विद्यमान था क्योंकि वे समय-समय पर 'जतुकर्ण संहिता' से उद्धरण देते हैं।[1] 'पराशर संहिता' और 'क्षीरपाणिसंहिता' भी श्रीकण्ठदत्त के समय तक अथवा शिवदास के समय तक भी प्राप्य थीं। 'हारीव संहिता' (मुद्रित और अपेक्षाकृत आधुनिक ग्रंथ से भिन्न) भी चक्रपाणि और विजयरक्षित के समय तक उपलब्ध थी, जैसाकि उनकी कृतियों में इसके उद्धरणों से प्रकट होता है। भेल की कृति 'भेल संहिता' का कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशन हो चुका है। यह स्मरणीय है कि अग्निवेश, भेल, जतुकर्ण, पराशर, हारीत और क्षीरपाणि सब एक ही आचार्य आत्रेय पुनर्वसु के आधीन अध्ययन करने वाले चिकित्साशास्त्र के सहपाठी शिष्य थे; इनमें सर्वाधिक बुद्धिमान् होने के कारण अग्निवेश ने सर्वप्रथम अपने ग्रंथ की रचना की, परन्तु भेल और उसके अन्य सहपाठियों ने भी स्वतंत्र संहिताओं की रचना की, जिनका वैद्य-परिषद् के सामने पाठ किया गया था और जिनको उनके द्वारा समर्थन मिला था। चक्रपाणि और अन्य टीकाकारों ने अपनी टीकाओं में इसी शाखा के 'खरणाद-संहिता' नामक अन्य ग्रन्थ तथा 'विश्वामित्र संहिता' इन दोनों का प्रयोग किया है, ये दोनों ग्रथ आजकल अप्राप्य हैं। तो भी, 'संहिता' का नाम इन ग्रन्थों की प्राचीनता का कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि वाग्भट्ट द्वितीय की रचना का भी नाम 'अष्टांग-हृदय-संहिता' है। हमारे पास वररुचि कृत 'वररुचि-संहिता' नामक पांडुलिपि है और दुर्गागुप्त के पुत्र रविगुप्त कृत 'सिद्धसार-संहिता' भी हैं, जो अपेक्षाकृत आधुनिक काल की है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में अनेक प्राचीन चिकित्सा ग्रन्थों का उल्लेख है, यथा— धन्वन्तरिकृत 'चिकित्सातत्व-विज्ञान,' दिवोदास कृत 'चिकित्सा-दर्शन,' काशिराज कृत 'चिकित्सा कौमुदी,' 'अश्विनी कृत 'चिकित्सा सारतन्त्र' और 'ब्रह्मघ्न,' नकुल कृत 'वैद्य सर्वस्व,' सहदेव कृत 'व्याधि-सिन्धु-विमर्दन,' यम कृत 'ज्ञानार्णव,' च्यवन कृत 'जीवादान,' जाबाल कृत 'तन्त्रसार,' जनक कृत 'वैद्य-संदेह-भंजन' चन्द्रसूत कृत 'सर्वसार,' जाजलि कृत 'वेदांगसार,' पैल कृत 'निदान,' करठ कृत 'सर्वधर' और अगस्त्य कृत 'द्वैध निर्णयतन्त्र'।[2] परन्तु इन ग्रन्थों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है और यह कहना कठिन है कि वास्तव में वे विद्यमान भी थे।

यह सुविदित है कि वाग्भट्ट (जिसे कभी-कभी 'वाहट' लिखा जाता है) दो थे। प्रथम वाग्भट्ट चरक और सुश्रुत को जानते थे। हर्नले और अन्यों का यह अनुमान है

---

[1] २.२ और २.५ पर चक्रपाणि की टीका और 'निदान' (क्षुद्ररोग) पर श्रीकण्ठ की टीका।

[2] यह अजीब बात देखने में आती है कि ब्रह्म-वैवर्त्तपुराण में 'धन्वन्तरि,' काशिराज दिवोदास को पृथक्-पृथक् व्यक्ति माना गया है, यह कथन सुश्रुत के उपर्युक्त कथन के विपरीत है।

कि इत्सिंग (ई० प० ६७५–८५) का यह कथन कि पहले आठ अंग आठ खण्डों में विद्यमान थे और एक आदमी ने उन्हें कुछ समय पूर्व संक्षिप्त करके संगृहीत कर दिया और भारत के पाँचों भागों के समस्त चिकित्सक इस ग्रन्थ के अनुसार चिकित्सा करते थे, वृद्ध वाग्भट्ट कृत 'अष्टांग संग्रह' की ओर संकेत करता है। ऐसी अवस्था में वाग्भट्ट प्रथम अवश्य छठी शती ई० प० के अन्तिम काल में अथवा सातवीं शती ई० प० के प्रारम्भ में जीवित होंगे क्योंकि इत्सिंग का कथन है कि उन्होंने ग्रन्थ को 'कुछ समय पूर्व' संक्षिप्त किया था, परन्तु दूसरी ओर, ऐसे ग्रन्थ के भारत के पाँचों भागों में प्रचार के लिए समय भी दिया जाना चाहिए। सुश्रुत और वाग्भट्ट प्रथम की तुलना यह प्रकट करती है कि वाग्भट्ट के समय में शारीर-शास्त्र का अध्ययन प्रायः रुक चुका था। यह बहुत सम्भव है कि वाग्भट्ट बौद्ध थे। अष्टांग-संग्रह पर इन्दुकृत एक टीका है, परन्तु इन्दु से पहले अन्य टीकाएँ विद्यमान थीं जिनकी दुर्व्याख्याओं का उन्होंने खण्डन किया था।[1]

माधव, दृढ़बल और वाग्भट्ट द्वितीय सब वाग्भट्ट प्रथम को जानते थे। माधव नाम लेकर उनका उल्लेख करते हैं और समय-समय पर 'सिद्धयोग' और 'निदान' दोनों में उनसे उद्धरण देते हैं, और दृढ़बल भी ऐसा ही करते हैं।[2] हर्नले ने यह प्रदर्शित किया है कि दृढ़बल के ९६ नेत्र-रोग वाग्भट्ट के ९४ नेत्र-रोगों पर आधारित हैं। अपने अष्टांग हृदय के 'उत्तर स्थान' के लगभग अन्त में वाग्भट्ट द्वितीय वाग्भट्ट प्रथम के प्रति अपने ऋण को निश्चित रूप से व्यक्त करते हैं। परन्तु वे सब चक्रपाणि से पहले विद्यमान होंगे, जो दृढ़बल और वाग्भट्ट द्वितीय का प्रायः उल्लेख करते हैं। माधव के दृढ़बल से पहले होने का हर्नले का तर्क इस तथ्य पर आश्रित है कि सुश्रुत ७४ प्रकार के नेत्र-रोगों की गणना करते हैं जहाँ वाग्भट्ट प्रथम ९४ रोगों की गणना करते हैं। दृढ़बल वाग्भट्ट प्रथम के ९४ नेत्र-रोगों को माधव द्वारा जोड़े गए दो और नेत्र-रोगों के अतिरिक्त योग के साथ स्वीकार करते हैं और इस प्रकार अपनी सूची में नेत्र-रोगों की संख्या ९६ कर देते हैं। माधव ने सुश्रुत के ७६ नेत्र-रोग स्वीकार किए थे और उनमें अपने दो का और योग कर दिया।[3] हर्नले के तर्क की दूसरी बात यह

---

[1] दुर्व्याख्याविषनुप्तस्य वाहटस्यास्मदुक्तयः सन्तु संवित्तिदायिन्यस्सदागमपरिष्कृता।

—इन्दु कृत टीका १. १।

[2] सिद्धयोग १. २७ अष्टांग संग्रह २.१ निदान २.२२ और २३, संग्रह १. २६६, चरक संहिता (जीवानन्द, १८९६), चिकित्सास्थान १६.३१ संग्रह २. २६। पुनश्च, चिकित्सास्थान १६. ५३ आदि, संग्रह २.२७ आदि।

[3] हर्नले का विचार है कि माधवकृत 'निदान' के मुद्रित संस्करण में उपलब्ध नेत्र-रोगों की कुल संख्या ७६ शुद्ध नहीं है, क्योंकि माधव द्वारा दिए गए नेत्र रोगों के वर्णन से उनका वास्तव में मेल नहीं बैठता है और उनमें 'पक्ष्मकोप' और 'पक्ष्मशात' भेद सम्मिलित नहीं हैं। हर्नले कृत Osteology पृ० १३।

है कि माधव चरक से उद्धृत अपने अंशों में विजयरक्षित द्वारा कश्मीरी पाठ बताए गए उन अंशों को सदा छोड़ देते हैं, जिनको हर्नले दृढ़बल का संशोधन कार्य बताते हैं। हर्नले के ये तर्क अत्यन्त अनिर्णायक प्रतीत होते हैं, क्योंकि यदि तथाकथित काश्मीरी-पाठ की दृढ़बल के संशोधन के साथ एकरूपता स्थापित की जा सके तो दृढ़बल का काश्मीरी होना एवं उनका माधव का परकालीन होना दोनों सिद्ध हो सकते हैं, परन्तु यह मत सिद्ध नहीं हुआ है। दूसरी ओर चक्रपाणि काश्मीरी पाठ के साथ-साथ दृढ़बल संस्कार का भी वर्णन करते हैं, और इससे ज्ञात होता प्रतीत होता है कि दोनों एक नहीं हैं।[1] माधव द्वारा ७८ नेत्र रोगों की गणना किए जाने के आधार पर उनके पहले होने का सुझाव कहीं अधिक दूर तक खींचा गया है। अतः माधव का काल निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता है। संभवतः हर्नले का यह मत ठीक है कि दृढ़बल वाग्भट्ट से पूर्ववर्ती हैं।[2] फिर भी, इन तीन लेखकों की सापेक्ष पूर्ववर्तिता अथवा परवर्तिता का वास्तव में कोई महत्व नहीं है, क्योंकि वे एक दूसरे से थोड़े-थोड़े अन्तराल में विद्यमान थे और उनका काल मोटे तौर पर आठवीं और नवीं शती ई० प० के मध्य का काल बताया जा सकता है।

वाग्भट्ट द्वितीय की 'अष्टांग-हृदय-संहिता' की कम से कम पांच टीकाएँ हैं, वे हैं अरुणदत्त (सर्वांगसुन्दरी), आशाधर, चन्द्रचन्दन (पदार्थ चन्द्रिका), रामनाथ और हेमाद्रि (आयुर्वेद-रसायन) कृत टीकाएँ। इनमें से संभवतः अरुणदत्त ई० प० १२२० में जीवित थे। माधव कृत, रोग निदान संबंधी संग्रह, 'रुग्विनिश्चय' भारतीय चिकित्सा का अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। इस पर कम से कम सात टीकाएँ हैं; वे हैं विजयरक्षित (मधुकोश), वैद्यवाचस्पति (आतंकदीपिका), रामनाथ वैद्य, भवानीसहाय, नागनाथ (निदानप्रदीप), गणेशभिषज् की टीकाएँ और नरसिंह कविराज कृत 'सिद्धान्त चन्द्रिका' अथवा 'विवरण सिद्धान्त चन्द्रिका' नाम से विख्यात टीका।[3] परन्तु विजयरक्षित कृत टीका तेतीसवें अध्याय के साथ समाप्त हो जाती है और शेष ग्रंथ उनके

---

[1] चक्रपाणि कृत टीका १. ७. ४६–५०।

[2] देखिए हर्नले कृत Osteology पृ० १४–१६।

[3] नरसिंह कविराज नीलकण्ठभट्ट के पुत्र और रामकृष्णभट्ट के शिष्य थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने 'मधुमती' नामक अन्य चिकित्सा ग्रन्थ लिखा था। उनकी 'विवरण सिद्धान्त चन्द्रिका' विजय कृत 'मधुकोश' पर आधारित होने पर भी एक उत्कृष्ट टीका है और उसमें शिक्षात्मक और नवीन बातें पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। इसकी एकमात्र उपलब्ध पांडुलिपि सम्भवतः इस पुस्तक के लेखक के पारिवारिक ग्रन्थालय में प्राप्य प्रति है, जो इसके प्रकाशन हेतु उसका संस्करण तैयार कर रहा है।

शिष्य श्रीकण्ठदत्त ने सम्पूर्ण किया था। वृन्द (जो सम्भवतः माधव हो सकते हैं) ने चिकित्सा सम्बन्धी योगों का ग्रन्थ 'सिद्धयोग' लिखा था जो चिकित्साविषयक लेखकों में सुविख्यात है।

भारतीय चिकित्सा ग्रंथों के इस संक्षिप्त विवरण के संदर्भ में 'नवनीतक' और मध्य एशिया में खोज से प्राप्त हुए, 'बोवर पांडुलिपि' के नाम से विख्यात ग्रन्थ जीर्ण-शीर्ण चिकित्साविषयक ग्रन्थों की अवहेलना नहीं की जा सकती। यह पांडुलिपि भूर्जपत्र पर गुप्त लिपि में लिखी हुई है और सम्भवतः पांचवीं शती जितनी पुरानी है। यह एक बौद्ध कृति है और इसमें चरक, सुश्रुत तथा अन्य अज्ञात लेखकों से लिए गए कई योग हैं। फिर भी यह ज्ञात हो जाएगा कि वर्तमान ग्रंथ जैसे ग्रंथ में भारतीय चिकित्साविषयक ग्रन्थों के कालक्रम का विशद विवेचन अथवा विस्तृत वर्णन अनुपयुक्त होगा। आयुर्वेद साहित्य और विशेषतः चिकित्सा सम्बन्धी योगों और कल्प, वैद्यक-निघण्टु आदि के वर्णन से युक्त भाग अपार है। आउफरेग्ट के सूचीपत्र में लगभग १५०० हस्तलिखित ग्रंथों के नाम हैं, जिनमें से अधिकांश अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं और कई ऐसी पांडुलिपियां भी है जिनका उल्लेख आउफरेष्ट के सूचीपत्र में नहीं है। आजकल अधिक प्रयोग में आने वाली पुस्तकों में चौदहवीं शती के शार्ङ्गधर के ग्रंथों का, पन्द्रहवीं शती के शिवदास द्वारा चक्रपाणि पर रचित टीका का, और सोलहवीं शती के भावमिश्र द्वारा रचित 'भावप्रकाश' का उल्लेख किया जा सकता है। वंगसेन का ग्रंथ भी काफी प्रचलित है। शारीर-विषयक ग्रंथों में भोज के ग्रन्थ और भास्कर भट्ट कृत 'शारीरपद्मिनी' उल्लेखनीय है। डल्हण ने औपधेनव-तन्त्र, पौष्कलावततन्त्र, वैतरणतन्त्र, और भोजतन्त्र की ओर संकेत किया है। चक्रपाणि ने अपनी भानुमती टीका में भालुकीतन्त्र और कपिलतन्त्र का उल्लेख किया है। शारीर ग्रन्थों के विषय में इतना ही पर्याप्त है। माधवीय 'निदान' पर श्रीकण्ठ कृत टीका में नेत्र-रोगों पर विदेहतंत्र, निमितन्त्र, कांकायनन्त्र, सात्यकितन्त्र, करालतन्त्र और कृष्णात्रेयतंत्र का संकेत मिलता है। चक्रपाणि और डल्हण की टीकाओं में नेत्र-रोगों पर 'शौनकतन्त्र, का नाम लिया गया है। डल्हण ने 'जीवकतन्त्र,' 'पर्वतकतन्त्र' और 'वंधकतन्त्र' का सूतिका कर्म विषयक ग्रन्थों के रूप में संकेत किया है। इसी विषय पर 'हिरण्याक्षतन्त्र' का नाम श्रीकण्ठ ने लिया है जबकि श्रीकण्ठ ने विष-विद्या पर 'काश्यप संहिता' और 'आलम्बायन संहिता' का उल्लेख किया है। 'उशनस् संहिता' 'सनक संहिता' और लाट्यायन संहिता का भी विषविद्या विषयक ग्रन्थों के रूप में उल्लेख किया गया है।

कुछ अन्य महत्वपूर्ण तन्त्रों में भारतीय चिकित्सा पद्धति के नियमित आठों अंगों से युक्त नागार्जुन कृत 'योगशतक' का और 'जीवसूत्र' 'भेषज कल्प' का उल्लेख किया जा सकता है। उन सबका तिब्बती में अनुवाद हो चुका था। 'अष्टांग हृदय' पर 'अष्टांगहृदयनामविदूर्यकभाष्य,' 'पदार्थचन्द्रिकाप्रभासनाम' 'अष्टांग-हृदय-वृत्ति' नामक

तीन ग्रन्थों का और 'वैद्यकाष्टांग हृदयवृत्तिर्मेपजनामसूची' का भी तिव्वती में अनुवाद हुआ था।

'आयुर्वेद सूत्र' योगानन्द नाथ कृत ग्रन्थ है, जो इसी लेखक कृत टीका व डॉ. शामशास्त्री की भूमिका सहित मैसूर विश्वविद्यालय संस्कृत माला के अन्तर्गत १९२२ में प्रकाशित हुआ था। भूमिका में यह ठीक ही प्रदर्शित किया गया है कि यह अति आधुनिक ग्रन्थ है, जो संभवतः सोलहवीं शती में 'भाव प्रकाश' के आदर्श पर लिखा गया था। इसमें सोलह अध्याय हैं और इसमें आयुर्वेद को पतंजलि के योगदर्शन से संबद्ध करने का यत्न किया गया है। इसमें यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि किस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न, सत्व, रजस् और तमस् के गुणों की वृद्धि करते हैं तथा किस प्रकार से उपवास आदि की यौगिक क्रियाएँ शारीरिक दशाओं को प्रभावित करती हैं। चाहे आयुर्वेद ग्रन्थ के रूप में अथवा दर्शन ग्रन्थ के रूप में इसका योगदान बहुत अल्प है। इसमें योग को आयुर्वेद से संबंधित करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है जबकि 'वीरसिंहावलोकित' ऐसा ग्रन्थ है जिसमें फलित ज्योतिष को आयुर्वेद से संबद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

अध्याय ४

भगवद् गीता दर्शन

गीता साहित्य

हिन्दुओं के प्रायः समस्त वर्गों द्वारा गीता एक पवित्रतम धार्मिक ग्रंथ माना जाता है एवं विभिन्न विचार धाराओं के अनुयायियों द्वारा इस पर कई भाष्य लिखे गए हैं जिनमें से प्रत्येक ने अपने-अपने पक्ष में गीता की व्याख्या की है। संभवतः शंकर-भाष्य प्राचीनतम भाष्य है जो अभी उपलब्ध है; परन्तु उसमें प्राप्त प्रसंगों एवं विवेचनों के आधार पर इस बात में किञ्चित सन्देह नहीं रह जाता कि इसके पूर्व भी भाष्य थे जिनका खण्डन उन्होंने करना चाहा।

गीता की व्याख्या करते हुए शंकर ने इस मत पर मुख्यतया जोर दिया है कि यथार्थ ज्ञान वैदिक कर्त्तव्यों अथवा धर्मशास्त्रोक्त कर्त्तव्यों के साथ सम्मिश्रित नहीं किया जा सकता। यदि अज्ञानवश अथवा आसक्तिवश एक व्यक्ति श्रुति में बताए गए कर्त्तव्यों का पालन करता रहता है और यदि यज्ञ, दान और तप (धार्मिक तपस्या) के परिणाम स्वरूप उसका मन पवित्र हो जाता है और परम तत्व के स्वरूप के बारे में इस यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कर लेता है कि निष्क्रिय ब्रह्मन् ही सबमें व्याप्त है तथा क्रिया-विधि के सब नियमों के समाप्त होने पर भी जो साधारण व्यक्तियों की तरह निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन करता है तथा दूसरों को भी उसी दिशा में कार्य करने को प्रोत्साहित करता है तब ऐसे कर्म यथार्थ ज्ञान के विपरीत होते हैं। जब कोई व्यक्ति बिना किसी इच्छा एवं प्रयोजन के कर्म करता है तो उसे कर्म नहीं कहा जा सकता। कर्त्ता केवल वही है जिसे कर्म में कामना हो। परन्तु हृदय में कामना रहित बुद्धिमान मनुष्य वस्तुतः कर्म नहीं करता यद्यपि बाह्य दृष्टि से वह केवल साधारण व्यक्ति की तरह कर्म करे। अतः शंकर के अनुसार गीता का मुख्य सिद्धान्त यह है कि मोक्ष प्राप्ति यथार्थ ज्ञान द्वारा ही सम्भव है ज्ञान तथा नित्यनैमित्तिक कर्मों का एकसाथ होना सम्भव नहीं। शंकर के अनुसार केवल अज्ञान की अवस्था में ही हमारे लिए कर्म करना आवश्यक हो सकता है, ज्ञान की अवस्था में नहीं। जिस समय ब्रह्म तादात्म्य का यथार्थ ज्ञान उदित होता है तथा अज्ञान का नाश होता है। उस स्थिति में द्वैतभाव नष्ट हो जाते हैं क्योंकि कर्त्तव्य पालन के लिए अपने उत्तरदायित्व को अंगीकार करना ही द्वैतभाव का पूर्व प्रमाण है।[1]

---

[1] शांकर गीता भाष्य, २. ६९ योगाश्रम आवृत्ति, बनारस १९१९।

ग्रन्थ लिखा। ऐसा भी कहा जाता है कि उन्होंने गीताशय नाम का एक और भी ग्रन्थ लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकर युग के पश्चात् कुछ समय तक गीता पर कोई भाष्य नहीं लिखा गया। यामुनाचार्य नामक दो व्यक्तियों ने गीता पर पृथक्-पृथक् एक गद्य और दूसरा पद्य दो भाष्य लिखे हैं। गद्य भाष्यकार यामुनाचार्य यद्यपि विशिष्टाद्वैतवादी थे परन्तु वह रामानुज के गुरु यामुन से भिन्न थे। कंजीवरम् के सुदर्शन प्रेस द्वारा प्रकाशित उसका भाष्य अत्यन्त सुबोध है जिसमें मुख्यतया गीता के श्लोकों का शब्दार्थ है। उसके विचार से गीता के प्रथम छः अध्यायों में भक्ति के साधन स्वरूप ईश्वर के यथार्थ ज्ञान का वर्णन है। मध्य के छः अध्यायों में भक्ति एवं पूजा से प्राप्य ईश्वर के स्वरूप का वर्णन है और अन्तिम छः अध्यायों में उन्हीं विषयों की पुनरावृत्ति उनमें निहित समस्याओं के स्पष्टीकरण हेतु की गई है।

रामानुज के महान् गुरु श्री यामुन का जन्म ९०६ ई० में बताया जाता है; उन्होंने गीतार्थ संग्रह नामक ग्रन्थ में गीता की विषयवस्तु का सार प्रस्तुत किया जिस पर निगमान्त महोदेशिक ने 'गीतार्थ संग्रह रक्षा' नाम का भाष्य लिखा। चौदहवीं शताब्दी के वरवर मुनि ने भी इस पर गीतार्थ संग्रह दीपिका नाम की एक टीका लिखी जिसका प्रकाशन कंजीवरम् के सुदर्शन प्रेस ने किया। औफ्रेक्ट (Aufrect) ने लिखा है कि भगवद् गीतार्थ-संग्रह-टीका नाम के एक दूसरे और ग्रन्थ की रचना 'प्रत्यक्ष-देव यथाचार्य' ने की। श्री यामुन का मत है कि गीता का उद्देश्य इस बात की पुष्टि करना है कि नारायण ब्रह्म है जो वैराग्य, यथार्थ ज्ञान एवं स्वधर्म रूपी साधन सहित भक्ति द्वारा प्राप्य है। यह कहा जा सकता है कि गीता के प्रथम छः अध्याय में आत्मज्ञान की प्राप्ति का विवरण दिया गया है जो अन्य विषयों से विरक्ति, सब कर्मों को ईश्वरार्पण करना, प्रपत्ति, ज्ञान एवं क्रिया योग द्वारा प्राप्य है। निगमान्त महादेशिक की राय में परोक्ष रूप में ज्ञानोत्पादन द्वारा अथवा अपरोक्ष रूप में स्वयं कर्म मुक्ति का साधन बन सकता है। सात से बारहवें अध्याय में ज्ञान एवं कर्म द्वारा भक्ति योग की प्राप्ति का वर्णन है और उनके विचार से ईश्वर के यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि केवल इस प्रकार की भक्ति योग से ही सम्भव है। तेरह से अठारह अध्याय में भक्ति, ज्ञान एवं कर्म सहित पुरुषोत्तम, पुरुष तथा प्रधान के स्वरूप का अन्तर एवं विवरण है। श्री यामुनाचार्य तदनन्तर गीता के एक-एक अध्याय का वर्णन करते हैं। इस प्रकार दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ के स्वरूप का वर्णन है। ऐसी स्थिति (ब्राह्मी स्थिति) अनासक्त होकर कर्म करने की आदत एवं आत्मा को अविनाशी समझने से प्राप्त होती है। तीसरे अध्याय में यह कहा गया है कि मनुष्य को लोक रक्षा हेतु अनासक्त होकर कर्मफल को ईश्वरार्पण करके तथा यह समझकर कि गुणों के द्वारा ही कर्म होता है एवं अहंकारवश स्वयं को कर्त्ता समझने की मूढ़ता न करके कर्त्तव्य कर्म करना चाहिए। चौथे अध्याय में ईश्वरीय स्वरूप, कर्म में अकर्म देखने की विधि (अनासक्ति के कारण) तथा भिन्न-भिन्न कर्त्तव्य एवं ज्ञान के माहात्म्य का वर्णन है। पांचवें

अध्याय में कर्म योग के लाभ एवं कर्त्तव्य मार्ग की पृथक् विधियों तथा ब्रह्मानुभूति की स्थिति के स्वरूप का वर्णन है। छठे अध्याय में योग साधना का स्वरूप, चार प्रकार के योगी, योग की विधियाँ तथा योग की उपलब्धि और योग को जीवात्मा एवं परमात्मा का मिलन समझकर परम पुरुषार्थ मानने का वर्णन है। सातवें अध्याय में प्रकृति अथवा गुणों द्वारा ईश्वर के स्वरूप का आवृत्त होना, भगवत्-अनुग्रह प्राप्ति के साधन, विभिन्न भक्तों के प्रकार तथा ज्ञानी की महत्ता एवं ईश्वरीय सत्ता का वर्णन है। आठवें अध्याय में ईश्वरीय योग और उसके अविकृत एवं अविकारी स्वरूप का वर्णन है। यहाँ शरणागत जन के कर्त्तव्य एवं यथार्थ ज्ञान के स्वरूप का भी वर्णन है। नवम् अध्याय में परमात्मा की महिमा का वर्णन तथा मनुष्य रूप में अवतीर्ण होने की अवस्था में भी परम ऐश्वर्य तथा भक्ति योग का वर्णन है। दसवें अध्याय में ईश्वर की अनन्त विभूतियों, भक्ति की दीक्षा एवं वृद्धि हेतु सब वस्तुओं का ईश्वर पर निर्भर होने का विशद वर्णन है। ग्यारहवें अध्याय में ईश्वर के वास्तविक अर्थात् विश्वरूप का वर्णन है और उसमें प्रत्यक्ष रूप से प्रमाणित किया गया है कि केवल भक्ति द्वारा ही तत्व ज्ञान एवं ईश्वर प्राप्ति सम्भव है। बारहवें अध्याय में भक्ति को परं बताया गया है तथा उसकी प्राप्ति के साधन एवं उसके भिन्न-भिन्न प्रकार बताए गए हैं। आगे चलकर यह भी व्यक्त किया गया है कि ईश्वर की उच्चतम प्रसन्नता केवल अपने भक्तों की भक्ति में ही है। तेरहवें अध्याय में शरीर का स्वरूप, साक्षात्कार के लिए आत्मशुद्धि, बंधन का कारण एवं विवेक का वर्णन है। चौदहवें अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार गुण (सत्व, रज एवं तम) कर्म बंधन के कारण हैं। हम गुणातीत कैसे बन सकते हैं और किस प्रकार ईश्वर ही दैव का प्रतिष्ठान है। पन्द्रहवें अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार पुरुषोत्तम, सर्व व्यापक महेश्वर, एवं सर्वाधार होने के कारण पुरुषों से एवं प्रकृतस्थ पुरुषों से भिन्न है। सोलहवें अध्याय में दैवी एवं आसुरी संपदा के विभाग तथा हमारे कर्त्तव्य कर्मों के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान की दृढ़ आधारशिला की स्थापना करने वाले शास्त्रों का वर्णन है। सत्रहवां अध्याय शास्त्र एवं अशास्त्र में अन्तर बताता है। अठारहवें अध्याय में ईश्वर को सब कर्मों का परम कर्त्ता कहा गया है। इसके साथ-साथ आत्म-शुद्धि की आवश्यकता, व्यक्ति के कर्मों के फल का स्वरूप वर्णित है। यामुनाचार्य के मतानुसार कर्म-योग में यज्ञ, दान, तप, तीर्थयात्रा निहित है; ज्ञान योग के अन्तर्गत आत्म-निग्रह एवं चित-शुद्धि आते हैं तथा भक्ति-योग में ईश्वरीय मिलन से उत्पन्न प्रेमानन्द से प्रेरित परमात्म चिन्तन निहित है। ये तीनों मार्ग परस्पर एक दूसरे की ओर उन्मुख करते हैं क्योंकि तीनों ही ईश्वरोपासना के ही स्वरूप हैं; चाहे इन्हें नित्य अथवा नैमित्तिक समझा जाय, ये आत्मा के यथार्थ स्वरूप की शोध में सहायक हैं। जब ब्रह्मानुभूति द्वारा अविद्या का पूर्ण रूप से नाश हो जाता है और जब मनुष्य ईश्वर का परम भक्त बन जाता है तब परम सत्ता में वह विलीन हो जाता है।

विख्यात वैष्णव आचार्य एवं ब्रह्मसूत्र के टीकाकार श्री रामानुज ने, जिनका जन्म १०१७ ई० में हुआ था, विशिष्टाद्वैत दर्शन की दृष्टि से गीता पर भाष्य लिखा। वेदान्ताचार्य वेंकटनाथ ने उस पर एक तात्पर्य चन्द्रिका नामक उप-भाष्य लिखा। श्री रामानुजाचार्य ने अपने आचार्य श्री यामुन द्वारा लिखित संक्षिप्त भाष्य का ही अनुसरण किया। वर्ण धर्मों की अनिवार्यता के प्रश्न पर श्री रामानुज कहते हैं कि गीता के अनुसार प्रत्येक वर्ण द्वारा निर्धारित कर्त्तव्य किएँ जाने चाहिएँ क्योंकि शास्त्र ईश्वर के वचन हैं तथा कोई भी उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने में समर्थ नहीं है। अतः शास्त्रों द्वारा निर्धारित नित्य नैमित्तिक सबके लिए अनिवार्य हैं। अतः कर्त्तव्यों का पालन बिना फल की कामना के केवल इसीलिए होना चहिए कि वे शास्त्र के विधि-निषेध हैं। मनुष्य ज्ञानमार्ग के योग्य उसी समय होता है जब वह केवल ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए ही कर्त्तव्य करता है, उसकी पूजा समझ कर करता है, मन की अशुद्धियों का त्याग करता है तथा इन्द्रियों को बिल्कुल अपने नियंत्रण में रखता है। अपनी उन्नति की किसी भी स्थिति में मनुष्य ईश्वरोपासना के कर्त्तव्य को नहीं मिटा सकता एवं ईश्वर की भक्ति के द्वारा अनादि काल से चले आ रहे पापों से उसे छुटकारा मिल सकता है तथा वह ज्ञान मार्ग के लिए योग्य बन सकता है।[1] तृतीय, ८ की व्याख्या करते हुए श्री रामानुज कहते हैं कि कर्मयोग ज्ञानयोग से बढ़कर है। कर्मयोग में आत्म-ज्ञान होता है अतः आत्म-ज्ञान भी इसी क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। केवल ज्ञानयोग हमें कहीं भी ले जाने में समर्थ नहीं है क्योंकि कर्म के बिना शरीर भी जीवित नहीं रह सकता। ज्ञान-योगी के लिए भी नित्य नैमित्तिक कर्म करना आवश्यक है और इसी मार्ग (कर्म-योग) के विकास द्वारा आत्म-ज्ञान संभव है। आत्मावलोकन के समय तक कर्म मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जिसके द्वारा मोक्ष प्राप्ति होती है। परन्तु मनुष्य का प्रधान कर्त्तव्य परम भक्ति के साथ ईश्वर में आसक्त रहना है।

तेरहवीं शताब्दी के पहले तीन चतुर्थांशों में रहने वाले मध्वाचार्य अथवा आनन्द तीर्थ ने गीताभाष्य नामक भगवद्गीता पर एक भाष्य लिखा जिस पर जयतीर्थ ने प्रमेय-दीपिका में टीका की है। उन्होंने एक भगवद्-गीता तात्पर्य निर्णय नामक एक अलग लेख भी लिखा जो गीता के मुख्य तात्पर्य को बताता है। इस ग्रंथ पर टीका जयतीर्थ ने अपनी न्याय दीपिका में की है। उसने इस तथ्य पर मुख्य बल दिया है कि ईश्वर प्रत्येक वस्तु से भिन्न है और परम लक्ष्य की प्राप्ति का एक मात्र साधन प्रेमा-भक्ति ही है। व्याख्या करते हुए उन्होंने लम्बे वाद-विवाद द्वारा शंकराचार्य के अद्वैतवाद का

---

[1] अनभिसंहितफलेन केवलपरमपुरुषाराधन—रूपेणानुष्ठितेन कर्मणा विध्वस्तमनोम-लोऽव्याकुलेन्द्रियो ज्ञाननिष्ठायाम् अधिकरोति। गीता, ३. ३ पर रामानुज की टीका। अपरञ्च, वही, ३. ४। गुजराती प्रेस, बम्बई १९०८।

खंडन किया है। मनुष्य को सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति नहीं रखना चाहिए क्योंकि प्रत्येक वस्तु हरि-इच्छा से ही प्रभावित होती है। कर्म प्रत्येक व्यक्ति को करना ही है। चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में रहने वाले मध्व के छठे शिष्य कृष्णभट्ट विद्याधिराज ने गीता टीका नामक ग्रन्थ लिखा है। सत्रहवीं शताब्दी में रहने वाले सुधीन्द्र यती के शिष्य राघवेन्द्र स्वामी ने गीता पर गीताविवृत्ती, गीतार्थ-संग्रह और गीतार्थ-विवरण नामक तीन ग्रंथ लिखे हैं। वल्लभाचार्य, विज्ञानभिक्षु एवं निम्बार्क-मत के केशव भट्ट ने भी (गीता तत्व प्रकाशिका) नामक, आंजनेय ने हनुमद् भाष्य, कल्याणभट्ट ने रसिक रंजिनी, जगद्धर ने भगवद्गीता प्रदीप, जयराम ने गीता सारार्थ संग्रह, बलदेव विद्याभूषण ने गीता भूषण भाष्य, मधुसूदन ने गूढार्थ-दीपिका, ब्रह्मानंद-गिरि, मथुरानाथ ने भगवद्-गीता-प्रकाश, दत्तात्रेय ने प्रबोध-चन्द्रिका, रामकृष्ण, मुकुन्ददास, रामनारायण, विश्वेश्वर, शंकरानंद, शिवदयालु श्रीधर स्वामी ने सुबोधिनी, सदानंद व्यास ने भाव प्रकाश, सूर्य-पंडित ने परमार्थ प्रपा, नीलकंठ के भाव-दीपिका और शैव दृष्टिकोण से राजानक और रामकंठ ने सर्वतोभद्र नामक ग्रन्थ लिखे। गीता के सामान्य तात्पर्य पर कई ग्रंथ लिखे गए जैसे अभिनव गुप्त और नृसिंह ठाक्कुर द्वारा भगवद्गीतार्थ संग्रह, गोकुलचंद्र द्वारा भगवद्गीतार्थ सार, वादिराज द्वारा भगवद्गीता लक्षा-भरण, कैवल्यानन्द सरस्वती द्वारा भगवद्गीता-सार, नरहरि द्वारा भगवद्गीता सार संग्रह, विठल दीक्षित द्वारा भगवद्गीता-हेतु-निर्णय। उपरोक्त ग्रंथों में अधिकतर भाष्य या तो शांकर भाष्य पर आधारित है जो एक ही विचार को दूसरी भाषा में दोहराते हैं और या वैष्णव ग्रंथों पर आधारित है जो मानव जीवन की प्रत्येक अवस्था में नित्य नैमित्तिक कर्मों का मंडन करते हैं और कभी-कभी वे ईश्वर के स्वरूप तथा जीव के साथ उसके सम्बन्ध के बारे में मतभेद रखते हैं। युक्ति अथवा मत की दृष्टि से इनमें मौलिकता नहीं है अतः हम अपने वर्तमान हेतु के लिए इन्हें छोड़ देते हैं।

गीता और योग

गीता चाहे किसी ने ही क्यों न लिखी हो, संभवतः यह प्रतीत होता है कि गीता के लेखक को पतंजली द्वारा अपने योगे सूत्र १-१ में प्रयुक्त चित्तवृत्ति निरोध के अर्थ में योग शब्द का पारिभाषिक अर्थ ज्ञात नहीं था—मैं यह बता चुका हूँ कि योग शब्द की व्युत्पत्ति तीन धातु शब्दों से हुई है—युजिर्-योग और युज्-समाधौ अर्थात् युजिर् का अर्थ है मिलाना और युज् चित्तवृत्ति निरोध के अथवा एक दिशा में उन्मुख युज् संयमाने अर्थात् युज् नियंत्रण के अर्थ में। गीता में योग शब्द का प्रयोग कई अर्थों में हुआ है जो एक दूसरे से असम्बन्धित सा जान पड़ता है। फिर भी उनके पारस्परिक सम्बन्ध की खोज करना असम्भव नहीं है। गीता में योग के प्रारम्भिक अर्थ की

व्युत्पत्ति धातु युजिर्-योगे अथवा युज् है जिसका अर्थ है मिलाना–जो निषेधात्मक रूप में नियंत्रण अथवा निरोध के अर्थ में युज् धातु से सम्बन्धित है। मिलने का अर्थ किसी वस्तु से सम्पर्क स्थापित करना है तो किसी अन्य से विच्छेद करना भी है। जब कभी किसी विशिष्ट मानसिक दृष्टिकोण अथवा कर्म करने को कहा जाता है तो बुद्धि योग शब्द का प्रयोग होता है जिसका अर्थ यह है कि व्यक्ति को किसी विशिष्ट प्रकार की बुद्धि और मानसिक दृष्टिकोण को अपनाना है। इसी प्रकार कर्म योग शब्द का अर्थ नित्य नैमित्तिक कर्मों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना है। इसके अतिरिक्त योग शब्द का अर्थ आत्मा अथवा ईश्वर पर चित्त को स्थिर करना है। उपरोक्त सब विभिन्न अर्थों में मुख्य अर्थ 'मिलन' से है। इस मिलन में वियोग अर्थात् विच्छेद भी अन्तर्निहित है और मूलभूत तथा आवश्यक विच्छेद का अर्थ है भोगेच्छा त्याग तथा फल त्याग। इसी कारण से ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जहाँ योग का अर्थ कर्मफल त्याग हो। इस प्रकार गीता के ६, २ में कहा गया है–'हे पांडव ! सन्यास को योग कहा गया है। संकल्प-त्याग के बिना कोई मनुष्य योगी नहीं बन सकता।'[1] इच्छा त्याग के इस अभावात्मक सामान्य विचार को कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के इच्छा त्याग के बिना उच्च प्रकार का ऐक्य सम्भव नहीं है। परन्तु इस प्रकार के फलेच्छा त्याग (संयम) के साथ-साथ प्रारम्भ में नित्यनैमित्तिक कर्म करना आवश्यक है और यह केवल उच्चतर स्तर में जब वह योगारूढ़ होता है तब ही शम सम्भव है। योगारूढ़ होने के लिए विषयों एवं कर्मों में आसक्ति को जीतना एवं कर्मफलेच्छा को छोड़ना आवश्यक है। नित्य नैमित्तिक कर्म करते हुए तथा भोगासक्ति से मन को हटाने का प्रयास करते हुए धीरे-धीरे हम स्वाभाविक रूप से भोग, आनन्द तथा स्वार्थ के उद्देश्य से अलग होने में सफल होते हैं। इस स्तर पर ही मनुष्य योगारूढ़ कहलाता है। इस समय परमात्मा एवं आत्मा अथवा यथार्थ एवं मिथ्या आत्मा के बीच संघर्ष होता है। क्योंकि आत्मा का झुकाव हमेशा स्वार्थ तथा सुख एवं रोग लक्षण निदान एवं कार्य-चिन्ता से सम्बन्धित प्रयोजनों की तरफ रहता है परन्तु इसके अन्दर ही उच्चतर आदर्श रहता है जो इसे ऊँचा उठा सकने में समर्थ है। मनुष्य अपना ही मित्र है और अपना ही शत्रु है। यदि वह अपने स्वाभाविक रुझानों तथा विषयानन्द के प्रलोभनों का अनुसरण करे तो वह बुराई का निम्न मार्ग अपनाता है तथा वह अपने उच्चतर मूल्यों का शत्रु है। जबकि उसका स्पष्ट कर्त्तव्य है कि वह अपने आपको ऊँचा उठावे, तथा ऐसा प्रयास करे कि वह नीचा नहीं गिरे तथा विषयों में अनासक्ति के स्तर तक पहुँच जावे। मित्र एवं शत्रु, विजेता एवं जित,

---

[1] असन्यस्तोऽपरित्यक्तः फल विषयः संकल्पोऽभिसंधिर्येन सोऽसन्यस्त संकल्पः। शांकर-भाष्य, ६. २ न सन्यस्तः फल संकल्पो येन। उपरोक्त पर श्रीधर भाष्य। योगाश्रम संस्करण, बनारस १९१९।

ऊँचा उठाने वाली शक्ति एवं आकर्षित करने वाली शक्ति का द्वैत परमात्मा एवं आत्मा का अन्तर बताता है। जब परमात्मा आत्मा को जीत लेता है तब आत्मा अपना ही मित्र है। जब व्यक्ति अपनी वासनाओं तथा आसक्तियों को जीतने में असफल होता है तो व्यक्ति अपना ही शत्रु है। बुराई की तरफ आकर्षित होती हुई आत्मा में भी आत्मोद्धार की शक्ति निहित रहती है। यह आत्मोद्धार की शक्ति बाह्य नहीं है, यह तो आत्मा में ही निवास करती है और गीता इस आज्ञा में दृढ़ है–'तुम्हें अपना उन्नयन करना चाहिए, अपने-आपको पतनोन्मुख नहीं करना चाहिए क्योंकि आत्मा ही आत्मा का मित्र एवं शत्रु है।'[1]

जब इस प्रकार आत्मा निम्न प्रवृत्तियों को जीत लेती है और उदात्त भूमि पर आ जाती है तब ही आत्मा और परमात्मा का मिलन होता है। परमात्मा में सदैव उत्थान का आदर्श रहता है। इस प्रकार योग के दो कार्य हैं–एक तो स्वाभाविक झुकाव वाली इन्द्रिय-आसक्ति से अलग करने का प्रयास एवं दूसरी ओर अपना उन्नयन करना तथा परमात्मा से संस्पर्श का प्रयास। प्रथम स्तर पर मनुष्य शास्त्र के विधि-निषेध के अनुसार कर्म करता है तदनन्तर स्वार्थोद्देश्य से तथा भोगासक्ति से अलग करने का प्रयत्न करता है एवं दूसरे स्तर पर वह निम्न प्रयोजनों को जीतने में एवं परमात्मा से संस्पर्श करने में सफल होता है। उस स्थिति में भी वह अपना कर्त्तव्य केवल कर्त्तव्य के लिए करता रहता है अथवा परमात्मा से संस्पर्श एवं ध्यानोपासना में उसका समय बीतता है। इस प्रकार गीता की मान्यता है कि जिस मनुष्य ने अपने आपको जीत लिया है तथा जो अपने आप में शान्त है वह परमात्मा से मिलता है। वही व्यक्ति सच्चा दार्शनिक है क्योंकि उसे केवल सत्य का ज्ञान ही नहीं वरन् आत्मानुभूति के कारण वह प्रसन्न भी है और उसने ऐसे सत्यों का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर लिया है। उसे कोई डिगा नहीं सकता। वह इन्द्रियजित् स्वर्ण और लोष्ठ में, शत्रु एवं मित्र में, पापी एवं सदाचारी में समानता देखता है। ६–८, ६–१०। उसका परमात्मा के साथ मिलन होता है एवं वह योगी कहलाता है।[2] कई गद्यांशों से

---

[1] ६. ५।

[2] युक्त इति उच्यते योगी समलोष्ठाश्मकांचनः ६. ८। शंकर इसे निम्न प्रकार से स्वतंत्र वाक्यों में विभाजित करते हैं:–य ईदृशो युक्तः समाहित इति स उच्यते कथ्यते; स योगी समालोष्ठाश्मकांचनः। श्रीधर का मत इससे बिलकुल भिन्न है। उसकी राय में यह योगारूढ़ स्थिति की परिभाषा है एवं युक्त का अर्थ योगारूढ़ से है जो मेरी राय में अनुचित है। मेरी व्याख्या सरलतर एवं उपरोक्त दोनों परिभाषाओं से अधिक अपरोक्ष है तथा छठे अध्याय के सातवें और दसवें श्लोकों के प्रसंग में उचित ठहराए जा सकते हैं।

(जहाँ इस प्रसंग में क्रिया 'युज्' का प्रयोग हुआ है) यह स्पष्ट है कि योगी शब्द की व्युत्पत्ति 'युज्' धातु से हुई है।[1]

गीता के मत में ईश्वर अथवा परमात्मा से ऐक्य स्थापित करने के इच्छुक योगी को अपने मन एवं शरीर को नियंत्रण में रखकर निराश रहते हुए अपरिग्रही एवं एकाकी रहना चाहिए।[2] योगी शुद्ध एवं समभूमि पर अपना स्थिर आसन लगावे, उस पर पहले दर्भ फिर मृगछाला और फिर कोमल वस्त्र बिछावे, वहां अपने विचारों, इन्द्रियों एवं क्रिया-व्यापारों को नियंत्रित करे तथा मन को भगवान के एकाकी बिन्दु पर केन्द्रित करे, आत्मशुद्धि के लिए आसन पर बैठ कर योग का अभ्यास करे तथा इस प्रकार स्वयं को पवित्र करे।[3] योगी को न तो अतिशय खाना चाहिए और न बिल्कुल कम ही खाना चाहिए तथा न खूब सोना चाहिए और न जागरण ही करना चाहिए। इस प्रकार उसे जीवन का मध्यम मार्ग अपनाना चाहिए एवं अतिशय से बचना चाहिए। पतंजलि द्वारा उपादिष्ट योग-क्रिया से यह अतिशयता से बचाव बिल्कुल भिन्न है। पातंजल-योग ने एक ऐसी विधि का वर्णन किया है जिसके द्वारा योगी शनैः-शनैः अपने जीवन की ऐसी अवस्था में अभ्यस्त हो जाता है कि अन्ततोगत्वा वह खाना-पीना पूर्णरूप से छोड़ सकता है एवं शरीर और मन को निश्चल बना सकता है। मन को एकाग्र करने में योगी का अन्तिम लक्ष्य मन की चंचलता को समाप्त करना है। पतंजलि के अनुसार योगी के समक्ष चित्तवृत्ति निरोध के रूप में उत्थान का एक उद्देश्य रहता है। पूर्ण निरोध शरीर की सम्पूर्ण गतियों को रोके बिना सम्भव नहीं है। एतदर्थ इच्छाओं एवं वासनाओं का मूलोच्छेदन केवल इसीलिए आवश्यक नहीं है कि वे मन को विभिन्न विषयों की ओर उड़ा ले जाती हैं बल्कि इसलिए भी है कि वे शरीर की गति को आवश्यक बना कर पुनः मन को क्षुब्ध बना

---

[1] योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः गीता—६—१०।
उपविश्यासने युंज्याद् योगमात्म विशुद्धये—६—१२।
युक्त आसीत मत्परः—६—१४।
युंजनेवं सदात्मानं योगी नियत मानसः ६—१५।

[2] एकाकी यतचिन्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ६.१५ शंकर, श्रीधर एवं अन्य लेखकों के अनुसार—'यत्त चित्तात्मा' में 'आत्मा' शब्द देहार्थ में प्रयुक्त हुआ है।

[3] शंकर एवं श्रीधर 'तत्र' का प्रयोग 'आसने' के विशेषणार्थ में करते हैं। 'आसने' का यह विशेषण केवल व्यर्थ ही नहीं होगा अपितु 'एकाग्रम्' बिना किसी कर्म के रह जाएगा। 'युञ्ज्यात्' क्रिया की (जिसका शाब्दिक अर्थ जोड़ना चाहिए) पर श्रीधर ने 'अभ्यास करना चाहिए' कह कर टीका की है जो संगत प्रतीत नहीं होती (६.१२)।

देगी। अतः योगी को मन एवं शरीर की द्विविध गतियों के नियंत्रण का अभ्यास करना है। सब प्रकार के सुखों के अभाव में तथा जलवायु की शीतोष्ण सम्बन्धी असुविधाओं में अभ्यस्त होकर अन्ततः सम्पूर्ण प्रकार की शारीरिक गतियों को रोकने की तैयारी में उसे खाने पीने की आवश्यकता से मुक्त होने की आदत डालना है। परन्तु जबतक व्यक्ति का श्वासोच्छ्वास चालू है तबतक यह सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता अतः उसे घंटों एव दिनों तक ही नहीं बल्कि कई मास एवं वर्षों तक पूर्ण श्वास-नियंत्रण हेतु प्राणायाम में अभ्यस्त होना है। योग में नैतिक उत्थान को केवल इसीलिए आवश्यक माना गया है कि इच्छाओं एवं वासनाओं का पूर्ण निरोध किए बिना शरीर एवं मन की गतियों को पूर्णरूप से नहीं रोका जा सकता। योगी को शरीर एवं मन में गति पैदा करने वाली सब नई बाधाओं को ही दूर नहीं करना पड़ता अपितु सूक्ष्मतर विषयों पर मन की एकाग्रता का अभ्यास करना पड़ता है ताकि उसके परिणामस्वरूप मन की अर्द्धचेतन शक्तियों को भी नष्ट किया जा सके। इस प्रकार मन की शक्ति को क्षीण करने के लिए हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि नए इन्द्रिय विषय, नए संकल्प, विचार, भाव इत्यादि उसे (मनको) आक्रान्त न कर सके एवं दूसरी ओर मन को एकाग्र करने वाली क्रियाएँ करते रहना चाहिए जिनके द्वारा अर्द्धचेतन पूर्वानुभूतियों का महान् कोष विलीन हो जाय। दोनों ओर से बाहर निकाला हुआ मन पूर्णरूप से रिक्त एवं विलीन हो जाता है। पातंजल-योग का आदर्श शरीर एवं मन के समस्त व्यापारों का पूरा निरोध करने वाला पूर्ण अतिशयतावाद (Extremism) है।

गीता दूसरी ओर युक्ताहार, पान, निद्रा तथा शरीर की सामान्य गतियों का एक स्वर्णिम मध्यम मार्ग निर्धारित करती है। गीता के योगी का उद्देश्य मन का पूर्ण-रूप से निरोध नहीं है बल्कि मन अथवा आत्मा का ईश्वर के साथ एकत्व स्थापित करना है। ध्यानाभ्यास करने वाले योगी को आसन करने के लिए गीता का उपदेश है। इसका कहना है कि योगी शरीर, मस्तक और गर्दन को सम करके स्थिर होता हुआ इधर-उधर न देखे और अपनी नाक की नोक पर दृष्टि जमावे। गीता को प्राणायाम एव श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया ज्ञात है। परन्तु आश्चर्य है कि ध्यान-योग के छठे अध्याय में इसका कुछ भी प्रसंग नहीं है जहाँ प्रायः सम्पूर्ण अध्याय योगाभ्यास एवं योगियों के आचरण से परिपूरित है। पाँचवें अध्याय के सत्ताईसवें श्लोक में कहा गया है कि कुछ लोग सम्पूर्ण इन्द्रियों तथा प्राणों के सब कर्मों का आत्म-संयम रूपी अग्नि में हवन किया करते हैं। उसी अध्याय के दो अस्पष्ट श्लोकों (५. २९ और ३०) में कहा गया है कि कुछ लोग प्राणवायु का अपान में एवं अपानवायु का प्राण में हवन किया करते हैं और इस प्रकार प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणायाम किया करते हैं और कुछ लोग अल्पाहारी होकर प्राणों में प्राणों का ही

होम किया करते हैं। ऐसे कार्य विभिन्न प्रकार के यज्ञ कहे गए हैं तथा उन्हें संपादित करने वाले योगी नहीं बल्कि यज्ञ-विद: (अर्थात्: यज्ञ के विज्ञान को जानने वाले) कहलाते हैं। प्राण को प्राण में अथवा प्राण को अपान में होमने का तथा उसे यज्ञ कहने का ठीक-ठीक अर्थ समझना कठिन है। शंकर, श्रीधर तथा अन्य लेखकों की व्याख्या इस सम्बन्ध में हमारी सहायता नहीं करती। वे हमें यह नहीं बताते कि इसे क्योंकर यज्ञ कहा जाय अथवा किस प्रकार प्राण का प्राण में हवन किया जा सकता है एवं इस सम्बन्ध में प्रयुक्त शब्द 'जुह्वति' का पर्यायवाची शब्द भी हमें वे नहीं बताते। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि संभवत: इस सम्बन्ध में रहस्यमयी प्रतीकोपासनाओं का प्रसंग है जो यज्ञों के स्थान पर प्रयुक्त हुए थे एवं जिनका प्रसंग उपनिषदों में पाया जाता है। इस प्रकार मैत्री उपनिषद् ६. ९ में ब्रह्म की अहं के रूप में उपासना करने का उपदेश है तथा इस सम्बन्ध में पाँच प्रकार की वायु का 'प्राणाय स्वाहा' 'अपानाय स्वाहा' इत्यादि मंत्रों के साथ अग्नि में हवन करने का उपदेश है। हम सरलतापूर्वक यह कल्पना कर सकते हैं कि विकासोत्तर काल में आहुति का स्थान प्राणायाम ने ग्रहण कर लिया और रूपान्तर में भी उसकी संज्ञा यज्ञाहुति की ही प्रचलित रही। यदि यह कल्पना स्वीकार की जाय तो इससे प्रतीत होगा कि प्राणायाम प्रक्रिया किस प्रकार वैदिक काल की प्रतीकोपासना के साथ जोड़ दी गई।[1] प्रतीकोपासना के प्रसंग में प्राणायाम का विकास अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। वस्तुत: मैत्री उपनिषद् ६. १८ में प्रतीकोपासना के साथ-साथ प्राणायाम का निश्चित रूप से वर्णन है। शरीर की उष्णता, पूरक व रोचक क्रियाओं से उत्पन्न होती है जिसमें जठराग्नि भी सम्मिलित है और कृष्ण का भी गीता में ऐसा ही आशय मिलता है (१५.१४) 'मैं वैश्वानर रूप अग्नि होकर प्राणियों की देह में रहता हूँ और प्राण एवं अपान से युक्त होकर चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।' भगवान् कृष्ण इस बात को भली प्रकार जानते थे कि नासिका में विचरण करने वाले पान अपान सम किए जा सकते हैं अथवा प्राणवायु भ्रुवों के मध्य में या मूर्धनि में स्थिर किया जा सकता है।[2] प्राण को मूर्धनि अथवा भ्रुवों के मध्य में ले जाने का वास्तविक प्रयोजन

---

[1] एस० एन० दासगुप्ता द्वारा लिखित 'हिन्दू मिस्टिसिज़्म' देखो।
शिकागो १९२७, पृ० १८–२०।

[2] प्राणापानौ समौकृत्वा नासाभ्यान्तर चारिणौ–५–२७। यहां शंकर ने 'समौकृत्वा' की व्याख्या नहीं की है। श्रीधर के अनुसार प्राण एवं अपान ही ऊर्ध्व एवं अधोगति के निरोध से सम करके 'प्राणापानौ ऊर्ध्वाधोगति निरोधेन समौ कृत्वा कुम्भकं कृत्वा–प्राणवायु को दोनों भ्रुवों के मध्य में सम्यंक् प्रकार से रखने का सही तात्पर्य का पता नहीं। भ्रुवोर्मं मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्' (८–१०)। हमें यहां शंकर तथा श्रीधर दोनों से कोई नहीं मिलती। 'मूर्ध्न्यात्मनः प्राण-

बताना कठिन है। अथर्व-शिरा उपनिषद् एवं अथर्व-शिखा उपनिषद् में माना गया है कि प्राण की ऊर्ध्व गति सम्भव है अथवा यह प्राण मूर्धनि में रहने के कारण उसकी रक्षा कर सकता है।[१] वयोवृद्धों के दर्शन होते ही युवकों के प्राण उठने की बात मनुस्मृति में भी कही गई है। परन्तु कुछ भी हो, एक बात स्पष्ट है कि पतंजलि योग में प्राण और अपान को सम करने एवं मूर्धनि एवं भ्रुवों के मध्य में प्राणों को स्थिर करने की क्रिया का शाब्दिक वर्णन नहीं है।

गीता के छठे अध्याय में योगी की दिनचर्या के प्रसंग में गीताकार ने सलाह दी है कि योगी को निडर होकर शान्त अन्तःकरण से ब्रह्मचर्य का पालन करके तथा मन का संयम करके चित्त लगाकर ईश्वर परायण होते हुए मुझ में ही युक्त हो जाना चाहिए। इससे उसकी आत्मा को शान्ति प्राप्त होती है तथा जिसके द्वारा उसका अहं परमात्मा में विलीन हो जाता है और उसके संस्थान में निर्वाण का आनन्द प्राप्त करता है।[२] योगी मन को आत्मा में एकाग्र करके एवं वासना रहित होकर ही योगारूढ़ हो सकता है। योग की उपरोक्त साधना के द्वारा वह समस्त विषयों से अपना मन खींच लेता है एवं आत्मा के द्वारा आत्मा का दर्शन करके परम शांति और संतोष प्राप्त कर लेता है। इस उच्चतर स्थिति को प्राप्त कर लेने पर शुद्ध बुद्धि के द्वारा विषय सुख के परे जाकर तथा ईश्वर में स्थित होकर आत्यंतिक सुख

मास्थितो योगधारणाम् (८–१२) में श्रीधर ने 'मूर्ध्नि' की व्याख्या 'भ्रुवोर्मध्ये' (दोनों भौंहों के बीच में) की है।

[१] अथर्वशिरा, ४ तथा ६, एवं अथर्वशिखा, १।

[२] शांति निर्वाणपरमां मत्-संस्थामविगच्छति ६–१५ 'शांति' एवं 'निर्वाण' शब्दों के प्रयोग ईश्वरसंस्थ व्यक्ति के आनन्द की ओर संकेत करते हैं। उपरोक्त दोनों शब्दों का और विशेषतया 'निर्वाण' का बौद्ध दर्शन में निश्चित महत्व है। परन्तु गीता को यह बौद्ध दर्शन का मान्य अर्थ अज्ञात है। अतः मैं 'निर्वाण' शब्द का अनुवाद 'आत्म-विलीनिकरण का आनन्द' करता हूँ। यह शब्द मुख्यतया 'प्रकाश के बुझने' के अर्थ में किया गया है। गीता से परम्परागत रूप में सम्बन्धित महाभारत में भी इसी अर्थ को लिया गया है–३–१०४३८।

स पीत्वा शीतलं तोयं पिपासार्त्तो महीपतिः।
निर्वाणमगमद्धीमान् सुसुखी चाभवत्तदा॥

पुनः महाभारत १२.७१५० एवं १३०१४ में 'निर्वाण' परम सुख के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा इसका सम्बन्ध शान्ति से है (जैसाकि उपरोक्त श्लोक में वर्णित है– 'शांति निर्वाण परमाम्' महाभारत ६.१०७६ तथा अन्य स्थल पर यह शब्द 'परमं ब्रह्म' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। महाभारत १०.१३२३६।

का अनुभव करता हुआ योगी कदापि उससे दूर नहीं हटता। ऐसा योगी अपनी सब वासनाओं को छोड़ देता है तथा मन के द्वारा इन्द्रियों को नियंत्रित करता है और जब कभी भी मन विभिन्न विषयों की ओर भ्रमित होता है, तब उसे नियंत्रण करने का तथा स्थिर करने का प्रयत्न करता है। मन को शनैः शनैः आत्मा में स्थिर करके एवं बाह्य विषयों को बाहर करके आंतरिक संकल्पों को त्यागने का प्रयत्न करता है एवं विषयों में राग को त्यागने का अभ्यास करता है। योग की इस सीढ़ी पर योगी को परम प्राप्ति का भाव हो जाता है और ऐसी स्थिति में उसे महानतम् सांसारिक दुःख किञ्चित मात्र भी विचलित नहीं कर सकता। योग की परिभाषा कभी-कभी यह दी जाती है कि उसमें दुःख के संस्पर्श की सम्भावना नहीं है।[1] यह स्थिति केवल निरन्तर आत्मविश्वास के साथ साधना करने से एवं प्रारंभिक असफलताओं से खिन्न हुए बिना प्राप्त की जा सकती है। वासनाओं से अविचलित एवं राग से अविक्षुब्ध योगस्थ योगी की उपमा निर्वायु स्थान में रखे हुए दीपक की स्थिर ज्योति से की गई है।[2] इस परम स्थिति को प्राप्त हुए योगी को ब्रह्मभूत की संज्ञा दी गई है और यह अधिकार पूर्वक कहा गया है कि उसे परमानन्द की प्राप्ति हो गई है। योगयुक्त अपनी आत्मा में सब भूतों को देखता है और सब भूतों में अपनी आत्मा को देखता है। योग युक्त होने के कारण वह ब्रह्मभूत होकर सब भूतों में ईश्वर को देखता है और ईश्वर में सब प्राणियों को देखता है। फिर भी यह केवल अव्यावहारिक सर्वेश्वरवाद नहीं है क्योंकि ऐसा दृष्टिकोण विविध प्रसंगों में दोहराए गए मुख्यादेशों के विरुद्ध है। एक ओर तो वह एक रहस्यमय अवस्था है जिसमें वह ब्रह्म भूत होकर ब्रह्म के साथ एकत्व स्थापित करता है और दूसरी ओर योगयुक्त संसार से विरक्त नहीं होता क्योंकि वह उसे अपना स्वयं का ही स्वरूप समझता है। वह अपने सुख को दूसरों के सुख से बढ़ावा नहीं देता एवं अपने दुःख को महत्व नहीं देता। अर्थात् अपने सुख में या दुःख में अथवा दूसरों के सुख अथवा दुःख में अपनी आत्मा से उपमा देता है। योगारूढ़ होने के कारण वह सर्वव्यापी तथा सबको धारण करने वाले ईश्वर को अपना स्वामी समझकर उसकी उपासना करता है। परमात्मा के साथ एकत्व स्थापित करके योगी अपनी आत्मा से परे चला जाता है तथा उस ईश्वर का जो केवल उच्चतम साधनों का परम आदर्श ही नहीं अपितु परम तत्व भी है, —अपनी आत्मा में साक्षात्कार करता है। ज्योंही योगी अपनी निकृष्टतर वासनाओं एवं इच्छाओं से वीतराग हो जाता है, वह अपना उत्थन उच्चतर स्थिति में कर लेता है जहाँ पर 'मेर' और 'तेरा' का भेद नहीं रहता एवं व्यक्तिगत स्वार्थ की सीमा समाप्त होकर

---

[1] तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योग संज्ञितम् ६. २३।

[2] यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमास्मृता, ६. १९।

विस्तृत एवं सार्वभौमिक हो जाती है तथा स्वार्थ परमार्थ में परिवर्तित हो जाता है। इस दृष्टिकोण से योग को गीता ने कहीं-कहीं समत्व की संज्ञा दी है।[1]

गीता में पतंजलि योग-सूत्र जैसा योग का कोई निश्चित एवं विशेष अर्थ नहीं माना गया है जिसके फलस्वरूप योग की परिभाषा एक नहीं अनेक की गई हैं। इस प्रकार, योग को कर्म-योग कहा गया है (५–१) और इसे सांख्य-योग अर्थात् ज्ञान-योग से भिन्न समझा गया है (२, ३९)। कर्मयोग को योगियों का मार्ग (३–३) (३,७) (५,२) (१३,२४) में बताए जाने का प्रसंग है। बुद्धियोग का भी प्रयोग कम से कम तीन स्थानों पर (२–४९, १०:१०, १८:५७) और भक्तियोग का प्रयोग एक स्थान पर (१४:२६) किया गया है। इन सभी प्रसंगों में योग का जो अर्थ अनुकूल प्रतीत होता है वह 'संयुक्त होना'। यह कहा ही जा चुका है कि योग का उपरोक्त व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ गीता का मुख्य विषय है। गीता का एक मुख्य उपदेश यह है कि मनुष्य को अपने नित्य कर्म करने चाहिएं और इसी कर्त्तव्य परायणता को ही कर्म-योग कहा गया है। परन्तु स्वार्थलाभ अथवा सुख की भावना से प्रेरित होकर किए जाने की अवस्था में कर्म परम लाभ की प्राप्ति के हेतु नहीं हो सकते। अतः किसी लाभ अथवा सुख से प्रेरित हुए बिना कर्म करने की सलाह दी गई है। अतएव कर्म करते हुए शुभ एवं अशुभ फलों से, सुख एवं दुःख से तथा अपने ही कर्मों से उत्पन्न निन्दा और स्तुति से निष्कलंकित रहना फल में अनासक्ति रखने से सम्भव है और मनुष्य के लिए कर्म करने का यही उचित ढंग है। निष्काम्य कर्म करना ही कर्म में कुशलता है क्योंकि इसी मार्ग द्वारा मनुष्य योग युक्त होने अथवा आत्म-लाभ में समर्थ हो सकता है। यहाँ योग को कर्म करने में कुशलता कहा गया है (योगः कर्मसु कौशलम् २.५०) केवल कर्म करने की अथवा अनासक्ति रहने की कला ही योग नहीं कही जा सकती। इसे योग इसलिए कहा गया है क्योंकि वह परम तत्त्व की प्राप्ति में एक आवश्यक साधन है। अतः यह स्पष्ट है कि योग शब्द का क्रमशः उच्चतर भावार्थों में रूपान्तर हुआ है जिसका आधार निस्संदेह 'युज्' धातु है।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखना महत्त्वपूर्ण है कि पातंजल-योग में वर्णित प्राणायाम की प्रक्रिया गीता के कर्मयोग, बुद्धियोग अथवा परमयोग की आवश्यक अंग नहीं मानी गई है। यह कहा जा चुका है कि प्राणायाम का प्रयोग प्रतीकोपासना के प्रसंग में ही हुआ है जिसका गीता के योग सम्बन्धी सामान्य विचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। गीता में समाधि शब्द का प्रयोग संज्ञारूप में तीन बार (२:४४,५३,५४) और क्रियारूप में तीन बार (६:७, १२:९, १७:२) किया गया है परन्तु क्रिया रूप का प्रयोग पतंजलि के विशेष अर्थ में नहीं हुआ है, अपितु साधारण धात्वर्थ में अर्थात्

---

[1] समत्वं योग उच्यते, २. ४८।

स=म्-ग्रा+धा=(अर्पण या स्थापन)। दो स्थानों पर (२.४४ तथा ५३) संज्ञा-रूप में प्रयुक्त समाधि शब्द का अर्थ श्रीधर और शंकर ने मन का अधिष्ठान अथवा मन का परम धाम अर्थात् ईश्वर बतलाकर किया है।[1] गीताकार को मानव के आंतरिक नैतिक संघर्ष का भली-भाँति ज्ञान था। उसके मतानुसार हम अपने आत्म तत्व से संपर्क स्थापित करके ही अपनी वासनाओं की तुच्छता के, कर्म फलेच्छा के, एवं निकृष्ट स्वार्थपरता को अपेक्षाकृत अधिक आदर देने का परित्याग कर सकते हैं। क्योंकि आत्मतत्व से सम्पर्क स्थापित करना ही ईश्वर से सामीप्य स्थापित करना है। इस अवस्था में जगत् में मानव के स्थान तथा उसके भविष्य के बारे में उसका विस्तृत तथा उच्चतर दृष्टिकोण बन जाता है इसलिए वह ब्रह्म के साथ एकत्व स्थापित करता है जिसके फलस्वरूप उसका व्यक्तिगत स्वार्थ समाप्त हो जाता है। वह नीच-ऊँच में एवं पापी और पुण्यवान् में समदर्शी हो जाता है। वह ईश्वर को सर्व भूतों में तथा सब प्राणियों को ईश्वर में देखता है और यही स्थिति गीता के अनुसार वास्तविक योग है। इस स्थिति में जाति, धर्म, उच्च पद, पाप, पुण्य एवं ऊँच-नीच की सब विषमताएँ समाप्त हो जाती हैं, और इस सार्वलौकिक समानता की श्रेष्ठानुभूति को भी योग कहा गया है। केवल इस स्थिति को ही योग की संज्ञा नहीं दी गई है अपितु स्वयं ईश्वर को भी योगेश्वर कहा गया है। इस योग के फलस्वरूप योगी को परम शांति तथा परमानंद की प्राप्ति होती है तथा उसे तनिक मात्र भी भौतिक दुःख-दर्द स्पर्श तक नहीं कर सकते। दुःख अथवा आनन्द की अवस्था से यह पूर्ण स्वतंत्रता योग का फल होने के कारण स्वयं योग कही गई है। उपर्युक्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट है कि गीता का योग पतंजलि के योग से सर्वथा भिन्न है और गीता-कार पातंजल-योग अथवा उसके द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट पदों से परिचित रहा होगा—ऐसी सम्भावना प्रतीत नहीं होती।[2]

गीता में योग का विश्लेषण भी उपनिषदों में वर्णित योग से सर्वथा भिन्न है। कठोपनिषद् में इन्द्रिय-दमन को योग कहा गया है परन्तु गीता में दम को योग न मानकर उसको केवल प्रारम्भिक अवस्था ही माना गया है। अन्य उपनिषदों में वर्णित बहुत सी यौगिक प्रक्रियाओं में पतंजलि के मत की तरह योग को षडांगयोग अथवा अष्टांगयोग

---

[1] २.४४ में शंकर ने अंतःकरण अथवा बुद्धि को मनस् का कर्म माना है। परन्तु श्रीधर इस कर्म को ईश्वर मानते हैं एवं २.५३ में शंकर और श्रीधर में मतैक्य है कि कर्म अथवा योगारूढ़ता अथवा मिलन का आधार ईश्वर है।

[2] 'पश्य मे योगमैश्वरम्' ९.५, एतां विभूतिं योगंच १०.७, उपर्युक्त दोनों स्थलों पर 'योग' का विभिन्न अर्थ है क्योंकि वह अलौकिक शक्तियों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु टीकाकार शंकर एवं श्रीधर वहाँ भी उसका अर्थ 'युक्ति' के अर्थ में तथा 'ऐश्वर योग' की व्याख्या 'अलौकिक शक्तियों से युक्त' के अर्थ में करते हैं।

की प्राप्ति का साधन बताया है।[1] इस योग का लक्ष्य परमात्मा का साक्षात्कार अथवा मोक्ष की परावस्था को प्राप्त करना है। अन्य उपनिषदों के प्रसंग की ओर जाना व्यर्थ है क्योंकि जो कुछ अबतक बताया गया है उससे स्पष्ट है कि गीता में वर्णित योग का सिद्धान्त उन योग उपनिषदों के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है जिनमें अधिकतर आपेक्षित रूप से अतिकाल की तिथि के हैं तथा सम्भवत: जो गीता से भिन्न परम्पराओं के साथ संबद्ध हैं।

गीता में सांख्य और योग

गीता में कहीं-कहीं सांख्य और योग को भिन्न और कहीं-कहीं एक ही माना गया है। यद्यपि गीता का आधार गुण, प्रकृति और उसके विकार हैं फिर भी सांख्य शब्द का प्रयोग गीता में ज्ञान मार्ग के अर्थ में किया गया है। गीता के २.३६ श्लोक में ज्ञान-योग को कर्म-योग से पृथक् माना गया है वहाँ श्रीकृष्ण ने कहा है कि अभी मैंने सांख्य-योग का वर्णन किया है और अब मैं योग का वर्णन करता हूँ। इससे सांख्य-योग के अर्थ का पता चलता है। यह ज्ञान आत्मा के अमरत्व तथा उससे सम्बन्धित पूर्वजन्म के सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया गया है कि जन्म, वृद्धि एवं विनाश आदि परिवर्तन शरीर के धर्म होते हुए भी आत्मा पूर्ण रूप से अविकारी रहता है। आत्मा-सनातन, विभु (सर्व व्यापी), अविकारी, अनिर्वचनीय एवं अचिन्त्य होने के कारण शस्त्र उसका छेदन नहीं कर सकते एवं अग्नि उसे जला नहीं सकती। गीता के १३–२५ में यह कहा गया है कि कई लोग आत्मा को सांख्य-योग के अनुसार समझते हैं एवं शंकर इस श्लोक की विवेचना करते हुए कहते हैं कि सत्व, रज, और तम गुणों से पूर्णतया भिन्न आत्मा-नुभूति का नाम ही योग है। परन्तु यह अर्थ मान लेने पर सांख्य शब्द के साथ जुड़े हुए योग शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। शंकर ने योग शब्द के अर्थ की व्याख्या न करते हुए केवल सांख्य शब्द का अर्थ बताया है और दोनों का अर्थ एक ही किया है जो पलायन प्रतीत होता है। श्रीधर, शंकराचार्य द्वारा मान्य सांख्य की व्याख्या का अनुसरण तो करते हैं परन्तु उनके लिए सांख्य एवं योग को समानार्थ समझना कठिन है। उसने योग की व्याख्या पतंजलि के समान, आठ अंगों वाले योग के अर्थ में की है परन्तु उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया है कि अष्टांग योग को किस प्रकार सांख्य के अर्थ में लिया जा सकता है। निस्संदेह यह सत्य है कि ठीक पूर्वागत श्लोक में यह

---

[1] तदा प्राणापानयो: ऐक्यं कृत्वा; ध्यानबिंदु देखिए ६३–५ (एड्यर लाइब्रेरी संस्करण, १९२०)। यह गीता के 'प्राणापानौ समौ कृत्वा' के सादृश्य प्रतीत होता है।

के बिना सन्यास प्राप्त होना कठिन है (और) निष्काम कर्मयोगी परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। वश में किया हुआ है शरीर जिसके ऐसा जितेन्द्रिय (और) विशुद्ध अन्तःकरण वाला (एवं) संपूर्ण प्राणियों के आत्म रूप परमात्मा में एकीभाव हुआ निष्काम कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचना से यह सार निकलता है कि गीता में इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि शंकराचार्य के अनुसार सांख्य का अर्थ प्रकृति और गुणों का पुरुष से अन्तर बताना है (गीता १३:२५) अथवा इसका सम्बन्ध कपिल के सांख्ययोग के पुरुष, प्रकृति एवं उनके विकारों के सृष्टि रचना सम्बन्धी सिद्धान्त एवं सत्तामूलक अथवा तत्त्वार्थ सिद्धान्त से है। निस्संदेह पुरुष एवं प्रकृति के दर्शन एवं सिद्धान्त से गीताकार भली-भांति विज्ञ था परन्तु इसे सांख्य की संज्ञा कहीं भी नहीं दी गई है। गीता में सांख्य का अर्थ तत्व-ज्ञान अथवा आत्म-बोध है। शंकर अपने गीता भाष्य (१८:१३) में सांख्य को वेदान्त बतलाते हैं, यद्यपि १३:२५ में सांख्य की परिभाषा पुरुष और प्रकृति में भेद-ज्ञान कहकर की गई है जिससे गीता के सांख्य का कपिल के सांख्य के साथ समानार्थ होता है।

महाभारत में भी सांख्य एवं योग का कई स्थानों पर वर्णन है। परन्तु प्रायः सभी स्थलों में उसका प्रयोग परम्परागत कपिल-सांख्य अथवा अन्य कोई वैसे ही मत के अर्थ में है। योग का भी प्रयोग या तो पतंजलि योग अथवा कोई पूर्व प्रचलित योग सूत्रों के अर्थ में है। एक स्थान पर योग एवं सांख्य का एक अर्थ में प्रयोग हुआ है जो गीता के अंशों से अक्षरशः मिलता-जुलता है। परन्तु महाभारत एवं गीता के सांख्य अथवा योग के प्रयोग का कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। जैसाकि पहले कहा ही जा चुका है कि गीता में योग का प्रयोग तीन अलग-अलग अर्थों में किया गया है : ईश्वरार्पण, कर्मफल त्याग, और परं प्रभु एवं विभु ईश्वर से युक्त होना। महाभारत के उपर्युक्त अध्याय में इन्द्रियों को मन में, मन को अहंकार में, अहंकार को बुद्धि में और बुद्धि को अव्यक्त (प्रकृति) में लय करने का एवं प्रकृति को विकारों सहित समाप्त करके पुरुष का ध्यान करने का वर्णन है। इससे यह स्पष्ट है कि इस योग-दर्शन का कपिल के सांख्य-दर्शन से निश्चित रूप से सादृश्य है।[1] महाभारत में (१२:३०६) योग का मुख्यतः प्रयोग 'ध्यानार्थ' में किया गया है जिसके अंग हैं मनस् एकाग्रता एवं प्राणायाम। यह कहा जाता है कि योगी को मनस् द्वारा अपनी इन्द्रियों का एवं बुद्धि द्वारा अपने मनस् का निरोध करना चाहिए। ऐसी स्थिति में वह युक्त एवं शांतिपूर्ण स्थान में गतिहीन दीपशिखा की तरह है।[2] यह श्लोक स्वभावतः

---

[1] यदेव योगाः पश्यन्ति तत् सांख्यैरपि दृश्यते
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स तत्ववित् ॥

[2] गीता, ६:१९, यथा दीपो निवातस्थो।

इस प्रकार की धारणा में उसे ऐसा दृढ़ होना चाहिए कि उसके लिए अपने तथा दूसरों के सुख एवं सुरक्षा में कोई भेद न रह जाय। ध्यान के विषय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, रंग इत्यादि हो सकते हैं। विषय के ध्यान की प्रथम अवस्था में विषय के नाम-रूप का ज्ञान होता है; तदुपरान्त सम्बन्धित गति समाप्त होकर मन विषय के अन्तरतम में स्थिर हो जाता है। अगली दो अवस्थाओं में प्रसन्नवदनोन्नति एवं अखंड अन्तरानंद की प्राप्ति होती है तथा आगे की ओर ले जाने वाली इस ध्यानोत्पन्न एकाग्रता के फलस्वरूप चित्त-विमुक्ति अर्थात् निर्वाण प्राप्ति होती है।

यह स्पष्ट है कि इस बौद्ध योग का पातंजल योग पर बहुत ऋण है परन्तु गीता के योग का उससे कोई सरोकार नहीं। बौद्ध-योग के नैराश्यवाद का कुप्रभाव केवल पातंजल योग पर ही नहीं अपितु अर्वाचीन हिन्दू विचारधाराओं पर भी प्रतिपक्षी भावनाओं के चिन्तन को प्रोत्साहन देने के रूप में पड़ा; ये भावनाएँ साधारणतः आकर्षक प्रतीत होती हैं।[1] पतंजलि ने और तदनन्तर हिन्दू ग्रन्थों ने मैत्री इत्यादि की भावनाएं भी बौद्ध दर्शन से अंगीकार कीं। विभिन्न साधारण विषयों पर ध्यान करने के ढंग भी गीता के ध्यान योग से असमान हैं। बौद्ध योग का नैराश्य का अंशमात्र भी गीता में नहीं है। यह कहीं भी सब वस्तुओं के जुगुप्सामय पक्ष पर ध्यान करने को नहीं कहती जिससे कि हमारे मन में सभी सांसारिक वस्तुओं के प्रति घृणा की भावना उत्पन्न हो जाए। यह प्राणिमात्र के प्रति मैत्री अथवा करुणा की भावना के आदर्श तक नहीं पहुँचती। इसका एक मात्र उद्देश्य मनुष्य को समत्व योग सिखाना है जिससे कि भक्त अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता के परे चला जाय तथा जिससे दुराचारी और सदाचारी तथा 'स्व एवं पर' का भेद नष्ट हो जाय। प्रपत्ति योग एवं निष्काम कर्मयोग का दर्शन बौद्ध-धर्म में नहीं पाया जाता। यह प्रपत्ति अथवा न्याय पातंजल-योग में भी मिलता है परन्तु यहाँ इसका प्रयोग चित्तवृत्ति के निरोध के विशिष्ट अर्थ में नहीं किया गया है। पतंजलि के सूत्रों में यह विचार एक स्थान पर ही उपलब्ध है एवं बाद के काल के अध्यायों में वर्णित योगिक क्रियाओं की सम्पूर्ण विधि में इसको ज्ञान नहीं है। सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि पतंजलि के सूत्र उपर्युक्त विचार के लिए गीता के ऋणी हैं जहाँ प्रपत्ति एवं ईश्वर-युक्त को योग कहा गया है तथा यही गीता का मुख्य विषय है जो पुनः पुनः गीता में दोहराया गया है।

इस प्रकार योग-उपनिषद्, पतंजलि-योग-सूत्र बौद्ध-योग अथवा महाभारत (जिसमें योग विषय का वर्णन है) को गीता के निरूपण का स्रोत निश्चित करने में हम असफल हुए हैं। केवल पंचरात्र ग्रन्थों में ही गीता के समान योग का अर्थ ब्रह्म समर्पण माना

---

[1] न्याय मंजरी, वैराग्य शतक, शांति शतक, देखो।

गया है। उदाहरणार्थ अहिर्बुध्न्य-संहिता में योग का प्रयोग हृदयाराधन, हवि, तथा भगवते-आत्म-समर्पण के अर्थों में किया गया है और योग की परिभाषा 'जीवात्मा का परमात्मा से संयोग' कहकर दी गई है।[१] अतः यह निष्कर्ष सही प्रतीत होता है कि पंचरात्र ग्रन्थों के एवं गीता के योग के परम्परागत स्रोत एक ही है।

गीता में सांख्य दर्शन

यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि गीता में सांख्य शब्द का अर्थ परम्परागत सांख्य दर्शन से है। फिर भी प्रकृति एवं पुरुष का प्राचीन दर्शन गीता के दर्शन का आधार है। इस दर्शन का संक्षिप्त निरूपण इस प्रकार है: गीता में प्रकृति को महद् ब्रह्म (अर्थात् योनि के रूप में महान् रचयिता) कहा गया है (गीता १४:३)।[२] गीता में कहा गया है कि प्रकृति को गीता में योनि बताया गया है जिसमें सृष्टि रचना के हेतु ईश्वर गर्भ धारण का हेतु है नाना प्रकार की सब योनियों में जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं उन सबकी त्रिगुणमयी माया गर्भ को धारण करने वाली माता है (और) ब्रह्म बीज को स्थापन करने वाला पिता है। तीनों गुण—सत्व, रजस् एवं तमस्, प्रकृति से उत्पन्न कहे गए हैं[३]—जो मुक्त जीवात्मा को शरीर में बांधते हैं। उन तीनों गुणों में प्रकाश करने वाला निर्विकार सत्व गुण तो निर्मल होने के कारण सुख एवं ज्ञान की आसक्ति से अर्थात् ज्ञान के अभिमान से बांधता है। यह कहा जाता है कि पृथ्वी में या स्वर्ग के देवताओं में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो इन प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुणों से रहित हो।[४] (क्योंकि यावन्मात्र सर्व जगत् त्रिगुणमयी माया का ही विकार है) चूंकि प्रकृति के द्वारा ईश्वर से गर्भित होने से गुण उत्पन्न होते हैं अतः ईश्वर को गुणों का कर्त्ता कहा गया है यद्यपि ईश्वर सदा गुणातीत है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है—सत्वगुण सुख एवं ज्ञान के साथ जीवात्मा को बांधता है। रजोगुण क्रिया का कारण है एवं कामना और आसक्ति से उत्पन्न हुआ वह (इस) जीवात्मा (देही) को कर्मों से

---

[१] अहिर्बुध्न्यसंहिता में नाड़ी एवं वायु के सम्बन्ध में कई बातें लिखी गई हैं जिनका सम्बन्ध सम्भवतः उत्तरकाल में पंचरात्र परम्परा से हो गया।

[२] ममयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्—१४. ३।
श्रीधर एवं अन्य टीकाकारों का अनुसरण करते हुए मैंने प्रकृति को महद्ब्रह्म कहा है। शंकर 'मम' एवं 'योनि' के मध्य 'माया' शब्द का रहस्यमय ढंग से कथन करते हैं जो सम्पूर्ण अर्थ को बदल देते हैं।

[३] गीता १४. ५।

[४] गीता १८.४०।

और उनके फल की आसक्ति से बांधता है। तमोगुण ज्ञान के प्रकाश को आच्छादित कर देता है और उससे कई दोष उत्पन्न होते हैं। क्योंकि तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है अतः वह जीवधारियों को अंधा बना देता है और उन्हें प्रमाद, आलस्य और निद्रा में बांधता है। इन तीनों गुणों की वृद्धि भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न तरह से होती है। जिस समय इस देह में सब इन्द्रियों और अन्तःकरण में चेतनता और बोधशक्ति उत्पन्न होती है उस काल में ऐसा जानना चाहिए कि सत्वगुण बढ़ा है। रजो गुण के बढ़ाने पर लोभ (और) प्रवृत्ति अर्थात् सांसारिक चेष्टा (तथा) सब प्रकार के कर्मों का (स्वार्थ बुद्धि से) आरम्भ (एवं) अशान्ति अर्थात् मन की चंचलता (और) विषय-भोगों की लालसा उत्पन्न होती है। तमोगुण की वृद्धि होने पर (अंतःकरण और इन्द्रियों में) अप्रकाश (एवं) कर्त्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति और प्रमाद, व्यर्थ चेष्टा और मोह उत्पन्न होते हैं।

विभिन्न तत्व अव्यक्त प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन और दस ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियां हैं। मन इन्द्रियों से परे अर्थात् अधिक सूक्ष्म एवं बलवान है। बुद्धि मन से परे है एवं बुद्धि से भी अत्यंत परे वह (आत्मा) है। मन को विभिन्न इन्द्रियों का नियामक कहा गया है। यह उन पर अधिकार जमाकर विषय भोग करता है। बुद्धि और अहंकार के सम्बन्ध को निश्चित रूप से कहीं नहीं बताया गया है। इन विकारों के अतिरिक्त पाँच महाभूत हैं।[1] यह कहना कठिन है कि गीता में पंच महाभूतों को प्रकृति का विकार बताया गया है अथवा उनका अलग ही अस्तित्व है। यह आश्चर्य-जनक है कि उपर्युक्त तत्व गीता में सांख्यदर्शन की भाँति कहीं भी प्रकृति के विकार नहीं बताए गए हैं अपितु पंचमहाभूत, मन, बुद्धि एवं अहंकार को आठ प्रकार की ईश्वरीय प्रकृति बताया गया है।[2] यह भी कहा गया है कि ईश्वर की अपरा एवं परा–दो प्रकार की प्रकृति है। उपर्युक्त आठ प्रकार की प्रकृति अपरा कही गई है तथा जीवभूत उसकी परा प्रकृति कही गई है।[3] तीसरे अध्याय के ५वें, २७वें तथा २६वें श्लोक में, तेरहवें अध्याय के २१वें श्लोक में, चौदहवें अध्याय के पांचवे श्लोक में, अठारवें अध्याय के चालीसवें श्लोक में गुणों का प्रकृति से सम्बन्ध बताया गया है तथा उपर्युक्त सब स्थलों में प्रकृति को गुणों की जननी कहा गया है यद्यपि महाभूतों को प्रकृति से उत्पन्न नहीं बताया गया है। गीता के नवम् अध्याय के दसवें श्लोक में कहा गया है कि ईश्वर के अधिष्ठान द्वारा माया (प्रकृति) चराचर सहित सर्वजगत् को रचती है। प्रकृति शब्द (परा एवं अपरा) ईश्वरीय परम भाव

---

[1] गीता ३.४२, १३.६ एवं ७, १५. ६।
[2] गीता ७.४।
[3] गीता ७.५।

के स्वरूप के भिन्न-भिन्न दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। सम्भवतः गीता में प्रकृति का मूलअर्थ ईश्वरीय स्वभाव है; प्रकृति का दूसरा अर्थ है वह प्रधान सिद्धान्त जिससे गुण उत्पन्न होते हैं। यह अर्थ ईश्वरीय स्वभाव की केवल पुनरुक्ति ही है। पंचमहाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, दस इन्द्रियाँ, एक मन, पांच इन्द्रियों के विषय अर्थात् शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध, (तन्मात्र), इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और स्थूलदेह का पिंड एवं चेतनता (और) धृति को विकार सहित क्षेत्र कहा गया है। अन्य स्थल पर केवल शरीर को ही क्षेत्र कहा गया है।[1] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि क्षेत्र शब्द का विस्तृत अर्थ केवल (स्थूल) शरीर से ही नहीं, अपितु, पूर्ण सूक्ष्म शरीर से है जिसके अन्तर्गत चित्त की वृत्तियाँ, शक्तियाँ सामर्थ्य एवं अव्यक्त तथा उपचेतन तत्व है। इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर दिया जाय कि क्षेत्र शब्द का प्रयोग विशेष रूप से शरीर एवं भावों के संघात सहित मन रूप किया गया है परन्तु जिसमें चेतन आत्मा क्षेत्रज्ञ अथवा क्षेत्री को पृथक् रखा गया है। यह कहा गया है कि जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है। उसी प्रकारक्षेत्रिन् सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है।[2]

जैसाकि कहा जा चुका है कि गीता में ईश्वर की अपरा एवं परा दो प्रकार की भिन्न प्रकृति है; अपरा के अन्तर्गत पंचमहाभूत, अहंकार बुद्धि इत्यादि एवं दूसरी में जीवभूत आते हैं। यह भी कहा जा चुका है कि प्रकृति में ईश्वर के चेतन रूप बीज को स्थापित करने से उस जड़ चेतन के संयोग से गुण उत्पन्न होते हैं जो प्राणिमात्र में व्याप्त हैं। अतः त्रिगुण विभिन्न गतिशील प्रवृत्तियों के रूप में अहंकार बुद्धि इन्द्रियों चेतना इत्यादि के सम्पूर्ण लिंग शरीर को बनाते हैं, जो क्षेत्र का आध्यात्मिक रूप है। क्षेत्रज्ञ अथवा क्षेत्री संभवतः आकाश तुल्य सूक्ष्म सर्वव्यापी पुरुष ही हैं जो सब भूतों में स्थित होते हुए भी उनके गुणों से अलिप्त है। यह कहना कठिन है कि गीता के अनुसार ईश्वरीय संयोग से पूर्व प्रकृति स्वयं क्या है। प्रकृति को एवं ईश्वर को एक समझना युक्तिसंगत नहीं है। अनादि प्रकृति का ईश्वर के साथ सहअस्तित्व है एवं वह उससे अलग नहीं हो सकती। गीता में ऐसा कोई प्रसंग नहीं मिलता जिससे ईश्वर की अष्टधा अपरा प्रकृति एवं परा प्रकृति को एक ही माना जाय क्योंकि प्रकृति को सब स्थलों पर गुण एवं उसके विकार की योनि बताया गया है। गीता में प्रकृति अहंकार इन्द्रिय आदि के गुणों द्वारा उत्पन्न होने का भी कोई प्रसंग उपलब्ध नहीं है। गुण शब्द का अर्थ भोगात्मक, भावात्मक नैतिक अथवा अनैतिक गुणों से है। ये गुण ही हमें प्रवृत्ति में लगाते हैं, संग एवं इच्छा उत्पन्न करते हैं, सुख-दुःख देने वाले हैं, तथा

---

[1] गीता १३.२।

[2] गीता, १३.३४।

शुभ और अशुभ कर्म करवाते हैं। प्रकृति को उन ज्ञानात्मक, भोगात्मक एवं रागात्मक प्रवृत्तियों की जननी कहा गया है जो गुणों की यथाक्रम अधिकता से उत्पन्न होते हैं। चेतनमय जगत् का निर्माण करने वाले लिंग शरीर एवं पंचमहाभूत के विकार गुण अथवा प्रकृति द्वारा उत्पन्न नहीं प्रतीत होते। ऐसा प्रतीत होता है कि इन आठों को ईश्वर की परा प्रकृति अर्थात् जीव भूत सहित इन अष्ठधा विकारों को समूह मानकर अपरा प्रकृति बताया गया है। क्षेत्र को शरीर मन एवं गुणों का संघात कहा गया है। अतः अपरा प्रकृति, परा प्रकृति अथवा पुरुष एवं प्रकृति—इस प्रकार तीन परम तत्व माने गए हैं। प्रकृति गुणों को उत्पन्न करती है जो अनुभूतमय या सस्कारात्मक है। अपरा प्रकृति के अन्तर्गत पंच महाभूतमय जगत् आता है जिसके विकार शरीरेन्द्रिय तथा मन इत्यादि हैं। अतः संभवतया सांख्य के उत्तरार्द्ध विकास में इन दो प्रकृतियों को एक ही बताकर ऐसा माना गया है कि गुण केवल हमारी अनुभूतियों को ही नहीं पैदा करते अपितु सब मन की वृत्तियाँ, इन्द्रियाँ इत्यादि एवं पंचमहाभूत एवं उनके विकार भी उनसे ही उत्पन्न हुए हैं। अतः गुण प्रकृति के द्वारा उत्पादित फल नहीं है अपितु साम्यावस्था में वे स्वयं प्रकृति ही हैं। गीता के अनुसार ईश्वरीय बीजरूपी संयोग द्वारा ही गुणों की उत्पत्ति होती है। साम्यावस्था में वे स्वयं प्रकृति नहीं हैं। अपरा प्रकृति, प्रकृति एवं गुणों का सम्बन्ध समझना कठिन है। इस सम्बन्ध की कल्पना के गर्भदाता एवं दोनों को धारण करने वाले ईश्वर के माध्यम द्वारा ही की जा सकती है। केवल एक पुरुष ही मूल जीव भूत विभु के रूप में है जो उत्पत्तिकर्ता एवं संयोग के कारण सुख-दुःख भोक्ता होते हुए भी गुणों के परिणाम से लिप्त नहीं होता। इसका स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि उत्तम और अनुत्तम पुरुष भी दो प्रकार के है जिनमें उत्तम पुरुष सदा गुणातीत एवं गुणों से अलिप्त रहता है जबकि विभिन्न भूतों में विभक्त अनुत्तम पुरुष अर्थात् जीवात्मा प्रकृति एवं गुणों से सदैव संयुक्त रहता है तथा उनके कार्यों से निरंतर प्रभावित होता रहता है। पुरुष प्रकृति में अधिष्ठित होकर प्रकृति के गुणों का उपभोग करता है, और प्रकृति के गुणों का यह संयोग पुरुष का भली-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण होता है।[1] (प्रकृति के गुणों के) उपद्रष्टा अर्थात् समीप बैठकर देखने वाले, अनुमोदन करने वाले, भर्ता अर्थात् (प्रकृति के गुणों को) बढ़ाने वाले और उपभोग करने वाले को ही इन देह में पर-पुरुष महेश्वर और परमात्मा कहते है।[2] गीता में पुरुष शब्द का प्रयोग चार भिन्न

---

[1] गीता, १३.२१ ।

अर्थों में किया गया है–(१) पुरुषोत्तम अथवा ईश्वरार्थ में,[1] (२) व्यक्ति के अर्थ में,[2] (३) क्षर पुरुष और (४) अक्षर पुरुष। सब भूत क्षर एवं जीवात्मा अक्षर कहलाते हैं। यह उत्तम पुरुष क्षर और अक्षर दोनों से भिन्न हैं, उसको परमात्मा कहते हैं। वही अव्यय ईश्वर त्रैलोक्य में प्रविष्ट होकर (त्रैलोक्य) का पोषण करता है।[3] परन्तु ईश्वर क्षर से परे और अक्षर से उत्तम (पुरुष) होने से लोक-व्यवहार में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध है।[4] दोनों प्रकृति और परमात्म-पुरुष अनादि हैं। परमात्म पुरुष गुणातीत एवं अक्षर होने से शरीरस्थ होने पर भी न तो कर्त्ता है और न गुणों से लिप्तमान होता है। प्रकृति को कार्य (अर्थात् देह का) और, कारण (अर्थात् इन्द्रियों के कर्तृत्व) का हेतु कहा गया है। प्रकृति सर्वप्रवृत्तियों, प्रेरकों एवं क्रियाओं का मूलभूत तत्व है तथा (कर्त्ता न होने पर भी) सुख-दुःखों को भोगने के लिए पुरुष हेतु कहा गया है।[5] परमात्म पुरुष सर्वव्यापी होने पर भी परं पुरुष के रूप में शरीर के सुख-दुःख एवं रागादि अनुभवों से वियुक्त होकर प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में स्थित है। जीवात्मा ही सदैव गुणों से प्रभावित होकर सुख-दुःखों को भोगता है। गुणातीत, इच्छा एवं रागरहित, सुख-दुःख से परे होने का किंचित् मात्र प्रयत्न भी जीवात्मा को शुद्ध एवं अमर परमात्मा के आधीन करना है। इस दिशा में प्रत्येक प्रयत्न का अर्थ परमात्मा के साथ अस्थाई योग है। यह कहा जा चुका है कि गीता परमात्मा एवं जीवात्मा में संघर्ष मानती है एवं परमात्मा द्वारा जीवात्मा के उद्धार की सम्मति देती है। हमारी सब साधनाओं में एक ओर उत्तम पुरुष हमें ऊपर खींचता है और गुण नीचे खींचते हैं फिर भी उत्तम पुरुष स्वयं अकर्त्ता है। हमारा पतन करने वाली शक्ति गुणों से उत्पन्न होती है एवं जीवात्मा उसका प्रयोग करता है। इन सब प्रयत्नों में उत्तम पुरुष सुख-दुःख एवं शुभाशुभ में स्थितप्रज्ञ निश्चल तथा अविकारी अनुद्विग्न आदर्श के रूप में स्थित रहता है। कई लोग सांख्य एवं कर्मयोग से अपने आप में ही ध्यान से आत्मा को देखते हैं। प्रत्येक निष्काम कर्म करने का अर्थ परामात्मा अथवा ईश्वर के साथ अस्थाई योग है। ज्ञानयोग का अर्थ ब्रह्मानुभूति है जिसके द्वारा त्रिगुणमयी प्रकृति ही सब कर्मों की कर्त्ता मानी जाती है तथा जिसके द्वारा आत्मा के अनासक्त स्वरूप का ज्ञान, कर्म एवं ईश्वर के साथ सम्बन्ध का दार्शनिक विश्लेषण,

---

[1] गीता, ११.१८ : सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।
वही, ११.३८ : त्वमादि देवः पुरुषः पुराणः।
'पुरुषोत्तम' के लिए, द्र० वही, ८.१; १०.१५; ११.३; १५.१८ तथा १५.१९।

[2] वही, २.१५; २.२१; २.६०; ३.४ इत्यादि।

[3] वही, १५.१६ तथा १७।

[4] वही, १५.१५ तथा १८।

[5] गीता, १३–२०।

परमात्मा, जीवात्मा एवं प्रकृति के सम्बन्ध का ज्ञान, ईश्वर की सगुण उपासना का ज्ञान एवं सर्व कर्मों को उसके अर्पण करने एवं साक्षात्कार के परमानन्द की अनुभूति, होती है, अतः वे सब योग ही हैं।[1]

यहाँ सरलतापूर्वक ध्यान में आता है कि अन्य दार्शनिकों के द्वारा उपरोक्त विषय परम्परागत सांख्य दर्शन में परिवर्द्धित कर दिया जा सकता था। यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकृतियों का विवेचन ही सांख्य की एक प्रकृति के रूप में हो जाता। परमात्मा एवं जीवात्मा का वर्णन जिसमें जीवात्मा सुख एवं दुःख का अनुभव करता है जबकि परमात्मा जीवात्मा के सुख-दुःखों का उपद्रष्टा होते हुए भी अलिप्त रहता है—सहज ही एक ही वृक्ष पर बैठे हुए दो पक्षियों की औपनिषदिक उपमा की याद दिलाता है जिनमें से एक स्वादिष्ट फलों को खाता है जबकि दूसरा उनके बिना ही सन्तुष्ट रहता है।[2] परमात्मा एवं जीवात्मा के निश्चित सम्बन्ध के स्वरूप को गीता स्पष्ट नहीं करती। यह निश्चित रूप से नहीं बताती कि जीवात्मा एक है या अनेक, न इनकी सत्तामूलक अवस्थाओं को ही बताती है। यह सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है कि कैसे इन दो अस्पष्ट रूप से संबंधित दिखाई देने वाले पुरुषों को समन्वित करने का आत्मानुरूप एवं बुद्धिगम्य सामान्य विचार का प्रयत्न अनन्त, असीम, शुद्ध, सर्वव्यापी पुरुषों के सिद्धान्त में फलित होता है और जिसके परिणामस्वरूप क्षर पुरुष, पुरुष एवं प्रकृति के मिथ्या एवं भ्रमात्मक परस्पर प्रतिबिम्ब का फल हो जाता है। गीता ने तीन प्रसंगों में माया शब्द का प्रयोग किया है (७-१४ और १५-१८-६१) परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द दुर्बोध शक्ति अथवा अविद्या के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है न कि भ्रमात्मक अथवा चमत्कारी रचना के अर्थ में। गीता ने किसी भी स्थल पर जगत् को मानसिक अथवा आध्यात्म तत्वों को केवल प्रतीति मात्र नहीं माना है। अतः यह ध्यान में भी नहीं आ सकता कि हमारे प्रति-दिन के अनुभव के विवेचन के लिए क्षर पुरुष को केवल भ्रमात्मक माना जाय। परन्तु यह कहना कठिन है कि प्रकृति के गुणों का भोक्ता इस क्षेत्रज्ञ पुरुष का पर पुरुष (जो गुणातीत है) से पृथक् अस्तित्व किस प्रकार हो सकता है जबतक कि क्षेत्रज्ञ पुरुष को पर पुरुष की शक्ति का परिणाम न समझा जाय। ऐसे सिद्धान्त से स्वभावतः (केवल) इस बात की पुष्टि होती है कि क्षेत्रज्ञ पर पुरुष का त्रिगुणमयी प्रकृतिस्थ प्रतिबिम्ब है। स्वतंत्र पर-पुरुष गुणों से परे शुद्धावस्था में है। परन्तु अपने शुद्ध सत्व एवं निर्लिप्त स्वभाव से दूर हुए बिना ही गुणों में प्रतिबिम्बित जीव अथवा क्षर के रूप में अपने आपको

---

[1] ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥

प्रकृति के गुणों का भोक्ता समझने लगता है एवं पुरुषोत्तम को अपना परम तत्व मानता है। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि गीता का पुरुष-तत्व उत्तरकाल के सांख्य सिद्धान्त से अधिक अस्पष्ट है परन्तु उससे क्षर से अक्षर का सम्पर्क स्थापित करने में उपरोक्त सिद्धान्त अधिक लचीला होने के कारण लाभप्रद है; क्योंकि इसके द्वारा क्षर पुरुष में परपुरुष तक पहुँचने की शक्ति आ जाती है।

सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण सब प्रकार की मानसिक प्रवृत्तियों के सामान्य लक्षण समझे जाते थे एव सब प्रकार के कर्मों के प्रेरक भी सत्व, रजस् और तमस् ही समझे जाते थे। तदनुसार मानसिक भावों को भी सात्विक, राजसिक तथा तामसिक कहा गया है। इस प्रकार श्रद्धा भी तीन प्रकार की बताई गई है। जो पुरुष सात्विक है अर्थात् जिनका स्वभाव सत्वगुण प्रधान है वे देवताओं का यजन करते हैं। राजस् पुरुष यक्षों और राक्षसों का यजन करते हैं एवं इसके अतिरिक्त जो तामस् पुरुष हैं, वे प्रेतों और भूतों का यजन करते हैं। परन्तु जो लोग दम्भ और अहंकार से युक्त होकर काम एवं आसक्ति के बल पर शास्त्र के विरुद्ध घोर तप किया करते हैं तथा जो न केवल शरीर के पंचभूतों के समूह को ही वरन् शरीर के अन्तर्गत रहने वाले अपने शरीर एवं आत्मा को कष्ट देते हैं, वे अविवेकी और आसुरी बुद्धि के माने जाते हैं। फलाशा की आकांक्षा छोड़कर अपना कर्त्तव्य समझ करके शास्त्र की विधि के अनुसार शान्तचित्त से जो यज्ञ किया जाता है वह सात्विक यज्ञ है। जो फल की इच्छा से अथवा दंभ के हेतु अर्थात् ऐश्वर्य दिखलाने के लिए किया जाता है वह राजस् यज्ञ है। शास्त्र विधि रहित, अन्नदान विहीन, बिना मन्त्रों का, बिना दक्षिणा का और श्रद्धा से शून्य यज्ञ तामस् यज्ञ कहलाता है। तप भी शरीर अर्थात् कायिक, वांगमय एवं मानस् कहे गए हैं। देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों की पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शरीर अर्थात् कायिक तप कहते हैं। (मन को) उद्वेग न करने वाले सत्य, प्रिय और हितकारक सम्भाषण को तथा स्वाध्याय अर्थात् अपने कर्म के अभ्यास को वांगमय (वाचिक) तप कहते हैं। मन को प्रसन्न रखना, सौम्यता, मौन अर्थात् मुनियों के समान वृत्ति रखना मनोनिग्रह और शुद्ध भावना—इनको मानस् तप कहते हैं। उपरोक्त त्रिविध तप यदि फल की आकांक्षा न रखकर किए जाएँ तो वे सात्विक तप कहलाते हैं। परन्तु जो तप (अपने) सत्कार, मान या पूजा के लिए अथवा दंभ से किया जाता है वह तप राजस् कहा जाता है; ऐसे तप का फल चंचल एवं अस्थिर होता है। मूढ़ आग्रह से स्वयं कष्ट उठाकर अथवा (जारण-मारण आदि कर्मों के द्वारा) दूसरों को सताने के हेतु से किया हुआ तप तामस् कहलाता है। वह दान सात्विक कहलाता है कि जो कर्त्तव्य-बुद्धि से किया जाता है, जो (योग्य) स्थल, काल और पात्र का विचार करके किया जाता है एवं जो अपने ऊपर प्रत्युपकार न करने वाले को दिया जाता है। परन्तु (किए हुए) उपकार के बदले में, अथवा

किसी फल की आशा रख, बड़ी कठिनाई से जो दान दिया जाता है वह राजस् दान है। पुनः अयोग्य स्थान में, अयोग्य काल में, अपात्र मनुष्य को, विना सत्कार के अथवा अवहेलनापूर्वक जो दान दिया जाता है वह तामस दान कहलाता है। सांसारिक अथवा स्वर्गिक फल की आशा न रखकर मोक्षार्थी लोग यज्ञ, दान, तप आदि अनेक प्रकार की क्रियाएँ किया करते हैं। ज्ञान भी सात्विक, राजसिक एवं तामसिक है। जिस ज्ञान से यह मालूम होता है कि विभक्त अर्थात् भिन्न सब प्राणियों में एक ही अविभक्त और अव्यय भाव अथवा तत्व है उसे सात्विक ज्ञान कहते हैं। जिस ज्ञान से पृथकत्व का बोध होता है कि समस्त प्राणिमात्र में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक भाव हैं उसे राजस् ज्ञान कहते हैं। जो निष्कारण और तत्वार्थ को विना जाने-बूझे संकीर्ण एवं असत्य में यह समझकर आसक्त रहता है कि यही सब कुछ है, वह अल्प-ज्ञान तामस् कहा गया है। फलप्राप्ति की इच्छा न करने वाला मनुष्य न तो प्रेम और न द्वेष रखकर, विना आसक्ति के (स्वधर्मानुसार) कर्म करता है उस (कर्म) को सात्विक कहते हैं। परन्तु काम अर्थात् फलाशा की इच्छा रखने वाला अथवा अहंकार बुद्धि का (मनुष्य) बड़े परिश्रम से जो कर्म करता है उसे राजस् कहते हैं। तामस् कर्म वह है कि जो मोह से बिना इन बातों का विचार किए आरम्भ किया जाता है कि अनुबन्धक अर्थात् आगे क्या होगा, पौरुष यानी अपनी सामर्थ्य कितनी है और (होनहार में) नाश अथवा हिंसा होगी या नहीं। जिसे आसक्ति नहीं रहती, जो 'मैं' और 'मेरा' नहीं कहता; कार्य की सिद्धि हो या न हो (दोनों परिणामों के समय) जो (मन से) विकार रहित होकर धृति और उत्साह के साथ कर्म करता है उसे सात्विक (कर्ता) कहते हैं। विषयासक्त, लोभी, (सिद्धि के समय) हर्ष और (असिद्धि के समय) शोक से युक्त, कर्मफल पाने की इच्छा रखने वाला, हिंसात्मक और अशुचि कर्ता राजस् कहलाता है। अयुक्त अर्थात् चंचल बुद्धिवाला, असभ्य, गर्व से फूलने वाला, ठग, नैष्कृतिक यानी दूसरों की हानि करने वाला, आलसी, अप्रसन्न-चित्त और दीर्घसूत्री अर्थात् घड़ी भर के काम को महीने भर में करने वाला कर्त्ता तामस् कहलाता है। जो बुद्धि प्रवृत्ति (अर्थात् किसी कर्म के करने) और निवृत्ति (अर्थात् न करने) को जानती है एवं यह जानती है कि कार्य अर्थात् करने के योग्य क्या है और अकार्य अर्थात् करने के अयोग्य क्या है, किससे डरना चाहिए और किससे नहीं, किससे बन्धन होता है और किससे मोक्ष प्राप्त होता है—यह बुद्धि सात्विक है। वह बुद्धि राजसी है, जिससे धर्म और अधर्म का अथवा कार्य और अकार्य का यथार्थ निर्णय नहीं होता। वह बुद्धि तामसी है जो तम से व्याप्त होकर अधर्म को धर्म समझती है और सब बातों में विपरीत यानी उलटी समझ कर देती है। जिस अव्यभिचारिणी अर्थात् इधर-उधर न डिगने वाली धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों के व्यापार, (कर्म फल त्याग रूपी) योग के द्वारा (पुरुष) करता है वह धृति सात्विक है। जो आरम्भ में (तो) विष के समान दुःखदायी परन्तु परिणाम में अमृततुल्य है; जो आत्मनिष्ठ बुद्धि की

प्रसन्नता से प्राप्त होता है उस (आध्यात्मिक) सुख को सात्विक कहते हैं। इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग से होने वाला (अर्थात् आधिभौतिक) सुख राजस् कहा जाता है, जो पहले तो अमृत के समान आकर्षक होता है परन्तु अन्त में विष के समान दुःखदायी रहता है। जो आरम्भ एवं अन्त में मनुष्य को मोह में फँसाता है और जो निद्रा आलस्य तथा प्रमाद अर्थात् कर्तव्य की भूल से उपजता है उसे तामस् सुख कहते हैं। आयु, सात्विक वृत्ति, बल, आरोग्य, सुख एवं प्रीति की वृद्धि करने वाले, रसीले, स्निग्ध, शरीर में भेदकर चिरकाल तक रहने वाले और मन के लिए आनन्ददायक आहार सात्विक मनुष्य को प्रिय होते हैं। कटु अर्थात् चरपरे, खट्टे, खारे, अत्युष्ण, तीखे, रूखे, दाहकारक तथा दुःख-शोक और रोग उपजाने वाले आहार राजस् मनुष्य को प्रिय होते हैं। कुछ काल का रखा हुआ अर्थात् ठंडा, नीरस, दुर्गंधित, बासी, झूठा तथा अपवित्र भोजन तामस् पुरुष को अच्छा लगता है। उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि तीनों गुण ही हमारे नैतिक, अनैतिक, सुखात्मक अथवा दुखात्मक भावों के निर्धारक हैं। सतोगुण नैतिक एवं परं नैतिक स्थिति के, रजोगुण, सामान्य, मिश्रित एवं साधारण अवस्था के, और तमोगुण निकृष्ट एवं अनैतिक स्थिति के लक्षण हैं।

अव्यक्त और ब्रह्म

अव्यक्त शब्द गीता में अगोचर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। व्युत्पत्तिलभ्य दृष्टि से यह शब्द 'अ' व्यक्त शब्दों से बना हुआ है, जिसमें 'अ' शब्द नकारात्मक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है एवं 'व्यक्त' शब्द का अर्थ गोचर अर्थात् नामरूपात्मक भेद युक्त है। यह शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। समान वर्ग के रूप में यह शब्द नपुंसकलिंग में प्रयुक्त हुआ है। उदाहरणार्थ, प्रथम अर्थ में गीता के अध्याय दूसरे का पच्चीसवां श्लोक अथवा अध्याय आठवें का इक्कीसवां श्लोक है। इस प्रकार दूसरे अध्याय के पच्चीसवें श्लोक में आत्मा को अव्यक्त, अचिन्त्य एवं अविकार्य बताया गया है। उपनिषदों में आत्मा को अव्यक्तार्थ में लक्षित करना ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ आत्मा को शुद्ध चैतन्य एवं स्वयं प्रकाश माना गया है। अर्वाचीन सम्पूर्ण वेदान्त ग्रन्थों में आत्मा को अनुभूति स्वभाव के रूप में वर्णित किया गया है। परन्तु गीता में आत्मा का प्रधान लक्षण अमरत्व एवं अविकार्य समझा गया है; इसके बाद इसे अचिन्त्य एवं अव्यक्त समझा गया है। परन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता कि गीता में आत्मा का शुद्ध-चैतन्य सिद्धान्त के रूप में निरूपण है। गीता आत्मा को केवल अव्यक्त ही नहीं बताती अपितु शुद्ध चैतन्य के रूप में भी कभी प्रयोग नहीं करती। चेतना शब्द क्षेत्रज्ञ का नहीं बल्कि विकारी क्षेत्र का एक भाग है।[1] इस प्रसंग में यह प्रश्न उठना

---

[1] गीता १३.७।

स्वाभाविक है कि यदि आत्मा को चेतन नहीं माना जाय तो वह क्षेत्रज्ञ कैसे हो सकता है ? परन्तु इसका उत्तर यही होगा कि आत्मा को क्षेत्र के रूप में ही क्षेत्रज्ञ कहा गया है जिसका तात्पर्य यह है कि आत्मा स्वयं प्रकाश नहीं है परन्तु इसका प्रकाश क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का प्रतिबिंब मात्र है। क्षेत्र में चैतन्य अन्तर्निहित है एवं आत्मा के संयोग से ही वह क्षेत्रज्ञ प्रतीत होता है।

यहाँ पर यह कहना अप्रासाङ्गिक नहीं होगा कि उपनिषदों में कहीं पर भी क्षेत्र शब्द का प्रयोग गीता के क्षेत्रार्थ में नहीं हुआ है। परन्तु क्षेत्रज्ञ शब्द श्वेताश्वतर एवं मैत्रायण के क्रमशः ६:१६ तथा २:५ में गीता के 'पुरुष' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। गीता ने जिस अर्थ में 'क्षेत्र' शब्द का प्रयोग किया है उसी अर्थ में चरक ने अपनी चरक संहिता ३:१,६१-६३ में सांख्य शब्द का प्रतिपादन करते हुए किया है। चरक ने 'अव्यक्त' को क्षेत्र का अंग नहीं माना है जैसाकि गीता ने माना है। आगे चलकर चरक अव्यक्त (जिसके अनुसार जिसका अर्थ सांख्य प्रकृति एवं पुरुष से है) को क्षेत्रज्ञ मानता है जबकि गीता केवल पुरुष को ही क्षेत्रज्ञ मानती है। गीता का 'पुरुष' से तात्पर्य जीवभूत (७.५ एवं १५.७) से है जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् धारण किया हुआ है। परन्तु गीता यह नहीं बताती कि जीवभूत जगत् का आधार किस प्रकार से है। चरक ने भी आत्मा को जीवभूत माना है और उसमें यह भी बताया गया है कि यही बुद्धि-इन्द्रियाँ, मन एवं विषय का आधार है। शुभ-अशुभ, सुख-दुःख, बंध-मोक्ष, एवं वस्तुतः सम्पूर्ण विश्व के व्यापार इसी के हेतु है। चरक संहिता में पुरुष को चेतना-धातु माना गया है फिर भी पुरुष स्वयं शुद्ध चैतन्य नहीं है। उसमें चेतना केवल मन, इन्द्रियाँ, विषय इत्यादि के संयोग मात्र से आती है। गीता में पुरुष को चेतना-धातु नहीं माना गया है परन्तु चेतना क्षेत्र का अंग ही है जिसकी अव्यक्षता पुरुष करता है। इस प्रकार पुरुष को क्षेत्रज्ञ के रूप में ज्ञान केवल अपने क्षेत्र के साथ संयोग होने से होता है। यह धारणा की जा सकती है कि पुरुष क्षेत्रज्ञ अथवा जीवभूत के रूप में क्षेत्र को धारण करता है और यह भी सम्भव है कि पुरुष में ज्ञातृत्व क्षेत्र के संयोग से आता है।

पुरुष के ज्ञातृत्व स्वरूप का विचार करते समय एक अन्य सम्बन्ध की बात भी कही गई है कि पुरुष कर्त्ता भी है। अन्य प्रसंग में कर्मफल का अधिष्ठान (स्थान)– कर्त्ता, भिन्न-भिन्न कारण अर्थात् साधन,(कर्त्ता की) अनेक प्रकार की पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ और दैव के समूह से सम्भव माना गया है, इस सिद्धान्त को सांख्य सिद्धान्त माना गया है यद्यपि शंकर के अनुसार यह वेदान्त मत है। परन्तु दोनों सांख्य एवं वेदान्त के सिद्धान्त सत्कार्यवाद है। परम्परागत सांख्य दर्शन के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार कर्मफल अव्यक्त सत् से व्यक्त विकृत विकास का स्वाभाविक परिणाम है। वेदान्त के सत्कार्यवाद मत के अनुसार कार्य केवल प्रतीति मात्र है एवं कारण ही एक मात्र सत्य है। इन दोनों में से कोई उस कारण के सिद्धान्त को नहीं मानता जिसकी

यह मान्यता थी कि कई एक तत्वों के संयुक्त होने से कोई भी कार्य सम्भव है। जिसका अभाव हो, वह केवल कारणों के संयुक्त प्रभाव अथवा समूह से नहीं उत्पन्न किया जा सकता। यह स्मरणीय है कि गीता सत्कार्यवाद के आधारभूत सिद्धान्त को स्पष्टतया प्रतिपादित करती है कि जो सत् है उसका अभाव नहीं है एवं असत् का अस्तित्व नहीं है। आत्मा के अमरत्व को सिद्ध करने के लिए इस सिद्धान्त को लागू किया गया। प्रत्येक व्यक्ति को यह बात आश्चर्यजनक लगेगी कि गीता आत्मा के अमरत्व को स्थापित करने के लिए सत्कार्यवाद को मानती है और साथ ही साथ कर्म-सम्भव के बारे में असत्कार्यवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। यह बात भी अनोखी है कि चरक भी अपने सांख्य निरूपण में मानता है कि सब कर्म अनेक कारणों के परिणाम हैं अर्थात् कर्म कर्त्ता[1] के साथ अन्य अनेक तत्वों के संयोग का परिणाम है।

गीता में (२.२८) अव्यक्त शब्द अज्ञेयता और अदृश्यता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सब भूत आरम्भ में अव्यक्त, मध्य में व्यक्त, और मरण समय में फिर अव्यक्त होते हैं। परन्तु अब नपुंसकलिंग अव्यक्त शब्द ईश्वर के अंश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिससे इस नाना रूपात्मक जगत् की उत्पत्ति हुई है। अव्यक्त शब्द प्रकृति अथवा ईश्वर की प्रकृति भी है जो अध्यक्ष होकर प्रकृति से सब चराचर सृष्टि उत्पन्न करवाता है।[2] परन्तु कभी-कभी ईश्वर स्वयं अव्यक्त कहा गया है (सम्भवतः अगोचर होने के कारण), अव्यक्त से परे दूसरा सनातन पदार्थ जिसके द्वारा इस जगत् की उत्पत्ति हुई है।[3] यह अव्यक्त ईश्वर ही है जिसे अक्षर भी कहते हैं एवं वो सम्पूर्ण प्राणियों की चरम अर्थात् उत्कृष्ट या अन्त की गति कहा गया है। इस प्रकार एक सनातन अव्यक्त है जो ईश्वर का परं तत्व है एवं दूसरा (निम्न कोटि का) अव्यक्त है जिससे सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हुई है। इन दो अव्यक्तों के अतिरिक्त एक प्रकृति भी है जिसे अनादि तत्व एवं माया अथवा अविद्या कहते हैं तथा जिससे गुण उत्पन्न होते हैं।

'ब्रह्मन्' दो अथवा तीन भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जैसे एक प्रकृति के अर्थ में जिससे गुण उत्पन्न होते हैं—दूसरे, ईश्वर को आवश्यक स्वरूप के अर्थमें; तीसरे वेदों के अर्थ में। इस प्रकार गीता में (३.१५ में) कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म से अर्थात् प्रकृति से हुई है और यह ब्रह्म ही यज्ञ में अधिष्ठित रहता है।[4] उसका तात्पर्य यह

---

[1] चरक संहिता ४,१.५४।

[2] गीता ९, १०, मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

[3] गीता ८.२०,२१; ९.४ जहाँ कहा गया है—'सम्पूर्ण जगत् मेरे अव्यक्त रूप से व्याप्त है। सब वस्तुएँ एवं प्राणी मेरे अन्दर हैं परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।'

[4] वही, ३.१५।

है कि चूंकि सनातन ब्रह्म से वेदों की उत्पत्ति हुई है इसलिए कर्म भी सर्वगत एवं सनातन है। सर्वगत शब्द का कर्म के अर्थ में उपयोग इसलिए हुआ है कि कर्म करने वालों को विविध प्रकार से लाभ होता है। गीता के ४.३२ में 'ब्रह्मणो मुखे' में व 'ब्रह्मन' वेदार्थ में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु अ. ४.२४ एवं २५ में अर्पण अथवा हवन करने की क्रिया ब्रह्म है, हवि अर्थात् अर्पण करने का द्रव्य ब्रह्म है, ब्रह्माग्नि में ब्रह्म ने हवन किया है; इस प्रकार जिसकी बुद्धि में (सभी) कर्म ब्रह्ममय है, उसको ब्रह्म ही मिलता है। कोई-कोई योगी देवता आदि के उद्देश्य से यज्ञ किया करते हैं और कोई ब्रह्माग्नि में यज्ञ से ही यज्ञ का यजन करते हैं। इसमें 'ब्रह्मन्' ईश्वर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[1] पांचवें अध्याय के ६,१०,१६ श्लोक में भी तथा और कई स्थलों में ब्रह्मन् 'ईश्वरार्थ' में प्रयुक्त हुआ है परन्तु गीता के अनुसार सगुण ईश्वर परं तत्व है एवं उपनिषदों में उपदिष्ट निर्गुण एवं निर्विशेष परं तत्व होते हुए भी सगुण ईश्वर द्वारा धारण किया जाता है। यद्यपि अ. ८.३ एवं १०,१२ श्लोक में ब्रह्म भेद रहित परं तत्व कहा गया है फिर भी अ. १४.२७ में ईश्वर को इस परं तत्व ब्रह्म का भी आधार कहा गया है। कई श्लोकों में ब्रह्मभूत (अ.५.२४, अ.६.२७, अ.१८.५४) अथवा ब्रह्मभूय (अ.१४.२६) एवं ब्रह्म-निर्वाण प्राप्ति (अ.२.७२, अ.५.२४,२५ और २६) का वर्णन है। गीता में ब्रह्मभूत का अर्थ शांकर वेदान्त की सायुज्य मुक्ति नहीं है यह कहना दोषयुक्त होगा कि 'ब्रह्मन्' का प्रयोग उसी अर्थ में किया गया है जिस अर्थ में शंकर ने किया है। उपनिषदों में 'ब्रह्मन्' परं भेद रहित तत्व के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है एवं उपनिषद् हिन्दू दर्शनों द्वारा सब शास्त्रों का भण्डार माना गया है। अधिकतम दर्शनों ने अविकारी परम धाम की प्राप्ति को ब्रह्मानुभूति का चरम लक्ष्य माना है। इस सम्बन्ध में चरक द्वारा प्रतिपादित सांख्यशास्त्र में कहा गया है कि जब मनुष्य आसक्ति एवं मानसिक और शारीरिक क्रियाओं को छोड़ देता है तब उसकी सब भावनाओं एवं ज्ञान की पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। इस अवस्था में वह ब्रह्मभूत हो जाता है एवं आत्मा की स्थिति अव्यक्त हो जाती है। यही अवस्था अखिल जगत् से परे एवं सब प्रकार से अनुमान तथा चिह्न से रहित है।[2] यह स्थिति निर्वाण होते हुए भी ब्रह्मभूत कहलाती है। 'ब्रह्मन्' उपनिषदों में से लिया गया एवं परं स्वानुभूति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ तथा जिसके स्वरूप के संबंध में भिन्न-भिन्न दर्शनों के अनेक मत हैं। गीता में भी 'ब्रह्मन्' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसे ब्रह्मानुभूति की उच्च अवस्था माना गया है जिसमें मनुष्य पूर्ण अनासक्ति द्वारा अपने आप में तुष्ट

---

[1] इस श्लोक (४.२४) की व्याख्या करते हुए, श्रीधर ने इसे इस प्रकार व्याख्यायित किया है : तदेवम् परमेश्वराधनलक्षणं कर्म ज्ञानहेतुत्वेन बन्धकत्वाभावादकर्मैव।

[2] निःस्तृतः सर्वभावेभ्यश्चिन्हं यस्य न विद्यते।

—चरक संहिता, ४.१.१५३

रहता है एवं जो स्थित प्रज्ञ है। गीता ५.१६ में ब्रह्म को निर्दोष एवं सम माना गया है। इसी प्रसंग के अन्य श्लोकों में राग-द्वेष से वियुक्त स्थित-प्रज्ञ मुनि को ब्रह्म में स्थित कहा गया है क्योंकि ब्रह्म का अर्थ ही समता की स्थिति है। गीता में (अ.१३.१३) ब्रह्म को ज्ञेय, अनादि एवं न सत् तथा न असत् कहा गया है। उसके सब ओर हाथ पैर हैं, सब ओर आँखें, सिर और मुख है। सब ओर कान हैं और वही इस श्लोक में सबको व्याप रहा है। (उसमें) सब इन्द्रियों के गुणों का आभास है पर उसके कोई इन्द्रिय नहीं है, वह सबसे असक्त अर्थात् अलग होकर भी सबका पालन करता है और निर्गुण होने पर भी सब गुणों का उपभोग करता है। (वह) सब भूतों के भीतर भी है और बाहर भी है, अचर है और चर भी है, सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है और दूर होकर भी समीप है। (वह) तत्वतः अविभक्त अर्थात् अखंडित होकर भी सब भूतों में मानों (नानात्व से) विभक्त हो रहा है और (सब) भूतों का पालन करने वाला, ग्रसने वाला और उत्पन्न करने वाला भी उसे ही समझना चाहिए। उसे ही तेज का भी तेज, और अंधकार से परे कहते हैं। ज्ञान जो जानने योग्य है वह (ज्ञेय) और ज्ञानगम्य अर्थात् ज्ञान से ही विदित होने वाला भी (वही) है, सबके हृदय में वही अधिष्ठित है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि ब्रह्म का सामान्य प्रत्यय उपनिषदों में से अपरोक्ष रूप से लिया गया है। इस अध्याय के अन्त में कहा गया है कि जब सब भूतों का पृथक्त्व अर्थात् नानात्व एकता से (दीखने लगे) और इसे (एकता से ही सब) विस्तार दीखने लगे तब ब्रह्म प्राप्त होता है। परन्तु अगले अध्याय में कृष्ण भगवान् कहते है कि अमृत और अव्यय ब्रह्म का शाश्वत धर्म का एवं एकान्तिक अर्थात् परमावधि के अत्यंत सुख का अन्तिम स्थान मैं ही हूँ। गीता के १४.२६ यह कहा गया है कि 'जो (मुझे ही सब कर्म अर्पण करके) अव्यभिचार अर्थात् एकनिष्ठ भक्तियोग से मेरी सेवा करता है, वह इन तीन गुणों को पार करके ब्रह्मभूत अवस्था पा लेने में समर्थ हो जाता है।' यह कहा जा चुका है कि गीता के अनुसार दो विभिन्न प्रकार के अव्यक्त हैं। ईश्वर की अपरा प्रकृति ही जगत् के रूप में व्यक्त होती है, परन्तु एक उच्चतर अव्यक्त है जो नित्य एवं अविकारी तथा सबका आधार है। अतः यह सम्भव प्रतीत होता है कि ब्रह्मन् और परं अव्यक्त एक ही है परन्तु यद्यपि यह क्षर से भी परे का और अक्षर से भी उत्तम (पुरुष) है यह पुरुषोत्तम के नाम से प्रसिद्ध है।

गीता, वेदान्त या सांख्य का ग्रन्थ है अथवा प्रारम्भ में सांख्य ग्रन्थ था जो बाद में वेदान्तिक दृष्टिकोण से परिवर्तित, परिवर्धित अथवा संशोधित कर दिया गया—इस प्रश्न का विस्तारपूर्वक विवेचन यहाँ पर करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि गीता पर इस ग्रन्थ में किए गए भाष्य को यदि स्वीकार कर लिया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि न तो सांख्य का और न वेदान्त का ही ग्रन्थ है। यह पहले ही

बताया जा चुका है कि गीता का सांख्य ईश्वरकृष्ण की कारिका में प्रतिपादित परम्परागत सांख्य दर्शन नहीं है। परन्तु निस्सन्देह कहीं-कहीं प्राचीन दर्शन के तत्व मिलते हैं जिनके विकसित रूप केवल ईश्वरकृष्ण का सांख्य अथवा षष्टि-तन्त्र है (जिसका ईश्वरकृष्ण ग्रन्थ एक संक्षिप्त ग्रन्थ ही नहीं है बल्कि चरक के ग्रन्थ में उपलब्ध पूर्वकथन भी इसके ही विकसित रूप हैं)। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीता के सांख्य और षष्टि तन्त्र अथवा ईश्वरकृष्ण के सांख्य में, चरक के सांख्य में, महाभारत में पंचशिख सांख्य में एवं व्यास भाष्य और पतंजलि के सांख्य में बड़ा महत्वपूर्ण भेद है। सामान्यतया पतंजलि के सांख्य को सेश्वर सांख्य कहा गया है। परन्तु पतंजलि योग दर्शन में प्रतिपादित सांख्य ईश्वर को स्पष्टतया नहीं मानता। ईश्वर उपरोक्त योग में केवल पुरुष विशेष है जो अपने नित्य संकल्प द्वारा कर्म विधान के अनुसार प्रकृति के विकास के पथ की बाधाओं को हटाता है। इस प्रकार वह (ईश्वर) अंधी प्रकृति के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होता है। परन्तु गीता के दोनों पुरुष और उनकी महद्ब्रह्म प्रकृति, पुरुषोत्तम ईश्वर के अंश हैं। आत्मगत लक्षण वाले गुणों को उत्पन्न करने वाली प्रकृति को ईश्वर की माया अथवा उसकी वधू कहा गया है जो उसके संकल्प से गर्भित होकर गुण उत्पन्न करती है। गीता के दर्शन एवं सांख्य की अनेक शाखाओं में अन्तर स्पष्ट है। सांख्य की एक प्रकृति के बजाय यहाँ पर ईश्वर की तीन प्रकृतिएँ हैं। यहां गुण जगत् सम्बन्धी न होकर आत्मगत अथवा मनोवैज्ञानिक है। इसका कारण यह है कि गीता की प्रकृति आत्मगत ईश्वरीय संकल्प से गुण उत्पन्न करती है जो संस्कारों से युक्त होकर पुरुषों को बांधते हैं। उसी प्रकृति को गुणमयी माया कहा गया है। पुरुष अनेक होते हुए भी ईश्वरीय-प्रकृति से प्रकट होते हैं। सांख्य की तरह गीता में पुरुषों को शुद्ध चैतन्य स्वरूप नहीं कहा गया है। परन्तु चेतना की चित् शक्ति का श्रोत ईश्वर की अन्य प्रकृति से है जो पुरुष से संयुक्त है। यह भी बताया जा चुका है कि कर्मफल के अथवा चेतना के प्रसंग में नहीं अपितु आत्मा के अमरत्व के बारे में गीता सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को मानती है। गीता में सांख्य की तरह तन्मात्र का विवरण नहीं है। सांख्य की प्रकृति का स्थान गीता में पुरुषोत्तम ने लिया है जो अपने संकल्प द्वारा अपने अन्दर धारण किए हुए विभिन्न तत्वों में एकत्व एवं हेतु स्थापित करता है। पतंजलि एवं कपिल के सांख्य का ज्ञान अथवा योगिक क्रियाओं द्वारा पुरुषों के परम पुरुषार्थ अर्थात् मुक्ति प्राप्ति लक्ष्य है। गीता का उद्देश्य मन को राग द्वेष से वियुक्त करके संतों की समता एवं मन की परम शांति प्राप्त करवाना है। जिस स्थिति में उपरोक्त समता एवं तुष्टि की उपलब्धि हो जाती है तब मुनिया संत गुणासक्ति के बन्धन से मुक्त अर्थात् गुणातीत अथवा ब्रह्मभूत हो जाता है। इस प्रकार गीता-दर्शन परम्परागत सांख्य दर्शन से प्रत्येक विषय में महत्वपूर्ण रूप से भिन्न है। कुछ गौण विषयों में (उदाहरणार्थ तन्मात्र की अनुपस्थिति, ज्ञान एवं कर्मोपलब्धि का स्वरूप इत्यादि)

दार्शनिक अर्थ में नहीं हुआ है। गीता में व्यवहृत् 'माया' शब्द औपनिषद् परम्परा का लचीलापन लिए हुए हैं। शंकर के वेदान्त-दर्शन में विख्यात 'अविद्या' शब्द गीता में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है। अज्ञान शब्द की पुनरावृत्ति हुई है (अ० ५.१५,१६; १०,११; १३.११; १४.८, १६.१७; १६.४) परन्तु इनमें से किसी भी स्थल पर उपरोक्त शब्द कोई विशिष्टार्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। यहाँ इसका अर्थ है तमस् से उत्पन्न अज्ञान; (अज्ञानः तमसः फलम् १४-१६) और जो स्वयं तमस् उत्पन्न करता है (तमस्त्वज्ञानजं विद्धि अ० १४.८)।

गीता में यज्ञों का निरूपण

शंकर द्वारा प्रतिपादित वेदान्त के सिवाय प्रायः सभी हिन्दू मत यज्ञ और याग उपासना आदि वैदिक नैमित्तिक कर्म द्वारा ओत-प्रोत है। मीमांसा दर्शन में विधि के विश्लेषण में कर्मों की नैमित्तिकता अत्युत्तम रीति से की गई है। विधि का अर्थ है वेदाज्ञा जैसे 'तुम्हें अमुक-अमुक यज्ञ करने चाहिए। कहीं-कहीं ये अर्थों की प्राप्ति के लिए होते हैं जैसे जो लोग स्वर्ग प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें अमुक-अमुक यज्ञादि करने चाहिए। कहीं-कहीं ये अनिवार्य होते हैं जैसे, 'तुम्हें तीन प्रार्थनाएं करनी चाहिए।' मीमांसा के विभिन्न मतों में इस धर्म की बाध्यता का भिन्न रूप से प्रतिपादन किया गया है। प्रख्यात भाष्यकार कुमरिल ने जैमिनी द्वारा दी गई धर्म की परिभाषा (अभीष्ट अर्थ अथवा शुभ जो वैदिक कर्म हैं) (चोदना लक्षणार्थों धर्मः मीमांसा सूत्र १.१) पर टीका करते हुए कहते हैं-वैदिक यागादि का पालन ही धर्म है। अतः धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत वह अभीष्ट अर्थ दुःख से सम्बन्धित सुख की मात्रा के आधिक्य के कारण आता है जो वैदिक विधान द्वारा उपदिष्ट है। वैदिक यज्ञ भी धर्म कहलाते हैं क्योंकि इनसे भविष्य में सुखात्मक अनुभवों की उपलब्धि होती है। अतः वैदिक विधान द्वारा निषिद्ध कर्मों का त्याग भी धर्म कहलाता है, क्योंकि इसके द्वारा विधि के उल्लंघन के फलस्वरूप अनीच्छित प्रभाव एवं दंड-यातनाओं को टाला जा सकता है। ऐसे यज्ञों को अन्ततोगत्वा अर्थ कहते हैं क्योंकि इनसे सुखात्मक भोगों की प्राप्ति होती है। वैदिक विधि का प्रभाव दो प्रकार से पड़ता है-प्रथमतः शाब्दि भावना के पालन में ऐच्छिक प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव, द्वितीय, आर्थी की भावना में क्रियात्मक संकल्प का प्रादुर्भाव। शाब्दि भावना का प्रवर्त्तक भौतिक अथवा शरीरिक प्रवर्त्तक नहीं है। ऐसी प्रवृत्ति की उत्पत्ति केवल इसी विचार के परिणामस्वरूप होती है कि कर्म करने से उसे श्रेयस्कर अर्थोपलब्धि होगी।[1] इसलिए वैदिक विधान में निहित दो प्रकार की भावनाओं में वैदिक आज्ञा द्वारा कार्य करने की प्रवृत्ति को

---

[1] अदृष्टे तु विषये श्रेयः साधनाधिगमः शब्दैक निबन्धन इति तद् अधिगमो पायः शब्द

शाब्दि भावना कहते हैं। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य कार्य करने के लिए वास्तविक प्रयत्न करता है।[1] क्रिया के अर्थ को दृष्टि में लाने के पूर्व ही विधि का अपरोक्ष ज्ञान क्रिया के उपसर्ग लिन् से हो जाता है। यदि ऐसी बात है तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या वैदिक विधि द्वारा उपदिष्ट लिन् केवल आकृत मात्र आज्ञा ही है अर्थात् उसमें सामग्री नहीं है ? उपरोक्त बात भट्ट-मत को मान्य है जिसके अनुसार यद्यपि प्रथम अवस्था में वैदिक विधि भले ही केवल आकृत मात्र हो परन्तु आनुक्रमिक अवस्थाओं में व्यक्त प्रसंग के अपरोक्ष सम्बन्ध से पूर्ति हो जाती है जैसाकि क्रिया के लिन् के साथ संयोग से संकेत मिलता है।[2] अतः सामग्रीरहित कर्त्तव्य का कथन एवं उसके साकार क्रिया के अर्थ का सम्बन्ध दो भिन्न अर्थों में नहीं है अपितु कथन की एक ही क्रिया का विस्तार है जैसे, रसोई बनाने की क्रिया में आग जलाने एवं आग पर बर्तन रखने इत्यादि की प्रक्रियाएँ अन्तर्निहित है।[3] अतः उपरोक्त दो भावनाओं का अर्थ संकल्प का तर्क एवं उसका निश्चित प्रक्रिया में परिणित होना है जैसे, यज्ञ-यागादि की क्रिया इत्यादि। यहाँ विधि का अर्थ प्रेरणा रूप व्यापार है। वह ऐसी प्रेरणा है जो कर्त्ता में आगे चलकर क्रियात्मक रूप में परिणित होने वाले संकल्प को जन्म देती है।

एक अन्य मीमांसा मत इस द्वैत भावना के सिद्धान्त की आलोचना करता हुआ कहता है कि 'लिन्' प्रत्यय प्रेरणार्थक है मानों वेदों का हमारे साथ सम्बन्ध स्वामी एवं

एव प्रवर्त्तक; अतएव शब्दोऽपि न स्वरूपमात्रेण प्रवर्त्तको वायु आदि तुल्यत्व प्रसंगात्,...अर्थ प्रतीतिम् उपजनयतः शब्दस्य प्रवर्त्तकत्व।

—न्याय मंजरी, पृ० ३४२ विजियन ग्राम संस्कृत सिरीज बनारस, १८९५।

[1] लिङ् आदेः शब्दस्य न प्रतीति ज्ञानमात्रे व्यापारः किन्तु पुरुष प्रवृत्तौ अपि; स चायं लिङ् आदि व्यापारः शब्द भावना नामधेयो विधिः इति उच्यते स एव च प्रवर्त्तकः। यो भवन क्रिया कर्तृ विषयः प्रयोजकव्यापारः पुरुषस्थो यत्र भवनक्रियायाः कर्ता स्वर्गादिकर्मतां आपद्यते सोऽर्थ भावना शब्देन उच्यते।

[2] यद्यप्यंशैरसंपृष्टां विधिः स्पृशति भावनाम्
तथाप्यशक्तितो नासौ तन्मात्रे पर्यवस्यति
अनुष्ठेये हि विषये विधिः पुंसां प्रवर्तकः
अंश त्रयेण चापूर्णां नानु तिष्ठति भावनाम्
तस्मात् प्रकारान्त रूपोऽपि विधिस्तावत् प्रतीक्षते
यावद् योग्यत्वमापन्ना भावनाऽन्या न पेक्षिणि।

[3] यथाहि स्थाल्यधिश्रयणात् प्रभृत्या निराकांक्षौदन–निष्पत्तेरेकैवेयं पाकक्रिया सलिलावसेकतंडुलावपनदर्वीविघट्टनाश्रावणाद्यनेकक्षणसमुदायस्वभावा तथा प्रथम पद ज्ञानात् प्रभृति आ निराकांशवाक्यार्थपरिच्छेदाद् एकैवेयं शाब्दी प्रमितिः।

—न्याय मंजरी, पृ० ३४५।

भृत्य का हो एवं लिङ् प्रत्यय में वैदिक-विधि प्रभुत्व सूचक है। विधि हमें कर्म करने की प्रेरणा देती है एवं उसके द्वारा प्रेरित होकर हम कर्म संपादन में प्रवृत्त होते हैं। शारीरिक दृष्टि से यह हमें कर्म करने को विवश नहीं करती परन्तु इससे हमारे अन्दर यह भावना रहती है कि हमें कोई कर्म करने की आज्ञा दे रहा है और यही वह प्रेरक शक्ति है। कर्म विधि ज्ञान इस प्रकार हमें वैदिक कर्म करने की प्रेरणा देती है। जब मनुष्य कोई आज्ञा सुनता है तो वह अनुभव करता है कि उसे आज्ञा दी गई है तब वह कर्म में प्रवृत्त होता है। यह कर्म प्रवृत्ति नियोग एवं नियोजित के सम्बन्ध से बिल्कुल भिन्न होती है एवं उसके बाद ही आती है। वेद-वाक्य का तत्व नियोग है। एक मनुष्य जिसने पहले कुछ वस्तुओं के लाभ अथवा तज्जन्य आनन्द का रसास्वादन कर लिया है वह स्वभावतः उन्हें पुनः प्राप्त करना चाहता है। यहाँ भी उत्सुकता, इच्छा अथवा आकूट का विशिष्ट मानसिक अनुभव होता है जो उसे वैदिक नियोग के आज्ञा पालन में प्रवृत्त करता है। यह आकूट पूर्ण रूप से स्वगत अनुभव है अतः अन्य लोग इसका अनुभव नहीं कर सकते। यद्यपि इसके अस्तित्व का इस बात से अनुमान किया जा सकता है कि जबतक इनका मानसिक अनुभव नहीं होगा तबतक कर्म संपादन की प्रेरणा नहीं होगी।[1] सम्पूर्ण विधियों का अर्थ नियोग अथवा प्रेरणा है एवं यही हमें नियोगानुसार कर्म करने की प्रेरणा देता है। कर्म सम्पादन आकूट का अन्य रूप मात्र है जो स्वागत रूप में विधि की प्रेरक शक्ति अथवा नियोग द्वारा उत्पन्न हुआ सा अनुभूत होता है। यह मत कुमारिल के मत से इस बात में भिन्न है कि वैदिक नियोग के अनुसार कर्मविचार एवं सम्पादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया द्वारा वैदिक नियोग दो प्रकार की भावना में परिणित होता है। हमें कर्म में प्रवृत्त करने में एवं हमारे अन्दर नियोग पालन का आकूट उत्पन्न करने में नियोग की शक्ति समाप्त हो जाती है। वास्तविक कर्म सम्पादन स्वाभाविक अर्थ के रूप में प्राप्त होता है। विधि की शक्ति केवल उस समय ही कार्य करती है जब हमारे सामान्य रुझान हमें कर्म करने में प्रवृत्त नहीं करते। अतः विधि केवल नियोग के नियम के रूप में कार्य करती है जिसका पालन केवल नियम के लिए ही होता है एवं यह नियम के पालन का मनोवैज्ञानिक तत्व आकूट ही है जिससे कर्म संपादित होता है।

मंडन अपने विधि-विवेक में विधि के महत्व पर विभिन्न मतों की परीक्षा करते हैं। वह विधि की व्याख्या करते हुए इसे विशिष्ट प्रकार की प्रवर्तना बताते हैं। यह लक्ष्य की प्राप्ति के आंतरिक ऐच्छिक प्रयोजन एवं शारीरिक मांसपेशियों की

---

[1] अयमपि भौतिकव्यापारहेतुरात्माकूतविशेषो न प्रमाणान्तरवेद्यो भवति न च न वेद्यते तत्संवेदने सति चेष्टा यद्वन्तं दृष्ट्वा तस्यापि तादृक्प्रेरणावगमोऽनुमीयते।

—न्याय मंजरी, पृ० ३४८।

गतियों में परिणत होने वाले क्रियात्मक प्रयत्न में भेद करते हैं। यहाँ प्रवर्तना का तात्पर्य कर्म संपादन के प्रति मन की आंतरिक ऐच्छिक प्रेरणा से तथा उससे संबंधित वास्तविक नाड़ी मंडल पर प्रभाव डालने वाले परिवर्तन से है।[१] वेदों के आदेश के साथ स्वभावतः कर्त्तव्यता का भाव आता है एवं यही कर्त्तव्यता का भाव लोगों को निष्काम कर्म करने को प्रेरित करता है। नैतिक औचित्य (Oughtners) से संबंधित इस मनोवैज्ञानिक अवस्था का स्वरूप प्रतिमा (instines) जैसा है। नैतिक औचित्य (Oughtners) से उत्पन्न कार्य करने की प्रतिभात्मक उत्तेजना द्वारा कर्म संपादित होता है।

विधि से निरूपाधिक आज्ञा के उपर्युक्त मत से न्याय-दर्शन का मतभेद है। उसके मत में वैदिक नियोग-पालन का शक्ति-श्रोत हमारी वह लाभ प्राप्ति की इच्छा है जो लाभ हमें वेदाज्ञा के अनुसार कर्म करने के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। अतः कर्म करने का चरम प्रेरक सुख-प्राप्ति एवं दुःख-त्याग है एवं अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही मनुष्य वैदिक नियोग का पालन करने तथा यज्ञ-संपादित करने को प्रेरित होता है। अतः इस मत के अनुसार प्रेरणा में शुद्ध आदेश का वतःस्सिद्ध प्रयोजन अथवा आदेश के प्रभाव द्वारा ऐच्छिक प्रवृत्ति का उत्पन्न करना निहित नहीं है। अनुभूत प्रेरणा का कारण लक्ष्य-प्राप्ति की इच्छा का उत्पन्न होना है।

विधि की उपर्युक्त व्याख्याओं में अधिकांश व्याख्याएँ गीता के उत्तरकाल की हैं। विधि के स्वरूप का कोई व्यवस्थित विपय अथवा वाद-विवाद अब उपलब्ध नहीं है जिसे गीताकाल का समकालीन अथवा पूर्वकालीन कहा जा सके। परन्तु 'वाद के' भाष्य भी गीता में आदेश-विचार की शक्ति के महत्व को समझने में उपयोगी हैं। उपरोक्त तर्क से यह स्पष्ट है कि विधि-आदेश का विचार हमारे अर्थ के अनुसार नैतिक नहीं कहा जा सकता जैसाकि हिन्दू आचार-शास्त्र ग्रंथ में किया गया है?[२] क्योंकि विधि के आदेश वैदिक विधि-निषेध तक ही सीमित हैं जो किसी प्रकार से भी हमारे नैतिकता सम्बन्धी सामान्य विचार के साथ एक ही स्थान पर व्यापक नहीं है। उपर्युक्त वर्णित मीमांसा-मतों के अनुसार वैदिक विधि-निषेध का पालन ही धर्म है। धर्म वैदिक-विधि है एवं अधर्म वैदिक-निषेध है तथा जो न तो वैदिक-विधि है और न

---

[१] भाव धर्म एव कश्चित् समीहितसाधनानुगुणो व्यापार पदार्थः; तद्यथा आत्मनो बुद्ध्यादिजननप्रवृत्तस्य मनः संयोग एवाऽयं भावधर्मः तद्वद् अत्रापि स्पन्दस्तदितरो वा भावधर्मः प्रवृत्तिजननानुकूलतया व्यापार विशेषः प्रवर्तना।

—विधि विवेक पर वाचस्पति की न्यायकाणिका, पृ० २४३—४४।

[२] स० क० मित्रा द्वारा लिखित—हिन्दू आचारशास्त्र जो डॉ० सील के सान्निध्य में तथा व्यक्तिगत निरीक्षण में लिखा गया।

वैदिक-निषेध है वह तटस्थ है ।[1] अतः धर्म पद का तात्पर्य वैदिक विधि तक ही सीमित है यद्यपि ऐसे कर्मों का परिणाम कुछ अवस्थाओं में बुरा हो सकता है जिसके फलस्वरूप कुछ अन्य वैदिक नियोग का उल्लंघन करने के कारण दंड भी मिल सकता है । यहाँ निरपेक्ष आदेश शास्त्रोक्त है अतः पूर्णतया वाह्यात्मक है । कर्म का धार्मिक स्वरूप उनके स्वतः स्वरूप पर नहीं बल्कि वैदिक-विधि की वाह्यात्मक नैतिक शक्ति पर अवलंबित है । जो वैदिक-विधि एवं निषेध नहीं है वह केवल तटस्थ है । अतः यह स्पष्ट है कि धर्म शब्द का अनुवाद सद्गुण (Virtue) के रूप में केवल विशिष्ट अर्थ में ही हो सकता है एवं धर्म और अधर्म के प्रत्यय का 'नैतिक' अथवा 'अनैतिक' से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

गीता के अनुसार यज्ञ संपादन के दो प्रकार के प्रेरकों में भेद है । प्रथम प्रेरक लोभ एवं स्वार्थ का है तथा द्वितीय कर्त्तव्य-भावना का है । वैदिक विधि के बारे में की गई न्याय-दर्शन की व्याख्या एवं विधि को कर्त्तव्य-भावना बताने वाली मीमांसा की व्याख्या के अनुरूप यज्ञ सम्पादन में विशिष्ट प्रेरक गीता में वर्णित है । इस प्रकार गीता उन मूर्खों की निन्दा करती है जो वैदिक मत के अतिरिक्त किसी में भी विश्वास नहीं करते । वे लोग इच्छाओं से परिपूर्ण हैं एवं स्वर्ग प्राप्ति के उत्सुक हैं । वे उन कर्मों के सम्पादन में लगे रहते हैं जिनके द्वारा उनका पुनर्जन्म हो तथा सांसारिक भोगों का आनन्द प्राप्त हो । भौतिक विषयों की उपलब्धि हेतु यज्ञ करने वाले लोभासक्त एवं कामासक्त लोग निम्न स्तर पर घूमते रहते हैं जो निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा ईश्वर भक्ति के उच्चतर स्तर के जीवन के उपयुक्त नहीं है ।[2] वेदों को लौकिक तीव्र

---

[1] कुमारिल के विचार में अपने शत्रु की हत्या करने हेतु संपादित यज्ञ भी दोषरहित है क्योंकि वे भी वैदिक विधि के अन्तर्गत हैं । प्रभाकर के मतानुसार इस प्रकार के यज्ञ मनुष्यों की स्वाभाविक बुरी प्रवृत्तियों के कारण किए जाते हैं अतः उनका संपादन कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर वैदिक विधि के पालन से सम्बन्धित नहीं माना जा सकता । कुमारिल के अनुसार यद्यपि श्येन यज्ञ का परिणाम बुरा होता है फिर भी कर्त्ता का सम्बन्ध बुरे परिणाम से न होकर वेदाज्ञा पालन सम्बन्धी अपने कर्त्तव्य से होता है एवं उसके शुभ कहलाने का कारण वैदिक विधि निषेध का पालन है यद्यपि जीव-हिंसा का दंड भी अवश्य मिलेगा । श्येन यज्ञ में हिंसा निहित होने के कारण कई सांख्य एवं न्याय लेखकों ने उसकी निन्दा की है ।

[2] व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधौ न विधीयते, गीता २.४४ । श्रीधर ने 'समाधौ' शब्द की निम्न प्रकार से व्याख्या की है—समाधिश्चित्तैकाग्र्यं, परमेश्वराभिमुखत्वमितियावत्, तस्मिन् निश्चयात्मिका बुद्धिस्तु न विधीयते । इस प्रकार यहाँ समाधि शब्द का तात्पर्य ईश्वर के प्रति चित्त की एकाग्रता से है । परन्तु शंकर ने समाधि की व्याख्या अन्तःकरण अथवा बुद्धि बताकर की है । जो न्यायसंगत नहीं है । इस

अभिलाषाओं एवं कामनाओं के प्रभाव में माना गया है तथा वासनाओं एवं घृणा
तथा कामनाओं एवं अनिच्छा द्वारा युक्त होकर लोग वैदिक यज्ञादि किया करते हैं
इनसे बढ़कर किसी और को नहीं मानते। अतः मनुष्य को स्वार्थ से प्रेरित हो
किए गए वैदिक यज्ञों के क्षेत्र से परे जाना चाहिए। परन्तु यज्ञ संपादन भी
केवल कर्त्तव्य भावना से प्रेरित होकर किया जाय तो गीता वैदिक यज्ञों के सम्पादन
विरुद्ध नहीं है। यज्ञ संपादन में अपने व्यक्तिगत लाभ को देखने वाला एवं अ
सुखात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति में उत्सुक निम्न स्तर का व्यक्ति है। अतः यज्ञों का संपा
पवित्र कर्त्तव्य समझकर बिना किसी व्यक्तिगत आसक्ति के करना चाहिए। प्रजाप
ने मानव रचना के साथ-साथ यज्ञों की रचना की एवं कहा, 'यज्ञ तुम्हारे कल्याण
लिए होंगे। यज्ञों के द्वारा तुम देवताओं को प्रसन्न करो और देवता तुम्हारी उन्न
एवं वृद्धि में सहायता करेंगे। जो व्यक्ति देवताओं को आहुति समर्पित किए बि
अपने स्वयं के लिए ही जीता है वह देवताओं के भाग का दुरुपयोग करता है।

गीता का यह मत उत्तर-मीमांसा से भिन्न है जिसकी परम्परा सम्भवतः पूर्वतर थी। कुमारिल के अनुसार धर्म अथवा वैदिक यज्ञों का अन्तिम आत्म-पक्ष समर्थन यह था कि उसके द्वारा अर्थ के रूप में हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति हुई और हमें सुख प्राप्त हुआ। निस्संदेह यज्ञ वैदिक नियोग के प्रति आदर के कारण संपादित किए जाते थे; परन्तु वह तो प्रश्न की केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि ही हुई। होता के लिए सुखोत्पत्ति एवं अभीष्ट विषयों की उपलब्धि द्वारा कामनापूर्ति वैदिक यज्ञों के संपादन का बाह्यात्मक कारण था। इसी मत के आधार पर न्याय ने समस्त वैदिक यज्ञों के प्रेरक को निश्चित करने का प्रयत्न किया। नैयायिकों का विश्वास था कि वैदिक-क्रियाओं द्वारा हमें केवल अपने अभीष्ट विषयों की ही प्राप्ति नहीं होती बल्कि यज्ञ-संपादन का यह भी प्रेरक था। गीता को उपरोक्त मत ज्ञात था जिसका उसने खंडन किया है। गीता के मत में यज्ञ विश्व के कल्याणकारक हैं परन्तु इसका सपूर्ण दृष्टिकोण भिन्न है क्योंकि गीता के अनुसार यज्ञ देवताओं एवं मनुष्यों में एकता का बन्धन स्थापित करते हैं। यज्ञों द्वारा परस्पर सद्भावना में सुधार हुआ तथा यज्ञों द्वारा ही देवताओं की सहायता हुई एवं देवताओं ने फिर मनुष्यों की सहायता की। इस प्रकार देवता एवं मनुष्यों ने उन्नति की। यज्ञों द्वारा पर्जन्य हुआ एवं पर्जन्य द्वारा अन्न सम्भव हुआ तथा मानव जीवन भी अन्न पर ही आधारित था। अतः यज्ञों को

प्रकार वह कहते हैं—समाधीयतेऽस्मिन् पुरुषोपभोगाय सर्वमिति समाधिरन्तःकरणं बुद्धिः। टीकाकारों ने २.४१ व २.४४ पर व्यवसायात्मिका शब्द की व्याख्या निश्चयात्मिका (उपयुक्त प्रमाणों द्वारा सही निर्णय लेना) कहकर की है। मैं इस शब्द का अर्थ सही निश्चय अधिक अच्छा समझता हूँ।

व्यक्तिगत हित के साधन से अधिक सार्वजनिक हित का साधन समझा गया। जो व्यक्ति यज्ञों को अपनी स्वार्थ-पूर्ति का साधन मानता है वह आवश्यक रूप से निकृष्ट है। परन्तु जो यज्ञ नहीं करते वे भी समान रूप से लम्पट हैं। वेदों की उत्पत्ति नित्य अमर से हुई है तथा यज्ञों की उत्पत्ति के कारण वेद हैं; एवं इस प्रकार अमर सर्वव्यापी ब्रह्म की स्थिति यज्ञों में निर्धारित की गई है।[1] गीता का उपलक्षित विश्वास है कि मनुष्यों के कल्याण का आधार उपजाऊ भूमि है जिसका आधार वर्षा है; वर्षा का आधार देवताओं का अनुग्रह है; एवं यज्ञों के सम्पादन में ही देवताओं का कल्याण निहित है; यज्ञों की उत्पत्ति वेदों से हुई, वेदों की उत्पत्ति सर्वव्यापी ब्रह्म से हुई, एवं ब्रह्म ही वेदों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। इस प्रकार ब्रह्म से यज्ञ, यज्ञों से देवताओं का कल्याण तथा देवताओं के कल्याण से मनुष्यों के कल्याण एवं उन्नति का सम्पूर्ण चक्र हुआ। इस प्रकार चलाए हुए कर्म या यज्ञ के चक्र को जो इस जगत् में आगे नहीं चलाता उस पापरूप लम्पट का जीवन व्यर्थ है।[2] इस बात में मीमांसा का आदर्श गीता के आदर्श से भिन्न है कि मीमांसा का लक्ष्य व्यक्तिगत कल्याण है एवं गीता का लक्ष्य सार्वजनिक हित है। मीमांसा ने अपने कर्म का प्रेरक वैदिक-नियोग माना जबकि गीता ने यज्ञ-चक्र की प्रक्रिया को चालू रखने के नियम के आज्ञापालन में यज्ञ-सम्पादन के आदर्श को मूल्यार्थक माना है, जिसके द्वारा देवताओं एवं मनुष्यों का संसार उन्नति की उचित अवस्था में रह सके। यज्ञ के लिए किए गए कर्मों के फल मनुष्य को नहीं बांधते। जब कर्म आसक्तियुक्त प्रेरणा से प्रेरित होकर किए जाते हैं तब मनुष्यों को शुभाशुभ फलों से बांधते हैं।[3]

गीता में धर्म शब्द का प्रयोग जैमिनि द्वारा प्रयुक्त धर्म शब्द से भिन्न है अर्थात् अभीष्ट लक्ष्य अथवा यज्ञों द्वारा निर्दिष्ट मंगल (चोदना लक्षणार्थो धर्मः)। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द गीता में मुख्यतया अपरिवर्तनीय प्रचलित वर्ग-धर्म अथवा वर्ण-धर्म के अर्थ में एवं लोगों के लिए सामान्य अनुमोदित आचार-शास्त्र के अर्थ में तथा आचार-शास्त्र की व्यवस्थित योजना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। धर्म शब्द का 'प्राचीन प्रचलित क्रम' के रूप में सम्भवतः प्राचीनतम अर्थ है जैसाकि अथर्ववेद १८.३.१ में भी पाया जाता है (धर्म पुराणं अनुपालयन्ति)[4] मैक्डोनल ने मैत्रायण ४.१.६ कायक ३१.७ एवं तैत्तिरीय ३.२.८ उप्र.२, के प्रसंग में बताता है कि शारी-

---

[1] गीता, ३.१५।

[2] गीता, ३.१६।

[3] गीता, ३.६।

[4] धर्म, एवं धर्मन् शब्द। धर्मन् ऋग्वेद में एवं दोनों उत्तरकाल में 'नियम' अथवा 'रीति' के अर्थ में नियमानुसार प्राप्य है। मैक्डोनल की वैदिक सूची देखिए, —पृ० ३६०।

समझना सुलभ है कि वास्तविक भौतिक यज्ञ से अन्य आत्मोन्नति की पूर्णतया भिन्न विधियों तक यज्ञ शब्द की व्यापकता जो कुछ आत्मोन्नति में सहायक हो उसे यज्ञ समझने का स्वाभाविक परिणाम है। यज्ञ शब्द के साथ कई पवित्र एवं उच्च सम्बन्ध जुड़े हुए हैं एवं आत्मोन्नति के लिए खोजे गए कई नए धार्मिक प्रयत्नों को नए प्रकार का यज्ञ बताया गया है जैसे प्रतिकोपासना को भी एक नए प्रकार का यज्ञ माना गया है। यद्यपि यह सत्य है कि विचारों की उन्नति के साथ-साथ आत्म-बोध के नए-नए साधन विकसित होने लगे फिर भी प्राचीन समुदायों के प्रति उच्च सम्मान होने के कारण प्राचीनतर यज्ञ शब्द नए प्रकार के धार्मिक अनुशासन के सम्बन्ध से प्रयुक्त होने लगा।

परन्तु 'यज्ञ' चाहे कितने ही विभिन्न अर्थों में गीता में प्रयुक्त हुआ हो, यहाँ धर्म शब्द का प्रयोग मीमांसा के विशिष्ट अर्थ में नहीं हुआ है। गीता के अनुसार ब्राह्मणों के लिए यज्ञ करना एवं क्षत्रियों के लिए युद्ध करना आवश्यक है ताकि धर्म अर्थात् परम्परागत कर्म निरंतर गतिशील रहे। परन्तु इसके साथ ही गीता आसक्ति, वासना अथवा किसी प्रकार के स्वार्थ से युक्त कर्म की निंदा करती है। मनुष्य को अपने परम्परागत प्रचलित कर्त्तव्यों को धर्म मानकर बिना किसी आसक्ति के पालन करना चाहिए। मनुष्य जब फलाशा रहित होकर अपना कर्त्तव्य करता है तब वह कर्म उसे बन्धन में नहीं डालता। गीता एक ओर न तो इह लौकिक एवं पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए प्राचीन कर्म आदर्श का अनुसरण करती है और न दूसरी ओर वेदान्त दर्शन अथवा दर्शन के अन्य सिद्धान्तों को ही मानती है जिसके अनुसार मन को अशुद्धियों से पूर्णतया शुद्ध करने के लिए इच्छा त्याग एवं इन्द्रिय निग्रह आवश्यक है ताकि आत्मा की एक रूपता के ज्ञान की अनुभूति हो जाय तथा कर्म के क्षेत्र से भी परे जाना संभव हो जाय। गीता के अनुसार मनुष्य को यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहिए तथा मन से सम्पूर्ण इच्छाओं का त्याग कर देना चाहिए परन्तु इसके साथ-साथ स्वधर्म के प्रति श्रद्धा रखकर अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करना आवश्यक है। परम्परागत वर्णाश्रम धर्म अथवा शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट कर्म के प्रसंग में प्रवृत्त करने वाली शक्ति अपने स्वयं के कर्त्तव्य के आंतरिक नियम के अतिरिक्त कोई नहीं होनी चाहिए।

गीता में इन्द्रिय-निग्रह

कठोपनिषद् में इन्द्रियों की तुलना घोड़ों से करके उन्हें (इन्द्रियां) दुर्निग्रह बताया गया है। गीता कहती है कि (विषयों में) संचार अर्थात् व्यवहार करने वाली इन्द्रियों के पीछे-पीछे मन जो जाने लगता है वही पुरुष की बुद्धि का ऐसे हरण किया करता है जैसेकि पानी में नौका को वायु खींचती है। (इन्द्रियों के दमन करने के लिए) प्रयत्न करने वाले विद्वान् के भी मन को ये प्रबल इन्द्रियाँ बलात्कार से विषयों की ओर खींच लेती हैं। विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष का इन विषयों में

संग बढ़ाया जाता है। फिर इस संग से यह वासना उत्पन्न होती है कि हमें काम (अर्थात् वह विषय) चाहिए और (इस काम की तृप्ति होने में विघ्न होने से) उस काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध से संमोह अर्थात् अविवेक होता है, संमोह से स्मृति भ्रम, स्मृति भ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से (पुरुष का) सर्वस्वनाश हो जाता है।[1] इन्द्रिय और उसके (शब्द स्पर्श आदि) विषयों में प्रीति एवं द्वेष व्यवस्थित है अर्थात् स्वभावत: निश्चित है। प्रीति और द्वेष के वश में न जाना चाहिए (क्योंकि) ये मनुष्य के शत्रु हैं। प्रत्येक विशिष्ट इन्द्रिय अपने-अपने राग और द्वेष के रूप में दो शत्रु है। गीता बार-बार नरक के तीन दरवाजों के रूप में काम, क्रोध और लोभ के दुष्परिणाम को घोषित करती है। जिस प्रकार धुएँ से अग्नि, धूलि से दर्पण, और झिल्ली से गर्भ ढका रहता है उसी प्रकार उपर्युक्त तीनों से (काम, क्रोध और लोभ) यह सब ढका हुआ है।[2] इन्द्रिय निग्रह की कठिनाई को अर्जुन ने श्रीकृष्ण के समक्ष इस प्रकार प्रस्तुत की–'हे कृष्ण ! मेरा मन चंचल, हठीला, बलवान और दृढ़ है। वायु के समान अर्थात् हवा की गठरी बांधने के समान इसका निग्रह करना मुझे अत्यन्त दुष्कर दिखाई देता है।[3] जबतक इन्द्रियां वश में नहीं कर ली जाती तबतक यथार्थ योगोपलब्धि नहीं हो सकती।

पाली भाषा के धम्मपद ग्रन्थ में भी काम एवं क्रोध को जीतने के बारे में इसी प्रकार के विचार पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ 'अमुक ने मुझे गाली दी है, मुझे पीटा है, मुझे परास्त किया है, मुझे लूट लिया है'–जो लोग ऐसे विचारों पर चिन्तन नहीं करते, वे द्वेष-मुक्त हैं। द्वेष की समाप्ति द्वेष द्वारा नहीं अपितु प्रेम द्वारा होती है; यह प्राचीन विधि है। जिस प्रकार वायु निर्बल वृक्ष को गिरा देता है उसी प्रकार मार उस व्यक्ति को दबा लेता है जो सुखों के पीछे दौड़ता है; जिसकी इन्द्रियां उसके वश में नहीं है; जो अयुक्ताहारी है जो प्रमादी है, एवं स्त्री संगी है। जैसे टूटे-फूटे छप्पर वाले मकान से वर्षा का जल टपकता रहता है उसी प्रकार अनियंत्रित मस्तिष्क में कुभावों का प्रादुर्भाव होता है।[4] आगे चलकर मन के सम्बन्ध में यह लिखा है 'जिस प्रकार तीर बनाने वाला अपने तीर में समता स्थापित करता है उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य अस्थिर, चंचल मन का शमन करता है जिसे रोकना और नियंत्रित करना कठिन है। बुद्धिमान मनुष्य अपने अचिन्त्य, सूक्ष्म एवं इधर-उधर भटकने वाले मन को जीते। जित मन वरदान स्वरूप है।'[5] पुनश्च–'न तो दिगम्बर रहने से, न जटा

---

[1] गीता, २.६०,६२,६३।

[2] गीता, ३.३४,३७,३८,३९; १६.२१।

[3] गीता, ६.३४।

[4] धम्मपद (पूना, १९२३) १,४,५,७,१३।

[5] धम्मपद, २ ३.३६.३८।

वारण करने से, न मैले अथवा गंदे रहने से, न व्रत रखने से, न धरती पर सोने से, न भस्म रमाने से, और न हठयोग से, काम निर्मुक्त मनुष्य की शुद्धि हो सकती है।'[1] पुनश्च-राग से शोक एवं शोक से भय उत्पन्न होता है। जो राग से वियुक्त है उसे न तो शोक एवं न भय ही लगता है। मोह (पेमातो) से शोक एवं भय उत्पन्न होता है। जो निर्मोही है उसे न तो शोक है एवं न भय है। रति से शोक एवं भय उत्पन्न होता है। जो अरति है उसे शोक एवं भय नहीं है। काम से शोक और भय उत्पन्न होते हैं। जो कामजित है उसे शोक एवं भय नहीं है। तृष्णा (तण्हा) से शोक एवं भय उत्पन्न होते हैं। जो तृष्णा रहित है वह निडर एवं अशोक है।[2]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि गीता एवं धम्मपद इन्द्रिय निग्रह की प्रशंसा करते हैं तथा तृष्णा, राग, क्रोध एवं शोक को महाशत्रु मानते हैं। परन्तु गीता की शैली धम्मपद से इस अर्थ में भिन्न है कि धम्मपद में तो विभिन्न विषयों पर पृथक् नैतिक उपदेश हैं जबकि गीता मनोविग्रह को शान्ति, तुष्टि एवं निष्कामता का साधन मानती है जिससे मनुष्य अपने सर्वकर्मों को ईश्वरार्पण करने में एवं निष्काम कर्म करने में समर्थ होता है। गीताकार जानता है कि इन्द्रियों को, मन को और बुद्धि को (काम एवं क्रोध का) अधिष्ठान अर्थात् घर या गढ़ कहते हैं। इनके आश्रय से ज्ञान को लपेट कर (ढककर) यह मनुष्य को भुलावे में देते हैं।[3] शीतोष्ण या सुख-दुःख देने वाले मात्राओं अर्थात् वाह्य सृष्टि के पदार्थों के (इन्द्रियों से) जो संयोग है, उनकी उत्पत्ति होती है और नाश होता है। (अतएव) वे अनित्य अर्थात् विनाशवान् है इसलिए उन्हें चुपचाप सहन करना चाहिए।[4] सामान्य एवं अध्यात्मज्ञान को विरूप करने वाले वासना रूपी दैत्य को मनोनिग्रह द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है। परन्तु इस वासना रूपी दैत्य को मारना अत्यन्त दुष्कर है क्योंकि वह सदा नए-नए रूपों में प्रकट होता है। हमारी बुद्धि से परे आत्मा की अपने अन्दर अनुभूति करके ही मनुष्य श्रेष्टतर आत्मा के द्वारा निम्नात्मा को नियंत्रित कर सकता है एवं अपनी इच्छाओं को निर्मूल कर सकता है। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। मनुष्य को सदा अपने द्वारा अपना उत्थान करना चाहिए न कि पतन। सब प्रकार के मनोनिग्रह का परम् लक्ष्य मनुष्य को स्थित प्रज्ञ बनाना है ताकि वह ब्रह्मात्मैक्य रूप हो जाय।[5]

---

[1] वही, १०.१४१।

[2] वही, १६, २१२–२१६।

[3] गीता, ३–४०।

[4] वही, २.१४।

[5] गीता, २,६१; ३.४१,४३; ६.५.६।

गीता में इन्द्रियाँ, मन को अपने साथ खींचने वाली कही गई है। इन्द्रियाँ निरंतर अस्थिर एवं चंचल है एवं वे मन को भी वैसा ही बना देती है। जिसके परिणामस्वरूप तूफान के सामने समुद्र में नौका की तरह मन इधर-उधर भटक जाता है तथा चित्त एवं प्रज्ञा की स्थिरता नष्ट हो जाती है। गीता में प्रज्ञा का अर्थ चित्त, बुद्धि अथवा मानसिक वृत्तियों से है। प्राय: इसी अर्थ में वृहदारण्यक उपनिषद् में (४.४.२१) तथा माण्डूक्योपनिषद् (७) में कुछ-कुछ भिन्नार्थों में 'प्रज्ञा' का अर्थ उपनिषद् एवं गीता से बिल्कुल भिन्न है। उदाहरणार्थ पतंजलि मन को किसी विषय पर स्थिर करने से उत्पन्न अपरोक्षानुभूति में चित्शक्ति के विशेपार्थ में 'प्रज्ञा' को प्रयुक्त करते हैं एवं योगारूढ़ के अनुरूप सात अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। जैसाकि कहा जा चुका है, गीता में प्रज्ञा का अर्थ विचार अथवा मानसिक प्रवृत्ति है। इसका अर्थ ज्ञान अथवा विज्ञान नहीं है। इसका तात्पर्य ज्ञान के संकल्पात्मक पहलू से है। जयाख्य-सहिता के पंचरात्र ग्रन्थ में यम नियम इत्यादि के क्रियाख्यज्ञान के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। उसका अर्थ उस बौद्धिक दृष्टिकोण से है जो मानसिक प्रवृत्तियों अथवा झुकाव से समग्र रूप से संबंधित है एवं निर्णायक है। जिन-जिन विषयों में इन्द्रियाँ उन्मत्त की भाँति विषयों में नृत्य करती हुई जाती है, मन उनका अनुकरण करता है। तब मन को दिशा बताने वाली प्रज्ञा का भी हरण हो जाता है। जबतक बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं होती तबतक मन निश्चल होकर अपने कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता। इन्द्रियों को वश में करने का मुख्य उद्देश्य प्रज्ञा को स्थिर करना है (वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञाप्रतिष्ठिता)। 'प्रज्ञा' एवं 'धी' दोनों ही गीता में समानार्थक माने गए हैं। दोनों का अर्थ मानसिक झुकाव है। इस मानसिक झुकाव में सम्भवत: बौद्धिक दृष्टिकोण एवं उसी के अनुरूप संकल्पात्मक प्रवृत्ति निहित है। मनोनिग्रह से प्रज्ञा स्थिर होती है। और गीता 'स्थित प्रज्ञ' एवं 'स्थित धी' (अर्थात् जिनकी भावनाएँ एवं चित्त स्थिर हो गए हैं)[१] की प्रशंसा से भरी पड़ी है। निरंतर विषयों का चिन्तन करने से उनमें संग उत्पन्न होता है; संग से काम, एवं काम से क्रोध उत्पन्न होता है इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार सब दुर्गुण इन्द्रियों के संग से उत्पन्न होते हैं और जो व्यक्ति विषय भोग में निरत रहता है वह वासनाओं द्वारा आगे (पतन की ओर) धकेला जाता है। अत: जिस प्रकार कछुआ अपने (हाथ पैर आदि) अवयव सब ओर से सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष इन्द्रियों के (शब्द, स्पर्श आदि) विषयों से (अपनी) इन्द्रियों को खींच लेता है, तब (कहना चाहिए कि) उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। मनोनिग्रह का प्रत्यक्ष परिणाम संकल्प, मानसिक भावनाओं एवं प्रज्ञा की स्थिरता है। दुःख में जिसके मन को खेद नहीं होता, सुख में जिसकी आसक्ति नहीं और प्रीति भय एवं

---

[१] २.५४-५६।

क्रोध जिसके छूट गए हैं उसको स्थित प्रज्ञ मुनि कहते हैं।[1] सब बातों में जिसका मन निःसंग-हो गया है और यथा-प्राप्त शुभ अशुभ का उसे आनन्द या विशाद भी नहीं है।[2] केवल उसे ही (सच्ची) शान्ति मिलती है; जिसकी चारों ओर से (पानी) भर जाने पर भी नहीं डिगती, ऐसे समुद्र में जिस प्रकार सब पानी चला जाता है, उसी प्रकार उस पुरुष में समस्त विषय प्रवेश करते हैं। विषयों की इच्छा करने वाले को (यह शान्ति) नहीं (मिलती)। जो पुरुष सब काम, अर्थात् आसक्ति छोड़कर और निस्पृह होकर (व्यवहार में) वर्तता है, एवं जिसे ममत्व एवं अहंकार नहीं होता उसे ही शान्ति मिलती है। जिसका आत्मा अर्थात् अन्तःकरण अपने आधीन है, वह (पुरुष) प्रीति और द्वेष से छूटी हुई अपनी स्वाधीन इन्द्रियों से विषय-भोग करते हुए भी प्रसन्न चित्त रहता है। चित्त प्रसन्न रहने से उसके सब दुःखों का नाश हो जाता है क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न है उसकी बुद्धि भी तत्काल ही स्थिर हो जाती है (बुद्धिपर्यवतिष्ठते)।[3] इस प्रकार मनोनिग्रह से एक ओर तो मन शांत, स्थिर एवं संतुष्ट होता है और दूसरी ओर इसके परिणामस्वरूप योग को प्राप्त करना संभव हो जाता है। (साधक के लिए) योगारूढ़ के लिए इन्द्रियों का संयम अनिवार्य है। उसकी प्राप्ति हो जाने पर निरंतर अभ्यास से (इस योग का) प्राप्त होना सम्भव है।[4] इस प्रकार मनोनिग्रह से संकल्प और चित्त को स्थिर करके संतोष एवं शान्ति प्राप्त की जा सकती है तथा मन योग के लिए समर्थ बनता है।

गीता के अध्ययन में जिस तथ्य विशेष पर ध्यान आकर्षित होता है, वह यह है कि गीता में आत्म नियंत्रण का लक्ष्य विमुक्त एकात्मकता अथवा सभी मानसिक व्यापारों की समाप्ति नहीं है अपितु चित्त की स्थिरता अधिक बुद्धिगम्य तथा सामान्य ज्ञान विषयक आदर्श है। अतएव, आत्म नियंत्रण के लक्ष्य का यह विचार पतंजलि तथा अन्यों के दर्शनों में प्रशंसित विचार से सर्वथा भिन्न है। गीता हमसे यह चाहती है कि हम अपनी इन्द्रियों तथा मन पर नियंत्रण करें तथा इन्द्रिय विषयों के पास इस प्रकार के नियंत्रित मन तथा इन्द्रियों के साथ जाएं, क्योंकि इस साधन द्वारा ही हम अपने कार्यों को शान्त तथा संतुष्ट मन द्वारा संपादित कर सकते हैं तथा ईश्वर के प्रति शुद्ध तथा शान्त चित्त के साथ उन्मुख हो सकते हैं।[5] इस आत्म नियंत्रण का

मुख्य वल केवल बाह्य इन्द्रियों के नियंत्रण पर न होकर इन इन्द्रियों के पीछे मन के नियंत्रण पर है। केवल शारीरिक इन्द्रियों को वश में करते हुए मन इन पर विचार करने वाला मिथ्याचारी होता है। वास्तविक आत्मनियंत्रण इन्द्रियों के बाह्य कार्यव्यापारों की समाप्ति न होकर मन का नियंत्रण है। को केवल आत्म संतुष्टि के लिए लोभ तथा इच्छा द्वारा प्रेरित कर्मों से निवृ नहीं होना चाहिए, अपितु उसके मन को पूर्णतया शुद्ध तथा इन्द्रिय-इच्छाओं कलुषताओं से सर्वथा मुक्त होना चाहिए। मन के नियंत्रण तथा इच्छाओं की सम के बिना केवल शारीरिक कर्म का निरोध कुत्सित मार्ग है।'[1]

गीता का नीति शास्त्र एवं बौद्ध नीति शास्त्र

इन्द्रिय निग्रह का विषय स्वभावत: बौद्ध दर्शन की याद दिलाता है। वैदिक ध में यज्ञ यागादि का पालन प्रधान कर्त्तव्य समझा जाता था। वैदिक विधि-निषेध पालन तथा उल्लंघन में क्रमश: पुण्य एवं पाप समझा जाता था। यह बताया ज चुका है कि इन विधि निषेधों में विधि का अर्थ निहित था जिसका पालन आवश्यक समझा जाता था। परन्तु यह नियम मानव के अन्दर रहने वाली आत्मा का आंतरिक नियम नहीं है प्रत्युत एक वाह्य नियम मात्र है जिसका अर्थ नैतिकता के आधुनिक नियम से भिन्न है। इसका क्षेत्र प्राय: पूर्णतया कर्मकांडमय था और इसके अन्तर्गत कहीं-कहीं इस प्रकार के आदेश हैं 'कोई किसी की हिंसा नहीं करे।' यद्यपि मानव हिंसा का दंड तो प्रत्येक को भुगतना ही पड़ता है फिर भी शत्रुओं के नाश के हेतु अनुष्ठान रूपी कुछ यज्ञ यागादि में हिंसा होते हुए भी उसमें वेदाज्ञा है। आगे चलकर यद्यपि पश्चाद्वर्ती सांख्य टीकाओं और संग्रहीत ग्रन्थों में यह कहा गया है कि किसी भी प्रकार की जीव हिंसा का दंड तो भुगतना ही पड़ता है। फिर भी यह संदेहास्पद है कि 'हिंसा मत करो'की वेदाज्ञा सब प्राणी मात्र पर लागू होती है या नहीं क्योंकि बिना पशु-वलि के कोई यज्ञ सम्भव नहीं। उपनिषदों ने यज्ञ-यागादि के स्थान पर उपासना एवं आत्म ज्ञान की एक पूर्णतया नई विधि प्रारम्भ की। औपनिषद विचारधाराओं की प्राथमिक अवस्था में इस सिद्धान्त का विकास होने लगा कि यज्ञ यागादि के बजाय विचार द्वारा किसी विशिष्ट वस्तुओं की अन्य वस्तुओं से (जैसे अश्वमेध के अश्व के बजाय उषा) अथवा प्रतीकात्मक वर्ण ओम् इत्यादि से

---

[1] द्र०, धम्मपद, १.२। सभी जागतिक प्रपंचों का स्रोत मन है, वे मन पर निर्भर होते हैं तथा मन द्वारा निर्मित होते हैं। शुद्ध मन के साथ बोलने तथा कर्म करने वाले व्यक्ति को सदैव प्रसन्नता की प्राप्ति होती है, ठीक वैसे ही जैसेकि छाया सदैव मनुष्य का अनुगमन करती है।

ऐक्य स्थापित करके निश्चित उपासना की रीति अपनाई जा सकती थी। औपनिषद् संस्कृति की अधिक विकसित अवस्था में परंतत्व अथवा ब्रह्म की खोज के लिए नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया, और ब्रह्म ज्ञान को मानव एवं प्रकृति का परं सार समझकर उसकी खोज करना परं ज्ञान अथवा परंलक्ष्य समझा गया है तथा बाकी सब पुरुषार्थ उसके गौण समझे गए हैं। उपनिषदों में कोई नैतिक नियम नहीं है और नैतिक संघर्ष एवं नैतिक प्रयत्नों का सम्पूर्ण विषय ही या तो निकाल दिया गया है और या कहीं प्रसंग है भी तो उस पर अधिक जोर नहीं दिया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् १-११ में वेद शिक्षा के पश्चात् शिष्य को नैतिक शिक्षा देना गुरु का कर्त्तव्य बताया गया है—सत्य बोलो, धर्म का पालन करो, स्वाध्याय को मत छोड़ो, (शिक्षा की समाप्ति पर) शिष्य गुरु को नियत दक्षिणा देने के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। उसे सत्य, धर्म अथवा शुभ से विचलित नहीं होना चाहिए। उसे परहित, स्वाध्याय एवं शिक्षा देना बंद नहीं करना चाहिए। उसे गुरु एवं माता-पिता का आदर करना चाहिए और दोषरहित कर्म करना चाहिए। उसे केवल सुचरित का ही सेवन करना चाहिए दूसरों का नहीं। उसे श्रद्धायुक्त होकर दान देना चाहिए न कि अवज्ञा से, (गौरव से) लोक लाज से, भय से एवं ज्ञानाभिमान से। यदि कर्त्तव्य अथवा आचरण के विषय में कोई संदेह हो तो जिस पथ से बुद्धिमान ब्राह्मण (महाजन) गए हों वही पथ स्वीकार करना चाहिए। परन्तु इस प्रकार की नैतिक शिक्षाएँ कोई एक उपनिषद् ही देते हैं एवं सदाचार के सम्बन्ध में अथवा परं तत्व की प्राप्ति के हेतु नैतिक प्रयत्न पर जोर देने के सम्बन्ध में उपनिषदों में बहुत कम सामग्री मिलती है। उपनिषद रहस्यवादी उपासनाओं एवं आत्म ज्ञान के दर्शन के प्रतिपादन-शास्त्र में प्रायः लीन है। फिर भी बृहदारण्यक उपनिषद् ४.४.२७ में आत्म-साक्षात्कार के हेतु इन्द्रियनिग्रह, कामनाओं का शमन एवं निरोध, तितीक्षा, एवं एकाग्रता को आवश्यक साधन माना गया है।[1] कठोपनिषद् ६.११ में इन्द्रिय-धारणा को योग कहा गया है एवं मंडूकोपनिषद् में कहा गया है कि सकाम कामनाओं से मनुष्य का आवागमन होता रहता है परन्तु इह लोक में ही जिसने आत्म-साक्षात्कार कर लिया है और आत्मा में ही तुष्ट है वह सर्ववासना शून्य हो गया है।[2] ज्ञान-मार्ग कर्मकांड से भिन्न होने की जानकारी उपनिषदकारों को थी और यह निश्चित धारणा थी कि विद्याभीप्सित वासनाओं से कभी आकृष्ट नहीं होता।[3]

---

[1] शान्तो दात उपरत, स्तितिक्षुः, समाहितो भूत्वात्मन्येव आत्मानं पश्यति।
—बृहदारण्यक, ४.४.२३।

[2] कामान्यः कामयते मन्यमानः संकाममिर्जायते तत्र-तत्र पर्याप्त कामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः (मुंडक ३.२.२)।

[3] कठ, २.४।

अणंगनम्,	अपवित्रता, वासना सुना० ५१७
अहण्कारो,	स्वार्थ, अहङ्कार
मामण्कारो,	इच्छा
ममयितम्, (ममत्तम)	स्वार्थ
ममत्तम्,	स्वायात्त करना, अहंकार
अपेक्खा,	इच्छा, कामना, स्नेह
इक्खा,	इच्छा, लोभ
इजा (ईहा)	इच्छा, कामना, लोभ
आसा,	इच्छा
पिपासा,	प्यास
इसा, एषणा,	इच्छा, चाह, प्यास
आकांखा,	आकांक्षा
किञ्चनम्,	लगाव
गंथो,	बांधना
आदना गंथो	आसक्ति बंधन
गिद्धि	लोभ, इच्छा
गेधो	लोभ, इच्छा
ग्रहनम्	ग्रहण करना
गाहो	आसक्ति, मोह
जालिनि,	इच्छा, काम, अविग्रहण
परिग्गाहो,	आसक्ति, महानिद ५७
चांदो,	इच्छा, कामना, अभिप्राय सु० ना० १७१,२०३ आदि
जाता,	कामना, वासना, सु० ना० १.१३
जिगिमिश्नाता,	लोभ, इच्छा, विमंगा, ३५३
निजिगिमिश्नाता,	लोभ
तण्हा, तसिना,	अतृप्ति, वासना
उपादाणम्,	आसक्तिपूर्ण ग्रहण
पणिधि,	इच्छा, अभीप्सा, सु० ना० ८०१
पिहा,	स्पृहा
पेमम्,	प्रेम
बंधो,	बंधन

अघातो, क्रोध
पाटिघो, क्रोध

बंधनम्,	बंधन	दोसो, क्रोध, घृणा
निबंधो	आग्रह	विद्देसो, विद्वेष
विनिबन्धनम्,	बन्धन	धूमो, क्रोध
अनुबन्धो,	अनुबन्ध	उपनाहो, शत्रुता
उपनिबंधो,	उपोद्घात्	व्यापादो, प्रहारेच्छ, घृ
परिबन्धो,	योजन	
रागो,	मानवीय वासना, बुराई, वासना, पैस्सिम	
सरागो,	सराज्जना, साराजितत्तम्, स्नेह, वासना महानिद २४२	
रति,	वासना, भोगवृत्ति	अनाभिरद्धि-क्रोध
मनोरथो	मनोरथ	
रुचि	इच्छा, रुझान सुना ७८१	वैरम्, शत्रुता
अभिलासो,	इच्छा, कामना	विरोधो, विरोध
लालसा,	लालसा	
आलयो	कामना, वासना	रोसो, क्रोध
लोभो	कामना	
लोभनम्	लुभाना	रोसनम्, क्रोध
लुभाना, लोभितत्तम्, लोभित्त्व		व्यारोसनम्, क्रोध
वनम्,	इच्छा, वासना	अन्नानम्, उपेक्षा
वनथो,	प्रेम, वासना	मोहो, मोह, मूर्च्छा
नवेस्सनम्,	अधीष्ठित करना	
सङ्गो,	वेड़ी, बंध, लगाव	मोहनम्, अविद्या सुना ३९६,७७२
आसत्ति,	आसक्ति, सटकना, अधिष्ठित होना, लगाव।	
विसट्टिका,	विषाक्तता, इच्छा	अभिज्जा, अज्ञान, भ्रम, वासना
संथवम्,	मित्रता, लगाव	
उस्सदो,	उत्सव	
स्नेह, सिनेहो	नेहवासना	
असायो,	आसन, अभिप्राय, रुझान	
अनुसायो,	झुकाव	
सिब्बाणि,	कामना	
कोधो,	क्रोध	
कोपो,	क्रोध	

यह एक रोचक बात है कि लोभ, द्वेष, अविद्या—इन तीन दुर्गुणों को, विशेषतया लोभ को अनेक नाम दिए गए हैं एवं विभिन्न उपायों द्वारा उनको विनाश करने पर बल दिया गया है। उपरोक्त तीनों (लोभ, द्वेष और अविद्या) सम्पूर्ण पापों के मूल है। निस्सदेह उन ग्रन्थों में कुछ सरलतर आदेश भी पाए जाते हैं, उदाहरणार्थ हिंसा, स्तेय, व्यभिचार, असत्य एवं नशा नहीं करना तथा इनमें से स्वर्ण की चोरी, नशा करना, गुरु-पत्नि संभोग एवं ब्रह्म हत्या के निषेध का छान्दोग्य उपनिषद् ५.१० ६–१० में उल्लेख है।[1] परन्तु छांदोग्य ने केवल ब्रह्म हत्या को पाप माना है जबकि बौद्ध जीव मात्र की हिंसा का निषेध करते हैं। शेष इन दुर्गुणों का एवं अष्टांगशील तथा दशकुशल कर्म के विरुद्ध दुर्गुणों का लोभ द्वेष एवं अविद्या में समावेश है। गीता के नीतिशास्त्र का आधार मुख्यतया संग एवं कामना से छुटकारा पाना है जिनसे लोभ आशंका एवं तत्पश्चात् क्रोध उत्पन्न होते हैं। परन्तु बौद्ध दर्शन में अविद्या को संपूर्ण दोषों का स्रोत कहा है जबकि गीता में इस शब्द का उल्लेख भी नहीं है। बौद्ध दर्शन के द्वादश निदान चक्र में यह कहा गया है कि अविद्या से संस्कार उत्पन्न होते हैं तथा संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम रूप, नाम रूप से षड़ायतन, इन्द्रिय स्पर्श, स्पर्श से भाव, भाव से तृष्णा, तृष्णा से उपादान (वस्तुओं से चिपके रहना) उपादान से भव, भव से जाति (जन्म) एवं जाति जरा व्याधि एवं मृत्यु उत्पन्न होती है। यदि अविद्या समाप्त कर दी जाय तो उसके साथ ही साथ पूरे भव-चक्र की समाप्ति हो जाती है। यद्यपि भव-चक्र में अविद्या एवं तृष्णा अत्यन्त दूरस्थ हैं तथापि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तृष्णा अविद्या से ही तुरन्त उत्पन्न होती है एवं तृष्णा की पूर्ति नहीं होने से क्रोध और द्वेष उत्पन्न होता है। गीता में आरम्भ ही राग एवं काम से होता है। बौद्ध शब्द तृष्णा (तन्हा) का उल्लेख गीता में नहीं के बराबर है। जबकि औपनिषद् शब्द 'काम' गीता में तृष्णा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। गीता कोई दार्शनिक ग्रन्थ नहीं है जो आसक्ति के कारणों का गम्भीरतापूर्वक शोध करने का प्रयत्न करे अथवा आसक्तिरहित होने का कोई व्यावहारिक पथ प्रदर्शन ही करे। शंकर द्वारा प्रतिपादित वेदान्त दर्शन में सर्वदोषमय जगत् के मूल को अनिर्वचनीय अविद्या माना गया है। योग ने पांच क्लेशों को हमारे सब सांसारिक अनुभवों का स्रोत माना है। अज्ञान, अहंकार, वासना, राग-द्वेष एवं अभिनिवेश तथा पिछले चार का मूल स्रोत अज्ञान है।

---

[1] अष्टांग अशील की एक अन्य सूचि भी है, बौद्ध ग्रन्थ में है। हिंसा नहीं करना, चोरी नहीं करना, काम स्त्री सम्बन्ध नहीं करना, असत्य नहीं बोलना, नशा नहीं करना, निषिद्ध समय पर खाना, नृत्य एवं संगीत से तथा इत्यादि तथा मालाओं से शरीर को विभूषित करना। एक और दूसरी सूचि है जिसे दशकुशल काम कहते हैं हिंसा नहीं करना, चोरी नहीं करना। स्त्री सम्बन्ध नहीं बोलना, गाली नहीं निकालना, दुर्भावना नहीं बोलना, लोभ नहीं करना, कंजवात्मक और द्वेषात्मक।

गीता में वासना आदि (आसक्ति, मोह) का श्रोत कोई उच्चतर तत्व नहीं बताया गया है। गीता में शब्द अज्ञान का प्रयोग छः सात स्थानों पर ज्ञानाभाव के अर्थ में किया गया है। परन्तु इस 'अज्ञान' का तात्पर्य कोई तात्विक सिद्धान्त अथवा कार्य-कारण श्रृंखला के चरम सिद्धान्त से नहीं है बल्कि इसका प्रयोग तो वस्तु के यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध मिथ्या ज्ञान अथवा अज्ञान के अर्थ में हुआ है। इस प्रकार एक स्थल पर यह कहा गया है कि ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पड़ा रहने के कारण (अर्थात् माया से) प्राणी मोहित हो जाते हैं।[1] आगे चलकर कहा गया है कि ज्ञान से जिनका अज्ञान नष्ट हो जाता है उनके लिए[2] उन्हीं का ज्ञान परमार्थ तत्व को सूर्य के समान, प्रकाशित कर देता है। एक अन्य स्थल पर ज्ञान और अज्ञान दोनों की परिभाषा दी गई है। अध्यात्म-ज्ञान को नित्य समझा गया है एवं तत्व ज्ञान के सिद्धान्तों के परिशीलन को ही ज्ञान कहा गया है। इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह सब अज्ञान है।[3] दूसरे स्थल पर अज्ञान को तमस् का परिणाम कहा गया है एवं दो अन्य स्थलों पर तमस् को अज्ञान की परिणति कहा गया है। दूसरी ओर कहा गया है कि लोग अज्ञान से मोहित हो जाते हैं तथा सोचते हैं 'मैं धनवान हूं, मैं कुलीन हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ-यागादि करूंगा, दान दूंगा एवं आनन्द भोगूंगा।'[4] एक दूसरे स्थल पर अज्ञान को संशयोत्पादक कहा है तथा कृष्ण का गीता-प्रवचन अज्ञान के उत्पन्न अर्जुन के मोह को दूर करने वाला है।[5] इससे यह स्पष्ट है कि यद्यपि 'अज्ञान' विविध प्रसंगों में प्रयुक्त हुआ है—या तो साधारण अज्ञान और या यथार्थ पूर्ण अध्यात्म ज्ञान का अज्ञान। अज्ञान को कहीं भी आसक्ति अथवा वासनाओं का श्रोत नहीं कहा गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि गीता का इस सिद्धान्त से विरोध है कि अज्ञान द्वारा संग एवं वासना उत्पन्न होते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि गीता को संग एवं वासना के मूल श्रोत को जानने में कोई रुचि नहीं है बल्कि उनके अस्तित्व में विश्वास व्यक्त किया गया है। शान्ति तथा समत्व बुद्धि के लिए उनके (संग एवं वासना) नाश की आवश्यकता समझी गई। बौद्ध हीनयान नीतिशास्त्र एवं व्यावहारिक अनुशासन के अन्तर्गत शील, समाधि, प्रज्ञा आते हैं। शील का अर्थ सुचरित्र का पालन एवं निषिद्ध कर्मों का त्याग है।[6] शील का

---

[1] अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ५.१५।

[2] ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ५.१६।

[3] अध्यात्मज्ञान नित्यत्वं तत्व ज्ञानार्थ दर्शनम्।
एतज्ज्ञानं इति प्रोक्तं, अज्ञानं यदतोऽन्यथा। —१३.१२।

[4] गीता, १४,१६,१७; १०.११; १४.८।

[5] वही, ५.१६।

[6] गीता, ४.४२; १८.७२।

तात्पर्य उन विशिष्ट मानसिक एवं संकल्पात्मक धारणाओं आदि से है जिनके द्वारा मनुष्य अधर्म के पथ से हटकर सदाचार में स्थित रहता है। इस प्रकार शील का अर्थ (१) चेतना (२) चेतसिक (३) संवर और (४) उपरोक्त तीन शीलों के अनुसार मन में पहले से उत्पन्न सदाचरण की भावना का (शरीर एवं वाणी द्वारा) क्रियात्मक अनौल्लंघन जिसे अवृत्तिकाम कहते हैं। संवर पाँच प्रकार का होता है उदाहरणार्थ–(१) प्रतिमोकवसवर निग्रह जो पालन कर्त्ता की रक्षा करता है। (२) सति संवर (सावधानी युक्त निग्रह) (३) नाना संवर (ज्ञान का संवर) (४) खान्ति संवर (धैर्य का संवर) (५) विरीय संवर (संयम का संवर) पातिमाक्ख संवर का अर्थ सामान्य रूप से मनोनिग्रह है। सति संवर का अर्थ अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सावधानीपूर्वक सम्यक् एवं शुभ संस्कारों को प्राप्त करना है। प्रलोभन के सम्मुख होते हुए भी सावधानी के कारण मनुष्य उसके प्रलोभनात्मक स्वरूप की अवज्ञा करता हुआ एवं उससे परे सदाचार प्रवर्त्तक स्वरूप पर ध्यान देता हुआ संमोहित होने से रुकेगा। खान्ति संवर उसे कहते हैं जिससे मनुष्य शीत एवं उष्ण में सम रह सकता है। शील के उचित पालन द्वारा हमारी सम्पूर्ण शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक क्रियाएँ व्यवस्थित, संगठित एवं स्थिर हो जाती है। शील का अभ्यास ध्यानाभ्यास के लिए है। प्रारम्भ में मनुष्य को खान-पान की खोज करने से उत्पन्न अनेक प्रकार के दुःख एवं उनके विविध प्रकार के दुर्गंधयुक्त शारीरिक तत्वों के रूप में अन्तिम घृणात्मक विकार के रूप में (रक्त, मल, मूत्र, मज्जा इत्यादि के रूप में) खान-पान की तृष्णा को निरंतर घृणा की दृष्टि से देखने की आदत डालनी चाहिए। उसे अपने मन को इस विचार से अभ्यस्त करना चाहिए कि हमारे शरीर के भाग चार तत्वों से बने हुए हैं जैसे क्षिति जल इत्यादि। उसे शील के दान, मृत्यु के स्वरूप, एवं निर्वाण के गुण एवं गहन स्वरूप के शुभ परिणामों पर विचार करना चाहिए तथा सर्व मैत्री, सर्वदया, सर्वसुख एवं उन्नति में सुख मानना चाहिए तथा स्वयं के, अपने मित्र के, अपने शत्रु के अथवा तीसरे दल के पक्षपात में उदासीन रहने की चतुर्विध उपासना के रूपों में ब्रह्म विहार का अभ्यास करना चाहिए।[1]

गीता इनमें से किसी यम नियम का विवेचन नहीं करती। वह न तो सर्व हितवाद का ही उपदेश करती है और न महायान नीति शास्त्र की तरह विश्वास करती है कि मनुष्य केवल परहित के लिए ही जिए। गीता, धैर्य के गुणों में, सुन-शक्ति में एवं सर्व वस्तुओं के निस्सार होने के यथार्थ ज्ञान एवं उपासना में विश्वास नहीं करती। जो व्यक्ति साधु-जीवन व्यतीत करने का व्रत धारण करता है वह परहित जीवन का व्रत लेता है जिसके हेतु वह अपने निज सर्व सुख को बलि देने को तत्पर

निर्धारित किए गए हैं। इस प्रकार ब्राह्मण का स्वभाव जन्य कर्म शम, दम, तप, पवित्रता, शान्ति (क्षमा), सरलता (आर्जव), ज्ञान अर्थात् अध्यात्म ज्ञान, विज्ञान अर्थात् विविध ज्ञान और आस्तिक्य बुद्धि है। शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और प्रजा पर शासन करना क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म हैं। कृषि अर्थात् खेती, गोरक्ष यानी पशुओं को पालने का उद्यम और वाणिज्य अर्थात् व्यापार वैश्यों का स्वभाव जन्य कर्म है और इसी प्रकार सेवा करना शूद्रों का स्वाभाविक कर्म है। अपने-अपने (स्वभावजन्य गुणों के अनुसार प्राप्त होने वाले) कर्मों में नित्य रत (रहने वाला) पुरुष (उसी से) परम सिद्धि पाता है। प्राणि मात्र की जिससे प्रवृत्ति हुई है और जिसने सारे जगत् का विस्तार किया है अथवा जिससे सब जगत् व्याप्त है, उसका अपने (स्वधर्मानुसार प्राप्त होने वाले) विशिष्ट कर्मों के द्वारा (केवल वाणी अथवा पुष्पों से ही नहीं) पूजा करने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्ति होती है। अपने स्वधर्म का पालन करने वाले को कोई दोष नहीं लगता। चाहे किसी का वर्ण धर्म दोषयुक्त भी हो, तो भी उसके लिए अपने धर्म का पालन करना अनुचित नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण आरम्भ अर्थात् उद्योग (किसी न किसी) दोष से वैसे ही व्याप्त रहते हैं जैसेकि धुएँ से आग घिरी रहती है।[1] अर्जुन को क्षत्रिय होने के कारण अपने स्वधर्म के पालन रूप रणक्षेत्र में शत्रुओं से युद्ध करने की प्रेरणा दी जाती है। यदि वह अपने शत्रुओं को युद्ध में जीत लेगा तो पृथ्वी का राज्य भोगेगा एवं यदि युद्ध में मर जाएगा तो अपने स्वधर्म पालन के कारण स्वर्ग प्राप्त करेगा। यदि वह युद्ध नहीं करेगा (जो उसका कर्त्तव्य है) तो उसकी केवल अपकीर्त्ति ही नहीं होगी अपितु उसके स्वधर्म का उल्लंघन भी होगा।

इस आदेश के विरुद्ध यह स्वाभाविक आपत्ति उठती है कि युद्ध में हिंसा तो अनिवार्य है। परन्तु इसके उत्तर में कृष्ण इस प्रकार कहते हैं कि अनासक्त होकर कर्म करना ही कर्म करने का सही तरीका है। जब मनुष्य आसक्ति, लोभ एवं स्वार्थ-परता से रहित होकर केवल अपनी कर्त्तव्य भावना से युक्त होकर कर्म करे तो उसे कर्म का दोष नहीं लग सकता। मनुष्य को कर्मों का पाप तभी लगता है जबकि वह स्वार्थ बुद्धि से प्रेरित होकर कर्म करे। परन्तु यदि वह स्वार्थ भावना न रखे, सुख में हर्षित न हो एवं दुःख में उद्विग्न न हो तो उसके कर्म उसे बन्धन में नहीं डाल सकते। अतः मनुष्य को अपनी सम्पूर्ण स्वार्थयुक्त इच्छाएँ त्याग कर अपने कुल कर्मों को ईश्वरार्पण करके योग युक्त होना चाहिए, तथा इसके उपरान्त उसे अपने वर्णानुकूल स्वाभाविक कर्त्तव्यों का पालन करते रहना चाहिए। जबतक हम शरीर युक्त हैं तबतक स्वभाव के कारण कर्म तो करना ही पड़ेगा; अतः हमारे लिए सर्व-कर्म-त्याग

---

[1] गीता, १८–४४–४८।

असंभव है। कर्मत्याग महत्वपूर्ण हो सकता है यदि उसका अर्थ कर्मफल त्याग हो। कर्म फल त्याग होने पर कर्म बन्धन नहीं होता प्रत्युत् शान्ति एवं तुष्टि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार पूर्ण स्थित-प्रज्ञ योगी अपनी यथार्थ बुद्धिमत्ता में अटल एवं अडिग रहता है तथा उसे संसार की कोई वस्तु विचलित नहीं कर सकती। यह स्थिति या तो आध्यात्म ज्ञान से अथवा ईश्वर भक्ति से सम्भव है। उपरोक्त दोनों मार्गों में भक्ति-मार्ग सुगमतर है। ईश्वर अपने अनुग्रह से भक्त को अपने मन से संपूर्ण अशुद्धताओं को दूर करने में सहायता करता है एवं उसकी कृपा से मनुष्य लोभ एवं स्वार्थ प्रेरकों से अपने मन को हटा लेता है तथा योगारूढ़ हो जाता है। इस प्रकार बिना किसी लाभ की इच्छा किए अपने वर्ण द्वारा निर्धारित कर्मों को कर सकता है।

गीता का कर्मयोग-सिद्धान्त कर्मकांड के आदर्श से इस प्रकार भिन्न है कि यज्ञ यागादि किसी स्वर्गिक आनन्द के लक्ष्य की प्राप्ति अथवा किसी अन्य सांसारिक लाभ के लिए नहीं किए जाने चाहिए प्रत्युत् केवल कर्त्तव्य भावना से ही किए जाने चाहिए क्योंकि यज्ञ यगादि ब्राह्मणों के लिए अनिवार्य है। अतः उनका पालन केवल कर्त्तव्य परायण होकर ही किया जाना चाहिए। गीता के नीति शास्त्र में तथा वेदान्त अथवा पातंजल-योग के दर्शन में अन्तर है। जैसेकि इन दर्शनों का लक्ष्य मनुष्य को मानसिक एवं शारीरिक क्रिया शून्य अर्थात् समाधि की स्थिति तक पहुँचाने के हेतु सम्पूर्ण क्रियाओं से परे ले जाना है जबकि गीता का प्रतिपाद्य विषय कर्मयोग का सिद्धान्त है। जैसा कहा जा चुका है गीता किसी विषय में उग्रता (Extremions) की समर्थक नहीं है। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी मनुष्य को अपने सामान्य वर्णोचित एवं सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करते रहना चाहिए।[1] प्राचीन बौद्ध दर्शन में जिस नैराश्यवाद का वर्णन है वह गीता में नहीं पाया जाता। बौद्ध दर्शन के शील, समाधि एवं प्रज्ञा के अनुरूप गीता में हर्ष एव आसक्ति में अरुचि, ईश्वर पर एकाग्रता तथा स्थित प्रज्ञ होने के अभ्यास के विषय में उपदेश पाए जाते हैं। परन्तु गीता में इनका महत्व बौद्ध दर्शन से पूर्णतया भिन्न है। गीता को विधि निषेध मान्य नहीं है क्योंकि उनका समावेश वर्णोचित स्वधर्म में एवं सामाजिक नैतिकता में पूर्ण निहित हैं। गीता इस बात पर जोर देती है कि मनुष्य का परं कर्त्तव्य आसक्ति वासना एवं तृष्णा की अशुद्धियों से मन को शुद्ध करना है। गीता में वर्णित समाधि का अर्थ केवल किसी विषय पर मन को एकाग्र करना ही नहीं है प्रत्युत इसका अर्थ ब्रह्मात्मऐक्यता हैं। गीता में प्रयुक्त 'प्रज्ञा' आत्म ज्ञान की प्राप्ति नहीं है अपितु मन को स्थिर एवं शान्त करना है जिससे कि अनासक्त होकर सुख-दुःख से अविचलित स्थित प्रज्ञ की स्थिति

---

[1] गीता की इस व्याख्या से श्री शंकराचार्य निस्संदेह सहमत नहीं है जो आगे बताया जाएगा।

प्राप्त करके कर्तव्यपरायणता में बुद्धि और संकल्प स्थिर रहे अर्थात् बुद्धि व्यवसाया-त्मिका हो जाय।

इस प्रसंग में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हिन्दू आचार शास्त्र का सामान्य दृष्टिकोण क्या है? हिन्दू सामाजिक व्यवस्था चार वर्णों के विभाजन पर आधारित है। गीता के मत में विशिष्ट स्वभाव एवं आचरणानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र–इन चार वर्णों को स्वयं ईश्वर ने उत्पन्न किया। इन चार वर्णों एवं उनके अनुरूप अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के अतिरिक्त ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास–ये चार आश्रम भी बनाए गए और प्रत्येक आश्रम के अनुरूप कर्त्तव्य भी निर्धारित किए गए। हिन्दुओं के आचार शास्त्र चार वर्णाश्रम धर्मों के कर्त्तव्यों का समूह है। इनके अतिरिक्त कुछ निश्चित कर्त्तव्य ऐसे हैं जो सब पर लागू होते हैं तथा जिन्हें साधारण धर्म कहते हैं। उदाहरणार्थ मनु ने धैर्य, क्षमा, दम, चौर्याभाव, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध साधारण धर्म बताए हैं। प्रशस्तपाद ने धर्म-श्रद्धा, अहिंसा, भूतहितत्व, सत्य वचन, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अनुपधा, क्रोधवर्जन, अभिषेचन, शुचि, द्रव्य-सेवन, विशिष्ट देवता-भक्ति एवं अप्रमाद साधारण धर्म बताए हैं। वर्ण-धर्म साधारण धर्मों से पृथक् हैं। जैसे–तीन उच्चवर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिए यज्ञ, स्वाध्याय एवं दान समान है। ब्राह्मण की विशिष्ट वृत्ति दान लेना, विद्या-दान, यज्ञादि हैं–क्षत्रिय की विशिष्ट वृत्ति प्रजा की रक्षा करना, दुष्टों को दण्ड देना, रण एवं कर्त्तव्य से पलायन न करना है–वैश्य की विशिष्टवृत्ति क्रय, विक्रय, कृषि, गोरक्षा इत्यादि है एवं शूद्र की वृत्ति तीनों उच्च वर्णों की सेवा करना है।[1]

वर्ण-धर्म एवं साधारण धर्म के संबंध के विषय में एक आधुनिक लेखक का कहना है कि साधारण धर्म-वर्ण धर्मों की आधार-शिलाएँ हैं जिनकी (साधारण धर्म) सीमाओं के अन्दर रहकर वर्ण-धर्मों का पालन एवं अनुसरण होना चाहिए। उदाहरणार्थ यज्ञ करने हेतु ब्राह्मण को दूसरे का द्रव्य नहीं हरना चाहिए क्योंकि अस्तेय एक साधारण धर्म हैं। इस रीति से वह अपने वर्ण की सेवा के साथ-साथ वर्ण का सामान्य हित भी (यद्यपि नकारात्मक ढंग से) संपादित करता है। अतः परोक्ष रूप से वह मानव मात्र का सामान्य हित संपादित करता है। इस प्रकार वर्ण विशेष का कोई व्यक्ति जो अपने वर्ण-धर्म का पालन करता है वह केवल अपनी जाति का ही हित नहीं करता, बल्कि उसी क्रिया से दूसरे वर्णों का उनके पुण्य एवं आवश्यकतानुसार अर्थात् मानव जाति का हित संपादित करता है। यह स्पष्ट है कि प्लेटो का भी

---

[1] गीता के अनुसार शम, दम, शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। क्षत्रिय के सहज कर्म-शौर्य, तेजस् धृति, दाक्ष्य, युद्ध में अपलायन, दान एवं ईश्वर-भाव हैं। वैश्य के सहज कर्म-कृषि एवं गौरक्षा है। गीता १८-४२- ४४।

यही मत है जिसके अनुसार न्याय का गुण सर्वभूत हित है जो प्रत्येक वर्ग अपने विशिष्ट कर्मों के द्वारा संपादित करता है। परन्तु हिन्दू वर्गीकरण के साधारण धर्म के लक्ष्य सर्वभूत हित से यह मत भिन्न है। हिन्दुओं के इन सामान्य साधारण धर्मों का उद्देश्य केवल सर्वभूत हित नहीं है जो विशिष्ट वर्णों के धर्म पालन में समाविष्ट है प्रत्युत सामान्य हित को विशिष्ट हित का आधार एवं पूर्वावस्था कहा गया है। यह साधारण धर्म, व्यक्ति को समाज का अंग समझकर उसका हित करना नहीं है प्रत्युत व्यक्ति के हित का आधार है। अतः साधारण धर्म मनुष्य मात्र के लिए अनिवार्य है चाहे व्यक्ति की कैसी ही सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा व्यक्तिगत सामर्थ्य क्यों न हो।[1] साधारण धर्म को वर्ण धर्म की आधार-शिला मानने का अर्थ यह है कि यदि साधारण धर्म एवं वर्ण धर्म में विरोध हो तो साधारण धर्म मान्य होना चाहिए। यह अर्थ उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जहाँ पर दोनों धर्मों की विरोधावस्था में साधारण धर्म को अधिक शक्तिशाली माना गया हो। जैसाकि अहिंसा को साधारण धर्म माना गया है परन्तु यज्ञ यागादि में पशुबलि निहित है और ब्राह्मणों के लिए यज्ञ करना अनिवार्य था। युद्ध में मनुष्य की अत्यधिक हिंसा होती थी परन्तु क्षात्रधर्म युद्ध से अपलायन था और उसके अनुसार युद्ध करना उसके लिए अनिवार्य था। रामायण महाकाव्य में शम्बूक नामक एक शूद्र मुनि का वर्णन है। वह जंगल में घोर तप कर रहा था, जो वर्ण-धर्म का उल्लंघन था क्योंकि शूद्र के लिए तप वर्जित है तथा जो उच्च वर्ण के लिए स्वीकृत है। अतः शूद्र मुनि शम्बूक ने कृत तप को अधर्म समझा जिसके परिणामस्वरूप ब्राह्मण के छोटे शिशु की मृत्यु के रूप में राम के राज्य में विपत्ति आई थी। राजा राम ने अपने रथ में जाकर वर्ण धर्म का पालन नहीं करने के कारण शम्बूक के सिर को काट दिया। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जिससे पता चलता है कि साधारण धर्म एवं वर्ण धर्म के बीच संघर्ष के अवसर पर वर्ण धर्म अधिक शक्तिशाली समझा गया है। जब दोनों के बीच किसी प्रकार का संघर्ष नहीं होता तब ही साधारण धर्म शक्तिशाली समझा जाता था। गीता में भी वर्ण धर्म को साधारण धर्म से अधिक प्रभावशाली समझा गया है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में अर्जुन को अपने निकट के सम्बन्धियों को मारने में हिचकिचाहट होते हुए भी कृष्ण ने उसको युद्ध करने के लिए प्रेरित किया एवं उसे बताया कि क्षत्रिय होने के नाते युद्ध करना उसका परम् कर्त्तव्य है। अतः यह मान लेना उचित है कि साधारण धर्म का प्रभाव सामान्य ही था एवं दोनों के बीच धर्म संकट के समय वर्ण-धर्म साधारण धर्म के प्रभाव को वृथा कर देता था।

---

[1] हिन्दुओं का आचार्य शास्त्र एस० के० मैत्रा द्वारा डॉ० सील के निरीक्षण में लिखित, —पृ० ३-४।

गीता में साधारण धर्म की कोई समस्या नहीं है क्योंकि निवृत्ति एवं प्रवृत्ति के समन्वय के कारण साधारण धर्म की पुष्टि की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी गई है। स्वार्थ बुद्धि, सुखलालसा एवं स्वार्थपरता के प्रेरकों में अनासक्त होकर निष्काम कर्म करने के उसके उपदेश से उसकी योजना उच्च स्तर पर पहुँच जाती है जिसके फलस्वरूप साधारण नैतिक गुणों के अभ्यास की आवश्यकता नहीं रहती।

गीता के सिद्धान्त के अनुसार अनासक्त होकर कर्म करने वाले व्यक्ति को दोष नहीं लगता। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि शुभ एवं अशुभ कर्म का आधार बाह्य क्रिया नहीं है अपितु अन्तरवृत्ति है। यदि सुख अथवा स्वार्थपरता की भावना नहीं हो तो कर्त्ता के लिए कर्म बंधक नहीं हो सकता। क्योंकि आसक्ति एवं अहंभाव के कारण ही कर्त्ता को कर्तापन का भाव होता है जिसके परिणामस्वरूप वह शुभाशुभ फल भोगता है। इस दृष्टिकोण से नैतिकता आत्मगत (Subjective) समझी जाती है। गीता का विशिष्ट लक्षण यह है कि वह कर्त्ता का कर्म से सब सम्बन्धों का विच्छेद करके बाह्य कर्मों को नैतिकता के प्रभाव से परे ले जाती है। ऐसी परिस्थितियों में शंकर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है जिसके अनुसार वासनाओं एवं इच्छाओं से रहित पुरुष (जीवमुक्त), नैतिकता, कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व से परे होता है। गीता वस्तुगत निवृत्ति अथवा कर्म-निरोध का पोषण नहीं करती। इसका पूर्ण लक्ष्य आत्मगत निवृत्ति अथवा इच्छानिवृत्ति है। यह किसी को अपने वर्ण धर्म को छोड़ने की स्वीकृति नहीं देती। परन्तु लाभ, सुख अथवा स्वार्थपरता की कामना से शून्य वर्ण-धर्म का पालन कर्त्ता फल के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त होता है एवं स्थित प्रज्ञ होने के कारण कर्म-फल से अतीत हो जाता है। यदि अर्जुन ने अपने वर्ण-धर्म (क्षात्र-धर्म) के पालनार्थ अपने सैंकड़ों स्वजनों से युद्ध किया एवं मार डाला फिर भी उसके कर्म हानिप्रद होने पर भी उसके लिए बंधक नहीं हो सके। युद्ध के पश्चात् स्वजनों की हत्या के पाप के प्रायश्चित हेतु युधिष्ठिर ने पश्चाताप, दान, तप, तीर्थ-यात्रा इत्यादि की जिससे महाभारत में प्रचलित एक अन्य विचारधारा का पता चलता है कि जब वर्ण-धर्म के पालन से मानव हिंसा हुई तो उन कर्मों के पापों का प्रायश्चित उपरोक्त प्रकार के साधनों द्वारा हो सकता था।[1] युधिष्ठिर की यह मान्यता थी कि तप, त्याग एवं अवधि (तत्वज्ञान) में त्याग तप से श्रेयस्कर एवं त्याग से अवधि श्रेयस्कर है। अतः उनके विचार से सब कर्मों एवं उत्तरदायित्वों को छोड़कर सन्यासी होना श्रेष्ठतम है। जबकि अर्जुन के अनुसार राजा के लिए राजकीय जीवन के साधारण उत्तरदायित्व को स्वीकार करना एवं उसके

---

[1] महाभारत १२-७.३६ और ३७।

पूर्ण न होने वाले काम अर्थात् विषयोप-भोग की इच्छा का आश्रय करके ये (आसुरी लोग) दम्भ, मान और मद से व्याप्त होकर मोह के कारण झूठ-मूठ विश्वास अर्थात् मनमानी कल्पना करके गंदे काम करने के लिए प्रवृत्त रहते हैं। इसी प्रकार आमरणान्त (सुख भोगने की) अगणित चिन्ताओं से ग्रसे हुए कामोपभोग में डूबे हुए और निश्चयपूर्वक उसी को सर्वस्व मानने वाले सैंकड़ों आशापाशों से जकड़े हुए, काम-क्रोध-परायण सुख लूटने के लिए अन्याय से बहुत सा अर्थ-संचय करने की तृष्णा करते हैं। मैंने आज यह प्राप्त कर लिया, (कल) उस मनोरथ को सिद्ध करूँगा; यह धन (मेरे पास) है और फिर वह भी मेरा होगा। इस शत्रु को मैंने मार लिया एवं औरों को भी मारूँगा; मैं ईश्वर, मैं (ही) भोग करने वाला, मैं सिद्ध बलढय और सुखी हूँ; मैं सम्पन्न और कुलीन हूँ, मेरे समान और कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूंगा, मौज करूँगा। इस प्रकार अज्ञान से मोहित अनेक प्रकार की कल्पनाओं में भूले हुए मोह के फंदे में फंसे हुए और विषयोप-भोग में आसक्त (ये आसुरी लोग) अपवित्र नरक में गिरते हैं। आत्म-प्रशंशा करने वाले, ऐंठ से बर्तन वाले, धन और मान के मद से संयुक्त ये (आसुरी) लोग दम्भ से शास्त्र विधि छोड़कर केवल नाम के लिए यज्ञ किया करते हैं।[1] अहंकार से, बल से, दर्प से, काम से और क्रोध से फूलकर अपनी और पराई देह में वर्तमान मेरा (परमेश्वर का) द्वेष करने वाले, निन्दक और अशुभ कर्म करने वाले (इन) द्वेपी और क्रूर अधम नरों को मैं (इस) संसार की आसुरी अर्थात् पाप योनियों में ही सदैव पटकता रहता हूँ। अहंभाव, काम, क्रोध, लोभ, गर्व इत्यादि मुख्य दोषों को छोड़ देना चाहिए। इनमें से काम एवं क्रोध को बार-बार नरक का द्वार बताया गया है।[2]

गीता में देवी संपदा के मुख्य गुण अभय (निडरता), शुद्ध सात्विक वृत्ति, ज्ञान योग व्यवस्थिति अर्थात् ज्ञान (मार्ग) और (कर्म) योग की तारतम्य से व्यवस्था, दान, दम्भ, यज्ञ, स्वाध्याय अर्थात् स्वधर्म के अनुसार आचरण, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कर्मफल का त्याग, शान्ति, अपैशुन्य अर्थात् क्षुद्र दृष्टि छोड़कर उदार भाव रखना, सब भूतों में दया, तृष्णा न रखना, मृदुता, (बुरे काम की) लाज, अचपलता अर्थात् व्यर्थ के कामों का छूट जाना, तेजस्विता, धृति, क्षमा, शुद्धता, द्रोह न करना, अतिभान न रखना, बताए गए हैं। (इनमें से) देवी संपत्ति (परिणाम में) मोक्षदायक और अतिमान, क्रोध, निर्दयता, एवं अज्ञान हमें बाँधते हैं और पराधीन बनाते हैं।[3] ईश्वर से प्रेम करने वाले मनुष्य को किसी प्राणी को नहीं सताना

---

[1] गीता, १६, ८-१८।
[2] वही, १६-२१।
[3] गीता, १६, १-५।

चाहिए। उनके प्रति मित्रतापूर्ण एवं सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते हुए भी ममत्व बुद्धि और अहंकार से रहित रहना चाहिए। सुख-दुःख में समान रहना चाहिए एवं क्षमाशील होना चाहिए। उसे निश्चय बुद्धि वाला आत्म विनिग्रही तथा संतुष्ट रहना चाहिए। उसे शुद्ध अनासक्त, समभाव, स्वार्थ-रहित, तथा निर्भय होना चाहिए। वह शत्रु मित्र शीतोष्ण, सुख-दुःख में मान और अपमान तथा निन्दा स्तुति में समभाव रखता है तथा जो कुछ मिल जावे उसमें सन्तुष्ट रहता है। उसका चित्त स्थिर है एवं पूर्णरूप से वह अनासक्त रहता है।[1] उपरोक्त गुणों की सूचि की ओर ध्यान देने से ऐसा लगता है कि ये गुण नकारात्मक हैं जैसे अक्रोध, अद्वेष्टा निरहंकार, अदम्भी, निस्वार्थ, निर्द्वन्द (अर्थात् सुख, दुःख एवं शीतोष्ण) एवं अनासक्त। कुछ स्वीकारात्मक गुणों के अन्तर्गत हृदय की पवित्रता, क्षमाशीलता, मृदुता, सब भूतों के साथ मित्रता, करुणा, दक्षता एवं सहानुभूति मुख्यतम प्रतीत होते हैं। मैत्री एवं करुणा नामक शब्द उपनिषदों में न मिलने के कारण यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह स्वभावतः बौद्ध ग्रंथों से लिए गए हैं।[2] परन्तु गीता में भी केवल एक बार ही इनका प्रयोग ऐसे सामान्य प्रसंग में होने के कारण इन दो गुणों को कोई विशेप महत्व नहीं दिया गया है। उनका तात्पर्य कोई विश्व-मैत्री के अथवा सर्वभूत दया के अथवा लो-कहितार्थ सहानुभूतिपूर्ण एवं मित्रतापूर्ण तीव्र कार्य करने के अथवा प्राणि मात्र के हित में रत रहने के रूप में विशिप्ट प्रकार के ध्यान से नहीं है। उनका तात्पर्य केवल मित्रतापूर्ण मानसिक प्रवृत्ति से है जो मानव मात्र के प्रति अहिंसात्मक सफल व्यवहार का आवश्यक अंग है। गीता क्रियात्मक मित्रता का पोषण नहीं करती अपितु दूसरों को कष्ट न पहुँचाने की प्रवृत्ति के साधन रूप में मित्रता की भावना को प्रोत्साहित करती है। जिस-जिस जीवन की गीता प्रशंसा करती है वह जीवन अनासक्त, शान्त, तुष्ट, स्थित-प्रज्ञ एवं सुख-दुःख में अविचल जीवन है। जिन अवगुणों की निन्दा की गई है वे आसक्ति एवं वासनाओं से उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ अहंकार, मान, दम्भ क्रोध, लोभ आदि। कुछ अन्य गुणों की भी प्रशंसा की गई जैसे शौच, निष्कपटता, दक्षता एवं आर्जवता। इन्द्रिय-निग्रह का नकारात्मक गुण एवं मन को सही दिशा में लगाने की शक्ति की उपलब्धि का स्वीकारात्मक प्रारूप भाग गीता की सम्पूर्ण आचार संहिता की आधार-शिला है।

समत्वयोग एक महान् आदर्श है जिसे गीता ने पुनः-पुनः दोहराया है। इस समत्व (योग) की तीन स्थितियाँ हैं—आत्मगत समत्व अथवा स्थित प्रज्ञता अथवा सुख-दुःख में, निन्दा-स्तुति की प्रत्येक परिस्थिति में संतुलन रखना; वस्तुगत समत्व

---

[1] गीता–१२-१३-१९, गीता १३-८-११।

[2] 'मैत्र' सिर्फ एक बार मुक्तिकोपनिषद् २.३४ में प्रयुक्त हुआ है और 'मुक्तिक' संभवतः परवर्त्ती उपनिषदों में से एक हैं।

अर्थात् अच्छे बुरे उदासीन मित्र अथवा शत्रु में निष्पक्ष समदृष्टि रखना; इस समत्व स्थिति की अन्तिम अवस्था वह है जब मनुष्य गुणातीत हो जाता है अर्थात् सांसारिक वस्तुओं से पूर्णतया अविचलित होता है। गीता में (२.१५) कहा गया है कि जिस मनुष्य को इन्द्रिय-स्पर्श तथा शारीरिक कष्ट किसी भी तरह प्रभावित नहीं करते तथा जो अविचाल्य एवं सुख-दुःख में सम है वही अमरत्व प्राप्त करता है। २.३८ में कृष्ण अर्जुन को सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जय-पराजय को समान समझकर युद्ध करने को कहते हैं क्योंकि ऐसा करने से उसे पाप नहीं लगेगा। २.४७ में कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि उसका कर्म करने में ही अधिकार है उसके फल में नहीं। कर्मफल को हेतु समझना अथवा अकर्म में संग होना अनुचित है। ६.४८ में सुख-दुःख में समत्व को योग कहा गया है तथा आगे चलकर कहा गया है कि मनुष्य को पराजय में अविचल रहना चाहिए। इसी सिद्धान्त को २.५५,५६,५७ में दोहराया गया है एवं यह कहा गया है कि सच्चे योगी को सुख से प्रसन्न तथा दुःख से दुःखी नहीं होना चाहिए तथा उसे सर्वत्र अनासक्त रहना चाहिए एवं सुख का अभिनन्दन तथा दुःख से द्वेप किए बिना निस्पृह रहना चाहिए। ऐसा व्यक्ति आत्मा में ही रत रहता है और आत्मा में ही तृप्त रहता है। वह उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि में सम रहता है। विश्व में उसका कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता।[1] ऐसे योगी के लिए मिट्टी एवम् कंचन, अनुकूल और प्रतिकूल, निन्दा और स्तुति, मान-अपमान एवं शत्रु-मित्र सब समान होते हैं।[2] ऐसे योगी की दृष्टि में शत्रु-मित्र में तथा पुण्यात्मा तथा पापात्मा में कोई भेद नहीं रहता।[3] ऐसा योगी सुख अथवा दुःख में अपनी उपमा देकर दूसरों के सुख के लिए प्रयत्न करता है क्योंकि उसके विचार में प्रत्येक व्यक्ति सुख का अभिनन्दन अथवा दुःख से द्वेप करता है और इसी कारण से वह विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता अथवा चांडाल में समदर्शी होता है।[4] वह योगी सब भूतों में ईश्वर का दर्शन करता है और नाशवानों में अविनाशी एवं अमर तत्व को देखता है। वह योगी जानता है कि उस सम्पूर्ण ब्रह्मांड में ईश्वर व्याप्त है इसलिए वह सबके प्रति समदर्शी है, वह अपने आत्म तत्व का नाश नहीं करता एवं पर तत्व प्राप्त करता है।[5] विकास की इस चरम अवस्था में वह त्रिगुणात्मक, दैहिक एवं भौतिक पदार्थों के परे जाकर जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि से विमुक्त होकर अमरत्व प्राप्त करता है। उसे ज्ञान है कि त्रिगुणात्मक अनात्म पदार्थ अर्थात् प्रपंच आत्म स्वरूप से

---

[1] गीता, ३–१७,१८।

[2] गीता, १४–२४,२५।

[3] गीता, ६–६।

[4] गीता, अ. ६–३१, अ. ५–१८।

[5] गीता, १३–२८।

एवं धर्मों का विरोध नहीं हो सकता। परन्तु गीता का इस विषय में स्पष्ट आदेश नहीं है। फिर भी यह सोचा जा सकता है कि यदि शूद्र यज्ञ, दान, तप अथवा वेदाध्ययन करने का विचार करे तो गीता का इससे विरोध होगा क्योंकि वह नियत स्वधर्म के विपरीत होगा। अतः यद्यपि अहिंसा गीता द्वारा उपदिष्ट विशिष्ट गुण है फिर भी जब एक क्षत्रिय खुले स्वतंत्र युद्ध में अपने शत्रुओं को मारता है तब वह युद्ध धर्मयुद्ध कहलाता है एवं क्षत्रिय के लिए अपने शत्रुओं को मारना कोई पाप नहीं है। यदि एक व्यक्ति अपने सब कर्मों को ब्रह्मार्पण करके, आसक्तिरहित होकर कर्म करता है तो उसको कर्म बंधन का दोष नहीं लगता, जिस प्रकार कमल जल के अन्दर रहता हुआ भी उससे अछूता रहता है।[1] एक ओर गीता, वर्ण एवं साधारण धर्म के पालन की आवश्यकता बताकर तथा सन्यास, पवित्रता, निष्कपटता, अहिंसा, आत्म-निग्रह, इन्द्रिय-निग्रह एवं अनासक्ति आदि गुणों की वृद्धि पर बल देकर एकेश्वरवाद एवं तान्त्रिक दर्शनों से दूर हटती है तो दूसरी ओर वह योग की तरह उग्र व्रत, नियमों के आत्मानुशासन का अथवा बौद्धों की तरह असीम एवं सार्वजनिक रूप से गुणों के अभ्यास का उपयोग नहीं करती। आत्मनिग्रह, इन्द्रिय-निग्रह एवं सामान्य कर्त्तव्यों का पालन करते हुए वासनाओं तथा स्वार्थपरता में अनासक्ति की आवश्यकता पर अत्यधिक बल देते हुए वह मध्यम मार्ग का अनुसरण करती है। इन्द्रिय-सुखों में ऐसी अनासक्ति ज्ञान द्वारा अथवा अधिक आदर से ईश-भक्ति द्वारा अधिक सरलता से प्राप्त की जाती है।

कर्म-विश्लेषण

गीता के आचार शास्त्र पर विचार करने के बाद स्वाभाविक रूप से कर्म, संकल्प एवं कर्त्ता के स्वरूप के विश्लेषण की समस्या पर विचार किया जाता है। हिन्दू-दर्शन में संकल्प का प्रधान विश्लेषण न्याय वैशेषिक ग्रन्थों में पाया जाता है। प्रशस्तपाद ने दैहिक क्रिया को दो वर्गों में विभाजित किया है—प्रथमतः वे सहज क्रियाएं जो जीवन पूर्वक द्वारा स्वतः उत्पन्न होती हैं एवं शरीरधारी के लिए अर्थकरी होती हैं। द्वितीय, वे चेतन एवं ऐच्छिक क्रियाएँ जो राग-द्वेष से अभीष्ट लक्ष्य अर्थात् सुख की प्राप्ति के लिए तथा दुःख को दूर करने के लिए उत्पन्न होती है। प्रभाकर के मत में संकल्पात्मक क्रियाएँ कई तत्वों पर आधारित है: प्रथमतः कार्यता-ज्ञान जिसका अर्थ भाट्ट चिंतामणि ग्रन्थ में गंगभट्ट ने निम्न प्रकार से किया है कि कार्यता-ज्ञान केवल सामान्य ज्ञान ही नहीं है जो अमुक कार्य कर्त्ता द्वारा सम्पन्न हो सकता है परन्तु यह एक विशिष्ट विचार है कि अमुक कार्य उसे करना चाहिए। यह विचार इस

---

[1] गीता, ५.१०।

भावना से ही उत्पन्न होता है कि अमुक कार्य उसके लिए हितकर है एवं उससे उसे इतनी हानि नहीं है कि वह उस कार्य को टाल दे। द्वितीयतः यह विश्वास भी होना चाहिए कि कर्त्ता में कृति-साध्यता-ज्ञान है। इस कृति-साध्यता ज्ञान में विश्वास का परिणाम चिकीर्षा है। प्रभाकर मतावलंबी यहाँ इस महत्वपूर्ण तत्व का कथन नहीं करते कि कर्त्ता के लिए हितकारक कार्य ही उसका इच्छित कर्म होता है। प्रत्युत वे यह कहते हैं कि कर्म करने की इच्छा तब होती है जब कर्त्ता कर्म के साथ अपना एकत्व स्थापित कर दे तथा आत्म साक्षात्कार हेतु कर्म करने की इच्छा हो। न्याय के मतानुसार कर्म करने की आवश्यक अवस्था हित साधन का एवं अहित प्रतिकार का विचार है।

गीता के मत में अव्यक्त प्रकृति एवं उससे उत्पन्न गुणों से ही कर्म सम्भव होते हैं। अज्ञान एवं मिथ्याभिमान से ही मनुष्य अपने आपको कर्त्ता मानता है।[1] एक अन्य स्थल पर यह कहा गया है कि कर्म के पाँच कारण होते हैं:–अधिष्ठान, कर्त्ता, करण अर्थात् इन्द्रियाँ, पृथक् चेष्टाएँ तथा दैव अर्थात् ईश्वर की सर्वोपरि शक्ति।[2] सब कर्म उपरोक्त पाँच तत्वों के समूहीकरण के द्वारा उत्पन्न होते हैं अतः यह सोचना अनुचित होगा कि केवल आत्मा अथवा कर्त्ता ही कर्म करने वाला है। ऐसा कहा जाता है कि वास्तविक स्थिति ऐसी होने पर भी जो संस्कृत बुद्धि न होने के कारण यह समझे कि मैं ही अकेला कर्त्ता हूँ (समझना चाहिए कि) वह दुर्गति कुछ भी नहीं जानता।[3] शरीर से, वाणी से अथवा मन से मनुष्य जो-जो कर्म करता है–फिर चाहे वह न्याय हो या विपरीत अर्थात् अन्याय उसके उक्त पाँच कारण हैं।[4] गीता के नैतिक शास्त्र का आधारभूत सिद्धान्त वस्तुतः यह है कि मुख्यतया कर्म प्रकृति के विशिष्ट गुणों की क्रियाओं द्वारा सम्भव होते हैं एवं गौण रूप से उक्त पाँच तत्वों के समूहीकरण द्वारा (जिनमें से कर्त्ता एक कारण है) कर्म सम्भव होते हैं। अतः केवल अहंकार के कारण ही मनुष्य यह सोचता है कि वह अपनी इच्छा द्वारा कर्म में प्रवृत्त होता है अथवा कर्म त्याग करता है। क्योंकि प्रकृति अपने बाद के विकारों द्वारा तथा समूहीकृत कारणों द्वारा स्वतः हमें कर्म में प्रवृत्त करेगी एवं हमारी अनिच्छा होते हुए भी जो कर्म हम नहीं करना चाहते वही कार्य हमें करना पड़ता है। अतः कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि तू अहंकार से जो यह मानता (कहता) है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा

---

[1] गीता, अ. ३–२७, अ. १३–२९।

[2] अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचम्। —गीता, १८ अ. १४।

[3] गीता, १८.१६।

[4] गीता, १८.१५।

(सो) तेरा यह निश्चय व्यर्थ है। प्रकृति अर्थात् स्वभाव तुझ से वह युद्ध कराएगा।[1] मनुष्य अपने स्वभावजन्य कर्म से बंधा हुआ होने के कारण वह पराधीन है। अपने संकल्प से विपरीत होने पर भी उससे कर्म करना पड़ता है। प्रकृति अथवा पाँच तत्वों का समूहीकरण हमें कर्म में प्रवृत्त करता है। इस कारण से कोई भी कर्म त्याग नहीं कर सकता। यदि कर्म-त्याग असंभव है एवं मनुष्य को कर्म करना ही पड़ता है तो उचित यही है कि मनुष्य अपने स्वधर्म अर्थात् सहज कर्म का पालन करे। कोई धर्म एवं कर्म पूर्णतया निर्दोष आलोचना से परे नहीं है। अतः कर्म शुद्धि का साधन यही है कि मनुष्य वासनाओं एवं आसक्ति की अशुद्धताओं तथा अपूर्णताओं का मन से मूलोच्छेदन कर दे। यदि समस्त कर्म आवश्यक रूप से पंच समूहीकरण के ही परिणाम है तो इस प्रसंग में प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र कैसे है? गीता का इस सम्बन्ध में सामान्य मत यह है कि यद्यपि कर्म पंच तत्वों के समावेश से उत्पन्न होता है फिर भी आत्मा उन कर्मों का संचालन कर सकती है। यदि मनुष्य अनन्य भाव से सर्वकर्मफल को ईश्वरार्पण करके अनासक्त होना चाहे तो परम लक्ष्य को प्राप्त करने में ईश्वर उसका सहायक होता है।

मरणोपरान्त जीवन

गीता संभवतः प्राचीनतम ग्रन्थ है जिसमें सांसारिक वस्तुओं की नश्वरता एवं असत् के अस्तित्व का असम्भाव्य वर्णित है। गीता के मत में असत् का अस्तित्व नहीं हो सकता एवं सत् का अभाव नहीं हो सकता। आधुनिक समय में हम शक्ति एवं संचय के सिद्धान्त की बात सुनते हैं। शक्ति संचय का सिद्धान्त का स्पष्ट प्रसंग पतंजलि सूत्र ४.३ पर व्यास भाष्य में मिलता है परन्तु पुंज-संचय का सिद्धान्त निश्चित रूप से कहीं भी प्रतिपादित नहीं है। वेदान्त एवं सांख्य दर्शन सत्कार्यवाद के सत्ता-मूलक सिद्धान्त पर आधारित है जिसके अनुसार कार्य (उत्पत्ति के पूर्व) कारण में विद्यमान रहता है। वेदान्त के मत में कार्य की स्वतंत्र अथवा वास्तविक सत्ता नहीं है, वह तो केवल प्रतीति मात्र है, वास्तविक सत्ता तो केवल कारण की ही है। दूसरी ओर सांख्य के मत में कार्य कारण-सत्ता का विकार मात्र है और इस प्रकार असत् नहीं होकर कारण से पृथक् उसकी कोई सत्ता नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि कारण-व्यापार के पूर्व कार्य कारण में निहित रहता है। यह दोनों दर्शन बौद्ध एवं न्याय के असत्-कार्यवाद के सिद्धान्त की (अर्थात् कार्य (सत्), असत् से निकलता है) कटु आलोचना करते हैं। सांख्य एवम् वेदान्त दोनों ने अपने सिद्धान्तों को सिद्ध करने का प्रयत्न किया परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों में से किसी एक ने भी यह नहीं

---

[1] गीता, १८.५९।

अनुभव किया कि उनके सिद्धान्त शक्ति संचय के आधार-भूत सिद्धान्त कारण से परिणाम की ओर जाने वाले वाक्यों (a priori) पर आधारित है, तथा जिसके परिणाम से कारण वाले (a posterior) उदाहरण के प्रसंग में सिद्ध करना कठिन है। उदाहरणार्थ, सांख्य का कहना है कि कार्य कारण में विद्यमान रहता है; यदि ऐसा नहीं होता तो विशिष्ट प्रकार के कारणों से (जैसे तिल) ही विशिष्ट कार्य (जैसे तेल) उत्पन्न होते। विशिष्ट प्रकार के कारणों से ही विशिष्ट प्रकार के कार्य उत्पन्न होते हैं–इस सिद्धान्त से वस्तुतः सत्कार्यवाद के सिद्धान्त की सिद्धि नहीं होती परन्तु उसका अर्थ यही निकलता है। क्योंकि सत्कार्यवाद का सिद्धान्त गीता में प्रतिपादित इस कारण से परिणाम की ओर जाने वाले सिद्धान्त पर आधारित है कि सत् का अभाव नहीं है एवं असत् का अस्तित्व नहीं है।[1] गीता इस सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करती परन्तु इसे स्वयं सिद्ध सिद्धान्त समझती है जिसका कोई भी निषेध नहीं कर सकता। सांख्य एवं वेदान्त की सत्तामूलक स्थिति की तरह गीता इस सिद्धान्त को सामान्य ढंग से नियुक्त नहीं करती। केवल आत्मा के स्वरूप के बारे में ही इस सिद्धान्त की नियुक्ति गीता करती है। गीता के शब्दों में 'हे अर्जुन, यह (जगत्) जिसने फैलाया अथवा व्याप्त किया है वह (मूल आत्मा स्वरूप ब्रह्म) अविनाशी है। इस अव्यय तत्व का विनाश करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है। जो शरीर का स्वामी (आत्मा) नित्य अविनाशी और अचिन्त्य है, उसे प्राप्त होने वाले ये शरीर नाशवान अर्थात् अनित्य है। अतएव युद्ध कर। शरीर के स्वामी या आत्मा) को जो मारने वाला मानता है या ऐसा समझता है कि वह मारा जाता है, उन दोनों का ही सच्चा ज्ञान नहीं है (क्योंकि) वह (आत्मा) न तो मरता है और न मारा ही जाता है। यह (आत्मा) न तो कभी जन्मता है और न मरता ही है। ऐसा भी नहीं है कि यह (एक बार) होकर फिर होने का नहीं। इसे शस्त्र काट नहीं सकते; इसे आग जला नहीं सकती, वैसे ही इसे पानी गला नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकता। गीता में उपदिष्ट आत्मा का अमरत्व उपनिषदों में से अपरोक्ष रूप से उद्धृत प्रतीत होता है तथा आत्मा का वर्णन करने वाले अंशों के पर्याय, व्याख्या प्रत्यय भी उपनिषद् के ही प्रतीत होते हैं। यह सत्तामूलक सिद्धान्त कि सत् की मृत्यु नहीं हो सकती एवं असत्का भाव नहीं हो सकता उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। अमरत्व के सिद्धान्त के (पक्ष) में गीता में इसका प्रतिपादन निश्चित रूप से औपनिषद् दर्शन के आगे है।

अर्जुन को युद्ध के लिए तत्पर करने के लिए प्रथम युक्ति कृष्ण ने यह दी की केवल शरीर ही पीड़ित अथवा नष्ट होता है, अतः अर्जुन को कुरुक्षेत्र के युद्ध में अपने

---

[1] गीता, २.१६: नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

स्वजनों की हत्या का शोक करना उचित नहीं है। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नए ग्रहण करता है उसी प्रकार देही अर्थात् शरीर का स्वामी पुराने शरीर त्याग कर दूसरे नए शरीर धारण करता है। शरीर हमेशा मरणशील है; एवं कौमार, यौवन तथा जरा में भी यह एकसा नहीं रहता। मृत्यु के समय जो परिवर्तन होता है वह भी एक शरीर की अवस्था है अतः जीवन की (उपरोक्त) भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के शरीर परिवर्तन में एवं मृत्यु के समय में अर्थात् एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण करने रूपी अन्तिम परिवर्तन में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। हमारे शरीर में नित्य प्रलय होता है अर्थात् वह परिवर्तनशील है। यद्यपि बाल्यावस्था, कौमारावस्था एवं जरावस्था के विभिन्न परिवर्तन तुलनात्मक दृष्टि से कम मात्रा में परिवर्तित होते हुए प्रतीत होते हैं फिर भी इन परिवर्तनों से हमें इस तथ्य को मन में समझ लेना चाहिए कि मृत्यु भी एक वैसा ही शरीर का परिवर्तन है; अतः यह आत्मा को अधीर नहीं बना सकता जो आवागमन के अवसर पर शरीर के परिवर्तनों से स्वयं अविकृत रहता है। जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु निश्चित है एवं जो मरता है उसका जन्म निश्चित है। जन्म में आवश्यक रूप से मृत्यु निहित है एवं जो मृत्यु में आवश्यक रूप से जन्म निहित है (अर्थात् जन्म-मृत्यु अपरिहार्य है)। ब्रह्मा से प्राणी मात्र पर्यन्त जन्म-मृत्यु एवं पुनर्जन्म का चक्कर निरंतर चलता ही रहता है। अर्जुन की इस शंका का कि पूरा प्रयत्न अथवा संयम न होने के कारण जिसका मन योग से विचल हो जावे वह योगी सिद्धि न पाकर किस गति को पहुँचता है—कृष्ण समाधान करते हैं कि किसी भी शुभ कार्य का नाश नहीं होता। कल्याणकारक कर्म करने वाले किसी भी पुरुष की दुर्गति नहीं होती। योगारूढ़ पुरुष जब मृत्यु को प्राप्त होता है तब वह (योग भ्रष्ट पुरुष) पवित्र श्रीमान् लोगों के घर में अथवा योगियों के ही कुल में जन्म पाता है। इस प्रकार प्राप्त हुए जन्म में वह पूर्वजन्म के बुद्धि संस्कार पाता है, वह उससे भूयः अर्थात् अधिक (योग) सिद्धि पाने का प्रयत्न करता है। अपने पूर्वजन्म के इस अभ्यास से ही अपनी इच्छा न रहने पर भी वह (पूर्ण सिद्धि की ओर) खींचा जाता है। प्रयत्न पूर्वक उद्योग करते-करते पापों से शुद्ध होता हुआ योगी अनेक जन्मों के पश्चात् सिद्धि पाकर अन्त में उत्तम गति पा लेता है। साधारणतया प्रत्येक नए जीवन में मनुष्य का जीवन उसकी मृत्यु के समय की वासनाओं एवं भावों पर आधारित रहता है। जो (मनुष्य) अन्तकाल में (इन्द्रिय निग्रह रूप योग के सामर्थ्य से) भक्तियुक्त होकर मन को स्थिर करके दोनों भौंहों के बीच में प्राण को भलीभांति रखकर, कवि अर्थात् सर्वज्ञ, पुरातन, शास्ता, अणु से भी छोटे, सबके धाता अर्थात् आधार या कर्त्ता, अचिंत्यस्वरूप और अंधकार से परे सूर्य के समान देदीप्यमान पुरुष का स्मरण करता है वह (मनुष्य) उसी दिव्य परम पुरुष में आ मिलता है। अव्यक्त से सब व्यक्त निर्मित होते हैं और उसी पूर्वोक्त अव्यक्त में लीन हो जाते हैं एवं पुनः उनमें उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अव्यक्त के दो प्रकार हैं—एक

प्रथम भाग का स्मरण कराता है। 'किसके होने से मृत्यु है ? जिसका जन्म है उसकी मृत्यु है।' स्मरण रहे कि वैदिक कर्मों के बारे में गीता का दृष्टिकोण केवल सहनशीलता का ही है न कि प्रोत्साहन का। वे कामनायुक्त कर्म हैं अतः अन्य वैसे ही कर्मों की तरह उनके साथ कर्म बंधन लगा रहता है एवं ज्योंही इन कर्मों के शुभ फलों का उपभोग किया जाता है, उन कर्त्ताओं को पुनर्जन्म लेकर स्वर्ग से मृत्यु लोक में आना पड़ता है और पुनर्जन्म के लिए किए गए कर्मों का फल भोगना पड़ता है 'जन्मोपरान्त मृत्यु एवं मृत्यु के अनन्तर आवागमन' का सिद्धान्त बौद्ध दर्शन की तरह गीता में भी वर्णित है। परन्तु गीता में वर्णित उक्ति बौद्ध में वर्णित उक्ति से बहुत पहले की जान पड़ती है। क्योंकि बौद्ध दर्शन में वर्णित उक्ति अन्योन्याश्रित चक्र में आपस में गहरे जुड़े हुए कई अन्य निदान चक्रों द्वारा जन्म-मृत्यु का वर्णन करती है जिससे गीता पूर्णतया अनभिज्ञ जान पड़ती है। गीता में इस प्रकार के कोई निदान चक्र का प्रसंग नहीं है जो बौद्ध दर्शन में से लिया गया हो। हाँ, इसमें यह तो कहा गया है कि आसक्ति पाप का मूल कारण है। परन्तु केवल उपलक्षित अर्थ के द्वारा ही हम जान सकते हैं कि आसक्ति के कारण कर्म बंधन होता है, जिसके फलस्वरूप आवागमन होता है। गीता का मुख्य उद्देश्य कर्म बंधन को तोड़कर आवागमन के चक्कर को रोकना नहीं है अपितु कर्त्तव्य करने के सही नियम का निर्देश करना है। निस्संदेह यह कभी-कभी कर्म बंधन को तोड़कर परमतत्व की प्राप्ति के बारे में कुछ कहती है। मोक्ष प्राप्ति के बारे में उपदेश करना अथवा इस सांसारिक जीवन के पापों का वर्णन करना गीता का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। गीता में नैराश्यवाद को कोई स्थान नहीं है। जन्म-मृत्यु के आवश्यक सम्बन्ध को बताने में गीता का हेतु जीवन को विषादमय एवं जीवनोनुपयोगी बताना नहीं है प्रत्युत यह बताना है जन्म-मृत्यु की इन सार्वलौकिक घटनाओं में मनुष्य को दुखी होने का एवं निराश होने का कोई कारण नहीं है। निःसंदेह प्रधान सिद्धान्त आसक्ति, कर्म, जन्म मृत्यु एवं पुनर्जन्म के है। परन्तु बौद्ध सिद्धान्त अधिक जटिल एवं अधिक व्यवस्थित है संभवतः वह उस समय के बाद का विकास है जब इस विषय पर गीता के विचार ज्ञात थे। बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद एवम् शून्यवाद के सिद्धान्त गीता के आत्मा के अमरत्व के सिद्धान्त के ठीक विपरीत है।

परन्तु गीता केवल आवागमन के बारे में ही नहीं अपितु दो पथ अर्थात् छांदोग्य उपनिषद् में निर्दिष्ट धूम-पथ एवम् ज्योतिपथ के बारे में भी कुछ कहता है।[1] गीता एवं उपनिषद् में वर्णित प्रसंग में केवल यही अन्तर है कि गीता के बजाय उपनिषद् में इसका विस्तृत विवरण मिलता है। परन्तु देवयान एवं पितृयान का सिद्धान्त

---

[1] छांदोग्य उपनिषद, ५.१० ।

संसार में आवागमन के सिद्धान्त से संगत रूप से मेल नहीं खाता। गीता आवागमन के सिद्धान्त को देवयान-पितृयान के सिद्धान्त के साथ एवं यज्ञ-यागादि के कर्म फल के कारण होने वाले स्वर्गारोहण के सिद्धान्त के साथ मिला देती है। इस प्रकार गीता परम्परागत मान्य विभिन्न प्रकार के मतों को उन्हें सही तौर से व्यवस्थित किए बिना मिला देती है। कुछ स्थलों से (४-९, अथवा ६-४०-४५) में ऐसा प्रतीत हो सकता है कि कर्म-बंधन अपनी शक्तियों से स्वतन्त्र रूप से अपने फल उत्पन्न करते हैं एवं कर्मफल के कारण ही जगत् की व्यवस्था है। परन्तु कुछ अन्य भी ऐसे स्थल हैं (१६-१९) जहाँ यह पता चलता है कि कर्म स्वतः अपना फल उत्पन्न नहीं करते परन्तु ईश्वर शुभाशुभ जन्म की व्यवस्था करके शुभाशुभ कर्मों का क्रमशः पारितोषिक एवं दण्ड देने की व्यवस्था करते हैं। गीता में (५.१५) कहा गया है कि अज्ञान के कारण ही पाप एवं पुण्य का विचार होता है। यदि हम सही ढंग से विचार करें तो ईश्वर पाप अथवा पुण्य नहीं करता। यहाँ पुनः कर्म के दो विपरीत सिद्धान्त मिलते हैं; एक तो वह जिसमें कर्म को जीवन की सम्पूर्ण विषमताओं का कारण माना गया है एवं दूसरा वह जो शुभ अथवा अशुभ को कोई मूल्य नहीं देता। दोनों दृष्टिकोणों में गीता की यथार्थ शिक्षा के अनुरूप समन्वय स्थापित करने का तरीका यह है कि पुण्य एवं पाप की वस्तुगत सत्यता में गीता का विश्वास नहीं है। कर्म स्वयं शुभ अथवा अशुभ नहीं होते। केवल अज्ञान एवं मूर्खता के कारण ही कुछ कर्म शुभ एवं अन्य अशुभ माने जाते हैं। सिर्फ कामनाओं एवं आसक्तियों के कारण ही हमें कर्म अशुभ फल देते हैं तथा जो हमारे लिए पाप समझे जाते हैं। चूंकि कर्म स्वतः भले अथवा बुरे नहीं होते, भासित पाप कर्मों का पालन जैसे युद्ध क्षेत्र में अपने स्वजनों की हत्या उस समय पाप नहीं समझा जाता जब वे कर्त्तव्य की भावना से किए गए हों। परन्तु वे ही कर्म पाप समझे जायेंगे यदि वे आसक्ति अथवा कामना-वश किए गए हों। इस दृष्टिकोण से देखने पर गीता का नैतिकता का सिद्धान्त आवश्यक रूप से आत्मगत (Subjective) है। परन्तु इस दृष्टि से नैतिक नियम, पाप एवं पुण्य आत्मगत समझे जा सकते हैं जो पूर्णतया आत्मगत नहीं है। क्योंकि नैतिकता केवल आत्मगत-अन्तरात्मा अथवा शुभ एवं अशुभ के आत्मगत विचारों पर ही आधारित नहीं है। वर्ण धर्म एवं परम्परागत नैतिकता के साधारण धर्म निश्चित रूप से स्थिर है एवं उनका उल्लंघन किसी को भी नहीं करना चाहिए। पाप और पुण्य की आत्मगतता पूर्णतया हमारे शुभ एवं अशुभ कर्मों पर आधारित है। यदि शास्त्राज्ञा, वर्ण-धर्म एवं साधारण धर्म का पालन करते हुए कर्म किए जाय तो ऐसे कर्म परिणाम में अशुभ होने पर भी अशुभ नहीं कहलायेंगे।

आवागमन एवं स्वर्गारोहण के पथों के अलावा अन्तिम, श्रेष्ठतम एवं परम् पथ मोक्ष को बताया गया है जो यज्ञ, दान अथवा तप से प्राप्त सब प्रकार के फलों से परे

है। जो इस परमतत्व को प्राप्त कर लेता है उस ब्रह्मसंस्थ का पुनर्जन्म नहीं होता।[1] जीवन की उच्चतम अनुभूति ब्रह्मैक्य है जिससे मनुष्य सब दुःखों के परे चला जाता है। गीता में मोक्ष का अर्थ जरा एवं मरण से मुक्ति है। यह मोक्ष ज्ञान चक्षु द्वारा अर्थात् ज्ञान रूप नेत्र द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के एवं आत्मा तथा अनात्मा के भेद को जानकर तथा अपने निकटतम एवं प्रियतम ईश्वर का आश्रय लेकर प्राप्त किया जा सकता है।[2] जरा एवं मरण से मोक्ष का तात्पर्य आसक्ति एवं कामनाओं इत्यादि से प्राप्त कर्म-बंधन से छुटकारा पाना है। यह स्थिति अध्यात्मज्ञान द्वारा अथवा ईश्वर-भक्ति द्वारा स्वतः ही नहीं प्राप्त होती परन्तु मोक्ष-दाता ईश्वर उन्हें मोक्ष देता है जो बुद्धिमान सब धर्मों को छोड़कर केवल उसी की शरण जाते हैं।[3] परन्तु यह स्थिति चाहे अध्यात्म ज्ञान द्वारा अथवा ईश्वरभक्ति के फलस्वरूप प्राप्त हो, राग से वियुक्त होकर अनासक्तिपूर्वक कर्त्तव्य करने वाले का नैतिक उत्थान अत्यावश्यक है।

ईश्वर एवं मनुष्य

ईश्वर के अस्तित्व एवं स्वरूप तथा उसका मनुष्य के साथ सम्बन्ध का प्राचीनतम एवं अत्यन्त विद्वतापूर्ण निरूपण गीता में पाया जाता है। गीता के ईश्वरवाद का प्रारम्भिक श्रोत पुरुष-सूक्त है जिसमें यह कहा गया है कि पुरुष के चतुर्थांश में विश्वभूत ओत-प्रोत है तथा इसके त्रिपाद स्वर्गादि लोकों में स्थित है। यह गद्यांश छांदोग्य उपनिषद् ३-१२-६ एवं मैत्रायणि उपनिषद् ६-४ में दोहराया गया है जिसमें कहा गया है कि त्रिपाद ब्रह्म ऊर्ध्व-मूल स्थित है (ऊर्ध्वं मूलं त्रिपाद ब्रह्म) इसी बात का वर्णन कुछ संशोधित रूप में कठ-उपनिषद् ६.१ में भी है जहाँ पर यह उल्लेख है कि यह जगत् सनातन अश्वत्थ वृक्ष है जिसकी जड़ें ऊर्ध्व है एवं शाखाएँ नीचे की ओर हैं (ऊर्ध्व मूलोऽवाक् शाखः)। गीता ने इस विषय को उपनिषदों में से लिया है एवं कहा है–'जिस अश्वत्थ वृक्ष का ऐसा वर्णन करते हैं कि जड़ ऊपर है और शाखाएँ (अनेक) नीचे हैं, (जो) अव्यय अर्थात् कभी नाश नहीं पाता (एवं) वेद जिसके पत्ते हैं उसे जिसने जान लिया है वह पुरुष सच्चा (वेदवेत्ता) है।' पुनः कहा गया है–'नीचे और ऊपर भी उसकी शाखाएँ फैली हुई हैं, जो (सत्व आदि तीनों) गुणों से पली हुई है और जिनसे (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि) विषयों के अंकुर फूटे हुए हैं, एवं अन्त में कर्म का रूप पाने वाली उसकी जड़ें नीचे मनुष्य लोक में भी बढ़ती-बढ़ती गहरी चली गई है (१५-१) और उसके आगे के ही श्लोक

---

[1] गीता ८-२८। ६-४।

[2] गीता, अ. ७-२६,१३-३४।

[3] गीता, १८.६६।

संसार में आवागमन के सिद्धान्त से संगत रूप से मेल नहीं खाता। गीता आवागमन के सिद्धान्त को देवयान-पितृयान के सिद्धान्त के साथ एवं यज्ञ-यगादि के कर्म फल के कारण होने वाले स्वर्गारोहण के सिद्धान्त के साथ मिला देती है। इस प्रकार गीता परम्परागत मान्य विभिन्न प्रकार के मतों को उन्हें सही तौर से व्यवस्थित किए विना मिला देती है। कुछ स्थलों से (४-६, अथवा ६-४०-४५) में ऐसा प्रतीत हो सकता है कि कर्म-बंधन अपनी शक्तियों से स्वतन्त्र रूप से अपने फल उत्पन्न करते हैं एवं कर्मफल के कारण ही जगत् की व्यवस्था है। परन्तु कुछ अन्य भी ऐसे स्थल है (१६-१६) जहाँ यह पता चलता है कि कर्म स्वतः अपना फल उत्पन्न नहीं करते परन्तु ईश्वर शुभाशुभ जन्म की व्यवस्था करके शुभाशुभ कर्मों का क्रमशः पारितोषिक एवं दण्ड देने की व्यवस्था करते हैं। गीता में (५.१५) कहा गया है कि अज्ञान के कारण ही पाप एवं पुण्य का विचार होता है। यदि हम सही ढंग से विचार करें तो ईश्वर पाप अथवा पुण्य नहीं करता। यहाँ पुनः कर्म के दो विपरीत सिद्धान्त मिलते हैं; एक तो वह जिसमें कर्म को जीवन की सम्पूर्ण विषमताओं का कारण माना गया है एवं दूसरा वह जो शुभ अथवा अशुभ को कोई मूल्य नहीं देता। दोनों दृष्टिकोणों में गीता की यथार्थ शिक्षा के अनुरूप समन्वय स्थापित करने का तरीका यह है कि पुण्य एवं पाप की वस्तुगत सत्यता में गीता का विश्वास नहीं है। कर्म स्वयं शुभ अथवा अशुभ नहीं होते। केवल अज्ञान एवं मूर्खता के कारण ही कुछ कर्म शुभ एवं अन्य अशुभ माने जाते हैं। सिर्फ कामनाओं एवं आसक्तियों के कारण ही हमें कर्म अशुभ फल देते हैं तथा जो हमारे लिए पाप समझे जाते हैं। चूंकि कर्म स्वतः भले अथवा बुरे नहीं होते, भासित पाप कर्मों का पालन जैसे युद्ध क्षेत्र में अपने स्वजनों की हत्या उस समय पाप नहीं समझा जाता जब वे कर्त्तव्य की भावना से किए गए हों। परन्तु वे ही कर्म पाप समझे जायेंगे यदि वे आसक्ति अथवा कामना-वश किए गए हों। इस दृष्टिकोण से देखने पर गीता का नैतिकता का सिद्धान्त आवश्यक रूप से आत्मगत (Subjective) है। परन्तु इस दृष्टि से नैतिक नियम, पाप एवं पुण्य आत्मगत समझे जा सकते हैं जो पूर्णतया आत्मगत नहीं है। क्योंकि नैतिकता केवल आत्मगत-अन्तरात्मा अथवा शुभ एवं अशुभ के आत्मगत विचारों पर ही आधारित नहीं है। वर्ण धर्म एवं परम्परागत नैतिकता के साधारण धर्म निश्चित रूप से स्थिर है एवं उनका उल्लंघन किसी को भी नहीं करना चाहिए। पाप और पुण्य की आत्मगतता पूर्णतया हमारे शुभ एवं अशुभ कर्मों पर आधारित है। यदि शास्त्राज्ञा, वर्ण-धर्म एवं साधारण धर्म का पालन करते हुए कर्म किए जाय तो ऐसे कर्म परिणाम में अशुभ होने पर भी अशुभ नहीं कहलायेंगे।

आवागमन एवं स्वर्गारोहण के पथों के अलावा अन्तिम, श्रेष्ठतम एवं परम् पथ मोक्ष को बताया गया है जो यज्ञ, दान अथवा तप से प्राप्त सब प्रकार के फलों से परे

है। जो इस परमतत्व को प्राप्त कर लेता है उस ब्रह्मसंस्थ का पुनर्जन्म नहीं होता।[1] जीवन की उच्चतम अनुभूति ब्रह्मैक्य है जिससे मनुष्य सब दुःखों के परे चला जाता है। गीता में मोक्ष का अर्थ जरा एवं मरण से मुक्ति है। यह मोक्ष ज्ञान चक्षु द्वारा अर्थात् ज्ञान रूप नेत्र द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के एवं आत्मा तथा अनात्मा के भेद को जानकर तथा अपने निकटतम एवं प्रियतम ईश्वर का आश्रय लेकर प्राप्त किया जा सकता है।[2] जरा एवं मरण से मोक्ष का तात्पर्य आसक्ति एवं कामनाओं इत्यादि से प्राप्त कर्म-बंधन से छुटकारा पाना है। यह स्थिति अध्यात्मज्ञान द्वारा अथवा ईश्वर-भक्ति द्वारा स्वतः ही नहीं प्राप्त होती परन्तु मोक्ष-दाता ईश्वर उन्हें मोक्ष देता है जो बुद्धिमान सब धर्मों को छोड़कर केवल उसी की शरण जाते हैं।[3] परन्तु यह स्थिति चाहे अध्यात्म ज्ञान द्वारा अथवा ईश्वरभक्ति के फलस्वरूप प्राप्त हो, राग से वियुक्त होकर अनासक्तिपूर्वक कर्त्तव्य करने वाले का नैतिक उत्थान अत्यावश्यक है।

ईश्वर एवं मनुष्य

ईश्वर के अस्तित्व एवं स्वरूप तथा उसका मनुष्य के साथ सम्बन्ध का प्राचीनतम एवं अत्यन्त विद्वतापूर्ण निरूपण गीता में पाया जाता है। गीता के ईश्वरवाद का प्रारम्भिक श्रोत पुरुष-सूक्त है जिसमें यह कहा गया है कि पुरुष के चतुर्थांश में विश्व-भूत ओत-प्रोत है तथा इसके त्रिपाद स्वर्गादि लोकों में स्थित है। यह गद्यांश छांदोग्य उपनिषद् ३-१२-६ एवं मैत्रायणि उपनिषद् ६-४ में दोहराया गया है जिसमें कहा गया है कि त्रिपाद ब्रह्म ऊर्ध्व-मूल स्थित है (ऊर्ध्व मूलं त्रिपाद ब्रह्म) इसी बात का वर्णन कुछ संशोधित रूप में कठ-उपनिषद् ६.१ में भी है जहाँ पर यह उल्लेख है कि यह जगत् सनातन अश्वत्थ वृक्ष है जिसकी जड़ें ऊर्ध्व है एवं शाखाएँ नीचे की ओर हैं (ऊर्ध्व मूलोऽवाक् शाखः)। गीता ने इस विषय को उपनिषदों में से लिया है एवं कहा है—'जिस अश्वत्थ वृक्ष का ऐसा वर्णन करते हैं कि जड़ ऊपर है और शाखाएँ (अनेक) नीचे हैं, (जो) अव्यय अर्थात् कभी नाश नहीं पाता (एवं) वेद जिसके पत्ते हैं उसे जिसने जान लिया है वह पुरुष सच्चा (वेदवेत्ता) है।' पुनः कहा गया है—'नीचे और ऊपर भी उसकी शाखाएँ फैली हुई हैं, जो (सत्व आदि तीनों) गुणों से पली हुई है और जिनसे (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि) विषयों के अंकुर फूटे हुए हैं, एवं अन्त में कर्म का रूप पाने वाली उसकी जड़ें नीचे मनुष्य लोक में भी बढ़ती-बढ़ती गहरी चली गई है (१५-१) और उसके आगे के ही श्लोक

[1] गीता ८-२८। ६-४।
[2] गीता, अ. ७-२६,१३-३४।
[3] गीता, १८.६६।

(१५-२) में कहा गया है–'परन्तु इस लोक में वैसा उसका स्वरूप उपलब्ध नहीं होता, अथवा अन्त आदि और आधार स्थान भी नहीं मिलता। अत्यंत गहरी जड़ों वाले इस अश्वत्थ (वृक्ष) को अनासक्ति रूप दृढ़ तलवार से मूलोच्छेद कर फिर उस स्थान को ढूंढ़ निकालना चाहिए जहाँ जाने पर फिर लौटना नहीं पड़ता। उपरोक्त तीन श्लोकों से यह स्पष्ट है कि गीता ने कठोपनिषद् के अश्वत्थ वृक्ष की उपमा का विस्तृत विवेचन किया है। गीता ईश्वर की इस उपमा को स्वीकार करती है परन्तु यह मानकर कि इन शाखाओं की आगे पत्तियाँ और जड़ें हैं जो मानव स्वभाव के अंकुर हैं और जो कर्म रूपी ग्रन्थियों से बंधे हुए हैं–उसका और अधिक विवेचन करती है। इसका तात्पर्य अश्वत्थ वृक्ष को प्रधान एवं गौण दो रूपों में विभक्त करना हुआ। अश्वत्थ का गौण रूप जो मुख्य अश्वत्थ का परिणाम होते हुए उसी का व्यर्थ फैलाव है अर्थात् आवरण है जिसको निर्मूल किए बिना मूल कारण अर्थात् परम् पद को प्राप्त नहीं कर सकते। इस उपमा में निहित मुख्य विचार से गीता के ईश्वर का सिद्धान्त अत्यंत स्पष्ट हो जाता है। जो पुरुष सूक्त में वर्णित मत का विस्तृत विवेचन है। ईश्वर अन्तर्यामी ही नहीं है बल्कि जगत् से परे अर्थात् बहिर्यामी भी है। ईश्वर का यह अन्तर्यामी स्वरूप जिससे यह जीव भूत बना है, माया नहीं है क्योंकि वह (जीव भूत) उसका सनातन अंश है और उसीसे वह उत्पन्न हुआ है। जगत् के शुभाशुभ एवं नैतिक और अनैतिक भाव ईश्वर से निकले हैं और ईश्वर में ही हैं। इस चराचर जगत् का आधार एवं सार ईश्वर ही है एवं वे सब उसी के द्वारा धारण किए जाते हैं। ईश्वर का परा रूप जिसकी जड़ें ऊर्ध्व हैं एवं जो इस अपरा प्रकृति का आधार है, वही भेद रहित परं तत्व निर्गुण ब्रह्म है। यद्यपि ब्रह्म को बार-बार परम् धाम, परम्निधान, एवं परम् तत्व कहा गया है परन्तु फिर भी ईश्वर अपने पुरुषोत्तम रूप में उससे (ब्रह्म से भिन्न न होते हुए भी) इस अर्थ में उत्तम है कि वह महतत्व होते हुए भी पुरुषोत्तम केवल अंश ही है। विश्व, त्रिगुण, पुरुष (जीवभूत), बुद्धि, अहंकार इत्यादि का समूह एवं ब्रह्म–यह सब ईश्वर के अंश अथवा आभास है जिनके कार्य एवं मानसिक सम्बन्ध भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु ईश्वर अपने पुरुषोत्तम रूप में उनसे परे है एवं उनको धारण करता है। गीता का उपनिषदों से एक बात में मतभेद है और वह है अवतारवाद अर्थात् ईश्वर का मनुष्य के रूप में जगत् में अवतीर्ण होना। गीता में (४.६, ४.७) कहा गया है कि 'जब-जब धर्म की ग्लानि एवं अधर्म का उत्थान होता है तब मैं स्वयं अपना सृजन करता हूँ; मैं अजन्मा, अविनाशी एवं भूतों का ईश्वर होते हुए भी अपनी ही प्रकृति में अधिष्ठित होकर मैं अपनी माया से जन्म लिया करता हूँ।' अवतारवाद का यद्यपि दर्शन शास्त्रों में

---

[१] पादोऽस्य विश्वा भूतानि
त्रिपाद अस्यामृतं दिवि–पुरुष सूक्त।

वर्णन नहीं है फिर भी यह प्राय: सभी धार्मिक दर्शनों एवं धर्म की आधार-शिला है तथा सम्भवत: गीता ही इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला प्राचीनतम ग्रन्थ है। मनुष्य के रूप में ईश्वर अर्थात् कृष्ण का अर्जुन को जीवन एवं आचार दर्शन के उपदेशात्मक संवाद एवं अवतारवाद का प्रभाव यह है कि ईश्वर के व्यक्तित्व के बारे में उपदेश मूर्त एवं अमूर्त हो जाता है। जैसाकि इस प्रकरण में दिए हुए विवरण से स्पष्ट होगा कि गीता कोई दर्शनशास्त्र का ग्रन्थ नहीं है अपितु कृष्ण के रूप में स्वयं ईश्वर द्वारा अपने भक्त अर्जुन को दी गई जीवन एवं आचार शास्त्र की व्यावहारिक भूमिका है। गीता में अमूर्त दर्शनशास्त्र मनुष्य के जीवन एवं आचार के स्वरूप में अन्तर्दृष्टि का रूप बन जाता है जैसाकि कृष्ण एवं अर्जुन के प्रिय-सखा भाव के विवरण से स्पष्ट है कि मनुष्य एवं ईश्वर के इसी प्रकार के घनिष्ट सम्बन्ध सम्भव हैं। क्योंकि गीता का ईश्वर कोई दर्शन शास्त्र का अव्यक्त परम् ब्रह्म नहीं है परन्तु वह मनुष्य जो ईश्वर बन सकता है तथा उसके हर प्रकार के सम्बन्ध मनुष्य से हो सकते हैं।

ईश्वर के व्यापक रूप, जगत् के परमतत्व रूप एवं आधार रूप पर गीता में बार-बार जोर दिया गया है। जैसाकि कृष्ण कहते हैं–'मुझ से परे और कुछ नहीं है। धागे में पिरोये हुए मणियों के समान मुझ में यह सब गुंथा हुआ है। जल में रस मैं हूं, चन्द्र सूर्य की प्रभा मैं हूँ, सब पुरुषों का पौरुष मैं हूँ, पृथ्वी में पुण्य गन्ध अर्थात् सुगन्धि एवं अग्नि का तेज मैं हूँ बुद्धिमानों की बुद्धि, तेजस्वियों का तेज, बलवान लोगों का बल मैं हूँ। (भूतों में) धर्म के अविरुद्ध अर्थात् धर्मानुकूल कामवासना मैं हूँ।[1] आगे चलकर कहा गया है–'मैंने अपने अव्यक्त स्वरूप से इस जगत् को फैलाया है अथवा व्याप्त किया है, मुझमें सब भूत है (परन्तु) मैं उनमें नहीं हूँ। और मुझ में सब भूत नहीं हैं अर्थात् मैं उनसे परे (निर्लेप) हूँ। भूतों को उत्पन्न करने वाला मेरा आत्मा उनका पालन करके भी उनमें नहीं है।[2] उपरोक्त दोनों श्लोकों से ईश्वर एवं मनुष्य के इस सम्बन्ध की समस्या–ईश्वर हमारे अन्दर होते हुए भी हमसे परे एवं निर्लेप है–का समाधान ईश्वर के तीन स्वरूपों से हो जाता है; चराचर जगत् के रूप में (ईश्वर की) व्यक्त अर्थात् अपरा प्रकृति है। ईश्वर के इस व्यापक स्वरूप के प्रसंग में यह कहा गया है कि 'जैसे सर्वगत वायु आकाश में स्थित है वैसे ही सब भूतों का स्थान मेरे (ईश्वर) अन्दर है। प्रत्येक कल्प के अन्त में सारे प्राणी मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं एवं पुन: कल्प के आदि में मैं उनका सृजन करता हूँ। मैं अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर प्राणियों को उत्पन्न करता हूँ। भूतों का यह समूचा समुदाय प्रकृति के

---

[1] गीता, अ. ७-७,११।

[2] गीता, ९.३-५।

में रहता हूँ तथा प्राण एवं अपान से युक्त होकर (भक्ष्य, चोष्य, लेह्य एवं पेय) चार प्रकार के अन्न को पचाता हूं। जो तेज सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि में है वह मेरा ही है।' 'पुनः कहा गया है'—'मैं सबके हृदय में अधीष्ठित हूं। ज्ञान, विस्मृति एवं स्मृति मेरे अन्दर ही समाए हुए हैं। वेदों के द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ। वेदान्त का कर्त्ता और वेद जानने वाला भी मैं ही हूँ।'[1] 'उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि गीता के मत में सर्वेश्वरवाद, ईश्वरवाद एवं देवत्ववाद एक ही युक्ति-संगत दार्शनिक सिद्धान्त में संयुक्त किए जा सकते हैं। ऐसे विरोधी मतों के समूहीकरण के विषय में आपत्ति करने वालों को गीता कोई उत्तर देने का प्रयत्न नहीं करती। गीता केवल इसी बात पर जोर नहीं देती कि सम्पूर्ण जगत् ईश्वर ही है अपितु यह बार-बार दोहराती है कि ईश्वर जगत् से परे है और साथ ही साथ जगत् में व्याप्त भी है। ईश्वर के स्वरूप के बारे में प्रचलित विभिन्न मतों का उत्तर जो गीता में निहित है वह यह है कि ईश्वर के पुरुषोत्तम स्वरूप का विलेयक (पूर्णता में विश्वातीतवाद, सर्वेश्वरवाद) अपने पृथक् और विरोधी लक्षणों को खो देते हैं। कभी-कभी एक ही श्लोक में, और कभी-कभी उसी प्रसंग के दूसरे श्लोकों में गीता सर्वेश्वरवादी एवं ईश्वरवादी विचार प्रस्तुत करती है परन्तु यह इसी बात का सूचक है कि ईश्वर के जगत् के स्थिति-कर्त्ता एवं अधिष्ठाता के रूप में, जगत् के परमतत्व तथा जीव भूत के रूप में, एवं जगत् के आधार स्वरूप अधिष्ठान के रूप में परस्पर विरोध नहीं है। इस बात की पुष्टि करने हेतु कि जितने भाव हैं अथवा जितने भाव सम्भव हैं एवं जो भी शुभ और अशुभ वस्तुओं में विभूतियें हैं वे सब ईश्वर की ही विभूतियें हैं, गीता निरन्तर इसी बात का उल्लेख करती रही है कि वस्तुओं के उच्चतम, श्रेष्ठतम अथवा कनिष्ठतम भाव भी ईश्वर से ही हैं अथवा ईश्वर की ही विभूतियें हैं। उदाहरणार्थ यह कहा गया है—'मैं छलियों में द्यूत हूँ, (विजयशाली पुरुषों का) विजय, तेजस्वियों का तेज, एवं सत्व शीलों का सत्व मैं हूँ।' तथा इस प्रकार की कई विभूतियें बताने के पश्चात् कृष्ण कहते हैं कि कहीं भी जो वस्तु वैभव, लक्ष्मी या प्रभाव से युक्त है उनको ईश्वर के तेज के अंश से ही उपजी हुई समझी जानी चाहिए।[2] ईश्वर के अन्दर ही नानारूपात्मक जगत् के समाए जाने के सिद्धान्त को (अर्थात् यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे के सिद्धान्त को) कृष्ण ने अर्जुन को दिव्य-चक्षु देकर तथा अपने विराट् स्वरूप को प्रत्यक्ष दिखाकर समझाया है। अर्जुन कृष्ण को उनके कांतिमय स्वरूप में देखता है। वह स्वरूप हजार सूर्यों की प्रभा एक साथ हो, ऐसी कान्ति के समान, अनेक मुख, नेत्र एवं अलंकार युक्त, आकाश एवं पृथ्वी को व्याप्त किए हुए है। उस अनादि एवं अनन्त विराट पुरुष के मुख में कुरुक्षेत्र के सब महान योद्धा

---

[1] गीता, अ. १५-८,१२,१३,१४,१५।

[2] गीता—१०, ३६-४१।

इस प्रकार घुस रहे है जैसे नदियों के बड़े-बड़े प्रवाह समुद्र की ओर चले जाते हैं। कृष्ण अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखाने के पश्चात् कहते हैं—मैं लोकों का क्षय करने वाला और बढ़ा हुआ काल हूँ। यहां लोकों का संहार करने में प्रवृत्त हूँ। कुरुक्षेत्र के इस महान् युद्ध में मरने वालों को मैंने पहले से ही मार डाला है। इस कुरुक्षेत्र के इस महाभारत के विनाश में तू निमित्त मात्र होगा। अतः तू युद्ध कर, अपने शत्रुओं का नाश कर, यश प्राप्त कर, तथा बिना इस व्यथा के कि तुमने अपने स्वजनों की हत्या कर डाली है-पृथ्वी का सार्वभौम राज्य कर।

गीता का ईश्वर के बारे में यह दृष्टिकोण प्रतीत होता है कि अन्ततोगत्वा शुभाशुभ के लिए किसी का उत्तरदायित्व नहीं है अपितु शुभ एवं अशुभ, ऊँच एवं नीच, बड़े और छोटे सब ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं तथा वही उनका धाता है। जब मनुष्य अपनी आत्मा के स्वरूप, यथार्थता तथा कर्तृत्व को एवं ईश्वर को विश्वातीत एवं विश्वजनीन प्रकृति, तथा सांसारिक वासनाओं में बन्धन के हेतु आसक्ति के तीन गुणों को जान लेता है तब वह तत्वदर्शी कहलाता है। ज्ञानयोग एवं कर्मयोग पृथक् नहीं है क्योंकि यथार्थ ज्ञान कर्म योग की पुष्टि करता है तथा उससे पुष्ट होता है। अर्थात् दोनों सब अन्योन्याश्रित है। ज्ञानयोग की प्रशंसा गीता के कई श्लोकों में की गई है। उदाहरणार्थ कहा गया है कि जैसे अग्नि समिधा को जला देती है ठीक उसी प्रकार ज्ञानाग्नि कर्मों को भस्म कर देती है। ज्ञान के सदृश कोई पवित्र वस्तु नहीं है। ईश्वर में श्रद्धा रखने वाले एवं संयतन्द्रिय को ज्ञान की उपलब्धि होती है एवं उसे प्राप्त करने के पश्चात् वह परम् शान्ति प्राप्त करता है। अज्ञ, अश्रद्धावान् एवं संशयात्मा का नाश हो जाता है। संशयग्रस्त को न यह लोक है, न परलोक एवं सुख भी नहीं है। सब पापियों से यदि अधिक पाप करने वाला हो तो भी (उस) ज्ञान नौका से सब पापों के समुद्र को पार कर सकता है।[1] गीता में (४-४२) कृष्ण अर्जुन को कहते हैं 'इसलिए अपने हृदय में अज्ञान से उत्पन्न हुई संशय को ज्ञानरूपी तलवार से काटकर योग को आश्रय कर। (और) हे भारत! (युद्ध के लिए) खड़ा हो।' परन्तु यह ज्ञान क्या है? गीता में (४.३५) उसी प्रसंग में ज्ञान का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस ज्ञान योग से (मनुष्य) समस्त प्राणियों को अपने में अथवा ईश्वर में देखता है। ईश्वर का यथार्थ ज्ञान सब कर्मों को इस अर्थ में भस्म कर देता है कि जिसने ईश्वरानुभूति सब प्राणियों में कर ली है वह निर्बुद्धि की तरह आसक्ति एवं वासनाओं के वशीभूत नहीं होता। एक अन्य श्लोक कहा जा चुका है कि सांसारिक अश्वत्थ वृक्ष की अधोमूल (वासनाओं के रूप में) असंग शस्त्र से काटी जानी चाहिए। गीता में (३.१ एवं २) कर्म एवं ज्ञान की श्रेष्ठता के बारे में अर्जुन

---

[1] गीता ४-३७-४१।

की शंका पूर्णतया निराधार है। गीता में (३-३) कृष्ण ने ज्ञानयोग और कर्मयोग इन दो निष्ठाओं का उल्लेख किया है। इस शंका का मूल यह था कि कृष्ण ने आत्मा के अमरत्व तथा सकाम वैदिक कर्मों की अवांछनीयता के बारे में एवं अर्जुन को अनासक्त रहकर युद्ध करने के लिए तथा क्षत्रि धर्म का पालन करने को कहा था। गीता का उद्देश्य ज्ञानयोग एवं कर्मयोग में समन्वय लाकर यह बताने का था कि ज्ञान-योग के द्वारा आसक्ति बन्धन की मुक्ति प्राप्ति तथा उससे कर्मयोग की उपलब्धि होती है। क्योंकि अज्ञान ही सब प्रकार की आसक्ति का मूल कारण है। अज्ञान यथार्थ ज्ञान द्वारा दूर होता है। परन्तु ईश्वर के बारे में यथार्थ ज्ञान के दो स्वरूप हैं—विभु एवं प्रभु अर्थात् ब्रह्म एवं ईश्वर। एक तो ईश्वर का ज्ञान समस्त प्रतीति एवं दृश्य जगत् के श्रोत एवं चरम सत्ता के रूप में निर्गुण ब्रह्म के रूप में किया जाता है। ईश्वर की पुरुषोत्तम स्वरूप में, घनिष्ठता, सखाभाव, एवं दास्य भाव से आराधना करने का एक अन्य मार्ग अर्थात् भक्ति मार्ग भी है। गीता के विचार में उपरोक्त दोनों मार्गों का अनुसरण करने से हमें परम् तत्व की उपलब्धि हो सकती है। परन्तु गीता ने सगुण ईश्वर की उपासना को सहज तथा श्रेष्ठतर माना है। गीता में (१२-३-५) कहा गया है कि जो अनिर्देश्य अर्थात् प्रत्यक्ष न दिखलाये जाने वाले अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, और कूटस्थ अर्थात् सबके मूल में रहने वाले अचल और नित्य अक्षर अर्थात् ब्रह्म की उपासना सब इन्द्रियों को रोककर सर्वत्र सम बुद्धि रखते हुए करते हैं वे सब भूतों के हित में निमग्न (लोग भी) ईश्वर को ही पाते हैं। उनके चित्त अव्यक्त में आसक्त रहने के कारण उपासना का मार्ग कष्ट से सिद्ध होता है। परन्तु जो सब कर्मों को ईश्वरार्पण करके उसके परायण होकर अनन्य योग से उसका ध्यान कर उसे भजते हैं उनका इस मृत्युमय संसार सागर में बिना विलम्ब के उद्धार कर देता है।[1]

गीता और उपनिषदों में सबसे महत्वपूर्ण अंतर यह है कि गीता के अनुसार परं तत्व की प्राप्ति का उत्कृष्ट साधन सर्वकर्मसमर्पण, प्रियतम एवं निकटतम भाव से उसकी अनन्य भक्ति, तथा योगारूढ़ होना है। गीता ने उपनिषदों में से कई सिद्धान्त आदरपूर्वक लिए हैं। इसने अव्यक्त ब्रह्म को ईश्वर का तत्व माना है और यह भी स्वीकार किया है कि अव्यक्त ब्रह्म को आदर्श मानकर उसकी उपासना करने वाले भी परम् गति को प्राप्त करते हैं। परन्तु यह तो केवल समझौता मात्र है क्योंकि गीता का विशेष बल इस बात पर है कि हमें ईश्वर को सगुण समझ कर उसके साथ व्यक्तिगत संबंध स्थापित करने चाहिए। ईश्वर-साहचर्य अर्थात् भक्ति-योग का प्रारम्भ सर्व कर्मफल-ईश्वरार्पण, सर्वभूतमैत्री एवं करुणा, यतात्मा, सुख-दुःख में सम, संतुष्ट एवं पूर्ण समत्व-योग एवं स्थितप्रज्ञ की अवस्था द्वारा होता है। उपरोक्त

---

[1] गीता, १२-६-७।

आने के किसी भी पथ को स्वीकार करता है। कोई भी पथ व्यर्थ नहीं जाता। चाहे किसी भी ओर से हो, मनुष्य ईश्वर के ही मार्ग में आ मिलते हैं।[1] यदि मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृति के नियमानुसार, भिन्न-भिन्न वासनाओं से प्रेरित होकर दूसरे देवताओं को भजता रहता है; वह जिस रूप की अर्थात् देवता की श्रद्धा से उपासना करना चाहता है उसकी उसी श्रद्धा को ईश्वर स्थिर कर देता है। फिर उस श्रद्धा से युक्त होकर वह उस देवता की आराधना करने लगता है एवं उसको ईश्वर द्वारा निर्मित फल मिलते हैं।[2] ईश्वर सबका स्वामी एवं मित्र है। महान् आत्मा वाला व्यक्ति ही चित्त को पूर्णतया स्थिर करके ईश्वर की पूजा करता है एवं अटल-भक्ति के साथ ईश्वर का नाम संकीर्तन करता है तथा सदैव ईश्वरसंस्थ रहता हुआ उसकी भक्ति के साथ पूजा करता है। जो अविच्छेद्य आसक्ति द्वारा सदैव ईश्वर का चिन्तन करते हैं, वह उन्हें सुलभ है।[3] आगे चलकर (७–१६,१७) कहा गया है कि चार प्रकार के लोग ईश्वर को भजते हैं–जिज्ञासु, आर्त, अर्थार्थी एवं ज्ञानी। इनमें एक भक्ति अर्थात् अनन्य भाव से ईश्वर की भक्ति करने वाले और सदैव युक्त यानि निष्काम बुद्धि से वर्तने वाले ज्ञानी की योग्यता विशेष है। ज्ञानी को ईश्वर अत्यन्त प्रिय है और ईश्वर को ज्ञानी अत्यन्त प्रिय है। इस श्लोक में यह कहा गया है कि नित्य युक्त एवं एक भक्ति में रहने का अभ्यास ही यथार्थ ज्ञान है। गीता में भक्ति-मार्ग को श्रेष्ठतम बताया गया है। क्योंकि गीता के मत में चाहे कोई मनुष्य आत्मोत्सर्ग के पथ में अग्रसर एवं राग-द्वेष से वियुक्त होकर स्थित प्रज्ञ होने में असमर्थ ही क्यों न हो फिर भी वह शरणागति एवं निश्चल भक्ति द्वारा उनके अनुग्रह को प्राप्त कर सकता है एवं उसकी कृपा से ही यथार्थ ज्ञान एवं नैतिक उत्थान को आसानी से प्राप्त कर लेता है जो अन्य लोग अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार गीता में पहली बार ज्ञान-मार्ग एवं उपनिषद्-ज्ञान तथा योग (कर्मयोग) के साथ-साथ स्वतंत्र रूप से भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतः किसी भी प्रकार की यथार्थ स्वानुभूति के पहले नैतिक उत्थान, आत्मनिग्रह आदि अत्यन्त आवश्यक हैं परन्तु भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता इसी में है कि साधक को आत्मनिग्रह एवं त्यागपूर्वक स्वानुशासन के पक्ष में सतत प्रयत्न अथवा तात्विक ज्ञान द्वारा अत्यन्त कठिन परिश्रम करना पड़ता है जबकि पूर्ण रूप से अपने आपको ईश्वरार्पण करने के कारण न कि दूसरे मार्गों में अधिकाधिक क्रियाशील एवं अधिक सम्पन्न होने के कारण, भक्त आसानी से उच्च स्थिति में आरूढ़ हो जाता है। ऐसे नित्ययुक्त एवं एकान्तिक भक्तों से प्रसन्न होकर ईश्वर उन्हें ज्ञान प्रदान करते हैं एवं आनन्द, स्वानुभूति तथा आत्मोत्थान की

---

[1] गीता, ४.११।

[2] गीता, ७, २०–२२।

[3] ४.१३ गीता १५; ५.२६; ७.१४।

उत्तरोत्तर उच्च स्थिति की ओर अग्रसर होते हैं। पृथ्वी पर ईश्वर के अवतार कृष्ण के साथ अर्जुन ने अपने मित्र का सा वर्ताव किया एवं भगवान् कृष्ण ने केवल उसकी (कृष्ण की) ही शरण में जाने को कहा तथा यह विश्वास भी दिलाया कि वह उसे मुक्ति प्रदान करेंगे। सब कुछ छोड़कर केवल उन्हें ही एकमात्र आश्रय समझने तथा उनकी ही शरण में जाने को उन्होंने कहा। भक्ति के सिद्धान्त की विशद व्याख्या करने वाले तथा भक्ति को आत्मोत्थान एवं स्वानुभूति का प्रधान मार्ग बताने वाले भागवत् पुराण तथा वैष्णव विचारधारा के अर्वाचीन सिद्धान्तों में वर्णित मुख्य सिद्धान्तों को गीता प्रस्तुत करती है।

गीता के भक्ति-मार्ग के सिद्धान्त का एक अन्य महत्वपूर्ण लक्ष्य यह है कि एक ओर तो भक्त ईश्वर के स्वरूप को इस सम्पूर्ण चराचर जगत् का धाता एवं अधिष्ठान के रूप में देखता है दूसरी ओर ईश्वर के विश्वातीत व्यक्तित्व में आध्यात्मिक महत्ता की चरमावस्था एवं सम्पूर्ण आपेक्षिक भेदों के, ऊंच-नीच के तथा शुभाशुभ के समन्वय के रूप में ही नहीं अपितु आराध्य सगुण महान् देव के रूप में देखा जाता है जिसकी पूजा मानसिक एवं आध्यात्मिक रीति से ही नहीं बल्कि बाह्य रीति से भी भक्त पत्रों एवं पुष्पों के पवित्र समर्पण अथवा भेंट द्वारा करते हैं। विश्वातीत ईश्वर विश्व के अन्दर ही व्याप्त नहीं अपितु आभा से देदीप्यमान महान् देव के रूप में अथवा ईश्वर के अवतार कृष्ण के सगुण रूप में भक्त के समक्ष उपस्थित है। गीता ईश्वर के विभिन्न सिद्धान्तों को उनमें निहित विरोधी अथवा पारस्परिक विरोधों में समन्वय की आवश्यकता का अनुभव किए बिना ही आपस में मिला देती है। ईश्वर के अव्यक्त एवं भेद-रहित स्वरूप को उसके मानव रूप में पृथ्वी पर अवतरित होने वाले तथा उसी प्रकार से व्यवहार करने वाले उसके पुरुषोत्तम स्वरूप से मिलाने की कठिनाई से गीता अनभिज्ञ प्रतीत होती है। गीता को इस कठिनाई का पता नहीं है कि यदि ईश्वर से ही सब शुभाशुभ उत्पन्न हुए हैं, एवं किसी का नैतिक उत्तरदायित्व नहीं है, तथा जगत् में प्रत्येक वस्तु का समान रूप से ईश्वर में स्थान है तो वैदिक धर्म की ग्लानि होने पर ईश्वर का मानव-रूप में पृथ्वी पर अवतरित होने का कोई कारण नहीं है। यदि ईश्वर सबके प्रति निष्पक्ष एवं पूर्णतया अक्षोभ्य है तो किस कारण से वह अपने शरणागत का पक्ष करता है एवं क्यों उसके लिए कर्मवाद को तोड़कर जगत् के घटना क्रम का अतिक्रमण करता है। केवल निरन्तर प्रयत्न एवं अभ्यास से कर्म बन्धन कट सकते हैं। बिना किसी प्रकार के प्रयत्न करने पर भी उस दुष्ट मनुष्य के लिए ईश्वर की शरण में जाकर अपने कर्म एवं आसक्ति के बन्धन तोड़ने में इतनी आसानी क्यों होनी चाहिए? गीता में ईश्वर के जटिल पुरुषोत्तम-स्वरूप के विषम भागों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। किस प्रकार जगत् का अधिष्ठान, अव्यक्त, ब्रह्म प्रकृति गुणों के उत्पादक एवं जीवों के रूप में संयुक्त व्यक्तित्व बनने हेतु एक साथ युक्त एवं विलीन किए जा सकते हैं। यदि अव्यक्त प्रकृति ईश्वर

का परम धाम है तो इस परमतत्व का स्वरूप नहीं माने जाने वाले सगुण ईश्वर को किस प्रकार विश्वतीत कहा जा सकता है। सगुण ईश्वर एवं जीव तथा गुणों को उसकी भिन्न प्रकृति में किस प्रकार से सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। शांकर दर्शन में ब्रह्मन् को सत्य तथा ईश्वर एवं नानात्व को भ्रम के सिद्धान्त माया में प्रतिबिंवित ब्रह्मन् के विचार से उत्पन्न असत्य और भ्रमात्मक मानकर ब्रह्म एवं ईश्वर, एक और अनेक को एक ही योजना में आपस में मिला दिया गया है।. परन्तु चाहे शंकराचार्य गीता पर भाष्य कैसा ही क्यों न लिखें, यह नहीं कहा जा सकता कि गीता में किंचित् मात्र भी ईश्वर अथवा जगत् को भ्रमात्मक माना गया है अथवा नहीं। उपनिषदों में भी कभी-कभी ब्रह्म अथवा ईश्वर विचार के साथ-साथ मिलते हैं। गीता में ईश्वर को भ्रमात्मक नहीं समझकर उसे परमतत्व समझा गया है। इस प्रकार परं तत्व के विभाग-दो अव्यक्त, प्रकृति, जीव एवं उनमें व्याप्त तथा अतीत ईश्वर के पुरुषोत्तम स्वरूप से बच निकलने का मार्ग नहीं है। ब्रह्म, जीव, जगत् का उत्पादक अव्यक्त तत्व एवं त्रिगुण, उपनिषदों के असंबंधित स्थलों में पाए जाते हैं। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि गीता में उपरोक्त सब तत्व एक साथ ईश्वर के तत्व माने गए हैं, एवं जो उसके पुरुषोत्तम स्वरूप में धारण भी किए जाते हैं जिससे वह उन्हें नियन्त्रित करता है तथा उनसे परे चला जाता है। उपनिषदों में भक्ति का सिद्धान्त नहीं मिलता यद्यपि यत्र-तत्र कुछ अस्पष्ट संकेत अवश्य दिखाई देते हैं। उपनिषदों में ईश्वर का प्रसंग उसे अन्तर्यामी एवं संसार के धाता के रूप में, उसकी महान् विभूति, शक्ति एवं दिव्यत्व बताने के लिए हैं। परन्तु गीता में गहरे व्यक्तिगत सम्बन्ध की अध्यात्म चेतना वाले जिस ईश्वर का वर्णन है वह ईश्वर केवल विभूतिमान पुरुषोत्तम ही नहीं बल्कि मित्र के रूप में जो मानव-हित हेतु अवतरित होता है, उसके सुख-दुःख का साथी है एवं जिसका आश्रय संकट के समय मनुष्य ले सकता है और लौकिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए भी जिसको प्रार्थना की जा सकती है। वह महान् गुरु है जिसके साथ ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करने के लिए सम्बन्ध स्थापित किए जा सकते हैं। परन्तु वह इससे भी अधिक है। वह प्रियों में प्रियतम एवं निकटस्थों में निकटतम है तथा उसका अनुभव इतना घनिष्ट है कि मानव केवल उसके प्रति प्रेमोल्लास मात्र के कारण जीवित रह सके। उसे प्रिय सखा एवं परमतत्व समझकर वह उसकी शरण में जाकर सब कुछ उस पर छोड़ सकता है। ईश्वर में अगाध प्रेम के कारण वह अपने अन्य यज्ञ-यागादि कर्मों को आपेक्षिक रूप से कम महत्वपूर्ण समझता है। इस प्रकार वह सतत रूप से ईश्वर की कथा, उसके विचार एवं उसमें ही संलग्न रहता है। यह भक्ति-मार्ग है तथा गीता यह आश्वासन देती है कि कितनी ही बाधाओं एवं कठिनाइयों के होने पर भी ईश्वर के भक्त का कभी नाश नहीं होता। इसी आध्यात्म चेतना के दृष्टिकोण से गीता तात्विक दृष्टि से विषम प्रतीत होने वाले तत्वों में समन्वय स्थापित करती है। सम्भवतः गीता उस वक्त लिखी गई थी जब दार्शनिक

दृष्टिकोण निश्चित रूप से मुख्य दर्शनों के सिद्धान्तों में विभाजित नहीं हुए थे जब विभिन्न दार्शनिक बारीकियों, पांडित्यपूर्ण विवेचनाओं एवं तार्किक प्रादेशों व्यवहार में चलन नहीं था। अतः गीता को उचित योजनाबद्ध दर्शन के रूप में · अपितु आत्म-समर्पण, भक्ति, सख्यभाव, दास्यभाव में ईश्वर के साक्षात्कार करने बारे में वस्तुओं के सम्यक् स्वरूप एवं सदाचरण-प्रबन्ध के रूप में देखना चाहिए।

विष्णु, वासुदेव एवं कृष्ण

भारतीय धार्मिक साहित्य में विष्णु, भगवत्, नारायण, हरि एवं कृष्ण प्राय. महेश्वर के पर्यायवाची नाम समझे जाते हैं। इनमें विष्णु ऋग्वेद का मुख्य देवता है और वही (बारह) आदित्यों में एक आदित्य है जो आकाश में तीन डग पूर्वीय क्षितिज में उदय होने के, मध्यान्ह के, तथा पश्चिम में अस्त होने के भरता है। उसका ऋग्वेद में महान् योद्धा एवं इन्द्र के मित्र के रूप में उल्लेख है। आगे चलकर (उसी प्रसंग में) यह भी कहा गया है कि उसके दो चरणों में तो पृथ्वी समाई हुई है और एक उसका उच्च पद है जिसका ज्ञाता केवल वही है। परन्तु ऋग्वेद में विष्णु का पद इन्द्र से नीचा है जिसके साथ प्रायः उसका साहचर्य है जैसाकि इन्द्र, विष्णु आदि नाम से स्पष्ट है (ऋग्वेद ४.५५,७,६९.५,८.१.३ आदि) अर्वाचीन परम्परा के अनुसार बारहवां आदित्य विष्णु कनिष्ठतम था यद्यपि वह शुभ गुणों में श्रेष्ठतम था।[1] ऋग्वेदीय प्रसंग में उसके तीन पद निरुक्त में वर्णित है जिसका प्रसंग प्रातः मध्यान्ह एवं सायं के सूर्य की उन्नति के तीन स्तरों से सम्बन्धित है। ऋग्वेद में विष्णु का एक नाम शिपिविष्ट है जिसकी व्याख्या दुर्गाचार्य ने उषाकाल की किरणों से आविष्ट कहकर की है (शिपि संज्ञेवलि रश्मिभिराविष्ट)।[2] आगे चलकर ऋषि ऋग्वेद में विष्णु की इस प्रकार प्रशंसा करते हैं—मंत्रों का द्रष्टा एवं पवित्र परम्परा का ज्ञाता मैं आज आपके शुभ नाम शिपिविष्ट की प्रशंसा करता हूँ। मैं निर्बल हूँ तथा आपका यशोगान करता हूँ, आप सबल हैं एवं विश्वोतीत हैं।[3] उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि विष्णु को आदित्य अथवा आदित्य के गुणों से युक्त माना गया था। विष्णु को जगदातीत समझने से इस बात का संकेत मिलता है कि उसकी श्रेष्ठता में क्रमशः वृद्धि होती गई। बाद की अवस्था को जानने के लिए शतपथ ब्राह्मण की

---

[1] एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते।
जघन्यजस्तु सर्वेषाम् आदित्यानां गुणादिकः।
—महाभारत १.६५.१६ कलकत्ता बंगवासी प्रेस द्वितीय संस्करण, १९०८।

[2] निरुक्त, ५.९ बम्बई, संस्करण १९१८।

[3] ऋग्वेद ७.१०० डॉ० डा० ला० सरूप द्वारा अनूदित—निरुक्त में वर्णित ५–८।

ओर दृष्टिपात करना चाहिए। उस ग्रंथ के १.२.४ में कहा गया है कि असुर एवं देव प्रतिस्पर्धा कर रहे थे; देव हार रहे थे एवं दैत्य आपस में भूमि का बँटवारा करने में लगे हुए थे। देवों ने यज्ञ स्वरूप विष्णु को अपना नेता बनाकर उनका पीछा किया, (ते यज्ञं एवं विष्णुं पुरस्कृत्येयु) 'एवं अपने हिस्से प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। दैत्यों को ईर्ष्या हुई और उन्होंने कहा कि वे इतनी ही भूमि दे सकते हैं जितनी कि वामन रूप विष्णु द्वारा शयन करते समय हस्तगत की गई हो (वामनीह विष्णुः आस)। इस पर देवता संतुष्ट नहीं हुए एवं वे कई मन्त्रों के साथ उपस्थित हुए जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने सम्पूर्ण विश्व को प्राप्त कर लिया। फिर उसी ग्रंथ के ४.१ में कुरुक्षेत्र को देवताओं की यज्ञ भूमि कहा गया है और वहाँ कहा गया है कि उद्योग तप, श्रद्धा आदि में विष्णु को सब देवताओं से श्रेष्ठ एवं सबसे श्रेष्ठतम (तस्माद आहुः विष्णु देवानां श्रेष्ठः) कहा गया है और वह स्वयं ही यज्ञ स्वरूप थे। आगे चलकर तैत्तिरीय संहिता १.७.५.४ में, वाजसनेयी-संहिता १.३०,२.६.८,५.२१ में अथर्व-वेद ५.२६.७,८.५.१० आदि में विष्णु को देवताओं का मुखिया कहा गया है (विष्णु मुखा देवा)। पुनः यज्ञ स्वरूप विष्णु ने अपरिमित यश प्राप्त किया। एक बार विष्णु धनुष के छोर को अपने सिर के नीचे रखकर सो रहे थे। उसे देखकर कुछ चीटियों ने कहा—'यदि हम धनुष की प्रत्यञ्चा काट दें तो हमें क्या इनाम मिलेगा?' देवताओं ने कहा कि उन्हें भोजन मिलेगा अतः चींटियों ने प्रत्यञ्चा काट दी और ज्योंही धनुष के दोनों छोर टूटकर अलग हुए त्योंही विष्णु का सिर अपने शरीर से कटकर अलग हो गया एवं आदित्य हो गया।[1] यह कथा सूर्य के साथ विष्णु का सम्बन्ध ही नहीं बताती अपितु यह भी स्थापित करती है कि धनुर्धारी के तीर द्वारा कृष्ण के मारे जाने के उपाख्यान का उद्गम स्थान उसके धनुष के उड़ते हुए छोरों से विष्णु का मारा जाना है। जिस प्रकार सूर्य का स्थान सर्वोच्च माना जाता है उसी प्रकार विष्णु पद भी सर्वोच्च समझा जाता है। संभवतः सर्वोच्च स्थान को विष्णुपद समझने के फलस्वरूप बुद्धिमान् लोगों ने यह स्पष्ट रूप से समझ लिया कि सर्वातीत विष्णु का पद सर्वोच्च है। उदाहरणार्थ ब्राह्मणों के दैनिक प्रार्थना मंत्रों अर्थात् 'संध्या' के प्रारम्भ में कहा गया है कि बुद्धिमान् मनुष्य विष्णु के परं पद को आकाश में खुले हुए चक्षु की तरह देखते हैं।[2] वैष्णव शब्द का प्रयोग वाजसनेयी संहिता ५.२१,२३,२५, तैत्तिरीय संहिता ५.६.६.२.३, ऐतेरेय ब्राह्मण ३.३८ शतपथ ब्राह्मण अ. १.१.४.६.३ अ. ५.३.२ इत्यादि में 'विष्णु का' के शाब्दिक अर्थ में प्रयोग हुआ है। परन्तु उपरोक्त शब्द का प्रयोग धर्म के सम्प्रदाय के अर्थ में पूर्वतर साहित्य में

---

[1] शतपथ ब्राह्मण, १४.१।

[2] तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूर्यः दिवीवा चक्षुः आततम्। दैनिक सान्ध्या के प्रार्थना मंत्र का आचमन मंत्र।

मान्य है परन्तु ५.२५६८ में कहा गया है कि परमेश्वर को नारायण इसलिए कहा गया है कि वह मनुष्यों का शरण भी है।[1] तैत्तिरीय आरण्यक १०.१.६ में नारायण वासुदेव एवं विष्णु को एक ही समझा गया है।[2] इस प्रसंग में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि आत्मा को परं तत्व मानने का औपनिषदिक सिद्धान्त भी सम्भवतः नर को नारायण मानने के सिद्धान्तों का ही विकास है। महाभारत में नर एवं नारायण परमेश्वर के स्वरूप बताये गये हैं। उदाहरणार्थ कहा गया है कि 'केवल निरुक्तों की ही सहायता से चतुर्मुख ब्रह्मा ने करबद्ध होकर रुद्र को कहा, 'त्रिलोकी का शुभ हो। हे जगत्पिता ! आप अपने शस्त्रों को जगत् को लाभ पहुँचाने की इच्छा से फेंक दें। जो अविनाशी, अविकारी परम, जगत् का सनातन बीज, एक रस, परमकर्त्ता, द्वन्द्वातीत एवं निष्क्रिय में व्यक्त होने की इच्छा से अनुग्रह-हेतु इस आनन्द-स्वरूप को धारण किया है। क्योंकि यद्यपि नर एवं नारायण दो स्वरूप प्रतीत होते हुए भी एक ही है। नर एव नारायण (परम ब्रह्म के व्यक्त स्वरूप) धर्म के वंश में अवतरित हुए हैं। सब देवताओं में अग्रगण्य यह दोनों उच्चतम व्रतों के पालन-कर्त्ता एवं कठिनतम तपों से संलग्न है। हम दोनों अज्ञात कारणों से एवं उसके (ईश्वर के) सनातन अनुग्रह के गुण से उत्पन्न हुए हैं। क्योंकि यद्यपि आपका अस्तित्व अनादि काल से है तथापि आप भी उनके तामसिक अहंकार से उत्पन्न हुए हैं। अतएव आप मेरे एवं सब देवताओं तथा महान् ऋषियों के साथ इस ब्रह्म के व्यक्त स्वरूप की पूजा करें ताकि अविलंब तीनों लोकों में शांति का साम्राज्य हो।[3] अनुवर्ती अध्याय में (अर्थात् महाभारत शान्ति पर्व, ३४३) नर एवं नारायण उच्च व्रतों का पालन करते हुए, आत्म-निर्भर तथा सूर्य से भी अधिक शक्तिमान् तपोभ्यास में संलग्न दो अग्रगण्य ऋषि एवं दो प्राचीन देवता बताए गए हैं।

भगवत् शब्द का परम सुख के अर्थ में प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है तथा उसका प्रयोग ऋग्वेद १.१६४.४०,८.४१.४.१०.६०.१२ में तथा अथर्ववेद २.१०.२ और ५.३१.२ आदि में हुआ है। परन्तु महाभारत एवं अन्य इसी प्रकार के साहित्य में इसका अर्थ विष्णु अथवा वासुदेव समझा जाने लगा एवं भागवत् शब्द का तात्पर्य उस धार्मिक

जल को नार कहा जाता है। जल को मनुष्य ने उत्पन्न किया एवं चूँकि उसने प्रारम्भ में जल में ही आराम किया वह नारायण कहलाया। कुल्लूक के मत में यहाँ नर का अर्थ ब्रह्मन् से है।

[1] नराणामयनाच्चापि ततो नारायणः स्मृतः। —महाभारत, ५.२५६८।

[2] नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयति।
—तैत्तिरीय आरण्यक पृ० ७७, आनन्दाश्रम प्रेस, पूना १८६८।

[3] महाभारत शांति पर्व ३४२.१२४—१२६ पी० सी० राय का अनुवाद, मोक्ष-धर्म पर्व। पृ० ८१७ कलकत्ता।

किया।[1] उपरोक्त तथ्य से र० ग० भंडारकर यह सिद्ध करते हैं कि कात्यायन एवं पतंजलि के बीच अधिक समय बीत चुका होगा जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि पतंजलि के समय में कात्यायन के प्रकरणों के विविध पाठ का अस्तित्व था। अतः वह पाणिनि को मौर्यों के पूर्वानुगामी नंदों के समकालीन समझने की लौकिक परम्परा में विश्वास करते हैं। कात्यायन का काल पाँचवीं शताब्दी ई० पू० का पूर्वार्द्ध समझा जाता है। परन्तु गोल्ड स्टुकर एवं सर र० ग० भंडारकर के अनुसार कात्यायन की वार्तिका को कई ऐसी व्याकरण सम्बन्धी रचनाओं की जानकारी है जिनकी जानकारी पाणिनि को नहीं है तथा वैयाकरण पाणिनि की महान् यथार्थता को ध्यान में रखते हुए स्वाभाविक रूप से यही समझा जाता है कि उन रचनाओं का अस्तित्व उसके काल में नहीं था। गोल्डस्टुकर पाणिनि के सूत्रों में अंगीकृत उन शब्दों की सूची बताते हैं जिनका कात्यायन के समय व्यवहार में चलन बन्द हो गया था। वह कात्यायन द्वारा निरूपित उत्तरकाल में प्रयुक्त कई ऐसे शब्दों को बताते हैं जिनका पाणिनि के समय कोई अस्तित्व नहीं था। उपरोक्त सब बातों से सिद्ध है कि पाणिनि का काल कात्यायन से दो सौ अथवा तीन सौ वर्ष पूर्व रहा होगा। पाणिनि के सूत्रों में वासुदेव संप्रदाय के प्रसंग उपलब्ध हैं जिससे उनका अस्तित्व स्वभावतः उसके काल के पूर्व ही सिद्ध है। उपरोक्त प्रसंग के बारे में शिलालेखों में वासुदेव के चिह्न महेश्वर वासुदेव अथवा भगवत् के उपासक वासुदेव सम्प्रदाय के प्राक् अस्तित्व को प्रमाणित करने वाले साक्षी है।

वासुदेव एवं कृष्ण के साहित्यक प्रसंगों में हमें वासुदेव की कथा उपलब्ध है जो घट-जातक में अपने कौटुम्बिक नाम कान्हा एवं केशव (संभवतः अपने केशों के गुच्छे के कारण) के नाम से भी पहचाना जाता है। नए अतिक्रमों के होते हुए भी उपरोक्त कथा कृष्ण के कुछ महत्वपूर्ण सामान्य वर्णन के साथ मेल खाती है। पाणिनि ४.१.११४ (ऋष्यन्धक-वृष्णि-कुरुभ्यश्च) में क्षत्रियों की वृष्णि जाति का प्रसंग पाया जाता है। उणादि प्रत्यय द्वारा शब्द (वृष्णि) की उत्पत्ति हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ 'शक्ति-शाली' अथवा 'महान नेता' है। इसका अर्थ 'पाराद' एवं 'कंह' भी होता है। यह शब्द यादव जाति का भी सूचक है, कृष्ण को प्रायः वार्ष्णेय कहकर संबोधित किया गया है तथा गीता १०.३७ में कृष्ण कहते हैं 'वृष्णियों में मैं वासुदेव हूँ।'[2] कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में भी वृष्णियों का प्रसंग मिलता है जहाँ वृष्णि-संघ द्वारा द्वैपायन पर आक्रमण करना बतलाया गया है। घट-जातक में भी वृष्णियों के नाश का कारण कन्ह द्वैपायन के शाप की कथा मिलती है। परन्तु महाभारत (१६.१) के अनुसार कृष्ण के पुत्र शांब पर विश्वामित्र, कण्व एवं नारद द्वारा शाप का निर्णय दिया गया है।

---

[1] श्री र० ग० भंडारकर द्वारा लिखित 'अर्ली हिस्ट्री ऑव डकन' पृ० ७।

[2] यूथेन वृष्णिरेजति, ऋग्वेद, १.१०.२।

के लोग कहे जाते हैं जो राजाज्ञा से विष्णु मंदिर में पूजा करते हैं एवं जो भागवत भी कहलाते हैं।[1] सात्वत एवं भागवत वे लोग हैं जो मूर्त्ति-पूजा द्वारा अपना पेट पालते हैं अतः निम्न एवं तिरस्कृत हैं। यामुन कहते हैं कि भागवतों एवं सात्वतों के बारे में जन साधारण की उपरोक्त धारणा सही नहीं है क्योंकि भागवतों एवं सात्वतों में से कुछ लोग ही मूर्त्ति-पूजा द्वारा अपना जीवन चलाते हैं, सब नहीं। उनमें से कई एक परम पुरुष भगवत् की पूजा व्यक्तिगत भक्ति एवं आसक्ति द्वारा करते हैं।

पाणिनि ४.३ ९८ पर टीका करते हुए पतंजलि के निरूपण द्वारा पता चलता है कि वह वृष्णि जाति के नेता वासुदेव तथा दूसरे भगवत् ईश्वर के रूप में वासुदेव में विश्वास करते थे। यह तो कहा ही जा चुका है कि वासुदेव नाम घटक जातक में भी मिलता है। अतः यह तर्क किया जा सकता है कि वासुदेव प्राचीन नाम है तथा निद्देश एवं पतंजलि के लेखों से यह सिद्ध है कि वह ईश्वर अथवा भगवत् का नाम है। अतः वासुदेव शब्द की 'वासुदेव के पुत्र' के रूप में उत्तरकाल की व्याख्या एक अनधिकृत कल्पना है। संभवतः यादव जाति द्वारा अपने जाति सम्बन्धी विधि के अनुसार जाति-नायक के रूप में वासुदेव की पूजा की जाती थी एवं उसे सूर्य से सम्बन्धित विष्णु का अवतार समझा जाता था। मैगस्थनीज ने भारतवर्ष का प्रत्यक्ष विवरण देते हुए सौरसैनोई (Sourasenor) अर्थात् भारतीय राष्ट्र में दो महान् शहर (Methora) 'मैथोरा' एवं (Kleisobora) 'क्लीसोबोरा' के बारे में लिखा है जिसके पार जहाज ले जाने योग्य नदी (jobares) जोबारीज, (Haracles) हेराक्लीज की पूजा करती हुई बहती है। 'मैथोरा' एवं 'जोबारिज' से उनका तात्पर्य अवश्य ही क्रमशः मथुरा तथा जमुना से है। संभवतः हैराक्लीज वासुदेव के ही नाम हरि से है। पुनः महाभारत ६.६५ में भीष्म कहते हैं कि प्राचीन मुनियों ने उन्हें कहा था कि पहले देवों तथा ऋषियों की सभा के समक्ष परंपुरुष उपस्थित हुए एवं ब्रह्मा ने करबद्ध होकर उसकी पूजा की। वासुदेव के रूप में पूजित इस महान् सत् ने प्रथमतः अपने अन्दर से ही संकर्षण को उत्पन्न किया। तदनन्तर प्रद्युम्न एवं प्रद्युम्न से अनिरुद्ध तथा अनिरुद्ध से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। इसी महान् सत् वासुदेव ने नर एवं नारायण दो ऋषियों के रूप में अवतार लिया। महाभारत ६.६६ में वह स्वयं कहते हैं कि 'सम्पूर्ण ब्रह्मांड को मुझे वासुदेव के रूप में पूजना चाहिए एवं मानव शरीर में मेरी अवहेलना कोई भी नहीं करे।' उपरोक्त दोनों अध्यायों में कृष्ण एवं वासुदेव एक ही हैं। गीता में कृष्ण ने कहा है कि 'वृष्णियों में मैं वासुदेव हूँ।' यह भी बतलाया गया है कि वासुदेव का

---

[1] पंचमः सात्वतो नाम विष्णोरायतनं हि सः।
पूजयेदाज्ञया राज्ञां स तु भागवतः स्मृतः॥

—वही, पृ० ८।

उसका उद्गम स्थान महेश्वर, वासुदेव अथवा विष्णु है जिसने स्वयं वेदों को उत्पन्न किया। इस प्रकार ईश्वर संहिता में (१-२४-२६) इस विषय की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि भागवत साहित्य वेद-वृक्ष की महान् शाखा है एवं वेद स्वयं उसके तने हैं, तथा योगी उसकी शाखाएँ हैं। इसका मुख्य उद्देश्य जगत् के मूल एवं वेदों के एक रूप वासुदेव की महानता को प्रतिपादित करना है।[1]

इस मत का उपनिषदों के साथ सम्बन्ध तब अधिक स्पष्ट होता है जब इसमें वासुदेव को परम ब्रह्म माना जाता है।[2] अद्वैत वेदान्त में प्रज्ञा, विराट्, विश्व एवं तैजस् के सादृश्यानन्तर तीन अन्य व्यूह उनके अनुरूप स्वरूप थे। पतञ्जलि महाभाष्य में केवल वासुदेव एवं संकर्षण की ही चर्चा होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि उसे चार व्यूह का ज्ञान नहीं था। गीता को केवल वासुदेव का ही ज्ञान है। अतः व्यूह के सिद्धान्त का अस्तित्व गीता के समय नहीं हुआ एवं इसका विकास धीरे-धीरे उत्तरकाल में हुआ। महाभारत-प्रसंग से पता चलता है कि इस सिद्धान्त के कई विभिन्न रूपान्तर थे एवं कुछ एक व्यूह में, कुछ दो में, कुछ तीन व्यूह में तथा अन्य चार व्यूह में विश्वास करते थे। यदि गीता को व्यूह की समस्या का ज्ञान होता तो

---

[1] महतो वेदवृक्षस्य मूलभूतो महानयम्।
स्कन्धभूता ऋगाद्यास्ते शाखाभूताश्च योगिनः।
जगन् मूलस्य वेदस्य वासुदेवस्य मुख्यतः।
प्रतिपादकता सिद्धामूल वेदाख्यता द्विजः।

—ईश्वर संहिता, १.२४–२६।

[2] यस्मात् सम्यक् परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययं।
अस्मादवाप्य ते शास्त्राज्ज्ञान पूर्वेण कर्मणा।

—रामानुज भाष्य में उद्धृत पुष्करागम, २.३.४२।

छो० उप० (७.१.२) भी एकायन के अध्ययन की ओर संकेत करता है—उदाहरणार्थ 'वाको वाक्यम्' 'एकायनम्' अंश में स्वयं एकायन को श्रीप्रश्न संहिता (२.३.८९) में वेद के रूप में वर्णित किया गया है।
वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरासि स्थितम्।
तदर्थक पंचरात्रं, मोक्षदं तत्क्रियावताम्॥
यस्मिन्नेको मोक्ष मार्गो वेद प्रोक्तः सनातनः।
मदाराधन रूपेण ... कायनं भवेत्॥
गोपिकाचार्य स्व ... लिखित 'The Panchratras or Bhagwat Sastra'
(j. R. A. S १९ ... खिए।

अवश्य ही उसका वर्णन उसमें होता क्योंकि भागवतों में एकान्तिन् मत का गीता प्रारंभिक ग्रन्थ है।[1] इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखने योग्य है कि नारायण नाम की चर्चा गीता में कहीं भी नहीं हुई है एवं वासुदेव को तथा आदित्यपति विष्णु को एक ही माना गया है। इस प्रकार र० ग० भंडारकर के शब्दों में 'यह द्रष्टव्य है कि व्यूह का कथन नहीं करने वाली गीता की तिथि, शिलालेख, निर्देश एवं पतंजलि के पूर्व की तिथि है अर्थात् चौथी शताब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में ही इसकी रचना हुई। यह कहना कठिन है कि यह कब प्रारम्भ हुआ। जब गीता की रचना हुई तबतक न तो वासुदेव एवं नारायण की एकरूपता स्थापित हुई थी (जैसाकि ग्रन्थ से स्पष्ट है) और न विष्णु को उसका अवतार माना गया। विष्णु को परम नहीं मानकर आदित्यपति माना गया तथा दसवें अध्याय के अनुसार इसी अर्थ में वासुदेव को विष्णु माना गया क्योंकि किसी समुदाय की सर्वश्रेष्ठ वस्तु को उसकी विभूति माना जाता है।[2]

गीता की तिथि के बारे में विद्वानों के बीच एक लम्बा विवाद चला आ रहा है एवं हमारे वर्तमान हेतु के लिए इस विस्तृत मतभेद में पड़ना उचित नहीं। इस विषय में जितने मत हैं उनमें सर्वाधिक मत डॉ० लीरिन्सर का है जिसके अनुसार इसकी रचना बुद्ध के बाद तथा 'न्यू टैस्टामैंट' के प्रभाव में ईसवी काल के कई शताब्दियों बाद हुई। भगवद्गीता के अनुवाद की भूमिका में श्री तैलंग ने कहा है कि पूर्वोक्त मतानुसार भगवद्गीता में बौद्ध दर्शन की विशिष्ट बातें नहीं पाई जातीं। इसके अतिरिक्त इस बात को भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि गीता में बौद्ध दर्शन के साथ-साथ कपिल का सांख्य दर्शन एवं पतंजलि योग-सूत्रों का योग भी वर्णित नहीं है। बौद्ध दर्शन के पूर्व गीता के अस्तित्व का प्रमाण उपरोक्त प्रमाण के साथ-साथ वासुदेव का नारायण के साथ ऐक्य नहीं होना तथा व्यूह सिद्धान्त का अप्रकट होना है। यत्र-तत्र प्रक्षिप्त श्लोकों का समावेश सुलभ है। गीता-लेखन काल ब्रह्म सूत्रोपरान्त होने का अन्य कोई प्रमाण नहीं होने के कारण श्लोक 'ब्रह्म सूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः'

---

[1] पद्मतंत्र के निम्नलिखित उद्धरण से यह स्पष्ट हैं कि एकान्तिन योग का साम्य सात्वत अथवा पंचरात्र से है।

सुहृत्सुहृत् भागवतस्सात्वतः पंचकालवित्।

एकान्तिकस्तन्मयश्च पंचरात्रिक इत्यपि।

इसी योग को एकायन अथवा एक का पथ भी कहते हैं जैसाकि ईश्वर संहिता १.१८ के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट है :

मोक्षायनाम वै पन्था एतद्यनोन विद्यते।

तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः॥

[2] वैष्णवइज्म एण्ड शैविइज्म, पृ० १३।

है कि भागवत लोग मूर्त्ति-पूजा करते थे तथा मूर्त्ति और मन्दिर निर्माण करते थे। गीता में (९-२६) भी पत्ते, जल तथा पुष्प से पूजा करने का अर्थ निःसंदेह मूर्त्ति-पूजा ही है। पतंजलि के महाभाष्य (२.२.२४) में एक श्लोक लिखा गया है जिसमें संकर्षण का कृष्ण के साथी अथवा भाई के रूप में प्रसंग है एवं उसी भाष्य के २.२.३४ में उन्होंने एक अन्य प्रसंग में कहा है कि धनपति, राम एवं केशव अर्थात् बलराम संकर्षण एवं कृष्ण के मन्दिर के विभिन्न प्रकार के संगीत के वाद्य बजाए जाते थे।[1]

यामुन के मतानुसार भागवत् संप्रदाय के विरोधियों का कहना है कि चूंकि विष्णु पूजा प्रारम्भ करने के लिए साधारण ब्राह्मणत्व-दीक्षा पर्याप्त योग्यता नहीं है एवं विशिष्ट विधिपूर्वक क्रियाओं का सम्पादन आवश्यक है अतः यह स्पष्ट है कि भागवत् पूजा के प्रकार मूल रूप से वैदिक नहीं है। चौदह हिन्दू विज्ञान जैसे छः वेदांग अर्थात् वैदिक शिक्षा, छः कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, निरुक्त, चार वेद, मीमांसा, न्याय-विस्तार सहित पुराण एवं धर्मशास्त्र आदि में पंचरात्र शास्त्रों उल्लेख नहीं मिलता। अतः भागवत् अथवा पंचरात्र शास्त्र मूल रूप से अवैदिक है। परन्तु यामुन का कहना है कि नारायण महेश्वर हैं अतः उनकी पूजा का वर्णन करने वाले भागवत् साहित्य का भी वेदों की तरह एक ही श्रोत समझना चाहिए। भागवत् लोगों की ब्राह्मणों की तरह वही बाह्य वेश-भूषा एवं वही वंश परम्परा है। आगे चलकर वे कहते हैं कि यद्यपि सात्वत का अर्थ जाति बहिष्कृत है तथापि विष्णु के भक्त के अर्थ में प्रयुक्त सात्वत् शब्द उससे भिन्न है। इसके अतिरिक्त समस्त भागवत् लोग अपनी जीविका चलाने के लिए ही मूर्त्ति-पूजा एवं पुजारियों का धंधा नहीं करते बल्कि कई शुद्ध भक्ति द्वारा प्रेरित होकर ही मूर्त्ति-पूजा किया करते हैं। भागवत् लोगों के श्रेष्ठतम समर्थक यामुनाचार्य द्वारा प्रतिपादित उपरोक्त पक्ष अत्यन्त निर्बल है जिससे स्पष्ट है कि भागवत संप्रदाय का मूल अवैदिक है एवं मूर्त्ति-पूजा, मूर्त्ति-निर्माण, मूर्त्ति-पुनरुद्धार तथा मन्दिर निर्माण का श्रोत वही विशिष्ट संप्रदाय था। फिर भी पंचरात्र मत के सम्पूर्ण शास्त्रों में यह सर्वमान्य एवं निर्विवाद परम्परा है कि यह वेदों पर आधारित है। परन्तु वैदिक मत से इनका भेद भी सर्वविदित है। स्वयं यामुन ने प्रसंग (आगम प्रामाण्य पृ० ५१) में कहा है कि चारों वेदों में अपने पुरुषार्थ को प्राप्त नहीं कर सकने के कारण शांडिल्य ने इस शास्त्र की रचना की। यज्ञ-यागादि के स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों का वर्णन करते हुए गीता में कृष्ण ने अर्जुन को वेदों के परे जाने को कहा है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि पंचरात्र साहित्य का वास्तविक सम्बन्ध इस तथ्य से है कि

---

[1] मृदंग शङ्ख पणवाह पृथन्नदन्ति संसदि।
प्रसादे धनपतिरामकेशवानाम्।

—महाभाष्य, २.२.३४।

उसका उद्गम स्थान महेश्वर, वासुदेव अथवा विष्णु है जिसने स्वयं वेदों को उत्पन्न किया। इस प्रकार ईश्वर संहिता में (१–२४–२६) इस विषय की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि भागवत साहित्य वेद-वृक्ष की महान् शाखा है एवं वेद स्वयं उसके तने हैं, तथा योगी उसकी शाखाएँ है। इसका मुख्य उद्देश्य जगत् के मूल एवं वेदों के एक रूप वासुदेव की महानता को प्रतिपादित करना है।[1]

इस मत का उपनिषदों के साथ सम्बन्ध उस वक्त स्पष्ट होता है जब इसमें वासुदेव को परम ब्रह्म माना जाता है।[2] अद्वैत वेदान्त में प्रज्ञा, विराट्, विश्व एवं तैजस् के सादृश्यानन्तर तीन अन्य व्यूह उसके अमुख्य स्वरूप थे। पतंजलि महाभाष्य में केवल वासुदेव एवं संकर्षण की ही चर्चा होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि उसे चार व्यूह का ज्ञान नहीं था। गीता को केवल वासुदेव का ही ज्ञान है। अतः व्यूह के सिद्धान्त का अस्तित्व गीता के समय नहीं हुआ एवं इसका विकास धीरे-धीरे उत्तरकाल में हुआ। महाभारत-प्रसंग से पता चलता है कि इस सिद्धान्त के कई विभिन्न रूपान्तर थे एवं कुछ एक व्यूह में, कुछ दो में, कुछ तीन व्यूह में तथा अन्य चार व्यूह में विश्वास करते थे। यदि गीता को व्यूह की समस्या का ज्ञान होता तो

महतो वेदवृक्षस्य मूलभूतो महानयम्।
स्कन्धभूता ऋगाद्यास्ते शाखाभूताश्च योगिनः।
जगन् मूलस्य वेदस्य वासुदेवस्य मुख्यतः।
प्रतिपादकता सिद्धामूल वेदाख्यता द्विजः।

—ईश्वर संहिता, १.२४–२६।

यस्मात् सम्यक् परं ब्रह्म वासुदेवाख्यभव्ययं।
अस्मादवाप्य ते शास्त्राज्ज्ञान पूर्वेण कर्मणा।

—रामानुज भाष्य में उद्धृत पुष्करागम, २.३.४२।

छो० उप० (७.१.२) भी एकायन के अध्ययन की ओर संकेत करता है—उदाहरणार्थ 'वाको वाक्यम्' 'एकायनम्' अंश में स्वयं एकायन को श्रीप्रश्न संहिता (२.३.८९) में वेद के रूप में वर्णित किया गया है।
वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरासि स्थितम्।
तदर्शक पंचरात्रं, मोक्षदं तत्क्रयावताम्॥
यस्मिन्नेको मोक्ष मार्गो वेद प्रोक्तः सनातनः।
मदाराधन रूपेण तस्मादेकायनं भवेत्॥
गोपिकाचार्य स्वामी द्वारा लिखित 'The Panchratras or Bhagwat Sastra' (j. R. A. S १९१२) लेख देखिए।

अवश्य ही उसका वर्णन उसमें होता क्योंकि भागवतों में एकान्तिन् मत का गीता प्रारंभिक ग्रन्थ है।[1] इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखने योग्य है कि नारायण नाम की चर्चा गीता में कहीं भी नहीं हुई है एवं वासुदेव को तथा आदित्यपति विष्णु को एक ही माना गया है। इस प्रकार र० ग० भंडारकर के शब्दों में 'यह द्रष्टव्य है कि व्यूह का कथन नहीं करने वाली गीता की तिथि, शिलालेख, निर्देश एवं पतंजलि के पूर्व की तिथि है अर्थात् चौथी शताब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में ही इसकी रचना हुई। यह कहना कठिन है कि यह कब प्रारम्भ हुआ। जब गीता की रचना हुई तबतक न तो वासुदेव एवं नारायण की एकरूपता स्थापित हुई थी (जैसाकि ग्रन्थ से स्पष्ट है) और न विष्णु को उसका अवतार माना गया। विष्णु को परम नहीं मानकर आदित्यपति माना गया तथा दसवें अध्याय के अनुसार इसी अर्थ में वासुदेव को विष्णु माना गया क्योंकि किसी समुदाय की सर्वश्रेष्ठ वस्तु को उसकी विभूति माना जाता है।[2]

गीता की तिथि के बारे में विद्वानों के बीच एक लम्बा विवाद चला आ रहा है एवं हमारे वर्तमान हेतु के लिए इस विस्तृत मतभेद में पड़ना उचित नहीं। इस विषय में जितने मत हैं उनमें सर्वाधिक मत डॉ० लौरिन्सर का है जिसके अनुसार इसकी रचना बुद्ध के बाद तथा 'न्यू टैस्टामैंट' के प्रभाव में ईसवी काल के कई शताब्दियों बाद हुई। भगवद्गीता के अनुवाद की भूमिका में श्री तैलंग ने कहा है कि पूर्वोक्त मतानुसार भगवद्गीता में बौद्ध दर्शन की विशिष्ट बातें नहीं पाई जातीं। इसके अतिरिक्त इस बात को भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि गीता में बौद्ध दर्शन के साथ-साथ कपिल का सांख्य दर्शन एवं पतंजलि योग-सूत्रों का योग भी वर्णित नहीं है। बौद्ध दर्शन के पूर्व गीता के अस्तित्व का प्रमाण उपरोक्त प्रमाण के साथ-साथ वासुदेव का नारायण के साथ ऐक्य नहीं होना तथा व्यूह सिद्धान्त का अप्रकट होना है। यत्र-तत्र प्रक्षिप्त श्लोकों का समावेश सुलभ है। गीता-लेखन काल ब्रह्म सूत्रोपरान्त होने का अन्य कोई प्रमाण नहीं होने के कारण श्लोक 'ब्रह्म सूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः'

---

[1] पद्मतंत्र के निम्नलिखित उद्धरण से यह स्पष्ट हैं कि एकान्तिन योग का साम्य सात्वत अथवा पंचरात्र से है।

सुहृत्सुहृत् भागवतस्सात्वतः पंचकालवित्।
एकान्तिकस्तन्मयश्च पंचरात्रिक इत्यापि।

इसी योग को एकायन अथवा एक का पथ भी कहते हैं जैसाकि ईश्वर संहिता १.१८ के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट है :

मोक्षायनाम वै पन्था एतद्यनोन विद्यते।
तस्मादेकायसं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः॥

[2] वैष्णवइज्म एण्ड शैविइज्म, पृ० १३।

पत्रिका, ७ पेज ५२८–५३२ पर लिखित लेख के प्रसंग में तिलक ने लिखा है कि बोधायन वृह्य शेष सूत्र २.२२.६ गीता ६.२६ का संकेत करता है एवं बौधायन पितृ-मेध सूत्र तृतीत प्रश्न के प्रारम्भ में गीता के अन्य अंश का उद्धरण करता है।[1] प्रसंगवश यह भी कहा जा सकता है कि गीता की लेखन पद्धति अत्यंत प्राचीन है; इसे उपनिषद् कहा गया है एवं इसमें कई अंश ऐसे उपलब्ध हैं जो ईश (ईश ५, देखिए भगवद्गीता १३.१५ एवं ६.२९), मुण्डक (मुण्ड २.१.२ गीता १३.१५), काठक (२.१५, २.१८ एवं १९ तथा २.७, गीता ८.२, २.२०,२९) तथा अन्य उपनिषदों में प्राप्त है। इस प्रकार गीता को बौद्ध दर्शन का 'परवर्ती' मानने का कोई निश्चित प्रमाण अप्राप्य होने के कारण तथा बौद्ध दर्शन का किंचित् मात्र भी उसमें उल्लेख नहीं मिलने के कारण गीता को अत्यंत प्राचीन प्राक् बौद्ध दर्शन मानना पड़ता है चाहे यह मत कितना ही अप्रचलित क्यों न हो। भाषा की दृष्टि से भी गीता की परीक्षा की जाय तो यह प्राचीन एवं अपाणिनीय लगता है। इस प्रकार 'युध्' धातु में से युद्धस्व के स्थान पर हमें युद्ध्य (८.७), पाणिनी-संस्कृत में आत्मनेपद 'यत्' को ६.३६, ७.३, ६.१४ और १५.११ में परस्मैपद में भी प्रयुक्त किया गया है; 'रम्' को भी १०.९ में परस्मैपद में प्रयुक्त किया गया है। 'कांक्ष्' व्रज्, विष् एवं इंग् धातुओं को पाणिनि की संस्कृत में परस्मैपद माना है परन्तु गीता में (कांक्ष् १.३१ में व्रज् २.५४ में विष् २३.५५ में एवं इंग् ६.१९ एवं १४.२३) उनको आत्म ने पद भी मानकर प्रयोग किया गया है। पुनः साधारणतया आत्मनेपद में प्रयुक्त 'उद्विज्' क्रिया ५.२० में परस्मैपद में प्रयुक्त हुई है; 'निवत्स्यसि' के स्थान पर 'निवषिस्यसि' १२.८ में मा शोचीः के स्थान पर मा शुचः १६.५ में, एवं ३.१० में प्रसविष्यध्वम् का प्रयोग व्याकरण के नियमों के बिलकुल विरुद्ध है। अतः १०.२९ में प्रयुक्त 'यमः संयमताम्' 'यमःसंयच्छताम्' होना चाहिए; ११.४१ में प्रयुक्त 'हे सखेति' दोषयुक्त सन्धि का उदाहरण है; ११.४४ में प्रयुक्त 'प्रियायार्हसि' 'प्रियायाः अर्हसि' के स्थान पर तथा १०.२४ 'सेनान्याम्' के स्थान पर 'सेनानिनाम्' का प्रयोग हुआ है।[2] उपरोक्त भाषा सम्बन्धी अनियमितताएँ यद्यपि

---

[1] बोधायन गृह्य-शेष सूत्रः तदाह भगवान्, पत्रं पुष्पं फलं तोयं, यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्या उपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।
बोधायन पितृ-मेध सूत्र—यतस्यवै मनुष्यस्य ध्रुवं मरणमिति विजानीया तस्माज्जाते न प्रहृष्यन मृते च न विषीदेत। गीता के जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः आदि से तुलना कीजिए।
नोट : उपरोक्त सब प्रसंग तिलक के भगवद्गीता रहस्य, पृ० ५७४ आदि से लिए गए हैं।

[2] इसी प्रकार के अधिक दोषों को जानने के लिए भंडारकर स्मृति ग्रन्थ में श्री व. क. रजवाड़े द्वारा लिखित लेख को देखिए जिसमें से उपरोक्त दोष संग्रहीत हैं।